॥श्रीः॥
का.सं.ग्र.
32

श्रीलौगाक्षिभास्करप्रणीतः

अर्थसंग्रह

'अर्थमीमांसा' हिन्दीव्याख्योपेतः

व्याख्याकारः - डॉ. राजेश्वरशास्त्रिमुसलगाँवकरः

।। श्रीः ।।

काशी संस्कृत ग्रन्थमाला

३२

श्रीलौगाक्षिभास्करप्रणीतः

अर्थसंग्रहः

श्रीमत्परमहंस-रामेश्वरशिवयोगिभिक्षु-विरचित-
'मीमांसार्थसङ्ग्रहकौमुदी'-राजेश्वरशास्त्रिमुसलगाँवकरकृत-
'अर्थमीमांसा' हिन्दीव्याख्यासंवलितः
श्रौतयागपरिचय-महत्त्वपूर्णप्रश्न-
वस्तुनिष्ठप्रश्नोत्तरात्मकपरिशिष्टसमलङ्कृतश्च

व्याख्याकारः

डॉ. राजेश्वरशास्त्रिमुसलगाँवकरः

अध्यक्ष

संस्कृत-वेद-ज्योतिर्विज्ञान अध्ययनशाला

विक्रमविश्वविद्यालयः, उज्जैन (म.प्र.)

चौखम्भा संस्कृत संस्थान

वाराणसी

अर्थसंग्रहः

ISBN-81-86937-70-6

प्रकाशक
चौखम्भा संस्कृत संस्थान
भारतीय सांस्कृतिक साहित्य के प्रकाशक तथा वितरक
पोस्ट बाक्स नं. ११३९
के. ३७/११६, गोपाल मन्दिर लेन, गोलघर (समीप मैदागिन)
वाराणसी - २२१००१ (उ०प्र०) भारत
टेलीफोन : २३३३४४५, टेलीफैक्स : ०५४२-२३३५९३०
E-mail : cssvns@gmail.com

संस्करण : तृतीय (संशोधित व परिवर्धित), वि० सं० २०७१ (२०१५)
मूल्य : ₹ ३४५.००

शाखाएं :
चौखम्भा पब्लिकेशन्स
४२६२/३ अंसारी रोड, दरियागंज
नई दिल्ली - ११०००२ (भारत)
टेलीफोन : २३२५९०५०, टेलीफैक्स :०११-२३२६८६३९
E-mail:cpub@vsnl.net

चौखम्भा संस्कृत संस्थान
६९२/९३, रविवारपेठ, कापड़गंज
समीप डी. एस. हाउस, पुणे - ४११००२ (महाराष्ट्र) भारत
टेलीफोन : ०२०-२४४७१२८३, मोबाइल : ०९९७०१९३९५५
E-mail : hn.shah@rediffmail.com

मुद्रक : मित्तल ऑफसेट, वाराणसी

।।श्रीः।।

।। समर्पणम् ।।

पूज्यपितृचरण-

डॉ. केशवराव मुसलगाँवकर

एवं

पूजनीया जननी-

सौ. प्रमिला मुसलगाँवकर

के श्रीचरणों में

सादर सविनय समर्पित

राजेश्वरशास्त्री

प्राक्कथन

भारतीय विचार चिन्तन में मीमांसादर्शन का स्थान अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। आधुनिक एवं प्राचीन विचारक इसे 'वाक्यशास्त्र' भी कहते हैं। मीमांसादर्शन का मुख्य प्रतिपाद्य विषय यज्ञ-यागादि होते हुए भी भारतीय दार्शनिक चिन्तन में मीमांसकों के विचार अत्यधिक महत्त्व का स्थान रखते हैं। अतएव अन्यशास्त्रों के ज्ञान के लिए मीमांसादर्शन का अध्ययन आवश्यक समझा जाता है।

'अर्थसङ्ग्रह' मीमांसा का एक प्रकरण ग्रंथ हैं। विषय प्रतिपादन के क्रम में 'न्याय प्रकाश' से इसका निकट का सम्बन्ध है। संक्षेप में अधिकतम विषयों का निरूपण होने से तथा प्रतिपाद्य विषय की सुबोधता एवं अभिव्यक्ति की स्पष्टता के कारण अध्ययन एवं अध्यापन के लिए प्रस्तुत ग्रंथ का प्रचार अत्यधिक हुआ है।

साम्प्रत 'अर्थसङ्ग्रह' की अनेक हिन्दी व्याख्याएँ प्रकाशित हैं। परन्तु उन व्याख्याओं से मीमांसा का मर्म उद्घाटित नहीं होता। इस कारण हमने अर्थसङ्ग्रह की व्याख्या करते हुए न्यायप्रकाश का बहुश: उपयोग किया है। तथा यत्र-तत्र शाबरभाष्य, शास्त्रीदीपिका, न्यायमाला, मीमांसा परिभाषा, भाट्टदीपिका, न्यायरत्नमाला, डॉ. थीबो कृत अर्थसङ्ग्रह का अंग्रेजी अनुवाद, सारविवेचिनी, तंत्रसिद्धान्तरत्नावली आदि ग्रंथों के प्रकाश में प्रस्तुत ग्रंथ के क्लिष्ट सन्दर्भों को यथामति स्पष्ट करने का प्रयास किया है। अनेक स्थानों पर अग्रिम प्रकरण के विषय को पूर्व में ही स्पष्ट कर दिया है जिससे अध्येता को आगे के प्रकरण को समझने में आयास नहीं होगा। परमहंसशिवयोगी की 'कौमुदी' का उपयोग हिन्दी व्याख्यान में छात्रों के हित को ध्यानस्थ रखते हुए सर्वत्र किया ही गया है।

प्रस्तुत व्याख्यान पूज्यपाद गुरूदेव की कृपा एवं निर्देशनों का सुफल है। अत: उनके चरणों में कृतज्ञता व्यक्त करता हूँ। संस्कृत भाषा एवं भारतीय संस्कृति के उन्नायक **परम श्रद्धेय डॉ. रामराजेश मिश्र** (कुलपति, विक्रमविश्वविद्यालय, उज्जैन) ने सतत मार्गदर्शन एवं स्नेह प्रदान करने की जो कृपा की है उसे मैं कैसे विस्तृत कर सकता हूँ? भूतभावन श्रीविश्वेश्वर उन्हें दीर्घायुष्य प्रदान करे, यही प्रार्थना है।

साहित्यशास्त्र के संशोधक विद्वानद्वय महाकवि महामहोपाध्याय पं. रेवाप्रसाद द्विवेदी, वाराणसी, प्रो. चण्डिका प्रसाद शुक्ल (भूतपूर्व अध्यक्ष, संस्कृत विभाग, इलाहाबाद विश्वविद्यालय), महाकवि आचार्य श्रीनिवास रथ (उज्जैन), शैवदर्शन के प्रख्यात विद्वान् श्रद्धेय प्रो. कमलाकर मिश्र (भूतपूर्व अध्यक्ष, दर्शन विभाग, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय), प्रो. उमेशचन्द्र दूबे (अध्यक्ष दर्शन विभाग, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय) तथा डॉ. राजाराम शुक्ल (न्यायदर्शन विभाग, सम्पूर्णानन्द विश्वविद्यालय, वाराणसी) आदि विद्वानों ने सतत मुझमें भारतीय शास्त्रों के प्रति निष्ठा का जो भाव संचारित किया है उसके लिए उनके प्रति मैं श्रद्धावनत हूँ।

''**अर्थमीमांसा**'' के लेखन में अनेक प्रकार से सहायक, पितृव्यचरण डॉ. दिवाकर बेगें (भू.पू.प्रो.ई. कॉलेज, उज्जैन) पं. कैलाश तिवारी जी (वाराणसी), ई. श्री बिन्देश्वर राय (अभियन्ता, लोकनिर्माण विभाग, वाराणसी) श्री दिनेश जैन (समाजसेवी, उज्जैन), श्री सुरेश वर्मा (उज्जैन), पं. बलदेव शर्मा (सम्पादक-अमरउजाला, दिल्ली), पं. हरिमोहन शर्मा (सम्पादक-दैनिक भास्कर, दिल्ली), पं. जयकिशन शर्मा (सम्पादक-स्वदेश, ग्वालियर), श्री राकेश पाठक (सम्पादक-नवभारत, ग्वालियर) श्री रवीन्द्र उज्जैनकर (कवि एवं साहित्यकार, उज्जैन) श्री आशुतोष निवसरकर (आई.ओ. सेन्ट्रल एक्साईज, इन्दौर), श्री शिवदास मौर्य (समाजसेवी, वाराणसी), डॉ. राकेश पाण्डेय, श्री नरेश राय (समाजसेवी, वाराणसी), श्री राजीवभूषण मिश्र (समाजसेवी, वाराणसी) के प्रति श्रद्धावनत हूँ।

चौखम्भा संस्कृत संस्थान के वर्तमान संचालक एवं उनके दोनों पुत्रों ने पुस्तक प्रकाशन में उत्साह पूर्वक सहयोग दिया है तदर्थ उनके शुभोदर्क की कामना भूतभावन विश्वनाथ से करता हूँ। पुस्तक के अक्षर संयोजन के लिए जौहरी प्रोसेस को भी धन्यवाद देता हूँ।

राजेश्वर शास्त्री

३, दीप्ति विहार, नानाखेड़ा, इन्दौर रोड,
उज्जैन-१०, दूरध्वनि : ०७३४-२५३३१६७

प्रो॰ राजारामशुक्लः
वैदिकदर्शनविभाग:
संस्कृतविद्याधर्मविज्ञानसङ्काय:
काशीहिन्दूविश्वविद्यालय:, वाराणसी

Prof. Rajaram Shukla
Vaidic Darshan Department
Faculty of Sanskrit Vidya Dharmavijnan
Banaras Hindu University
Varanasi

शुभाशंसा

विदुषा श्रीमता डॉ. राजेश्वरशास्त्रिमुसलगाँवकरमहाभागेन विरचित-अर्थमीमांसाख्याहिन्दी-व्याख्योपेतम् अर्थसंग्रहं दृष्ट्वा नितान्तं मोमोत्ति मच्चित्तम् । लौगाक्षिभास्करप्रणीतेऽस्मिन् लघुकाये ग्रन्थरत्ने जैमिनीयतन्त्रस्य प्रायेण सर्वोऽपि प्रतिपाद्यो विषय: संक्षेपतोऽप्यतिस्पष्टया शैल्या तथा निबन्धो यथा सुकुमारमतीनामपि मीमांसाशास्त्रे प्रविविक्षूणां तत्र सुलभमवगाहनं स्यात् । अत एवायं ग्रन्थ: पारम्परिकरीत्याऽध्ययनाध्यापनरतामिव आधुनिकाध्ययनशालासु अध्ययनरतानामप्युपकारकोऽस्ति ।

विद्वत्प्रवरेण डॉ. मुसलगाँवकरमहाभागेन ग्रन्थस्येदं वैशिष्ट्यमभिलक्ष्य बहुजनसुखबोधधिया अर्थमीमांसानाम्नी राष्ट्रभाषामयी व्याख्या विरचिता। तत्र न केवलं मुलार्थबोधनाय पंक्त्यर्थस्फोरणायैव वा व्याख्यात्र्या प्रयतितिं प्रत्युत सन्दर्भविशेषेषु न्यायमाला-भाट्टदीपिका-न्यायरत्नमाला-शाबरभाष्यप्रभृतिप्रौढग्रन्थानामप्याशयान् संगृह्य मूलार्थतत्त्वप्रकाशनोपयोगितया ते विषया: सन्निवेशिता:, येन अध्येतॄणां बहुतरदुरूहतरविषयावबोधोऽनायासेननैव सम्पादित: स्यात् । श्रीरामेश्वरशिवयोगिभिक्षुविरचितकौमुदी-व्याख्यासन्निवेशनेनाप्यस्य ग्रन्थस्य गौरवे वृद्धिर्जाता ।

आहत्येयं व्याख्या मीमांसाशास्त्रे प्रविविक्षूणामिव तत्रानुसन्धित्सूनामपि महते उपकाराय भवष्यतीति निश्चित्य अस्या व्याख्याया आसेतुशीताचलं प्रसारं व्याख्याकर्तुश्च सर्वतो भद्रं भगवन्तं काशीविश्वनाथं प्रार्थये ।

राजारामशुक्लः

प्रो. राजारामशुक्लः
वैदिकदर्शनविभागाध्यक्ष:

Phone : 0542-2200025 ❖ Mobil.: 09935409724 ❖ E-mail : rrsvns@yahoo.co.in

प्ररोचना
पूर्व-मीमांसा (शास्त्र) दर्शन

भारतीय श्रौत दर्शनों में व्याकरण को उपजीव्य के रूप में स्वीकार करनेवाला जैमिनि-दर्शन (मीमांसा) आत्ममीमांसा के विषय में अत्यधिक अभ्यर्हित माना जाता है। याज्ञवल्क्य स्मृतिकार ने मीमांसाशास्त्र की गणना चतुर्दश विद्याओं के अन्तर्गत की है।[१] प्राचीन मनीषियों ने वेदवाक्यों का विचार करनेवाले इस 'मीमांसा' को वाक्यशास्त्र[२] की संज्ञा से अभिहित किया है। जब यह व्याकरण के सिद्ध प्रकृति-प्रत्यय के विभाग का आश्रयणकर वाक्यार्थ का विचार करता है तथा–मीमांसा-शास्त्र-विधि से नियत यज्ञ के अंगोपाङ्गभूतकर्मों के अनुष्ठान का उपदेश देता है तब यह कर्तव्य और अकर्तव्य की व्यवस्था में शास्त्र ही प्रमाण होने से 'शासनात् शास्त्रं' के अनुसार शास्त्र की कोटि में आ जाता है, किन्तु जब यह आत्ममीमांसा के विषय में तत्त्वमीमांसा विशेषत: ज्ञानमीमांसा का विशद विवेचन करना प्रारम्भ करता है, तब यह 'शंशनात् शास्त्रं' के अनुसार दर्शन के क्षेत्र में पदार्पण करता है। अत: इसे आज मीमांसा-शास्त्र-दर्शन की संज्ञा से अभिहित किया जाता है।

'मीमांसा' शब्द की व्युत्पत्ति 'मान्' धातु से 'जिज्ञासा' के अर्थ में 'सन्' प्रत्यय करके की जाती है। यह 'पूजित विचार' या 'पूजित जिज्ञासा' के अर्थ में भी प्रसिद्ध है।[३] सर्वप्रथम यह शब्द वैदिक कर्मकाण्डविषयक जिज्ञासा के लिये प्रयुक्त किया जाता था। इस दर्शन के सूत्रकार महर्षि जैमिनि द्वारा प्रतिज्ञासूत्र–'अथातो धर्मजिज्ञासा' में प्रयुक्त यह 'जिज्ञासा' पद ही परिलक्षित होता है। ब्राह्मण ग्रंथों में तो इस पद का प्रयोग बहुश: देखने को मिलता है। तैत्तरीय संहिता, काठक, मैत्रायणीय एवं कौषीतकी ब्राह्मणों में 'मीमांसन्ते' इस क्रियापदका तथा 'मीमांसा' जैसे संज्ञापद का प्रयोग बहुलता से उपलब्ध होता है, जो विचार विमर्श को ही अभिव्यक्त करता है। **उत्सृज्याँ नोत्सृज्यामिति मीमांसन्ते ब्रह्मवादिन इत्याहु: उत्सृज्यामेवेति।**[४] **'ब्राह्मणं पात्रे न मीमांसेत'**[५] **'उदिते होतव्यमनुदिते होतव्यमिति मीमांसन्ते'**[६]। उपनिषदों में मीमांसा से तात्पर्य उच्चस्तरीय दार्शनिक विषयों पर विचार, विमर्श, ऊहापोह करने से है, अर्थात् श्रुतिवाक्यों के पारस्परिक विरोध का निराकरण करके उनमें एक वाक्यता से अर्थ की

---

१. पुराणन्यायमीमांसा धर्मशास्त्राङ्गमिश्रिता:।
वेदा: स्थानानि विद्यानां धर्मस्य च चतुर्दश।। याज्ञवल्क्यस्मृति, आचाराध्याय, श्लोक ३

२. मीमांसा = वेदवाक्यविचार:।

३. मान्–भ्वा. आत्म. सक. विचारकरना–मीमांसते। चु. पर. सक.
पूजा करना–मानयति–मानति।। मीमांसाशब्द: पूजितविचारार्थे प्रसिद्ध: । 'मान् पूजायाम्' 'माङ्माने' इति पूजार्थे मानार्थे च धातुद्वयम्। तत्र 'मान्बधदान्शान्भ्यो दीर्घश्चाऽऽभ्यासस्य' इति सूत्रेण 'माङ्' इत्यस्य अनुबन्धस्य धातोर्नान्तत्वं निपात्य अनिच्छार्थे सन् प्रत्ययेऽभ्यासस्य च दीर्घे मीमांसा शब्दो निष्पद्यते।

४. तै. सं. ७।५।७।१, ५. ताण्ड्य ६।५।९, ६. कौषी. ब्रा. २।९

संगति को स्थापित करने के लिये जो ऊहापोह किया जाता था, उसे मीमांसा कहा जाता था। गच्छताकालेन इस शब्द का प्रयोग व्यापक अर्थ में किसी भी विषय के समीक्षात्मक विवेचन के लिये होने लगा। परिणामत: जिज्ञासा, मीमांसा तथा समीक्षा शब्द एक ही अर्थ को बतलानेवाले पर्यायवाची शब्द आज हो गये हैं।

उक्त उदाहरणों पर दृष्टिपात करने से स्पष्ट हो जाता है कि वैदिक काल से लेकर आजतक **मीमांसा** शब्द विचार करने–विश्लेषण करने के अर्थ में प्रयुक्त हो रहा है।

वेद के दो विभाग हैं– मन्त्र और ब्राह्मण[१]। 'मन्त्र भाग' प्राय: छन्दोमय है और 'ब्राह्मणभाग' गद्यात्मक है। मन्त्रभाग में प्राय: देवताओं की स्तुति आदि विषय प्रतिपादित किये गये है। वेद के दूसरे भाग 'ब्राह्मण' में उन देवताओं को उद्देश्य कर यज्ञयागादिके विविध अङ्गों का विस्तृत विवेचन मिलता है। ब्राह्मणों का मुख्य विषय है– 'विधि'। मीमांसकों के अनुसार 'श्रुति' का तात्पर्य केवल विधि से है। जहाँ विधिलिङ्ग का प्रयोग होता है, वही श्रुति होती है। ब्राह्मण ग्रंथ इन विधियों पर अधिक बल देते हैं। विधि का अर्थ होता है– यज्ञ तथा उसके अंगों-उपांगों के अनुष्ठान का उपदेश। विधि आदेश देता है कि यज्ञ का विधान कब किया जाय? कैसे किया जाय? उसमें किन साधनों की आवश्यकता होती है? कौन यज्ञों के अधिकारी होते हैं? यदि यज्ञ के विषय में कुछ विरोध प्रतीयमान होता है तो उसका परिहार करना भी ब्राह्मण का उद्देश्य है। तात्पर्य यह है कि ब्राह्मणों में विधि ही वह केन्द्र बिन्दु है जिसके चारों ओर निरुक्ति (शब्दों का निर्वचन) स्तुति, आख्यान तथा हेतुवचन आदि विविध विषय अपनी परिक्रमा-आवर्तन-पूरा करते रहते हैं।

ब्राह्मणों में निहित विधि का अनुशीलन करने से स्पष्ट ज्ञात होता है कि वैदिक काल में यज्ञ-याग के अनुष्ठानों को लेकर विद्वानों में ऊहापोह-वाद-विवाद होता रहा होगा। ब्रह्मवादी विद्वानों के सामने यज्ञयाग की समुचित व्यवस्था के लिए उनके अनुष्ठानों में आपातत: प्रतीयमान विरोधों का निराकरण करना नितान्त आवश्यक समस्या थी, जिसकी उनलोगों ने अपनी तार्किक बुद्धि का उपयोग कर विधिवत् मीमांसा प्रस्तुत की होगी। इसप्रकार विधि-वाक्यों में एकवाक्यता उत्पन्न कर मनीषियों ने कुछ सिद्धान्त निश्चित किये होंगे और उन चिन्तकों द्वारा निर्धारित एवं शासित वे सिद्धान्त ही कालान्तर में परस्पर विरोधी वाक्यों में एक वाक्यता की संगति उत्पन्न करनेवाले शासक सिद्धान्त ही शास्त्र रूप में परिणत होकर मीमांसाशास्त्र के नाम से प्रसिद्ध हुए।[२] ताण्डय महाब्राह्मण में– **'एवं ब्रह्मवादिनो वदन्ति'** के द्वारा अनेक यज्ञीय गुत्थियों के सुलझाने का प्रशस्त प्रयत्न किया गया है।[३]

१. मन्त्रब्राह्मणयोर्वेदनामधेयम्। मन्त्रब्राह्मणात्मको वेद:।।

२. Discussions and doubts became more common about the many intricacies of the sacrificial rituals and regular rational enquiries into them were begun in different circles by different scholars and priests. Those represent the beginnings of Mimamsa etc.

–Dasgupta S. N.– A History of Indian Philosophy. Vol I. Page 370

३. ताण्ड्यब्राह्मण ६।४।१५

निश्चय ही मीमांसक हमारे प्रथम दार्शनिक हैं और मीमांसा प्रथम दर्शन। उक्त विवेचन से ज्ञात होता है कि मीमांसा यज्ञ सम्बन्धी कर्मकाण्ड पर आधारित है। इसका मुख्य उद्देश्य वैदिक कर्मकाण्ड के स्वरूप का निरूपण करने का वैदिक विधि-निषेधों का अर्थ समझाने का तथा उनमें परस्पर संगति बैठाने का है। ब्राह्मण-ग्रंथों में अलग-अलग यज्ञयागादिकों के अलग-अलग वर्णन वर्णित हैं। उन्हें देखकर उत्पन्न सन्देह का परिहार करने तथा उनमें परस्पर एक वाक्यता स्थापित करने के लिए इस मीमांसाशास्त्र की महती आवश्यकता पड़ती है। यथा– ब्राह्मण वाक्य में विरोध उत्पन्न होने पर किस वचन को प्रामाणिक माना जाय? ब्राह्मण-वाक्यों में प्रयुक्त 'उद्भिदादि' सदृश शब्दों में 'उद्भिद्' शब्द याग के नामधेय का सूचक है या याग का गुणवाचक? श्रुति, लिङ्ग इत्यादि प्रमाणों में किस का प्राबल्य माना जाय? श्रुति का या लिङ्ग का? मंत्र पाठ और ब्राह्मण पाठ के क्रम में भिन्नता होने पर किस क्रम को प्रमाणभूत माना जाय? ब्राह्मण-पाठ के क्रम को या मंत्र पाठ के क्रम को? ऐसी अनेक शंकाओं का समाधान मीमांसाशास्त्र के द्वारा ही संभव है। वस्तुत: केवल शब्दार्थो के ज्ञान से ही वेद के अन्तरंग तात्पर्य को नहीं समझा जा सकता। आपातत: मंत्रों का जो तात्पर्य जान पड़ता है उसका यथार्थ ज्ञान वाक्यार्थ के संगत व्याख्यान द्वारा ही हो सकता है। उदाहरणार्थ– **'अक्ता: शर्करा उपदधाति।'**– वाक्य में प्रयुक्त प्रत्येक शब्द का अर्थ ज्ञात होने पर भी– इस शर्करा का अंजन किस साधन से तैयार किया जाय? क्या इसका समाधान व्याकरण या निरुक्त कर सकता है? नहीं। इसका समाधान केवल मीमांसा ही कर सकती है, क्योंकि उक्त प्रकरण के वाक्य शेष में **'तेजो वै घृतम्'** वचन निहित होने से ज्ञात होता है कि 'शर्करा' का अंजन घृत से ही तैयार किया जा सकता है, तेल से नहीं। तात्पर्य यह है कि इस प्रकार के शंकास्पद-स्थलों का युक्तियुक्त परिहार मीमांसाशास्त्र ही करने में समर्थ है।

यह शास्त्र उत्तरमीमांसा का अर्थात् ज्ञान मीमांसा का अपेक्षाकृत पूर्ववर्ती होने से 'पूर्व मीमांसा' के नाम से प्रसिद्ध है। वस्तुत: वेदार्थ विचार के लिए प्रवृत्त होनेवाला यह शास्त्र 'मीमांसा' शब्द से व्यवहृत होता है। इसके प्रवृत्त होने के अनन्तर बादरायण ने ब्रह्मप्रतिपादक वेदविभाग के अर्थनिर्धारणार्थ प्रबन्ध की रचना की। यह भी वेदार्थ–विचार रूप होने से 'मीमांसा' शब्द से ही व्यवहृत होने लगा। अत: जैमिनिकृत रचना को। बादरायणकृत ब्रह्मप्रतिपादक वेदविभाग से पार्थक्य बताने के लिए पूर्व मीमांसा कहा जाने लगा। इसे कर्ममीमांसा या धर्ममीमांसा भी कहा जाता है। वेदान्त वेद के उत्तर भाग अर्थात् उपनिषद् भाग पर (ज्ञानकाण्ड) आधारित है। अत: इसे उत्तरमीमांसा, ज्ञानमीमांसा या ब्रह्ममीमांसा के नाम से भी जाना जाता है। तथापि बादरायण की मीमांसा को वेदान्त और जैमिनि की मीमांसा को केवल मीमांसा शब्द से अभिहित किया जाता है। 'शास्त्र' शब्द अनेकार्थक होने से सामान्यत: उसे 'तन्त्र' शब्द से भी जाना जाता है। अत: मीमांसाशास्त्र को 'तन्त्र' शब्द से भी जाना जाता है। **विश्वगुणादर्शचम्पू** के आरंभ में वेंकटाध्वरी का इसी ओर संकेत है– **'तत्सुतस्तर्कवेदान्ततन्त्र-व्याकृतिचिन्तक:।'** इसके अतिरिक्त मीमांसाशास्त्र में वेदवाक्यों का अमुक अर्थ विशेष में तात्पर्य है– यह निर्धारण करने के लिए 'न्याय' उल्लिखित हैं। उसी के अनुरोध से अर्थ विशेष प्रतिपादक वाक्यों के विवेचनार्थ मीमांसा शास्त्र की प्रवृत्ति होने से इस विचारशास्त्र को

'वाक्यशास्त्र' का नाम भी दिया गया है। फिर भी मीमांसा शास्त्र का प्रारम्भिक स्वरूप कर्मकाण्ड के अनुष्ठानों तथा विधि-निषेध और मन्त्रों के विनियोग से सम्बन्धित विषयों को यथार्थ रूप में प्रस्तुत करने वाला रहा होगा। रामानुजाचार्य के अनुसार मीमांसासूत्र और वेदान्तसूत्र एक ही शास्त्र के पूर्व और उत्तरखण्ड हैं। उनका कथन है कि मीमांसासूत्र के प्रथम सूत्र– **'अथातो धर्मजिज्ञासा'** से लेकर वेदान्तसूत्र के अन्तिम सूत्र **'अनावृत्तिः शब्दादनावृत्तिः शब्दात्'** तक एक ही शास्त्र है। कर्मज्ञान समुच्चय का प्रतिपादन करनेवाली शंकराचार्य के पूर्ववर्ती आचार्यों की परम्परा मीमांसा और वेदान्त को एक ही शास्त्र मानती थी। वस्तुत: वेद के ज्ञानकाण्ड-उपनिषदों को छोड़कर, शेष समग्र वेद धर्म अथवा कर्तव्य कर्मों का प्रतिपादन करता है, जिनमें मुख्य है– यज्ञ। पवित्र क्रियाओं का अनुष्ठान एक प्रकार से ज्ञानोपार्जन की भूमिका है। वैसे भी कर्मानुष्ठान से कषायों के परिपक्व हो जाने पर ज्ञानोदय के लिए उपनिषद्ध रूप ज्ञान काण्ड का विचार कर्तव्यतया उपस्थित होता है– **'कषाये कर्मभिः पक्वे ततो ज्ञानं प्रवर्तते'**। शंकराचार्य ने भी जिन्होंने कर्म और ज्ञान के मौलिक विरोध को बतलाते हुए, कर्म तथा ज्ञान को अन्धकार तथा प्रकाश के समान विपरीत माना है, कर्म एवं उपासना (ध्यान) को चित्तशुद्धि के लिए उपयुक्त-आवश्यक-माना है।

मीमांसा (शास्त्र) दर्शन का लक्ष्य वैदिक कर्मकाण्ड का व्याकरण से सिद्ध प्रकृति-प्रत्यय के विभाग का अवलंबन कर सङ्गत व्याख्यान करना है। यद्यपि यह कार्य स्वयं ब्राह्मण ग्रंथों ने प्रारम्भ किया और श्रौतसूत्रों ने उसे आगे बढ़ाया। निश्चय ही मीमांसा ने वाक्यार्थ के सङ्गत व्याख्यान रूप कार्य के निष्पादन में पूर्ण योगदान दिया है। यहाँ विशेष उल्लेखनीय तथ्य यह है कि यदि मीमांसा उक्त कार्य तक ही अपने को सीमित रखती तो वह वैदिक कर्मकाण्ड की युक्ति-युक्त व्याख्यामात्र के रूप में आज प्रसिद्ध होती और उसे भारतीय श्रौत-दर्शनों में अभ्यर्हित स्थान प्राप्त नहीं हो जाता। आज भी वेद, ब्राह्मणदिके तत्त्वार्थ को समझने के अतिरिक्त अन्य शास्त्रों को यथार्थ रूप में समझने के लिए मीमांसा दर्शन का अध्ययन नितान्त आवश्यक समझा जाता है। व्याकरण, न्याय, साहित्य, वेदान्त आदि सभी शास्त्रों में यहाँ तक कि संस्कृत के प्रत्येक विभाग में जब किसी वाक्य के अर्थ में सन्देह उत्पन्न होता है तो इस शास्त्र के नियमों की शरण लेनी पड़ती है। विशेषकर 'धर्मशास्त्र' अर्थात् हिन्दू-कानून में तो पग-पग पर इसके नियमों की आवश्यकता होती है।

यह नितान्त सत्य है कि मीमांसक ईश्वर द्वेषी नहीं है। वस्तुत: नैयायिकों द्वारा पद-पदार्थ के सम्बन्ध को ईश्वरेच्छा रूप सिद्धान्तत: स्वीकार कर लिए जाने पर मीमांसकों ने उनके उक्त सिद्धान्त का खण्डन किया है। नैयायिकों का तात्पर्य यह है कि वेद शब्द रूप है अत: वह भी ईश्वरेच्छा सापेक्ष ही होगा, तब वेद निरपेक्ष प्रमाण नहीं हो सकता। मीमांसक कहते हैं कि ईश्वर सर्वज्ञ नहीं है अत: ईश्वर द्वारा निर्मित वेद कर्ता के अज्ञानादि दोषों से प्रभावित होकर निर्दुष्ट प्रमाण नहीं हो सकता। केवल उक्त अभिप्राय से ईश्वर की सत्ता का खण्डन किया गया है। मीमांसकों का तात्पर्य यह है कि वेदकार होकर ईश्वर सिद्ध नहीं हो सकता, यह नैयायिकों का भ्रम है। उनका तात्पर्य यह कदापि नहीं था कि ईश्वर है ही नहीं। क्योंकि जैसे जीवों की सत्ता वेद की स्वत: प्रमाणता में बाधक नहीं है वैसे ही ईश्वर की सत्ता

भी। अत: ईश्वर के वेदकारत्वमात्र के खण्डन में मीमांसकों का तात्पर्य है न कि ईश्वर की सत्ता के खण्डन में।

मीमांसा ने वैदिक कर्मकाण्ड को दार्शनिक आधार पर प्रतिष्ठित करने का श्लाघार्ह कार्य किया है। स्वर्ग के स्थान पर मोक्ष को परमपुरुषार्थ के रूप में स्वीकार करनेवाले इस दर्शन ने तत्त्वमीमांसा, विशेषत: ज्ञानमीमांसा तथा प्रमाणमीमांसा का विस्तृत एवं विशद विवेचन करते हुए न्यायदर्शन के कुछ सिद्धान्तों को स्वीकार किया है तथा कुछ का प्रखर खण्डन भी।

आचार्यों द्वारा स्वीकृत वैदिक कर्मकाण्ड के मूलभूत सिद्धान्तों में प्रमुख रूप से निम्नोक्त बातें अन्तर्निहित हैं—

(१) शुभ और अशुभ कर्म के फल को देनेवाला कर्म ही है, इससे भिन्न कोई दूसरा ईश्वर नहीं है।

(२) यह जगत् सत्य है और हमारा जीवन तथा कर्म स्वप्नमात्र नहीं है।

(३) मीमांसकों के अनुसार कोई 'अपूर्व' नाम की शक्ति है, जो कर्मों के फलों को सुरक्षित रखती है।

(४) वैदिक कर्मकाण्ड के मूलाधार वेद अपौरुषेय एवं नित्य है।

(५) आत्मा मृत्यु के उपरान्त भी विद्यमान रहता है और स्वर्ग में स्वकृत कर्मों का फल भोगता है।

पूर्व मीमांसा के प्रसिद्ध आचार्य

प्राचीन भारतीय परम्परा महर्षि जैमिनि को मीमांसा सूत्र के रचयिता के रूप में स्वीकार करती है, मीमांसा के प्रवर्तक के रूप में नहीं।[१] क्योंकि उन्होंने स्वयं कई पूर्व मीमांसक-आचार्यों– आत्रेय, ऐतिशायन कामुकायन, कार्ष्णाजिनि, बादरायण, बादरि और लावुकायन आदि का तथा उनके भिन्न-भिन्न मतों का उल्लेख अपने सूत्रों में किया है। जिनसे इन्हें विचार सामग्री मिली होगी, किन्तु उक्त आचार्यों की कृतियाँ आज उपलब्ध न होने से जैमिनि को उनसे प्राप्त 'विचार-रिक्थ' के अंश की मात्रा स्पष्ट रूप से ज्ञात नहीं होती।

मीमांसा-सूत्र–

मीमांसासूत्र दार्शनिक सूत्रों में सबसे अधिक विपुलकाय है। इन सूत्रों की संख्या के विषय में विद्वानों का मतैक्य नहीं है। एक गणना के अनुसार सूत्रों की संख्या २६५२ है, जबकि दूसरी गणना के अनुसार २७४५ मानी जाती है। सूत्रों के अन्त:साक्ष्य के आधार पर इनका काल ईसा से २०० वर्ष पूर्व निर्णीत किया गया है।[२]

---

१. Dr. Dasgupta. A History of Indian Philosophy. Vol I. P. 370

२. (a) Jaimini's Mimamsa Sutras were probably written about 200 B.C.– Dasgupta S. N. History of Indian Philosophy. Vol I. P. 370

(b) The fourth century B.C. is the earliest period we can assign for Jaimini's work. –Radhakrishnan S. Indian Philosophy. Vol II. p. 376

पूर्वमीमांसा सूत्र पर अनेक टीकाएँ १०वीं तथा उसके पश्चात् की सदियों के लेखकों की हैं और वे आज भी विद्यमान हैं, जिनमें २२ का उल्लेख म. म. गोपीनाथ कविराज में किया है।[१]

जैमिनि सूत्र १२ अध्यायों में विभक्त है। अत: इसे द्वादशलक्षणी भी कहा जाता है। इसके अतिरिक्त चार अध्यायवाला 'संकर्षकाण्ड' भी है।[२] इसमें कुल मिलाकर ४३६ सूत्र हैं, जिन्हें भाट्टदीपिकाकार और खण्डदेव ने स्वीकार किया है। भास्कर नाम के किसी लेखक ने 'भाट्टचन्द्रिका' नाम से इन सूत्रों पर टीका लिखी है, किन्तु पूर्व के किसी प्रसिद्धग्रंथकार ने इन सूत्रों के विषय की गौणता को देखकर इनका उल्लेख भी नहीं किया है। अत: ऐसा प्रतीत होता है कि इन सूत्रों का प्रणयन किसी अज्ञात लेखक द्वारा किया गया है, ऐसा विद्वानों का विचार है। कतिपय विद्वान 'संकर्षकाण्ड' को महर्षि जैमिनि की ही रचना मानते हैं। पूर्वमीमांसा के इस ग्रंथ का अपर नाम 'देवताकाण्ड' है। इसमें उपासना का विवेचन किया गया है। उपासना का भी विधान वेद में उपलब्ध होता है।[३] इसीलिए उपासना को ही अधिक महत्त्वपूर्ण माननेवाले आचार्य रामानुज ने ब्रह्मसूत्र के अपने श्रीभाष्य में मीमांसादर्शन को 'षोडशाध्यायी' कहा है। क्योंकि वे चार अध्यायवाले 'संकर्षकाण्ड' को जैमिनि के मीमांसा दर्शन के अन्तर्गत ही मानते हैं।

महर्षि जैमिनि

अंधकार में से प्रकाश की ओर जाने की प्रेरणा देनेवाले वैदिकवाङ्मय के कतिपय महर्षियों के जीवनवृत्त के विषय में हम कुछ भी नहीं जानते। यह नियति की विचित्र विडम्बना ही है। इसीप्रकार हम देखते हैं कि 'सूर्य सिद्धान्त' का लेखक वेदाङ्गभूत ज्योतिष का अद्‌भुत पण्डित था, परन्तु उसका नाम तक हमें नहीं मालूम। संभवत: भारतीय साहित्य की इस विडम्बित परम्परा के पीछे वैदिक और लौकिक वाङ्मय के तत्त्वचिन्तक मनीषियों की इस नश्वरजगत् में अपने नाम को स्थायित्व प्रदान करने या कर्तृत्व के मृषा अहंभाव जैसी क्षुद्र भावना के प्रति विरक्ति रही हो। इसी परम्परा के महान् मीमांसक एवं दार्शनिक महर्षि जैमिनि

(c) It is then, a placesible conclusion that the Mimamsa Sutra does not date after 200 A.D.

–Keith A. B. The Karma Mimamsa. Page 5

(d) हमारे गुरुपाद म. म. डॉ. गजाननशास्त्री मुसलगाँवकरजी ने अपने 'मीमांसा दर्शन के विवेचनात्मक इतिहास' में मीमांसा सूत्रों का या उसके रचयिता का काल ईसापूर्व पाँच हजार वर्ष–स्वीकार किया है। पृ. ११४

१. Saraswati Bhavan Studies. Vol. VI. Page 166

२. Jaimini's Purva Mimamsa Sutras contain 16 chapters the last four of which are generally known as the Sankarsakanda.

–Ramaswami Sastri. V. A. Purva Mimamsa Sastra. P. 12

३. Dr. Radhakrishnan S. Indian Philosophy. Vol 2. p. 376

के जीवनवृत्त के विषय में संस्कृत वाङ्मय नितान्त मौन है। बौद्ध एवं जैन साहित्य भी जैमिनि के जीवन के विषय में मुखर नहीं है। सामवेद के जैमिनीय शाखा के उपलब्ध आठ ब्राह्मण ग्रंथों में गृह्यसूत्र भी जैमिनि नाम के साथ जुड़े हुए हैं। इसी प्रकार– **'सुमन्तुजैमिनिवैशम्पायन-पैलसूत्रभाष्यभारतमहाभारतधर्माचार्या:'** इस ब्रह्मकर्म के एक स्थान जैमिनि का नाम देखने को मिलता है। महाभारत में जैमिनि का उल्लेख अवश्य है, किन्तु दार्शनिक रूप में नहीं। आश्वलायन एवं सांख्यायन गृह्यसूत्रों में जैमिनि का उल्लेख है । इसके अतिरिक्त पञ्चतन्त्र के दूसरे तन्त्र में अंकित श्लोक– **'सिंहो व्याकरणस्य कर्तुरहरत् प्राणान् प्रियान् पाणिनेः, मीमांसाकृतमुन्ममाथ सहसा हस्ती मुनिं जैमिनिम्..........।'** में हाथी द्वारा मीमांसाशास्त्र के कर्ता जैमिनिमहामुनि के मारे जाने का उल्लेख देखने को मिलता है। किन्तु इन उल्लेखों से जैमिनि के जीवन विषयक वृत्त का कोई ज्ञान नही होता। किन्तु उनके द्वारा सम्पादित मीमांसा-सूत्रों से उनके कारुणिक व्यक्तित्व का ज्ञान तो हो ही जाता है। वैदिक काल में अलग-अलग आचार्यो द्वारा मंत्र-ब्राह्मणादिकों में यदि एक वाक्यता स्थापित न की गई होती तो निश्चय ही अनवस्था दोष उत्पन्न हो जाता। मीमांसा सूत्रों में 'आत्रेय,'–'ऐतिशायन', 'कामुकायन', 'कार्ष्णाजिनि', जैसे भिन्न-भिन्न मतवादियों के विचारों में एक वाक्यता स्थापित कर परमकारुणिक जैमिनि ने लोगों पर महानुग्रह किया है, इसमें कोई सन्देह नहीं है। उक्त अनवस्थादोष का परिहारकरने के लिये इस महामुनि ने अनेक सूत्रों की रचना की जो जैमिनि-सूत्र के नाम से आज प्रसिद्ध हैं। इससे पूर्व 'मीमांसा' इस प्रकार सूत्रबद्ध नहीं थी।

जैमिनि सूत्रों का प्रतिपाद्य विषय

धर्म के अनुष्ठान से ही अभीष्ट फल की सिद्धि होती है। अत: यहाँ धर्म का लक्षण जानने की जिज्ञासा होती है। 'यागादिरेव धर्मः' यागादिक ही धर्म है, बतलानेवाले जैमिनि ने उक्त जिज्ञासा के समाधान के लिए (अर्थात् यज्ञयागादिकों से सम्बन्धित वेदोक्त विधानों की व्यवस्था कैसी हो, उनमें निहित विधियों और अर्थवादों का स्वरूप क्या है? उनके शेषशेषि भाव का निर्णय किस आधार पर हो, उनके अनुष्ठानों का क्रम किस प्रकार हो, अनुष्ठेय कर्मों के अधिकारी कौन हो सकते हैं, उनके प्रकृतिविकृति भावों का निर्णय किस प्रकार हो, उनमें विहित किन विधानों का अतिदेश कहाँ और कहाँ नहीं करना चाहिए आदि-आदि)– करीब-करीब २७४५ सूत्रों को बारह अध्यायों में विभक्तकर अपने पूर्व मीमांसा दर्शन की रचना की है। प्रत्येक अध्याय में अनेक पाद हैं।

प्रथम अध्याय में विधि, अर्थवाद, मन्त्र और स्मृति आदि के प्रामाण्य का विचार किया गया है। इसके प्रथम पाद में केवल विधि के ही प्रामाण्य पर विचार किया गया है। द्वितीय पाद में अर्थवाद, मन्त्रों का प्रामाण्य और तृतीय पाद में मनु आदि स्मृतियों तथा आचार के भी प्रामाण्य का विवेचन किया गया है। चतुर्थ पाद में उद्‌भिद्, चित्रादि नामधेयों की प्रामाणिकता पर विचार किया गया है।

द्वितीय अध्याय में उपोद्‌घात, कर्मभेद, प्रमाणापवाद, प्रयोगभेद स्वरूप अर्थ का प्रतिपादन किया गया है। प्रथम पाद में कर्मभेद का वर्णन करने के लिए उपोद्‌घात का और

द्वितीय में धातुभेद और पुनरुक्ति आदि से कर्मभेद का वर्णन किया गया है। तृतीय पाद में कर्मभेद प्रामाण्य के अपवाद का वर्णन है। चतुर्थ पाद में नित्य और काम्य प्रयोगों के बीच भेद का विवेचन किया गया है।

तृतीय अध्याय में श्रुति, लिङ्ग, वाक्य आदि प्रमाणों में पूर्व-पूर्व के प्राबल्य का विचार किया गया है। जैमिनि के सूत्र– **'श्रुति-लिङ्ग-वाक्य-प्रकरण-स्थान-समाख्यानां समवाये पारदौबल्यमर्थविप्रकर्षात्।'**– के अनुसार मन्त्र, देवता, हवि आदि द्रव्यों का अथवा अन्य किसी का विनियोग कहाँ करना चाहिए? इस आकांक्षा में श्रुति, लिङ्ग आदि छः प्रमाणों को निर्णायक माना गया है, और जहाँ दो प्रमाणों का सन्निपात हो, वहाँ पूर्व की अपेक्षा पर को दुर्बल माना जाता है। क्योंकि, पूर्व की अपेक्षा पर-प्रमाण विलम्ब से अर्थ-प्रतीति कराता है। इस प्रकार यहाँ श्रुति, लिङ्ग, वाक्य आदि और उनके पारस्परिक विरोध, प्रतिपत्तिकर्म, आकस्मिक रूप से निर्दिष्ट वस्तुओं, विविध प्रधान कर्मों के सहायक प्रयाज आदि कर्म तथा यजमान के कर्मों का विचार किया गया है। तृतीय अध्याय के आठ पाद हैं– **प्रथम पाद** में अङ्गत्वबोधक छः प्रमाणों में श्रुति का विचार किया गया है। **द्वितीय पाद** में लिङ्ग प्रमाण का, **तृतीय पाद** में वाक्य, प्रकरण, स्थान और समाख्या इन चार प्रमाणों का विचार किया गया है। **चतुर्थ पाद** में निवीत, उपवीत आदि कर्मों में विधि है या अर्थवाद? इस समस्या का निर्णय करने के लिए श्रुति आदि छः प्रमाणों के परस्पर विरोध परिहार की विवेचना की गई है। **पंचम पाद** में प्रतिपत्ति-कर्म का विचार है। यहाँ प्रतिपत्ति का अर्थ है–उपयुक्त द्रव्य का विनियोग करना है। **षष्ठ** में अनारभ्याधीत–अर्थात् सामान्य रूप से विहित कर्मों का वर्णन, और **सप्तम पाद** में बहुप्रधानोपकारक प्रयाजादि कर्मों का विचार तथा **अष्टम पाद** में यजमान के कर्मों का विचार किया गया है।

चतुर्थ अध्याय में **प्रथम** पाद में प्रधानभूत आमिक्षा दध्यानयन की प्रयोजिका है, (अर्थात् प्रधान कर्म आमिक्षा दध्यानयनरूपी दूसरे कर्म का प्रयोजक है,) इत्यादि प्रधान के प्रयोक्तृत्व का विचार किया गया है। **द्वितीय** में अप्रधानीभूत जो वत्स का अपाकरण है, वह शाखाच्छेद में प्रयोजक है, इत्यादि अप्रधान का ही प्रयोक्तृत्व प्रदर्शित किया गया है। **तृतीय पाद** में 'जुहू पर्णमयी' इत्यादिका अर्थात्, पर्ण अर्थात् पलाश की बनी हुई जुहू आदि के अपापश्लोक श्रवणादिके फल के भावाभाव का विचार किया गया है। **चतुर्थपाद** में राजसूयगत अक्षद्यूत आदि गौण अंगों का अर्थात् (जघन्य) अङ्गों जैसे अक्षद्यूत (अक्षैर्दीव्यति) आदि का विचार किया गया है।

पञ्चम अध्याय में, श्रुति के क्रम, उनके विभिन्न भागों का क्रम, तद्विशेष-वृद्धि-अवृद्धि, तथा श्रुति आदि की प्रबलता एवं दुर्बलता का विचार किया गया है। श्रुति क्रम को इस प्रकार समझना चाहिए–श्रुति का उदाहरण है– 'वेदं कृत्वा वेदिं करोति'– यहाँ वेद दर्भमुष्टि का वाचक है, अत: दर्भमुष्टि बनाने के अनन्तर वेदी निर्माण का विधान है। क्योंकि, 'वेदं कृत्वा' में 'त्वा' प्रत्यय से वेदी के पूर्वकाल में ही वेद-विधान प्रतीत होता है। जैसे– 'भुक्त्वा व्रजति' में भोजन करने के बाद ही गमन क्रिया होती है। यही **श्रुतिक्रम** है। इस प्राकर

पंचम अध्याय के **प्रथम पाद** में श्रुति, अर्थ, पाठ, स्थान, मुख्य और प्रवृत्ति के क्रम का निरूपण किया गया है। **द्वितीय पाद** में क्रमविशेषका और अनेक पशुओं में एक-एक धर्म की समाप्ति आदि का विचार किया गया है। **तृतीय पाद** में वृद्धि और अवृद्धि का विचार है। जैसे, 'अग्निषोमीय' पशु में 'एकादश प्रयाजान् यजति' का पाठ है। यहाँ पञ्च प्रयाजों की दो बार और अन्तिम की एक बार आवृत्ति करने पर एकादश संख्या की पूर्ति होती है। यही वृद्धि है और जिसकी वृद्धि नहीं होती, वही अवृद्धि है। **चतुर्थ पाद** में, श्रुति आदि छः प्रमाणों में पहले के प्रमाण प्रमुख हैं, बाद के दुर्बल, यही विचार किया गया है।

षष्ठ अध्याय में यज्ञ करने के अधिकारी व्यक्ति, उनके धर्म, यज्ञ में प्रयुक्त होने के लिए विहित द्रव्यों के (प्राप्त न होने पर) स्थान में लिये गए द्रव्य, द्रव्यों का लोप, प्रायश्चित कर्म, सत्र का कर्म, देयवस्तु तथा विभिन्न अग्नियों में किये जाने वाले होम का वर्णन किया गया है। इस अध्याय में आठ पाद हैं। **प्रथम पाद** में, कर्म करने के अधिकारी का विचार किया गया है। अर्थात् अन्धे व्यक्ति को कर्म करने का अधिकार नहीं है, किन्तु आँखवाले व्यक्ति को ही यज्ञकर्म करने का अधिकार है। इसी पर विचार किया गया है। **द्वितीय पाद** में अधिकारी के धर्म का विचार किया गया है। **तृतीय पाद** में मुख्य के प्रतिनिधि का ग्रहण कहाँ किया जाता है और कहाँ नहीं। अर्थात् प्रधान वस्तु प्राप्त न होने पर प्राप्य वस्तु को कहाँ-कहाँ ग्रहण करना चाहिए और कहाँ-कहाँ नहीं। इसका विचार है। **चतुर्थ पाद** में कहाँ किसका लोप है इसका वर्णन है। **पञ्चम पाद** में कालादि के वैगुण्य में अर्थात् कहीं भूल हो जाने पर तदर्थ प्रायश्चित्त करने का विचार है। **षष्ठ पाद** में सत्र नामक यज्ञ के अधिकारियों का वर्णन है। **सप्तम पाद** में अदेय तथा देय वस्तुओं का विवेचन है। **अष्टम पाद** में लौकिक अग्नि में कहाँ होम करें–इसका विचार है।

सप्तम अध्याय के प्रथम पाद में, 'समानम्' इत्यादि प्रत्यक्ष वचनों से अतिदेश का, अर्थात् वैदिक वाक्यों के प्रत्यक्ष आदेश से किसी यज्ञीय कर्मों का अन्य यज्ञ में स्थानान्तरण, और द्वितीय पाद में उस प्रकार के अतिदेशों के शेष का विचार किया गया है। तृतीय पाद में अग्निहोत्र (आदि) नाम से अतिदेश का निर्णय और चतुर्थ पाद में लिङ्ग का अतिदेश अर्थात् स्थानान्तरण का वर्णन किया गया है।

आठवें अध्याय के **प्रथम पाद** में, प्रत्यक्ष वचन के न होने पर भी स्पष्ट लिङ्गों से अतिदेश का, तथा **द्वितीय पाद** में अभीष्ट लिङ्गों से किए गए अतिदेश या स्थानान्तरण का विचार किया गया है। **तृतीय पाद** में प्रबल लिङ्गों से अतिदेश का विचार, तथा **चतुर्थ पाद** में अतिदेशों के अपवाद का वर्णन किया गया है।

नवम अध्याय के **प्रथम पाद** में, ऊह का प्रारम्भ किया गया है। मन्त्रों में स्थित देवता, लिङ्ग, संख्या आदि के वाचक जो शब्द हैं, उनका उन-उन देवताओं के लिङ्ग-संख्यादि के अनुसार परिवर्तन करने को ऊह कहा जाता है। **द्वितीय पाद** में साम का ऊह, **तृतीय** में मंत्रों का ऊह और **चतुर्थ** में मंत्रों के ऊह-प्रसंग में उत्पन्न होनेवाले प्रश्नों पर विचार किया गया है।

दीर्घकाय–दशम अध्याय के **प्रथम पाद** में, बाध के हेतुभूत द्वार-लोप का विधान है।

यथा,– जहाँ वेदी के निष्पादन रूप द्वार नहीं है, वहाँ वेदी के निष्पादन करनेवाले जो उद्घनन आदि कर्म हैं, उनका बाध होता है। और धान्य का वितुषीकरण नहीं है, वहाँ अवघात का निषेध (बाध) होता है। **द्वितीय पाद** में उसी द्वार लोप का विस्तार अनेक उदाहरणों द्वारा किया गया है। **तृतीय पाद** में कार्य की एकता के बाध का कारण विवेचित है, यथा, प्रकृतिभूत याग में गो, अश्व आदि की दक्षिणा का कार्य ऋत्विक् परिग्रह बताया गया है। विकृतियाग में उसी याग (कार्य) के लिए धेनु दक्षिणा बताई गई है। इस प्रकार उस दक्षिणा में 'प्रकृतिवत्' अतिदेश से प्राप्त जो अश्व आदि दक्षिणा है, उसका निषेध कहा गया है। **चतुर्थ पाद** में जहाँ बाध (निषेध) का कारण न होने पर, समुच्चय बताया गया है। **पंचम पाद** में बाध के प्रसंग में ग्रहादि का विचार और **षष्ठ** में– बाध के प्रसंग में साम का विचार किया गया है। **सप्तम पाद** में– बाध प्रसंग में अन्य सामान्य प्रश्नों का विचार और **अष्टम** में बाध करनेवाले नञर्थ का विचार किया गया है।

एकादश अध्याय– इस अध्याय में तन्त्र के विषय में विचार किया गया है। तन्त्र से तात्पर्य– एक बार के अनुष्ठान से होनेवाली सिद्धि का नाम तन्त्र है। अथवा जिस अनुष्ठान में बहुलों का उपकार या लाभ हो, वह तन्त्र ही है। अनेक के उद्देश्य किये जानेवाले अनुष्ठान का नाम भी तन्त्र ही है, जैसे अनेक लोगों के मध्य में रखा हुआ दीप। बार-बार करने से जब बहुतों को लाभ-उपकार हो वह 'अवाप' है, जैसे बहुतों का भोजन। अन्य के उद्देश्य से अन्य वस्तुओं का भी एक ही साथ अनुष्ठान करे तो वह प्रसंग कहलाता है। इसके **प्रथम पाद** में तन्त्र का उपोद्घात है, **द्वितीय पाद** में तन्त्र और अवाप का विचार, **तृतीय पाद** में तन्त्र का और **चतुर्थ पाद** में अवाप के विस्तार का वर्णन है।

द्वादश अध्याय में प्रसंग, तन्त्री, निर्णय, समुच्चय और विकल्प का विचार किया गया है। एक के उद्देश्य से किसी एक अङ्ग का, अनुष्ठान देश, काल और कर्ता के ऐक्य होने पर यदि अनुष्ठान अङ्ग अनुद्देश्य का भी, उपकार करे तो वह प्रसंग कहा जाता हे। **प्रथम पाद** एवं **द्वितीय पाद** में तन्त्री का निर्णय किया गया है। साधारण धर्म का नाम तन्त्र है, वह जिसमें रहे, वह तन्त्री है। **तृतीय पाद** में समुच्चय तथा **चतुर्थ पाद** में विकल्प का विचार है।

मीमांसासूत्र के प्राचीन व्याख्याता

उपवर्ष

कम से कम शब्दों में विपुल अर्थ के लाभ तथा पठित अंश को स्मरण रखने की सुलभता को ध्यान में रख कर ही सूत्र-रचना का प्रारम्भ हुआ होगा। किन्तु गच्छता कालेन उन सूत्रों की सामासिकी शैली के कारण शब्दार्थ दुरूह सिद्ध हुए। अत, उनकी दुर्बोधता का अनुभव कर आचार्यों ने उन पर टीका लिखना प्रारम्भ किया। कालान्तर में यही स्थिति मीमांसा-सूत्रों की हुई। अत: इन सूत्रों का अर्थ सुगम करने की दृष्टि से इन मीमांसासूत्रों पर एक वृत्ति लिखी गयी। इस वृत्ति की रचना किसने की यह निश्चित नहीं है। संभवत: इस वृत्ति की रचना राजा नन्द कालीन **'उपवर्ष'**– जो पाणिनि के गुरु वर्ष का भाई था,– ने की होगी।

ऐसी सामान्य धारणा है। इसका संकेत कथासरित्सागर के एक कथांश से मिलता है। मीमांसासूत्र के भाष्यकार श्रीशबरस्वामी ने इस वृत्तिकार को 'भगवान्' 'आचार्य' आदि सम्मान्य शब्दों से सम्बोधित किया है। साथ ही १/१/५ संख्यावाले सूत्र में इस वृत्तिकार की वृत्ति से एक दीर्घकाय अंश को भी अपने भाष्य में उद्धृत किया है। इसी प्रकार आचार्य शंकर ने अपने ब्रह्मसूत्र के भाष्य में एक सूत्र (३/३/५३) में श्री शबरस्वामी और उपवर्ष इन दोनों का ही इस प्रकार उल्लेख किया है– **'अत एव चाकृष्य आचार्येण शबरस्वामिना प्रमाणलक्षणे वर्णितम्। अत एव च भगवता उपवर्षेण प्रथमे तन्त्रे आत्मास्तित्वाभिधानप्रसक्तौ शारीरके वक्ष्याम इति उद्धारः कृतः।'** इससे स्पष्ट ज्ञात होता है कि उपवर्ष ने पूर्वमीमांसा और उत्तरमीमांसा-दोनों ही शास्त्रों पर अपने ग्रंथों की रचना की होगी, किन्तु कुछ विद्वानों के विचार में यह वृत्तिकार उपवर्ष न होकर बौधायन होना चाहिए। इस वृत्ति के कुछ अंश अवश्य ही यत्र-तत्र देखने को मिलते हैं, किन्तु उसका समग्र ग्रंथ आज उपलब्ध नहीं है। डॉ. कीथ इस वृत्ति का समय चतुर्थशती मानते हैं।

मीमांसासूत्र के अन्य प्राचीन व्याख्याकार–

ज्ञात होता है कि शबरसवामी के पूर्व भी जैमिनि ग्रंथ के अनेक भाष्यकार हुए हैं, जिनमें प्रमुख हैं– भर्तृमित्र,[१] भवदास,[२] हरि[३] आदि, किन्तु इन भाष्यकारों के ग्रंथ आज उपलबध नहीं हैं।[४]

शबरस्वामी– जैमिनि सूत्रों पर शबरस्वामीकृत विशद भाष्य है, जो 'शाबरभाष्य' के नाम से प्रसिद्ध है। यह भाष्य शाङ्करभाष्य एवं पतञ्जलि के महाभाष्य की तरह ही महत्त्वपूर्ण होने से अभ्यर्हित है। कहा जाता है कि जैमिनि सूत्रों को सुव्यवस्थितरूप देने का श्रेय 'शबरस्वामी' को ही है। इन्होंने ही जैमिनि सूत्रों को अलग-अलग अधिकरणों में विभक्त कर उन्हें अलग-अलग नामों से अलंकृत किया है। पूर्वकृतोल्लेखानुसार इन सूत्रों की संख्या २७४५ है। कतिपय विद्वान् इन सूत्रों की संख्या २६५२ ही मानते हैं। इसीप्रकार का अंतर अधिकरणों की संख्या में भी परिलक्षित होता है। कतिपय विद्वान् अधिकरणों की संख्या ९०७ मानते हैं तो कोई ९१५। वस्तुतः सूत्रों और अधिकरणों की संख्या में दिखाई देनेवाला यह अन्तर सूत्रों की अर्थसंगति पर निर्भर है। क्योंकि कौन से और कितने सूत्रों को मिलाकर अधिकरण बनेगा यह अर्थ संगति पर ही निर्भर होता है। इनकी संख्याओं में होनेवाले अन्तर का कारण यह भी हो सकता है– कि शबरस्वामी के भाष्य में ही कुछ सूत्र अव्याख्यत ही छूट गये हों (अतः परं षट्सूत्राणि भाष्यकारेण न लिखितानि) और कुछ सूत्रों के शबरस्वामीने ही गौण समझकर छोड दिया हो,– (सन्ति च जैमिनेः एवं प्रकाराणि अपि अनत्यन्तसारभूतानि सूत्राणि) कुमारिलभट्ट के ग्रंथ में इसप्रकार के उल्लेख देखने को मिलते हैं। फिर भी सुबोध

---

१. न्यायरत्नाकर १० और देखिए काशिका पृ. १०

२. श्लोकवार्तिक- १।६३ ३. शास्त्रदीपिका १०।२, ५९-६०

४. डॉ. राधाकृष्णन-भारतीयदर्शन-द्वितीयखण्ड- पृ.३२३.

शैली में रचित इस भाष्य की भाषा नितान्त प्रसाद पूर्ण होने से सूत्रों के आन्तरिक भावों को सहजगत्या आत्मसात किया जा सकता है।[१]

कहा जाता है कि जैनों के उत्पीडन के भय के कारण ही इन्होंने वनवासी शबर का वेश धारण कर लिया था, इसीलिए उन्हें शबरस्वामी कहा जाता है। वैसे इनका असली नाम आदित्यदेव था। एक किंवदन्ती[२] के अनुसार चार जातियों की चार स्त्रियों से शबरस्वामी को छः पुत्र हुए जिनके नाम थे– वराहमिहिर, भर्तृहरि, विक्रम, हरिचंद्र, शंकु और अमर। डॉ. गङ्गानाथ झा के अनुसार राजा विक्रमादित्य शबरस्वामी के पुत्र थे। वस्तुतः शबरस्वामी के जीवन-वृत्त के विषय में कुछ भी विश्वसनीय दस्तावेज प्राप्त नहीं होते। डॉ. कीथ उक्त सूचनाओं को कोरी कल्पनाप्रसूत ही मानते हैं। इनके अनुसार शबरस्वामी का समय ४०० ईसवी सन् के पूर्व नहीं होना चाहिए।

वार्तिककार– डॉ. गङ्गनाथ झा के अनुसार 'शाबरभाष्य' पर एक 'वार्तिक' नाम की व्याख्या लिखी गयी थी, जो आज अनुपलब्ध है। इसके रचयिता को वार्तिककार कहाजाता है। डॉ. झा के अनुसार इसी व्याख्या को आधार बनाकर प्रभाकर ने शाबरभाष्यपर 'बृहती' नामकी व्याख्या लिखी थी।[३]

प्रभाकरमत और भाट्टमत

प्रभाकरमत– शाबरभाष्य के पश्चात् मीमांसाशास्त्र की विचारधारा में कुछ-कुछ महत्वपूर्ण विषयों के विषय में दो अन्योन्य भिन्न मतों का प्रचलन प्रारम्भ हुआ। उनमें से एक मत प्रभाकर मत के नाम से और दूसरा कुमारिल के नाम से प्रसिद्ध हुआ। इस प्रकार शाबरभाष्य के पश्चात् मीमांसादर्शन की दो भिन्न-भिन्न शाखाएँ अस्तित्व में आगयीं। प्रभाकर को 'गुरु' की संज्ञा उसके प्रसिद्ध शिष्य-शालिकनाथ के द्वारा दी जाने के कारण प्रभाकर का मत 'प्रभाकरमत' या 'गुरुमत' के नाम से आज प्रसिद्ध है। 'मीमांसादर्शन' के जगत् में कुमारिलस्वामी 'भट्ट' के उपपद से प्रसिद्ध होने के कारण उनके मत को 'भाट्ट' मत कहाजाता है। प्रभाकर ने शाबरभाष्य पर दो टीकाएँ लिखीं– (१) 'बृहती' और (२) लघ्वी या 'विवरण'। प्रभाकर के शिष्य **शालिकनाथ** ने प्रभाकर गुरुविरचित बृहती पर 'ऋजुविमला' नामक टीका की रचना की है। प्रभाकर मत के प्रबल समर्थक शालिकनाथ ने प्रभाकरमतानुसार ही मीमांसापर

---

१. It is lucid and clear in expression and simple and mellifluous in diction. Both in matter and manner. It resembles Patanjalis Mahabhasya and Sankaracharya's Brahma Sutra Bhasya– Rama swami V.A., An Introduction to Purva Mimansa Sastra, page 21

२. ब्राह्मण्यामभवद्वराहमिहिरो ज्योतिर्विदामग्रणी
राजाभर्तृहरिश्च विक्रमनृपःक्षत्रात्मजायामभूत् ।
वैश्यायां हरिचन्द्रवैद्यतिलको जातश्च शङ्कुः कृती
शूद्रायाममरः षडेव शबरस्वामिद्विजस्यात्मजाः ।।

३. Dr. Dasgupta, A History of Indian Philosophy. vol. I. P. 370

'प्रकरणपंचिका' नामक एक स्वतंत्र ग्रंथ की रचना की है। तत्पश्चात् महोदधि, **भवनाथ मिश्र** आदि अन्य प्रभाकरमतानुयायी ग्रंथकार भी हुए हैं। इनके अतिरिक्त किसी रामानुजाचार्य ने प्रभाकर मतद्योतक 'तन्त्ररहस्य' नामक ग्रंथ की रचना की है। इसमें लेखक ने प्रभाकर की मान्यताओं को समझाने का अथक प्रयत्न किया है। किन्तु आगे चलकर स्वतन्त्र मत के प्रतिष्ठापक होने के कारण प्रभाकर के मत का विशेष प्रस्तार न हो सका। आज मीमांसादर्शन के जो ग्रंथ प्रचलित हैं, वे प्राय: भाट्टमतानुयायी हैं। यहाँ ध्यातव्य यह है कि प्रभाकर ने जिन मतों का प्रतिपादन किया था वे कोई नवीन– आविष्कृत नहीं थे, उसने उन मान्यताओं को पूर्ववर्ती वार्तिककार से ही ग्रहण किया था। किन्तु कुमारिल के द्वारा उनका खण्डन किया जाने के कारण वे सभी प्रभाकरमत कुण्ठित होकर पीछे रह गये और उनका प्रचलन न हो सका और दिन-प्रतिदिन कुमारिल-मत का ही प्रचलन बढ़ता गया। कुमारिल के सभी उत्तरवर्ती मतानुयायियों ने अपने अधिकरण और उनका प्रतिपादन भाट्टमतानुसार ही किया है। श्री माधवाचार्य ने अपनी 'जैमिनीयन्यायमाला' में कुमारिल भट्ट के ही मत का प्रधानरूप से अनुमोदन करते हुए भी यत्र-तत्र गुरुमत का भी उल्लेख किया है। यथा– अध्याय १ पाद-१ के अधिकरण १, २, ३; अध्याय-१, पाद २ के अधिकरण २, अध्याय-१, पाद ३ के अधिकरण ५, ६, ७, ८, ९, १०; अध्याय १, पाद ४ के अधिकरण २, ७, ८, ११, १२; अध्याय-२, पाद १ के अधिकरण २, ३; अध्याय-२, पाद-२ के अधिकरण-१, इसमें और अन्य अधिकरणों में गुरुमत और भाट्टमत का अन्तर जैमिनीय न्यायमाला में देखने को मिलता है। कुछ स्थानों पर विषय-वाक्य ही अलग लिये हुए हैं, तो कुछ स्थानों पर भिन्न हेतु दिये हुए हैं और कुछ स्थानों पर सिद्धान्त भी भिन्न हैं। इसीप्रकार कौन से सूत्र पूर्वपक्ष के मानेजाने चाहिए और कौन से सिद्धान्त पक्ष के,? या किस अधिकरण में किस सूत्र का समावेश किया जाना चाहिए? इस विषय में भी गुरु और भाट्ट– इन दो पक्षों में मत-भेद हुए हैं। साथ ही अभाव, अर्थापत्ति, अभिहितान्वयवाद आदि विषयों जैसे अन्य कितने ही तात्त्विक-भेद भी हैं।

मीमांसावार्तिकं भाट्टं भट्टाचार्यकृतं हि तत् ।
तच्छिष्योऽप्यल्पभेदेन शबरस्य मतान्तरम् ।
प्रभाकरगुरुश्चक्रे तद्धि प्रभाकरं मतम् ।।

उक्तश्लोक में वर्णितानुसार प्रभाकर कुमारिल का शिष्य होना चाहिए, किन्तु यदि प्रभाकर ने कुमारिल से ही विद्याग्रहण की होती तो उन दोनों में इतना मतभेद सम्भवत: उत्पन्न नहीं हुआ होता। इस पर से तथा अन्य प्रमाणों के आधार पर भी प्रभाकर कुमारिल का पूर्ववर्ती होना चाहिए। कीथ भी प्रभाकर को कुमारिल का परवर्ती नहीं मानते।[१]

कुमारिलभट्ट– भाष्यकार के पश्चात् मीमांसादर्शन के व्याख्याकारों की दीर्घ परम्परा में सर्वाधिक अम्लानप्रतिभासंपन्न कुमारिलभट्ट एवं प्रभाकरगुरु माने जाते हैं, जिनके कारण श्रौतदर्शनों में मीमांसादर्शन की प्रसिद्धि में उत्तरोत्तर वृद्धि होती गई। इन दोनों उद्भट

---

१. कीथ– कर्ममीमांसा। पृ. ९, १०

विद्ववानों के पौर्वापर्य के सम्बन्ध में विद्वानों का मतैक्य नहीं है। कुमारिलभट्ट नितान्त मेधावी विद्वान् एवं लोक विश्रुत शास्त्रार्थी थे। उनकी प्रतिभा से प्रभावित होकर लोग उन्हें पार्वतीपुत्र कुमार षडानन का अवतार कहते थे। इनके निवास स्थान के विषय में विचारकों का मतभेद है। एक मत के अनुसार इन्हें प्रयाग निवासी, दूसरे मत के अनुसार इन्हें दक्षिण भारत का निवासी और तीसरे मतानुसार इन्हें मिथिलाप्रदेश का निवासी कहाजाता है। कहाजाता है कि कुमारिल पहले बौद्ध थे, बाद में श्रोत्रिय ब्राह्मण होकर प्रसिद्ध मीमांसक हो गये। इनके वैदुष्य से प्रभावित होकर अनेक मीमांसा के व्याख्याकारों ने इनके मत का समादर कर इन्हें 'इति भट्टपादा:' कहकर इनके प्रति अपनी श्रद्धा व्यक्त की है। इनका समय लगभग ७००० ईसवी सन् माना जाता है।

कुमारिल ने शाबरभाष्य पर अपनी वैदुष्यपूर्ण मौलिक व्याख्या की रचनाकर एक प्रकार से भाष्यकार का महत्व बढ़ा दिया है। इनके तीन ग्रंथ उपलब्ध है। तीनों ग्रंथ शाबरभाष्य के भिन्न-भिन्न अंशों पर लिखी हुई व्याख्याएँ हैं। प्रथम ग्रंथ का नाम 'श्लोकवार्तिक' है। यह शाबरभाष्य के प्रथम अध्याय के प्रथम पाद की टीका है। इस पाद का नाम 'तर्कपाद है', इसमें दार्शनिक विचारों की विपुलता होने से इसे 'तर्कपाद' की संज्ञा से अभिहित किया गया है। वस्तुत: 'ज्ञानमीमांसा एवं तत्वमीमांसा' की दृष्टि से यह नितान्त उत्कृष्टग्रंथ है। यह कारिकाबद्ध है। दूसरे ग्रंथ का नाम 'तंत्रवार्तिक' है। शाबरभाष्य के प्रथम अध्याय के अवशिष्ट तीनपाद, द्वितीय अध्याय एवं तृतीय अध्याय की गद्यात्मक टीका इसमें की गई है। शेष नौ अध्यायों की संक्षिप्त टीका तीसरे ग्रंथ में 'टुप्टीका' नाम से की गई है। उक्त ग्रंथों में से 'श्लोकवार्तिक' पर पार्थसारथि मिश्र कृत 'न्यायरत्नाकर' नामकी टीका तथा 'तन्त्रवार्तिक' पर सोमेश्वर भट्ट की 'न्यायसुधा' अथवा 'राणक' नाम की सुप्रसिद्ध टीका है। कहाजाता है कि कुमारिल के एक शिष्य का नाम भट्टोम्बेक था। इसने कुमारिल के 'श्लोकवार्तिक' पर एक टीका लिखी है। कतिपय विद्वानों का विचार है कि मालतीमाधव नाटक का कर्ता भवभूति और भट्टोम्बेक दोनों एक ही व्यक्ति के दो नाम हैं।[१]

पार्थसारथि मिश्र– कुमारिलभट्ट के पश्चात्-भाट्टमत की परम्परा को अधिक तीव्रगति से गतिशील करनेवाले, मीमांसक ग्रंथकारों में पार्थसारथि मिश्र का स्थान सर्वोपरि है। पार्थसारथि मिश्र विरचित चार ग्रंथ हैं जिनपर अनेक विद्वानों ने व्याख्याएँ लिखी हैं–

(१) न्यायरत्नाकर– यह श्लोक वार्तिक की व्याख्या है।

(२) शास्त्रदीपिका– यह स्वतंत्र ग्रंथ है, इसमें लेखक ने सूत्रों के भावों को प्रासादिकभाषा में व्यक्त किया है।

(३) तंत्ररत्न– अन्तिम नौ अध्यायों के मीमांसासूत्र-भाष्य की व्याख्या इस ग्रंथ में की गई है।

---

१. इस वादग्रस्त प्रश्न के लिए देखिए– 'भवभूति और उम्बेक'-अध्याय-'भवभूमि' का हिन्दी अनुवाद– **डॉ. केशवराव मुसलगाँवकर,** पॉप्युलर प्रकाशन, मुम्बई।

(४) न्यायरत्नमाला– यह भी स्वतंत्र ग्रंथ है। इसपर प्रख्यात वेदान्ती रामानुजाचार्य ने 'राणकरत्न' नामक व्याख्या लिखी है। न्यायरत्नमाला में सात शास्त्रीय विषयों– प्रयुक्तितिलक, स्वत: प्रामाण्यनिरूपण, विधिनिर्णय, नित्यकाम्यविवेक, अङ्गनिर्णय, व्याप्तिविवेक आदि की सारगर्भित विवेचना की गई है। उक्तचार ग्रंथों में शास्त्रदीपिका अत्यन्तमहत्वपूर्ण ग्रंथ है। इस ग्रंथ के प्रणयन के पूर्व तक प्रत्येक सूत्र पर भाष्य लिखने की परम्परा थी। किन्तु पार्थसारथिने एक नवीन शैली का सूत्रपात किया। इन्होंने एकेक अधिकरण को लेकर उसमें निहित पूर्वपक्ष और उत्तरपक्ष को सामासिकशैली में एक स्थान पर रखने की नवीन परम्परा का श्रीगणेश शास्त्रदीपिका में किया है। इस शैली से प्रभावित होकर माधवाचार्य ने अपनी जैमिनीयन्यायमाला में उक्त शैली का ही अनुसरण किया है। पार्थसारथिमिश्र की शास्त्रदीपिका के प्रथम अध्याय के प्रथम पाद पर रामकृष्ण (ई.स. १५४३) ने सिद्धान्तचन्द्रिका नाम की और समग्र अवशेष भाग पर सोमनाथ (ई.स. १७१०) ने मयूखमालिका नाम की टीका लिखी है।

पार्थसारथि मैथिली ब्राह्मण थे। इनके पिता का नाम 'यज्ञात्मा' था। शास्त्रदीपिका के प्रारम्भ में–

न्यायाभासतमश्छन्नशास्त्रतत्त्वार्थदर्शिकाम् ।
कुमारलिमतेनाहं करिष्ये शास्त्रदीपिकाम् ।।

उक्तश्लोक उल्लिखित है। इससे यह तो स्पष्ट हो जाता है कि पार्थसारथि मिश्र ने कुमारिल मतानुसार शास्त्रदीपिका की रचना की है, किन्तु उसमें प्रयुक्त 'न्यायाभास' शब्दों से प्रभाकरमत के उल्लेख के साथ-साथ शास्त्रदीपिका में लेखक द्वारा उसका खण्डन की जाने की प्रतिज्ञा का भी ज्ञान होजाता है।

मण्डनमिश्र– मण्डनमिश्र कुमारिलभट्ट के बहुसंख्यक शिष्यों में से विशेष प्रतिभासम्पन्न माने जाते हैं। ये मिथिला के निवासी थे। इनकी मीमांसा से सम्बन्धित प्रसिद्ध रचनाएँ हैं–

(१) **विधिविवेक–** इसमें 'विधि' पर विचार किया गया है।

(२) **भावनाविवेक–** इसमें आर्थीभावना की विवेचना की गई है।

(३) **विभ्रमविवेक–** इसमें ख्यातियों का विद्वत्तापूर्ण विवेचन है।

(४) **मीमांसासूत्रानुक्रमणी–** इसमें जैमिनि प्रणीत सूत्रों की श्लोकबद्ध संक्षिप्त व्याख्या की गई है। मण्डन मिश्र के सभी ग्रंथ कुमारिल के मत की पुष्टि करते हैं। ये कुमारिल से परवर्ती किन्तु वाचस्पति मिश्र से पूर्ववर्ती है।

श्री माधवाचार्य– विजयनगर के बुक्क और हरिहर नामक हिन्दूराजाओं के सभापण्डित माधवाचार्य एवं उनके भाई सायण अत्यन्त उद्भट शास्त्रार्थी पण्डित होने के साथ-साथ राजकार्य में नितान्त निपुण थे। इन दोनों ने अनेक संस्कृत ग्रंथों की रचनाकर संस्कृत वाङ्मय को समृद्ध किया है। उनके कुछ विशेष प्रसिद्ध ग्रंथ हैं–

(१) ऋग्वेदभाष्य, (२) यजुर्वेदभाष्य, (३) सामसंहिताभाष्य, (४) पंचविंश ब्राह्मणभाष्य,

(५) षड्‌विंश ब्राह्मणभाष्य, (६) पाराशरस्मृतिव्याख्या, (७) जैमिनीयन्यायमाला (८) वैयासिकन्यायमाला आदि।

कहा जाता है कि माधवाचार्य ने अन्त में सन्यासग्रहण कर लिया था। इसीलिए वे विद्यारण्यस्वामी के नाम से भी प्रसिद्ध हैं। इनका समय ई.स. १३३६ के आसपास माना गया है।

'जैमिनीयन्यायमाला'– माधवाचार्य कृत 'जैमिनीयन्यायमाला' मीमांसा के सिद्धान्तों का अध्ययन करनेवाले नवीन विद्यार्थियों के लिए अत्यन्त उपयोगी ग्रंथ है। मीमांसा पर लिखे गये शाबरभाष्य को छोडकर अन्य सभी ग्रंथ नवीन अध्येताओं के लिये प्राय: दुर्बोध होते हैं। किन्तु माधवाचार्य ने मीमांसा के सिद्धान्तों में प्रवेश करने के इच्छुक नवीन विद्यार्थियों के लिए मीमांसा के दुर्बोध मार्ग को अत्यन्त सरल एवं प्रशस्त बना दिया है। वस्तुत: जैमिनीन्यायमाला की विषय-प्रतिपादन-शैली नितान्त सुगम होने से विद्यार्थियों को उसका विषय समझने के लिए कोई कठिनाई नहीं होती। इस ग्रंथ में इन्होंने मीमांसा सूत्रों की व्याख्या गद्य एवं पद्य दोनों में प्रस्तुत की है। सर्वप्रथम श्लोकों के माध्यम से अधिकरण का विषय सरल एवं सुबोध शैली में उपन्यस्त कर उसका भावार्थ गद्यात्मक भाषा में समझाने का प्रयत्न किया है। कुमारिल भट्ट के साथ प्रभाकर के भी मन्तव्यों को आवश्यकतानुसार प्रस्तुत करते हुए दोनों के मत-भेदों को स्पष्टांकित किया गया है। इसके अतिरिक्त वार्तिककार-भाष्यकार आदि पूर्ववर्ती ग्रंथकारों ने जहाँ-जहाँ भिन्न मतों को प्रदर्शित किया है, उन-उन स्थलों का भी इन्होंने इसमें उल्लेख किया है।[१]

यहाँ तक मीमांसा शास्त्र के सुप्रसिद्ध ग्रंथकारों का संक्षिप्त परिचय दिया गया है, अब हम यहां मीमांसाशास्त्रो के अन्य ग्रंथकारों का उल्लेख करते हैं।

(१) **जयन्तभट्टकृत** 'न्यायमंजरी' मीमांसा का प्रतिष्ठितग्रंथ है। इसका समय नवम शतक का उत्तरार्ध माना गया है।

(२) **रामानुजाचार्य** ने 'न्यायरत्नमाला' पर 'राणकरत्न' नाम की टीका लिखी है।

(३) **खण्डदेव मिश्र**– पण्डित बलदेव उपाध्याय के मतानुसार खण्डदेव मिश्र का नाम "भाट्टमत के इतिहास में सुवर्णाक्षरों में लिखने योग्य है। भाट्टमत में 'नव्यमत' के उद्‌भावक ये ही हैं जो 'नव्यन्याय' के समान दार्शनिक दृष्टि से नितान्त महत्त्वशाली हैं।" खण्डदेव के तीन ग्रंथ हैं:– (१) भाट्टकौस्तुभ– इसमें जैमिनीय सूत्रों की विशद एवं वैदुष्यपूर्ण टीका है। (२) भाट्टदीपिका– यह अधिकरण प्रस्थान पर रचित ग्रंथ है। इस ग्रंथ पर तीन टीकाएँ उपलब्ध हैं (१) खण्डदेव के शिष्य शम्भुभट्ट द्वारा विरचित 'प्रभावली' टीका। (२) भास्करराय द्वारा रचित भाट्टचन्द्रिका और (३) वाञ्छेश्वरयज्वा द्वारा विरचित 'भाट्टचिन्तामणि खण्डदेव मिश्र द्वारा विरचित तीसरा ग्रंथ है– 'भाट्टरहस्य'।

---

१. जैमिनीयन्यायमाला, आनन्दाश्रम संस्करण देखिए- पृ. ३०, ३१, ३२, ४०, ८७, ११७, १७१, १८०, ३६२, ६२२।

(४) **राघवानन्द** कृत 'मीमांसासूत्रदीधिति' एवं

(५) **भवनाथ मिश्र** कृत 'मीमांसानयविवेक' मीमांसा के यो दोनों ही ग्रंथ प्रसिद्ध हैं।

(६) इतिहास प्रसिद्ध विश्वेश्वर भट्ट अपरनाम **गागाभट्ट** कृत 'भाट्टचिन्तामणि' हैं। इसमें इन्होंने जैमिनीय सूत्रों पर प्रौढ टीका की रचना की हैं।

(७) **अप्पय्यदीक्षित–** (ई.स. १५५२-१६२६) इनके द्रो ग्रंथ हैं– (१) विधिरसायन और (२) 'उपक्रमपराक्रम'।

(८) **गोपालभट्ट–** इन्होंने 'विधिरसायनभूषण' की रचना की हैं।

(९) **शंकरभट्ट–** ने अपने 'विधिरसायनदूषण' नामक ग्रंथ में अप्पयदीक्षित के 'विधिरसायन' का खण्डन किया है। इनका दूसरा ग्रंथ 'मीमांसाबालप्रकाश' हैं।

(१०) **कृष्णयज्वा–** इन्होंने 'मीमांसापरिभाषा' नामक लघुकाय ग्रंथ की रचना की हैं। इसमें कतिपय जैमिनीय सिद्धान्तों का सरलभाषा में विवेचन किया गया हैं। इसलिए यह छात्रोपयोगी होने के साथ-साथ सामान्य अध्येता के लिए भी विशेष लाभप्रद हैं।

(११) **आपदेव–** 'मीमांसान्यायप्रकाश' (जो आपोदेवी के नाम से भी जाना जाता है) के रचयिता आपदेव हैं। (समय १७वीं शतीका उत्तरार्ध माना जाता है) इन्होंने अपने पिता अनन्तदेव से विद्याग्रहण की। आपदेव गोदावरी-तट पर रहनेवाले संभवत: 'पैठन' या नाशिक नगर के महाराष्ट्रीय ब्राह्मण थे। इनका उपनाम देव था। इनके दो विद्वान् पुत्र हुए– (१) अनन्तदेव और (२) जीवदेव। अनन्तदेव ने 'मीमांसान्यायप्रकाश' पर 'भाट्टालंकार' नाम की टीका लिखी। इन्होंने 'स्मृतिकौस्तुभ' नामक ग्रंथ की भी रचना की। जीवदेव ने 'भाट्टभास्कर' ग्रंथ की रचना की। आपदेव ने पूर्वमीमांसा और उत्तरमीमांसा पर एक-एक ग्रंथ की रचना की है। सदानंदयति कृत वेदान्तसार पर आपके द्वारा विरचित टीका प्रसिद्ध है। किन्तु आपके रचित ग्रंथों में 'मीमांसान्यायप्रकाश' ग्रन्थ ही उत्कृष्ट ग्रंथ मानाजाता है। इसे 'प्रकरणग्रंथ कहा जाता है। वेसे देखा जाय तो वृत्तिकारों की वृत्ति, शाबरभाष्य, प्रभाकर की बृहत् टीका, कुमारिलस्वामी के वार्तिक आदि ग्रंथ सभी सूत्रप्रधान हैं। क्योंकि इन सभी ग्रंथों में एक-एक सूत्र पर व्याख्या लिखी गई है। इनके पश्चात् शास्त्रदीपिका, जैमिनीयन्यायमाला आदि ग्रंथों में अनेक सूत्रों के संग्रह से निर्मित अधिकरण को प्रधानरूप से रखकर क्रमश: प्रत्येक अधिकरण के विषय का विवेचन किया गया है। परन्तु 'आपोदेवी' 'अर्थसंग्रह' सदृश संक्षिप्त (लघु) ग्रंथों में भावना, विधि, मंत्र, नामधेय, निषेध, अर्थवाद जैसे मीमांसाशास्त्र के भिन्न-भिन्न प्रकरणों का प्रतिपादन किया गया है। इसीलिए इन्हें प्रकरण ग्रंथ कहा जाता है। इस आपोदेवी प्रकरणग्रंथ में जिन प्रकरणों को विवेचनार्थ ग्रहण किया गया है, उनके विषय प्राय: जैमिनीयसूत्र के प्रथम छ: अध्यायों से ग्रहण किये गये हैं। साथ ही १०वें १२वें अध्यायों से 'पर्युदास' आदि जैसे कुछ विषयों को सम्मिलित किया गया है। तथापि सदा उपयोग में आनेवाले प्राय: सभी प्रकरणों का संग्रह इस ग्रंथ में होने के कारण इस ग्रंथ के अध्ययन से मीमांसाशास्त्र में प्रवेश सुगम हो जाता है। वाराणसी के श्री चिन्नस्वामीशास्त्री और कलकत्ता

के श्रीकृष्णानाथ न्यायपंचाननभट्टाचार्य द्वारा इस पर लिखी हुई टीकाएँ प्रसिद्ध हैं। इस प्रकार यहाँ संक्षेपत: भाट्ट परम्परा के आचार्यों का परिचय उपन्यस्त किया गया है।

अर्थसंग्रहकार लौगाक्षिभास्कर

'आपोदेवी' का सार ग्रहणकर 'अर्थसंग्रह' नामक प्रकरणग्रंथ की रचना करनेवाले ग्रंथकार का नाम 'भास्कर' था। ग्रंथोपसंहार के अन्त में उल्लिखित श्लोक में इन्होंने स्वयं को 'भास्कर' ही कहा है–

'बालानां सुखबोधाय भास्करेण सुमेधसा ।
रचितोऽयं समासेन जैमिनीयार्थसंग्रहः ।।'

इसी प्रकार 'तर्ककौमुदी' के उपान्तिम श्लोक में भी स्वयं को 'भास्करशर्मा' के नाम से अभिहित किया है।

'विद्वद्भास्करशर्मा यो बालव्युत्पत्तिसिद्धये ।
यथा कणादसिद्धान्तमकरोत्तर्ककौमुदीम् ।।''

प्रस्तुत ग्रंथ के मङ्गलाचरणश्लोक एवं उपसंहार-श्लोक से विदित होता है कि **लौगाक्षि** इनके वंश (कुल) का नाम था और **भास्कर** स्वयं का।[१] यही विचार डॉ. विद्याभूषण का है।[२] इस प्रकार इनके वंश का नाम 'लौगाक्षि' था। डॉ. कीथ के अनुसार इनके पिता का नाम मुद्गल एवं पितामह का नाम रुद्र था।[३] अर्थसंग्रह के मंगलाचरण में और तर्ककौमुदी के प्रारम्भिक और अंतिम के दो श्लोकों में वासुदेव और रमा इन दो नामों का उल्लेख किया है। अत: कुछ विद्वानों के विचार में उक्त श्लोकों में उल्लिखित 'वासुदेव' पद द्वारा अपने पिता को एवं 'रमा' पद द्वारा अपनी माता को लेखक ने प्रणामाञ्जलि समर्पित की है। किन्तु कुछ का ऐसा विचार है कि 'वासुदेव' एवं 'रमा' पदों के द्वारा ग्रंथकार ने वस्तुत: पौराणिक देवताओं का ही स्मरण किया है। हमारे विचार में लेखक ने उक्त दो पदों द्वारा अपने सपत्नीक गुरु को वन्दन किया है। हमारे विचार की पुष्टि तर्ककौमुदी के मंगलाचरण के श्लोक में प्रयुक्त 'विद्यानिदानम्' विशेषण से होती है।[४] इसके अतिरिक्त आपोदेवी से ग्रहण किये

---

१. The name Laugākshi is found prefixed to the names of several authors (ef. Index. Kane's History of Dharma Sastra) which suggests that it was probably a family name. The fact that there was a sage of the name. (ef. Godbole's History of Ancient India) further strengthnes this conclusion.
–Sukthankar S.S. Introduction, Artha Sangrah, P. VII.

२. Dr. Vidyabhusan. A History of Indian Logic. P. 395.

३. डॉ. कीथ कृत 'इण्डियन लॉजिक' पृ. ३८

४. श्री वासुदेवं नवनीरदाभं रमाधरालङ्कृतपार्श्वभागम् ।
मत्स्यादिरूपैः कृतलोकतोषं **'विद्यानिदानम्'** परमं नमामि ।।
लौगाक्षिभास्करकृत तर्ककौमुदी का मगंलाचरण श्लोक ।

On the other hand it is not impossible that the expression 'वासुदेवं रमाकान्तम' is

हुए विषयों के साथ-साथ लौगाक्षिभास्करने आपोदेवी के प्रारम्भ में–

यत्कृपालेशमात्रेण पुरुषार्थचतुष्टयम् ।
प्राप्यते तमहं वन्दे गोविन्दभक्तवत्सलम् ।।

और अन्त में–

क्वाहं मन्दमतिः क्वेयं प्रक्रिया भाट्टसंमता ।
तस्माद्भक्तेर्विलासोऽयं गोविन्दगुरुपादयोः ।।

ग्रन्थरूपो मदीयोऽयं वाग्व्यापारः सुशोभनः ।
अनेन प्रीयतां देवो गोविन्दो भक्तवत्सलः ।।

अंकित इस ईश्वर वन्दना में गोविन्द नामक गुरु को किये हुए वन्दन का भी अनुकरण कर स्वकृत ईश्वर वन्दना में अपने गुरु को भी संभवतः वन्दन किया है। लौगाक्षिभास्कर के जन्मस्थानादि के विषय में कोई निश्चित प्रमाण उपलब्ध नहीं होता। 'मीमांसा कुसुमाञ्जलि' के रचयिता डॉ. उमेश मिश्र और डॉ. गंगानाथ झा आदि विद्वानों के अनुसार ये दक्षिणवासी थे, परन्तु तर्ककौमुदी में मणिकर्णिका का उल्लेख उपलब्ध होने के कारण डॉ. कीथ ने इन्हें वाराणसी का निवासी माना है।

लौगाक्षिभास्कर का समय १६वीं शताब्दी का उत्तरार्ध माना जाता है। लौगाक्षिभास्कर एवं आपदेव के पूर्व वर्तित्व एव परवर्तित्व के विषय में विद्वानों के मत भिन्न हैं। म.म. चिन्नस्वामी, डॉ. कीथ तथा डॉ. राधाकृष्णन लौगाक्षिभास्कर को आपदेव से परवर्ती मानते हैं। इनके विचार में लौगाक्षिभास्कर ने अर्थसंग्रह में आपदेव के विचारों का पर्याप्त रूप में उपयोग किया है। किन्तु श्रीरामस्वामी शास्त्री डॉ. एफ. एजर्टन एवं अन्य कई विद्वान् इसे नहीं मानते।

मीमांसाग्रंथोक्त सूत्र, विषयवाक्य, उदाहरण, लक्षण और सिद्धान्त सर्वत्र एक ही होने के कारण पूर्ववर्ती ग्रंथकार की भाषा और विषय-रचना से उत्तरवर्ती ग्रंथकार के ग्रंथ की भाषा और विषय-रचना में सादृश्य यदि होता हो तो उत्तरवर्ती ग्रंथ को हीन दृष्टि से नहीं देखा जाना चाहिए। क्योंकि उत्तरवर्ती ग्रंथकार तो मूलग्रंथ के विषय को ही प्रतिपादित करेगा, किसी नवीन विषय को नहीं। ऐसी स्थिति में लौगाक्षिभास्कर हो या अन्य कोई जैमिनी सूत्रोक्त या आपदेवोक्त उत्पत्तिविधि, और विनियोगविधि, नियम, और परिसंख्या या निषेध और पर्युदास इत्यादिकों की नवीन माहिती कहाँ से दे सकेगा? जैमिनिसूत्र से आपदेव के न्यायप्रकाश तक जो विचार-परम्परा चली आ रही है, उसी को लौगाक्षिभास्कर द्वारा अपने ग्रंथ अर्थसंग्रह में अग्रसरित किया जाना नितान्त स्वाभाविक है। आपदेव द्वारा श्री पार्थसारथिमिश्र के न्यायरत्नमाला से ग्रहण किये हुए अनेक मूल विषयों को चिन्नस्वामी ने अपनी प्रस्तावना में प्रदर्शित किया है। फिर भी आपदेवी और 'अर्थसंग्रह'– इन दो ग्रंथों के रचनाक्रम की तुलना करने पर ज्ञात

---

paronomastic and contains a reference either to Bhaskar's parents vasudeva and Ramā or to his spiritual precepter and his wife, possessing the same names.

–Gajendragadkar A.B. Arthasangraha English Note. P.71

होता है कि लौगाक्षिभास्करने आपदेवी के कुछ विषयों के क्रम को अपने अर्थसंग्रह में कुछ सुधरे हुए रूप में (परिवर्तितरूप में) प्रस्तुत किया है। आपदेवी और अर्थसंग्रह को देखने पर ज्ञात होता है कि दोनों में विषय प्रतिपादन का प्रारम्भ एक जैसा ही है। भावना का लक्षण करने के अनन्तर उसके दो भेदों- (१) शाब्दीभावना और (२) आर्थीभावना का उल्लेख किया गया है। वह शाब्दीभावना तीन अंशों की अपेक्षा रखती है, सूचित कर उस शाब्दीभावना के अंशत्रयों में से 'प्राशस्त्यज्ञानमितिकर्तव्यतात्वेन संबध्यते' लिखकर इतिकर्तव्यताकांक्षा के सम्बन्ध में सूचित किया गया है। यहाँ तक 'आपदेवी' और अर्थसंग्रह इन दोनों ही ग्रंथों का क्रम साथ-साथ चलता रहा है, किन्तु उक्त उद्धृत पंक्ति में प्रयुक्त 'प्राशस्त्य' शब्द से आपदेव सहसा अर्थवाद की ओर मुड़गये और अर्थवाद को भी वेद में अर्थवत्त्व रहता है, यह कहने के प्रसंग में जो वेद शब्द आया है, उसके सम्बन्ध में **'सच वेदों विधिमन्त्रनामधेय-निषेधार्थवादात्मकः'**- यह कहकर वे पुनः सहसा विध्यादिकों के विचार की ओर उन्मुख हो गये हैं। इस प्रकार प्रथम प्रारम्भ की हुई शाब्दी और आर्थी भावना के विवेचन के प्रसंग में आपदेव का सैकडों पृष्ठों का 'मीमांसान्यायप्रकाश' ग्रंथ ही अवतरित हो गया है। परिणामतः प्रथम १-२ पृष्ठों में शाब्दीभावना और अंत के १-२ पृष्ठों पर आर्थीभावना का विसंगत क्रम उत्पन्न हो गया है। इसके विपरीत लौगाक्षिभास्कर ने अपने अर्थसंग्रह में उक्त विसंगति- क्रम के दोष का निराकरण बडी दक्षता (दूरदर्शिता) से कर दिया है। उन्होंने शाब्दीभावना की इतिकर्तव्यताकांक्षा के विचार को समाप्त करने के पश्चात् आर्थीभावना के प्रकरण को प्रारम्भ कर विना किसी व्यवधायक विषय की चर्चा किये समाप्त किया है। तत्पश्चात् **''अथ को वेद इति चेदुच्यते। अपौरुषेयं वाक्यं वेदः। स च विधि- मंत्र-नामधेय-निषेधा-र्थवाद-भेदात्पंचविधः।''** इस प्रकार का उपक्रम करके विध्यादिक विषयों के विवेचन की ओर उन्मुख हुए है। परिणामतः अर्थसंग्रह-ग्रंथ में सुसंगति परिलक्षित होती है।

अर्थसंग्रह पूर्वमीमांसा का ग्रंथ है, और वह भी कर्मकाण्डपरक। यह ग्रंथ प्रमाणमीमांसा अथवा तत्त्वमीमांसा जैसे गूढ दार्शनिक विषयों की चर्चा कर अव्युत्पन्न विद्यार्थियों को जैमिनिशास्त्र से पराङ्मुख नहीं करता। अर्थसंग्रह का अध्ययन करने पर लौगाक्षिभास्कर के ये शब्द- 'बालानां सुख बोधाय......रचितोऽयं समासेन जैमिनीयार्थसंग्रहः।।'- कि अव्युत्पन्न बालकों का जैमिनिशास्त्र में प्रवेश हो सके, इसलिये अर्थसंग्रह नामक ग्रंथ की रचना की है।' यथार्थ प्रतीत होते हैं। निश्चय ही अर्थसंग्रह की लोकप्रियता का मुख्यकारण उसकी सरलभाषा एवं शैली है।[१] जैमिनि के सिद्धान्तों में प्रवेश इस ग्रंथ के अध्ययन के विना संभव नहीं है, ऐसा सभी विद्वानों का विचार है। इस लघुकाय ग्रंथ में जैमिनि प्रणीत मीमांसा दर्शन के मुख्य प्रतिपाद्य विषयों का निरूपण अत्यन्त सारगर्भित एवं सुबोध शैली में होने से इसका निश्चय ही मीमांसा दर्शन के प्रकरण ग्रंथों में विशिष्ट स्थान है। और इसीलिये अध्ययन एवं अध्यापन के लिए इस ग्रंथ का सर्वाधिक प्रचलन रूप में स्वागत हुआ है।

---

१. It is an elementary book which is very useful for the beginners. Due to its easy and simple style the book has become so very popular amongest the Sanskritists.

–Dr. G. Jha. Purva Mimamsa and its sources. Bibliography, P. 53.

अर्थसंग्रहपर श्री रामेश्वर भिक्षु ने तथा श्रीकृष्णनाथ न्यायपंचानन भट्टाचार्य ने सुबोध टीकाएँ लिकी हैं। जो प्रकाशित हैं। डॉ. जी. थिबो (Dr. G. Thibaut) कृत अनुवाद प्रकाशित हो चुका है। डॉ. जी. थिबो ने अनुवाद के साथ-साथ स्वकृत भूमिका में मीमांसा के कुछ सिद्धान्तों का भी उल्लेख किया है। डॉ. थिबो ने अनुवाद के साथ स्थान-स्थान पर टिप्पणियाँ देकर ग्रंथ की उपादेयता एवं सुबोधता को बढ़ा दिया है।[१]

इनके अतिरिक्त दिनकर राव गोखले का अंग्रेजी अनुवाद ओरियण्टल बुक एजेन्सी द्वारा प्रकाशित हो चुका है। ए. बी. गजेन्द्रगडकर तथा आर. डी. करमरकर ने संयुक्त रूप में अर्थसंग्रह का अंग्रेजी अनुवाद प्रकाशित किया है। इसमें दुरूह विषयों को सरलता से समझाया गया है। अंग्रेजी अनुवादों के अतिरिक्त हिन्दी अनुवाद भी प्रकाशित हुए है, जिनमें श्री टाटाम्बरी और डॉ. दयाशंकरशास्त्री का हिन्दी अनुवाद हैं। डॉ. दयाशंकर शास्त्री का यह हिन्दी संस्करण मीमांसक मान्यताओं को बोधगम्य बनाने में सहायक होने से असन्दिग्ध रूप में नितान्त छात्रोपयोगी है। मैंने भी इससे पर्याप्त सहायता ग्रहण की है।

श्रौतपदार्थ परिचय

मीमांसा के किसी लघु या बृहत् ग्रंथ को उठा लीजिए, उसे पढ़ते समय आपको श्रौत शब्दों या तत् सम्बन्धित किसी विशेष अर्थ को बतलानेवाली पारिभाषिक शब्दों की विपुलता पद पद पर देखने को मिलेगी। ऐसी स्थिति में तत्सम्बन्धित सामान्य परिचय के अभाव में उस विषय को ज्ञात करने में विशेष कठिनाई होती है। मूल अर्थसंग्रह के विषयों के स्पष्टीकरण के लिए यत्र-तत्र जिस विषय की आवश्यक जानकारी की आवश्यकता थी, वहाँ सविस्तर रीति से दी गई है। इसके अतिरिक्त और भी अन्य विषयों का सामान्य ज्ञान होना आवश्यक होने के कारण उसे निम्नानुसार दिया जा रहा है–

वेद में मुख्यरूप से यज्ञ सम्पादन करने की विधि का निरूपण किया गया है । ये यज्ञ विविध प्रकार के हैं। उनका श्रौत प्रयोग की दृष्टि से किया हुआ वर्गीकरण इस प्रकार है– यज्ञ की तीन संस्थाएँ हैं– (१) **पाकयज्ञसंस्था** (२) **हविर्यज्ञसंस्था** तथा (३) **सोमसंस्था**। प्रत्येक संस्था में सात-सात यज्ञों का अन्तर्भाव किया गया है। इसप्रकार उक्त तीन संस्थाओं को मिलाकर यज्ञ के **इक्कीस प्रकार** होते हैं। उनके नाम निम्नानुसार हैं– (१) **औपासन होम, वैश्वदेव, पार्वणम्, अष्टका, मासिश्राद्धं, सर्पबलिः, ईशानबलिरिति** सप्त पाकयज्ञसंस्थाः, (२) **अग्निहोत्रं, दर्शपूर्णमासौ, आग्रयणं, पिण्डपितृयज्ञः, चातुर्मास्यानि, निरूढपशुबन्ध्यः, सौत्रामणीति सप्त हविर्यज्ञसंस्थाः**, (३) **अग्निष्टोमोऽत्यग्निष्टोम उक्थ्यः, षोडशी, वाजपेयोऽतिरात्रोऽप्तोर्याम** इति सप्त सोमसंस्थाः। इनके अतिरिक्त **अग्निचयन, राजसूय, अश्वमेध, पुरुषमेध,** इत्यादि अन्य अनेक याग हैं। यज्ञ में समर्पण किये जानेवाले हविर्भाग

---

१. A mere literal translation would have been of comparatively small value, numerous explanations have therefore been added.'

–Thibaut G. Arthasangraha : Preface

की दृष्टि से उक्त मुख्य तीन विभाग निरूपित किये गये हैं। अर्थात् किस यज्ञ में कौन सा हविर्भाग समर्पित किया जायगा इस दृष्टि से उक्त तीन विभाग हैं। अनेक हविर्भाग औषधद्रव्य के होते हैं, अनेक पशुद्रव्य के और अनेक सोम के होते हैं। इनमें से औषधद्रव्य बारह प्रकार के होते हैं। वे इसप्रकार हैं– औषधं द्वादशविधम्– **औषधयः, तण्डुलाः, पिष्टानि, फलीकरणाः, पुरोडाशः, ओदनः, यवागूः, पृथुकाः, लाजाः, धानाः, सक्तवः, सुरेति**। इसी प्रकार पशुद्रव्य दस प्रकार होते हैं। वे इस प्रकार हैं– पशुप्रभवं द्रव्यं दशविधम्– **पयः, दधिः, आज्यम्, आमिक्षा, वाजिनम्, वपा, वसा, त्वचा, मांसम् लोहित**मिति।

उपर्युक्त हविर्द्रव्यों का संस्कार करने के लिए तथा उनका हनन करने के लिए श्रौत में दस प्रकार के यज्ञायुधों का उल्लेख है। वे इस प्रकार हैं– [**सफ्यश्च कपालानि चाग्निहोत्रहवणी** च **शूर्पं** च **कृष्णाजिनं** च **शम्या चोलूखलं** च **मुसलं** च **दृषच्चोपला** चैतानि वै दश यज्ञायुधानि। (तै. सं.)]

उक्त दस आयुधों में साधन के रूप में जिस 'कपाल' का उल्लेख है, तद्विषयक जानकारी निम्नानुसार है–

['कपालं नाम पुरोडाशश्रपणसाधनम्। तानि च कपालानि भिन्नस्य घटादेः कर्तव्यानि। एतानि सर्वाणि कपालानि निरन्तराणि संश्लिष्टानि समानि चोपधेयानि यथा अन्तरा भूमिर्न दृश्यते।']

हविर्भाग देने के लिए आवश्यक **स्रुवा** खदिर-काष्ठ की, **जुहू** पलाश वृक्ष की, **उपभृत्** अश्वत्थ वृक्ष की और **ध्रुवा** वैकंकतकी (बहेड-वृक्ष की) निर्मित होते है।

इसप्रकार के साधनों से उपर्युक्त यज्ञ सम्पन्न किये जाते हैं। इन यज्ञों का उपर्युक्त वर्गीकरण हविर्द्रव्य की दृष्टि से किया गया है। उक्त यागों का एवं अन्य यागों का वर्गीकरण काल की दृष्टि से भी किया जा सकता है। **अग्निहोत्र** प्रतिदिन प्रातःकाल और सन्ध्यासमय किया जाता है। **पौर्णमासयाग** प्रति पौर्णिमा को तथा **दर्शयाग** प्रति अमावस्या को किया जाता है। **चातुर्मास्ययाग** में चार महिनों के समय की कल्पना है। इसका अर्थ यह नहीं है कि उसका सम्पादन चतुर्मास में ही किया जाता है। तथापि उसमें **वर्षाऋतु, शरदृऋतु** की कल्पना अन्तर्निविष्ट है। **कोष** के अनुसार चातुर्मासिक-चतुरो मासान् व्याप्य ब्रह्मचर्यमस्य,– चार महीने में होनेवाला यज्ञकर्म आदि। इसी प्रकार एकाह से लेकर द्वादशाहापर्यंत– एक दिन से लेकर बारह दिन तक चलनेवाले यागों का भी उल्लेख है। एक वर्ष किंवा अनेक वर्षों तक चलनेवाले सत्रों का भी उल्लेख किया गया है। काल की दृष्टि से भी देखने पर यज्ञसंस्था में इस प्रकार की योजना दिखाई देती है।

उक्त समस्त यागों में दर्शपूर्णमासयाग का उल्लेख सर्वप्रथम किया गया है। क्योंकि, वह इतर यागों का प्रकृतिभूत याग है। इसमें दर्श और पूर्णमास नामक दो याग हैं। दर्श शब्द का अर्थ इस प्रकार निरूपित किया गया है– **'दर्श इति सूर्याचन्द्रमसोः परः संनिकर्षः अभिधीयते'** 'दर्श' को ही अमावस्या कहा जाता है। अमावस्या शब्द का अर्थ इस प्रकार है–

'अमाशब्दः सहार्थे। यस्मिन्काले सूर्याचन्द्रमसोः सहवासः स कालः अमावस्यः।'

दूसरा याग पूर्णमास याग है, इसे पूर्णमास कहा जाने का कारण इस प्रकार है– 'मास इति चंद्रमस आख्या। पूर्णोमासो यस्मिन्काले स पूर्णमासः।' दर्शपूर्णमास इष्टियों का प्रकृतिभूत याग है। इष्टि का लक्षण इस प्रकार दिया गया है– 'श्रुतद्रव्यदेवताका अप्राणिद्रव्यकाः क्रिया इष्टय इत्यभिधीयन्ते।

उपर्युक्त यागों में से दर्शपूर्णमास जैसे यागों में चार ऋत्विज्– **अध्वर्यु, होता**, **उद्गाता** और **ब्रह्मा–** आवश्यक होते हैं। परन्तु सोमादिक जैसे बड़े बड़े यागों में ऋत्विजों की संख्या सोलह होती है। इनमें **अध्वर्यु, होता, उद्गाता** और **ब्रह्मा**– ये चार मुख्य होते हैं। और अध्वर्यु के सहायक **प्रतिप्रस्थाता, नेष्टा** और **उन्नेता**– ये तीन ऋत्विज् और होते हैं। इसीप्रकार होता के सहायक **मैत्रावरुण, ऐच्छावाक** और **ग्रावस्तुत्**– ये तीन ऋत्विज् होते हैं। उद्गाता तथा ब्रह्मा के क्रमशः तीन-तीन साहायक और होते हैं, वे ये हैं– **प्रस्तोता, प्रतिहर्ता, सुब्रह्मण्य** एवं **ब्राह्मणाच्छंसी, अग्नीद्** तथा **पोता** नामक ऋत्विज्। इसप्रकार ये सब मिलकर सोलह ऋत्विज् होते हैं। इनमें से **होता** ऋग्वेद के मंत्रों से देवताओं की स्तुति करता है, और उनका आह्वान करता है। **अध्वर्यु** यजुर्वेद में विहित समग्र कृत्यों को सम्पन्न करता है। उद्गाता सामवेद के मंत्रों का गान करता है। और ब्रह्मा ऋग्वेद, यजुर्वेद और सामवेद इन तीनों वेदों का आश्रयण करके यज्ञ में सम्पन्न होनेवाले समस्त कृत्यों (समुचित रीति से सम्पन्न हो रहे हैं या नहीं,) का पर्यवेक्षण करता है। उसीप्रकार कौन सा याग किस वेद से सम्पन्न करना चाहिए, इसका भी सामान्य नियम निर्धारित यह है कि– अग्निहोत्रयाग यजुर्वेदसे, दर्शपूर्णमास ऋग्वेद और यजुर्वेद से और ज्योतिष्टोमादिक ऋग्वेद, यजुर्वेद तथा सामवेद– इन तीन वेदों से संपन्न करना चाहिए।

विषयानुक्रमणिका

।। श्रीगणेशाय नमः ।।

।। श्रीकाशीविश्वेश्वरोविजयतेतराम् ।।

अर्थसङ्ग्रहः

मङ्गलाचरणम्

वासुदेवं रमाकान्तं नत्वा लौगाक्षिभास्करः ।।
कुरुते जैमिनिनये प्रवेशायार्थसंग्रहम् ।।१।।

।।अथ कौमुदी।।

आद्यो यो हेतुर्विश्वसर्गे महेशो यज्ञादीनां कोहव्यनिक्षेपदेवः ।। भूतानां भर्ता सर्वभूतान्तरात्मा हृद्यं मे कार्यं तत्प्रणामः करोतु ।।१।। श्रीजैमिनिनये ग्रन्थः प्रवेशाय निरूपितः ।। विदुषा तत्र बालानां कौमुदीयं वितन्यते ।।२।। इह खलु परमकारुणिकेन मुनिना जैमिनिना धर्माधर्मविवेकाय द्वादशलक्षणी मीमांसा प्रणीता । तत्र हि प्रवेशाय शिशूनामर्थसंग्रहाख्यं प्रकरणं प्रारभमाणो लौगाक्षिभास्करः शिष्टाचारपरिप्राप्तं प्रचयगमनादिफलकमिष्टदेवतानमस्कारलक्षणं मङ्गलमाचरति । *वासुदेवमित्यादिना* । वासुदेवं श्रीनारायणं सर्वनिवासाधिष्ठानं प्रकाशात्मकं ब्रह्मेत्यर्थः । रमाकान्तं रमाया लक्ष्म्याःकान्तमित्यर्थः । नचेश्वरानङ्गीकारो द्रव्यत्यागोद्देश्य-

---

अनुवाद– वासुवेदमिति । लक्ष्मीकान्त विष्णु को नमस्कार करके ग्रंथकार लौगाक्षिभास्कर जिज्ञासुओं को जैमिनिप्रणीत मीमांसादर्शन मे प्रवेश हेतु 'अर्थसंग्रह' नामक ग्रंथ की रचना करते है ।।१।।

।। अथ अर्थमीमांसा ।।

पूज्यो गणेश इति शक्तिरपीह केचित्
प्राहुः परे च तपनं शशिभालमन्ये ।
तैस्तैर्विभासि खलु रूपगुणैस्त्वमेव
तस्मात्त्वमेव शरणं कमलायताक्ष ! ।।१।।
रमते भारती यत्र ब्रह्मत्वं राजते मुखे ।
यत्कृपा सफला नूनं वन्देऽहं तं गजाननम्[१] ।।२।।

उक्त श्लोक में लौगाक्षिभास्कर ने मंगलाचरण के व्याज से लक्ष्मीपति वासुदेव को नमन किया है। प्रकृत प्रसङ्ग में यह जिज्ञासा हो सकती है कि- मीमांसाशास्त्रीय इस ग्रंथ के मंगलाचरण के प्रसंग में **'लक्ष्मीपति वासुदेव'** नामक देवता विशेष के नामोल्लेख द्वारा

---

१. महामहोपाध्याय डॉ. गजाननसदाशिवशास्त्रिचरणा मदीयगुरुचरणाः ।।

विष्णुदेवतायाः स्वीकृतत्वादित्यन्यत्। *जैमिनिनय इति*। जैमिनिप्रणीते द्वादशाध्यायात्मके पूर्ववेदभागविचारात्मके तन्त्र इत्यर्थः । प्रवेशाय बालानामितिशेषः । *अर्थसंग्रहमिति*। अर्थानां द्वादशाध्यायप्रतिपाद्यप्रमाणादिपदार्थानां संक्षिप्तशब्दरचनया लक्षणादिकथनमित्यर्थः । तत्र हि प्रथमे लक्षणे विध्यादेः प्रामाण्यं निरूपितं, द्वितीये तद्विधेयकर्मभेदो निरूपितः, तृतीये विहितानां शेषशेषिभावः, चतुर्थे क्रतुप्रयुक्तानुष्ठेयानां पुरुषार्थप्रयुक्तानुष्ठेयानां च पदार्थानां परिमाणं चिन्तितं, पञ्चमेऽनुष्ठेयपदार्थानामनुष्ठानक्रमो निरूपितः, षष्ठे विहितकर्मफलभोक्तृत्वरूपाधिकारनिरूपणं, सप्तमे प्रकृतावुपदिष्टाङ्गानां विकृतौ सामान्यातिदेशो निरूपितः । अष्टमे आग्नेयोऽष्टाकपाल इत्यादिप्रकृत्यङ्गानां सौर्यं चरुं निर्वपेदित्यादिविकृतौ सप्तदशद्रव्यदेवतादिद्वारेण विशेषातिदेशः, नवमे प्रकृतावुपदिष्टानां मन्त्रसामसंस्कारकर्मणां विकृतावतिदेशप्राप्तानां प्रकृतिविकृत्योरग्निसूर्यादिदेवतादिभेदे प्रकृतिगतं देवतादिवाचकं पदं विहाय विकृतौ देवतादिवाचकस्य पदस्याध्याहार ऊहो निरूपितः, यथाऽग्नये जुष्टमिति मन्त्रे प्रकृत्युपदिष्टे विकृतावतिदेशप्राप्तेऽग्निपदपरित्यागेन सूर्यपदाध्याहारः यथा च गिरागिरा च दक्षस इत्यत्र साम्नि गिरापदस्य परित्यागेनेरापदाध्याहारः साम्नामूहः व्रीह्यादिद्रव्यान्तरसंबन्धिनश्चावघातादेर्नीवारादिद्रव्यान्तरसम्बन्धः संस्कारकर्मणामूहश्च । दशमे विकृतौ चोदकप्रा-

भगवान् का स्मरण करने में कोई विशेष औचित्य अथवा नामस्मरण करने की आवश्यकता दिखाई नहीं देती। क्योंकि मीमांसा-संप्रदाय में देवता विशेष के प्रति इस प्रकार का आग्रह सामान्यतः प्रचलित नहीं है। इसी हेतु से जैमिनि ने[१] विग्रहात्मक देवता का खण्डन किया है। प्रकृत जिज्ञासा समुचित है तथापि याज्ञिक सम्प्रदाय में **'अग्निर्वैदेवानामवमो विष्णुः परमः[२]'**– इत्यादि अनेक वचनों के अनुसार विष्णु को परम्पूज्य देवता माना गया है और यज्ञों में विष्णु देवता को लक्ष्य करके या उसके उद्देश्य से हविर्भाग दिया जाता है, यह बात सत्य ही है, और इस दृष्टि से प्रस्तुत मंगलाचरण के प्रसंग में विष्णु को नमन-वन्दन-किया जाना उचित भी है। किन्तु विष्णु के अनेक नामों में से लौगाक्षिभास्कर द्वारा **'रमाकान्त'** और **'वासुदेव'**– इन दो नामों का ही उल्लेख किया जाना एक विशेष जिज्ञासा को जन्म देता है। इस जिज्ञासा के समाधानार्थ लौगाक्षिभास्कर के अर्थसंग्रह के टीकाकार परमहंस श्रीरामेश्वर भिक्षु ने भी किसी बात का संकेत-स्पष्टीकरण-अपनी टीका में नहीं दिया है। किन्तु हमारे विचार में **'रमाकान्त'** और **'वासुदेव'** इन दो नामों के उल्लेख में निश्चय ही लौगाक्षिभास्कर का कुछ हेतु होना चाहिए। क्योंकि लौगाक्षिभास्कर के अन्य ग्रन्थ **'तर्ककौमुदी'** के प्रारम्भ में दो श्लोक देखने में आते हैं[३]।

१. जै. सू. ९/१/५२.

२. ऐ. ब्रा. १/१

३. श्रीवासुदेवं नवनीरदाभं रमाधरालङ्कृतपार्श्वभागम् ।
मत्स्यादिरूपैः कृतलोकतोषं विद्यानिदानं परमं नमामि ।।
श्रीवासुदेवं सुरवैरिभङ्गं रमाधरालिङ्गितसुन्दराङ्गम् ।
पादाब्जसंभूतपवित्रगङ्गं नमामि तं वारितदोषसङ्गम् ।।

प्तानां प्राकृताङ्गानां प्रकृतौ सावकाशानां विकृतौ ह्युपदिष्टविशेषाङ्गादीनां बाधो निरूपितः ।। यथा प्रकृतेः सकाशाद्विकृतावतिदिष्टानां बर्हिषां शरमयं बर्हिरित्युपदिष्टेन शरमयबर्हिषा विकृतौ बाधः । एकादशे चानेकाङ्गिविधिप्रयुक्तानामङ्गानां सकृदनुष्ठानात्सर्वाङ्गिनामुपकारसाम्यं तन्त्रं निरूपितं, यथाऽग्नेयोष्टाकपाल-उपांशुयाजमन्तरा यजत्यग्नीषोमीयमेकादशकपालमित्यादिपौर्णमासादिकमप्रयुक्तानां सकृदनुष्ठानात्सर्वाङ्ग्युपकारः । द्वादशे त्वेकाङ्गिप्रयुक्तस्याङ्गानुष्ठानस्य तत्प्रयोजकसामर्थ्यरहितेऽङ्ग्यन्तरेप्युपकारः प्रसंगो निरूपितः । यथाऽग्नीषोमीयं पशुमालभेतेति पशुविधौ प्रयुक्तानां प्रयाजाद्यङ्गानां पशुपुरोडाशेऽप्युपकार इति । तथा च ते पदार्थाः केचिदत्रापि संक्षेपेण निरूपिताः । केचित्तु सूचितास्तत्र कांश्चित्पदार्थांस्तत्र तत्र प्रदर्शयिष्याम इत्यर्थसंग्रहमित्यस्योपपत्तिः । तथा सति यानि चानुबन्ध्यानि जैमिनितन्त्रस्य तान्यस्यापि

इन दोनों ही श्लोको में **'वासुदेव'** और **'रमा'** इन नामों का उल्लेख किया गया है। अतः उक्त दोनों नाम-'वासुदेव' और 'रमाकान्त' केवल विष्णु के ही नाम न होकर विशेषरूप से लौगाक्षि से सम्बन्धित होने चाहिए। संभव है, ये नाम लौगक्षि के पिता और माता के रहे हों। और इसीलिए ग्रन्थ के आरम्भ में भगवान् विष्णु के व्याज से लौगाक्षि ने अपने माता-पिता को वन्दन किया है। किन्तु यहाँ यह ध्यातव्य है कि अनेक स्थलों पर उनके पिता **'मुद्गल'**[१] नाम से भी उल्लिखित हैं। ऐसी स्थिति में ऐसा प्रतीत होता है कि ग्रंथकार ने उक्त श्लोकों में उन नामों के द्वारा अपने गुरु या **इष्ट** देवता का उल्लेख किया है।

मङ्गलाचरण करने के पश्चात् ग्रन्थकार 'अर्थसंग्रह' के प्रतिपाद्य विषय का प्रारम्भ करते हैं। ग्रंथकारप्रदर्शित पद्धति का अनुगमन करने के पूर्व हम मीमांसाशास्त्र की पद्धति का स्थूलरूप में निदर्शन कर रहे हैं जो विषयागम में सहायक हो सकता है। सरलता से समझने के लिए हम वेदों को दो भागों में विभक्त करते हैं– **पूर्वभाग** और **उत्तरभाग।** उत्तरभाग **ज्ञानकाण्ड** के नाम से जाना जाता है, इसमें **उपनिषदादिक ग्रन्थों का समावेश** होता है। तथा पूर्वभाग में **यज्ञयागादिकों से सम्बन्धित अनेक विधानों** का उल्लेख किया गया है। उनकी व्यवस्था कैसी हो? उनमें **विधि भाग** कौन से हैं? और **अर्थवाद भाग** कौन से है? उनके **शेष-शेषिभाव** का निर्णय किस प्रकार किया जाय? उनके अनुष्ठानों का **क्रम** किस प्रकार निर्धारित हो? उनमें कथित कर्मों के **अधिकारी** कौन होने चाहिए? उनके **प्रकृति-विकृति भाव** का निश्चय किस प्रकार किया जाना चाहिए? उनके अन्तर्गत आनेवाले कौन से

---

१. डॉ कीथ कृत ' इण्डियन लॉजिक'– पृ. ३८

The name Laugākshi is found prefixed to the names of several authors (cf. Index. Kane's History of Dharmasāstra) which suggests that it was probably a family name. The fact that there was a sage of the name (ef. Godbole's History of Ancient India) further strengthnes this conclusion.

Sukthankar S. S. Introduction, Artha Sangrah, P. VII.

३ अर्थ.

तत्प्रकरणत्वात् तस्य च धर्म एव विषयः अर्थमस्तु निरसनीयतया विचारितः। सोप्यधिकारी अधीतवेदवेदाङ्गो धर्मजिज्ञासुः, श्रेयोर्थःप्रयोजनञ्च विचारितधर्मानुष्ठानेन स्वर्गादिसम्बन्धो बोध्यबोधकलक्षणो धर्मतन्त्रयोरिति ।।१।।

विधानों का '**अतिदेश**' कहाँ करना चाहिए और कहाँ नहीं करना चाहिए? इत्यादि अनेक प्रकार के प्रश्न वेदवचनों के अर्थों की संगति लगाते समय उत्पन्न होते हैं। एतादृश सभी प्रश्नों का ऊहापोह भगवान् श्रीमहामुनि जैमिनि ने अपने पूर्वमीमांसा दर्शन में किया है। उन्होंने मीमांसाशास्त्र का सांगोपांग विचार करने के लिये मीमांसादर्शन में कुल मिलाकर **२६४५** सूत्रों की रचना की है। तथा विषयविभाग की दृष्टि से समस्त सूत्रों को **बारह अध्यायों** में विभक्त किया है। इनमें से **प्रथम छः अध्यायों** को '**पूर्वषट्क**' और आगे के **छः अध्यायों को** '**उत्तरषट्क**' कहा जाता है। इन बारह अध्यायों में से तीन अध्याय (३रा, ६छटा और १०वाँ.) **आठ-आठ** पादों में विभक्त हैं और शेष नौ अध्यायों के ३६ पाद है। इस प्रकार कुल पाद संख्या ६० है। प्रत्येक पाद में अनेक अधिकरण हैं। मीमांसाशास्त्र के इन अधिकरणों की कुल संख्या करीब-करीब **एक हजार** है।[१] इन अधिकरणों में समाविष्ट कुछ सूत्र पूर्वपक्ष के कथन– उनकी शंकाओं को प्रस्तुत करने के लिये हैं, तथा कुछ सूत्रों को पूर्वपक्षीय विचारों-शंकाओं का खण्डन करने के लिये उत्तरपक्ष के रूप से रखा गया है। और इस प्रकार, वैज्ञानिक शास्त्रसम्मत सिद्धान्त प्रस्थापित किया गया है। जैमिनि ने पूर्व मीमांसादर्शन के द्वादश अध्यायों में मीमांसाशास्त्र के सभी सिद्धान्तों को उक्त प्रकार से उपन्यस्त किया है। और इसीलिए कुछ विद्वान् इस शास्त्र को '**द्वादशलक्षणी**' कहते हैं। यहाँ **लक्षण का अर्थ** 'अध्याय' समझना चाहिए।

मीमांसादर्शनोक्त सूत्रों के आधारपर जिन सिद्धान्तों को जैमिनि ने प्रस्थापित किया, उन्हीं सिद्धान्तों को ग्रहण कर उनसे सम्बन्धित उत्तरवर्ती अनेक मीमांसकों ने विविध ग्रंथों की रचना की है। उसी परम्परा में लौगाक्षिभास्करने मीमांसाशास्त्र में प्रतिपादित विषयों का एकत्र संग्रह प्रस्तुत पुस्तक 'अर्थसंग्रह' में किया है। इसके पूर्व जैमिनि द्वारा मीमांसातन्त्र को द्वादश अध्यायों में विभक्त किये जाने के सम्बन्ध में तथा उन अध्यायों में वर्णित विषयों के सामान्यस्वरूप के विषय में भी बताया जा चुका है। उन द्वादश अध्यायों के विषय विभागों के जो शास्त्रोक्त विशिष्ट नाम दिये गये हैं, वे इस प्रकार हैं– (१) **धर्मप्रमाणम्,** (२) **धर्माधर्मभेदौ,** (३) **शेषशेषिभावः,** (४) **क्रत्वर्थपुरुषार्थभेदेन प्रयुक्तिविशेषः,** (५)

---

१. आगे बढ़ने के पूर्व हमें यहाँ शास्त्रीय सिद्धान्त की स्थापना करने की विशेष पद्धति को भी समझ लेना आवश्यक है। किसी शास्त्र के विशेष सिद्धान्त को प्रस्थापित करने के पूर्व दो पक्षों की कल्पना की जाती है, जिनमें प्रथम पक्ष **पूर्वपक्ष** कहलाता है और दूसरा पक्ष **उत्तरपक्ष**। पूर्वपक्ष के द्वारा प्रस्थापित होनेवाले सिद्धान्त के विषय में कुछ शंकाएँ उठाई जाती हैं और उत्तरपक्ष उन शंकाओं का निरसन-खण्डन-करते हुए उत्तर देता है, और इस प्रकार उत्तरपक्ष के द्वारा पूर्वपक्ष की अनेक शंकाओं का समाधान (खण्डन) कर दिया जाने पर एक निर्णयात्मक सर्वसम्मत शास्त्रीय सिद्धान्त प्रस्थापित किया जाता है।

श्रुत्यर्थपाठनादिक्रमभेदः, (६) **अधिकारविशेषः**, (७) **सामान्यातिदेशः**, (८) **विशेषातिदेशः**, (९) **ऊहः**, (१०) **बाधः**, (११) **तन्त्रम्**, (१२) **प्रसङ्गश्च**। इन्हीं से सम्बन्धित **माधवाचार्य** की दो कारिकाएँ निम्नानुसार हैं–

धर्मो द्वादशलक्षण्या व्युत्पाद्यस्तत्र लक्षणैः ।
प्रमाणभेदशेषत्वप्रयुक्तिक्रमसंज्ञकः ।।
अधिकारोऽतिदेशश्च सामान्येन विशेषतः ।
ऊहो बाधश्च तन्त्रं च प्रसङ्गश्चोदिताः क्रमात् ।।

इस प्रकार द्वादश अध्यायों में वर्णित जो भिन्न-भिन्न पदार्थ हैं, वे ही **अर्थ** हैं। और उन अर्थों के संक्षिप्त (शब्दों में कथित) लक्षणों को प्रस्तुत ग्रंथ में संग्रहित किया गया है। इसलिए इस ग्रंथ का नाम '**अर्थसंग्रह**' है। निष्कर्ष यह है कि मीमांसाशास्त्र में प्रतिपादित विषयों का एकत्र संग्रह करने के विचार को दृष्टि में रखकर इस ग्रंथ की '**पुष्पिका**' में लौगाक्षिभास्कर द्वारा अंकित किये गए ''**पूर्वमीमांसार्थसंग्रहनामकं प्रकरणम्**'' से भी '**अर्थसंग्रह**' नामकरण का उनका अभिप्राय स्पष्ट होता है।

अनुबन्ध चतुष्टय

भारतीय परम्परा के अनुसार शास्त्र के ४ अनुबन्ध माने जाते है, इन्हें '**अनुबन्धचतुष्टय**' कहा जाता है। ग्रन्थ के आरम्भ में इन अनुबन्ध-चतुष्टय- अर्थात् **विषय, सम्बन्ध, अधिकारी** और **प्रयोजन** का प्रतिपादन करना आवश्यक होता है। कुमारिलभट्ट ने लिखा है–

ज्ञातार्थं ज्ञानसम्बन्धं श्रोतुं श्रोता प्रवर्तते ।
ग्रन्थादौ तेन वक्तव्यः सम्बन्धः सप्रयोजनः ।।

यहाँ ध्यातव्य यह है कि प्रस्तुत ग्रंथ मीमांसाशास्त्र का ही एक ग्रंथ होने के कारण मीमांसाशास्त्र के जो अनुबन्ध चतुष्टय हैं, वे ही प्रकृत ग्रंथ के हैं, भिन्न नहीं। अतः यहाँ (प्रस्तुत ग्रंथ का) **धर्म** ही (१) **विषय** है, जिसने वेद और वेदाङ्गों का अध्ययन किया है और जो धर्म जिज्ञासु है, अर्थात् जैमिनि सिद्धान्तों के ज्ञान का इच्छुक ही (२) **अधिकारी** है, धर्म के अनुष्ठान से स्वर्ग की प्राप्ति करना ही (३) इस ग्रंथ का **प्रयोजन** है, और ग्रंथ में प्रतिपादित शास्त्र से धर्म का बोध-ज्ञान प्राप्त करना ही बोध्यबोधकस्वरूपी (४) **सम्बन्ध** है।

इस प्रकार अनुबन्धचतुष्टय की दृष्टि से प्रस्तुत ग्रंथ का पर्यालोचन कर लेने के पश्चात् अब ग्रंथ के प्रारम्भ की ओर उन्मुख होते हैं। प्रस्तुत ग्रंथ- '**अर्थसंग्रह**' जैमिनि[१] के मूल ग्रन्थ

१. **जैमिनि की पूर्ववर्ती मीमांसाशास्त्र की परम्परा–** जैमिनी ने मीमांसाशास्त्र की रचना की, किन्तु उनके पूर्व भी इस शास्त्र की रचना की गई होगी, ऐसे उल्लेख सिद्धान्त चन्द्रिका में देखने को मिलते हैं, यथा–
'ब्रह्मा प्रजापतये मीमांसां प्रोवाच, सोऽपीन्द्राय, सोऽप्यग्नये, स च वसिष्ठाय, सोऽपि पराशराय, पराशरः कृष्णद्वैपायनाय, सोऽपि जैमिनिनये, स च स्वोपदेशादनन्तरमिमं न्यायं ग्रन्थे निबद्धवानिति। क्वचित्तु ब्रह्मा महेश्वरो वा प्रजापतये मीमांसा प्रोवाच, प्रजापतिरिन्द्रायेन्द्र आदित्यायेत्येवमादिपाठान्तरम्' । (सिद्धान्तचंद्रिका)

(२) तन्त्रारम्भकसूत्रावतरणम्

अथ परमकारुणिको भगवान् जैमिनिर्धर्मविवेकाय द्वादशलक्षणीं प्रणिनाय। तत्रादौ धर्मजिज्ञासां सूत्रयामास 'अथातो धर्मजिज्ञासे'ति (जै.सू. १.१.१)।।

अत्राथ शब्दो वेदाध्ययनानन्तर्यवचनः। अतः शब्दो हि वेदाध्ययनस्य दृष्टार्थत्वं ब्रूते।।२।।

तत्र तावत्प्रतिज्ञातमर्थसंग्रहं निरूपयितुं स्वप्रकरणस्य तन्त्रारम्भाधीनारम्भकत्वात् तन्त्रारम्भार्थकं सूत्रमवतारयति। *अथेत्यादिना*। तत्र चाथशब्दः सौत्राथशब्दसमानार्थकः वेदाध्ययनानन्तरं तदर्थविचारः कर्तव्य इति धर्मजिज्ञासां सूत्रयामासेति तदर्थः। परमकारुणिकः निरुपाधिकरुणायुक्तः। भगवान् कीर्त्यादिमान्। भगं श्रीकाममाहात्म्यवीर्ययत्नार्ककीर्तिष्वित्यमरात्। जैमिनिरादौ धर्मजिज्ञासां सूत्रयामासेत्यन्वयः। कस्यादावितिवीक्षायामाह। *द्वादशलक्षणीमिति*। द्वादशानां लक्षणानामध्यायानां समाहारो द्वादशलक्षणी तां प्रणिनीय बुद्धौ समारोप्य तत्र तस्यां तस्यावेत्यर्थः। लोकेऽपि जनः स्वकृत्यं समाकलय्य तत्करणे प्रवर्तत इति प्रसिद्धेर्न प्रणिनीय सूत्रयामासेति विरोधः। प्रणिनाय इति पाठान्तरे तु प्रणयनं कृतवानित्यर्थः। प्रणिनायेत्युक्ते केन क्रमेणेतिवीव-

---

'द्वादशलक्षणी' पर ही आधारित होने के कारण मीमांसाशास्त्र का जो प्रारम्भ है, वही इस लघु ग्रंथ का भी होना चाहिए, यह स्पष्ट है। अत: जैमिनि के पूर्व मीमांसा सूत्रों में ''**अथातो धर्मजिज्ञासा**'' प्रथम सूत्र है, और ग्रंथकार उसी सूत्र को यहाँ अवतीर्ण कर उस सूत्र का विवेचन करने के लिये अग्रिम वाक्य में प्रवृत्त हो रहे हैं।।१।।

अनुवाद– अथेति। *परम-कारुणिक भगवान् जैमिनि ने धर्म एवं अधर्म के विचार हेतु बारह अध्यायों वाले मीमांसादर्शन का प्रणयन किया। उसमें सर्वप्रथम धर्म जिज्ञासा को 'अथातो धर्मजिज्ञासा' इस सूत्र के द्वारा प्रतिपादित किया है। इस सूत्र में* ***'अथ'*** *शब्द वेदाध्ययन की अनन्तरता का वाचक है, तथा 'अत:' शब्द वेदाध्ययन की दृष्टार्थता का बोधक है।।२।।*

।। अर्थमीमांसा ।।

वेद के पूर्वभाग में जो धर्म विषय निरूपित है वह 'धर्म' है। उसके सम्बन्ध में भविष्य में लोग समुचित निर्णय कर सकें, इस दृष्टि से लोगो पर अनुग्रह करने की तीव्रेच्छा को हृदय में रखनेवाले जैमिनि ने द्वादशाध्यायात्मक मीमांसाशास्त्र को बुद्ध्युपस्थित कर प्रथम सूत्र- 'अथातो धर्मजिज्ञासा'- की रचना की है।

प्रस्तुत प्रसंग में जैमिनि के लिए **'परमकारुणिक'** विशेषण का प्रयोग नितान्त समुचित प्रतीत होता है। क्योंकि तत्कालीन विद्वानों के द्वारा मन्त्रब्राह्मणादिकों के भिन्न-भिन्न

क्षायां तत्रेत्याद्युक्तरं धर्मविवेकायोत्पन्नधर्मस्याप्युपलक्षणं तयोर्विवेकाय निर्णयज्ञानायेत्यर्थः । कुत्र धर्मजिज्ञासां सूत्रयामासेति वीवक्षायामाह *अथेति*। सूत्रं व्याचष्टे ।। *अत्रेत्यादिना* । अत्र सूत्रे अस्य च प्रथमसूत्रस्य चोदनालक्षणोऽर्थो धर्म इत्यारभ्यान्वाहार्ये च दर्शनादित्यन्तं जैमिनिप्रणीतं धर्मविचारशास्त्रं विषयः, तत्र संशयः, किमस्य धर्मविचारतन्त्रस्यारम्भोऽध्ययनविध्यप्रयोज्यस्तत्प्रयोज्यो वेति । तत्र यदि स्वाध्यायाध्ययनविधिना अर्थज्ञानाय दृष्टप्रयोजनाय वेदाध्ययनं विधीयेत तदा तस्य शास्त्रारम्भे भवेदपि प्रयोजकत्वं नैतदस्ति अन्यथासिद्धत्वात् । तथाहि किमत्यन्ताप्राप्तार्थज्ञानहेतुमध्ययनं तद्विधिर्विधत्ते ।किंवा पक्षे प्राप्तस्यावघातवन्नियमे । नाद्यः । विवादास्पदं वेदाध्ययनमर्थज्ञानहेतुः अध्ययनत्वाद्भारताद्यध्ययनवदित्यनुमानेनैवाध्ययनस्यार्थज्ञानहेतुत्वप्राप्तेः । नापि द्वितीयः । अवघातवैषम्यात्। यथाऽवघातनिष्पन्नैरेवतण्डुलैरनुष्ठीयमानौ दर्शपूर्णमासाववान्तरापूर्वद्वारेण परमापूर्वं जनयतः तदपूर्वमेवावघातनियमहेतुः तथा लिखितपाठेन गुरुपूर्वकाध्ययनेन वार्थज्ञानसंभवात्पक्षेऽप्राप्ताध्ययननियमहेतुर्वक्तव्यः । सच, नास्ति लिखितपाठजन्यार्थज्ञानेनैव क्रत्वनुष्ठानसिद्धेः प्रयोजकाभावात् । तस्मादुक्तविधिद्वयासंभवादर्थज्ञानहेतुविचारशास्त्रारम्भस्य न विधिप्रयोज्यत्वमिति प्राप्तम्। अत्रोच्यते

अर्थों का प्रतिपादन किया जाने लगा था। धर्म के स्वरूप और उसके अर्थ के विषय में लोग प्राय: विप्रतिपन्न हो चुके थे। **आत्रेय, ऐतिशायन, कामुकायन, कार्ष्णाजिनि** इत्यादि भिन्नमतवादी ऋषियों के उल्लेख मीमांसा सूत्रों में देखने को मिलते हैं। उनके धर्मविषयक पारस्परिक विचारों में असंगति परिलक्षित होने लगी थी। कोई **अन्तःकरण वृत्ति विशेष** को धर्म कहते थे, कोई **पुद्गलाख्य परमाणुओं** को धर्म कहते थे, कोई **आत्मा के विशेषगुण** को ही धर्म कहकर व्यवहार करते थे, तो कोई **'अपूर्व'** को ही धर्म मानते थे, किसी-किसी के विचारों में **'चैत्यवन्दन'** करना ही धर्म था, और कुछ **आत्मदर्शन** को ही धर्म मानने लगे थे।[१] ऐसी स्थिति में सभी के विचारों में एकवाक्यता लाना परमावश्यक था, अन्यथा अनवस्था का प्रसंग उपस्थित हो जाता। इस प्रकार भिन्न मतों में एकवाक्यता-उनमें संगति-सामंजस्य-लाकर जैमिनि ने वस्तुत: लोगों पर विशेष अनुग्रह ही किया है, यह सन्देहातीत है, और इसीलिए ग्रन्थकार ने उन्हें **'परमकारुणिक'** कहा है। आपदेव कृत 'मीमांसान्यायप्रकाश' नामक ग्रंथ में भी भगवान् जैमिनि के लिए परमाकारुणिक विशेषण का ही प्रयोग किया गया है।

उपर्युक्त सूत्र में प्रयुक्त शब्दद्वय **'अथ'** और **'अतः'** के विषय में विचार करने पर ज्ञात होता है कि यहाँ **'अथ'** शब्द वेदाध्ययन समाप्त करने के पश्चात् 'धर्मजिज्ञासा' (अंर्थात् वेदार्थ विचार करना चाहिए) करने के लिए प्रयुक्त किया गया है। और **'अतः'** शब्द वेदाध्ययन दृष्टार्थ (अर्थात् दृष्टफलदायक) होने के कारण,- इस दृष्टार्थत्व के लिए धर्मजिज्ञासा

---

१. अन्तःकरणवृत्तौ वा वासनायां च चेतसः, ।
पुद्गलेषु च पुण्येषु नृगुणेऽपूर्व जन्मनि ।।
प्रयोगो धर्मशब्दस्य न दृष्टो न च साधनम् । पुरुषार्थस्य ते ज्ञातुं शक्यन्ते चोदनादिभिः ।।
(श्लोक वार्तिक)

तदुक्तम्। अध्ययनस्यार्थज्ञानहेतुत्वमनुमानसिद्धमिति नात्यन्ताप्राप्तविधिरिति तत्तथैव। नियमविधिस्तु भवत्येव। नच प्रयोजकाभावः। सकलक्रत्वपूर्वस्यैव प्रयोजकत्वाद्दर्शपूर्णमासजन्यपरमापूर्वस्यावघातनियमजन्यापूर्वकल्पकत्ववदेवं च क्रतुजन्यापूर्वजातस्य क्रतुज्ञानसाधनाध्ययननियमजन्यापूर्वकल्पकस्य सत्वान्नियामादृष्टस्य कल्पनादर्थज्ञानसाधनयोर्लिखितपाठगुरुपूर्वकाध्ययनयोः पक्षे प्राप्तत्वाद्यदा गुरुपूर्वकाध्ययनं परित्यज्य लिखितपाठादिनाऽर्थज्ञानं संपादयितुं व्युत्पन्नः पुरुषः प्रवर्तते, तदा नियमादृष्टाय गुरुपूर्वकाध्ययनमेवार्थज्ञानसाधनं विधीयते। क्रतुजन्यापूर्वप्रयुक्तनियमादृष्टस्यास्वीकारे च श्रूयमाणो विधिरनर्थकः स्यात्। नच नानर्थको लिखितपाठगुरुपूर्वकाध्ययनयोरक्षरग्रहणमात्रेऽप्यविशेषसाधनत्वाद्यदा गुरुपूर्वकाध्ययनं परित्यज्य लिखितपाठेनाक्षरग्रहणाय प्रवर्तते तदा गुरुपूर्वकाध्ययनमेव नियमादृष्टाय विधीयत इति वाच्यम्। तत्फलस्य कल्प्यत्वप्रसङ्गात्। अर्थज्ञानरूपदृष्टप्रयोजनायाध्ययनस्य विधेयत्वे तु नियमादृष्टस्य क्रतुजन्यापूर्वे श्रुतफलेहुयपयोगो भविष्यति। नच यदृचोऽधीते पयसः कुल्या अस्य पितृन्स्वधा वहन्तीत्यार्थवादिकं श्रुतमेव फलमिति वाच्यम्। तस्य नित्यतयाध्ययनविधिफलत्वेन प्रथमाध्ययनविधिफलत्वाभावात्। किञ्चाध्ययनव्यापारस्य संभवत्यर्थज्ञान-

---

करनी चाहिए- इस भाव को व्यक्त करता है। क्योंकि **'अथातो ब्रह्मजिज्ञासा'** सूत्र में प्रयुक्त 'अथ' और 'अतः' शब्दों को **शंकराचार्य** ने भी क्रमशः **'आनंतर्यवाचक'** और **'हेतुवाचक'** ही माना है।

कतिपय विद्वान् टीकाकार उक्त सूत्र का अर्थ भिन्न प्रकार से ही करते हैं– इनके विचार में आचरण करने के लिए जिस प्रकार धर्म को जानना आवश्यक है, उसी प्रकार अधर्म का त्याग करने के लिए अधर्म का ज्ञान प्राप्त करना भी आवश्यक है। इसलिए सूत्र में प्रयुक्त **'धर्म'** शब्द की लक्षणा करने पर उससे धर्म और अधर्म दोनों ही अर्थ प्राप्त होते हैं। यह समझना चाहिए। अथवा 'अथातो धर्मजिज्ञासा' सूत्र का **'अथातः अधर्मजिज्ञासा'**- ऐसा भी पदच्छेद संभव होने के कारण परिवर्जनार्थ 'अधर्म' का भी ज्ञान आवश्यक है, ऐसा अर्थ करना चाहिए।[१]

अथातो धर्मजिज्ञासा'- इस सूत्र के अग्रिमसूत्र- **'चोदनालक्षणोऽर्थो धर्मः'**- से बारहवें अध्याय के अन्तिम सूत्र- **'अन्वाहार्ये च दर्शनात्'** तक के समस्त सूत्रों द्वारा प्रतिपादित "धर्मविचार शास्त्र का प्रारम्भ करना चाहिए या नहीं," प्रथम सूत्र के अधिकरण में समाविष्ट है। यहाँ कतिपय पूर्वपक्षी कहते हैं कि यद्यपि **'स्वाध्यायोऽध्येतव्यः'**[२] यह विधिवाक्य है, तथापि उसके अनुसार वेदाक्षर ग्रहण कर लेने पर और उनका पाठ करने का ज्ञान हो जाने पर एक प्रकार से वेदाध्ययन विधि पूर्ण रूप से समाप्त हुआ, ऐसा समझा जाना

---

१. 'धर्मग्रहणं चोपलक्षणार्थम्- अधर्मस्यापि हानाय जिज्ञास्यत्वात्। अकार-प्रश्लेषेण वा सूत्रमधर्मजिज्ञासायामपि व्याख्येयमिति निरवद्यम्॥' शास्त्रदीपिका।

२. श. प. ब्रा. ११.५.७.२

(३) धर्मविचारशास्त्रस्यावश्यकता

'स्वाध्यायोऽध्येतव्य' इत्यध्ययनविधौ तदध्ययनस्यार्थज्ञानरूप-दृष्टार्थकत्वेन व्यवस्थापनात्। तथाच वेदाध्ययनानन्तरं यतोऽर्थज्ञान-रूपदृष्टार्थकं तदध्ययनमतो हतोर्धर्मस्य वेदार्थस्य जिज्ञासाकर्तव्येति शेषः। जिज्ञासापदस्य विचारे लक्षणा अतो धर्मविचारशास्त्रमिदमार-म्भणीयमिति शास्त्रारम्भसूत्रार्थः ।।३।।

रूपदृष्टफलकत्वे केवलादृष्टार्थकत्वानुपपत्तेः। तथाचोक्तम्। लभ्यमाने फले दृष्टे नादृष्टपरिकल्पना ।। विधेस्तु नियमार्थत्वान्नानर्थक्यं भविष्यतीति ।।२।।

किंच विधिनैव वेदाध्ययनस्य तदर्थज्ञानपर्यवसायित्वं तदर्थ-निर्णयहेतुविचारकर्तव्यता चाऽऽक्षिप्यते। तथाहि। स्वाध्यायोऽध्येतव्य इत्यत्र तव्यप्रत्ययः शाब्दभावनामभिधत्ते। सा च स्वभाव्यं विनाऽनुपपद्यमाना किंचिद्भाव्यं कल्पयति। तत्र चैकप्रत्ययोपात्तत्वेनार्थभावनैव भाव्यत्वेन समन्वेति। सापि स्वभाव्यमन्तरेणा-नुपपद्यमाना किंचिद्भाव्यमाक्षिपति। तत्रापि फलपदस्याश्रवणात्समभिव्याहृतः स्वाध्यायः

चाहिए। उनके विचारों, अर्थ ग्रहण होना ही चाहिए, यह कोई आवश्यक नहीं है। अतः पूर्वपक्षियों के विचारानुसार ऐसा प्रतीत होता है कि धर्म विचारशास्त्र अर्थात् मीमांसाशास्त्र का प्रारम्भ ही नहीं करना चाहिए। परन्तु यह उनका कथन युक्ति युक्त नहीं है। वस्तुतः धर्म विचार शास्त्र की तो महती आवश्यकता है, किन्तु वह आवश्यकता किस प्रकार है? और धर्मविचार शास्त्र का प्रारम्भ क्यों करना चाहिए? इसे बताने के लिए लौगाक्षिभास्कर ने अधोलिखित पंक्तियों को लिखा है-।।२।।

अनुवाद— स्वाध्याय *इति। 'स्वाध्यायोऽध्येतव्यः' इस अध्ययन विधि के प्रकरण में ऊहापोह पूर्वक यह सिद्ध किया गया है कि वेद के अध्ययन का दृष्ट प्रयोजन अर्थज्ञान है। इस हेतु वेदाध्ययन के अनन्तर धर्म अर्थात् वेद के अर्थ की जिज्ञासा करनी चाहिए। यहाँ 'कर्तव्यता' पद शेष है, उसे अध्याहृत करना चाहिए। प्रकृत में 'जिज्ञासा' पद की विचार में लक्षणा है। इसलिए 'इस धर्म विचारशास्त्र का आरम्भ करना चाहिए' यह शास्त्रारम्भ 'अथातो धर्मजिज्ञासा' सूत्र का अर्थ हुआ ।।३।।*

।। अर्थमीमांसा ।।

'स्वाध्यायोऽध्येतव्यः'— वाक्य में जिस अध्ययन विधि को कहा गया है, वह केवल वेदाक्षरग्रहणात्मक अध्ययन का ही है, अर्थात् वेदाक्षर के केवल पठन-ज्ञान से ही सम्बन्धित है, ऐसा समझना समुचित नहीं है। केवल वेदाक्षरों का पढ़ना आना ही 'स्वाध्याय' हो गया, यह समझना भूल है। स्वाध्यायविधि का तात्पर्य केवल अक्षर मात्र के ग्रहण में नहीं है अपितु अक्षर के साथ-साथ अर्थ ग्रहण से भी है। क्योंकि अर्थ का ज्ञान अध्ययन का दृष्टफल होता है। वस्तुतः वेदाध्ययन सप्रयोजन है, वेदाध्ययन करने के आदेश में हेतु-प्रयोजन-निहित है।

कर्मभूत एव भाव्यत्वेन सम्बध्यते। तस्य च फलवदर्थावबोधपर्यन्तत्वाभावे भाव्यतानुपपत्त्या फलवदर्थावबोधपर्यवसायित्वमापतति। अर्थनिर्णयमन्तरेण च फलवदर्थावबोध्यस्यासंभवेनार्थनिर्णयहेतुविचारकर्तव्यतामप्यध्ययनविधिराक्षिपतीति। तस्मादर्थज्ञानरूपदृष्टप्रयोजनायैवेदमध्ययनं विधीयते। नाक्षरग्रहणमात्रायेति सिद्धांतमभिप्रेत्याथ शब्दं वेदाध्ययनानन्तर्यार्थकत्वेनातः शब्दं च वेदाध्ययनस्य वेदार्थज्ञानरूपदृष्टार्थकत्वपरत्वेन च व्याचष्टे। *अथ शब्द इत्यादिना*। तत्र हेतुमाह। *स्वाध्याय इत्यादिना*। अध्ययनविधाविति। अध्ययनविध्यनुकूलविचारात्मके प्रमाणलक्षणस्य प्रथमाधिकरण इत्यर्थः। वेदः तच्छब्दार्थः कर्तव्यपदाध्याहारेण सूत्रं योजयति। *तथाचेत्यादिना*। तथाचेति। वेदाध्यनस्य दृष्टार्थत्वे च सतीत्यर्थः। तस्य वेदस्याध्ययनं यतोऽर्थज्ञानरूपदृष्टार्थकमतो हेतोर्वेदाध्ययनानन्तरं वेदार्थस्य धर्मस्य पदार्थनिर्णयहेतुविचारः कर्तव्य इत्यध्ययनविधिप्रयुक्त्यैव शास्त्रमारम्भणीयमिति भावः। ननु जिज्ञासा हि ज्ञानेच्छा। न च सा कर्तुं शक्यते। तस्याव्यापारगोचरत्वात्। इच्छामात्रेणानुष्ठानोपयोगिधर्मज्ञानासंभवाच्चेत्यत आह। जिज्ञासापदस्येति। तथाच जिज्ञासेत्यत्र

वेद में कथित बातों का अर्थज्ञान होना चाहिए, क़िसी स्थान विशेष में प्रयुक्त शब्द का अर्थविशेष है, वह उचित है और उसका अन्य अर्थ त्रुटिपूर्ण-दोषपूर्ण है, इसका ज्ञान या निर्णय करने की क्षमता होनी चाहिए, यही अध्ययन विधि का स्पष्ट-दृष्टफल है। और मीमांसाशास्त्र जिसे परंपरा के अनुसार वेदार्थ विचारशास्त्र भी कहा जाता है, अर्थज्ञान के साधन द्वारा धर्म विचार के निर्णय का कार्य करने के लिए प्रवृत्त हुआ है। और इसीलिए **'स्वाध्यायोऽध्येतव्यः'** विधिवचन के अनुसार धर्म विचारात्मक मीमांसाशास्त्र का प्रारम्भ करना चाहिए, यह सिद्ध होता है।

इस पर **पूर्वपक्षी** पुनः शंका करता है कि **'स्वध्यायोऽध्येतव्यः'** उक्त स्वाध्याविधि का आपके विचारानुसार यदि केवल अक्षरग्रहणात्मक अध्ययन रूप अर्थ नहीं है, और अक्षरग्रहण के साथ-साथ अर्थग्रहण करना भी आवश्यक है और आपके अनुसार यह मान भी लिया जाय तो यह अर्थज्ञान व्याकरणादिक जो वेदांग हैं, उनका अध्ययन कर लेने से प्राप्त हो सकता है, अर्थात् उन व्याकरणादिक वेदांगों से अर्थज्ञान हो सकने पर अलग से मीमांसाशास्त्र की क्या आवश्यकता है? इस पूर्वपक्ष का प्रत्युत्तर यह है कि व्याकरणादि के अध्ययन से अर्थज्ञान तो हो सकता है, किन्तु उनमें उद्भूत शंकाओं का निवारण करने के लिये पुनः इस मीमासाशास्त्र की ही आवश्यकता होगी। क्योंकि जैसे– **'अक्ताः शर्करा उपदधाति'** यह वचन एक स्थान पर वेद में मिलता है। यहाँ **शर्करा का अर्थ है**- मिट्टी में मिश्रित सूक्ष्म रेत के कण। उपर्युक्त वाक्य में इन शर्करादिकों का अंजन लगाने के लिए कहा गया है। किन्तु यहाँ शंका उत्पन्न होती है कि वह अंजन घृत के साथ तैयार करना है, या तेल के साथ या अन्य किसी सुवासित द्रव्य के साथ तैयार करना है? इसका निर्णय केवल व्याकरण, निरुक्त आदि पठित व्यक्ति कैसे कर सकेगा? परन्तु इस का निर्णय मीमांसाशास्त्र में कथित नियमों से सहजगत्या हो सकता है। जैसे– उपर्युक्त मंत्र के वाक्यशेष भाग में **'तेजो**

प्रकृत्याज्ञानमात्रशक्तिमत्यानुष्ठानोपयोगिज्ञानमजहल्लक्षणया प्रत्ययेन च साध्यसाधनभावसम्बन्धेनेच्छासाध्यो विचारो जहल्लक्षणया च बोध्यत इत्यर्थः। समर्थितं शास्त्रारम्भमुपसंहरति। *अत इति*। **स्वाध्यायाध्ययनविधेःशास्त्रारम्भे प्रयोजकत्वमतः शब्दार्थः ।।३।।**

वै घृतम्, यह वचन होने के कारण, घृत से ही उन 'शर्कराओं का अंजन तैयार करना चाहिए,' यह निर्णय मीमांसाशास्त्र की सहायता से सरलता से हो जाता है। इसलिए हमारा कहना है कि **'स्वाध्यायोऽध्येतव्यः'** विधि का अर्थ केवल अक्षर पाठ- अक्षरग्रहण या केवल अर्थज्ञान प्राप्त करना ही पर्याप्त नहीं है, केवल अक्षरज्ञान और अर्थज्ञान दोनों से भी इष्ट सिद्धि नहीं हो सकती। इसके लिए आवश्यक हैं- शब्दार्थ का समुचित निर्णय करने वाले मीमांसाशास्त्रीय नियमों का ज्ञान। अतः इस धर्मविचाररूपी मीमांसाशास्त्र का अध्ययन करना चाहिए। इतना इस विधि का व्यापक अर्थ करना आवश्यक है। पूर्वपक्षी पुनः एक शंका प्रस्तुत करता है, उसके कहने का तात्पर्य यह है कि **'वेदमधीत्य स्नायात्'** यह दूसरा शास्त्रवचन है। इसका अर्थ यह है कि गुरुगृह में वेदाध्ययन पूर्ण होने पर, समावर्तन करना चाहिए। किन्तु पूर्वपक्षी कहता है कि आपके उक्त उत्तर के अनुसार शिष्य वेदाध्ययन समाप्त होने पर समावर्तन नहीं कर सकेगा। क्योंकि उसका वेदाध्ययन पूर्ण होने पर भी उसे धर्मविचार रूपी मीमांसाशास्त्र का अध्ययन करने हेतु गुरु-गृह में और अधिक रहना पड़ेगा। इस पर सिद्धान्त पक्ष शंका का समाधान करते हुए कहता है कि यदि आपके कथनानुसार ऐसा ही हुआ, तो भी **'वेदमधीत्य स्नायात्'** यह वचन बाधित नहीं हो सकता। क्योंकि इस वचन में केवल इतना ही कहा गया है किं अध्ययन प्रथम करना चाहिए और तत्पश्चात् समावर्तन करना चाहिए, मात्र इतना ही इस वचन का तात्पर्य है। इसमें आनंतर्य का कथन नहीं है। अतः अध्ययन पूर्ण होने के पश्चात् और समावर्तन के पूर्व अर्थात् दोनों के मध्यवर्ती काल में गुरुगृह में धर्मविचारशास्त्र का अध्ययन करने में कोई बाधा नहीं है।[१]

'अथातो धर्मजिज्ञासा' मीमांसा के इस प्रथम सूत्र के आधार पर एक स्वतंत्र जिज्ञासा नामक अधिकरण की रचना की गई है। इस अधिकरण में धर्मजिज्ञासा करना आवश्यक है अथवा नहीं? इस शंका का पूर्वपक्ष-उत्तरपक्ष की शैली से विचार किया गया है। वस्तुतः अधिकरण की संगठनशैली यही है। अधिकरण का लक्षण इस प्रकार है—

विषयो विशयश्चैव पूर्वपक्षस्तथोत्तरम्।
सङ्गतिश्चेति पञ्चाङ्गं शास्त्रेऽधिकरणं विदुः ।।

उक्त अधिकरण के लक्षणानुसार **'जिज्ञासाधिकरण'** का पर्यालोचन करने पर विदित होता है कि अधिकरणों में किसी वेदवाक्य रूप विषय का होना आवश्यक है, उसी प्रकार,

---

१. तथापि तादृशार्थज्ञानस्याऽनिर्णयात्मकस्याऽनुष्ठानानौपयिकत्वात् अनुष्ठानौपयिकं निर्णयात्मकमेवाऽर्थज्ञानं विधिनाऽऽक्षिप्यत इति विधिरर्थवानेव। तादृशञ्चाऽर्थज्ञानं विचारमन्तरा न सम्भवतीति स्वाध्यायविधिरेव स्वान्यथानुपपत्या विचारशास्त्र माक्षिपतीति तत्सिध्यर्थं विचारशास्त्रमारब्धं जैमिनिना। (तं.सि.र.)

यहाँ **स्वाध्यायोऽध्येतव्यः'** यह (१) **विषय वाक्य** है। स्वाध्याय का अध्ययन करना चाहिए, अथवा नहीं- इस उत्पन्न संशय को (२) **विशय** कहा जाता है। अर्थ का ज्ञान न होने पर भी अक्षर मात्र के ग्रहण करने से ही वेदाध्ययन पूरा होगा- इत्यादि प्रकार का जो कथन है, वह (३) पूर्व **पक्ष** का कथन है और उक्त पूर्वपक्ष के विचार का खण्डन करके अर्थग्रहणपूर्वक अध्ययन करने से ही शंकाओं का निर्णय करना संभव हो सकेगा, अत: अर्थग्रहणपूर्वक स्वाध्याय का अध्ययन करना चाहिए,- इस प्रकार का जो सिद्धान्त निश्चित किया जाता है, उसे (४) **उत्तरपक्ष** कहा जाता है। और जब प्रस्तुत अधिकरण जैसे अनेक अधिकरण, एक के बाद एक क्रम से आने लगते हैं, तब अग्रिम अधिकरण का पिछले (गत) अधिकरण से क्या-सम्बन्ध है, इस बात को बतलाना (५) **संगति** कहा जाता है। इस संगति के **शास्त्रसंगति, अध्यायसंगति, पादसंगति,** और **अधिकरणसंगति** जैसे अनेक भेद हो सकते हैं। यहाँ ध्यातव्य है कि इस प्रकार की व्यापक भेदात्मक स्वरूप की संगति किसी अधिकरण के उपविभाग का नाम नहीं ग्रहण कर सकती। अर्थात् वह अधिकरण का उपविभाग नहीं हो सकती। इसलिए कुछ विद्वान् उक्त श्लोक में प्रयुक्त **'संगतिश्चेति पंचागम्'** के स्थान पर **'निर्णयश्चेति पंचागम्'** अंकित करके **'निर्णय'** नामक अधिकरण का पाँचवां अंग मानते हैं।

उक्तवाद-विवाद में यह सिद्ध करने का प्रयत्न किया गया है कि वेद के अध्ययन का दृष्ट प्रयोजन वेदार्थ ज्ञान है। अर्थात् वेद के अध्ययन का दृष्टफल अर्थज्ञान है और यही उसका प्रयोजन है। इसलिए अब मूल सूत्र **'अथातो धर्मजिज्ञासा'** का अर्थ इस प्रकार होगा- चूँकि वेद के अध्ययन का दृष्टफल अर्थज्ञान है, इसलिए वेदाध्ययन के पश्चात् धर्म (वेद के अर्थ) की जिज्ञासा करनी चाहिए।[1]

प्रकृत प्रसंग में 'जिज्ञासा कर्तव्या'– 'जिज्ञासा करनी चाहिए' ऐसा कहा गया है। परन्तु जिज्ञासा का अर्थ है- ज्ञातुमिच्छा–जानने की इच्छा। और वह कुछ 'करने' का विषय नहीं हो सकती। वस्तुत: इच्छा होती है, परन्तु वह किसी निमित्त से ही होती है, और वह 'कर्तव्या' अथवा 'कुरु' जैसे वाक्यों द्वारा उत्पन्न नहीं की जा सकती। इसलिए **जिज्ञासा** शब्द का लक्ष्यार्थ **'विचार'** ग्रहण करना चाहिए। **'लक्षणा शक्यसंबंधास्तात्पर्यानुपपत्तितः'**- यह लक्षणा का लक्षण है। 'जिज्ञासा' का अभिधेय अर्थ 'इच्छा' प्रस्तुत स्थल में चरितार्थ नहीं होता, क्योंकि जिज्ञासा स्वयमेव उत्पन्न होती है वह करने की वस्तु नहीं है। अत: 'जिज्ञासा कर्तव्या' वाक्य का तात्पर्य उपपन्न नहीं होता। इस हेतु जिज्ञासा के शक्यार्थ से संबद्ध रहने वाले 'विचार' को यहाँ लक्षणा से ग्रहण करने के लिये कहा गया है। इस प्रकार **'जिज्ञासा कर्तव्या'** के स्थान पर **'विचारःकर्तव्यः'** वाक्य का रूप हो जाता है। अत: **'अथातो धर्मजिज्ञासा'** वाक्य का तात्पर्य यह हुआ- वेदाध्ययन के दृष्टार्थ होने के कारण, मीमांसाशास्त्र, जिसमें धर्म का विवेचन किया गया हो, प्रारम्भ किये जाने योग्य है।

यहाँ तक 'अथातो धर्मजिज्ञासा' सूत्र में प्रोक्त **'अथ,' 'अतः'** एवं **'जिज्ञासा'** इन

---

१. तथा च सूत्रस्याऽयमर्थ:- अथ वेदाध्ययनानन्तरम्, अत: वेदाध्ययनस्य संवृत्तत्वाद्धेतो: धर्मजिज्ञासा धर्मविषयक विचार: कर्त्तव्य इति। (तं.सि.र.)

(४) धर्मलक्षणप्रश्नः

अथ को धर्मः, किं तस्य लक्षणमितिचेदुच्यते-यागादिरेव धर्मः। तल्लक्षणं वेदप्रतिपाद्यः प्रयोजनवदर्थो धर्म इति। प्रयोजनेऽतिव्याप्ति-वारणाय प्रयोजनवदिति। भोजनादावतिव्याप्तिवारणाय वेदप्रतिपाद्य इति।। अनर्थफलकत्वादनर्थभूते श्येनादावतिव्याप्तिवारणायार्थ इति ।।४।।

ननु धर्मविचारशास्त्रमारम्भणीयमित्युक्तम्। विचारविषयधर्मस्यानिरूपणात् तदनिरूपणं च लक्षणप्रमाणाभावात्। लक्षणप्रमाणानामेव हि वस्तुसिद्धिर्नान्यथा। अतएवोक्तम्। प्रमाणाधीना मेयसिद्धिर्मानसिद्धिश्च लक्षणादिति। सजातीयविजातीयवस्त्वन्तरेभ्यः स्वलक्ष्यस्य व्यावर्तको लोकप्रसिद्धः कश्चिदाकारविशेषो लक्षणम्। तेन च लक्षणेन लक्ष्ये संभाविते सति तमः प्रमाणेन तदवगच्छति। यथा सास्नादिमती गौरिति गोलक्षणलक्षितपदार्थमन्विष्येयं गौरिति चक्षुरादिना तदवगच्छति। तथा धर्मस्य नास्ति लक्षणमलौकिकत्वात्। न च विहितक्रियात्वं धर्मत्वमिति वाच्यम्। विहितद्रव्या-व्याप्तिप्रसङ्गात्। न च तस्याऽलक्ष्यत्वं फलार्थं गुणानुष्ठातरि धार्मिकोऽयमिति

तीन शब्दों का व्याख्यात्मक विवेचन ग्रंथकार ने प्रस्तुत कर धर्मविचारशास्त्र का प्रारम्भ करना चाहिए, कहा है। अत: जिस **धर्म** का विचार करना है, उस **धर्म** का लक्षण क्या है? यह प्रश्न स्वभावत: ही उत्पन्न होता है। अत: उसका स्वरूप स्पष्ट करने के लिए ग्रन्थकार अग्रिम पंक्तियों को प्रस्तुत कर रहे हैं-।।३।।

अनुवाद– अथेति। *['अथातो धर्मजिज्ञासा' इत्यादि में कथित 'धर्म' के विषय में पूर्वपक्षी पूछता है कि] धर्म क्या है? उस धर्म का लक्षण क्या है? [सिद्धान्ती प्रश्नों के समाधान में कहते हैं-] यागादि ही धर्म है। और उसका लक्षण है- जो वेद प्रतिपादित हो, प्रयोजनवान् हो तथा अनर्थ रहित हो उसी को धर्म कहते हैं। उक्त लक्षण में 'प्रयोजनवत्' पद का प्रयोग इस हेतु किया गया है कि इस पद के न रहने से स्वर्गादिरूप (प्रयोजन) अर्थ में अतिव्याप्ति हो जाती। तथा 'भोजनादि' में अतिव्याप्ति के वारणार्थ 'वेदप्रतिपाद्य:' पद का सन्निवेश किया गया है। 'अर्थ' पद का सन्निवेश न होने से अनर्थभूत श्येनादियागों में 'अतिव्याप्ति' होती।।४।।*

।। अर्थमीमांसा ।।

'अथातो धर्मज्ञासा'- इस सूत्र में जिस धर्म का उल्लेख किया गया है, अथवा जिस धर्म का हमें यहाँ विचार करना है, वह धर्म कौन सा? अर्थात् 'धर्म' क्या है? और उसका लक्षण क्या है? इत्यादि प्रश्न प्रकृत प्रसंग में उपस्थित होते हैं। अत: उनके समाधान के लिए- कहा जाता है कि **'यागादिक ही धर्म है'** और उस धर्म का लक्षण है- **'वेदप्रतिपाद्यः प्रयोजनवदर्थो धर्मः'**- अर्थात् जो वेद द्वारा प्रतिपादित हो, प्रयोजनवाला हो, और अर्थ हो

व्यवहारस्याभावप्रसंगात् । न चेष्टापत्तिः । इन्द्रियकामाद्यधिकरणस्य धर्मविचारात्म-कत्वाभावेन शास्त्रसंगत्यभावप्रसंगात् । फलार्थं विहितस्य दध्यादिगुणस्य धर्मत्वाभावे तज्जन्यादृष्टस्यापि धर्मत्वासंभवेन तस्य धर्मः क्षरति कीर्तनादिति श्रुतकीर्तननाश्यत्वा-भावप्रसंगाच्च । न च विहितत्वमात्रं लक्षणमिति वाच्यम् । विवाहार्थमनृतवदना-देरभ्यनुज्ञाविधिविषयस्य धर्मत्वप्रसंगादित्यभिप्रायेण चोदयति अथ क इति । किं यागादिरेव धर्मः किंवा चैत्यवन्दनादिकमपीत्यर्थः । किमिति धर्मलक्षणस्याक्षेपः स च निर्दिष्टः समाधत्ते । *उच्यत* इत्यादिना । यागदिरेवेत्येवकारेण चैत्यवन्दनादिधर्मत्वं वारयति । न चैत्यवन्दनादिर्धर्मस्तत्र प्रमाणाभावादित्यर्थः । धर्मस्य लक्षणमाह । *तल्ल-क्षणमिति* । प्रयोजन इति । वेदप्रतिपाद्ये स्वर्गादिफलेऽर्थरूप इत्यर्थः । प्रयोजनवदितीति । स्वर्गादिफलस्य सुखादिरूपत्वेन तत्प्रयोजनान्तराभावाद्भवति

उसी को धर्म कहा जाता है। एवञ्च किसी प्रयोजन के उद्देश्य से (प्रयोजनवत्) जो बात वेद में कथित होती है, वह धर्म कहलाती है। इसी अर्थ को व्यक्त करनेवाला धर्म का लक्षण **आपदेवी** में उल्लिखित है– [**'वेदेन प्रयोजनमुद्दिश्य विधियमानोऽर्थो धर्मः । यथा यागादिः ।'**] उदाहरणार्थ, **'स्वर्गकामो यजेत'**- यह वेद वाक्य है, स्वर्गप्राप्ति के उद्देश्य से याग करना चाहिए,- इस विधि का इसमें प्रतिपादन किया गया है। इसलिए यागादिक से सम्बन्धित यह विधि वेदप्रोक्त होने के कारण वह वेदप्रतिपाद्य हुआ, तथा वह स्वर्गप्राप्ति के प्रयोजन के उद्देश्य से कथित होने के कारण वह प्रयोजनवत् भी हुआ, और इसलिए यह धर्म वेद प्रतिपाद्य, प्रयोजनवत् एवं अर्थत्व रखनेवाला होता है।

धर्म[१] का लक्षण करने के अनंतर ग्रन्थकार लक्षण में प्रयुक्त पदों की सार्थकता का विचार करते हैं। उपर्युक्त पंक्तियों में लौगाक्षिभास्कर ने धर्म का लक्षण[२] बताते हुए उसमें (१) **वेद प्रतिपाद्य** (२) **प्रयोजनवत्** और (३) **अर्थ-** इन तीन पदों का प्रयोग किया है। इन तीन

---

१. मीमांसा दर्शन का प्रतिपाद्य विषय धर्म है। शास्त्रदीपिकाकार ने धर्मज्ञान को इस दर्शन का प्रयोजन कहा है– 'यदा हि धर्मजिज्ञासा कर्तव्येत्युक्त्वा शास्त्रमारभ्यमाणं दृश्यते तदा नूनमिदं शास्त्रं धर्मज्ञानप्रयोजनमित्यवगम्यते ।' १/१/११

श्लोकवार्तिक के अनुसार—

'धर्माख्यं विषयं वक्तुं मीमांसायाः प्रयोजनम्'॥

अर्थकौमुदीकार रामेश्वर के मतानुसार—

'यागादिरेवेत्येवकारेण चैत्यवन्दनादेर्धर्मत्वं वारयति न चैत्यवन्दनादिधर्मस्तत्रप्रमाणाभावादित्यर्थः ।

२. लक्षण को दोषत्रय से मुक्त होना चाहिए। क्योंकि कहा गया है– जो अव्याप्ति, अतिव्याप्ति एवं असम्भव इन तीनों दोषों से रहित होता है, वही लक्षण होता है। 'तदेव हि लक्षणम् यदव्याप्त्यतिव्याप्त्यसंभवरूप दोषत्रयशून्यम् ।' ग्रंथकार यहाँ यह दिखलाना चाहता है कि विभिन्न विषयों में होनेवाली अतिव्याप्ति के निवारण के लिए ही यहाँ पर 'वेदप्रतिपाद्य' 'प्रयोजनवत्' एवं अर्थ- इन तीन पदों का प्रयोग किया गया है।

वारणमिति भावः । *भोजनादाविति*। तृप्त्यादिप्रयोजनवत्यर्थरूप इत्यर्थः । वेदप्रतिपाद्य इतीति । भोजनादेः रागादिनैव प्राप्तत्वात् । अष्टौ ग्रासा मुनेर्भक्ष्याः षोडशारण्यवासिनाम् ।। द्वात्रिंशत्तु गृहस्थस्य यथेष्टं ब्रह्मचारिणामित्यादिवचनस्य च ग्रासादिनियमपरत्वाद्भवति तेन तद्वारणमिति भावः । *श्येनादाविति*। श्येनेनाभिचरन् यजेतेत्यादिवेदप्रतिपाद्ये वैरिमरणानुकूलशस्त्रघातादिरूपहिंसात्मकाभिचारस्वरूपप्रयोजनवतीत्यर्थः । नन्वर्थपदस्य श्येनकर्मणि न धर्मलक्षणस्यातिव्याप्तिवारकत्वं श्येनस्यार्थत्वात् । नहि श्येनो नरकं जनयति येनानर्थः स्यान्नरकजनकस्यैवानर्थत्वात् श्येनस्य तु शत्रुवधमात्रजनकत्वात् । किंच चतुर्थे श्येनस्येष्टसाधनत्वेन वेदबोधितत्वाद्धर्मत्वमेवोक्तम् । तत्फलस्यैव हिंसात्मकाभिचारस्य नरकरूपानिष्टजनकत्वेनाधर्मत्वमुक्तम् । न च तत्रैवातिव्याप्तिवारकं भवत्विति साम्प्रतम् । फले विध्ययोगेन तस्य चोदनागम्यत्वाभावात् । अन्यथा विधिस्पृष्टे निषेधानवकाशादिति न्यायेन तस्य न हिंस्यादिति निषेधाविषयत्वेन नरकजनकत्वानापत्तिः । निषिद्धस्यैव तज्जनकत्वात् । तस्मादर्थपदं व्यर्थमेवेत्यत आह । अनर्थफलकत्वादनर्थभूत इति । श्येनफलस्य शत्रुवधस्य नरकजनकत्वेनानर्थत्वाच्छ्येनेनापि तद्द्वारानर्थ एव तस्यापि शत्रुवधद्वारानरकजनकत्वादिति भावः । नच चतुर्थ विरोधः । तत्र साक्षादिष्टसाधनत्वेन वेदबोधितवधमात्रमभिप्रेत्य धर्मत्वस्योक्तत्वात् । अन्यथा सौत्रार्थशब्दविरोधापत्तिः । व्यावर्त्त्यान्तराभावात् । नहि व्यवधानेन

पदों का प्रयोग सहेतुक हुआ है। 'वेद-प्रतिपाद्य' इस पद का प्रयोग क्यों किया गया है? इस पद के प्रयोग में हेतु क्या है? यदि इस पद का प्रयोग न किया होता तो '**जो प्रयोजवान् अर्थ है, वही धर्म है,** ऐसा धर्म का लक्षण हो जाता। किन्तु धर्म का उक्त लक्षण ठीक-निर्दुष्ट-नहीं है। क्योंकि ऐसा लक्षण करने पर, भोजनादि में धर्म के लक्षण की अतिव्याप्ति हो जाती है। क्योंकि भोजन भी एक प्रयोजवान् अर्थ है। क्योंकि तृप्तिहेतु (तृप्ति के प्रयोजन के लिए) भोजन किया जाता है। अत: भोजनादि में उक्त लक्षण की अतिव्याप्ति न हो इस कारण से 'वेद-प्रतिपाद्य' पद का प्रयोग किया गया है। भोजन, प्रयोजवान् अर्थ हो सकता है, किन्तु वह वेदप्रोक्त अथवा वेदप्रतिपाद्य अर्थ नहीं है। क्योंकि वेदप्रोक्त न होने पर भी मनुष्य की खाने के प्रति प्रवृत्ति स्वभावत: ही होती है।

अब **'प्रयोजनवत्'** पद पर विचार करते हैं। यदि **'प्रयोजनवत्'** पद का प्रयोग लक्षण में न किया होता तो क्या होता? तो फिर **वेदप्रतिपाद्यः अर्थः धर्मः–** वेद प्रतिपाद्य जो अर्थ है, वही धर्म है, इतना ही लक्षण बनता। किन्तु ऐसा लक्षण करने पर उसकी 'प्रयोजन' में अतिव्याप्ति होगी। क्योंकि **'स्वर्गकामो यजेत'** इस विधिवाक्य में **स्वर्ग, प्रयोजन** है। और **याग, प्रयोजनवान्** है। और प्रयोजनवान् याग की तरह ही उस याग का प्रयोजन जो स्वर्ग है, वह भी वेद में कथित है। अत: 'वेद प्रतिपाद्य अर्थ' इतना ही लक्षण बनाया तो वह स्वर्गरूपी प्रयोजन पर भी लागू होगा, अत: उसका निवारण करने के लिये 'प्रयोजनवत्' पद का प्रयोग किया है। क्योंकि यह स्पष्ट है कि प्रयोजनवान् 'याग' स्वर्गरूप प्रयोजन से नितान्त भिन्न है।

कार्यजनकं जनकत्वव्यवहाराभावः। व्यवधानेनाप्यनुमित्यादिजनके व्याप्त्यादिज्ञाने तद्दर्शनात्। ननु न श्येनस्यानर्थरूपत्वं सम्भवति तस्य चोदनागम्यत्वात्। न च सौत्रार्थशब्दस्य वैयर्थ्यमिति वाच्यम्। तत्फलव्यावर्तकत्वेनाप्युपपतेः। अन्यथा फलस्य वेदप्रतिपाद्यत्वाभावे तदुद्देशेन यागादिषु प्रवृत्त्यभावप्रसङ्गः। इन्द्रियागोचरेऽर्थे प्रमाणान्तराभावात्। तस्माच्छ्येनफलस्यापि वेदप्रतिपाद्यत्वेन शत्रुराज्यादिग्रहणाप्रयोजनवत्वेन च ग्रन्थकारोक्तधर्मलक्षणलक्षितत्वादर्थपदेन वारणं युक्तमिति चेन्न। चोदनालक्षणोऽर्थो धर्म इति। सौत्रधर्मलक्षणे चोदनापदेन तद्वारणात्। वस्तुतस्तु शत्रुवधरूपाभिचारस्य श्येनफलस्य लोकतः प्राप्तत्वात्तत्र रागतः प्रवृतं पुरुषं प्रति श्येनस्य तत्साधनत्वमात्रं वेदेन बोध्यत इति न तस्य वेदप्रतिपाद्यत्वम्। ततश्च तस्य तेनैव वारणेऽर्थपदस्य श्येनवारकत्वेनैव सार्थक्यमिति ध्येयम्। यत्तु श्येनादौ धर्मत्वाभावे तामसधर्मत्वकथनानुपपत्तिरिति। तन्न। तस्य तामसत्वकथनेनैवानर्थकत्वोपपत्तेः। प्रसिद्धं हि लोके क्रौर्य्यादिपुरःसरं तामसक्रियाया अनर्थरूपत्वमित्यलम्। तस्मादर्थवत्वे सति प्रयोजनवत्वे सति वेदप्रतिपाद्यत्वं धर्मत्वमिति धर्मलक्षणमुपपन्नम्। यत्तु विहितद्रव्यादावव्याप्तिरिति। तन्न। दध्यादेरर्थत्वस्येन्द्रियादिप्रयोजनवत्वस्य वेदप्रतिपाद्यत्वस्य च सत्वात्। यत्तु–स्त्रीषु धर्मविवाहेषु वृत्त्यर्थे प्राणसंकटे।। गोब्राह्मणार्थे हिंसायां नानृतं स्याज्जुगुप्सितमित्याद्यभ्यनुज्ञाविधिविषयेऽनृतवदनादौ

अब लक्षण में प्रयुक्त **'अर्थ'** पद पर विचार करते है। यदि यह पूछा जाय कि इस लक्षण में **'अर्थ'** पद का प्रयोग क्यों किया गया है? तो उत्तर यह है कि-यदि अर्थ- (**अर्थ्यते फलजनकत्वेन प्रार्थ्यते इति अर्थः**) इस पद का प्रयोग नहीं करते, तो **वेदप्रतिपाद्यः प्रयोजनवान् धर्मः** 'जो वेदप्रतिपाद्य और प्रयोजवान् है, वह धर्म है', इतना ही धर्म का लक्षण बनता। परन्तु ऐसा लक्षण होने पर वेदप्रतिपादित-श्येनादिक यागों में इस लक्षण की अतिव्याप्ति हो जाती। यथा **'श्येनेनाभिचरन्यजेत'** यह वेद प्रतिपादित वाक्य है। इसका अर्थ यह है कि 'मंत्रतंत्रादिक कपटाचरण से अपने शत्रु का वधरूपी अभिचार करने की इच्छा करने वाला मनुष्य **'श्येनयाग'** करे'। अब इस श्येनयाग के संपादन से शत्रु का वध होता है, और उस वध के कारण- बाद में अनर्थ जनक फल के रूप में नरक की प्राप्ति होती है। अतः **'श्येनयाग'**- सकृद्दर्शन में अनर्थभूत न होने पर भी उसका परिणाम-नरक-अनर्थभूत होने के कारण वह 'श्येनयाग' भी परंपरा से अनर्थभूत ही होता है। अतः जो वेदप्रतिपाद्य और प्रयोजवान् है, वह धर्म है, इतना ही यदि धर्म का लक्षण किया जाता तो श्येनयाग वेदविहित-वेदप्रोक्त होने के कारण वेदप्रतिपाद्य है, और 'शत्रुवध' उसका प्रयोजन होने के कारण वह प्रयोजनवान् भी है, अतः इस लक्षण की श्येनयाग में भी अतिव्याप्ति होती। किन्तु ऐसा नहीं होना चाहिए। अतः मूल लक्षण में 'व्यावर्तक शब्द' **अर्थ** का प्रयोग किया गया है। और ऐसा करने पर श्येनयाग का निवारण (वारण) हो जाता है। क्योंकि श्येनयाग अर्थ न होकर अनर्थभूत है। शत्रुवध नरक जनक होने के कारण श्येन कर्म भी अनर्थ है। इस हेतु दोष वारणार्थ 'अर्थ' पद का सन्निवेश आवश्यक हो जाता है।

धर्मत्वापत्तिरिति । तदपि न । तत्र निरुक्तस्य धर्मलक्षणस्यापत्यभावात् । अभ्यनुज्ञाविधिना हि दोषाभावमात्रस्याक्षेपात्प्रयोजनवत्वस्य चानाक्षेपाद्रागप्राप्तप्रयोजनसाधनत्वस्याप्यनृतवदनादेर्वेदबोधितप्रयोजनसाधनताकत्वाभावान्न धर्मत्वापत्तिः । तस्माल्लक्षणे न कोऽपि दोष इति सिद्धम् । इदमधर्मस्याप्युपलक्षणम् । तस्यापि प्रासङ्गिकशास्त्रविषयत्वात् । तथाचोक्तम् । धर्मस्योपक्रान्तत्त्वेपि यथा प्रसङ्गात् प्रतिषेधचोदनार्थो निरूपित इति । तथा खण्डदेवेनाप्युक्तम् । यद्यपि धर्मः क्षरति कीर्तनादित्यादौ वैशेषिकतन्त्रे च क्रियाजन्यादृष्टे धर्माधर्मशब्दप्रयोगस्तथापि धर्मः स्वनुष्ठितः पुंसामित्यादौ तज्जनकविहितनिषिद्धक्रियादावपि तच्छब्दप्रयोगात् ताविह प्राधान्येन विचार्येत इति । तथाच वेदबोधितानिष्टसाधनताकत्वमधर्मत्वमित्यधर्मलक्षणं सिद्धम् । अत्रानिष्टसाधनताकत्वं विषभक्षणादेरप्यस्तीति तद्वारणाय *वेदेति*। ब्रह्मयागादेरपि वेदबोधितत्वमस्तीति तद्वारणायानिष्टेति । एवं धर्मस्य लक्षणमुक्तम् ।।४।।

उक्त विवेचन पर एक शंका की जाती है कि-'श्येनयाग' वेदप्रतिपादित होने के कारण उसमें अनर्थभूतत्व की प्राप्ति नहीं हो सकती। क्योंकि यदि 'श्येनयाग' अनर्थभूत होता तो, उसे करने के लिए तो वेद ने कहा ही न होता। परन्तु उसे करने के लिये तो वेद ने कहा है। इससे यह ज्ञात होता है कि श्येनयाग को अनर्थभूत नहीं कहा जा सकता। किन्तु उक्त शंका समुचित नहीं है, वस्तुतः **'श्येनयाग'** की प्रवृत्ति में विधि का तात्पर्य नहीं है। अपितु अनेक मनुष्य शस्त्र, मंत्र, तंत्र इत्यादि साधनों से अपने शत्रु की हिंसा रूपी अभिचार करने की इच्छा करते हैं, ऐसी स्थिति में ऐसे कृत्य की ओर स्वभावतः अपनी इच्छा से प्रवृत्त हुए मनुष्य को श्येनयाग का उपाय, **'श्येनेनाभिचरन् यजेत'**- इस वेद-वाक्य द्वारा सूचित किया गया है। किन्तु **'तू यह अभिचार का और हिंसा का कर्म कर,'** ऐसा नहीं कहा है। इसी तथ्य को भाष्यकार ने व्यक्त किया है।[१]

उपर्युक्त प्रकरण से स्पष्ट होता है कि अभिचार-यद्यपि वेदोक्त है, तथापि वह विधि रूप नहीं है। और उस कारण श्येनयाग के द्वारा अभिचार करने पर वह प्रत्यवायजनक भी होता है, यह मीमांसापरिभाषा में उल्लिखित निम्नांकित उदाहरण से स्पष्ट हो जाता है-

[नन्वेवमभिचारस्यापि वेदोक्तत्वादाभिचारिके कर्मण्यास्तिकानामपि प्रवृत्तिः स्यादिति चेन्न । वेदोक्तोऽप्यभिचारो वेदविहितो न भवति फलत्वात् । फलं न विधेयम्, किन्तु फलमुद्दिश्य तत्साधकत्वेन कर्मैव विधेयमिति सिद्धान्तः । अतोऽभिचारस्याविहितत्वेन प्रत्यवायजनकत्वम् ।]

---

१. उभयमिह चोदनया लक्ष्यते । अर्थोऽनर्थश्च इति । कोऽर्थः ?। यो निःश्रेयसाय, ज्योतिष्टोमादिः। कोऽनर्थः ?। यः प्रत्यवायाय। श्येनो, वज्रः, इषुरित्येवमादिः। तत्र अनर्थो धर्म उक्तो माभूत्, इति अर्थग्रहणम् । कथं पुनरसावनर्थः ?। हिंसा हि सा। हिंसा च प्रतिषिद्धेति । कथं पुनरनर्थः कर्तव्यतयोपदिश्यते ?। उच्यते। नैव श्येनादयः कर्तव्या विज्ञायन्ते । यो हि हिंसितुमिच्छेत् तस्यायमभ्युपायः इति हि तेषामुपदेशः । श्येनेनाभिचरन् यजेत इति हि समामनन्ति । न अभिचरितव्यम् इति । जै. सू. शा. भा. १/१/२

(५) वेदस्य धर्मप्रतिपादकत्वम्

न च चोदनालक्षणोऽर्थो धर्म (जै.सू.१.१.२.) इति सौत्रतल्लक्षण-विरोधः, चोदनापदस्य विधिरूपवेदैकदेशपरत्वादिति वाच्यम्। तत्रापि चोदनाशब्दस्य वेदमात्रपरत्वात् । वेदस्य सर्वस्य धर्मतात्पर्यवत्त्वेन धर्मप्रतिपादकत्वात् ।।५।।

तत्र च सौत्रचोदनापदपरित्यागेन वेदपदप्रदानं सूत्रविरुद्धमित्याशङ्क्य परिहरति न *चेत्यादिना*। नच वाच्यमित्यत्र हेतुमाह तत्रापीति। तत्रापि सूत्रेऽपि। वेद-मात्रपरत्वादिति। चोदनाप्रकरणपठितकृत्स्नवेदपरत्वादित्यर्थः। तेन न ब्रह्ममीमांसा-

---

अतः वेदबोधित होने पर भी साक्षात् अथवा फल द्वारा जो अनर्थावह न हो तथा जो इष्टसाधन हो वह धर्मपदवाच्य है।[१]

अधुना ग्रन्थकार स्वकृत धर्णलक्षण की जैमिनिंकृत धर्मलक्षण से आपाततः प्रतीत होनेवाली असंगति का निवारण कर रहे हैं। असंगति का कारण यह है कि ग्रन्थकार ने **'वेदप्रतिपाद्यः प्रयोजनवदर्थो धर्मः'** इत्याकारक धर्म का लक्षण उपर्युक्त प्रसंग में प्रस्तुत किया है, वह मीमांसा के दूसरे सूत्र में उल्लिखित धर्म के लक्षण- **'चोदनालक्षणोऽर्थो धर्मः'**- से वस्तुतः समानार्थक ही है, तथापि सूत्रोक्त **'चोदना'** शब्द के स्थान पर ग्रन्थकारोक्त लक्षण में **'वेद'** शब्द का प्रयोग किया गया है। अतः स्वभावतः ही शंका उत्पन्न होती है कि कहीं सूत्रोक्त धर्मलक्षण से प्रस्तुत ग्रंथोक्त धर्मलक्षण का विरोध तो नहीं है? ऐसी शंका होने पर उसके निराकरण के लिए ग्रंथकार ने निम्नांकित पंक्तियाँ उपन्यस्त की हैं–।।४।।

अनुवाद– नचेति। *जैमिनि प्रणीत* ***'चोदनालक्षणोऽर्थो धर्मः'*** *और ग्रंथकार कृत* ***'वेदप्रतिपाद्यः प्रयोजनवदर्थो धर्मः*** *में भिन्नता प्रतीत हो रही है। कारण यह है कि जैमिनि कृत सूत्र में* ***'चोदना'*** *शब्द वेद के एक अंश* ***'विधि'*** *मात्र की प्रतीति कराता है, समस्त वेद की नहीं, ऐसा नहीं कहा जा सकता। क्योंकि मीमांसा सूत्र में* ***'चोदना'*** *शब्द सम्पूर्ण वेद मात्र का वाचक है विधि मात्र का नही। इस हेतु सम्पूर्ण वेदों का तात्पर्य धर्म में होने के कारण समग्र वेद 'धर्म' का ही प्रतिपादक है ।।५।।*

।। अर्थमीमांसा ।।

'चोदनालक्षणोऽर्थो धर्मः'- यह जैमिनि का दूसरा सूत्र है। प्रकृत में प्रयुक्त **'चोदना'**[२] शब्द **शाबरभाष्य** में **'चोदनेति क्रियायाः प्रवर्तकं वचनम्'–** 'क्रिया का प्रवर्तक' के अर्थ में निरूपित है। जो वचन किसी को कोई क्रिया करने के लिये प्रवृत्त करता है, उसे **'चोदना'**

---

१. फलतोऽपि च यत्कर्म नाऽनर्थेनाऽनुबध्यते।
केवलप्रीतिहेतुत्वात् तद्धं इति गीयते ।। (श्लोकवार्तिक

२. चुद सञ्चोदन इति धातोः युच् प्रत्यये कृते निष्पन्नः चोद्यते प्रेर्यते पुरुषः अनयेतिव्युत्पत्त्या चोदनाशब्दो विधिपरः। 'चोदन चोपदेशश्च विधिश्चैकार्शवाचिनः' इति वार्तिकोक्तेः अथवा चोदनाशब्दो विध्यर्थवादमन्त्रनामधेयसाधारणो वेदमात्रपरः। (तं.सि.र. प्रथम परिच्छेद)

विरोधः । नापि सौत्रचोदनापदविरोधः । चोदनाशेषर्थवादादेर्वेदस्य स्वप्रकरणपठितस्य तया गृहीतत्वात्प्रकरणान्तरपठिस्य ब्रह्मवाक्यस्य ग्रहीतुमशक्यत्वेऽपि ननु सोऽरोदीद्यद-रोदीत्तद्रुद्रस्य रुद्रत्वं स प्रजापतिरात्मनोवपामुदखिददित्यादिवाक्यानां धर्मप्रतिपादकत्वा-दर्शनात्कथं चोदनापदस्य यागादिधर्मविधायकस्य वेदपरत्वमित्याशङ्क्य विधिशेषस्य स्तुत्यादेः प्रतिपादकत्वेन सर्वस्यापि तादृशवेदवाक्यस्य धर्मतात्पर्यकत्वान्मैवमित्याह- ***सर्वस्येति*** **। ननु चोदनालक्षणोऽर्थो धर्म इत्यत्र सूत्रेऽर्थत्वे सति चोदनागम्यत्वं धर्मलक्षणं प्रत्यक्षाद्यगोचरेऽपि धर्मे चोदनागम्ये गमकं चोदनावाक्यमेव प्रमाणमिति प्रतीयते । तच्चायुक्तम् । एकसूत्रवाक्यस्य स्वरूपप्रमाणपरत्वे वाक्यभेदप्रसङ्गादिति चेत् सूत्रस्यार्थतो धर्मलक्षणत्वेऽपि मुखतः प्रमाणपरत्वात् । तथाचोक्तम् । धर्मलक्षणपरं सूत्रमर्थात्प्रमाणप्रतिज्ञेति प्राभाकराः । मुखतः प्रतिज्ञार्थाद्धर्मलक्षणत्वमिति वार्तिककारीया इति ।।५।।**

कहा जाता है। **'चोदना'** शब्द का उक्त अर्थ- **'आचार्यचोदितः करोमि'**- इत्यादि प्रकार के व्यवहार में आनेवाले वाक्य प्रयोगों से भी स्पष्ट ज्ञात होता है। **'स्वर्गकामो यजेत'**- इस वाक्य में प्रयुक्त **'यजेत'** यह वचन यागादिक क्रिया करने के लिये प्रवृत्त करता है। इस हेतु यह वचन चोदनात्मक कहा जाता है। अत: **'चोदना'** का अर्थ **'विधि'** होता है, यह स्पष्ट है।

प्रकृत प्रसंग में पूर्वपक्षी शंका करता है कि वेद केवल विधिरूप ही नहीं है। वेद में जिसप्रकार कतिपय विधि उक्त हैं, उसी प्रकार **मंत्र, नामधेय, निषेध, अर्थवाद,** ये भाग भी हैं। अत: वेद में विधि, मंत्र, नामधेय इत्यादि सभी का समावेश होता है। और **'चोदना'** शब्द तो वेद के पांच भागों में से एक भाग का ही निदर्शक है **'चोदनापदस्य विधिरूपवेदैकदेशपरत्वात्'**। पूर्वपक्षी के कहने का तात्पर्य है कि, सूत्रकार जैमिनि ने **'चोदनाप्रतिपाद्यो धर्मः'** कहकर केवल विधि को ही धर्म का प्रवर्तक स्वीकार किया है, जबकि **अर्थसंग्रहकार** ने **'वेदप्रतिपाद्यो धर्मः'** कहकर समग्र वेद (विधि मन्त्र नामधेयादि पञ्चक) को धर्म का प्रतिपादक माना है। अत: इस असामञ्जस्य का परिहार कैसे हो सकता है? क्योंकि यहाँ एक ही धर्म के दो लक्षण निरूपित किये गये हैं। इन दोनों के स्वरूप एक न होकर वे दोनों परस्पर नितान्त भिन्न हैं। 'चोदना प्रतिपाद्य' कहा जाने पर केवल विधि का ही बोध होता है और 'वेदप्रतिपाद्य' कहा जाने पर- उसमें विधि, मंत्र, नामधेय इत्यादिकों का भी बोध होता है। अत: जैमिनि के दूसरे सूत्र में धर्म का जो लक्षण निरूपित है, उस से ग्रंथकारोक्त **'वेदप्रतिपाद्यो धर्मः'** लक्षण से विरोध उपस्थित होता है, पूर्वपक्षी की शंका का यही तात्पर्य है। किन्तु पूर्वपक्षी को उक्त शंका करने की आवश्यकता नहीं है, वह निर्मूल है, क्योंकि **'चोदनालक्षणोऽर्थो धर्मः'**[१] लक्षण में भी 'चोदना' शब्द का केवल विधिपरक अर्थ ग्रहण न करके सकल वेदपरक अर्थ ही ग्रहण करना चाहिए। अर्थात् **'चोदना'** पद का तात्पर्य सम्पूर्ण वेद से है। विधि, मंत्र, नामधेय,

---

१. सा, लक्ष्यते ज्ञाप्यते अनेनेति लक्षणं प्रमाणं यस्य स चोदनालक्षणः। अर्थः अनर्थसम्बन्धरहितः। एवञ्च वेदबोधित्वेसति साक्षात् फलद्वारा वा यदनर्थाननुबन्धि इष्टसाधनञ्च तद्धर्भपदवाच्य मिति निर्गलितार्थः।। (तं. सि. रि. प्रथम परिच्छेद)

(६) यजेतेत्यत्रास्त्यंशद्वयम्

स च यागादि 'र्यजेत स्वर्गकाम' इत्यादिवाक्येन स्वर्गमुद्दिश्य पुरुषं प्रति विधीयते। तथाहि। यजेतेत्यत्रास्त्यंशद्वयं यजिधातुः प्रत्ययश्च। प्रत्ययेऽप्यस्त्यंशद्वयमाख्यातत्त्वं लिङ्त्वं च। तत्राख्यातत्वन्दशलकार-साधारणं लिङ्त्वं पुनर्लिङ्मात्रे ।।६।।

ननु पूर्वं प्रयोजनवत्वमपि धर्मलक्षणे विशेषणं दत्तं ततश्च किं तत्प्रयोजनं किं च तदुद्देशेन धर्मविधायकं चोदनावाक्यमिति वीप्सायामाह *स चेत्यादिना*। **यद्यपि यथा**

निषेध और अर्थवाद इन सभी को वेदपरक ही माना जाना चाहिए। यह पञ्चविधात्मक वेद का ही स्वरूप है– **'वेदो हि पंचविधः विधिमंत्रनामधेयनिषेधार्थवादभेदात्।'** और इन पंचांशकों से घटित जो समग्र वेद है उसका तात्पर्य धर्म में ही होने से समग्र वेद (पञ्चभेदात्मक) धर्मप्रतिपादक है, ऐसा कहने में कोई आपत्ति नहीं है। अत: **'वेदप्रतिपाद्यो धर्मः'** यह धर्म का लक्षण ठीक है।

इसके अतिरिक्त 'वेद' शब्द में विधि, मंत्र, नामधेय, निषेध, और अर्थवाद, इन पांच विभागों का समावेश होता है। और यद्यपि इन पांचों में से केवल विधि अर्थात् 'चोदना' इस एक ही विभाग का **'चोदनालक्षणोऽर्थो धर्मः'** लक्षण में उल्लेख होने पर भी **'चोदना'** शब्द से मंत्र, नामधेय, निषेध और अर्थवाद- इन सब का ग्रहण हो जाता है। **'प्राधान्येन व्यपदेशा भवन्ति'**- इस न्याय से प्रधान का उल्लेख होने पर तदतिरिक्त वेद के अन्य विभागों का भी ग्रहण हो जाता है। चोदना या विधि साक्षात् धर्म का प्रतिपादक होने के कारण मुख्य है और शेष- **मंत्र, नामधेय** आदि विधि के सहकारी होने के कारण गौण हैं। इस दृष्टि से **'चोदना'** वेद के एक अंश का वाचक होने पर भी उसे समग्र वेदपरक मानना अनुचित नहीं होगा। तात्पर्य यह है कि **'चोदनालक्षणोऽर्थो धर्मः'** इस सूत्रस्थ **'चोदना'** शब्द का सकलवेदपरक अर्थ होने के कारण **'वेदप्रतिपाद्योऽर्थो धर्मः'** यह धर्म का लक्षण सूत्रोक्त धर्म के लक्षण से भिन्न नहीं है॥५॥

अनुवाद– स इति। *'यजेत स्वर्गकाम:' अर्थात् स्वर्गाभिलाषी पुरुष को याग करना चाहिए, इत्यादि वाक्य स्वर्गप्राप्ति हेतु पुरुष के लिये यज्ञ का विधान करता है। इसे इस प्रकार समझ सकते हैं। 'यजेत' इस पद में* ***'यज्'*** *धातु और* ***'त'*** *प्रत्यय, ये दो अंश हैं।* ***'त'*** *प्रत्यय में भी दो अंश विद्यमान हैं-१-* ***आख्यातत्व*** *और २-* ***लिङ्त्व।*** *'आख्यातत्व' धर्म दसों लकारों में रहता है एवं 'लिङ्त्व' धर्म मात्र 'लिङ्' में ही रहता है ॥६॥*

।। अर्थमीमांसा ।।

इसके पूर्व 'अथ को धर्मः' धर्म क्या है? इस प्रश्न के उत्तर में **'यागादिरेव धर्मः'** यागादि ही धर्म है, कहा गया है। और वह यागादि धर्म **'यजेत स्वर्गकामः'** इत्यादि वाक्यों

प्रत्यक्षादीनां धर्मे न प्रामाण्यं तथा चोदनावाक्यस्यापि न तत्र प्रामाण्यं सम्भवति । यतः शक्तिग्रहणपूर्वकं लोके ह्याप्तवाक्यस्य प्रामाण्यं दृष्टम् । शक्तिश्च लोकप्रसीद्धे गवादौ गृह्यते । धर्मम्य चालौकिकत्वात्तत्र शक्तिग्रहणन्न सम्भवति । शक्तिग्रहणमन्तरेण च हुंफडादिवच्चोदनावाक्यस्यापि धर्माबोधकत्वान्न तत्र प्रामाण्यम् । तथापि प्रभिन्नकमलोदरे मधूनि मधुकरः पिबतीत्यत्र वाक्ये यथा मधुकरपदस्यार्थमजानन् तदन्यपदार्थांश्च जानन् तत्समभिव्याहारात्कमलमध्यगते मधुपानं कुर्वति दृश्यमाने भ्रमरे मधुकरशब्दस्य सङ्गतिं गृहीत्वा वाक्यार्थं प्रतिपद्यते । तथा कारीर्य्या वृष्टिकामो यजेतेत्यादौ लोकप्रसिद्धार्थवृष्ट्यादिपदसमभिव्याहारादलौकिकेऽपि भावनापदार्थे चोदनायाः सङ्गतिं गृहीत्वा चोदनावाक्यार्थं प्रतिपद्यते इति धर्मबोधकत्वाच्चोदनाया धर्मे नाप्रामाण्यमऽस्ति । तथा धर्मस्यालौकिकत्वेन प्रमाणान्तरागोचरत्वाद्वेदस्य च तत्र स्वतःप्रामाण्याऽभ्युपगमान्नचोदनाया धर्मबोधने मानान्तरसापेक्षत्वमपि तस्मादप्रामाण्य-कारणयोरबोधकत्वसापेक्षत्वयोरसम्भवाच्चोदनायाः सिद्धं स्वतःप्रामाण्यं धर्मे । ततश्च विधायकत्वमुपपन्नमित्यभिप्रेत्योक्तं स्वर्गमुद्दिश्य पुरुषं प्रति विधीयत इति । एतेन विध्यादेर्धर्मे प्रामाण्यं प्रथमाध्यायार्थो ध्वनितः । मानसविषयत्वाकारेण स्वर्गं

में कथित है। उक्त वाक्य का तात्पर्य यह है कि स्वर्गप्राप्ति रूप प्रयोजन के उद्देश्य से पुरुष को यज्ञ करना चाहिए। इत्यादि वाक्य स्वर्ग प्राप्ति हेतु पुरुष के लिये याग का विधान करता है। प्रश्नकर्ता पूछता है कि- याग तो स्वर्ग प्राप्ति का साधन है। और यही अर्थ इस वाक्य से निष्पन्न किया जाता है, किन्तु इस वेद-वाक्य में उक्तार्थ को निष्पन्न करने वाला अथवा ज्ञात कराने वाला साधन वाचक कोई भी शब्द अंकित दिखाई नहीं देता। तो फिर 'स्वर्ग' के साधन भूत 'याग' का अनुष्ठान करना चाहिए, यह अर्थ कहाँ से निष्पन्न होता है? इस शंका का समाधान करने के लिए ग्रंथकार ने **'तथाहि'** से लेकर **'आर्थीभावनायाः अंशत्रयम्' के प्रकरणान्तर्गत अंकित 'इतिकर्तव्यताकाङ्क्षायां प्रयाजाद्यङ्गजातमितिकर्तव्यतात्वेनान्वेति'** इस अन्तिम वाक्य तक विषय को समझाया है। **'यजेत स्वर्गकामः'** इस विधिवाक्य में **'यजेत'** क्रियापद है। किन्तु यह क्रियापद दो भागों से या दो अंशों से घटित हुआ है, अर्थात् 'यज्' धातु एक अंश है और उस धातु को लगा हुआ 'त' प्रत्यय दूसरा अंश है। पुनः यह प्रत्यय भी दो अंशों का है (१) आख्यातत्व एवं (२) लिङ्त्व।

प्रकृत प्रंसग में आख्यातत्व और लिङ्त्व-इन दो व्याकरणशास्त्र के पारिभाषिक शब्दों को प्रथम समझलेना चाहिए। सर्वप्रथम 'आख्यात' (क्रियापद) शब्द का अर्थ समझते हैं।'आख्यात' शब्द का अर्थ- **'भावप्रधानमाख्यातम्'** कहा गया है। या **'आख्यात'** का एक लक्षण इस प्रकार भी उल्लिखित है-

धात्वर्थेन विशिष्टस्य विधेयत्वेन बोधने ।
समर्थः स्वार्थयत्नस्य शब्दो वाख्यातमुच्यते ।।

तस्मात् **'आख्यात'** का अर्थ है, कहा हुआ, निरूपित किया हुआ, इत्यादि। **'यजेत'** इस पद में **'यज्'** धातु में जो प्रत्यय लगा हुआ है, उस प्रत्यय से सूचित होता है कि यहाँ

सिद्धवन्निर्दिश्य तत्साधनत्वेनाज्ञातस्य यागस्यानुष्ठेयत्वं प्रतिपाद्यत इति तदर्थः। तथाचोक्तम्। फलस्योद्देश्यत्वं नाम मानसापेक्षो विषयत्वाकार इति। ननु यजेत स्वर्गकाम इत्यादौ साधनत्ववाचकशब्दस्याऽदर्शनात्कथं स्वर्गसाधनत्वेन वेदेन यागस्यानुष्ठेयत्वं प्रतिपाद्यत इत्याशङ्क्य प्रकृतिप्रत्यययोर्विभागपुरःसरं प्रत्यय-स्यांशविवेकेन भावनाम्प्रतिपादयन् तत्सामर्थ्येन यागस्य स्वर्गसाधनत्वं दर्शयति तथाहीत्यारभ्याथ क इत्यन्तप्राक्तनेन ग्रन्थेन। यद्वा। ननु न यागादीनां स्वर्गसाधनत्वं स्वर्गस्य कालान्तरभावित्वादपूर्वमन्तरेण तन्निष्पादकत्वासम्भवात्। न च यागादीनाम-पूर्वनिष्पादकत्वं स्यादिति वाच्यम्। सिद्धस्यैव लोके साध्यनिष्पादकत्वदर्शनात्साध्यस्व-भावस्य यागदानादिरूपस्य भावार्थस्यापूर्वनिष्पादकत्वासम्भवात्। तस्मान्नयागादेः स्वर्गसाधनत्वं ततश्च न तदुद्देशेन यागादिविधिरिति चेन्न। क्रियामन्तरेण द्रव्यादिसिद्धस्यापि लोके फलविशेषसाधनत्वाऽदर्शनात्। न हि पचिक्रियामन्तरेण काष्ठस्थाल्यादीनामोदनसाधनत्वं दृश्यते। माभूत्तर्हि। न तावता भवदिष्टसिद्धिरितिचेन्न। साध्यस्यापि भावार्थस्य यागादेरेकपदोपात्तत्वेन भावनाभाव्यनिवृत्तिद्वारेण भावनाकर-णस्य स्वसाधननिष्पादितस्य सतोऽपूर्वद्वारा भावनाभाव्यस्वर्गनिष्पादकत्वादित्यभिप्रायेण भावनां निरूपयितुं विधेर्विधायकत्वप्रकारम्प्रदर्शयितुं च प्रकृत्यादिकं विभजते तथाहीत्यादिना। *तत्रेति*। **आख्यातत्वलिङ्त्वयोर्मध्य इत्यर्थः ।।६।।**

कुछ (कार्य) (विधेयत्वेन बोधने) करना है, (कारयेत्) कुछ साधना (साधयेत्) है, अथवा कुछ बात होनी (भावयेत्) है, इत्यादि। इसी कल्पना को **'भावप्रधानमाख्यातम्'** इस वाक्य में भाव शब्द से सूचित किया गया है। और 'भावना' शब्द भी इसी अर्थ में प्रयुक्त है। 'भावना' शब्द का और अधिक स्पष्टीकरण आगे प्रस्तुत किया जायेगा।

'आख्यात' शब्द का स्वरूप समझने के लिए, **'आख्यातत्वं दशलकारसाधारणम्'** इस सूत्र को देखना चाहिए। भगवान् पाणिनी ने भिन्न-भिन्न क्रिया पदों के भूत, वर्तमान, भविष्य कालों को, तथा आज्ञार्थ, विध्यर्थ, संकेतार्थ,- इत्यादि अर्थादिकों को प्रदर्शित करने के लिए दस लकारों की योजना की है। वे दस लकार इस प्रकार हैं-

(१) **लट्**, (२) **लिट्**, (३) **लुट्**, (४) **लृट्**, (५) **लेट्**, (६) **लोट्**, (७) **लङ्**, (८) **लिङ्**, (९) **लुङ्**, (१०) **लृङ्**। इन दस लकारों में प्रत्येक लकार के पूर्व में **'ल'** वर्ण रहने के कारण इन्हें **'लकार'** कहा जाता है। जैसा कि पूर्व में कहा गया है कि 'त' प्रत्यय में दो अंश हैं- (१) आख्यातत्व और (२) लिङ्त्व। आख्यातत्वधर्म दश लकारों (प्रत्ययों) में विद्यमान रहता है, अतः आख्यातत्व को दशलकार की संज्ञा से जाना जाता है। इन दश लकारों में प्रत्यय विशेष 'लिङ्' आठवाँ लकार है। जब विध्यर्थ दिखाने की आवश्यकता होती है, तब इस प्रत्यय का उपयोग किया जाता है। और इसीलिए इस प्रत्यय को 'विधिलिङ्' कहा जाता है। अंग्रेजी में इस प्रत्यय को 'Potential Mood' कहा जाता है। इसी 'लिङ्' प्रत्यय के योग से **'यजेत'** रूप निष्पन्न हुआ है। इस 'लिङ्' प्रत्यय में 'लिङ्त्व' धर्म विद्यमान रहता है। तात्पर्य यह है कि 'त' प्रत्यय के दो अंश हैं (१) आख्यातत्व और (२) लिङ्त्व। आख्यातत्व या तिङ्त्व धर्म दसों

(७) भावनाविचारः

उभाभ्यामप्यंशाभ्यां भावनैवोच्यते। भावना नाम भवितुर्भवनानुकूलो भावयितुर्व्यापारविशेषः। सा द्विधा। शाब्दीभावना आर्थीभावना चेति ।।७।।

उभाभ्यामिति। आख्यातत्वलिङ्त्वाभ्यामित्यर्थः। भावनैवेत्येवकारेण कर्त्रादि-वाचकत्वमाख्यातस्य वारयति। भावनासामान्यं लक्षयति भवितुरिति। भवितुरुत्प-द्यमानस्योत्पत्त्यनुकूलो भावयितुरुत्पादयितुः प्रयोजकस्य व्यापारविशेषो भावनेत्यर्थः। प्रयोजकव्यापारत्वादेव णिजन्तेन भावना शब्देनोच्यते। यथोत्पद्यमानस्यौदनस्यो-त्पत्त्यनुकूलो देवदत्तस्य व्यापारविशेषो भावनेत्यर्थः। यथा चोत्पद्यमानाया देवदत्तप्रवृत्ते-

---

लकारों में विद्यमान रहता है। क्योंकि तिङ् प्रत्ययों का उपयोग दसों लकारों में होता है। किन्तु 'लिङ्त्व' धर्म केवल 'लिङ्' लकार में ही रहता है। क्योंकि 'लिङ्त्व धर्म' लिङ् का अपना विशेष धर्म है।[१]।।६।।

__अनुवाद– उभाभ्यामिति।__ 'आख्यातत्व' और 'लिङ्त्व' इन दोनों अंशों से भावना का ही बोध होता है। __भवितुः__ उत्पन्न होने वाले का, भवनानुकूल उत्पत्ति में कारणभूत जो __भावयितुः__- उत्पादयिता- प्रयोजक का व्यापार विशेष होता है वही __'भावना'__ है। भावना दो प्रकार की होती है-१- __शाब्दीभावना__, और (२) __आर्थीभावना__ ।।७।।

।। अर्थमीमांसा ।।

'यजेत' पद के 'यज्' धातु से सम्बद्ध प्रत्यय 'आख्यातत्व' और 'लिङ्त्व' को इसके पूर्व निर्दिष्ट किया जा चुका है, उन दोनों ही अंशो के द्वारा भावना को ही व्यक्त किया जाता है। किन्तु यहाँ प्रश्न उपस्थित होता है कि 'भावना' क्या है? भावना का क्या अर्थ है? इसे समझने के लिये 'भावना' का लक्षण देखना चाहिए। **'भवितुर्भवनानुकूलो भावयितुर्व्यापार-विशेषो भावना'**। उक्त लक्षण का स्पष्टीकरण उपर्युक्त टीका में– **'भवितुरुत्पद्यमान-स्योत्पत्त्यनुकूलो भावयितुरुत्पादयितुः प्रयोजकस्य व्यापारविशेषो भावनेत्यर्थः**:- इस प्रकार दिया है। इस लक्षण को सम्यक् प्रकार से समझने हेतु हम एक लौकिक उदाहरण लेते हैं–

---

१. 'प्रत्ययेऽप्यस्त्यंशद्वयं आख्यातत्वं लिङ्त्वं च, तत्राख्यातत्वं दशलकारसाधारणं, लिङ्त्वं पुनर्लिङ्मात्रे,'- इसका **डॉ. थीबो** ने निम्नानुसार अनुवाद किया है। उससे भी इसका अर्थ समझने में सहायता मिलेगी।

The Suffix again contains two elements, as it expresses as well the property of a verb as the property of an optative. The property of expressing a verb is common to the suffixes of the ten moods and tenses, (all of which, when added to a root, turn the latter into a verb); The property of expressing an optative exclusively belongs to the optative suffixes.

रुत्पत्यनुकूलः प्रवर्तकस्य चैत्रस्याभिप्रायविशेषः । यथा वा यजेत स्वर्गकाम इत्यत्रोत्पद्यमानस्य धात्वर्थस्य स्वर्गस्यवोत्पत्यनुकूलः स्वर्गकामस्य व्यापार उत्पद्यमानायाश्च स्वर्गकामप्रवृत्तेरुत्पत्त्यनुकूलो लिङो व्यापारविशेषः । तथा चान्योत्पादनानुकूलो भावुकस्य व्यापारविशेषो धात्वर्थादन्यः सर्वधात्वर्थसम्बद्धाकारेण भासमानो भावना सामान्यमिति सिद्धम् । तथाचोक्तम् । अन्योत्पादानुकूलात्मा भावना साध्यरूपिणीति । तथाचार्यैर्प्युक्तम् । "धात्वर्थव्यतिरेकेण यद्यप्येषा न लभ्यते । तथापि सर्वसामान्यरूपेणैवाऽवगम्यते" इतिभावनां विभजते । सा द्विधेति ।।७।।

'ओदनं पचति देवदत्तः' (देवदत्त भात पकाता है) । उक्त उदाहरण के परिप्रेक्ष्य में उक्त लक्षण को देखते हैं तो स्पष्ट प्रतीत होता है कि **'ओदन'** यह पदार्थ **उत्पद्यमान** होने के कारण, उस ओदन की उत्पत्ति के अनुकूल एवं ओदन को उत्पन्न करने वाला जो देवदत्त का विशेष प्रकार का व्यापार है, उसे **भावना** कहा जाता है।[१] एक अन्य लौकिक उदाहरण ग्रहण करके देखते हैं यथा– **'गामानय'** (गाय लाओ)। यह आज्ञार्थक उदाहरण है। इस उदाहरण में कोई एक आचार्य अपने देवदत्त नामक शिष्य को गाय लाने की आज्ञा देता है 'गाय लाओ'। शिष्य-देवदत्त आचार्य का **'गामानय'** वाक्य सुनकर विचार करता है कि आचार्य मुझ में गाय लाने की प्रवृत्ति उत्पन्न करना चाहते हैं जिससे प्रेरित होकर मैं (देवदत्त) गाय लाऊँ। तदनुसार **'गवानयनानुकूल व्यापार'** में देवदत्त प्रवृत हो जाता है। इस विवेचना से यह स्पष्ट होता है कि गवानयन विषयक देवदत्त की प्रवृत्ति उत्पन्न होने में सहायकभूत आचार्य का विशेष प्रकार का अभिप्राय- व्यापारविशेष ही 'भावना' है। अन्यरीति से भी इस- भावना का लक्षण प्रस्तुत किया जाता है, वह इस प्रकार है—

धात्वर्थव्यतिरेकेण यद्यप्येषा न लक्ष्यते ।
तथापि सर्वसामान्यरूपेणैवावगम्यते ।।

यदि पूर्वपक्षी यह प्रश्न करे कि- **भावना क्या है?** क्या 'यजेत' इस क्रिया में **ध्वात्वर्थ** भावना है अथवा उस धात्वर्थ से 'भावना' कोई भिन्न होती है? 'यजेत' पद के 'यज्' धातु का जो 'याग' अर्थ है, वह तो निश्चय ही 'भावना' नहीं है। और इस यागरूपी धात्वर्थ के अतिरिक्त अन्य कोई क्रिया भी प्रकृत वाक्य में दिखाई न देने के कारण भावना उससे भिन्न नहीं हो सकती। यदि इस प्रकार कोई पूर्वपक्षी कहने लगे तो उसका उक्त विचार समुचित नहीं होगा। क्योंकि सभी धात्वर्थों से संबद्ध रहने वाली **'करोति'** रूप क्रिया धात्वर्थ से अतिरिक्त सर्वत्र दिखाई देती है। **'यजति' 'पचति'** इत्यादि प्रयोगों का **'यागं करोति' 'पाकं करोति'** इत्यादि अर्थ ही निष्पन्न होता है। इसमें **याग, पाक** ये धात्वर्थ हैं और प्रत्येक धात्वर्थ के साथ **'करोति'** यह क्रिया 'धात्वर्थ' से अतिरिक्त संबद्ध रहती है। इसलिए **'करोति'** इस शब्द से जो अर्थ व्यक्त होता है, वही **भावना है– 'करोतिसमानार्थकभावयतेः'**। **'भावयेत्' 'भावना'** इत्यादिकों के अर्थ और **'करोति'** का अर्थ एक ही हैं, यह स्पष्ट है।

---

१. भावना·नाम भवितुः उत्पद्यमानस्य ओदनस्य भवनस्य उत्पत्तेः अनुकूलः कारणभूतः भावयितुः उत्पादयितुः देवदत्तस्य व्यापारविशेषः ।

एक अन्य स्थान पर भावना को निम्नांकित श्लोक के द्वारा भिन्न प्रकार से स्पष्ट किया गया है—

सिद्धसाध्यस्वभावाभ्यां धात्वर्थो द्विविधस्तयोः ।
अन्योत्पादानुकूलात्मा भावना साध्यरूपिणी ।।

इस श्लोक का तात्पर्य यह है कि- **'पचति'** कहने पर **'पाकं करोति'** यह समझा जाता है। इन दो शब्दों में से **'पाक'** यह पदार्थ 'सिद्ध' स्थिति का द्योतक है और **'करोति'** इस शब्द के द्वारा जो बात व्यक्त की जाती है, वह अभी सिद्ध होनी है, अर्थात् वह अभी 'साध्य' स्थिति में है, ऐसा ज्ञात होता है। इस से यह स्पष्ट होता है कि 'भावना' साध्य स्वरूप की होती है।

वह भावना दो प्रकार की होती है- (१) शाब्दीभावना और (२) आर्थीभावना।

प्रकृत प्रसंग में भावना का विवेचन किसलिये किया गया है? ऐसी शंका संभावित है। इस शंका के समाधानार्थ हमे शाब्दबोध प्रक्रिया का अवलोकन करना आवश्यक हो जाता है। जिससे प्रकृत प्रसंग में 'भावना' पदार्थ के विवेचन का महत्त्व समझ में आ सकता है–

इसके पूर्व **'यजेत स्वर्गकामः'** विधिवाक्य का उल्लेख किया गया है। उक्त विधिवाक्य का अर्थ किस प्रकार किया जाना चाहिए और उससे शाब्दबोध क्या हो,? यही यहाँ विवाद का प्रश्न है। इस विषय में अर्थात् शाब्द-बोध के सम्बन्ध में **नैयायिक, वैयाकरण** और **मीमांसकों** के विचार भिन्न-भिन्न हैं, उनमें एक वाक्यता नहीं है।

नैयायिक 'कर्ता' को प्रधान मानते हैं। कर्ता को प्रधानता देनेवाले नैयायिकों के विचारानुसार **'देवदत्तःपचति'** इस वाक्य में **'देवदत्त'** कर्ता होने के कारण वही प्रधान और विशेष्य है और शेष उसके विशेषण के रूप में उसके साथ नियोजित किये गये हैं। अर्थात् **'देवदत्तःपचति'** इस वाक्य का अर्थ वे **'पाकानुकूलकृत्याश्रयो देवदत्तः'** इस रूप में करते हैं। और **'देवदत्तस्तण्डुलं पचति'** इस वाक्य का अर्थ– **'तुण्डुलकर्मकपाकानुकूलकृत्याश्रयो देवदत्तः'** इस रूप में करते हैं। परन्तु नैयायिकों की वाक्य में या किसी भी प्रकार के वाक्य के अर्थ में 'कर्ता' को प्रधानता देने की यह पद्धति मीमांसकों को स्वीकार नहीं है। क्योंकि मीमांसक नैयायिकों की इस पद्धति में यह कहकर देषान्वेषन या दोष दिखाते हैं कि प्रथमा, द्वितीया इत्यादि सभी कारक विभक्तियों का व्याकरण के नियमानुसार **तो** केवल क्रियापद के साथ ही अन्वय होना चाहिए, अर्थात् उक्त व्याकरण के नियम से 'देवदत्तः पचति' में प्रयुक्त 'देवदत्तः' प्रथमा का क्रियापद के साथ ही अन्वय होना चाहिए। परन्तु नैयायिकों की शाब्दबोध की पद्धति के अनुसार उसका वैसा अन्वय नहीं होता। इसलिए उक्त नियम का अर्थात् व्याकरण के नियम का उल्लंघन होने के कारण नैयायिकों की शाब्दबोध की यह पद्धति मीमांसकों के विचार में दोषपूर्ण है। नैयायिकों की शाब्दबोध की पद्धति में कर्ता की प्रधानता को दोषपूर्ण (सदोष) माननेवाले वैयाकरण नैयायिकोक्त पद्धति में परिवर्तन कर **धात्वर्थ** को **प्राधान्य** देते हैं। वैयाकरण **'देवदत्तः पचति'** का अर्थ वाक्य के **'पच्'** धातु के अर्थ को अर्थात् **'पाक'** को प्राधान्य देकर **'देवदत्तनिष्ठः पाकः'**- इस प्रकार करते हैं और **'देवदत्तस्तण्डुलं पचति'** इस वाक्य का अर्थ- **'देवदत्तनिष्ठः तण्डुलकर्मकः पाकः'**-करते

हैं। परन्तु मीमांसकों के मत में वैयाकरणों की यह शाब्दबोध पद्धति भी दोषयुक्त है। नियमानुसार सर्वत्र प्रकृति के अर्थ की अपेक्षा प्रत्ययार्थ को ही अधिक प्राधान्य दिया जाना चाहिए। **उदाहरणार्थ**, **'पचति'** में **'पच्'** प्रकृति है और उसमें संयुक्त **'ति'** प्रत्यय है। यहाँ उक्त नियमानुसार प्रकृति के अर्थ 'पाक' को प्राधान्य न देकर प्रत्ययार्थ को ही प्राधान्य दिया जाना चाहिए। परन्तु वैसा न करते हुए अर्थात् नियम का पालन न करते हुए वैयाकरण अपनी शाब्दबोध पद्धति में प्रकृत्यर्थ- (जो) 'पाक' (है) को ही **'देवदत्तनिष्ठः पाकः'** कहकर प्राधान्य देते हैं। अतः मीमांसाको के मत में वैयाकरणों का उक्त पक्ष भी समीचीन नहीं है। इस प्रकार नैयायिकों और वैयाकरणों- की शाब्दबोध पद्धति को सदोष निर्देशित कर मीमांसक अपनी स्वतंत्र-निराली-शाब्दबोध-पद्धति को उपन्यस्त करते हैं। वह इस प्रकार है—

इसके पूर्व निर्देशित किया जा चुका है कि **'पचति'** में **'पच्'** प्रकृति है और उस उस 'पच्' में संयुक्त **'ति'** यह प्रत्यय है। वैयाकरणों ने 'पच्' धातु के अर्थ 'पाक' को प्राधान्य दिया है किन्तु नियमानुसार प्रत्यायार्थ को ही प्राधान्य दिया जाना चाहिए। इसलिए 'ति' प्रत्ययार्थ- **'करोति'** के इस अर्थ (कृति, भावयति, भावना) को अर्थात् उस प्रत्ययार्थ को (आख्यातार्थ को) प्राधान्य देकर मीमांसक **'पचति'** का अर्थ **'पाकं करोति'** करते हैं। और **'पचत्योदनम्'** का अर्थ **'पाकेन ओदनं करोति'** करते हैं।

संक्षेप में शाब्दबोध के विषय में नैयायिक **'कर्तृमुख्यविशेष्यक'** शाब्दबोध मानते हैं, वैयाकरण **'धात्वर्थमुख्यविशेष्यक'** शाब्दबोध मानते हैं और मीमांसक **'प्रत्ययार्थमुख्यविशेष्यक'** शाब्दबोध मानते हैं।[१]

मीमांसकों के मतानुसार प्रत्ययार्थ भावना ही होने के कारण **'यजेत'** इत्यादि स्थानों पर 'भावना प्रधान' ही शाब्दबोध होता है, नैयायिकों या वैयाकरणों के मतानुसार 'कर्तृप्रधान' या 'धात्वर्थप्रधान' नहीं होता। यही निर्देशित करने के लिये और नैयायिकों और वैयाकरणों के मतों का खण्डन करने के लिये ही **'उभाभ्यामप्यंशाभ्यां भावनैवोच्यते'** इस वाक्य में 'एव' पद का प्रयोग किया गया है।

एवञ्च 'भावयति' और **'करोति'** ये दोनों शब्द समानार्थक ही हैं, अर्थात् **'भावयति'**

---

१. उक्त विवेचन **'मीमांसाशास्त्रसार'** ग्रंथोक्त निम्नांकित उद्धरण के आधार पर किया गया है—
'तत्र शाब्दबोधे प्रथमान्तमेव मुख्यविशेष्यमिति नैयायिकाः । तेषां मते 'देवदत्तः पचति'- इत्यस्य पाकानुकूलकृत्याश्रयो देवदत्त इति, 'देवदत्तस्तण्डुलं पचति'- इत्यत्र तण्डुल-कर्मकपाकानुकूल-कृत्याश्रयो देवदत्त इति च बोधः ।''
''धात्वर्थमुख्यविशेष्यकः शाब्दबोध इति वैयाकरणाः । तेषां मते 'देवदत्तः पचति'- इत्यत्र देवदत्तनिष्ठः पाक इति, 'देवदत्तस्तण्डुलं पचति'- इत्यत्र देवदत्तनिष्ठः तण्डुलकर्मकः पाकः इति च बोधः ।''
''तत्र प्रथममते कारकाणां क्रियया साकमेवान्वयनियमात्प्रथमार्थस्याप्यभिहितकारकस्य क्रियायामन्वयस्यैव युक्तत्वात्तादृशनियमोल्लंघनं, द्वितीयमते सर्वत्र प्रत्ययार्थः प्रधानमिति यो नियमस्तस्य धात्वनंतरप्रत्ययार्थे परित्यागात्तादृशनियमोल्लंघनं च दोषः, इति मीमांसका आख्यातार्थमुख्यविशेष्यकं शाब्दबोधं मन्यंते ।''

का अर्थ **'करोति'** ही होता है। जिस प्रकार **'करोति'** को किसी 'कर्म' की आवश्यकता होती है, उसी प्रकार **'भावयति'** को भी किसी 'कर्म' की आकांक्षा होनी ही चाहिए। इसलिए **'यजेत'** पद के सुनने पर सर्वप्रथम **'भावयेत्'** अर्थ मन में उपस्थित होने पर **'किं भावयेत्'** या **'किं साधयेत्'** अर्थात् **'भावयेत्' 'साधयेत्'** इन क्रियापदों का 'कर्म' क्या है? 'साध्य' क्या है? प्रश्न मन में उदित होते हैं। **'यजेत स्वर्गकामः'**- इस प्रकृत स्थल में कर्मत्व या साध्यत्व रूप में याग और स्वर्ग-दोनों ही प्राप्त होते हैं। अतः अब प्रश्न उठता है कि इन दोनों (याग और स्वर्ग) में से **'भावयेत्'** के किस कर्म को स्वीकार करना चाहिए? व्यावहारिक दृष्टि से विचार करें तो मनुष्य की स्वाभाविक प्रवृत्ति किस लक्ष्य- पदार्थ- की ओर उन्मुख होती हैं? हमें यहाँ मनुष्य की स्वाभाविक प्रवृत्ति को भी देखना चाहिए। क्या वह कष्ट साध्य पदार्थ की प्राप्ति की ओर उन्मुख होगा? या आनन्दमय साध्य पदार्थ की ओर? निश्चय ही वह आनन्दमय पदार्थ की ओर ही प्रवृत्त होगा। इस दृष्टि से यदि हम 'याग' और 'स्वर्ग' के स्वरूप को देखतें हैं तो विदित होता हैं कि याग कष्टमय और दुःसाध्य है और स्वर्ग आनन्दात्मक और नितान्त ईप्सित है। अतः याग की अपेक्षा स्वर्ग को ही प्राप्त करने की इच्छा नितान्त स्वाभाविक है। अतः उक्त विवेचन- उपपत्ति- के आधार पर **'भावयेत्'** इस क्रियापद के **स्वर्गस्वरूप कर्म** को ही स्वीकार करना चाहिए, कष्टसाध्य 'याग' रूप कर्म को नहीं। सारांश यह है कि योग्यता के आधार पर 'भावयेत्'- इस क्रियापद का 'याग' कर्म न होकर 'स्वर्ग' ही योग्य कर्म है। इस आधार पर **'यजेत'**- इस क्रियापद का अर्थ- 'स्वर्गं भावयेत्' किया जाता है।[१]

यद्यपि 'स्वर्ग साधना चाहिए' यह अर्थ स्पष्ट होने पर भी वाक्य की संपूर्ण आकांक्षा यहाँ स्पष्ट नहीं होती, क्योंकि स्वर्ग का साधन क्या है? वह किस से साध्य है? यह आकांक्षा शेष रह जाती है। इस शेष आकांक्षा का समाधान करने के लिए मीमांसक 'यजेत' पद में से प्राप्त होने वाले प्रकृत्यर्थ **'याग'** को करणत्व के रूप में स्वीकार करते हैं। अर्थात् मीमांसको के मत में 'यजेत' का अर्थ- 'यागेन स्वर्गं भावयेत्' होता है।

उक्त प्रकार से प्रतिपादित **'यजेत स्वर्गकामः'** इस विधिवाक्य- के अर्थ को देखकर एक-शंका उत्पन्न होती है कि **'यजेत स्वर्गकामः'** विधिवाक्य में प्रयुक्त **'यजेत'** इस एक ही पद के **'यज्'** धातु का अर्थ **'याग'** है और उस धातु में जुड़े हुए प्रत्यय का अर्थ **'भावयेत्'** किया गया है, अर्थात् **'याग'** और **'भावयेत्'** ये दोनों ही अर्थ **'यजेत'** रूप एक ही पद से निष्पन्न होते हैं। ऐसी स्थिति में **'भावयेत्'** इस क्रियापद के लिए **'किं भावयेत्'**- इत्याकारक कर्म की आकांक्षा उत्पन्न होने पर एकपदोपात्त **'याग'** को ही वस्तुतः कर्मत्व के रूप में स्वीकार किया जाना चाहिए, किन्तु उस वास्तविक कर्म- **'याग'** को यहाँ स्वीकार न कर **'स्वर्गकामः'** इस भिन्न पद के भिन्नपदोपात्त **'स्वर्ग'** को ही कर्मत्व के रूप में स्वीकार किया जाता है। वस्तुतः कर्मत्व के लिए **एकपदोपात्त** और अधिक निकटस्थ जो **'याग'** है उसे

---

१. दुःसाध्यात्मकस्य यागस्येप्सिततमस्वरूपकर्मत्वायोग्यत्वात्।
स्वर्गस्य त्वानन्दात्मकत्वेनेप्सिततमतया कर्मत्वेनान्वययोग्यत्वात्।। 'मीमांसापरिभाषा'

त्याग कर भिन्नपदोपात्त जो 'स्वर्ग' है उसे स्वीकार करना, क्या दोषावह नहीं है? इस शंका का समाधान यह है कि यद्यपि 'याग' एकपदोपात्त है और 'स्वर्ग' भिन्नपदोपात्त है, तथापि **'भावयेत्'** क्रियापद के कर्मकी आकांक्षा पूर्ण करते समय एकपद या भिन्नपद के विषय में यहाँ विचार न करते हुए **'भावयेत्'** इस क्रियापद के कर्मत्व के लिए 'याग' और 'स्वर्ग' इन दो में से कौन योग्य है? इसका ही मुख्यरूप से विचार किया जाना चाहिए। ऐसा न करने पर यहाँ भी **'अग्निना सिंचति'** के समान **'अयोग्यत्व'** दोष उत्पन्न होगा। अतः **'याग'** और **'स्वर्ग'** इन दोनों में से **'भावयेत्'** क्रियापद के कर्मत्व के लिए कौन योग्य है,? यह प्रथम देखना चाहिए। अतः **'याग'** दुःसाध्य होने के कारण तथा **'स्वर्ग'** आनन्दमय होने के कारण, याग की अपेक्षा स्वर्ग की इच्छा करना मनुष्य के लिए स्वाभाविक है। एवञ्च योग्यता की दृष्टि से कर्म के रूप में 'स्वर्ग' का ही अन्वय करना आवश्यक है। और वह स्वर्ग किस साधन से साध्य होगा? ऐसी आकांक्षा होने पर, वह 'स्वर्ग' याग द्वारा प्राप्त करना चाहिए, यह मानकर एकपदोपात्त **याग** शब्द को करणत्व के रूप में यहाँ अन्वित करना योग्य होगा। इसके अतिरिक्त **'दर्शपूर्णमासाभ्यां'** इत्यादि वाक्यों में स्वतः श्रुति ने करणवाचक तृतीया विभक्तिका प्रयोग कर **'याग'** स्वर्ग का साधन होता है यह स्पष्टांकित किया ही है। इसीलिए मीमांसक **'यजेत स्वर्गकामः'** विधिवाक्य का 'यागेन स्वर्गं भावयेत्'- 'भावना' की स्वीकृति के रूप में अर्थ करते हैं।

मीमांसकों के कथन **'यागेन स्वर्गं भावयेत्'** में पूर्वपक्षी पुनः दोषान्वेषन करते हुए कहता है कि मीमांसकों के मतानुसार 'याग' **साधन** है और 'स्वर्ग' उसका **फल** है। परन्तु लौकिक व्यवहार में तो साधन और फल में जो सम्बन्ध दिखाई देता है, वह सम्बन्ध 'याग' और 'स्वर्ग' में कैसे उपपन्न होगा? क्योंकि **'कुठारेण छिनत्ति'** इत्यादि लौकिक व्यवहार में हम देखते है कि साधन और उसके फल में सम्बन्ध रहता है, किन्तु वह सम्बन्ध 'याग' और 'स्वर्ग' मे दिखाई नहीं देता। क्योंकि 'याग' तो क्षणिक होता है, अर्थात् उत्पन्न होने के कुछ समय पश्चात् ही वह विनष्ट हो जाता है, और यागकर्ता यजमान तो मृत्यु के अनन्तर स्वर्ग को प्राप्त करता है। उस समय तक तो पूर्व में ही नष्ट हो चुके याग का अस्तित्व भी नहीं होता। ऐसी स्थिति में अस्तित्व में ही न रहनेवाले साधन से स्वर्गरूप फल की प्राप्ति कैसे होगी?

पूर्वपक्षी की उक्त शंका का समाधान करते हुए मीमांसक उत्तर देते हैं कि **'दर्शपूर्णमासाभ्याम्'** इत्यादि श्रुतिवाक्य में प्रत्यक्षरूप से तृतीया विभक्ति का प्रयोग कर- 'याग ही स्वर्ग का साधन है' कहा गया है। अतः श्रुति को प्रमाण मानकर 'याग' को ही स्वर्ग का साधन माना जाना चाहिए। इसके अतिरिक्त अन्य कोई गति नहीं हैं। ऐसी स्थिति में फलरूपी स्वर्ग के प्राप्त होने तक याग स्थिर रहता है, ऐसा माना जाना चाहिए, अथवा याग विनष्ट होने पर भी उससे स्वर्गोत्पत्ति होती है, कम से कम यह मान लेना चाहिए। किन्तु 'याग' क्षणिक होने के कारण वह विनष्ट 'याग' स्वर्ग की प्राप्ति होने तक स्थिर नहीं रह सकता, यह नितान्त स्पष्ट है। और विनष्ट याग से स्वर्गोत्पत्ति होती है, यह भी मान लेना असंभव है, क्योंकि ऐसा मानलेना वैसा ही अशक्य होगा जैसे मृत पति-पत्नी से पुत्रोत्पत्ति को मान लेना। यह जिस प्रकार असंभव है उसी प्रकार नष्ट हुए 'याग' से स्वर्गोत्पत्ति भी

असंभव है। और श्रुति ने तो 'याग' को ही स्वर्ग के साधन के रूप में निर्दिष्ट कर रखा है। इस उलझन को सुलझाने के लिये मीमांसक एक कल्पना को प्रस्तुत कर कहते हैं कि यजमान के द्वारा याग संपादित होने पर उस याग से **'अपूर्व'** (पापपुण्यस्वरूपं कर्मजन्यमदृष्टम्) की उत्पत्ति होती है। और यह 'अपूर्व' याग के विनष्ट होने पर भी कर्ता के आत्मा में स्थिर रहता है और वही यजमान को अन्त में 'स्वर्ग' की प्राप्ति करा देता है।[१] आचार्य शंकर पाद इसी अपूर्व को कर्म की सूक्ष्म उत्तरावस्था या फलकी पूर्वावस्था कहते हैं– [अत: कर्मणो वा सूक्ष्मा काचिदुत्तरावस्था फलस्य वा पूर्वावस्थाऽपूर्वं नामास्तीति तर्क्यते- ३/३/४०] आचार्य कुमारिल कहते हैं कि यागानुष्ठान के पूर्व स्वर्ग का उपभोग करने की योग्यता पुरुष में नहीं रहती और अनुष्ठान के पूर्व याग में भी स्वर्गादि फल देने की योग्यता नहीं रहती। एवञ्च पुरुष की अयोग्यता तथा कर्म की अयोग्यता दोनों का निराकरण कर शास्त्रजन्य सामर्थ्य या अतिशय योग्यता ही 'अपूर्व' है-

कर्मभ्यः प्रागयोग्यस्य कर्मणः पुरुषस्य वा
योग्यता शास्त्रजन्या या सा पराऽपूर्वमुच्यते ।। (तंत्रवार्तिक पृ. ३९४)

मीमांसकों की उक्त कल्पना को सुनकर **पूर्वपक्षी** पुन: शंका करता है कि यदि आपकी कल्पना के अनुसार याग से स्वर्ग की प्राप्ति न होकर 'अपूर्व' से वह प्राप्त होता है तो आपको उस प्रकार की शब्द योजना पूर्व में ही करनी चाहिए थी, किन्तु आपने तो वैसा न कहकर 'याग से स्वर्ग प्राप्त करना चाहिए' कहा है, अर्थात् 'अपूर्व' की अपेक्षा 'याग' को ही आप स्वर्ग-साधनत्व के रूप में महत्त्व देते हैं। यह समुचित नहीं है।

पूर्वपक्षी की उक्त शंका का परिहार (निराकरण) करते हुए मीमांसक पुन: समाधान प्रस्तुत करते हैं- कि जैसा कि पूर्व में कहा है- याग से अपूर्वोत्पत्ति होती है, और उस (अवांतर व्यापाररूपी) अपूर्व से स्वर्गोत्पत्ति होती है। इस प्रकार की कारण परंपरा होने के कारण 'श्रुति' ने याग को स्वर्ग का साधन कहा है, उस में किसी प्रकार का अनौचित्य नहीं है। क्योकिं लौकिक व्यवहार में भी ऐसा ही कहा जाता है। यथा- **'कुठारेण छिनत्ति'** ऐसा कहने पर, यहाँ 'कुठार' साधन है और 'छेदन' उस साधन से उत्पन्न होने वाला फल या कार्य है, परन्तु यथार्थ में देखाजाए तो कुठार के द्वारा छेदन करने के कार्य में कुठार के उद्यमन (ऊपर उठाना) और निपतन (नीचे गिरना) रूप अवान्तर व्यापार के द्वारा ही छेदन की यथार्थ क्रिया घटित होती है। फिर भी **'कुठारेण छिनत्ति'** ऐसा ही प्रयोग लौकिक व्यवहार में किया जाता है। इसी प्रकार 'श्रुति' वचन में भी कथित याग के साधनत्व के उपपन्न होने में कोई अनौचित्य नहीं है।

प्रकृत प्रसंग में पुन: संशय होता है कि- जिस प्रकार कुठार का अस्तित्व होने पर ही कुठार के उद्यमन और निपतन जनित अवांतर व्यापार घटित होते है; किन्तु कुठार का

१. यागजन्यमपूर्वं नष्टेऽपि यागे कर्त्रात्मन्यनुवर्तताम्, को दोष:? अतश्च सिद्धमपूर्वम्। तच्च यावत्फलोदयं यजमानात्मन्यवतिष्ठते। उत्पाद्य फलं विनङ्क्ष्यति। (तंत्रसिद्धान्तरत्नावलिः, द्वि.परि. अपूर्व निरूपण)

(८) शाब्दीभावना

तत्र पुरुषप्रवृत्त्यनुकूलो भावयितुर्व्यापारविशेषः शाब्दीभावना। सा च लिङंशेनोच्यते। लिङ्श्रवणेऽयं माम्प्रवर्तयति मत्प्रवृत्त्यनुकूल-व्यापारवानयमिति नियमेन प्रतीतेः। यद्यस्माच्छब्दान्नियमतः प्रतीयते तत्तस्य वाच्यम्। यथा गामानयेत्यस्मिन्वाक्ये गोशब्दस्य गोत्वम्।।८।।

तत्र शब्दभावनां लक्षयति-तत्रेति। तत्र तयोः शब्दभावनार्थभावनयोर्मध्य इत्यर्थः। परिस्पन्दपरिणामविलक्षणः पुरुषप्रवृत्यात्मकार्थभावनोत्पत्त्यनुकूलो लिङा-दिशब्दस्य व्यापारविशेषः शब्दभावनेत्यर्थः। शब्दभावनैव लिङ्त्वादिना लिङाद्यर्थ इत्याह-सा चेति। तस्या लिङाद्यर्थत्वेऽनुभवं प्रमाणयति-लिङ्श्रवण इति। अनुभवम-भिनयति

अस्तित्व न होने पर उक्त व्यापार घटित नहीं होते। उसी प्रकार विचार करने पर याग का अस्तित्व होने पर ही उसके अपूर्व रूप अवान्तर व्यापार की संभावना होगी, किन्तु यदि याग ही नष्ट हो जाता है तो उसका अवांतर व्यापार रूप अपूर्व भी किस प्रकार शेष रह सकेगा? ऐसी शंका होने पर, अपूर्व को याग से उत्पन्न होने वाली एक शक्ति के रूप में कल्पित कर लेना चाहिए। और इस शक्ति की कल्पना याग के साधनत्व को स्वीकार करने में किसी प्रकार बाधक नहीं होगी। जिस प्रकार अग्नि नष्ट होने पर उस अग्नि के द्वारा तप्त किये हुए जल में उष्णता रूप शक्ति विद्यमान रह सकती है, उसी प्रकार याग के नष्ट होने पर भी उस याग द्वारा उत्पन्न की गई 'अपूर्व' नामक शक्ति यजमान में बिना किसी बाधा के रह सकती है।[१] अतः सिद्धान्ततः यह स्वीकार करना चाहिए कि याग से अपूर्वनामक शक्ति का निर्माण होता है और उससे स्वर्गोत्पत्ति होती है।।७।।

__अनुवाद– तत्रेति। शाब्दीभावना__ और __आर्थीभावना__ इन दोनो में प्रयोज्य पुरुष की प्रवृत्ति के अनुकूल प्रयोजक के व्यापारविशेष को 'शाब्दी' भावना कहते हैं। शाब्दीभावना का बोध 'लिङ्' अंश से होता है। 'लिङंश' के श्रवण के पश्चात् प्रयोज्य पुरुष को यह बोध होता है कि 'यह प्रयोजक पुरुष मुझे कर्म में प्रवृत्त कराना चाहता है अर्थात् यह प्रयोजक पुरुष मेरी प्रवृत्ति को उत्पन्न करने वाले व्यापारवाला हैं,' यह अनुभव नियमतः 'लिङ्' शब्द के श्रवण के उपरान्त ही होता है। नियमतः जिस शब्द से जिस अर्थ का बोध होता है वह उस शब्द का वाच्य होता है। जैसे- __'गाम् आनय'__ इस वाक्य में 'गो' शब्द का अर्थ __गोत्व__ है।।८।।

।। अर्थमीमांसा ।।

प्रकृत प्रकरण में ग्रंथकार शाब्दभावना का लक्षण प्रतिपादित कर रहे हैं– **'पुरुषप्रवृत्त्यनुकूलो भावयितुर्व्यापारविशेषः शाब्दीभावना'**– इसका अर्थ इस प्रकार समझा जा सकता है- जैसे

---

१. शक्तिः कार्यानुमेयत्वाद्यद्गतैवोपयुज्यते।
तत्रैव साऽभ्युपेतव्या स्वाश्रयाऽन्याश्रयाऽपि वा।। (तन्त्रवार्तिक- पृष्ठ-३९८)

मदिति । यद्वा ननु कथमनुभूयमानत्वाल्लिङादिवाच्यत्वम्भावनाया लिङादेः प्रवर्तकत्वेऽपि तत्र भावनारूपव्यापारस्याननुभवादित्याशङ्क्य तं व्यापारं स्पष्टतयानुभावयति मदित्यादिना । पुरुषप्रवृत्यनुकूलं व्यापारं लिङादिशब्दनिष्ठतयानुभावयित्वात्तस्य लिङादिशब्दान्नियमेन प्रतीयमानत्वाल्लिङादिशब्दवाच्यत्वमित्यनुमानप्रदर्शनाय व्याप्तिं दर्शयति यदित्यादिना । तत्रोदाहरणमाह-यथेत्यादि ।।८।।

कल्पना कीजिए **गामानय**- गाय लाओ, इत्याकारक आज्ञात्मक वाक्य (का कथन) कोई आचार्य अपने देवदत्तनामक शिष्य को कहता है। उदाहरण में आचार्य **'भावयिता'**[१] या **'भावक'** है। उस भावक रूपी आचार्य के मन में इच्छा उत्पन्न होती है कि देवदत्तनामक शिष्य गाय को लाये और इस इच्छा से वह अपने शिष्य को प्रेरित करता है। यह जो उस भावकरूपी आचार्य की प्रेरणा है, वही उसका विशिष्ट प्रकार का व्यापार है- **'भावयितुर्व्यापारविशेषः'** भावक-आचार्य का व्यापार विशेष अपने शिष्य देवदत्त (पुरुष) में गाय लाने सम्बन्धी प्रवृत्ति को उत्पन्न करता है अर्थात् आचार्यकृत प्रेरणारूपी **'भावयितुर्व्यापार विशेष'** होता है। **'पुरुषप्रवृत्त्यनुकूल'** प्रकृत लक्षण में प्रयुक्त 'अनुकूल' का अर्थ 'जनक' समझना चाहिए। एवञ्च किसी के मन में विशेष कार्य करने की प्रवृत्ति को उत्पन्न करनेवाला जो किसी का प्रेरणारूपी मनोगत व्यापार होता है वही शाब्दीभावना होती है।

तात्पर्य यह है कि– जो भावयिता, भावक या प्रयोक्ता होता है, उसके मन में कोई इच्छा उत्पन्न होती है, फलत: वह (भावयिता या भावक आदि) दूसरे के मन में प्रेरणा या प्रवर्तना उत्पन्न करता है– (कारण) और उस प्रेरणा से दूसरे के मन में प्रवृत्ति का जन्म होता है (कार्य) ऐसा यहाँ कार्यकारण संबध है। कार्य-कारण सम्बन्ध से घटित होनेवाली प्रक्रिया का क्रम इस प्रकार है—

(१) इच्छा या अभिप्राय (२) प्रेरणा या प्रवर्तना और (३) प्रवृत्ति। प्रकृत क्रम में भावक का या प्रयोजक का जो मनोगत व्यापार विशेष होता है, उसे मीमांसक शाब्दीभावना के नाम से अभिहित करते हैं। यह शाब्दीभावना **'यजेत स्वर्गकामः'** इत्यादि विधिवाक्य के **'लिङ्त्व'** अंश से अवबोधित होती है (जानी जाती है) और **'आख्यातत्व'** अंश से आर्थीभावना जानी जाती है, (इसे आगे स्पष्ट किया जायेगा)। अब यदि कोई पूछे कि 'लिङ्त्व' अंश से शाब्दीभावना का अर्थ किस प्रकार व्यक्त किया जाता है? इस शंका का समाधान यह है कि **'यजेत'** इस पद में निहित 'लिङ्' शब्द का श्रवण करते ही श्रोता को अनुभव होता है कि 'लिङ्' शब्द का प्रयोगकर्ता (अर्थात् प्रयोजक) मुझे किसी कार्य के लिए प्रवृत्त कर रहा है। यदि उक्तभाव को शाब्दीभावना के लक्षण रूप में कहना हो तो यह कह सकते हैं कि श्रोता को यह अनुभव होता है- **'मत्प्रवृत्त्यनुकूलव्यापारवानयम्'**- अर्थात्

---

१. भावना, भविता, भवन, भावयिता ये समस्त शब्द 'भू' धातु से निष्पन परस्पर सापेक्ष है। जैसे– 'भाव्यते अनया इति भावना' अर्थात् जिसके द्वारा होने के लिए प्रेरित किया जाये उसे भावना कहते हैं। 'भावयति इति भावयिता' जो होने के लिए प्रेरित करता है वह 'भावयिता' है। 'भाव्यते इति भविता' अर्थात् जिसे होने के लिए प्रेरित किया जाये वह 'भविता' है एवं 'भवति इति भवनम्' अर्थात् होना 'भवन' है।

(९) शाब्द्या लौकिकवैदिकभेदौ

स च व्यापारविशेषो लौकिकवाक्ये पुरुषनिष्ठोऽभिप्रायविशेषः। वैदिकवाक्ये तु पुरुषाभावाल्लिङादिशब्दनिष्ठ एव। अत एव-शाब्दीभावनेति व्यवह्रियते ।।९।।

सा च शब्दभावना लोके वेदे च प्रवर्तनात्वेनैव लिङादिशब्दवाच्या तत्त्वेनैव च पुरुषप्रवृत्तिहेतुरिति स्वीकर्तव्यम्। अन्यथा प्रैषादेरनेकस्य पुरुषाशयविशेषस्य

प्रयोज्य पुरुष जब 'लिङ्' अंश का श्रवण करता है तब उसे यह ज्ञान होता है कि यह प्रयोजक पुरुष मुझे कर्म में प्रवृत्त कराना चाहता है। अतः इस प्रयोजक वृद्ध में मेरी प्रवृत्ति को उत्पन्न करने वाला व्यापार है। अथवा **'मत्प्रवृत्त्यनुकूलव्यापारवानयम्'** का अर्थ है- **'मत्प्रवृत्तिजनक-अभिप्रायवानयम्'** अर्थात् मेरे में (किसी कर्म विषयक) प्रवृत्ति जाग्रत हो, ऐसा इस प्रयोजक का अभिप्राय है। इस प्रकार **'लिङ्'** शब्द के श्रवण से श्रोता को नियमतः (नियम से) अर्थबोध होता है। और जिस शब्द से नियमतः (नियम से) जिस अर्थ का बोध होता है, उस शब्द का वह अर्थ (वाच्य) होता है। अर्थात् जिस शब्द से जो अर्थ नियमतः ज्ञात (प्रतीत) होता है, वही उस (शब्द) का वाच्यार्थ होता है [**यद्यस्माच्छब्दान्नियमतः प्रतीयते तत्तस्य वाच्यम्**] उदाहरणार्थ- **'गामानय'**- वाक्य में 'गो' शब्द का 'गोत्व' अर्थ है क्योंकि **'गो'** शब्द का उच्चारण करने पर नियमतः **'गोत्व'** की प्रतीति होती है। इसी प्रकार जब-जब **'लिङ्'** का श्रवण होता है, तब-तब **'मत्प्रवृत्त्यनुकूलव्यापारवानयम्'**- इत्याकारक शाब्दी-भावना का अर्थ नियमतः प्रतीत होने के कारण **'लिङ्त्व'** अंश से ही शाब्दीभावना व्यक्त की जाती है यह स्पष्ट है। क्योंकि, यदि कोई कहे कि यह अर्थ **'लिङ्त्व'** अंश से व्यक्त नहीं हो रहा है, तो उससे पूछना चाहिए कि किस के द्वारा व्यक्त होता है? **'गामानय'** वाक्य सुनते ही देवदत्तनामक शिष्य गाय लाने के लिये प्रवृत्त होता है। यह प्रवृत्ति **'गामानय'** वाक्य के **'लिङ्त्व'** अंश से यदि उत्पन्न नहीं होती है, तो अन्य किसी से भी उत्पन्न होनी चाहिए आखिर, वह किससे उत्पन्न होती है? हम देखते हैं कि **'गो'** (यह) पद, **'अम्'** (यह) विभक्तिप्रत्यय, **आ** पूर्वक **'नी'** (यह) धातु या उसके आगे का आख्यातत्व अंश- इन सबके होने पर भी 'गामानयति' इस वाक्य को सुनने के पश्चात् भी कोई गाय लाने के लिये प्रवृत्त होते दिखाई नहीं देता। किन्तु जब **'लिङ्'** का श्रवण होता है तब अवश्य गाय लाने की प्रवृत्ति उत्पन्न होती है, और जब लिङ् का श्रवण नहीं होता, तब गाय लाने की प्रवृत्ति कभी भी उत्पन्न नहीं होती। इस अन्वयव्यतिरेक को देखने पर स्पष्ट होता है कि प्रवृत्त्यनुकूल जो प्रवर्तक पुरुषनिष्ठ अभिप्रायविशेष है, वही **लिङ्** का अर्थ है[1]।।८।।

अनुवाद- सचेति। *वह व्यापार विशेष (शाब्दी भावना) लौकिकवाक्य में प्रयोजक पुरुषनिष्ठ व्यापार विशेष है। किन्तु वैदिक वाक्य में प्रयोजक पुरुष के अभाव के कारण यह भावना लिङादिशब्दनिष्ठ ही होती है। शब्दनिष्ठ होने के कारण इसे 'शाब्दीभावना' कहा जाता है।।९।।*

---

१. तादृशबोधकारणजिज्ञासायां आवापोद्वापाभ्यां लिङादेरेव प्रवृत्यनुकूलव्यापारवाचित्वमध्यवसीयते। (तन्त्रसिद्धान्तर विधिनिरूपणम्)

विधिवाच्यत्वानुपपत्तिः स्यात् आनन्त्यव्यभिचारे दोषप्रसङ्गात् । प्रवर्तनात्वञ्च प्रवृत्यनुकूलव्यापारत्वम् । अनुकूलत्वञ्च जनकत्वम् । तच्च लोके पुरुषाशयवृत्ति वेदे तु पुरुषाभावात्पुरुषाशयभिन्नस्यैव कस्यचिल्लिङ्गादिशब्दनिष्ठव्यापारविशेषस्य प्रवर्तनात्वमित्याशयेनाह- *स चेत्यादिना* । अत्रेदम्बोध्यम् । तस्य व्यापारविशेषस्य प्रवृत्तिविषयस्येष्टसाधनत्वानुमानद्वारा प्रवृत्तिजनकत्वमङ्गीकरणीयम् । अन्यथा प्रवृतिविषयस्येष्टसाधनत्वानाक्षेपे प्रवृत्त्यनुपपतिः स्यात् । तथा चानुमानम् । विमतमिदमिष्टसाधनमप्यत्र प्रवर्ततामित्याकारकाद्यनिष्टव्यापारविशेषविषयत्वाद्यन्नैवं तन्नैवं यथा प्रतारकवाक्योपस्थितम् । अत्र सुखे सुखं मे जायतामित्युदासीनस्य कस्यचिदिच्छाविषयत्वेऽपीष्टसाधनत्वाभावात्तत्र व्यभिचारव्यावृत्तहेयहेतावाकारकान्तम् । प्रतारकस्य तादृशेच्छाविषये व्यभिचारवारणायाप्तेति । आप्तत्वञ्च लोकवेदसाधारणं प्रतारणाद्यजन्यहिताहितो-

।। अर्थमीमांसा ।।

प्रवृत्ति के अनुकूल व्यापार क्या लोक एवं वेद में एक जैसे हैं अथवा भिन्न-भिन्न हैं? इस शंका का समाधान प्रस्तुत अवतरण में किया गया है। उपर्युक्त विवेचन में स्पष्ट किया गया है कि लिङ्-लोटादिसे प्रवृत्त्यनुकूलव्यापारविशेषरूपी शाब्दीभावना व्यक्त की जाती है। उस शाब्दी भावना के दो भाग हैं- **(१) लौकिक शाब्दीभावना और (२) वैदिक शाब्दीभावना**। इन दोनों में अन्तर यह है कि- **'गामानय'** जैसा कोई लौकिक व्यवहार का उदाहरणात्मक वाक्य लेने पर गाय लाने के लिए देवदत्त नामक शिष्य के मन में जो प्रवृत्ति उत्पन्न होती है, उसे होने के लिए जो व्यापारविशेष अर्थात् प्रेरणा, प्रवर्तना या अभिप्राय होता है, निश्चय ही वह आचार्य रूपी भावयिता, भावक या प्रयोजक पुरुष के मन में स्थित रहता है। किन्तु अब यदि **'यजेत स्वर्गकामः'** वैदिक वाक्य उदाहरणार्थ लेते है तो यहाँ लौकिक वाक्य जैसी स्थिति नहीं हो सकती। यहाँ लोक व्यवहार से विपरीत स्थिति है। क्योंकि **'गामानय'** इत्यादि लौकिक व्यवहार में 'गाय लाओ' ऐसी इच्छा करने वाला कोई आचार्यरूपी पुरुष ही हो सकता है। किन्तु **'यजेत स्वर्गकामः'** इत्यादि वैदिक व्यवहार में ('स्वर्ग चाहने वाला याग करे') ऐसी इच्छा करने वाला कोई पुरुष नहीं हो सकता। क्योंकि मीमांसकों के मत में वेद अपौरुषेय है। वहाँ प्रवर्त्तयिता कोई पुरुष नहीं है। अतः प्रवृत्तिजनक- अभिप्रायवान् कोई पुरुष वैदिकवाक्य को कहनेवाला न हो सकने के कारण प्रवृत्तिजनक अभिप्राय लिङादि शब्दों में ही निहित रहता है। और यह प्रवृत्तिजनक अभिप्राय लोकव्यवहार अथवा वेद में लिङादि शब्दों में ही रहने के कारण उसे 'शाब्दीभावना' कहा जाता है।[१] और इसे ही **चोदना,**

---

१. तत्र वेदस्याऽकृतकत्वेन पुरुषसम्बन्धाभावात् तत्राऽऽज्ञादीनां पुरुषाशयविशेषाणामसम्भवात् यजेत स्वर्गकाम' इति वाक्यश्रवणसमनन्तरं वेदस्थलिङादिप्रेरितोऽहं यागादिकं करोमि इत्यादि-व्यवहारदर्शनाच्च वैदिकलिङादिनिष्ठः प्रवर्तनाप्रेरणापरपर्यायःपुरुषप्रवृत्यनुकूलव्यापारः कश्चित् कल्प्यते। **न्यायसुधा**-भट्ट सोमेश्वर।

पदेशकर्तृत्त्वे सति तद्भिन्नोपदेशाकर्तृत्वम् । प्रतारणात्वे सर्वदा हिताहितोपदेशकर्त-र्यनाप्तेति प्रसगङ्गवारणायाजन्यान्तम् । कदाचित्प्रतारणाद्यजन्यतत्कर्तरि तद्दोषवार-णायोत्तरदलं हितस्योपदेशस्तत्सङ्ग्रहायाहितस्योपदेशश्च तत्परिहाराय बोध्यः । ततश्च तत्कर्तृत्वं लोके पुरुषविशेषे वेदे च यजेत स्वर्गकामो न कलजम्भक्षयेदित्यादि वाक्ये भवति । तथा च लौकिकवैदिकव्यापारयोर्व्यापारविशेषत्वेन सङ्ग्रहाय हेतौ विशेषपदम् । वैदिकश्च स व्यापारविशेषः । प्रवर्तना प्रेरणाविध्यपरपर्याया भावनैव नञ्रहिते वाक्ये लिङाद्यर्थः । लौकिकस्तु प्रैषोऽतिसर्गः प्रेरणाज्ञायाञ्चाध्येष-णानुज्ञानुमतिरित्यादि बहुविधो भवति । प्रमाणान्तरप्रमितेऽर्थे पुरुषनिष्ठा पुरुषप्रवर्तना प्रैषः । अतिसर्गःकामचारः । उत्कृष्टस्य निकृष्टम्प्रति प्रवर्तना प्रेषणाज्ञा चोच्यते । निकृष्टस्योत्कृष्टम्प्रति प्रवर्तनायाञ्चाध्येषणा चोच्यते । समम्प्रति समस्य प्रवर्तनोत्कर्षनिष्कर्षौदासीन्येन जातानुज्ञानुमतिश्चोच्यते । ते च प्रैषादयो ज्ञानविशेषा इच्छाविशेषा वा चेतनधर्माः । पुरुषस्याशयविशेषा एवेत्यभिप्रायेण ग्रन्थकारेणाप्युक्तम् । लौकिकवाक्ये पुरुषनिष्ठऽभिप्रायविषेष इति । तथा च ते एव लोके लिङाद्यर्थः ।

प्रवर्तना, प्रेरणा, विधि, उपदेश, आदि शब्दों से कहा जाता है।[१]

वेदों का अपौरुषेयत्व

'वेद पुरुषनिर्मित नहीं है'– इस विषय में न्यायप्रकाश में संक्षिप्त रूप से विवेचन किया गया है।[२]

'शाबरभाष्य' और **श्रीमाधवाचार्य प्रणीत जैमिनीयन्यायमालाविस्तर–** आदि ग्रंथों को देखने पर वेदों की अपौरुषेयता नितान्त स्पष्ट हो जाती है। इसके सम्बन्ध में पूर्वोत्तरपक्ष मननीय हैं।

पूर्वपक्ष का कथन यह है कि वेद अपौरुषेय न होकर वस्तुतः वह पुरुषकृत ही हैं, क्योंकि (१) वेद की कतिपय शाखाओं के नाम पुरुषों के नामों पर ही आधारित हैं। उदाहरणार्थ- **काठक, कौथुम, तैत्तिरीयक, कालापक, पैप्पलादक, मौहुल,** इत्यादि वैदिक भागों के नाम परिलक्षित होते है, वे निश्चय ही पुरुष नामों के सम्बन्ध पर उल्लिखित हैं, ऐसा स्पष्ट रूप से प्रतीत होता है। कारण यह है कि यहाँ जो तद्धित प्रत्यय किया गया है, वह पाणिनि के **'तेन प्रोक्तम्'** (४/३/१०१) सूत्रानुसार किया गया है। **'पाणिनिना प्रोक्तं पाणिनीयम्'** या **''व्यासेन प्रोक्तं वैयासिकं भारतम्''** इत्यादि स्थलों में जिस प्रकार

---

१. चोदना चोपदेशश्च विधिश्चैकार्थवाचिनः (श्लोकवार्तिक)।

२. 'न हि वेदः पुरुषनिर्मितः । वेदस्याध्ययनं सर्वं गुर्वध्ययनपूर्वकम् वेदाध्ययनसामान्यादधुनाध्ययनं यथा' ।। इत्यादिना वेदापौरुषेयत्वस्य साधितत्वात्। 'यः कल्पः स कल्पपूर्वः' इति न्यायेन संसारस्यानादित्वादिश्वरस्य च सर्वज्ञत्वादीश्वरो गतकल्पीयं वेदमस्मिन् कल्पे स्मृत्वा उपदिशतीत्येता-वतैवोपपत्तौ प्रमाणान्तरेणार्थमुपलभ्य रचित्वकल्पनानुपपत्तेश्च ।

तस्माल्लोके वेदे च व्यापार एव प्रवर्तनाख्ययो लिङादिवाच्यार्थ इति फलितम्। ननु किमत्र वाच्यताख्यं शक्यतावच्छेदकं शक्तताच्छेदकञ्च। अन्यथातिप्रसङ्गापत्ते-रितिचेदत्रोच्यते। लौकिके हि प्रैषादौ वैदिके च भावनारूपे व्यापारे साधारण-व्यापारत्वमेव पूर्वोक्तप्रवर्तनात्वरूपं शक्यतावच्छेदकमस्ति च लौकिके लिङादिपदे यस्याप्येतत् प्रवृत्तिहेतुभूतेष्टसाधनताद्यनुमितिजनके पुरुषाशयविशेषे प्रवृत्ति-प्रयोजकव्यापारत्वं वेदेऽपि लिङादिशब्दश्रवणात्तदुत्तरकाले यागादिप्रवृतिदर्शनेनेयं देवदत्तस्य यागादिप्रवृत्तिः। व्यापाराख्यप्रवर्तना ज्ञानपूर्विका अन्यप्रेरितप्रवृत्तित्वाच्चे-त्राशयज्ञानजन्यमैत्रगवानयनप्रवृत्तिवदित्यलौकिकमेव व्यापारमपौरुषेये वेदा इच्छादे-र्बाधादनुमाय तत्प्रतीतेर्लिङादिज्ञानान्वयव्यतिरेकानुविधायित्वे तत्र लिङादिवाच्यत्वञ्च परिकल्पय तस्य पूर्वोक्तविधया प्रवृत्तिहेतुभूतेष्टसाधनताद्यनुमापकतया बालस्तत्रापि प्र-वृतिप्रयोजकव्यापारत्वम्प्रतिपद्यते। कथन्तर्हिलोकेऽपि व्यापारप्रतिपत्तिरितिचेदित्थम्। उत्तमवृद्धस्य सविधिकवाक्यश्रवणोत्तरकालभाविनीं मध्यमवृद्धस्य गवानयनप्रवृत्ति-मुपलभ्य बालो लोकेऽपि तत्प्रयोजकव्यापारमनुमिमीते। तथाहि। गवानयनानुकूलो-त्तमवृद्धवाक्यश्रवणोत्तरभाविनी मध्यमवृद्धप्रवृत्तिः। प्रवर्तनाज्ञानपूर्विका अन्यप्रेरित-प्रवृतित्वान्मद्रोदनपूर्वकं मदीयभोजनादौ मदाभिप्रायजन्यमन्मातृप्रवृत्तिवत्। अत्र स्वतः-सिद्धप्रवृताविष्टसाधनताज्ञानजन्यस्वप्रवृत्तौ च व्यभिचारवारणायान्यप्रेरितेति विशेषणम्।

पौरुषेयत्व प्रतीत होता है, उसी प्रकार 'तेन प्रोक्तम्' सूत्रानुसार काठक, कौथुम आदि शब्द भी तद्धित प्रत्यय से निष्पन्न हैं। अत: काठक, कौथुम इत्यादि वेदशाखाएँ भी पुरुषकृत होनी चाहिए, ऐसा प्रतीत होता है।

(२) क्योंकि, वेदों में उल्लिखित वाक्य भी लौकिक कवि कालिदासादि के द्वारा रचित वाक्यों की तरह ही हैं। दोनों में साम्य परिलक्षित होता है। अत: कालिदासादि कवियों द्वारा रचित वाक्य जिस प्रकार पौरुषेय-पुरुषकृत हैं, उसी प्रकार वेद-वाक्य भी पुरुषकृत-पौरुषेय ही होने चाहिए।

(३) इनके अतिरिक्त पौरुषेयवाक्यों में जिस प्रकार अनित्यत्व परिलक्षित होता है, उसी प्रकार कुछ वैदिक वाक्यों में भी अनित्यत्व की प्रतीति होती है। जैसे, **'बवरः प्रावाहणिरकामयत' 'कुसुरुविन्द औद्दालकिरकामयत'** इत्यादि वाक्यों का उल्लेख वेद में दिखाई देता है। यहाँ औद्दालकि शब्दके अर्थ का विचार करने पर ज्ञात होता है कि व्याकरण के नियमानुसार अपत्यार्थ में उद्दालक का जो अपत्य वह औद्दालकि है। अत: वेद में 'औद्दालकी ने इच्छा की' यह वाक्य प्रयुक्त (या अंकित) है, अत: वेद निश्चय ही उद्दालक के पुत्र, औद्दालकि के जन्म के पूर्व अस्तित्व में नहीं था, अर्थात् औद्दालकि के जन्म के पश्चात् उस वेद का अस्तित्व होना चाहिए। एवञ्च 'वेद' अनित्य है, और वे पुरुषरचित हैं।

पूर्वपक्ष की शंका का निराकरण करने के लिए उत्तरपक्ष का यह कहना है कि वेद

किञ्च प्रवर्तनाज्ञानं उत्तमवृद्धवाक्यजन्यम् । तदन्वयव्यतिरेकानुविधायित्वाद्दण्डान्वयव्यतिरेकानुविधायिघटवत् । किञ्च यस्माच्छब्दाद्यत्प्रतीयते तत्तद्वाच्यघटपदवाच्यघटत्ववदित्युत्तमवृद्धवाक्यस्य मुग्धाकारां शक्तिं व्यापाराख्यप्रवर्तनायामवधार्य तत्रचावापोद्वापाभ्यां विधिशक्तिं तस्यामवधारयति । एवं सर्वत्रोह्यम् । तस्माल्लोकवेदसाधारण्येन व्यापारत्वमेव शक्यतावच्छेदकमिति सिद्धम् । शक्ततावच्छेदकं तु लिङ्त्वलेट्त्वलोड्त्वादिकम्बोध्यम् । किञ्च यद्यपि निरुक्तविधया व्यापारत्वेनैव सामान्यरूपेण व्यापारज्ञानं तच्च विशेषज्ञानसापेक्षमतिप्रसङ्गवारणाय तथापि प्रमाणविशेषबोधः सुलभः । यथा घटवद्भूतलमित्यादौ घटपदाद् घटत्वावछिन्नघटमात्रप्रतीतावपि तस्य योग्यसंसर्गेण भूतलादावन्वये बुद्धे तत् संसर्गस्य तत्त्वेन जिज्ञासायाम्प्रत्यक्षादिप्रमाणान्तरेणैव संयोगत्वादिना संयोगादिरूपसंसर्गप्रतीतिर्भूतलवृतिघटविशेषप्रतीतिश्च भवति । तथा लिङादिपदाद्व्यापारत्वावच्छिन्नव्यापारमात्रस्योपस्थितावपि तस्याख्यातोपात्तार्थभावनाया योग्यसंसर्गेणान्वये बुद्धे पश्चात्तत्संसर्गस्य तत्त्वेन जिज्ञासायाम्प्रवृतिप्रयोजकत्वानुपपत्यादिना प्रमाणेनैव विशेषरूपेण संसर्गविशेषप्रतीतिर्यागादिप्रवृतिसम्बन्धिव्यापारविशेषप्रतीतिश्च भवति । संसर्गविशेषस्तु तत्तत्प्रवृत्तिप्रागभावकाले यल्लिङादिपदज्ञानन्तेनोत्पादितं यत्प्रेरणाज्ञानं तज्जन्येष्टसाधनताद्यनुमितिप्रयोज्यत्वम् । तेन च व्यापारवती यागादिप्रवृतिरिति भवति विशेषनिर्णयः । एवं च लोके वेदे च

शाखाओं के काठक, कौथुम आदि जो नामोल्लेख हैं उनसे उन शाखाओं के कर्ताओं या रचयिताओं का बोध नहीं होता है, अपितु वे तो उन-उन शाखाओं के अध्ययन-सम्प्रदायों को विशेष रीति से प्रवर्तित करने वाले ऋषियों के नामों के बोधक हैं। **'काठक'** शाखा का नाम कठ ऋषि के द्वारा नवनिर्मित होने से या कठ ऋषि के कर्तृत्व का सूचक नहीं है अपितु वस्तुतः उस शाखा के अध्ययन संप्रदाय को विशिष्ट प्रकार से कठ ऋषि द्वारा प्रवर्तित किये जाने के कारण, उस शाखा को 'काठक' नाम से जाना जाता है। इसके अतिरिक्त जिन विशिष्ट ऋषियों ने शाखाध्ययनों के ऐसे कतिपय विशिष्ट संप्रदाय प्रवर्तित किये हैं, उनके उल्लेख भी दृष्टिपथ में आते हैं। उदाहरणार्थ **''वैशंपायनः सर्वशाखाध्यायी, कठः पुनरिमां केवलां शाखामध्यापयांबभूवेति'** इस स्मृतिवचन के अनुसार 'कठ' ने उक्त शाखा का अध्ययन विशिष्ट प्रकार से करने के कारण उस शाखा को **'काठक'** इस असाधारण विशेषण के द्वारा जाना जाता है। या उस शाखा को 'काठक' कहा जाता है।

(२) पूर्वपक्षकार ने यह जो कहा है कि कालिदास आदि के वाक्य जैसे पौरुषेय हैं, वैसे ही वेद के वाक्य पौरुषेय हैं अतः वेद वाक्य भी पौरुषेय ही होने चाहिए, यह कथन भी समुचित नहीं है। कारण यह है कि कालिदासादिकृत ग्रंथों के भिन्न-भिन्न सर्गों के अन्त में उस काव्य के कवि या कर्ता का नाम अंकित होता है। उसी प्रकार वेद भी यदि पौरुषेय ही हैं तो उसके कर्ता या रचयिता पुरुष का नाम भी वेद में कहीं न कहीं अंकित होता, किन्तु वेद में

लिङादिश्रवणे प्रैषादिरूपस्य वक्तृभिप्रायस्य भावनारूपस्य च व्यापारविशेषस्य व्यापारत्वेनैव रूपेण प्रतीतिर्न विशेषरूपेण तथैव शक्तिग्रहात् । विशेषरूपेण प्रतीतिस्तु लोकेऽजहल्लक्षणयैव वेदे तु विशेषरूपाकाङ्क्षायाम्प्रैषादिरूपस्य वक्त्राशयविशेषस्यापौरुषेये वेदेऽसम्भवेन लिङादिशब्दनिष्ठ एव प्रेरणापरपर्यायः कश्चिद्व्यापारो विशेषरूप इत्युक्तमेव । तस्मान्निरुक्तव्यापार एव लिङाद्यर्थो नेष्टसाधनत्वादिरिति सिद्धम् । नन्विष्टसाधनत्वमेव प्रवर्तनात्वेन रूपेण वेदे लिङाद्यर्थ इति *मण्डनमिश्रा* वन्दति । अर्थभावनाभिधानानुकूला या लिङादिनिष्ठशक्तेरेवाभिधाख्यायाः प्रवर्तनात्वेन रूपेण लिङादिवाच्यत्वं परिकल्प्य तज्ज्ञानस्य प्रवृतिम्प्रति कारणत्वमात्रवेदे कल्प्यते इति तु पार्थसारथिर्वदति । लिङादिश्रवणोतरम्प्रवृत्तिदर्शनात्प्रवृत्तिसामग्रीजननद्वारा लिङादिज्ञानस्य प्रवृत्तावुपयोग इति तावदविवादम् । तत्सामग्री च कृतिसाध्यत्वप्रकारकेच्छारूपा चिकीर्षा तस्याश्च स्वरूपसत्याः कारणत्वात्तत्र लिङादिज्ञानस्यानुपयोगेऽपि चिकीर्षाकारणीभूतज्ञाने तदुपयोगः कल्प्यते । तच्च बलवदनिष्टाननुबन्धित्वज्ञानं कृतिसाध्यत्वज्ञानमिष्टसाधनत्वज्ञानञ्च अन्यतमाभावे इतरद्वयसत्वेऽपि मधुविषान्नभोजने चन्द्रस्पर्शे मण्डलीकरणादौ वा प्रवृत्यनुत्पतेः । तस्माल्लिङादिज्ञानेन त्रितयज्ञानजननाल्लिङादेर्बलवदनिष्टाननुबन्धित्वे कृतिसाध्यत्वे इष्टसाधनत्वे च शक्तिरिति तार्किकाः । तस्मात्कथं व्यापारस्य लोकवेदसाधारणस्य लिङाद्यर्थत्वमिति चेदत्रोच्यते- न तावदिष्टसाधनत्वं लिङाद्यर्थत्वं इष्टसाधनत्वज्ञानादेव प्रवृत्युपपत्तौ गुरुप्रेरितोऽहं जलमान-

---

कहीं भी उसके कर्ता का नाम उल्लिखित नहीं है। इसलिए वेद अपौरुषेय ही होना चाहिए, ऐसा निश्चय करना ही पड़ेगा।

(३) **'बवरः प्रावाहणिरकामयत।'** इत्यादि वचनों के आधार पर वैदिक वाक्यों में निहित अनित्यत्व के सम्बन्ध में जो आक्षेप किया जाता है, उसका निराकरण यह है कि– उक्त वचन का अर्थ वस्तुत: वेद के नित्यत्व का द्योतक है। **'यः कल्पः सः कल्पपूर्वः'** वचन के अनुसार जैसा पूर्वकल्प में था, वैसा ही उत्तरवर्ती कल्प में प्रवहमान होने के कारण प्रत्येक युग में पूर्व कल्प से प्रवाहित होकर आया हुआ प्रवाह ही नित्यत्व के रूप में आगे प्रवहमान होने के कारण प्रत्येक युग में दिखाई देनेवाले ये बवरादिको के उल्लेख वेद को अनित्य प्रस्थापित नहीं कर सकते।

(४) इसके अतिरिक्त **'त्रयो वेदा अजायन्त'** इत्यादि वेदोत्पत्तिवाचक वाक्य केवल अर्थवादात्मक होने के कारण वे विधि के प्रामाण्य के लिए किसी भी प्रकार आपत्तिजनक सिद्ध नहीं हो सकते।

(५) उसी प्रकार **'यस्य निःश्वसितं वेदाः'** इस वाक्य के आधार पर भी- 'वेद उत्पन्न हुए हैं' ऐसा नहीं माना जा सकता। वेद का कर्ता कौन है? यह किसी को भी ज्ञात न होने के कारण या अस्मर्यमाणकर्तृकत्व रूप हेतु से वेद उत्पन्न न होकर वे अपौरुषेय ही हैं, यह

यामीत्यादौ गुर्वादेः प्रवर्तकत्वव्यवहारानुपपत्तेः । न च प्रवृत्तिजनकेष्टसाधनताबोधकलिङुच्चारयितृत्वात्तस्य प्रवर्तकत्वव्यवहार इति वाच्यम् । राजप्रेरितपदातिस्तादृशलिङुचारयितृत्वेन प्रवर्तकत्वापत्तौ पदातिप्रेरितोऽहन्न गामानयामि किन्तु राजप्रेरित इति पदातौ प्रवर्तकत्वाभावव्यवहारानुपपत्तेः । न चान्यप्रेरितत्वे सति तादृशलिङुच्चारयितृत्वं प्रवर्तकत्वमिति वाच्यम् । पिशुनप्रेरिते राज्ञि प्रवर्तकत्वानुपपत्तेः । ततश्च तादृशव्यवहारबलात्प्रवृत्तिकारणीभूतज्ञानविषयाशयविशेषाश्रयत्वनैव राजादेः प्रवर्तकत्वं वाच्यम् । न चाशयविशेषस्य लिङादिवाच्यत्वाभावे ततस्तज्ज्ञानं सम्भवति । तस्माल्लिङादिवाच्यत्वन्तस्येति नाप्यर्थभावनाभिधानानुकूलाया शक्तेर्लिङाद्यर्थत्वं सङ्ख्याभिधानानुकूलशक्त्या लिङ्त्वादिनैव वा विनिगमनाविरहात् । नापि बलवदनिष्टाननुबन्धित्वादेर्लिङाद्यर्थत्वं शक्तित्रयकल्पनायाङ्गौरवप्रसङ्गात् । बलवदनिष्टाननुबन्धित्वज्ञानाभावेऽपि बलवदनिष्टानुबन्धित्वज्ञानाभावमात्रेणेष्टसाधनत्वज्ञानादिनैव प्रवृत्तेरनुभवसिद्धत्वाच्च । तस्माद्बलवदनिष्टानुबन्धित्वज्ञानम्प्रवृतिप्रतिबन्धकन्तदभावश्च स्वरूपसन्नेव तत्कारणमिति स्वीकर्त्तव्यम् । तस्मान्निरुक्तस्य व्यापारस्यैव लिङाद्यर्थत्वं सर्वत्र नेष्टसाधनत्वादेरिति सिद्धम् । अभिधाभावनामाहुरन्यामेव लिङादय इति वार्तिकानुरोधेनाह अतएवेति । शब्दनिष्ठत्वादेवेत्यर्थः । अभिधाशब्देनाभिधीयतेऽनेनेति व्युत्पत्या शब्द उच्यते । तस्य व्यापारविशेषो भावना तां स्वनिष्ठामन्यामर्थभावनाभिन्नां लिङादय आहुरिति वार्तिकवचनार्थः ।।९।।

पूर्णतः सिद्ध है। अतः **'यस्य निःश्वसितं वेदाः'** इस वाक्य से केवल इतना ही ज्ञात होता है कि निःश्वास की तरह वेद अप्रयत्नसिद्ध हैं।

(६) अन्य एक शंका उत्थापित की जाती है कि **'वनस्पतयः सत्रमासत, सर्पाः सत्रमासत, गावो वा एतत्सत्रमासत्'** इस प्रकार के वचन वेद में परिलक्षित होते है। कोई विक्षिप्त व्यक्ति या कोई छोटा बालक जैसे कुछ भी बड़बड़ाता है, तद्वत ये वाक्य प्रतीत होते हैं। वस्तुतः वनस्पतियों ने सत्र किया, सर्पों ने सत्र किया, गायों ने सत्र किया, इत्यादि बातें कैसे संभव हो सकती हैं? अतः इस प्रकार की विक्षिप्त प्रलाप जैसी बातें वेद में होने के कारण क्या संपूर्ण वेद को अप्रामाण्य प्राप्त नहीं होता? इस शंका का समाधान यह है कि ये सभी वाक्य अर्थवादात्मक हैं और उनमें सत्र की स्तुति की गई है। उत्तरपक्षी के विचार में वनस्पतियों ने अचेतन होकर भी जब सत्र का आचरण किया तब विद्वान् ब्राह्मणों को भी ऐसा करना चाहिए, यह कहने की क्या आवश्यकता है? इस प्रकार की स्तुति वेद में होने से तथा उक्त वाक्यों का पर्यवसान अर्थवाद में होने के कारण वेद के प्रामाण्य को किसी प्रकार कि बाधा नहीं पहुँचती, यह स्पष्ट है।

उपर्युक्त विवेचन से यह सिद्ध होता है कि वेद अपौरुषेय ही हैं। और वेद का कर्ता कोई न होने से **'यजेत स्वर्गकामः'** इत्यादि विधि वाक्यों में निहित प्रवृत्तिजनक अभिप्राय पुरुषनिष्ठ न हो सकने के कारण, वह शब्दनिष्ठ ही है।।९।।

(१०) शब्दभावनाया अंशत्रयम्

सा च भावनांशत्रयमपेक्षते। साध्यं साधनमितिकर्तव्यताञ्च। किम्भावयेत्केन भावयेत्कथं भावयेदिति। तत्र साध्याकाङ्क्षायां वक्ष्यमाणांशत्रयोपेता आर्थीभावना साध्यत्वेनान्वेति। एकप्रत्ययगम्यत्वेन समानाभिधानश्रुतेः। संख्यादीनामेकप्रत्ययगम्यत्वेऽप्ययोग्यत्वान्न साध्यत्वेनान्वयः। साधनाकाङ्क्षायां लिङादिज्ञानं करणत्वेनान्वेति। तस्य च करणत्वं न भावनोत्पादकत्वेन, तत्पूर्वमपि तस्याः शब्दे सत्वात्। किन्तु भावनाज्ञापकत्वेन, शब्दभावनाभाव्यनिर्वर्तकत्वेन वा। इतिकर्तव्यताकाङ्क्षायामर्थवादज्ञाप्यप्राशस्त्यमितिकर्तव्यतात्वेनान्वेति ।।१०।।

सा च निरुक्ता शब्दभावना साध्याद्यंशत्रयापेक्षया तादृशांशत्रयवती भवतीत्याह- *सा चेत्यादिना*। साध्याकाङ्क्षामाभिनयति किमित्यादिना-तत्रेति। साध्यादिभाव-

---

*अनुवाद– **सा चेति**। वह शाब्दीभावना तीन अंशों की अपेक्षा करती है। ये तीन अंश हैं- (१) **साध्य** (२) **साधन,** और (३) **इतिकर्तव्यता**। इन अंशो का स्वरूप इस प्रकार है (१) **किं साधयेत्**-क्या किया जाय? (२) **केन भावयेत्**-किससे किया जाय? और (३) **कथं भावयेत्**-कैसे किया जाय? **तत्रेति**। शाब्दीभावना को साध्य की आकांक्षा होने पर 'अंशत्रयोपेता' तीन अंशों से युक्त, जिनका स्वरूप आगे बताया जायगा, आर्थीभावना 'साध्य' रूप में अन्वित होती है। दोनों भावना, शाब्दीभावना और आर्थीभावना, एक ही प्रत्यय 'त' (लिङ्) के द्वारा जानी जाती है, क्योंकि समानाभिधान 'त' प्रत्यय का श्रवण रूप श्रुति प्रमाण उपलब्ध है। यद्यपि संख्या और काल भी समान प्रत्यय बोध्य हैं तथापि उनमें शाब्दीभावना के साध्य होने की योग्यता नहीं है, इस हेतु वे साध्यरूप में अन्वित नहीं होते। शाब्दीभावना को साधन की आकांक्षा होने पर 'लिङ्गादि ज्ञान' का करणत्वेन अन्वय होता है। लिङादि ज्ञान को शाब्दीभावना का करण इसलिए नहीं माना जाता कि वह शब्दभावना को उत्पन्न करता है क्योकिं लिङादि ज्ञान से पहले भी शब्द में शाब्दीभावना विद्यमान है। (अतः शब्दभावना का उत्पादक 'लिङादि ज्ञान' नहीं हो सकता) किन्तु भावना का (ज्ञापक) प्रकाशक होने के कारण 'लिङादि ज्ञान' में साधनत्व माना गया है। अथवा इसे ऐसे कहा जा सकता है कि 'लिङादि ज्ञान' से शाब्दीभावना के भाव्य-आर्थीभावना की उत्पत्ति होती है। इस हेतु 'लिङादि ज्ञान' को शाब्दीभावना के करणत्व रूप से अन्वित किया जाता है। **इतिकर्तव्यता** की आकांक्षा होने पर अर्थवाद वाक्य से ज्ञात प्रशंसा ही इतिकर्तव्यता रूप में अन्वित होती है।।१०।।*

।। अर्थमीमांसा ।।

प्रकृत प्रकरण में शाब्दीभावना के अंशत्रय का विवेचन किया गया है। उसके तीन अंश

नांशेऽपीत्यर्थः । वक्ष्यमाणेति । वक्ष्यमाणा या स्वर्गादिरूपसाध्याद्यंशत्रयोपेतेत्यर्थः । एकप्रत्ययगम्यत्वेनेति । समानाभिधानश्रुतेः प्रमाणार्थभावनाया एव शब्दभावनासाध्यत्वमनयोरेकलिङादिप्रत्ययगम्यत्वेनैकलिङादिप्रत्ययशब्दात्मिकायाः समानाभिधानश्रुतेः सत्त्वादित्यर्थः । एतेन यागादेः साध्यत्वाशङ्का निरस्ता तस्यैकपदादिश्रुतिगम्यत्वेनैकप्रत्यरूपसमानाभिधानश्रुत्यगम्यत्वात् । शब्दार्थभावनयोस्त्वेकाभिधानश्रुतिगम्यत्वेन सन्निकृष्टयोर्भवति विवक्षितः सम्बन्ध इति द्रष्टव्यम् । ननु सङ्ख्यादीनामपि शब्दभावनाभाव्यत्वं स्यात्तेषामप्येकप्रत्ययगम्यत्वेन समानाभिधानश्रुतेरविशेषादिति चोद्यमुद्भाव्य परिहरति- *सङ्ख्यादीनामित्यादिना* । आदिना कालादिपरिग्रहः । सङ्ख्यादीनां साध्यत्वेनान्वयाभावे हेतुमाह- *अयोग्यत्वादिति* । अपुरुषार्थत्वेन तत्साधनताशून्यत्वेन च सङ्ख्यादीनां साध्यत्वयोग्यतानाश्रयत्वादित्यर्थः । शब्दभावनाया भाव्यसाकङ्क्षत्वाद्भाव्यान्तरस्य चादर्शनादर्थभावनायाश्च विधिप्रयोज्यत्वात्पुरुषार्थानुसम्बन्धित्वाच्च तस्या एव समानाभिधानश्रुतेः । शब्दभावनाभाव्यत्वमिति समुदायतात्पर्यम् । तदेवमर्थभावनायाः पुरुषार्थहेतुतया शब्दभावनाभाव्यत्वमुक्तं तत्र च करणाकाङ्क्षायां करणान्तरस्यादर्शनात्करणांशं लिङादिविधिशब्दज्ञानमेवाह- साधनेत्यादिना । यद्वा लिङादिशब्दव्यापारस्य सर्वदा पुरुषप्रवृत्तिजनकत्वं किं न स्यादित्याशङ्क्य करणरूपसहकार्यभावान्नैवमित्याशयेनाह- *साधनेत्यादिना* । अतएव ग्रन्थकारेणाप्युक्तं भावनायाः

---

(१) **साध्य** (२) **साधन** और (३) **इतिकर्तव्यता** हैं। किसी भी क्रिया के लिए इन तीन अंशों की सदा अपेक्षा रहती है। ये तीन अंश क्रिया को प्राप्त हुए बिना उस क्रिया की सार्थकता अथवा परिपूर्णता कदापि नहीं हो सकती। यह व्यवहार का एक सामान्य अनुभव है। किसी को कुछ करने के लिए कहा जाने पर **क्या करना है? वह किस साधन से किया जाना है?** और **वह किस प्रकार से करना है?** ये तीन प्रश्न अर्थात्- **'किं भावयेत्** (क्या किया जाये) **केन भावयेत्** (किससे किया जाये) और **कथं भावयेत्** (कैसे किया जाये) अनायास ही किसी के भी मन उत्पन्न होते हैं। प्रकृत प्रसंग में भी **'यजेत'** इस क्रिया पद में निहित **'लिङ्'** से शाब्दीभावना के द्वारा यहाँ भी कुछ (भी) **'भावयेत्'** (**साधयेत्** करे, करो) कहा गया है। अत: **'भावयेत्' क्रिया को भी 'किं भावयेत्', 'केन भावयेत्'** और **'कथं भावयेत्'** ये तीन प्रश्न-अर्थात् **क्या करना है, किस साधन से** करना है, और वह किस प्रकार करना है अर्थात् साध्य, साधन और इतिकर्तव्यता की आकांक्षा होती ही है। इन्हें ही **साध्याकांक्षा, साधनाकांक्षा** और **इतिकर्त्तव्यताकांक्षा** इन तीन नामों से क्रमशः अभिहित किया जाता है। किसी भी भावना (क्रिया) के लिये उक्त तीन अंश अपेक्षित होते हैं, जिनके बिना भावना 'भावना' पद से अभिहित नहीं हो सकती।

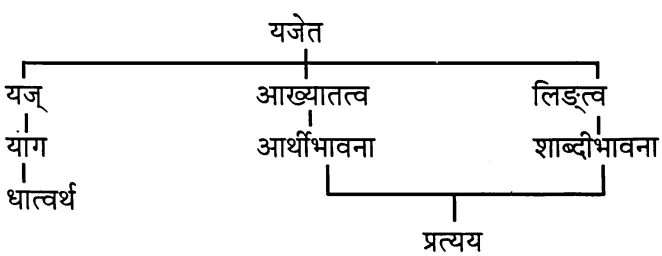
प्रकृत प्रसंग में भी **'भावयेत्' 'करे'** ऐसा कहा जाने पर सर्वप्रथम **'क्या करना है'?** इस प्रकार की 'साध्याकांक्षा' उत्पन्न होती है। अर्थात् शाब्दीभावना का 'साध्य' क्या है? 'साध्य' की आकांक्षा होने पर हमें उसके उत्तररूप में **'शाब्दीभावना का साध्य 'आर्थीभावना'** की प्राप्ती होती है। जिस प्रकार यहाँ तक भावना के एक प्रकार- **'शाब्दीभावना'** का स्वरूप

करणत्वेनैवान्वयं लभते न तु शब्दभावनात्वेनापि कल्पनायां गौरवप्रसङ्गात्। ज्ञानस्य पुरुषनिष्ठत्वेन शब्दनिष्ठत्वाभावाच्छब्दभावनात्वासम्भवप्रसङ्गाज्ज्ञानस्य तृतीयक्षण-वृत्तिध्वंसप्रतियोगित्वेन शब्दभावनाया नित्यत्वव्याघातप्रसङ्गाच्च। शब्दभावना तु निरुक्त एव व्यापारविशेष इति भावः। लिङादिज्ञानमित्यत्र लिङादिधर्मस्य भावनारूपस्य वा ज्ञानं विवक्षितम्। तदेव च शब्दभावनायाः करणांशम्। तथाचोक्तम्। लिङादि-शब्दव्यापारः पुरुषप्रवृत्तिलक्षणार्थभावनालक्षणाभाव्यनिष्ठः। स्वज्ञानकरणक इति द्रष्टव्यम्। ज्ञापकत्वमत्र प्रकाशकत्वमेव। तथाच तादृशधर्माज्ञाने सत्येव पुरुषप्रवृत्ति-दर्शनेन तस्य वक्ष्यमाणपुरुषप्रवृत्तिनिर्वर्तकत्वेन शब्दभावनाकरणत्वन्नानुपपन्नमिति भावः। अन्ये त्वाहुः। विधिशब्दस्य पुरुषप्रवृत्तिरूपार्थभावनाज्ञानहेतुर्व्यापारस्तद्वाचक-शक्तिमत्तया विधिशब्दज्ञानं स एव च तस्य प्रवृत्तिहेतुर्व्यापार इति प्रवर्तनाभिनीय कं लभते ज्ञानद्वारेणैव शब्दस्य प्रवृत्तिजनकत्वात्। ज्ञानजनकव्यापारातिरिक्तव्यापारकल्पने मानाभावात्। ज्ञानकरणकश्च व्यापारस्तस्य स्वज्ञानं शक्तिज्ञानं शक्तिविशिष्टस्वज्ञानञ्च तत्राद्ययोरन्यतरस्य शब्दभावनात्वं तृतीयस्य तु तत्र करणत्वमिति विवेक इति। तस्य च लिङादिज्ञानस्य शब्दभावनोत्पादकत्वेन तत्करणत्वं सम्भवति। तस्माल्लिङादि- ज्ञानात्पूर्वमपि तस्याः

विवेचन किया गया है, उसी प्रकार भावना का जो दूसरा प्रकार **'आर्थीभावना'** है, उसका विवेचन ग्रंथकार आगे करेगें और बतलायेंगे कि भावना होने के नाते **'आर्थीभावना'** के भी (शाब्दीभावना की तरह) उक्त तीन अंश **साध्य, साधन** और **'इतिकर्तव्यता'** होते हैं। अंशत्रय से युक्त 'आर्थीभावना' शाब्दीभावना की **'भावयेत्'** क्रिया का कर्म अर्थात् साध्य होती है। यह आर्थीभावना क्या है? और वह शाब्दीभावना का 'कर्म' कैसे होती है? इसे आगे बताया जायेगा।

अब यहाँ एक प्रश्न उत्पन्न होता है कि **'यजेत'** पद के 'लिङ्' से प्रतिपादित होने वाली **'भावयेत्'** क्रिया का कर्म (साध्य) क्या है? अर्थात् किसे कर्म माना जाए? इसके पूर्व कहा जा चुका है कि **'भावयेत्'** क्रिया का साध्य या कर्म आर्थीभावना होती है। किन्तु यहाँ एक शंका उत्पन्न होती है कि क्या अन्य किसी में कर्म या साध्य होने की योग्यता नहीं है? यदि गंभीरतापूर्वक विचार करें तो स्थिति स्पष्ट हो सकती है। जैसे–

'यजेत' में (१) **'यज्'** (२) **आख्यातत्व** और (३) **लिङ्त्व** ये तीन अंश है। इनमें से 'यज्' धातु से **'याग'** रूप अर्थ को व्यक्त किया जाता है, **आख्यातत्व** के द्वारा आर्थीभावना को प्रकट किया जता है और **लिङ्त्व** से शाब्दीभावना को दर्शाया जाता है। वह इस प्रकार है—



शब्दभावनायाः शब्दे विद्यमानत्वेन तदुत्पादकत्वासम्भवादित्याह- *तस्य चेत्यादिना* **। ननु कथं लिङादिज्ञानस्य भावनासाधकत्वेन तत्करणत्वन्न स्वीक्रियते। चक्षुरादेस्तत्सन्निकर्षस्य वा रूपादिज्ञानसाधकत्वेनैव तत्करणत्वदर्शनादिति चोदयति किन्त्विति। समाधत्ते** *भावनेत्यादिना* **। यथा कुठारस्य छिदिक्रियाभाव्यद्वैधीभावनिर्वर्तकत्वेन छिदि भावनाकरणत्त्वन्तथा लिङादिज्ञानस्य शब्दभावनाभाव्यार्थभावनानिर्वर्तकत्वेन शब्दभावनाकरणत्वमिति भावः। तथाचोक्तं कुठारादीनामपि छिदिक्रियाभाव्यद्वैधीभावनिर्वर्त्तनद्वारेण छिदिभावनाकरणत्वप्रदर्शनादिति। किंच रूपादिज्ञानस्य चक्षुःसन्निकर्षादेः प्रागसत्वेन तस्य तत्साधकत्वेन तत्करणत्वं शब्दभावनायास्तु प्रागपि सत्वेन लिङादिज्ञानस्य तत्साधकत्वेन तत्करणत्वासम्भवेऽपि तद्भाव्यार्थभावनानिर्वर्तकत्वेन तस्य शब्दभावनाकरणत्वं कुठारवदुपपद्यते। ननु कुठारस्य तु छिदिक्रियानिर्वर्तकत्वमपि भवतीतिचेत्सत्यम्। दृष्टान्तस्तु यथा कुठारस्य छेदननिर्वर्त्तकत्वेऽपि तस्याफलत्वेन छिदिक्रियाभाव्यद्वैधीभावफलनिर्वर्तकत्वेनैव तत्करणत्वमिति द्रष्टव्यः। ननु पुरुषो लिङादिज्ञानेन स्वप्रवृतिम्भावयेदित्युक्ते सर्वेषामेव यागादौ प्रवृतिः किन्नस्यादित्याशङ्क्य सर्वेषां प्राशस्त्याज्ञानाभावेन न सर्वेषां प्रवृत्यापत्तिः किन्तु यस्य पुरुषस्य कर्मप्राशस्त्यज्ञानम्भवति तस्यैव तत्फलरागादिना तत्र प्रवृत्तिरित्याशयेनाह-**

लिङ्आदिज्ञानरूप कारण से ज्ञात शाब्दीभावना के द्वारा **'भावयेत्'** क्रिया के साध्य स्वरूप कर्म के रूप में **याग** और **आर्थीभावना** इन दो की उपस्थिति होती है। इस प्रसङ्ग में यह शंका होती है कि याग और आर्थीभावना में से आर्थीभावना को ही साध्य क्यों माना जाय? अथवा **'यागं भावयेत्'** इस प्रकार याग को **'भावयेत्'** का साध्य क्यों न माना जाय? इसके अतिरिक्त **'यजेत'** इस एक ही पद में **'याग'** और **'भावयेत्'** इन दोनों के ही होने पर 'याग' को 'भावयेत्' क्रिया का साध्य होने में किसी प्रकार की बाधा या आपत्ति भी नहीं होती है।

किन्तु उक्त भ्रान्तिमूलक शंका करना उचित नहीं है क्योंकि यह सत्य है कि **'याग'** और **'भावयेत्'** ये दोनों ही अंश 'यजेत' इस एक ही पद के हैं। तथापि आर्थीभावना और शाब्दीभावना के द्वारा प्रतिपादित **'भावयेत्'** क्रिया, ये दो अंश भी तो एक ही प्रत्यय के हैं। अतः**'यजेत'** के अन्तर्गत रहनेवाली शाब्दीभावना को 'यजेत' क्रिया के धात्वर्थ **याग** की अपेक्षा एक प्रत्ययगम्य **आर्थीभावना** ही निकट रहती है। इसलिए दूरस्थ असंनिकृष्ट 'याग' रूप अर्थ को साध्यत्वरूप में स्वीकार न करते हुए एक प्रत्ययगम्य होने से अधिक संनिकृष्ट आर्थीभावना को ही साध्यत्वरूप में स्वीकार किया जाता है।

उक्त विवेचन को संक्षेप में इस प्रकार भी समझा जा सकता है– यहाँ प्रश्न यह है कि आर्थीभावना को ही शाब्दीभावना के साध्यरूप में क्यों ग्रहण किया जाता है? उक्त प्रश्न के उत्तर में ग्रन्थकार कहते हैं कि– 'एकप्रत्ययगम्यत्वेन समानाभिधानश्रुतेः'। इसका तात्पर्य यह है कि चूँकि **'यजेत'** के अन्तर्गत एक ही **'त'** प्रत्यय से दोनों भावनाएँ ज्ञात होती हैं, अतः

इतिकर्तव्यतेत्यादिना। कर्तव्यस्येति प्रकार इतिकर्तव्यता। इति शब्दस्य प्रकारवाचकत्वात्। प्रकारश्च सामान्यस्य भेदको विशेष इत्यर्थः। तथाच कर्तव्यसामान्यस्य भेदकः कर्तव्यविशेष एव प्राशस्त्यरूपः शब्दभावनायामिति-कर्तव्यतात्वेनान्वयं लभते तच्च कर्तव्यसामान्यं लिङादिज्ञानरूपं भावनाकरणमेव करणगतप्रकाराकाङ्क्षापूरकस्येतिकर्तव्यतात्वात्। लिङादिज्ञानेन भावयेत्कथमित्या-काङ्क्षायां कर्मप्राशस्त्यविशिष्टेनेतिप्रकारान्वयात्। तस्य च प्राशस्त्यविशेषस्य ज्ञापकोऽर्थवादविशेष एवेति भावः। स चार्थवादः सप्रजापतिरात्मनोवपामुदखिद-दित्यादिः। तं चार्थवादं चतुर्विधविभागेन निरूपयिष्यामोऽर्थवादनिर्णये। ननु किं नाम प्राशस्त्यं यच्छब्दभावनायामितिकर्तव्यतात्वेनान्वेतीति चेत्। विधेयतावच्छेदकसामाना-धिकरण्येन बलवदनिष्टानुबन्धित्वे सति क्रियाजन्यदुःखापेक्षयाऽधिकेष्टजनकत्वं प्राशस्त्यं तदेव च विध्यर्थवादेषु लक्ष्यते। निषेधार्थवादेषु तु निषेध्यतावच्छेदकसामानाधिकरण्येन क्रियाफलापेक्षयाधिकदुःखसाधनत्वमप्राशस्त्यं लक्ष्यत इति बोध्यम्। लक्षणा च सर्वत्र वाक्ये लक्षणायां बाधकाभावादर्थवादस्थपदसमुदाये वैकस्मिन्नेव वा पदे भवतीतरपदानि तात्पर्यग्राहकाणीत्यनाग्रहः। तच्च प्राशस्त्यादिकमितिकर्तव्यतात्वसम्बन्धेन शब्दभाव-

---

समान-अभिधान (त-प्रत्यय) का श्रवण-रूप 'श्रुति' प्रमाण उपलब्ध है, एवञ्च उक्त भावनाद्वय के मध्य भाव्यभावक-रूप सम्बन्ध ज्ञातव्य है। शाब्दीभावना भावक (साधन) है और आर्थीभावना भाव्य (साध्य) है।

उपर्युक्त विवेचन के अनुसार यह स्पष्ट हो जाता है कि शाब्दीभावना का साध्य आर्थीभावना है। और यह निर्णय समानाभिधानश्रुति के आधार पर किया गया है। किन्तु प्रश्न यहाँ यह है कि **'समानाभिधान श्रुति'** का तात्पर्य क्या है? इस प्रश्न को हम इस प्रकार समझ सकते हैं जैसे– **'यजेत स्वर्गकामः'** यह वेद-वाक्य होने से यह 'श्रुति' है। **'यजेत'** इस पद के अन्तर्गत एक ही **'त'** प्रत्यय से (आख्यातत्व और लिङ्त्व) दोनों भावनाएँ- आर्थीभावना और शाब्दीभावना ज्ञात होती है- समझी जाती है, अतः समान अभिधान ('त' प्रत्यय) श्रुति हुई। समानाभिधान का सामान्यतः अर्थ है- एक ही पद में निर्दिष्ट होना। अतः एक हि पद में निर्दिष्ट होने से 'समानाभिधान' यह सामान्यतः अर्थ होता है। और उस 'श्रुति' के आधार पर ही आर्थीभावना को शाब्दीभावना का 'साध्य' कहा गया है। किन्तु यहाँ यह शंका पुनः उपस्थित होती है कि यदि 'समानाभिधानश्रुति' ही केवल आर्थीभावना को शाब्दीभावना के साध्यरूप में स्वीकार करने का पर्याप्त हेतु है तो, **'यजेत'** इस एक ही और समान पद का 'याग' भी समानाभिधानश्रुत हो सकता है, अतः **'भावयेत्'** क्रिया का कर्म **'याग'** क्यों नहीं हो सकता? इस शंका का उत्तर यह है कि **'यजेत'** इस समग्रपद की दृष्टि से यद्यपि **'याग'** 'भावयेत्' क्रिया से समानाभिधानश्रुत है, तथापि हमें यह ध्यान रखना चाहिए कि आर्थीभावना भी **'यजेत'** के अन्तर्गत स्थित प्रत्यय की दृष्टि से 'भावयेत्' क्रिया से समानाभिधानश्रुत होती है। तात्पर्य यह है कि **समानाभिधानश्रुतत्व** रूप हेतु दोनों स्थानों पर एक ही होने पर भी **'याग'** की अपेक्षा आर्थीभावना एकप्रत्ययगम्यत्वेन अधिक संनिकृष्ट होने के कारण साध्यत्व की दृष्टि से

नायामन्वेतीति बहवो वदन्ति । स्वरूपसम्बन्धेन धात्वर्थादावेवान्वेतीति केचित् । वस्तुतस्तु प्राशस्त्यं स्वविषयकज्ञानजन्येष्टविषयकोत्कटरागजन्यत्वसम्बन्धेन प्रवृत्ता-वन्वेति । अप्राशस्त्यमपि स्वविषयकज्ञानजन्यानिष्टविषयकोत्कटद्वेषप्रयोज्याभावप्रतियो-गित्वसम्बन्धेन प्रवृत्तावेवान्वेतीत्यन्यत्र विस्तरः । इत्थं च पुरुषप्रवृतिलक्षणार्थ-भावनाभाव्यको लिङादिज्ञानकरणकः स्वज्ञानकरणको वा स्तुतिनिन्दार्थवादबोधित-प्राशस्त्यादितिकर्तव्यताको लिङादिशब्दस्य व्यापारविशेषः। शब्दभावना लिङादिशब्देन लिङ्त्वांशेनोच्यते । तत्र चार्थवादबोधितप्राशस्त्यादिनोपकारं सम्पाद्य लिङादिज्ञानेन पुरुषप्रवृतिलक्षणामर्थभावनां भावयेद्यागविषयप्रवृत्तिलक्षणां कुर्यादिति फलितम् ।।१०।।

उसका ही स्वीकार किया जाना समुचित है।

एवञ्च आर्थीभावना एकप्रत्ययगम्यत्वेन शाब्दीभावना की साध्य होती है। परन्तु यहाँ पुनः एक शंका उत्पन्न होती है कि एक प्रत्ययगम्यत्वेन यदि 'आर्थीभावना' शाब्दीभावना की साध्य हो सकती है, तो आर्थीभावना की तरह ही संख्यादिक भी एक प्रत्ययगम्य हैं। अतः इनका भी साध्यत्व की दृष्टि से अन्वय क्यों नहीं हो सकता? क्योंकि यह नितान्त स्पष्ट है कि 'यजेत' के अन्तर्गत जो प्रत्ययांश है उस प्रत्ययांश के 'आख्यात' के द्वारा आर्थीभावना और 'लिङ्त्व' द्वारा शाब्दीभावना, केवल ये ही दो धर्म व्यक्त नहीं किये जाते, अपितु उसी प्रत्ययांश से अर्थात् उसके अन्तर्गत स्थित 'त' प्रत्यय के द्वारा-वह एक वचन, प्रथम पुरुष का रूप है एवं वर्तमान काल का बोधक है, ज्ञात होता है। इसलिए 'त' प्रत्यय के 'शाब्दीभावना' और 'आर्थीभावना' के अतिरिक्त (एकत्व) संख्या, (प्रथम) पुरुष एवं (वर्तमान) काल भी वाच्य हैं। अतः संख्यादिक भी एक प्रत्ययप्रतिपाद्य होते हैं।

एवञ्च एकप्रत्ययगम्यत्वेन आर्थीभावना की तरह संख्यादिकों का भी साध्यत्वेन अन्वय होना चाहिए, ऐसा प्रतीत होता है। इस पर सिद्धान्ती यह उत्तर देता है कि यद्यपि एक प्रत्ययगम्यत्वेन संख्यादिक की प्राप्ति हो जाती है, तथापि वे **'भावयेत्'** क्रिया के साथ साध्यत्व के रूप में अन्वित नहीं हो सकते। क्योंकि 'भावयेत्' क्रिया को **किं भावयेत्'** रूप 'साध्य' की आकांक्षा रहती है। अर्थात्- क्या करना है? यह प्रश्न उपस्थित है। इस उपस्थित प्रश्न के उत्तर में यदि कोई कहे कि 'एकवचन' करना चाहिए, 'वर्तमान काल' करना चाहिए, तो उसका यह उत्तर समुचित नहीं होगा। हाँ, यदि कोई उस क्रिया **'भावयेत्'** का उत्तर **'यागेन स्वर्गं भावयेत्'** 'याग से स्वर्ग साधना चाहिए' जो आर्थीभावना का तात्पर्य है, दे तो उचित होगा। इसलिए 'संख्यादिक' एक प्रत्ययगम्य होने पर भी वह आयोग्य होने कारण उनका साध्यत्व के रूप में अन्वय न करके आर्थीभावना का ही साध्यत्व के रूप में प्रकृत में अन्वय करना आवश्यक है।

उपर्युक्त विवेचन में शाब्दीभावना के **'किं भावयेत्'** रूप साध्याकांक्षा का विचार किया गया। अब साधनाकांक्षा का विचार क्रमप्राप्त है। यह साधनाकांक्षा **'केन भावयेत्'** इत्याकारक होती है। साधनाकांक्षा उत्पन्न होने पर उस स्थान पर 'लिङ्गादिज्ञान' का साधनत्वेन अन्वय

होता है। शाब्दीभावना के साधन से तात्पर्य है- करण, लिङादिविज्ञान। जैसे- आचार्य द्वारा **'गामानयेत्'** 'गाय को लाओ' की आज्ञा शिष्य को दी जाने पर गाय लाने विषयक जो प्रवृत्ति शिष्य के मन में उत्पन्न होती है उस प्रवृत्ति से सम्बन्धित प्रेरणा अपने आचार्य ने किस साधन द्वारा उत्पन्न की है? इस पर शिष्य यदि विचार करता है तो उसे विदित होगा कि- **'गामानयेत्'** के अन्तर्गत स्थित जो 'लिङ्' है, उस 'लिङ्' के साधन से गुरु ने उक्त प्रेरणा को मेरे मन में उत्पन्न किया है और इस लौकिक व्यवहार में यह 'लिङ्' जिस प्रकार साधन होता है, उसी प्रकार वैदिक व्यवहार में भी हो सकता है। 'लिङ्' के द्वारा वेद ही मुझे यागादि कर्म की ओर प्रवृत्त होने के लिए प्रेरित कर रहा है, ऐसी प्रतीति यहाँ भी होने के कारण लिङादि ज्ञान का साधनत्वेन अन्वय होना समुचित ही है।

यद्यपि यहाँ लिङादिज्ञान को शाब्दीभावना का साधनत्व या करणत्व प्राप्त है, तथापि उसे शाब्दीभावना का उत्पादकत्व प्राप्त नहीं है, अर्थात् उसका ज्ञान शाब्दीभावना का उत्पादकरूप नहीं है। जैसे **'कुठारेण छिनत्ति'**- यहाँ जिसप्रकार **'कुठार'**- इस कारण से द्वैधीभाव रूप नवीन कार्य उत्पन्न होता है उस प्रकार लिङादिज्ञान रूपी करण से शाब्दीभावना नवीनरूप में उत्पन्न होती है, ऐसा नहीं कहा जा सकता। क्योंकि लिङादिज्ञान शाब्दीभावना का उत्पादक करण नहीं है। इसका कारण यह है कि लिङादिज्ञान होने के पूर्व भी 'यजेत' इत्यादि वैदिक शब्दसमूह में शाब्दीभावना विद्यमान रहती ही है। इसलिए शाब्दीभावना लिङादिकरण से उत्पन्न की जाती है, ऐसा नहीं कहा जा सकता। अत: लिङादिज्ञानरूपी कारण भावनोत्पादक न होकर केवल भावनाज्ञापक ही है। ज्ञापक का अर्थ है- प्रकाशक। इसलिए लिङादिक साधन से शाब्दीभावना प्रकाशित की जाती है, केवल इतने ही तात्पर्यार्थ से लिङादिज्ञान को भावना का कारण माना गया है, या यह कहा जासकता है कि शाब्दीभावना का जो फल (भाव्य = साध्य = आर्थीभावना) है वह इसके द्वारा घटित किया जाता है, अत: लिङादिज्ञान को करण माना गया है, तो भी कोई आपत्ति नहीं है। तात्पर्यार्थ यह है कि 'लिङादिज्ञान' शाब्दीभावना का उत्पादक करण नहीं है, क्योंकि भावना **'यजेत स्वर्गकामः'** इस वैदिक शब्दसमूह में पूर्व से ही विद्यमान रही है। चूँकी वेद अनादि है, अत: शाब्दीभावना भी अनादि हैं, अतएव उसके उत्पन्न होने का कोई प्रश्न ही नहीं उठता। हाँ, इतना अवश्य है कि 'लिङादिज्ञान' रूप करण से शाब्दीभावना का ज्ञान निश्चित हो जाता है।

सारांशरूपेण कहा जा सकता है कि 'लिङादिज्ञान' होने के पूर्व ही शाब्दीभावना विद्यमान रहती है। उसका अस्तित्व पूर्व से रहता ही है। अत: 'लिङादिज्ञान' को उसका करण या साधन कहना उचित प्रतीत नहीं होता। इस हेतु प्रकृत प्रसंग में ग्रंथकार ने 'शाब्दीभावना का करण 'लिङादिज्ञान है' इस विषयक उपपत्ति के लिए दो मार्गों को सूचित किया है- (१) भावनाज्ञापकत्व की दष्टि से लिङादिज्ञान (शाब्दीभावना का) करण है– यह एक मार्ग है, और दूसरा मार्ग हैं- (२) शब्दभावनाभाव्यनिर्वर्तकत्व की दृष्टि से लिङादिज्ञान शाब्दीभावना का करण है। इन दो मार्गों में से **प्रथम मार्ग** 'भावनाज्ञापकत्व' का विचार करने पर ज्ञात (निष्पन्न)

होता है कि इस मार्ग में शाब्दीभावना की नवीन रूप में उत्पत्ति होती है, ऐसा नहीं माना जाता। वह शाब्दीभावना पूर्व से ही विद्यमान रहती है, उसका पूर्व से ही अस्तित्व रहता है, वह केवल ज्ञात नहीं होती या दिखाई नहीं देती। किन्तु 'लिङादिज्ञान' के योग से वह प्रकाशित होकर ज्ञापित की जाती है। उदाहरणार्थ- घट। यह 'घट' पूर्व से ही काले रंग का है। उसके काले रंग का ज्ञान हमें पूर्व से नहीं था, किन्तु चक्षुरिंद्रिय का और उस घट का जब संनिकर्ष घटित होता है, तब उस घट का काला रंग ज्ञात होता है। यहाँ इंद्रियार्थसंनिकर्ष 'घट' के 'रूप' ज्ञान का कारण है। किन्तु यह साधन 'घट' पर स्थित कृष्णवर्ण के रूप को नवीनरूप में उत्पन्न नहीं करता अपितु उसके कृष्णवर्णात्मक रूप को केवल ज्ञापित या प्रकाशित भर कर देता है। इसी प्रकार प्रकृत प्रसंग में 'लिङादिज्ञान' रूप करण शाब्दीभावना को मात्र ज्ञापित या प्रकाशित भर कर देता है, उसे उत्पादित नहीं करता– यह मानना चाहिए अथवा **दूसरा मार्ग** यह है कि- यह सत्य है कि यद्यपि शाब्दीभावना उत्पन्न नहीं होती है और पूर्व से ही विद्यमान रहती है, इसलिए उसके सम्बन्ध में 'लिङादिज्ञान' उत्पादकत्व की दृष्टि से करणत्व को प्राप्त नहीं होता, फिर भी शाब्दीभावना का जो भाव्य है, अर्थात् साध्य (आर्थीभावना) है उसकी उत्पत्ति तो होनी ही है और उस भाव्य या साध्य की उत्पत्ति में या उसे उत्पन्न कर देने में लिङादिज्ञान का परम्परया करणत्व के रूप में उपयोग होता ही है। इसलिए शब्दभावनाभाव्यनिर्वर्तकत्व की दृष्टि से लिङादिज्ञान को करणत्व प्राप्त हो जाता है, यदि ऐसा कहा जाय तो भी उपपन्नता संभवनीय है। इसी अभिप्राय से ग्रंथकार ने कहा है– [किन्तु भावनाज्ञापकत्वेन, शब्दभावनाभाव्यर्विर्तकत्वेन वा'।]

यहाँ तक उक्त विवेचनों में- **'किं भावयेत्'** और **'केन भावयेत्'** स्वरूप की साध्याकांक्षा और साधनाकांक्षा- विषयक विवरण उपन्यस्त किया गया। अतः साध्य और साधन पर विचार कर लेन के उपरान्त **'इतिकर्तव्यता'** का विचार क्रम प्राप्त है। इसका स्वरूप है- **'कथं भावयेत्'**। अर्थात् 'इतिकर्तव्यता' की आकांक्षा 'कथं भावयेत्' रूप में होती है। जैसे- **'ओदनकामः पचेत्'** इस वाक्य में **'पचेत्'** के लिङ् से 'भावना' की प्रतीति होती है। तत्पश्चात् **'किं भावयेत्'** ऐसी आकांक्षा उत्पन्न होने पर **'ओदनं भावयेत्'** कहकर उसका शमन किया जाता है। इसके पश्चात् **'केन ओदनं भावयेत्'** रूप साधनाकांक्षा उत्पन्न होने पर **'पाकेन ओदनं भावयेत्'** कहकर उसका समाधान किया जाता है। इतना कहने के पश्चात् भी कोई अनाड़ी पुनः प्रश्न पूछता है- **'कथं पाकेन ओदनं भावयेत्'**? तब उसकी इस आकांक्षा के समाधान करने के लिए उसे कहा जाता है कि 'तृणफूत्काराद्युपकृतेन पाकेन ओदनं भावयेत्'- अर्थात्- घास लेकर, अग्नि को प्रज्वलित करने के लिए फूंकना चाहिए। इत्यादि प्रकार की सहायता से अग्निसंयोग के द्वारा ओदन पकाकर सिद्ध करना चाहिए। इतना विस्तृतरूप से उसे समझाने पर **कथंभावाकांक्षा** या **इतिकर्तव्यताकांक्षा** तृप्त होती है।

'कर्तव्यस्य इति प्रकारः इतिकर्तव्यता'- यह 'इतिकर्तव्यता' पद का अर्थ है। अर्थात् जो कुछ कर्तव्य है, वह इस प्रकार करना चाहिए, ऐसा जिसके द्वारा कहा जाता है, कथित होता है, वह इतिकर्तव्यता होती है। **'पाकेन ओदनं भावयेत्'**- इस वाक्य के **'पाकेन'** इस

करणवाचक शब्द से सामान्यत: निर्देश किया गया है, किन्तु उस सामान्यत: निर्दिष्ट किये हुए **'पाक'** का विशेष प्रकार क्या-क्या होता है? यह 'तृणाफूत्काराद्युपकृत'- इत्याकारक इतिकर्तव्यतावाचक शब्दों के द्वारा कहा जाता है। सारांश यह है कि करण से साधन का सामान्यरूप से निर्देश किया जाता है और इतिकर्तव्यता से उस सामान्य में निहित या उस सामान्य के अन्तर्गत 'विशेष प्रकार' का उल्लेख किया जाता है। यही इसका निषपन्न अर्थ है। इस प्रकार **'ओदनकामः पचेत्'** इस लौकिक वाक्य के उदाहरण की सहायता से इतिकर्तव्यता का स्वरूप कैसा होता है? यह दिखाने के पश्चात् अब शाब्दीभावना की इतिकर्तव्यताकांक्षा की ओर प्रवृत्त होते हैं। इस प्रक्रिया को अधोलिखित चित्र की सहायता से समझा जा सकता है—

'यजेत' के अन्तर्गत 'लिङ्त्व'

शाब्दीभावना

किं भावयेत्
(यागकरणकस्वर्गकर्मकप्रवृत्तिरूपां)
आर्थीभावनां भावयेत्

केन भावयेत्
(लिङादिज्ञानेन भावयेत्)

कथं भावयेत्
(कर्मप्राशस्त्यविशिष्टेन
लिङादिज्ञानेन
भावयेत्।)

उपर्युक्त रेखांकित आकृति के द्वारा शाब्दीभावना के साध्य और साधन इन दो अंशों का स्वरूप पूर्वनिर्दिष्टानुसार सहजगत्या ध्यान में आजाता है, अब केवल इतिकर्तव्यता का स्वरूप स्पष्ट करना है-

'स प्रजापतिरात्मनो वपामुदखिदत्' वायुर्वै क्षेपिष्ठा देवता'— इत्यादि वाक्य वेद में देखने में आते हैं। इन वाक्यों द्वारा किसी कर्म विशेष की स्तुति या निन्दा (इत्यादि) की गई है। ऐसे स्तुत्यात्मक या निन्दात्मक वाक्यों को 'अर्थवादात्मक' वाक्य कहा जाता है। ये अर्थवादवाक्य जिस विशेष कर्म-प्रकार के प्रसंग में प्रयुक्त होते हैं, वह कर्म उत्तम है, प्रशस्त है,- इस प्रकार उस कर्म का प्राशस्त्य व्यक्त करते हैं। अर्थवाद के सम्बन्ध में आगे निरूपण किया जायगा। इसके पूर्व शाब्दीभावना का 'लिङादिज्ञान' करण है, यह सामान्यत्वेन निर्देशित किया जा चुका है। किन्तु इस सामान्य में विशेष प्रकार 'यह अमुक-अमुक कर्म बहुत उत्तम है' और इस प्रकार का प्राशस्त्य का वर्णन जब किया जाता है तब उस कर्म विशेष को करने की उत्कंठा वृद्धिंगत होती है। इसका तात्पर्य यह है कि 'लिङादिक ज्ञान' रूपी करण से जो इच्छा उत्पन्न हुई होती है, उसे अर्थवाद के प्राशस्त्यात्मक वर्णन द्वारा अधिक प्रोत्साहन प्राप्त होता है। अर्थात् तृणफूत्कारादिकेयोग से अग्निसंयोग को जिसप्रकार पूर्व निर्दिष्ट उदाहरण में साहाय्य मिलता है उसीप्रकार उक्त प्राशस्त्य वर्णन से 'लिङादिज्ञान' को साहाय्य मिलता है। इसलिए उपर्युक्त उदाहरण में इतिकर्तव्यतात्वेन जिसप्रकार तृणफूत्कारादिक का अन्वय होता है उसी प्रकार अर्थवाद वाक्यों से ज्ञापित होनेवाले प्राशस्त्य का प्रस्तुत शाब्दीभावना में इतिकर्तव्यता रूप से अन्वय होता है।।१०।।

(११) आर्थीभावनालक्षणम्

प्रयोजनेच्छाजनितक्रियाविषयव्यापार आर्थीभावना। सा चाख्यातत्वांशेनोच्यते। आख्यातसामान्यस्य व्यापारवाचित्वात्।।११।।

अर्थभावनां लक्षयति-*प्रयोजनेच्छेत्यादिना*। प्रयोजनस्य स्वर्गादिरूपफलस्य येच्छारागविशेषः। फलेच्छासाधनमुपसंक्रामतीतिन्यायात्तेन च रागविशेषेण जनितो यो यागादिक्रियाविषयः पुरुषस्य व्यापारविशेषः सा आर्थीभावनेत्यर्थः। ननु कोऽयं व्यापारो नाम योऽर्थभावनात्वेनोच्यते न तावत्प्रयत्नमात्रं रथो गच्छतीत्यत्राव्याप्त्यापत्तेः। स्यन्द इति चेत् देवदत्तो ग्रामं गच्छति, स्वर्गकामो यागेन स्वर्गं कुर्यादित्यादौ गमनाद्यनुकूलकृतावव्याप्तेः कृतेश्चेतनधर्मत्वेन तत्र स्यन्दत्वाभावात्। गच्छतीत्यादौ गमनं करोतीति करोतिप्रयोगदर्शनात्। स्यन्दत इति स्यन्दिप्रयोगादर्शनाच्चेति चेत्केचिदत्राहुः। स्वर्गादिफलेच्छाजनितो यागादिक्रियाविषयः प्रयत्न एव स व्यापारोऽर्थभावनात्वेनोच्यते।

अनुवाद– प्रयोजनेति। *स्वर्गादि प्रयोजन की इच्छा से उत्पन्न यागादिकर्म को सम्पादित करने का पुरुष में जो मानसिक व्यापार उत्पन्न होता है उसे 'आर्थीभावना' कहते हैं। यह आर्थीभावना आख्यातत्व अंश से कही जाती है क्योंकि व्यापार क्रिया का वाचक 'आख्यात सामान्य' ही होता है।।११।।*

।। अर्थमीमांसा ।।

प्रकृत प्रकरण में ग्रंथकार 'आर्थीभावना' के लक्षण का विचार कर रहे हैं–

'प्रयोजनेच्छाजनितक्रियाविषयव्यापारः' अर्थात् स्वर्गादि प्रयोजन को लक्ष्य करके याग आदि क्रियाको सम्पादित करने का पुरुष में जो मानसिक व्यापार उत्पन्न होता है, उसे आर्थीभावना कहा जाता है। उक्त लक्षण में प्रयोजन का अर्थ **फल** है।[1] अर्थात् **'यजेत स्वर्गकामः'** विधिवाक्य में स्वर्ग प्रयोजन या फल है। इस स्वर्गरूपी प्रयोजन या उसके फल की इच्छा से यजमान में **'यागरूपी क्रिया'** उत्पन्न होती है अतः यागरूपी क्रिया से सम्बन्धित जो कुछ व्यापार, या जो कोई प्रवृत्ति है, वही 'आर्थीभावना' है। आर्थीभावना का अर्थ है–

'अर्थः प्रयोजनम्, तत्संबन्धिनी भावना आर्थीभावनेत्यर्थः' जैसे– 'स्वर्ग प्राप्ति होनी चाहिए'– यह इच्छा पुरुष के मन में उत्पन्न होती है और उस इच्छा की पूर्ति के लिए वह कोई याग करने के लिए उद्युक्त-तत्पर हो उठता है। ऐसी स्थिति में उस पुरुष की याग के सम्बन्ध में जो प्रवृत्ति होती है उसे 'आर्थीभावना' से अभिहित किया जाता है। सारांश यह है कि पुरुष की प्रवृत्ति या कृति ही 'आर्थीभावना' का अर्थ है। अब यदि शाब्दीभावना और

---

१. अर्थ्यते प्रार्थ्यते, पुरुषैरिति अर्थः फलम्। तत्प्रयोजकत्वाद् भावना आर्थी। यद्वा अर्थ्यते फलम् येनेत्यर्थः पुरुषः तद्गतत्वादार्थी (सारविवेचिनी)।

न च रथोगच्छतीत्यत्राव्याप्त्यापत्तिः । रथवोढृणामश्वानां प्रयत्नं रथे समारोप्य रथोऽगच्छतीति प्रयोगोपपत्तेः । येषां मतेऽन्योत्पादनानुकूलव्यापारसामान्यमेवार्थभावना तेषामपि रथे गमनव्यतिरिक्तस्य व्यापारविशेषस्यानुपलब्धेः । रथोगच्छतीति प्रयोगस्यौपचारिकत्वमन्तरेणानिर्वाहात्तस्य तत्त्वं स्वीकर्तव्यम् । स च प्रयत्न आख्यातसामान्येन कथ्यते यजेत पचति गच्छतीत्याद्याख्यातश्रवणे प्रयत्नप्रतीतेः । यागेन कुर्यात्पाकं करोति गमनं करोतीति प्रयत्नार्थककरोतिनाऽऽख्यातस्य विवरणदर्शनात्प्रयत्न एवाख्यातसामान्यस्यार्थो न स्यन्दादिः । प्रयत्नपूर्वकगमनादिकर्तरि गमनं करोति पाकं करोतीति प्रयत्नार्थककरोतिप्रयोगदर्शनात् । वायुवेगादिना स्यन्दमाने त्वयं वायुवेगादिना स्यन्दते न किंचित्करोतीति तत्प्रतिषेधदर्शनाच्चेति । अन्येत्वाचार्या आहुः । अन्योत्पादनानुकूलात्मा स व्यापारो योऽर्थभावनात्वेनोच्यते यस्मिन् व्यापारे कृते करणस्य फलोत्पादनसामर्थ्यम्भवति तादृशो व्यापार इति यावत् । स एव च व्यापार आख्यातसामान्यस्यार्थः । यजेत स्वर्गकाम इत्याख्यातश्रवणे हि यागेन तथा व्याप्रियेत यस्मिन्व्यापारे कृते यागः स्वर्गजननसमर्थो भवतीति भवति बोधः । कुठारेण छिन्द्यादिति कुठारेण तथा व्याप्रियेत यस्मिन्व्यापारे कृते कुठारश्छेदनसमर्थो भवतीतिवत् । स च व्यापारोऽन्योत्पादनानुकूलत्त्वे च सामान्येन रूपेणाऽख्यातादेवावगम्यते पश्चात्तु कथम्भावाकाङ्क्षायां विशेषरूपेण क्वचिदुद्यमननिपतनादिरूपेण क्वचित्त्वग्न्यन्वाधानादिब्राह्मणतर्पणान्तप्रवृत्तिरूपेण चा-

---

आर्थीभावना की तुलना की जाय तो यही कहना पडेगा कि शाब्दीभावना 'प्रेरणा' को उत्पन्न करती है और आर्थीभावना 'प्रवृत्ति' को। प्रेरणा (यह) कारण है और प्रवृत्ति उस कारण से उत्पन्न होने वाला **कार्य** है। लिङादिक से प्रेरणा या प्रवर्तना उत्पन्न होती है और उस प्रेरणा से या प्रवर्तना से प्रवृत्ति या कृति उत्पन्न होती है। **'यजेत'** के अन्तर्गत 'लिङ्' के योग से 'मुझे कुछ करने के लिए कहा जा रहा हैं' ऐसी प्रेरणा पुरुष के मन में उत्पन्न होती है। तत्पश्चात् 'आख्यातत्व' अंश से स्वर्गरूप फल की प्राप्ति के लिए संपादित होनेवाले याग विषयक प्रवृत्ति उत्पन्न होती है। इसप्रकार शाब्दीभावना और आर्थीभावना में एकप्रकार का कार्यकारणभाव विद्यमान है। **डॉं कीथ** ने अपनी **'कर्ममीमांसा'** नामक पुस्तक में शाब्दीभावना और आर्थीभावना के अन्योन्यसंबध को संक्षेप में उत्तमरीत्या प्रस्तुत किया है।[१]

इसी प्रकार **मेजर बसु** ने अपनी प्रकाशित पुस्तक– **'Sacred books of the Hindus'** में प्रतिपादित 'मीमांसासूत्र' के उपोद्घात में भावनाओं के विषय से सम्बन्धित विस्तृत विवरण प्रस्तुत किया है। वह इस प्रकार है—

The Vedic command holds out hopes, as for instance 'यजेत स्वर्गकामः'

---

1. 'There is a clear relation between the injunction and the action of the agent; the former possesses a verbal energy (शाब्दीभावना) in its tendency to produce action by the agent, while the latter puts forth actual energy (आर्थीभावना) towards the end indicated in the injuction.'

वगम्यते । न च रथो ग्रामङ्गच्छतीत्यत्राव्याप्तिरन्योत्पादनानुकूलव्यापारस्य रथे गमनव्यतिरिक्तस्याभावादिति वाच्यम् । रथस्तथागमने न व्याप्रियते यस्मिन्व्यापारे कृते गमनेन ग्रामप्राप्तिर्भवतीति प्रतीतेः । कोऽसौ व्यापार इत्याकाङ्क्षायां पूर्वोत्तरावान्तरदेशविभजनसम्प्रोजनरूप इति पश्चादवगम्यते । उद्यम्य निपात्य कुठारेण छिनत्तीतिवत्पूर्वप्रदेशेन विभज्योत्तरप्रदेशेन च संयोगं लब्ध्वा रथो ग्रामङ्गछतीति प्रत्ययात् । न चात्र गमनमात्रमाख्यातार्थ इति वाच्यम् । अनन्यलभ्यो हि शब्दार्थ इति न्यायात्तस्य धातुलभ्यत्वेनाख्यातार्थत्वायोगात् । एवं चैत्रः प्रयतत इत्यत्रापि चैत्रस्तथा व्याप्रियते यथा प्रयत्नो भवतीति प्रयत्नोऽनुकूलव्यापार एवाख्यातस्यार्थो न तु प्रयत्न एव प्रयत्नस्य धातुमात्रलभ्यत्वात् । कोऽसौ व्यापार इत्याकाङ्क्षायां पश्चाज्ज्ञानेच्छादिकमवगम्यते । न च रथो गच्छतीत्यादिप्रयोगस्यौपचारिकत्वं स्यादिति वाच्यम् । मुख्ये सम्भवति औपचारिकत्वस्यान्याय्यत्वात् न च गच्छति गमनङ्करोति, पचति पाकङ्करोतीति प्रयत्नार्थककरोतिनाऽख्यातस्य समानार्थकत्वदर्शनात्प्रयत्न एवाख्यातस्याऽर्थ इति वाच्यम् । चैत्रः प्रयतत इत्यादौ व्यभिचारेण प्रयत्नस्याऽऽख्यातार्थत्वासम्भवात् । औपचारिकत्वस्य निरस्तत्वाच्च । करोत्यर्थोऽपि व्यापारविशेष एव नतु प्रयत्नः । चैत्रो गच्छति, रथो गच्छतीति चेत् नाचेतनकर्तृकाख्यातसमानार्थकस्य करोतेः प्रयत्नार्थकत्वासम्भवात् । तस्मादन्योत्पादनानुकूलव्यापार एवाख्यातसामान्यस्यार्थ इति सिद्धमिति । ननु प्रयोजनेच्छाजनितक्रियाविषयव्यापार इति मूलग्रन्थे स्वर्गादिप्रयोजनेच्छाजनितस्य

'Let one desirous of heaven perform a sacrifice' If one is possessed of the desire to have heavenly bliss, he shall have to perform sacrifice. The activity to perform 'यज्ञ,' accompanied by all the phychological factors of the mind, is called 'भावना' in the language of मीमांसा. It is of two kinds, शाब्दी and आर्थी. The former arises from the word of mouth i.e. command. When a man is told to do or not to do a thing, he does it or refrains from doing it, because he feels that he is so ordered. I order my servant to bring my horse, he is bound to bring it. In the wordily affairs, the order comes from a superior; but in religious affairs the command comes from the Veda. In the आर्थीभावना, the energy to act arises from a particular motive or desire to act or refrain from acting. The command has generally the लिङ् form of a Verb.'

उक्त विवेचन में यह प्रतिपादित किया गया है कि स्वर्गरूपी फल की इच्छा से उत्पन्न यागरूपी क्रिया से सम्बन्धित जो कुछ व्यापार होता है, उसे 'आर्थीभावना' कहा जाता है। इस सम्बन्ध में एक प्रश्न उत्पन्न होता है कि जब किसी एक व्यापार को आर्थीभावना कहा गया है तो उस व्यापार का क्या तात्पर्य है? यागरूपी क्रिया संपादित करने से सम्बन्धित प्रयत्न को कुछ लोग 'व्यापार' समझते है, अर्थात् व्यापार को कुछ लोग **'प्रयत्न'** के नाम से अभिहित करते है। किन्तु व्यापार या भावना का तात्पर्य **'प्रयत्न'** मानना ठीक नहीं है। क्योंकि

यागादिविषयकव्यापारस्य प्रयत्नत्वमेव कल्प्यते चेतनव्यापारत्त्वात्। ततश्च प्रयत्न-एवाख्यातार्थ इति चेत्सत्यम्। तथापि न सर्वत्र प्रयत्नार्थकत्वमाख्यातस्य सम्भवति। रथो गच्छतीत्यादौ व्यभिचारस्य दर्शितत्वात्। तत्र यागादिविषयकपुरुषप्रयत्नादेरपि कृतिशब्दाभिधेयस्यान्योत्पादनानुकूलव्यापारत्वेनैव सामान्याकारेणाख्यातार्थत्वन्नतु विशेषरूपेण। विशेषरूपेण तु पश्चादवगमो भवति कोऽसौ व्यापार इति वीक्षायाम्। तस्मात्सर्वत्रान्योत्पादनानुकूलव्यापारसामान्यमेवाख्यातार्थ इति सिद्धम्। किञ्च यागादि-करणेन धात्वर्थेन स्वसाधनद्रव्यादिनिष्पादितेन स्वर्गादिफलोत्पत्तौ येयमनुकूलव्यापा-रस्वरूपाकृतिशब्दाभिधेया फलोत्पादनाऽऽर्थीभावना सेयन्न यज्यादिधातूनामन्यतमेन केनचिदप्यभिधीयते। सर्वधात्वर्थानुगतरूपत्वात्। नापि धात्वर्थसामान्यमेव। सा प्रतिधात्वर्थं विलक्षणत्वात्। तथाहि स्वर्गकामो यजेतेत्यत्र यागेन स्वर्गम्भावयेदिति बोधः। तत्र च यागविषयकव्यापारस्य स्वर्गम्प्रति विलक्षणमानुकूल्यं भवति। ओदनकामः पचेदित्यत्र च पाकेनौदनं भावयेदिति बोधः। पाकव्यापारस्य चौदनम्प्रति विलक्षणमेवानुकूल्यम् नैरोग्यकामो भेषजपानं कुर्यादित्यत्र भेषजपानेन नैरोग्यं कुर्यादिति बोधः। भेषजपानव्यापारस्य च नैरोग्यम्प्रति विलक्षणमेव चानुकूल्यम्भवति। तथा च विलक्षणानुकूल्यविशिष्टस्य व्यापारविशेषस्य प्रतिधात्वर्थविलक्षणरूपत्वमेव। अन्यथा-फलविभागानुपपतिः स्यात्। ततश्च भावनात्त्वसामान्यं तु भिन्नासु भावनाव्यक्तिष्वनुवर्ततां नाम नैतावता प्रकृत्यर्थसामान्यं भावना तस्माद्यज्यादिधात्वर्थाद्विशेषरूपात्सामान्यरूपाच्च भिन्नैवाख्यातप्रत्ययसामान्यार्थभूताऽऽर्थीभावना ततश्च सा चाख्यातत्वांशेनोच्यते इति तत्र हेतुमाह- *आख्यातेत्यादिना*। व्यापारवाचित्वादिति। अन्योत्पादनानुकूलव्यापारसामान्य-वाचित्वादित्यर्थः ।।११।।

'रथो गच्छति' में भावनारूपी गमनक्रियाविषयक व्यापार होने पर भी उसे **'प्रयत्न'** नही कह सकते। क्योंकि 'गमनानुकूलव्यापार' केवल चेतन का ही धर्म है। 'रथ' अचेतन पदार्थ होने के कारण उसमें प्रयत्न की संभावना नहीं हो सकती। कुछ विचारकों के विचार में **'भावना'** का अर्थ **'स्पन्द'** अर्थात् कुछ हलचल होता है। परन्तु 'भावना' का अर्थ स्पन्द मानना भी ठीक नहीं है। क्योंकि **'देवदत्तो ग्रामं गच्छति'** इत्यादि उदाहरण में गमनानुकूल जो कृति रूपी व्यापार हो रहा है उसे **'स्पन्द'** कभी भी नहीं कहा जा सकता। **'गच्छति'** का अर्थ है– **'गमनं करोति'** और यहाँ **'करोति'** ही प्रयोग किया जाता है। किन्तु **'स्पन्दन्ते'** ऐसा प्रयोग नहीं किया जाता। इसलिए (इस कारण से) भावना का अर्थ **'स्पन्द'** नहीं हो सकता। अत: भावना का अर्थ **'अन्योत्पादनानुकूल व्यापार,'** कृति या प्रवृत्ति ही है।

'यजेत' में रहने वाले अंशत्रयों- **धात्वर्थ, आख्यातत्व,** और **लिङ्त्व**– मे से 'आख्यातत्व' से आर्थीभावना व्यक्त की जाती है। क्योंकि सभी प्रत्ययों में सामान्यत: रहनेवाले आख्यातत्व रूपी धर्म से पुरुषप्रवृत्यनुकूल व्यापार ही निर्दिष्ट किया जाता है ।।११।।

६ अर्थ.

(१२) आर्थीभावनाया अंशत्रयम्

साप्यंशत्रयमपेक्षते साध्यं साधनमितिकर्तव्यतां च। किम्भावयेत्केनभावयेत्कथम्भावयेदिति। तत्र साध्याकाङ्क्षायां स्वर्गादिफलं साध्यत्वेनान्वेति। साधनाकाङ्क्षायां यागादिःकरणत्वेनान्वेति।। इतिकर्तव्यताकाङ्क्षायां प्रयाजाद्यङ्गजातमितिकर्तव्यतात्वेनान्वेति।।१२।।

सा निरुक्तार्थीभावना व्यापारविशेषात्मिका व्यापारविशेषाणां च छिदिभावनारूपव्यापारस्य द्वैधीभावरूपफलादिस्वापेक्षत्ववत्फलादिसापेक्षत्वाद्भाव्याद्यंशत्रयमपेक्षत इत्याशयेनाह- *साप्यंशत्रयमपेक्षत इति*। अपेक्षामभिनयति किम्भावयेदित्यादिना। *तत्रेति*। साध्यादीनां भावनांशानां त्रयाणाम्मध्य इत्यर्थः। तस्यां च भावनायां स्वर्गादिफलमेव पुरुषविशेषणमपि साध्यत्वेनान्वेति पुरुषार्थत्वात् न तु धात्वर्थः। समानपदोपात्तोऽप्यपुरुषार्थत्वात्तत्त्वेनान्वयं लभत इत्याह स्वर्गादिफलमिति। किञ्च तस्यां पुनः फलभावनायाम्प्रत्ययवाच्यभूतायामेकपदोपात्तः प्रकृत्यर्थ एव करणत्वेनान्वेति सन्निकृष्टत्वात्। न तु पदान्तरोपात्तं द्रव्यादि विप्रकृष्टत्वात्। न च साध्यरूपस्य प्रकृत्यर्थस्य कथं फलसाधकत्वमिति वाच्यम्। द्रव्यादिस्वसाधननिष्पादितस्य साध्यस्यापि प्रकृत्यर्थस्यापि फलं साधयितुं शक्यत्वादि-

---

*अनुवाद– सापीति। वह 'अर्थभावना' भी अंशत्रय **साध्य, साधन** और **इतिकर्तव्यता** की अपेक्षा करती है। आकांक्षात्रय का स्वरूप इस प्रकार है–*

(१) **किं भावयेत्?** क्या करे?, (२) **केन भावयेत्?** किससे करे?, (३) **कथं भावयेत्?** कैसे करे? उक्त आकांक्षात्रय में से साध्य की (किं भावयेत् इत्याकारक) आकांक्षा होने पर **'स्वर्गादिफल'** का साध्यत्वेन अन्वय होता है। साधन की आकांक्षा होने पर **'यागादिकर्म'** का साधनत्वेन अन्वय होता है। तथा इतिकर्तव्यता की आकांक्षा होने पर **'प्रयाजादि क्रिया समूह'** का इतिकर्तव्यतात्वेन अन्वय होता है।।१२।।

।। अर्थमीमांसा ।।

इसके पूर्व बताया जा चुका है कि शाब्दीभावना को तीन आकांक्षाएँ– **साध्याकांक्षा, साधनाकांक्षा** और **इतिकर्तव्यताकांक्षा** होती हैं, उसी प्रकार **किं भावयेत्** (क्या करें) **'केन भावयेत्'** (किससे करे), और **'कथं भावयेत्'** (कैसे करे) इस स्वरूप की क्रमशः **साध्याःकांक्षा, साधनाकांक्षा** और **इतिकर्तव्यताकांक्षा** की अपेक्षा 'आर्थीभावना' को भी होती है।

उक्त तीनों आकांक्षाओं में से **'किं भावयेत्'** रूप साध्याकांक्षा उत्पन्न होने पर **'स्वर्गादिफलं भावयेत्'** इस उत्तर से उस आकांक्षा का समाधान होने के कारण **'यजेत स्वर्गकामः'** वाक्यान्तर्गत स्वर्ग आदि -फल का **साध्यत्वेन** अन्वय होता है। आगे– **'केन भावयेत्'** रूप साधनाकांक्षा उत्पन्न होने पर **'यागेन भावयेत्'** के द्वारा उस आकांक्षा का

त्युक्तमेवेत्याशयेनाह–यागादिःकरणत्वेनान्वेतीति। किञ्च कुठारेण छिनत्तीत्यादौ कथमिति कथम्भावाकाङ्क्षायामुद्यम्य निपात्येत्युद्यमननिपतनादेरितिकर्तव्यतात्वेना-न्वयवद्यागेन स्वर्गम्भावयेदित्यत्रापि कथमिति कथम्भावाकाङ्क्षायामग्न्यन्वाधान-प्रयाजावघातादिभिरुपकारं संपाद्येति प्रयाजद्यङ्गजातमितिकर्तव्यतात्वेनान्वयं भजत इत्याशयवानाह- ***इतिकर्तव्यताकाङ्क्षायामित्यादिना*** **। कथं भावाकाङ्क्षापूरकत्वमिति कर्तव्यतात्वं निरुक्तोवेतिकर्तव्यता शब्दार्थो बोध्यः। भवति च प्रयाजादिषु लक्षणसमन्वयः यागेन स्वर्गं कुर्यादिति। ततः कथमिति कथम्भावाकाङ्क्षायां प्रयाजादिभिरुपकारं सम्पाद्येति कथम्भावाकाङ्क्षापूरणात्। कर्तव्यसामान्यस्य यागा-दिरूपस्य भेदकविशेषरूपत्वाच्च। तच्च प्रकरणप्रमाणनिरूपणावसरे प्रदर्शयिष्यामः। तथा च यजेत स्वर्गकाम इत्यत्राग्न्यन्वाधानावघातप्रयाजादिभिरुपकारं सम्पाद्य यागेन स्वर्गं भावयेत्स्वर्गं कुर्यादिति वाक्यार्थः। यथौदनकामः पचेदित्यत्र लिङा**

समाधान होने के कारण याग आदि क्रिया का **साधन-करणत्वेन** अन्वय होता है और **'कथं भावयेत्'** रूप इतिकर्तव्यताकांक्षा उत्पन्न होने पर '**प्रयाजाद्यंगजातेन** उपकारं संपाद्य भावयेत्'– के द्वारा इस आकांक्षा का समाधान होने के कारण **प्रयाजादि अंगजात आदि क्रियासमूह** इतिकर्तव्यता रूप में अन्वित होता है।

अंग का अर्थ है- अवयव और **अंगी** है अनेक अवयवों से मिलकर बननेवाला, इसलिए 'अंगी' का अर्थ 'मुख्य' होता है। उदाहरणार्थ– **'दर्शपूर्णमास'** यह मुख्य याग होने से 'अंगी' कहलाता है। मुख्य याग में प्रयाजादिक अनेक अंग होते है और उन अनेक अंगों के समूह से अर्थात् प्रयजादिक अंगजातों से वह याग परिपूर्ण होता है।[१]

उक्त विवेचन से यह ज्ञात होता है कि याग मुख्य है, और प्रयाज आदि उसके उपविभाग हैं। दूसरे शब्दों में कहने की आवश्यकता हुई तो कहा जा सकता है कि याग एक सामान्यवाचक शब्द है, और प्रयाजादिक उसके विशेष प्रकार हैं। जिस प्रकार अग्निसंयोग सामान्यनिर्देश है और काष्ठ, स्थाली, तृण और फूत्कार-ये उसके उपकारक रूप विशेष प्रकार होते हैं। या, जिस प्रकार 'छेदन' यह एक सामान्य निर्देश है और कुठार का उद्यमन (ऊपर उठाना) और निपतन (नीचे गिरना) ये उसके उपकारक विशेष प्रकार हैं, या, जिसप्रकार 'गमन' यह एक सामान्य निर्देश है, और गमन करने से पूर्व प्रदेश का वियोग और उत्तर-

---

१. **'दर्शपूर्णमास' में 'समिधो यजति, तनूनपातं यजति, इडो यजति, बर्हिर्यजति, स्वाहाकारं यजति,'**– इन पंच प्रयाज क्रियाओं का उल्लेख है। प्रयाज, अनुयाज आदि से सम्बन्धित अधोलिखित तथ्य अर्थ को समझने में लाभदायक होगा—

First of all, 5 offerings of ghee are poured in the fire by means of a ladle. These offerings are called पंचप्रयाजs or आज्यभागs. Then pieces of the पुरोडाश are offered to अग्नि, विष्णु, अग्नीषोम, and इंद्रवैमृध, being the chief gods of the 'दर्शपूर्णमासयाग' After this, ghee is poured in the fire in honour of the विश्वेदेवs. This offering of ghee is called the स्विष्टकृत्. Then three offerings of ghee, called the अनुयाजs are made to the fire.

भावनाऽभिधीयते। तत्र च किम्भावयेत्कथम्भावयेदिति। भाव्याद्याकाङ्क्षायां तृणफूत्कारादिभिरूपकारं सम्पाद्य पाकेन तेजः संयोगलक्षणेनौदनं भावयेदोदनं कुर्यादिति। भाव्याद्यन्वयेन वाक्यार्थः सम्पद्यते तद्वदिति। ननु पूर्वं साध्यस्यापि यागादेः स्वसाधननिष्पादितस्य सतोऽपूर्वनिष्पादकत्वं सम्भवति तद्द्वारेण च विनश्वरस्याप्यचिरं स्वर्गसाधनत्वमितरस्य सम्भवतीत्युक्तम्। तच्च यागेन कथमुत्पाद्यते तत्र वक्तव्यं यागेन स्वर्गं कुर्यादिति तावत्फलवाक्येन यागस्य फलसाधनत्वं बोध्यते तत्र च कथं विनश्वरेण स्वर्गः कर्तव्यस्तस्य कालान्तरभावित्वादित्याकाङ्क्षायामपूर्वं निष्पाद्येत्युच्यते पुनः कथमपूर्वन्निष्पादनीयमित्याकाङ्क्षायां प्राच्योदीच्याङ्गविशिष्टस्य यागस्यानुष्ठानप्रकारेणेत्युच्यते तच्चापूर्वन्दर्शपूर्णमासयोरनेकविधम्। फलापूर्वं समुदायापूर्वमुत्पत्त्यपूर्वमङ्गापूर्वंचेति तत्र येन स्वर्गः क्रियते तत्फलापूर्वमित्युच्यते। फलजनकत्वात्। तच्च समुदायापूर्वेण जन्यते। समुदायश्च द्विविधः। अमावास्यायां त्रयाणां यागानामेकः समुदायः पौर्णमास्याञ्च त्रयाणां यागानामपरः समुदायश्च ताभ्यां जन्यं यदपूर्वं तत्समुदायापूर्वमित्युच्यते। समुदाययोश्च भिन्नकालवर्तिनोः संहत्य फलापूर्वजननायोगात्तज्जननाय समुदायद्वयजन्यस्यापूर्वद्वयस्यावश्यं कल्पनीयत्वात्। अमावास्यायां समुदायस्तु ऐन्द्रं दध्यमावास्यायामैन्द्रं पयोऽमावास्यामिति वाक्यविहितौ सान्नाय्ययागौ

देश का संयोग, ये उसके उपकारक विशेष प्रकार होते है, उसीप्रकार 'याग'-यह सामान्य निर्देश है, और प्रयाजादिक ये उसके उपकारक रूप में विशेष प्रकार हैं। और जिसका सामान्यत्वेन से निर्देश किया जाता है, उसीके विशेष प्रकार इतिकर्तव्यता के द्वारा निर्दिष्ट किये जाते हैं। अतः **'यागेन स्वर्गं भावयेत्'** कहा जाने पर भी, याग से स्वर्ग किस प्रकार साधना चाहिए? कैसे सिद्ध करना चाहिए? ऐसी जिज्ञासा या आकांक्षा उत्पन्न होने पर स्वर्ग सिद्धि के लिए प्रयाजादिक अंगजात से उपकृत याग करने के लिये कहा जाता है। और तब वह कथंभावाकांक्षा या इतिकर्तव्यताकांक्षा तृप्त होती है।

तात्पर्यार्थ यह है कि याग (दर्शपूर्णमास) के सम्पादन के लिये प्रयाज, अनुयाज आदि अंगभूत क्रियाओं का भी सम्पादन होना अनिवार्य है। जैसा कि पूर्व में कहा गया है कि 'दर्शपूर्णमास' मुख्य याग है एवं इन यागों की अङ्गभूत क्रियाएँ 'प्रयाज' आदि हैं। प्रयाज आदि के द्वारा अङ्गभूत क्रियाओं का सम्पादन करने के पश्चात् जब सम्पूर्णयाग पूर्णरूपेण अपनी अंगभूत क्रियाओं के साथ सम्पादित हो जाता है तभी याग से स्वर्ग-प्राप्ति हो सकती है, अन्यथा नही। इसलिए कथंभावाकांक्षा उत्पन्न होने पर प्रयाज आदि अंगसमूह द्वारा सम्पादन करने का निर्देश किया गया है। इस हेतु मूल में कहा गया है– कि इतिकर्तव्यता की आकांक्षा होने पर प्रयाजादि अङ्ग (जात) समूह अर्थात् क्रियासमूह इतिकर्तव्यतारूप में अन्वित होते हैं।

यहाँ तक दोनों भावनाओं– **शाब्दीभावना** और **आर्थीभावना** के विषय में विवेचन किया गया। उक्त विवेचन में प्रथमतः भावना का सामान्य लक्षण देने के पश्चात् शाब्दीभावना और आर्थीभावना के अलग-अलग लक्षणों को भी प्रस्तुत किया गया है। शाब्दीभावना और-

यदाग्नेयोऽष्टाकपाल इति वाक्यविहित आग्नेयश्च तेषां त्रयाणाम्भवति पौर्णमास्यं समुदायस्तु यदाग्नेयोऽष्टाकपालोऽमावास्यायां च पौर्णमास्यां चाच्युतो भवतीत्याग्नेययागो विहितः। ताभ्यामेतमग्नीषोमीयमेकादशकपालं पूर्णमासे प्रायच्छदित्यग्नीषोमीययागो विहितः। उपांशुयाजमंतरा यजत्युपांशुयागः। तावब्रूतामग्नीषोमावाज्यस्यैव तावुपांशुपौर्णमास्यामिति वाक्येन विहितः। तेषां त्रयाणां च भवति तयोस्तु समुदाययोर्मध्य एकसमुदायवर्तिनां त्रयाणां यागानाम्भिन्नक्षणवर्तिनां संहत्य समुदायद्वयजन्ययोरपूर्वयोरेकापूर्वजननायोगात्तज्जननाय यागत्रयजन्यानि त्रीण्युत्पत्त्यपूर्वाणि कल्पनीयानि। तेषां चाङ्गोपकारभन्तरेणानुत्पत्तेरङ्गानां चानेकक्षणवर्तित्वेन संहत्योत्पत्त्यपूर्वारम्भायोगात्तदारम्भायाङ्गापूर्वाणि कल्पनीयानि। तत्र चायं विभागः। सन्निपत्योपकारकाण्यवघातप्रोक्षणादीनि द्रव्यदेवतासंस्कारद्वारेण यागस्वरूपस्यैवातिशयजननेन यागोत्पत्त्यपूर्वोत्पन्नौ तद्द्वारेण हि फलापूर्वे च व्याप्रियन्ते सन्निपत्योपकारकाङ्गापूर्वे यागोत्पत्त्यपूर्वस्य प्रयोजकत्वमिति केचित्। फलापूर्वस्यैव तादृशाङ्गापूर्वेऽपि प्रयोजकत्वं स्वीकर्तव्यम्। तस्यैव सर्वापूर्वप्रयोजकत्वे लाघवादित्यन्ये। आरादुपकारकाणि तु प्रयाजादीनि यागोत्पत्त्यपूर्वेभ्यः सकाशाज्जायमाने फलापूर्वमेव साक्षाज्जनयन्तीति। एवं प्रकारभेदेऽपि सर्वाण्यङ्गान्यपूर्वोत्पत्तावदुर्ग्राहकाणीत्येकरूपेणैवेत्थम्भावेन गृह्यन्ते। इत्थम्भाव इतिकर्तव्यता चानर्थान्तरम्। तथा च प्रधानानामाग्नेयादीनां षण्णां स्वरूपेण सर्वाङ्गसाहित्याभावेऽपि स्वस्वोत्पत्यपूर्वद्वारेण सर्वाङ्गसाहित्यन्तेषामङ्गानां प्रयाजावुपात्तादीनामपि स्वरूपेण सर्वप्रधानसाहित्यासम्भवेऽपि स्वस्वोत्पत्त्यपूर्वप्रधानसाहित्यञ्चोपपन्नम्। तच्च साहित्यं विहितमिति वक्ष्यते। एवञ्च यदेव प्रधानानामङ्गवैशिष्ट्यरूपं साङ्गत्वमित्युच्यते तस्मात्ताभ्यां समुदायापूर्वाभ्यामाग्नेयादिप्रधानोत्पत्यपूर्वत्रितयत्रितयजन्याभ्यां प्रयाजाद्यङ्गापूर्वसहिताभ्यां फलजनकीभूतं फलापूर्वापरनामकं महापूर्वं जन्यते तेन च फलमिति यागस्यापूर्वद्वारेण फलसाधनत्वमुक्तमुपपन्नतरम्भवतीति सर्वं समंजसम्। ननु दर्शपूर्णमासाभ्यां स्वर्गकामो यजेत, चित्रया यजेत पशुकामो, उद्भिदा यजेत पशुकामो, ज्योतिष्टोमेन स्वर्गकामो यजेतेत्यादिषु सर्ववाक्येषु कस्य पदस्यापूर्वप्रतिपादकत्वमिति वक्तव्यम्। न च भावनावाचकस्य यजति ददात्याख्यातान्तस्यापूर्ववाचकत्वं भवत्विति

आर्थीभावना के लक्षणों का भावना के सामान्यलक्षण के साथ समन्वय किस प्रकार होता है, इस तथ्य को **'मीमांसापरिभाषा'** ग्रंथ से सम्यक्रीत्या समझा जा सकता है।[१]

'यजेत स्वर्गकामः' वाक्य का आर्थीभावनानुसार निष्पन्न अर्थ यह है कि **'प्रयाज'** आदि अंगसमूह के सम्पादन द्वारा 'याग' से स्वर्ग सिद्ध करें। अब आर्थीभावना से निष्पन्न उक्त सम्पूर्ण वाक्य को शाब्दीभावना के साध्यत्वरूप में अर्थात् उसके कर्मत्व के रूप नियोजित करते हैं, जिससे शाब्दीभावना में आर्थीभावना का साध्यत्वेन अन्वय हो जाता है। 'यजेत' **'स्वर्गकामः'** का शाब्दभावनानुसारी अर्थ है- 'कर्मप्राशस्त्य से उपकृत लिङादिज्ञान से

---

१. 'भावनात्वं नाम भवितुर्भवनानुकूलप्रयोजकव्यापारत्वम्। तत्रार्थभावनायां भवितुर्जायमानस्य स्वर्गादेः प्रयोजकव्यापारत्वाल्लक्षणसंगतिः। शब्दभावनायमपि पुरुषप्रवृत्तिरूपस्य भवितुः प्रयोजकव्यापाराल्लक्षणसंगतिः।'

वाच्यम्। अपूर्वस्य साध्यत्वेन प्रधानत्वात्सर्वेषां पदानां प्रधानान्वयलाभाय तेषां सर्वेषामेव क्रियाकारकसम्बन्धमनादृत्य प्रत्येकमपूर्ववाचकत्वात्। अन्यथा तेषां प्रधानान्वयित्वं न स्यादितिचेदत्रोच्यते। अपूर्वस्यात्यन्तादृष्टरूपत्वादेकापूर्वकल्पनयैव वाक्यस्योपपत्तावनेकापूर्वकल्पनायां गौरवप्रसङ्गः स्यात्। सर्वेषां च पदानां तद्वाचकत्वे पर्यायत्वप्रसक्त्यैकस्यैव पदस्यैकापूर्ववाचकत्वं स्वीकर्त्तव्यं, पदान्तरं तु तद्गुणतयान्वेति तच्चापूर्ववाचकं पदमाख्यातान्तमेव न तु कर्मनामधेयादिकं तस्य भावार्थसामानाधिकरण्यादिनाप्युपपत्तेः। ननु सोमेन यजेत हिरण्यमात्रेयाय ददाति तस्मात्सुवर्णं हिरण्यं भार्यमिति हि श्रुतम्। तत्र च सामहिरण्यशब्दौ द्रव्यवाचकौ सुवर्णशब्दस्तु शोभनवर्णरूपगुणवाचकः। तैरेवद्रव्यादिशब्दैरपूर्वमवगम्यते। द्रव्यादीनां सिद्धस्वरूपाणामेव साध्यापूर्वसाधनत्वादिति चेन्न। द्रव्यादिसिद्धस्वरूपाणां यागदानादिरूपभावार्थशेषत्वेनाप्युपपत्तेर्भावार्थस्यैवापूर्वसाधनत्वात्। क्रियां विना द्रव्यादीनां न फलसाधनत्वं सम्भवति। पचिक्रियामन्तरेण काष्ठस्थाल्यादीनामोदनसाधनत्वादर्शनादित्युक्तमेव। तस्माद्भावनावाचकस्यैवाख्यातान्तपदस्यापूर्वगमकत्वं न द्रव्यादिपदस्येति सिद्धम्। नन्वेवं भवतु भावनावाचकस्याख्यातपदस्यापूर्वगमकत्वं भवतु च भावनैवाख्यातसामान्यार्थः। तथापि सोमेन यजेत, हिरण्यमात्रेयाय ददाति, दाक्षिणानि जुहोतीत्यादिषु वाक्येषु भावनावाचकस्याख्यातस्यैकत्वाद्भावनाया अप्येकत्वं युक्तम्। न च धातुभेदाद्भावनाया भेद इति वाच्यम्। धातोर्भावनावाचकत्वाभावात्तस्य तद्भेदाप्रयोजकत्वादिति चेदत्राभिधीयते।अस्तु तावदाख्यातस्यैव भावना वाचकत्वन्तच्चाख्यातं न प्रतिधातुव्यक्त्येकव्यक्तिरूपं भवति न हि सर्वासां धातुव्यक्तीनामुपर्य्येकाख्यातप्रत्ययव्यक्तिः श्रूयते व्याकरणेनापि न धातुसमूहादेकाख्यातव्यक्तिर्विहिता तस्माद्बहूनामाख्यातव्यक्तीनामेकैकधातुविशेषानुषक्तत्वेनोत्पन्नानां भावनावाचकत्वाद्यागदानहोमभावनाः परस्परं भिद्यन्त इति भावनाभेदे तत्करणस्यापि भावार्थस्यापर्यायशब्दान्तराद्भेदः स्पष्ट एवेति सिद्धम्। ननु समिधो यजति, तनूनपातं यजति, इडो यजति, बर्हिर्यजति स्वाहाकारं यजतीति दर्शादिप्रकरणे पञ्चप्रयाजाः श्रूयन्ते तत्र च पञ्चकृत्। श्रुते यजतिपदे यजति ददाति जुहोत्यादिषु पूर्वोक्तपदेष्विव धातुभेदाभावात्तदनुषक्ताख्यातस्याप्यभेद एव ततश्चाख्यातैक्यप्रयुक्तभावनैक्यमपिदुर्वारमिति चेन्न। यजतिपदाभ्यासाद्भावनाभेदस्य स्वीकर्त्तव्यत्वात्। तस्मात्करणभेदः। अन्यथा कर्मैकत्वेऽभ्यासो निरर्थकः स्यात्। तस्मादविशेषपुनः श्रुतिरूपा यजति पदाभ्यासात्कर्मभेदःसिद्ध इत्यन्यत्र विस्तरः। ननु तिस्र आहुतीर्जुहोतीतित्यत्र जुहोतीत्याख्यातं समिधो यजतीत्यादिवन्नाभ्यासेनाम्नातं किन्तु

'यजेत' का विधिलिङ् 'आर्थीभावना' विषयक प्रेरणा उत्पन्न कर रहा है। अब यदि उक्त दोनों वाक्यों को (१) प्रयाज आदि .... स्वर्ग सिद्ध करे' और (२) कर्मप्राशस्त्य से .... प्रेरणा उत्पन्न करता है' एकत्र किये जाने पर उन दोनों के मिश्रण से निमनांकित एक मिश्र वाक्य बनता है अर्थात्– कर्मप्राशस्त्य से उपकृत (शाब्दीभावना की इतिकर्तव्यता) होकर लिङादिज्ञानसे (शाब्दीभावना का करण) **'यजेत'** का विधिलिङ् इस प्रकार प्रेरित कर रहा है कि (शाब्दीभावना का साध्य) प्रयाजादि अंग समूह द्वारा उपकृत होकर (आर्थीभावना की इतिकर्तव्यता) याग से (आर्थीभावना का करण) स्वर्ग (आर्थी का साध्य) सिद्ध करें।

सकृदेव ततश्च भावनैक्येन कर्मैक्यमेवतिचेदत्र वक्तव्यम्। किमिदमाख्यातम्पदान्तरान्वयनिरपेक्षस्वरूपं सदेव भावनैक्ये प्रमाणमुतपदान्तरान्वयसापेक्षस्वरूपम्। नाद्यः। पदमात्रस्यवाक्यांशरूपस्य स्मारकत्वेन वाक्यकार्यरूपप्रमितिजनकत्वासम्भवात्। न द्वितीयः। त्रित्वसङ्ख्ययाविशेषितेनाख्यातेन कर्मबहुत्वावगमाद्भावनाबहुत्वावगमे तस्य भावनैक्ये प्रमाणत्वाभावात्। तस्मात्पदाभ्यासाभावेऽपि जुहोत्यर्थे होमे त्रित्वसङ्ख्यान्वयात्परस्परं त्रयो होमा भिद्यन्त इति भावनानां त्रित्वमेवेति सिद्धम्। ननु अथवा एष ज्योतिरथैष विश्वज्योतिरथैष सर्वज्योतिरेतेन सहस्रदक्षिणेन यजेतेत्यत्र हि प्रकृतं ज्योतिष्टोममेषज्योतिरित्यादिनाऽनूद्य तस्मिन्सहस्रदक्षिणादानलक्षणो गुणो विधीयत इति नात्र कर्मभेदेन भावनाभेद इति चेन्न। प्रकृतस्य ज्योतिष्टोमस्याथेत्यनेन विच्छेदात्। ततश्च ज्योतिष्टोमप्रकरणे श्रूयमाणानामपि त्रयाणां यागानां ज्योतिष्टोमसंज्ञापेक्षया पृथक्संज्ञात्रयकरणाज्ज्योतिष्टोमाद्भिन्नसंज्ञावशादेवत्रयाणाञ्च परस्परं भेद इति भावनानां भिन्नत्वमिति सिद्धम्। ननु तप्ते पयसि दध्यानयति सा वैश्वदेव्यामिक्षावाजिभ्यो वाजिनमिति हि श्रूयते। तत्र च घनीभूतः पयः पिण्डः आमिक्षां जलं वाजिनम्। तथाचामिक्षाद्रव्यभाजो ये विश्वेदेवास्तान्वाजिभ्य इत्यनेनानूद्य तत्र वाजिनद्रव्यरूपो गुणो विधीयते। वाजोऽन्नमामिक्षारूपमेषामस्तीति तदुत्पत्तेः। तच्च द्रव्यामिक्षाद्रव्येण सहसमुच्चीयतां विकल्पतां वेति चेन्न। वैश्वदेवयागस्य पूर्वमेवामिक्षारूपगुणावरुद्धत्वेन तत्र वाजिनगुणस्य प्रवेशायोगात्। नहि व्रीहियवयोरिव वाजिनामिक्षयोर्विकल्पः। समशिष्टत्वाभावात्। आमिक्षारूपो गुणस्तु वैश्वदेवयागस्योत्पत्तिवाक्य एव शिष्यते विधीयत इत्युत्पत्तिशिष्टः। वाजिनगुणस्य तूत्पन्ने कर्मणि विधिःकल्प्यत इत्युत्पन्नशिष्टः। उत्पत्तिशिष्टोत्पन्नशिष्टयोर्मध्य उत्पत्तिशिष्टः। कर्मोत्पत्तिकाल एव तदङ्गत्वेन प्रमितत्वात्प्रबलः। उत्पन्नशिष्टस्तु तदनन्तरं प्रमितोऽपि विलम्बितत्वेन दुर्बलत्वात्तत्र प्रवेशमलभमानो वाजिशब्दार्थस्य देवतान्तरत्वमापाद्य तद्दैवत्यकर्मान्तरे प्रविशति तस्माद्द्रव्यदेवतालक्षणस्य रूपस्य भेदात्कर्मभेदेन भावनाया भेद इति सिद्धम्। ननूपसद्भिश्चरित्वा मासमग्निहोत्रं जुहोतीत्यत्र हि न कर्मान्तरभावनाया विधिः किन्तु नित्याग्निहोत्रमनूद्य तत्र मासरूपो गुणो विधीयते प्राप्तत्वादिति चेन्न। वाक्यभेदप्रसङ्गात्। तथा हि किन्तदनुवादेन मास एव विधीयते किमुतोपसदोऽपि। न प्रथमः। उपसदामपि नित्याग्निहोत्रे प्राप्तानां त्वन्मते विधेयत्वात्। नापि द्वितीयः। प्राप्ते कर्मणि मासोपसद्रूपानेकगुणविधाने वाक्यभेदस्य दुर्वारत्वात्। स चाष्टदोषदुष्टः दोषांश्चोपरिष्टात्प्रदर्शयिष्यामः। तस्मादपूर्वकर्मविधायकात्कुण्डपायिनामयनरूपात्प्रकरणान्तरान्नि-

---

उक्त मिश्रवाक्य अंग्रेजी के मिश्रवाक्य (Complex Sentence) जैसा प्रतीत होता है। उक्त वाक्य की प्रक्रिया के समान प्रकृत वाक्य के अन्तर्गत 'शाब्दीभावना' का वाक्य मुख्य वाक्य (Principal) है और 'आर्थीभावना' का वाक्य गौण (Subordinate) है। और यह गौण वाक्य उस मुख्यवाक्य की क्रिया का कर्म (Subordinate sentence, used as a noun, in the objective case) है। उपर्युक्त लंबे मिश्रवाक्य को संक्षेप में यदि कहा जाय तो वह इस प्रकार कहा जायगा– 'वेद (इस प्रकार) प्रेरित करता है कि याग से स्वर्ग प्राप्त करें, और इसमें 'प्रेरित करता हैं'– इस क्रिया का कर्म है– 'याग द्वारा स्वर्ग प्राप्त करें'। इस

(१३) वेदलक्षणविचारः

अथ को वेद इति चेदुच्यते। अपौरुषेयं वाक्यं वेदः। स च विधि-मन्त्र-नामधेय-निषेधार्थवाद-भेदात्पञ्चविधः ।।१३।।

त्याग्निहोत्रधर्मकं तन्नामकं च कर्मान्तरमत्र विधीयत इति कर्मान्तरभावना सिद्धा। तथा च शब्दान्तराभ्याससङ्ख्यासंज्ञागुणभेदप्रकरणान्तरैः कर्मभेदोऽपि द्वितीयाध्यायस्यार्थो मूले भावनाप्रदर्शनेनैव सूचितो वेदितव्यः। अग्रेवोत्पत्तिविधिनिरूपणेन स ध्वनितोऽस्माभिस्त्वत्रैव निरूपितः। तस्मात्स्वर्गमुद्दिश्य तत्साधनत्वेन स्वर्गकामविधिर्यागादिकं विधत्ते। ततश्च तादृशवेदस्य धर्मादौ प्रामाण्यं निरवग्रहमुपपन्नमिति सर्वं निरवद्यम्। तस्य च वेदरूपप्रमाणस्य प्रमेयोऽर्थस्त्रिविध इति प्रसङ्गाच्चिन्त्यते। क्रत्वर्थः पुरुषार्थ उभयार्थश्चेति। तत्र प्रयाजादिःप्रोक्षणादिश्च केवलं क्रत्वर्थः। फलं यागादिरूपन्तत्करणं च पुरुषार्थः। यथा स्वर्गादिर्दर्शपूर्णमासादिश्च दध्यादि तूभयार्थं दध्ना जुहोतीति फलासंयुक्तवाक्येन तस्य क्रत्वर्थत्वावगमात्। दध्नेन्द्रियकामस्य तु जुहुयादिति फलसंयोगपरवाक्येन पुरुषार्थत्वावगमाच्च। एकस्य तूभयार्थत्वे विनियोजकप्रमाण–भेदस्य नियामकत्वात्। तथा चोक्तम्। एकस्य तूभयत्वे संयोगपृथक्त्वमिति। किञ्च क्रत्वर्थे प्रयाजादौ क्रतुः प्रयोजकः पुरुषार्थे च दर्शादौ फलं प्रयोजकत्वं चानुष्ठापकत्वम्। तथाच विधिर्यदर्थं यदनुष्ठापयति स तत्र प्रयोजकः यथा दर्शादिविधिः स्वर्गार्थं दर्शादिकमनुष्ठापयति स्वर्गादिर्दर्शादौ प्रयोजकः। यथा च प्रयाजादिविधिः प्रयाजादीन् दर्शाद्यर्थमनुष्ठापयति दर्शादिः प्रयाजादिषु प्रयोजको दध्यानयनविधिश्च दध्यानयनमामिक्षार्थमनुष्ठापयत्यामिक्षा दध्यानयने प्रयोजिका वाजिनं तु दध्यानयनानुष्ठानेनामिक्षायां जायमानायामनुनिष्पाद्यमानत्वान्मधुररसस्य चामिक्षायामेव विशेषणोपलभ्यमानत्वान्नदध्यानयने प्रयोजकमित्यादिका चतुर्थाध्यायर्थचिन्ता स्वयमूहितव्या ।।१२।।

तदेवं सामान्यतः प्रयोजनवदर्थावबोधकत्वेन वेदस्य धर्मे प्रामाण्यं धर्मविधायकत्वप्रदर्शनेन चोपपाद्येदानीं तस्य विध्यादिरूपविभागेन तत्र प्रामाण्यमुपपादयितुं

सरल अर्थ को 'आर्थीभावना-शाब्दीभावना का साध्य होती हैं'– इस प्रकार के कठिन पारिभाषिक शब्दावली में व्यक्त किया गया है।।१२।।

अधुना ग्रंथकार धर्मलक्षण 'वेदप्रतिपाद्यः' पद में आये हुए 'वेद के स्वरूप, लक्षण एवं विभागों पर विचार प्रस्तुत कर रहें हैं–

अनुवाद– अथेति। *[प्रकृत प्रसंग में यदि कोई यह जिज्ञासा करे कि 'वेद क्या है? तो उक्त जिज्ञासा के उपशमनार्थ ग्रंथकार कहते हैं–] अपौरुषेय वाक्य को वेद कहते हैं। उस वेद के पाँच भेद हैं–* ***विधि, मन्त्र, नामधेय, निषेध*** *और* ***अर्थवाद****।।१३।।*

।। अर्थमीमांसा ।।

पूर्व के विवेचन में 'यागादिरेव धर्मः'– यागादिक ही धर्म है, इस प्रकार धर्म के

तल्लक्षणं पृच्छति-*अथेति*। उत्तरम्प्रतिजानीत *उच्यत इति*। तत्र सामान्यलक्षणमाह। अपौरुषेयं वाक्यमिति वेद इति लक्ष्यनिर्देशः। तत्र भारतादावतिव्यातिवारणाया-पौरुषेयमिति विशेषणम्। आत्मादौ तद्दोषवारणाय वाक्यमिति विशेष्यम्। प्रमाणान्तरेणार्थमुपलभ्य विनिर्मितत्वं पौरुषेयत्वं तद्भिन्नवाक्यत्वमिति फलितम्। न हि वेदं परमेश्वरस्तदर्थम्प्रमाणान्तरेणोपलभ्य विनिर्मितत्वं पौरुषेयत्वं तद्भिन्नवाक्यत्वमिति फलितम्। इश्वरो वेदमपि प्रमाणान्तरेणार्थमुपलभ्य विरचयति। तस्मात्कथं वेदस्य पौरुषेयत्वाद् भिन्नत्वम्। नहि वेदं परमेश्वरस्तदर्थं प्रमाणान्तरेणोपलभ्य विरचयति। वेदाध्ययनं गुर्वध्ययनपूर्वकं वेदाध्ययनत्वाद्वर्त्तमानवेदाध्ययनवदित्यनुमानेन वेदस्यापौरुषे-यत्वसाधनात्। यः कल्पः स कल्पपूर्वक इति न्यायेन संसारस्यानादित्वात्। परमेश्वरस्य च सर्वज्ञत्वात्परमेश्वरो गतकल्पीयं वेदमस्मिन्कल्पे स्मृत्वोपदिशतीत्येतावन्मात्रेणोपपत्तौ वेदपौरुषेयत्वस्यानौचित्याच्चेति भावः। वेदं विभजते। स चेत्यादिना।।१३।।

सामान्यस्वरूप को बताकर आगे उस धर्म का **'वेदप्रतिपाद्यः प्रयोजनवदर्थो धर्मः'** विशेष लक्षण प्रतिपादित किया गया है। धर्म के लक्षण 'वेदप्रतिपाद्यः' में प्रयुक्त **'वेद'** शब्द के सम्बन्ध में विवरण देने के लिये अब यहाँ **'अथ को वेदः'** प्रश्न उत्थापित किया गया है और प्रकृत शंका के समाधान में **'अपौरुषेयं वाक्यं वेदः'** (अपौरूषेय वाक्य वेद है) इन शब्दों में उसका लक्षण बताकर, **विधि, मंत्र, नामधेय, निषेध** और **अर्थवाद**, वेद के इन पाँच-भेदों को यहाँ प्रतिपादित किया गया है।

इसके पूर्व वेद के अपौरुषेयत्व के सम्बन्ध में विवेचन किया जाचुका है। **'अपौरुषेयं वाक्यं वेदः'** वेद के उक्त लक्षण में (१) **अपौरुषेय** और (२) **वाक्य**, इन दो पदों का प्रयोग किया गया है। प्रकृत में इन का विचार करते हैं। प्रश्न यह है कि उक्त वेदलक्षण में-प्रयुक्त **'अपौरुषेय'** पद को छोड़कर वेद का लक्षण 'वाक्यं वेदः' इतना ही यदि कहा जाता तो वेदलक्षण उपयुक्त नहीं होता। क्योंकि-भारतादिक ग्रंथ भी एक प्रकार से वाक्य ही हैं, ऐसे ग्रंथों को भी यदि **'वाक्यं वेदः'** वेद वाक्य की तरह मानलें तो वेदलक्षण की यहाँ अतिव्याप्ति होगी। इस अतिव्याप्ति का निराकरण करने के लिये ही वेद लक्षण में **'अपौरुषेय'** पद का प्रयोग किया गया है। महाभारत आदि ग्रंथ व्यास आदि पुरुषों के द्वारा लिखे होने के कारण पौरुषेय हैं, वे वेद की तरह अपौरुषेय नहीं है। अतः लक्षण में **'अपौरुषेय'** विशेषण का प्रयोग करने से महाभारतादि ग्रंथों पर आनेवाली अतिव्याप्ति दूर हो जाती है। (२) अब यदि वेद लक्षण में से **'वाक्य'** पद को हटाते हैं और केवल **'अपौरुषेय वेदः'** इतना ही वेद का लक्षण करते हैं, तो आत्मादिक भी अपौरुषेय (अपुरुषकृत) होने के कारण, वेद लक्षण के अन्तर्गत प्रविष्ट होगें। अतः इनका भी निवारण करने के लिये वेद के लक्षण में 'वाक्य' पद का प्रयुक्त होना आवश्यक है।

वेद के **अपौरुषेयत्व** के सम्बन्ध में एक और **शङ्का** हो सकती है कि जिस प्रकार कोई सामान्य पुरुष भिन्न-भिन्न प्रमाणों से किसी वस्तु को निश्चित कर उस से सम्बन्धित जिस वाक्य की रचना करता है, वह वाक्य पौरुषेय होता है, उसी प्रकार संभव है कि ईश्वर ने भी भिन्न-

(१४) विधिमीमांसा

तत्राज्ञातार्थज्ञापको वेदभागो विधिः। स च तादृशप्रयोजनवदर्थविधानेनार्थवान् यादृशं चार्थं प्रमाणान्तरेणाप्राप्तं विधत्ते। यथाऽग्निहोत्रं जुहुयात्स्वर्गकाम इति विधिर्मानान्तरेणाप्राप्तं स्वर्गप्रयोजनवद्धोमं विधत्ते। अग्निहोत्रहोमेन स्वर्गं भावयेदिति वाक्यार्थबोधः ।।१४।।

तत्रविधिं लक्षयति। तत्रेत्यादिना तत्र पञ्चविधेषु वेदभागेषु मध्य इत्यर्थः। *अज्ञातेति*। अज्ञातस्य प्रयोजनवतोऽर्थस्य यदि नास्य ज्ञापकत्वं विधित्वमित्यर्थः। तदेवाह स चेत्यादिना। स विधिर्यादृशं प्रमाणान्तरेणाप्राप्तम्भवति तादृशमर्थं विधत्ते तेन चाज्ञातप्रयोजनवदर्थविधानेनार्थवानिति योजना तत्रोदाहरणमाह। *यथाग्निहोत्रमिति* ।।१४।।

भिन्न प्रमाणों के आधार पर-निश्चय करके वेद की रचना की हो। इस दृष्टि से देखने पर वेद भी पौरुषेय ही होना चाहिए। किन्तु ऐसी शङ्का करना ठीक नहीं है। क्योंकि, ईश्वर ने भिन्न-भिन्न प्रमाणों के आधार पर निश्चित कर वेद की रचना नहीं की है। **'धाता यथा पूर्वमकल्पयत्' 'यः कल्पः स कल्प पूर्वः'** इत्यादि वचनों से स्पष्ट होता है कि सृष्टि पूर्व के कल्प में जिस प्रकार थी, उसी प्रकार आगे के कल्पमें उसकी उत्पत्ति की गई है। और इस प्रकार के अनेक अनन्त कल्प आज तक हो चुके हैं और आगे भी अनन्त कल्प उत्पन्न होने हैं। इस प्रकार यह संसार अनादि होने के कारण पूर्व के कल्प में वेद जिस प्रकार थे, वैसे ही इस कल्प में भी अध्ययन-परंपरा से आज वे प्राप्त हैं। इसलिए, **'वेद अपौरुषेय हैं'**, यह मानना ही युक्तियुक्त है। कौमुदीकार ने उक्त विषय को सरलरीत्या स्पष्ट किया है।।१३।।

__अनुवाद– तत्रेति__। वेद के उक्त पाँच भेदों में, अज्ञात अर्थ के बोधक वेद भाग को __विधि__ कहा जाता है। वह विधि, जो अर्थ प्रमाणान्तर से ज्ञात नहीं है (प्राप्त नहीं है) उस अर्थ का विधान करता है इस हेतु प्रमाणान्तर से अज्ञात एवं सप्रयोजन अर्थ के विधान से ही विधि की सार्थकता होती है। उदाहरणार्थ- __'अग्निहोत्रं जुहुयात् स्वर्गकामः'__ (स्वर्गरूप फलप्राप्ति हेतु अग्निहोत्र करना चाहिए) एक विधिवाक्य है। यह विधिवाक्य अन्य प्रमाणों से अनवगत स्वर्गफलक होम का विधान करता है। उक्त विधिवाक्य का वाक्यार्थ बोध __'अग्निहोत्रहोमेन स्वर्गं भावयेत्'__ (अग्निहोत्र नामक होम से स्वर्ग का सम्पादन करे,) इस प्रकार निष्पन्न होता है।।१४।।

।। अर्थमीमांसा ।।

इसके पूर्व कहा जा चुका है कि वेद के पाँच विभाग हैं। वे इस प्रकार हैं—

(१) विधि, (२) मंत्र, (३) नामधेय, (४) निषेध और (५) अर्थवाद। परन्तु उक्त विभागों के पूर्व वेद के दो भाग होते हैं– **मंत्र** और **ब्राह्मण**। तत्पश्चात् ब्राह्मण भाग में **विधि,**

नामधेय, निषेध और **अर्थवाद**-इन चारों का समावेश किया जाता है। **'मीमांसा परिभाषा'** ग्रंथ में इसी प्रकार वेद-विभागों का उल्लेख हैं।[१]

संक्षेप में कहें तो, सर्वप्रथम वेद को दो भागों में विभक्त किया गया-**मंत्र** और **ब्राह्मण**। इसका तात्पर्य यह हुआ कि पूर्व में कथित विधिमंत्रादिक ५ भेदों में से 'मंत्र' भाग अलग निकल जाने के कारण 'ब्राह्मण' में केवल शेष चार भागों का ही समावेश होता है। इन चारों में से 'विधि' और 'निषेध' एक ही कोटि में समायोजित हो सकते हैं। और अर्थवाद-विधिनिषेध से (स्तुति-निंदा के द्वार से उनसे) एकवाक्यता प्राप्त कर लेता है। वस्तुतः विधि-निषेध वाक्यों का जो उद्देश्य होता है, वही 'अर्थवाद' का होता है। क्योंकि विधि वाक्यों के द्वारा विहित कर्मो के प्रशंसक एवं निषेध वाक्यों के द्वारा निषिद्ध कर्मों के निन्दक वाक्यों को **'अर्थवाद'** कहा जाता है। अब केवल शेष रहता है **'नामधेय'** नामक भेद। इस भेद को अन्य भेदों की तरह इतना महत्व देना क्यों आवश्यक है? इस विषय में **डॉ. थीबो** ने अपनी अर्थसंग्रह की अंग्रेजी प्रस्तावना में निम्नानुसार शङ्का उपस्थित की है—

'While it is easy to understand why विधि (injunction) and मंत्र are declared to constitute two of the Subdivisions of the Veda, and again why the same position is assigned to अर्थवाद and निषेध, it is, on a superficial view of the matter, difficult to see why नामधेय (name) is Co-ordinated with the four heads-enumerated.

परन्तु उक्त शंका अनभिज्ञ व्यक्ति ही कर सकता है। क्योंकि मीमांसादर्शन की प्रकृति को जानने वाले यह स्पष्टरूप से जानते है कि **'उद्भिदा यजेत पशुकामः,' 'चित्रया यजेत पशुकामः,' 'अग्निहोत्रं जुहोति,' 'श्येनेनाभिचरन्यजेत,' 'वैश्वदेवेन यजेत'** इत्यादि वाक्यों का जो विषय **'नामधेय'** नामक भेद के अन्तर्गत आता है, वह विधि, निषेध या अर्थवाद-इन में से किसी भी विभाग में समायोजित न हो सकने के कारण उसका एक स्वतंत्र विभाग ही कल्पित किया गया है। वेद के उक्त पांच विभागों का विभाजन इस प्रकार किया गया है कि वेद का कोई भी वाक्य इन विभागों के बाहर नहीं जा सकता। उसका समावेश किसी न किसी विभाग में होता ही है।

अब वेद के पांच विभागों में से यहाँ सर्वप्रथम 'विधि' के सम्बन्ध में विचार करते हैं। अज्ञात अर्थ को ज्ञापित अथवा प्रकाशित करानेवाले वेदभाग को **'विधि'** कहा जाता है। उक्त अर्थ को ग्रंथ की मूल शब्दावली में इस प्रकार व्यक्त किया गया है– [स च तादृशप्रयोजन-वदर्थविधानेनार्थवान् यादृशं चार्थं प्रमाणान्तरेणाप्राप्तं विधत्ते।] किन्तु ऐसा प्रतीत होता है कि उक्त वाक्य रचना समुचित रीत्या ग्रथित नहीं हुई है। संभव है, किसी अशुद्धपाठभेद के कारण

---

१. तत्र वेदो द्विविधः– मंत्ररूपो ब्राह्मणरूपश्चेति। तत्र प्रयोगकालीनार्थस्मरणहेतुतया मंत्राणामुपयोगः। प्रयोगोऽनुष्ठानं तत्कालीनेत्यर्थः। विधायकं वाक्यं ब्राह्मणम्। ब्राह्मणशेषश्चार्थवादः। तस्य विधेयप्राशस्त्यप्रतीतिजननद्वारा विधिवाक्यैकवाक्यतया प्रामाण्यम्। ब्राह्मणवाक्यं चानेकविधम्-कर्मोत्पत्तिवाक्यं, गुणवाक्यं, फलवाक्यं, फलाय गुणवाक्यं, सगुणकर्मोत्पत्तिवाक्यमित्यादिभेदात्।

(१५) गुणविधिः

यत्र कर्म मानान्तरेण प्राप्तं तत्र तदुद्देशेन गुणमात्रं विधत्ते । यथा दध्ना जुहोतीत्यत्र होमस्याग्निहोत्रं जुहुयादित्यनेन प्राप्तत्वाद्धोमोद्देशेन दधिमात्रविधानं दध्ना होमं भावयेदिति ।।१५।।

गुणविधिस्तु मानान्तरेणाप्राप्तं गुणमात्रं विधत्ते। प्रधानकर्मणस्तु मानान्तरेण प्राप्तस्यानुवाद एवेत्याह यत्र कर्मेत्यादिना।।१५।।

उक्त वाक्य रचना में यह दोष उत्पन्न हुआ हो। **न्यायप्रकाश** में विधि का लक्षण प्राय: इन्हीं शब्दों में, किन्तु शुद्धरीति से प्रस्तुत किया गया है, वह इस प्रकार है– **'विधिः प्रयोजनवदर्थविधानेन अर्थवान्। स चाप्राप्तमर्थं विधत्ते।** आपदेवी के उक्त लक्षण के प्रकाश में– उसकी सहायता से– अर्थसंग्रहोक्त पाठ को शुद्ध करके उसका अर्थ निम्नानुसार किया जा सकता है– अन्य किसी भी प्रमाण के द्वारा जिस प्रकार का (यादृश) अर्थ प्राप्त नहीं होता (अप्राप्त) उस प्रकार के अर्थ को प्रकाशित करने से जो अर्थवान् होता है, वह विधि कहलाता है। अर्थात् अन्य प्रमाण से अज्ञात-अप्रकाशित-अर्थ जिसके योग से ज्ञापित अथवा प्रकाशित किया जाता है, वह विधि है। उपर्युक्त लक्षण में **'अर्थ'** पद के साथ **'प्रयोजनवत्'** विशेषण जोड़ा गया है, उसका तात्पर्य यह है कि पूर्व में अज्ञात रहनेवाले जिस अर्थ को विधि द्वारा ज्ञापित किया जाता है, उसे स्वर्गप्राप्ति जैसा कोई प्रयोजन होना आवश्यक है। तात्पर्य यह है कि विधि की यही सार्थकता है कि जो सप्रयोजन अर्थ अन्य प्रमाणों से अज्ञात-अप्रकाशित रहता है, उसका विधान 'विधि' करता है। इसीलिये प्रमाणान्तर से अज्ञात एवं प्रयोजनयुक्त अर्थ के विधान से ही 'विधि' सार्थक होता है। 'विधि' का उदाहरण है– **'अग्निहोत्रं जुहुयात्स्वर्गकामः'** अर्थात् स्वर्गरूपी फल की प्राप्ति के लिये 'अग्निहोत्र' करना चाहिए। 'अग्निहोत्र होम' करने से स्वर्गप्राप्ति होगी या 'अग्निहोत्रहोम' यह स्वर्गप्राप्तिका साधन होने से उसे करना चाहिए, यह बात प्रत्यक्ष, अनुमान, इत्यादि किसी भी प्रमाण द्वारा पूर्व में ज्ञात नहीं हुई थी। पूर्व में अज्ञात बात इस वाक्य के द्वारा ज्ञापित होने से वह विधिवाक्य है। और इस विधिवाक्य से **'अग्निहोत्रहोमेन स्वर्गं भावयेत्'** अर्थात् अग्निहोत्रहोम से स्वर्ग का सम्पादन करे, यह अर्थ बोध होता है।।१४।।

अनुवाद– यत्रेति । *जहाँ पर कर्म का विधान अन्य प्रमाण से हुआ रहता है वहाँ पर कर्म को उद्देश्य करके गुणमात्र का विधान होता है, वह गुणविधि है। जैसे–* ***'दध्ना जुहोति'****। इत्यादि स्थल में होम का विधान,* ***'अग्निहोत्रं जुहुयात्'*** *इस विधिवाक्य से सिद्ध है, इस कारण* ***'होम'*** *को उद्देश्य करके केवल* ***दधि*** *(गुण) मात्र का विधान किया जाता है। इस पद्धति से उपर्युक्त वाक्य* ***'दध्ना जुहोति'*** *का वाक्यार्थ हुआ* ***'दध्ना होमं भावयेत्'*** *अर्थात् 'दधि के द्वारा होम का सम्पादन करे'।।१५।।*

।। अर्थमीमांसा ।

'गुणविधि' विषयक प्रस्तुत स्थल को हम इस प्रकार समझ सकते हैं– ग्रंथकार ने इस

(१६) विशिष्टविधिः

यत्र तूभयमप्राप्तं तत्र विशिष्टं विधत्ते। यथा सोमेन यजेतेत्यत्र सोमयागयोरप्राप्तत्वात्सोमविशिष्टयागविधानम्। सोमपदे मत्वर्थ-लक्षणया सोमवता यागेनेष्टम्भावयेदिति वाक्यार्थबोधः ।।१६।।

उभयमिति। शेषशेषिलक्षणमुभयमित्यर्थः। *विशिष्टमिति*। शेषविशिष्टं शेषिण-मित्यर्थः। तत्रोदाहरणमाह। यथा *सोमेन यजेतेति*। ननु सोमरूपस्यैव यागस्यात्र-विधिरस्तु किं विशिष्टविधानेनेत्याशङ्क्य सोमस्य द्रव्यत्वेन यागत्वासम्भवात्सोमपदे मत्वर्थलक्षणा स्वीकारेण विशिष्टस्यैव विधेर्युक्तत्वान्नैवमित्याह- *सोमपदे इत्यादिना*। ननु

प्रकरण के पूर्व **'अग्निहोत्रं जुहुयात् स्वर्गकामः।'** इत्यादि वाक्य को विधि के उदाहरण रूप में ग्रहण किया था। इस विधिवाक्य से होम का विधान पहले से ही हो चुका है। विधान हो जाने से 'होम' तो हमें प्राप्त ही है, और प्राप्त (विहित) का पुन: विधान नहीं होता, यह नियम है। किन्तु यह अग्निहोत्रहोम किस द्रव्य से करना चाहिए, यह ज्ञात नहीं था। और उस ज्ञान को **'दध्ना जुहोति'** विधि से निरूपित किया गया है। यहाँ अग्निहोत्रहोम **प्रधान** है और वह प्रधान होम 'दधि' रूप **गुण** द्रव्य से संपादित करना चाहिए, यह दूसरे विधि में कहा गया है। अर्थात् अग्निहोत्रहोम प्रधान है और दधि उसका साधनीभूत **गुण** है। इनमें से अग्निहोत्रहोम प्रधानभूत है, यह **'अग्निहोत्रं जुहुयात्सवर्गकामः'** वाक्यानुसार पूर्व से ही ज्ञात है। परन्तु **'दधि'** उस प्रधान का अङ्गभूत द्रव्य है (गुणभूतद्रव्य), इसका ज्ञान पूर्व में नहीं था। उस गुण का ज्ञान **'दध्ना जुहोति'** विधि से कराया गया है। अत: इसे 'गुणविधि' कहा जाता है। 'दध्ना जुहोति' का वाक्यार्थबोध 'दध्ना होमं भावयेत्' इस रीति से होता है यह समझना चाहिए। तात्पर्य यह है 'दध्ना जुहोति' वाक्य घटित 'लेट' प्रत्यय अन्य विधिवाक्य से प्राप्त हुए 'होम' का विधान न कर केवल उसे अपेक्षित 'दधि' रूप द्रव्य का ही गुणत्वेन विधान कर रहा है। इस हेतु यह गुणविधायक वाक्य होने से 'दध्ना जुहोति' को गुणविधि माना जाता है।।१५।।

अनुवाद– यत्रेति*। *जहाँ पर 'गुण' एवं 'कर्म' दोनों प्रमाणान्तर से अप्राप्त रहते हैं वहाँ 'विधि' द्वारा दोनों का विधान होता है अर्थात् गुण विशिष्ट कर्म का विधान होता है। जैसे-* ***'सोमेन यजेत' *इस विधि स्थल में सोम* ***(गुण)*** *और याग* ***(कर्म)*** *दोनों प्रमाणान्तर से अनवगत रहते हैं इस हेतु सोमविशिष्टयाग का विधान किया गया है। यहाँ 'सोम' पद में मत्वर्थलक्षणा स्वीकार कर* ***'सोमवता यागेन इष्टं भावयेत्'*** *अर्थात् 'सोमयुक्त याग से स्वर्ग का सम्पादन करे'– यह वाक्यार्थ होगा।।१६।।*

।। अर्थमीमांसा ।।

प्रकृत प्रकरण में ग्रंथकार विशिष्टविधि को बता रहे हैं– उपर्युक्त दो उदाहरणों (अग्निहोत्रं जुहुयात्स्वर्गकामः, तथा दध्ना जुहोति) में से प्रथम उदाहरण में कुछ भी ज्ञात नहीं था, दूसरे उदाहरण में प्रधान (मुख्य, गुणी, शेषी, अंगी) 'होम' ज्ञात हुआ था, किन्तु प्रधान

शेषशेषिलक्षणस्योभयपदार्थस्य विधाने वाक्यभेदः स्यादेव। न च स इष्ट इति वाच्यम्। यत्र वाक्यभेदस्तत्राष्टदोषप्रसङ्गात्। यथा हि ब्रीहिभिर्यजेत यवैर्वेत्यत्र तत्र च प्रथमप्रयोगे ब्रीह्यनुष्ठाने यवशास्त्रप्रामाण्यस्य स्वार्थनुष्ठापकत्वरूपस्य परित्यागः। स्वार्थाननुष्ठापकत्वरूपस्याप्रामाण्यस्य च स्वीकारो भवति। ततो द्वितीयप्रयोगे यवानुष्ठाने तु पूर्वपरित्यक्तस्य यवशास्त्रप्रामाण्यस्य स्वीकारः स्वीकृतस्य च तदप्रामाण्यस्य परित्यागश्चेति यवशास्त्रे चत्वारो दोषा भवन्ति। तथा प्रथमप्रयोगे

होम का गुण (शेष, अंग) ज्ञात नहीं था। प्रकृत प्रसंग में विधि का तीसरा उदाहरण '**सोमेन यजेत**' दिया गया है, जिसमें प्रधान होम और उसका गुण दोनों ही अज्ञात हैं। प्रकृत में प्रधान वस्तु-'याग' और वह याग 'सोम' नामक द्रव्य से करे, यह प्रधान याग का गुण भी पूर्व में अज्ञात था। ऐसी स्थिति में '**प्रधान याग**' और **गुण 'सोम'** ये दोनों ही धर्म '**सोमेन यजेत**' इस विधि वाक्य में प्रथमबार कथित हैं अर्थात् यहाँ **सोमविशिष्ट याग का विधान** किया गया है। और इसीलिये इसे विशिष्टविधि कहा जाता है। **'सोमेन यजेत' गुणविशिष्ट विधि का उदाहरण है,** जबकि इसके पूर्व प्रस्तुत उदाहरण– '**दध्ना जुहोति**'– केवल गुणविधि का है और 'अग्निहोत्रं जुहुयात्' केवल 'प्रधानविधि' के उदाहरण है। यह हम पूर्व में बताचुके हैं कि गुणविधि में केवल 'गुण' का ही विधान किया जाता है, और होम आदि क्रिया की प्राप्ति, उसका ज्ञान किसी अन्य विधि वाक्य द्वारा ज्ञापित होता है। जैसे हमने देखा है कि '**दध्ना जुहोति**' में केवल दधिरूप द्रव्य का-गुण का विधान किया है और होम की प्राप्ति– '**अग्निहोत्रं जुहुयात् स्वर्गकामः**' इस विधि द्वारा पूर्व में ही हुई है। किन्तु प्रस्तुत 'गुणविशिष्ट विधि' '**सोमेन यजेत**' उक्त विधियों से भिन्न है। इस गुणविशिष्टविधि के पूर्व ऐसा कोई विधि वाक्य प्राप्त नहीं होता जिससे होम (क्रिया) का या गुण का विधान निरूपित हुआ हो, इसलिये यहाँ गुण के विधान के साथ ही साथ विधि द्वारा कर्म का भी विधान किया जा रहा है। एवञ्च जहाँ पर गुण और कर्म (याग) दोनों का एकसाथ विधान किया जाता है, उस विधि को गुणविशिष्ट अथवा उभय विधि कहा जाता है।

उपर्युक्त विवेचन में 'सोमविशिष्टयाग' रूप अर्थ का जो प्रतिपादन किया गया है, उस पर **प्रतिपक्षी एक-शंका** उपस्थापित कर कहता है कि विधिवाक्य का अर्थ 'सोमविशिष्टयाग' ऐसा क्यों करें? इसके स्थान पर '**सोमरूपीयाग**' यह अर्थ भी किया जाय तो क्या आपत्ति होगी? उक्त पूर्वपक्ष का **समाधान** यह है कि याग के दो अंग होते हैं– **द्रव्य** और **देवता**। इन दो अंगों में से 'सोम' याग का द्रव्यरूपी अंग है। ऐसी स्थिति में याग का जो सोमरूपी द्रव्य है, उसे ही 'याग' कैसे कहा जा सकता है? इस दोष के निवारण के लिए '**सोमेन**' का अर्थ मत्वर्थलक्षणा से '**सोमवता**' करना आवश्यक है। 'मुख्यार्थबाधे लक्षणा' यह लक्षणा का सामान्यतः स्वरूप है। इस दृष्टि से देखने पर यहाँ '**सोमेन यजेत**' में 'सोमेन' में सोमपद का मुख्यार्थ बाधित होता है, अर्थात् '**सोमेन यागेन**' या '**सोमरूपेण यागेन**' ऐसा अर्थ नहीं हो सकता। अतः '**सोम**' पद का लक्षणा से '**सोमवत्**' (सोमयुक्त, सोमविशिष्ट) अर्थ करने की आवश्यकता होती है। व्याकरण की परिभाषा के अनुसार '**वत्**' यह एक मत्वर्थी प्रत्यय है।

यवानुष्ठाने ब्रीहिशास्त्रप्रामाण्यस्य स्वार्थानुष्ठापकत्वलक्षणस्य परित्यागः स्वार्थानिनुष्ठापकत्वस्वरूपस्य चाप्राण्यस्य स्वीकारः। ततो द्वितीयप्रयोगे ब्रीह्यनुष्ठाने तु व्रीहिशास्त्रप्रामाण्यस्य पूर्वम्परित्यक्तस्य स्वीकारः स्वीकृतस्य च तदप्रामाण्यस्य परित्यागश्चेति व्रीहिशास्त्रे चत्वारो दोषा भवन्तीत्यष्टदोषदुष्टो विकल्पो यथा ब्रीहियववाक्ये प्रसिद्धस्तथात्रापि स्यात्। नच तद्वदत्रापीष्ट एवेति वाच्यम्। तत्र ब्रीहियवयोः पुरोडाशरूपैककार्यकारित्वेन विकल्पस्येष्टत्वाद्गत्यन्तराभावाच्च ।।१६।।

इसलिए इस लक्षणा को मत्वर्थलक्षणा कहा गया है। मत्वर्थलक्षणा के पश्चात् 'सोमेन यजेत' का अर्थ 'सोमवता यागेन इष्टं भावयेत्' होता है।

संक्षेपु में पुनः इस प्रकार कहा जा सकता है कि, जहाँ पर गुण और कर्म (उभयम् = गुण एवं कर्म) दोनों ही प्रमाणान्तर से अप्राप्त रहते हैं, वहाँ विधि द्वारा दोनों (गुण विशिष्ट कर्म) का विधान किया जाता है। जैसे– **'सोमेन यजेत'** विधि स्थल में 'सोम' (गुण) और 'याग' (कर्म) दोनों ही प्रमाणान्तर से असिद्ध है। इसलिए-सोम-विशिष्टयाग का विधान किया जाता है।

यहाँ तक विधि के तीन प्रकारों का निरूपण किया गया है, उनके नाम और उदाहरण इस प्रकार हैं–

(१) **प्रधानविधि–** अग्निहोत्रं जुहुयात्।

(२) **गुणविधि–** दध्ना जुहोति।

(३) **विशिष्टविधि–** सोमेन यजेत।

सारांश में समझ सकते हैं कि वेद में जिन भिन्न-भिन्न विधियों का निरूपण मिलता है, उनमें अनेक 'मुख्यविधि' या प्रधानविधि हैं। और अनेक विधि ऐसे भी हैं, जो मुख्य या प्रधान विधि न होने पर भी प्रधानविधि को जिस अंग की अकांक्षा होती है, उस अंग का विधान करने वाले होते हैं। इन्हीं को 'गुणविधि' की संज्ञा से अभिहित किया जाता है। यहाँ तक जिन दो प्रकारों को देखा है, उनमें प्रधान विधि का कर्म और उस विधि के गुण को अलग-अलग निरूपित किया गया है। किन्तु जिसमें-प्रधान विधि का कर्म और गुण-इन दोनों का एक ही वाक्य में विधान किया गया है, ऐसे भी कुछ 'सोमेन यजेत' सदृश विशिष्ट विधि-वाक्य परिलक्षित होते हैं।

उक्त विधित्रय का शाब्दबोध

उक्त तीन प्रकार के विधिवचनों की अर्थाभिव्यक्ति में जो एक प्रकार की असुविधा उत्पन्न होती है, उसी का यहाँ संक्षिप्त विचार करते हैं–

पूर्व में 'भावना' के प्रकरण में **'येजत'** इत्यादि विधिवाक्यों के अर्थ कि संगति किस प्रकार लगानी चाहिए (अर्थ किस प्रकार करना चाहिए) इस विषय में एक सामान्य रीति का उल्लेख किया जा चुका है। उस पद्धति के अनुसार 'यजेत' का अर्थ **'यागेन इष्टं भावयेत्'**

ही करना चाहिए। अर्थ करने का यह एक सामान्य नियम है। इस सामान्य नियम से उक्त तीन प्रकार के विधियों के अर्थाभिव्यक्ति में स्वल्प बाधा उत्पन्न होने के कारण आवश्यकतानुसार नियम में संकोचन करके अर्थ करना आवश्यक हो जाता है। यह समुचित रीति से समझलेना चाहिए। इसलिये प्रत्येक उदाहरण का सामान्य नियमानुसार अर्थ किस प्रकार प्राप्त होता है और वह अर्थ ठीक-ठीक सामायोजित न होसकने के कारण उक्त सामान्य नियम को संकुचित कर अर्थ में किस प्रकार ईषद् परिवर्तन करना पड़ता है, यह यहाँ देखते हैं—

(१) 'अग्निहोत्रं जुहुयात्'– यह प्रथम 'मुख्य' या प्रधान विधि का उदाहरण है। **'जुहुयात्'** का सामान्य नियमानुसार **'होमेन स्वर्गं भावयेत्'** अर्थ होता है। किन्तु ऐसा अर्थ करने पर इसमें 'स्वर्ग' साध्य होने के कारण 'अग्निहोत्रं' इस द्वितीयान्त पद का अन्वय किस प्रकार होगा? यह असुविधा उत्पन्न होती है।

यहाँ कोई पूर्वपक्षी यह कहे कि **'अग्निहोत्र'** पद के द्वारा 'देवता' प्रदर्शित है, यह मान लेना चाहिए। किन्तु इस प्रकार मानलेना ठीक नहीं है क्योंकि याग में **अग्नि** और **सूर्य** देवता होने का उल्लेख दूसरे मन्त्र में है, जिससे अग्नि और सूर्य-इन देवताओं के उद्देश से प्रातः और सायंकाल नियम से किये जाने वाले अनुष्ठेय एक कर्म विशेष का ही नाम है 'अग्निहोत्र' यह स्पष्ट होता है। ['ततोऽग्निसूर्यदेवताकस्य सायं प्रातः कालयोर्नियमेनानुष्ठेयस्य कर्मणः 'अग्निहोत्रम्' इति यौगिकं नामधेयम् ।] और यदि याग का नाम **'अग्निहोत्र'** है तो **'अग्निहोत्रेण होमेन स्वर्गं भावयेत्'** ऐसा ही अन्वय करना समुचित होगा। अर्थात् **'अग्निहोत्रेण जुहुयात्'** इसप्रकार तृतीयान्त पद होना चाहिए था। किन्तु यहाँ ऐसा न होकर **'अग्निहोत्रं जुहुयात्'** द्वितीयान्त पद ही है। ऐसी स्थिति में– अर्थात् यहाँ तो शब्द प्रयोग द्वितीया विभक्ति का है और उसका अर्थ है तृतीया जैसा। इस विरोध की उपपत्ति कैसी हो? इस शंका का (समस्या का) सामाधान **जैमिनीयन्यायमालाविस्तर** एवं शास्त्रदीपिका में सम्यक् रीत्या प्रस्तुत किया गया है[१]।

सारांश यह है कि 'अग्निहोत्र होम' प्रस्तुत स्थल में करण होने से उसमें तृतीया विभक्ति का प्रयोग होना आवश्यक था, किन्तु **'अग्निहोत्र होम'** अभी सिद्धावस्था में है ही कहाँ? वह तो यागानुष्ठान के पूर्व साध्यावस्था में ही रहेगा, अर्थात् 'अग्निहोत्र होम' अभी होना है, जब तक वह स्वयं घटित नहीं हो जाता तब तक वह अन्य का साधन कैसे हो सकता है। अर्थात् 'अग्निहोत्र होम' स्वयं प्रथम साध्य होता है, और यागानुष्ठान के द्वारा सिद्ध होने के पश्चात् ही स्वर्ग का साधन या करण हो सकता है। इसका तात्पर्य यह हुआ कि 'अग्निहोत्र होम' जब साध्यावस्था में रहता है, तब वह द्वितीया-विभक्ति के ही योग्य रहता है। और यागानुष्ठान के

१. अस्ति तावदार्थिकं-धात्वर्थस्य साध्यत्वं असाधितस्य करणत्वानुपपत्तेः। अतः साध्यत्व-साधनत्वयोर्द्वयोरेकार्थसमवायात्-साध्याभिधायिनी द्वितीया साधनत्वमेव लक्षयन्ती धातु-सामानाधिकरण्यं प्रतिपद्यत इत्यविरोधः । -शास्त्रदीपिका
अनुष्ठानादूर्ध्वं धात्वर्थस्य सिद्धत्वाकारेण करणत्वेऽपि ततः पूर्वं साध्यत्वाकारं वक्तुम् 'अग्निहोत्रम्' इति द्वितीयाया युक्तत्वात् । न्यायमाला

द्वारा पूर्ण (सिद्ध) संपादित 'अग्निहोत्र होम' जब स्वर्ग का साधन या करण हो जाता है, तब वह तृतीया विभक्ति के योग्य होता है। अर्थात् यहाँ **'अग्निहोत्र होम'** यह एक ही पद साध्यावस्था की दृष्टि से द्वितीया विभक्ति को और सिद्धावस्था के पश्चात् साधनत्व की दृष्टि से तृतीया विभक्ति को भी प्राप्त होता है। उक्त अर्थ प्रथम **'अग्निहोत्रहोमं कुर्यात्'** और पश्चात् **'अग्निहोत्रहोमेन स्वर्गं साधयेत्'** इन दो वाक्यों से स्पष्ट होता है। इससे यह ज्ञात होता है कि 'अग्निहोत्र' पद में द्वितीया और तृतीया दोनों विभक्तियों की प्राप्ति होती है। उनमें से साध्यत्व की दृष्टि से **'अग्निहोत्रं जुहुयात्'** ऐसा द्वितीया विभक्ति का निर्देश वेद में किया गया है। परन्तु **'अग्निहोत्रहोम'** स्वर्ग का साधन या करण होने के कारण द्वितीया विभक्ति का लक्षणा से तृतीया विभक्ति जैसा अर्थ करना आवश्यक हो जाता है। और इसीलिये 'अग्निहोत्रं जुहुयात्' का अर्थ **'अग्निहोत्रहोमेन स्वर्गं साधयेत्'** किया गया है वह ठीक ही है। इस विषय में शबरस्वामी के विचार मननीय हैं[१]।

(२) 'दध्ना जुहोति'– यह गुणविधि का उदाहरण है। यहाँ पूर्व में कथित सामान्यनियमानुसार अर्थ करने पर **'जुहोति'** का अर्थ **'होमेन (इष्टं) भावयेत्'** होता है। तथा सम्पूर्ण वाक्य **'दध्ना जुहोति'** का अर्थ **'दध्ना होमेन (इष्टं) भावयेत्'** होगा। किन्तु यहाँ **'दध्ना'** और **'होमेन'** दो तृतीया आती हैं, उनकी उपपत्ति कैसे होगी? इस शंका का समाधान यह है कि **'अग्निहोत्रं जुहोति'** इस उत्पत्तिविधि वाक्य से 'होम' पूर्व में ही प्राप्त है। और उस होम को किसी गुणद्रव्य की आकांक्षा है। अर्थात् उस द्रव्य के साधन से वह होम सम्पन्न करना है। और वह **'दधि'** रूप गुण द्रव्य– **'दध्ना जुहोति'** इस वाक्य में निर्दिष्ट है। अतः **'दधि'** साधन होने के कारण उसमें प्रयुक्त तृतीया विभक्ति को अक्षुण्ण रखना आवश्यक है। और इसीलिए प्रथमोक्त सामान्य नियम का यहाँ संकोच करके **'जुहोति'** का धात्वर्थ जो 'होम' है, वह साध्य होने से उसमें द्वितीया विभक्ति करना ठीक ही है। और ऐसा करने पर **'दध्ना होमं भावयेत्'** यह वाक्यार्थ बोध निष्पन्न होता है। उपर्युक्त विवेचन से यह निष्पन्न होता है कि उत्पत्तिविधि में धात्वर्थ का 'साधनत्वरूप' से अन्वय होता है और गुणविधि में धात्वर्थ का 'साध्यत्वरूप' से अन्वय होता है।

(३) 'सोमेन यजेत'– यह विशिष्ट विधि का उदाहरण है। इस वाक्य के **'यजेत'** का पूर्वोक्त नियमानुसार यदि अर्थ किया तो **'यागेन भावयेत्'** (भावयेत् = तथा यतेत यथाकिंचित् भवति) यह अर्थ होगा। और इस अर्थ के अनुसार यदि 'सोमेन यजेत' का अर्थ किया तो

---

१. 'यत्र तृतीयायुक्तो यजिः, तत्र युक्तो गुणभावाभ्युपगमः। यथा ज्योतिष्टोमेन स्वर्गकामो यजेत इति। इह सौर्यं चरुं निर्वपेत्' इत्यत्र तु असत्यां तृतीयायां कथं तृतीयार्थो गम्यते इति। उच्यते। किमत्र तृतीयानिर्दिष्टेन यजिना कार्यम्, यदा स्वभावसिद्धः कर्णणां फलं प्रति गुणभावः। यत्रापि असौ श्रुतः, तत्रापि अकिंचित्कर एवं गतार्थत्वात्। तथा यत्रापि द्वितीयाश्रुतिः, यथा अग्निहोत्रं जुहुयात् इति, तत्रापि विभक्तिव्यत्ययो वा, ईप्सिततत्वस्य वा अविवक्षा, कामं वा आनर्थक्यं स्यात्। न तु कथंचिदपि कर्मणः फलं प्रति गुणभावः शक्योऽपह्नोतुम्।' जै. सू. ७/४/१।

(१७) वाक्यभेददोषपरिहार:

न चोभयविधाने वाक्यभेद:। प्रत्येकमुभयस्याविधानात्। किन्तु विशिष्टस्यैकस्यैव विधानात्।।१७।।

प्रकृते तु गुणविधिमात्रस्वीकारेणाप्युपपत्तौ नोभयविधि: साधुरित्याशङ्क्य परिहरति- *न चेत्यादिना*। यद्वा ननु यागेनेष्टं भावयेत्सोमेन च यागम्भावयेदित्यावृत्त्योभयविधावावृत्तिलक्षणो वाक्यभेद: स्यात्। यदा तु युगपत्तन्त्रेण यागेनेष्टम्भावयेत्सोमेन-यागम्भावयेदित्युभयविधानं तदा तु विरुद्धत्रिकद्वयप्रसङ्ग इत्याशङ्क्य परिहरति- *नचेत्यादिना*। एकवाक्यस्य प्रत्येकमुभयपदार्थे व्यापारभेदेनोभयविधायकत्वे वाक्यभेदो भवति तथात्रास्वीकारादित्यर्थ:। ननु विधेयस्योभयत्वे तद्विधायकवाक्यस्यापि व्यापार-भेदेनैव तद्विधायकत्वं सम्भवति नान्यथेति शङ्कते। *किन्त्विति*। विशिष्टस्यकैरूपत्वेन विधेयस्योभयत्वासिद्धेर्न व्यापारभेदेनैतद्विधानं ततश्च न वाक्यभेदप्रसङ्ग इति परिहरति-

---

उसका अर्थ होगा– **'सोमेन यागेन भावयेत्'**। ऐसा करने पर यहाँ पुन: दो तृतीयान्त पदों की प्राप्ति होगी और उनका अन्वय किस प्रकार हो? यह शंका उत्पन्न होती है। इस हेतु सोमपद में लक्षणा करके **'सोमवता यागेन भावयेत्'** यह अर्थ किया जाता है।।१६।।

अनुवाद– नचेति। *यहाँ यह भी कहना संगत नहीं है कि एक ही विधिवाक्य में गुण (सोम) और कर्म (याग) दोनों के विधान से वाक्यभेद नामक दोष होगा, क्योंकि प्रस्तुत विधिवाक्य* ***'सोमेन यजेत'*** *में दोनों का पृथक्-पृथक् विधान नहीं हुआ है अपितु गुणविशिष्ट याग मात्र का विधान हुआ है।।१७।।*

।। अर्थमीमांसा ।।

उपर्युक्त विवेचन में– **'सोमेन यजेत'** का **'सोमवता यागेन भावयेत्'** अर्थ किया गया है और वही अर्थ ठीक भी है। यह अर्थ करने पर 'सोमवता यागेन भावयेत्' यह एक वाक्य होता है और वाक्यभेद का दोष भी उत्पन्न नहीं होता। किन्तु यदि **'सोमेन यागेन भावयेत्'** ऐसा अर्थ किया तो उस अर्थ के अनुसार सोम और याग, दोनों का ही उसमें भिन्न-भिन्न रीति से विधान होने से, एक वाक्य न होकर **'सोमेन यागं भावयेत्'** और **'यागेन इष्टं भावयेत्'** ऐसे दो वाक्य बनने से **'वाक्यभेद'** नामक दोष उत्पन्न हो जाता है। परन्तु 'सोमवता यागेन भावयेत्' इस प्रकार अर्थ करने पर सोमविशिष्ट याग का ही विधान किया जाता है जिससे वाक्यभेद का दोष भी इस अर्थ के अनुसार उत्पन्न नहीं होता। क्योंकि इस अर्थ के अनुसार **सोम** और **याग**-इनमें से प्रत्येक का अलग-अलग विधान किया हुआ न होने से सोम **विशेषण** से युक्त **विशेष्यरूपी** याग का ही यहाँ विधान किया गया है, यह निष्पन्न होता है।

वाक्यभेद होने पर आठ दोष

इससे पूर्व यह स्पष्ट हो चुका है कि मत्वर्थलक्षणा से प्राप्त होने वाले **'सोमवता यागेन इष्टं भावयेत्'** अर्थ का एक ही वाक्य है। और साथ ही **'सोमेन भावयेत्' 'यागेन भावयेत्'**

विशिष्टस्योति । **विशिष्टविधौ विशेषेण विधेरार्थिकत्वेन श्रूयमाणविधिना गुणस्य पृथग-विधेयत्वादिति भावः । ननु सोमेन यजेतेत्यस्य गुणविधित्वमेवास्तु सोमयागस्वरूप-विधिस्तु ज्योतिष्टामेन स्वर्गकामो यजेतेत्ययमेव भवतु ।।१७।।**

इस प्रकार के दो भिन्न-भिन्न वाक्यों से उत्पन्न होने वाले वाक्यभेद के प्रसंग का परिहार भी किया जा चुका है। किन्तु यहाँ कोई **शंका** करता है कि दो भिन्न-भिन्न वाक्यों से वाक्य-भेद यदि होता भी है तो क्या आपित्ति है? इसका **उत्तर** यह है कि यदि– **'सोमेन भावयेत्'** और **'यागेन भावयेत्'** इन दोनों को भिन्न-वाक्यों के रूप में मानलिया गया तो ये दोनों ही तुल्यबल के विधि कहलायेगें। और दोनों विधियों की क्रिया एक साथ संम्पन्न करना संभव न हो सकने के कारण, किसे प्रथम सम्पन्न किया जाय, इसे या उसे, इस प्रकार की विकल्प की स्थिति उत्पन्न हो जायगी। जैसे– (१) **'अतिरात्रे षोडशिनं गृह्णाति' 'नातिरात्रे षोडशिनं गृह्णाति'**– षोडशिग्रहण करने के सम्बन्ध में 'अतिरात्र' याग में दो परस्पर विरुद्ध विधानों का उल्लेख मिलता है। षोडशिग्रहण कहाँ किया जाय और कहाँ नहीं किया जाय, इस प्रकार विकल्प उपस्थित होने से अतिरात्रयाग का षोडशिग्रहण वैकल्पिक हो चुका है। उसी प्रकार (२) याग में पुरोडाश बनाने के सम्बन्ध में कहा गया है। किन्तु वह पुरोडाश किस द्रव्य से बनाना चाहिए– इसका निर्देश न होने के कारण, वह किसी भी द्रव्य से बनाया जा सकता है, यह प्रथम प्राप्त होने पर, उसी पुरोडाश-प्रकरण में **'व्रिहिभिर्यजेत'** यह एक वाक्य उल्लिखित है, उक्त वाक्य से 'पुरोडाश' व्रीही के पिष्ट से बनाना चाहिए, ऐसा निश्चय होता है। किन्तु उसी प्रकरण में आगे **'यवैर्यजेत'** ऐसा दूसरा वाक्य उपलब्ध होता है। इस वाक्य से वह 'पुरोडाश' यवपिष्ट से बनाना चाहिए, ऐसा निश्चय होता है। एवञ्च **व्रीहि** और **यव** ये दोनों ही यहाँ प्राप्त होते हैं और दोनों का एक साथ उपयोग करना संभव न होसकने के कारण, यहाँ भी विकल्प की स्थिति उत्पन्न होती है। किन्तु विकल्प स्वीकार करने पर आठ प्रकार के दोष उत्पन्न होते है। इन आठ दोषों को हम पुरोडाश प्रकरण के आधार स्पष्ट कर रहे हैं– (१) यदि पुरोडाश के निर्माण में व्रीहिका प्रथम उपयोग करना प्रारम्भ किया तो **'यवैर्यजेत'** इस यवविधायकशास्त्र के प्रामाण्य का त्याग-या अस्वीकार करना पड़ता है, (२) फलत: 'यवशास्त्र अप्रामाणिक है' यह एकरीत्या हम स्वीकार करते हैं, (३) अब यदि यवों का उपयोग करना प्रारम्भ करते हैं, तो यह समझा जायगा कि जिन यवों का प्रामाण्य प्रथमत: स्वीकार नहीं किया था, उसे अब प्रामाणिक मानते है, (अर्थात् प्रथम अस्वीकृत किये हुए को स्वीकृत करना, माना जायगा।) (४) जिस अप्रामाण्यको स्वीकार किया था, उस अप्रामाण्य को अब स्वीकार नहीं करते हैं। इस प्रकार **यवशास्त्र** से सम्बन्धित चार दोष उत्पन्न होते है। इसी प्रकार व्रीहि शास्त्र के सम्बन्ध में (१) यवों का प्रथम उपयोग प्रारंभ करने पर, **'व्रीहिभिर्यजेत'** से ज्ञात होने वाला जो व्रीहिशास्त्र है, उसके प्रामाण्य का त्याग करते हैं ऐसा समझा जायगा। और ऐसा करने पर (२) इसका अर्थ यह हुआ कि व्रीहिविधायकशास्त्र अप्रामाणिक है, यह स्वीकार करते हैं (३) अब यदि पुन: व्रीहि का उपयोग करना प्रारंभ करते है तो उसका अर्थ यह होगा कि व्रीहिशास्त्र के जिस प्रामाण्य को अस्वीकार किया था, उसका स्वीकार करते हैं। और (४) जिस अप्रामाण्य को स्वीकार किया था उसका पुन: परित्याग

(१८) गुणविध्यादिभेदः

नच 'ज्योतिष्टोमेन स्वर्गकामो यजेते'ति विधिना प्राप्तयागोद्देशेन सोमरूपगुणविधानमेवास्तु, सोमेन यागं भावयेदिति। किम्मत्वर्थलक्षणयेति वाच्यम्। तस्याधिकारविधित्वेनोत्पत्तिविधित्वासम्भवात्।।१८।।

ततश्च ज्योतिष्टोमेनेत्यादिना प्राप्ते कर्मणि गुणविधायकत्वेनापि सोमवाक्यस्योपपत्तौ न मत्वर्थलक्षणा पददोषरूपत्वेनाप्यस्वीकर्त्तव्येत्याशङ्कते- ***नच ज्योतिष्टोमेनेत्यादिना*****। नच वाच्यमित्यत्र हेतुमाह-** ***तस्याधिकारविधित्वेनेति*****। तर्हि भवतु तस्याधिकारविधित्वमुत्पत्तिविधित्वमपि कुतो न स्यादित्याशङ्क्याह-** ***उत्पत्तिविधित्वासम्भवादिति*****। कर्मस्वरूपमात्रबोधकस्यैव विधेरुत्पत्तिविधित्वं व्यवह्रियते उत्पत्तिविधिविहि-**

करते हैं। इस प्रकार **व्रीहिशास्त्र** के सम्बन्ध में भी चार दोष उत्पन्न होते हैं। एवञ्च दोनों शास्त्रों के कुल आठ दोषों से विकल्प दूषित होता है। ये ही विकल्प के आठ दोष **'सोमेन भावयेत्'** और **'यागेन भावयेत्'** इन वाक्यभेदों से भी उत्पन्न होंगे। इसलिए वाक्यभेद को स्वीकार न करके मत्वर्थलक्षणासे-**'सोमवता यागेन इष्टं भावयेत्'** यह एक ही वाक्य करना योग्य होगा।।१७।।

अनुवाद– नचेति। प्रकृत में पूर्वपक्षी का यह कहना भी असंगत है कि– **'ज्योतिष्टोमेन स्वर्गकामो यजेत'** इस विधिवाक्य से प्राप्त याग को उद्देश्य करके सोम-रूप गुण का विधान मान लिया जाय, ऐसी स्थिति में **'सोमेन यजेत'** का अर्थ **'सोमेन यागं भावयेत्'** अर्थात् 'सोम द्वारा याग का सम्पादन करें' होगा, तब सोम पद में मत्वर्थलक्षणा करने से क्या लाभ? [इस पक्ष का समाधान यह है] 'ज्योतिष्टोमेन स्वर्गकामो यजेत' यह अधिकार विधि ही है, यह उत्पत्ति विधि हो ही नहीं सकता।।१८।।

।। अर्थमीमांसा ।।

पूर्वोक्त अष्टदोषों से दूषित वाक्य भेद से बचने के लिए **'सोमेन यजेत'** विधि का **'सोमवता यागेन इष्टं भावयेत्'** अर्थ करके मत्वर्थलक्षणा से 'सोमेन' पद के स्थान पर 'सोमवता' पद का प्रयोग किया गया है। किन्तु उक्त प्रकार से अर्थ करने में **पूर्वपक्षी** सहमत नहीं है। उसके विचार में **'मत्वर्थ लक्षणा'** भी एक दोष ही है। उसका कहना है कि सदोष मत्वर्थलक्षणा को स्वीकार करने से क्या लाभ? **'सोमेन यजेत'** का अर्थ लक्षणा को छोड़कर अन्य रीति से भी किया जा सकता है। इसी प्रकरण में **'ज्योतिष्टोमेन स्वर्गकामो यजेत'** एक अन्य विधि वाक्य है। इस वाक्य के **'यजेत'** इस विधि से 'याग' प्राप्त है, अतः **'दध्ना जुहोति'** इत्यादि के समान मानान्तर से (अन्य विधि से) प्राप्त 'याग' को गुण की आकांक्षा होने के कारण उस याग को उद्देश्य करके सोमरूप 'गुण' को 'सोमेन यजेत' इस विधि में निरूपित किया गया है, ऐसा स्वीकार क्यों नही करते हैं। तात्पर्यार्थ यह है कि **पूर्वपक्षी**

तस्य च कर्मणः फलविशेषेण सह सम्बन्धमात्रमधिकारविधिःकरोति । यथाऽऽग्नेयोऽष्टाकपालो भवतीत्येतदुत्पत्तिविधिविहितस्य कर्म्मणः स्वर्गरूपफलविशेषेण सम्बन्धो दर्शपूर्णमासाभ्यां स्वर्गकामो यजेतेत्यनेन विधिना क्रियत इति तस्याधिकारविधित्वमेव नोत्पत्तिविधित्वम् । तद्वदस्याप्यधिकारविधेर्नोत्पत्तिविधित्वं सम्भवतीति भावः ।।१८।।

'सोमेन यजेत' को गुणविधि मानने के पक्ष में है। उसके विचार में **'दध्ना जुहोति'** एवं **'सोमेन यजेत'** इन दोनों विधियों में साम्य है। अर्थात् **'अग्निहोत्रं जुहुयात्'** इस विधि के अनुसार प्रकृत प्रसंग में **'ज्योतिष्टोमेन स्वर्गकामो यजेत'** को प्रधान याग का निदर्शक 'उत्पत्तिविधि' स्वीकार करें (मानलें) और पूर्व के **'दध्ना जुहोति'** इस उदाहरण की तरह प्रधान याग को आवश्यक रहने वाली अंग की आकांक्षा को पूर्ण करने वाले **'सोमेन यजेत'** को गुण विधि स्वीकार करें। ऐसा मान लेने से **'मत्वर्थलक्षणा'** के दोष का परिहार हो जायगा। किन्तु पूर्वपक्षी की उक्त युक्ति-विचार को **सिद्धान्ती** उचित नहीं मानता। इसका कारण यह है कि संभवतः पूर्वपक्षी **'ज्योतिष्टोमेन स्वर्गकामो यजेत'** को उत्पत्तिविधि का वाक्य समझने की कल्पना कर रहा है। किन्तु यह कल्पना अनुचित है। वस्तुतः **'ज्योतिष्टोमेन स्वर्गकामो यजेत'** यह कर्मस्वरूपमात्र बोधक (केवल) उत्पत्तिविधि नहीं है, अपितु वह अधिकार विधि है। क्योंकि आगे अधिकार विधि के प्रकरण में **'कर्मजन्यफलस्वाम्यबोधको विधिरधिकारविधिः'** अधिकार विधि का लक्षण निरूपित किया गया है। लक्षण का तात्पर्य यह है कि यागरूपी कर्म का सम्पादन करने पर उससे उत्पन्न होने वाला जो स्वर्गादि फल है, उसका स्वामी अर्थात् भोक्ता कौन है? यह दिखाने वाला जो विधि है, उसे अधिकारविधि कहा जाता है।[1] उदाहरणार्थ– **'अग्निहोत्रं जुहुयात् स्वर्गकामः' 'दध्ना इन्द्रियकामस्य जुहुयात्' 'सौर्यं चरुं निर्वपेत् ब्रह्मवर्चसकामः'** अधिकार विधि के उदाहरण है। क्योकिं इन विधियों में स्वर्ग, इंद्रिय या ब्रह्मवर्चस के अभिलाषी का कर्म-फल से संबन्ध होता है। तथा जिस वाक्य में फलसंबन्ध का उल्लेख नहीं होता है उसे उत्पत्तिविधि कहा जाता है। उदाहरणार्थ– **'अग्निहोत्रं जुहोति' 'सोमेन यजेत'** ये उत्पत्तिविधि हैं। क्योंकि इनमें केवल कर्म के स्वरूप का ही उल्लेख किया गया है। इनमें कर्म फल के भोक्ता का उल्लेख न होने से यह उत्पत्ति विधि[2] कहे जाते हैं।

संक्षेप में **उत्पत्तिविधि से** कर्मस्वरूपमात्र का ही ज्ञान होता है और **अधिकारविधि से** विहित कर्म के फल विशेष के साथ सम्बन्धमात्र का ज्ञान होता है। यहाँ तक दोनों विधियों- उत्पत्तिविधि और अधिकारविधि– के भेद (अन्तर) को प्रदर्शित किया गया है। उक्त भेद प्रदर्शन से स्पष्ट हो जाता है कि **'ज्योतिष्टोमेन स्वर्गकामो यजेत'** ही केवल अधिकार विधि हो सकता है। दूसरे शब्दों में कहा जा सकता है 'ज्योतिष्टोमेन स्वर्गकामः' से यागानुष्ठान में प्रवृत्त पुरुष को फलभोग विषयक योग्यता का ज्ञान होता है। अतः यह अधिकारविधि है। उत्पत्तिविधि नहीं हो सकता।।१८।।

---

१. 'अधिकारः फलसंबधः तद्बोधको विधिः अधिकारविधिः' (यागरूपी कर्म के सम्पादन से उत्पन्न होने वाले स्वर्गादिक फल के स्वामी के दर्शक विधि का नाम 'अधिकार विधि है।)

२. उत्पत्तिर्नाम साधनस्वरूपं, तद्बोधको विधिः उत्पत्तिविधिः।

(१९) उभयविधित्वम्

न'नूद्भिदा यजेत पशुकाम' इत्यस्येव ज्योतिष्टोमेनेत्यस्याप्युत्पत्त्यधिकारविधित्वमस्त्विति चेन्न। दृष्टान्ते उत्पत्तिवाक्यान्तराभावेनाऽन्यथानुपपत्या तथात्वाश्रयणात्। किञ्च ज्योतिष्टोमेनेत्यस्योभयविधित्वेऽनेनैव यागस्तस्य फलसम्बन्धोऽपि बोधनीय इति सुदृढो वाक्यभेदस्तद्वरं सोमपदे मत्वर्थलक्षणया विशिष्टविधानम्।।१९।।

ननूद्भिदा यजेत पशुकाम इत्यस्य विधिवाक्यस्य यथोद्भिन्नामककर्मरूपबोधकत्वरूपोत्पत्तिविधित्वेपि तस्य कर्मणः पशुरूपफलसम्बन्धबोधकत्वरूपाधिकारविधित्वमपि भवति तद्वदस्याप्युभयविधित्वमविरुद्धमित्याशङ्कते- *नन्वित्यादिना*। दृष्टान्ते तु कर्मस्वरूपबोधकोत्पत्तिवाक्यान्तराभावेनैकस्य वाक्यस्योभयविधित्वमाश्रितं कर्मणः

---

*अनुवाद– नन्विति। [पूर्वपक्षी पुनः शंका करता है कि] **'उद्भिदा यजेत पशुकामः'** के समान **'ज्योतिष्टोमेन स्वर्गकामो यजेत'** इस विधि को भी उत्पत्ति और अधिकारविधि दोनों माना जा सकता है, परन्तु ऐसा मानना संभव नही हो सकता। क्योंकि पूर्वपक्षी द्वारा प्रस्तुत उदाहरण **'उद्भिदा यजेत पशुकामः'** इत्यादि स्थल में यागस्वरूप का ज्ञान कराने वाला कोई अन्य वाक्य उपलब्ध नहीं है, इस हेतु अन्य प्रकार से यागस्वरूप का ज्ञान संभव न होने के कारण (अन्यथानुपपत्या) इसे उत्पत्ति और अधिकार विधि दोनों मान लिया गया है। किन्तु **'ज्योतिष्टोमेन स्वर्गकामो यजेत'** इस विधिवाक्य से उत्पत्तिविधि एवं अधिकारविधि दोनों स्वीकार करने पर एक ही वाक्य से यज्ञ एवं यज्ञफल दोनों का विधान माना जायगा, तब वाक्यभेद अपरिहार्य होगा। इस हेतु 'सोम' पद में मत्वर्थलक्षणा करके सोमगुणविशिष्ट याग का विधान मानना ही उचित होगा।।१९।।*

।। अर्थमीमांसा ।।

मीमांसा पद्धति विषयक पूर्व में किये विवेचन में यह स्पष्ट हो जाता है कि– जो अधिकारविधि होता है, वह उत्पत्तिविधि नहीं हो सकता। किन्तु पूर्वपक्षी इस पर आक्षेप करते हुए कहता है कि आपका यह कथन-कि जो अधिकार विधि होता है, वह उत्पत्ति विधि नहीं हो सकता, ठीक नहीं है। क्योंकि **'उद्भिदा यजेत पशुकामः'** एक ऐसा विधि है जिसे मीमांसकों[१] ने उत्पत्ति एवं अधिकार विधि, दोनों ही माना है। **'उद्भिद्यते पशुफलमनेन यागेन'** इस व्युत्पत्ति से– अर्थात् जिस याग से पशुरूपी फल **उद्भिन्न–** उत्पन्न होता है, वह **'उद्भिद्'** नामक याग है– इस प्रकार 'उदभिद्' पद का अर्थ करके 'उद्भिद्' नामक याग से पशुरूपी फल सम्पादित करें, प्राप्त करें, यह अर्थ किया जाता है। एवञ्च उद्भिन्नामक कर्म के स्वरूप का कथन प्रकृत विधि में होने के कारण, वह उत्पत्तिविधि और उसी विधि में पशुरूपी

---

१. जै. सू. अ. १, पा. ४, अधि. १

स्वरूपबोधनमन्तरेण तस्य फलसम्बन्धबोधनानुपपत्त्या तस्यैव वाक्यस्योभयविधित्वाश्रयणादिति परिहरति-*दृष्टान्त इत्यादिना*। ननु ज्योतिष्टोमेन स्वर्गकामो यजेतेत्यस्य वाक्यस्योभयविधित्वस्वीकारे सोमेन यजेतेत्यस्य मत्वर्थलक्षणामन्तरेणैव गुणमात्रविधायकत्वनिर्वाहे को दोषोऽन्यथा मत्वर्थलक्षणाप्रसङ्गादित्याशङ्क्य परिहरति-किञ्चेत्यादिना। *उभयविधित्व* इति। सोमयागस्योत्पत्तिविधित्वेऽधिकारविधित्वे-चेत्यर्थः। ज्योतिष्टोमेन स्वर्गकामो यजेतेत्यनेनैव सोमयागस्वरूपं तस्य स्वर्गरूपफलसम्बन्धश्च बोधनीय इत्यर्थः। *सुदृढो वाक्यभेद इति*। गौरवलक्षणो वाक्यभेदो दृढतरो भवेदित्यर्थः। तथाचोक्तम्। श्रौतव्यापारनानात्वे शब्दानामतिगौरवम्। एकोक्त्यवसितानान्तु नार्थाक्षेपो विरुध्यत इति।। ननु सोमेन यजेतेत्यत्रापि गुणस्य कर्मस्वरूपस्य च विधाने वाक्यभेदस्य सुदृढत्वादिति चेन्न। विशिष्टविधौ विशेषणविधेरार्थिकत्वेन श्रूयमाणविधिना गुणस्य पृथगविधेयत्वादिति निरस्तत्वात्। नच तस्योत्पत्तिविधित्वे वाक्यभेदस्याभावेऽपि लक्षणदोषस्तु दुर्वार इति वाच्यम्। तस्या वाक्यभेदादल्पदोषत्वात्। लक्षणायाःपददोषत्वाद्वाक्यभेदस्य तु वाक्यदोषत्वात्।।

फल की प्राप्ति का संबन्ध कथित होने से वह अधिकार विधि भी हो जाता है। अर्थात् प्रकृत उदाहरण से यह स्पष्ट है कि एक ही विधि उत्पत्तिविधि और अधिकारविधि भी हो सकता है। दूसरे शब्दों में पूर्वपक्ष के कथन का तात्पर्य यह है कि उक्त विधि में **'उद्भिद्'** शब्द यागवाचक है, इसलिये याग का विधान प्रतिपादित होने से उसे उत्पत्ति विधि माना जाता है और **'पशुकामः'** पद के प्रयोग के कारण यही विधि अधिकार विधि भी हो जाता है, क्योंकि **'पशुकामः'** पद से कर्मफल भोक्तृत्व का बोध होता है यह स्पष्ट है। अतः जब आप **'उद्भिदा यजेत पशुकामः'**वाक्य में दोनों ही विधि– 'उत्पत्ति एवं अधिकार विधि' मानते हैं तो– **'ज्योतिष्टोमेन स्वर्गकामो यजेत'** इस वाक्य में भी उत्पत्तिविधि और अधिकारविधि दोनों का ही एकत्र कथन किया गया है, यह स्वीकार कर लें, जिससे मत्वर्थलक्षणा के दोष से आप बच भी सकते हैं।

सिद्धान्ती– 'पूर्वपक्षी की उपपादन पद्धति को'– यह कहकर स्वीकार नही करता है कि **'उद्भिदा यजेत पशुकामः'** इत्यादि जो उदाहरण पूर्वपक्षी ने उपन्यस्त किया है, वहाँ एक ही वाक्य में उत्पत्तिविधि और अधिकारविधि को क्यों मान लिया है, उसके कारण भिन्न हैं। यथार्थ में देखाजाय तो जिसमें फलसंबध निरूपित होता है, वह अधिकारविधि ही होता है। **'उद्भिदा यजेत पशुकाम;'** वाक्य में पशु रूप फल का सबंध कथित होने से इसे केवल अधिकारविधि ही मानना चाहिए। किन्तु **'उद्भिदा यजेत पशुकामः'** को अधिकारविधि मानलेने के लिये उसके पूर्व उस प्रकरण में उससे संबन्धित उत्पत्तिविधि का दर्शक-निरूपक-अन्य कोई भी वचन उपलब्ध होना चाहिए। किन्तु उसकी प्राप्ति प्रकृत में नहीं हो रही है। ऐसी स्थिति में उत्पत्तिविधि वाक्य द्वारा कर्म का स्वरूप निरूपित किये बिना, उस कर्म का फल यदि उक्त है, तो वह फलसम्बन्ध विधायक वाक्य व्यर्थ होगा, इसलिए **'उद्भिदा यजेत पशुकामः'** इस फल विधयाक वाक्य की अन्य किसी भी प्रकार उपपत्ति न लग सकने के कारण उस एक ही वाक्य में अधिकारविधि के साथ उत्पत्तिविधि भी निरूपित है, यह

पदवाक्यदोषयोर्मध्ये पददोषस्यैव कल्पनीयत्वाद्गुणेत्त्वन्याय्यकल्पनेति न्यायात्। तस्माज्ज्योतिष्टोमेन स्वर्गकामो यजेतेत्यस्योभयविधित्वे वाक्यभेदप्रसङ्गाद्वरं सोमपदे मत्वर्थलक्षणां स्वीकृत्य गुणविशिष्टकर्मस्वरूपविधानमेवेत्याशयेनोपसंहरति तद्वरमित्यादिना ।।१९।।

(अन्यथानुपपत्या) अन्य कोई मार्ग न होने के कारण-या उपाय न होने से मान लिया है। किन्तु प्रस्तुत दृष्टान्त **'ज्योतिष्टोमेन स्वर्गकामो यजेत'** वाक्य में उक्त असुविधा जैसी स्थिति कदापि नहीं है। **क्योंकि'ज्योतिष्टोमेन स्वर्गकामो यजेत'** को जो अधिकार विधि माना गया है, उसके लिये **'सोमेन यजेत'** यह स्वतन्त्र उत्पत्तिवाक्य पूर्व में ही कथित है इसलिए 'ज्योतिष्टोमेन स्वर्गकामो यजेत' इस एक ही वाक्य में उत्पत्तिविधि और अधिकारविधि-दोनों ही निरूपित हैं, ऐसा मान लेना कहाँ तक न्यायोचित है।

पूर्वपक्षी द्वारा प्रदत्त इस दुर्व्यवस्था का एक और कुपरिणाम यह भी हो सकता है कि यदि यह मान लिया कि **'ज्योतिष्टोमेन स्वर्गकामो यजेत'** वाक्य में अधिकारविधि और उत्पत्तिविधि दोनों ही हैं, तो एक और दोष उत्पन्न हो जायगा। वह यह कि 'ज्योतिष्टोमेन स्वर्गकामो यजेत' इस एक ही वाक्य से सोमयाग का स्वरूप तथा उस याग का स्वर्गरूपी फल के साथ संबन्ध है, यह भी मानना पड़ेगा। और यदि ऐसा मानना पड़ा तो इसमें वाक्यभेद और उससे उत्पन्न होने वाला 'गौरव' नामक बड़ा बलवत्तर दोष उत्पन्न हो जायगा।

सिद्धान्ती द्वारा वाक्यभेद दोष को निर्देशित करने पर पूर्वपक्षी पुनः प्रश्न करता है कि क्या यह वाक्य भेद का दोष आपके द्वारा किये गए **'सोमेन यजेत'** वाक्य के अर्थ पर नहीं आता? क्या आप **'सोमेन यजेत'** इस एक ही वाक्य से 'कर्मस्वरूप को और उसके गुण को निर्देशित नहीं करते? अर्थात् आप 'सोमेन यजेत' को उत्पत्तिविधि और गुणविधि-दोनों रूपों का विधि मानते ही हैं, तो क्या यह वाक्यभेद नहीं होता? इस पर सिद्धान्ती पूर्वपक्षी के विचार का खण्डन करते हुए कहता है कि हमारे अर्थ मे वाक्यभेद का दोष उत्पन्न नहीं हो सकता। क्योंकि हम **'सोमेन यजेत'** इस एक ही वाक्य को, उत्पत्तिविधि और गुणविधि अर्थात् दो भिन्न-भिन्न विधियों का बोधक कभी नही मानते। हम तो इसे एक ही विशिष्ट विधि मानते है। हमारा कहना है कि 'सोमविशिष्टयाग' यह विशिष्ट विधि है। इसमें 'सोम' **विशेषण** है और 'याग' **विशेष्य**। इनमें से सोमरूपी विशेषण के विधि का कथन श्रुति के द्वारा प्रत्यक्षरूप से न होने के कारण, वह आर्थिक, अर्थात् अर्थाक्षिप्त रीति से प्राप्त हुआ है। और विशेष्यरूपी याग के विधि का कथन **'यजेत'** श्रुति द्वारा प्रत्यक्षरूप से किया गया है। अतः अर्थाक्षिप्त प्राप्त गुण के लिये अन्य विधि की आवश्यकता न होने के कारण 'सोमेन यजेत' श्रुतिप्रोक्त यह केवल एक ही विधि है। और सोमरूपी विशेषण अर्थाक्षिप्त होने से उस गुणविशेषण से बना यह विशिष्टविधि है, इतना ही हम कहते हैं।

सिद्धान्ती के कथन के पश्चात् पूर्वपक्षी पुनः कहता है कि आपके उक्त कथनानुसार संभव है, वाक्यभेद का दोष आपके 'अर्थ' पर न आता हो, किन्तु आप का वह अर्थ मत्वर्थ-लक्षणा से तो दूषित होता ही है। इस पर सिद्धान्ती उत्तर देता है कि हाँ, हमारा अर्थ लक्षणा

(२०) विधिश्चतुर्विधः

विधिश्चतुर्विधः । उत्पत्ति-विधिर्विनियोगविधिरधिकारविधिः-प्रयोग-विधिश्चेति ।।२०।।

विधिं विभजते । विधिश्चतुर्विध इति ।।२०।।

से दूषित है, यह हम स्वीकार करते है, किन्तु आपका अर्थ तो वाक्य भेद से दूषित है। ऐसी स्थिति में, जब दोनों ही पक्षों में किसी न किसी दोष का रहना अपरिहार्य ही है तो जिस पक्ष में अल्पतम दोष हो, उस पक्ष को ग्रहण करना चाहिए, और बलवत्तर दोष से युक्त पक्ष का त्याग करना चाहिए। यही उचित होगा। अत: हमारा पक्ष लक्षणा-दोष से और आपका (पूर्वपक्षीका) पक्ष वाक्यभेद दोष से दूषित होने से, इन दोनों दोषों में से अल्पतर दोष कौन सा हैं,? देखना चाहिए। लक्षणाका दोष, पद दोष है, और वाक्यभेद का दोष, वाक्यदोष है। अर्थात् 'सोमेन यजेत' में यद्यपि विशिष्ट विधान मानने पर 'मत्वर्थलक्षणा' दोष होता है, तथापि पददोष और वाक्यदोष– इन दोनों में 'पददोष' यह अल्पतर दोष है। अत: 'ज्योतिष्टोमेन स्वर्गकामो यजेत' इस वाक्य में उभयविधित्व मानकर वाक्यभेद जैसे दोष को स्वीकार करने की अपेक्षा 'सोमेन यजेत' के सोमपद में मत्वर्थलक्षणा को स्वीकार करके उसे गुणविशिष्टकर्मस्वरूपबोधक उत्पत्तिविधि मान लेना ही उचित होगा।

संक्षेप में सिद्धान्ती के कथन का तात्पर्य यह है कि **'ज्योतिष्टोमेन स्वर्गकामो यजेत'** को उत्पत्ति एवं अधिकारविधि दोनों मान लेने से उत्पन्न होने वाले वाक्य भेद दोष की अपेक्षा सोमपद में मत्वर्थलक्षणा स्वीकार करते हुए सोमवता– सोमविशिष्टयाग का विधान श्रेष्ठ है। सिद्धान्ती ने यहाँ तक अपने विशिष्ट विधि के पक्ष को प्रस्थापित किया है।।१९।।

अनुवाद– विधिरिति *। विधि के चार भेद हैं– (१)* ***उत्पत्तिविधि****, (२)* ***विनियोग विधि****, (३)* ***अधिकार विधि*** *और (४)* ***प्रयोग विधि****।।२०।।*

।। अर्थमीमांसा ।।

विधि के लक्षण तथा गुणविधि एवं विशिष्टविधि के स्वरूप का निरूपण करने के पश्चात् अब ग्रंथकार विधि के प्रभेदों का यहाँ उल्लेख करते हैं। विधि के विषय में इसके पूर्व किये गए निरूपण को एक बार पुन: दृष्टिपथ में लाने से विवेच्य विषय अधिक सरलरीत्या समझा जा सकता है। इसके पूर्व– 'विधिमीमांसा' नामक प्रकरण में विधि का लक्षण– **'अज्ञातार्थज्ञापको वेदभागो विधिः** अर्थात् अज्ञात अर्थ को अवबोधित करानेवाले वेद भाग को विधि कहते हैं, निरूपित किया गया है। इस विधि के लक्षण के पश्चात् विधि के स्वरूप पर विचार करते हुए उसके तीन भेदों– (१) **प्रधान विधि**, (२) **गुणविधि** और (३) **विशिष्टविधि** का उल्लेख कर उन पर आनेवाले आक्षेपों का यहाँ तक निराकरण किया गया है। अब ग्रंथकार विधि के प्रभेदों– **(१) उत्पत्तिविधि, (२) विनियोगविधि, (३) अधिकारविधि और (४) प्रयोगविधि** का उल्लेख कर रहे हैं। ।।२०।।

(२१) उत्पत्तिविधिः

तत्र कर्मस्वरूपमात्रबोधको विधिरुत्पत्तिविधिः । यथाऽग्निहोत्रं जुहोतीति । अत्र च विधौ कर्मणः करणत्वेनान्वयः । अग्निहोत्रहोमेनेष्टं भावयेदिति ।।२१।।

तत्रोत्पत्तिविधिं लक्षयति तत्रेत्यादिना। तत्र चतुर्णां विधीनां मध्य इत्यर्थः। कर्मस्वरूपमात्रेत्यत्र मात्रपदेनोत्पत्तिविधेः कर्मणः फलादिना सह सम्बन्धबोधकत्वं वारयति। उद्भिदा यजेत पशुकाम इति विधेस्तु श्रौतमधिकारविधित्वमेवोत्पत्तिविधित्वं तु कर्मस्वरूपबोधक विध्यन्तराभावेनाऽर्थिकमेवेति न दोषः। तत्रोदाहरणमाह यथाग्निहोत्रं जुहोतीति एतदुपलक्षणम् सोमेन यजेत तप्ते पयसि दध्यानयति सा वैश्वदेव्यामिक्षा-वाजिभ्यो वाजिनं यदाऽग्नेयोष्टाकालोऽमावास्यायाञ्चपौर्णमास्यां चाच्युतो-भवतीत्या-दीनाम्। तथा च तत्र द्वितीयाध्याये कर्मोत्पत्तिविधीनामेव भेदो निरूपितः। अत्राप्युत्पत्तिविधिलक्षणप्रदर्शनेनैव तेषां भेदोऽपि ध्वनितः। एवं शब्दान्तरादिभिर्हेतुभि-

---

अनुवाद– ***तत्र कर्मेति*** *। उक्त विधि के चार प्रभेदों में से यागादि कर्म स्वरूप बोधक विधि को 'उत्पत्ति विधि' कहते हैं। जैसे–* ***'अग्निहोत्रं जुहोति'*** *यह विधिवाक्य। इस विधि में* ***'अग्निहोत्र'*** *कर्म का करणत्वेन अर्थात् साधन रूप से अन्वय होता है। ऐसा होने पर प्रकृतवाक्य का अर्थ* ***'अग्निहोत्रहोमेन इष्टं भावयेत्'*** *अर्थात् 'अग्निहोत्र नामक होम से इष्ट का सम्पादन करें' निष्पन्न होता है।।२१।।*

।। अर्थमीमांसा ।।

उपरिनिर्दिष्ट चार प्रकार के विधियों में से प्रथम **'उत्पत्तिविधि'** है, उसका लक्षण इस प्रकार है– **'कर्मस्वरूपमात्रबोधको विधिः'** अर्थात् (यागादि) कर्म के स्वरूप मात्र का बोधक विधि **'उत्पत्तिविधि'** होता है। उदाहरणार्थ– **'अग्निहोत्रं[१] जुहोति'** यह उत्पत्तिविधि है। क्योंकि इसमें केवल कर्म के स्वरूप का ही निरूपण किया गया है। अब यहाँ विशेष ध्यातव्य यह है कि **'उत्पत्तिविधि'** के लक्षण 'कर्मस्वरूपमात्रबोधक' में **'मात्र'** पद प्रयुक्त है। उसके प्रयोग का प्रयोजन उसके द्वारा गुण, फल इत्यादिकों के संबंध को बतलाने वाले अन्य विधियों पर आनेवाली अतिव्याप्ति का निवारण करना है। अर्थात् जैसे– अधिकारविधि। जिसमें फलसंबन्ध को निर्देशित किया जाता है, वे कर्मस्वरूपमात्रबोधक न होने से, उत्पत्तिविधि नहीं हो सकते। संक्षेप में उत्पत्तिविधि अन्य तीन विधियों से विशेष है। इसकी विशेषता यह है कि जो वेद-वाक्य केवल प्रधान क्रिया का विधान करता है, वह उत्पत्तिविधि होता है। अत: ग्रंथकारने इसका लक्षण– **'कर्मस्वरूपमात्रबोधकः'** किया है। इससे यह सूचित होता है कि इस विधि के द्वारा केवल-क्रिया-मुख्यक्रिया-कर्म के स्वरूप का ही विधान होता है, जबकि अन्य विधियों में मुख्य क्रिया से सम्बद्ध पदार्थों का विधान होता है। उत्पत्तिविधि के अतिरिक्त तीन विधियों में जिन पदार्थों का विधान होता है, वे क्रियाओं से सम्बद्ध होते हैं, इसलिए वे विधियाँ भी बिना क्रिया

---

१. आहिताग्निना सपत्नीकेन प्रतिदिनं सायं प्रातः क्रियमाणो होमविशेषः दधिपयोयवागूतण्डुलान्य-तमद्रव्यकः अग्निहोत्रम्।

रस्माभिस्तु पूर्वमेव तेषां भेदः संक्षेपेण निरूपित इत्युपरम्यते। ननु चात्रोत्पत्तिविधौ कर्मणः साध्यत्वेनान्वयो भवतु। अग्निहोत्रं होमं कुर्यादिति व्रीहीन् प्रोक्षतीतिवदग्निहोत्रं जुहोतीत्यत्रापि द्वितीयायाः साध्यत्ववाचकत्वात्। तथा च साध्यस्य साध्यत्वस्वभावादेव साध्यान्तरसाधनत्वासम्भवेन साध्यान्तरान्वयायोगादधिकारविध्यवगतफलसम्बन्धानुपपत्तिः स्यादित्याशङ्क्याह-अत्र च विधावित्यादिना। अग्निहोत्रहोमेनेष्टं भावयेदिति करणत्वेनान्वये तु किन्तदिष्टमिति वीक्षायामग्निहोत्रं जुहुयात्स्वर्गकाम इत्यधिकारविध्यवगतफलसम्बन्धोपपत्तेः। स्वसाधननिष्पादितस्य सिद्धस्वभावस्यैव करणत्वेनान्वयाच्च न कोऽपि दोष इति भावः। ननूत्पत्तिविधाविष्टबोधकपदस्याभावादग्निहोत्रहोमेनेष्टं भावयेदिति कथं वाक्यार्थः स्यादिति चेन्न। विधेरेवेष्टाक्षेपकत्वात् अन्यथा तस्यापुरुषाऽर्थभूते कर्मणि पुरुषप्रवर्तकत्वानुपपत्तिः स्यात्। ननु गुरुमते विधिः स्वसिद्ध्यर्थमेव नित्यादिषु कर्मसु पुरुषं प्रवर्तयति तथा च काम्यकर्मोत्पत्तिविधीनामिष्टान्तराक्षेपकत्वेऽपि न नित्यादिकर्मोत्पत्तिविधीनामिष्टान्तराक्षेपकत्वं सम्भवति। न च लिङादिशब्दव्यापारस्य विधेर्नित्यत्वेन कथं तस्य स्वसिद्ध्याक्षेपकत्वमिति वाच्यम्। गुरुमतापरिज्ञानात्। तथाहि विधिशब्दस्तावल्लिङादिशब्दवचनस्तदर्थवचनश्च भवति तत्र भट्टमते तदर्थस्तु

के निर्देश किये कृतार्थ नहीं हो सकते। तात्पर्य यह है कि उत्पत्तिविधि के लक्षण में 'मात्र' पद से उत्पत्तिविधि के कर्म से फल आदि के साथ रहने वाले सम्बन्ध बोधकत्व का निवारण होता है। यही कारण है कि 'कर्मस्वरूप-मात्र-बोधकः' में 'मात्र' पद का प्रयोग किया गया है।[१] प्रकृत प्रसंग में यह ज्ञातव्य है कि **'उद्भिदा यजेत पशुकामः'** विधि को 'अधिकारविधि' के साथ-साथ 'उत्पत्तिविधि' भी मान लिया गया है। अब यदि कोई यह आशंका करे कि पूर्व में जो उत्पत्तिविधि का लक्षण-'कर्मस्वरूपमात्रबोधको विधिः उत्पत्ति- विधिः' निरूपित किया गया है, उसके अनुसार तो यहाँ बाधा उत्पन्न होती है। इस आशंका का निवारण यह है कि **'उद्भिदा यजेत पशुकामः'** का अधिकारविधित्व ही केवल श्रुति द्वारा प्रत्यक्षरूप में विहित है और उस अधिकारविधि को अन्य कर्मस्वरूपबोधक उत्पत्तिविधि न मिलने के कारण उसे केवल अर्थाक्षिप्त दृष्टिसे 'उत्पत्तिविधि' माना गया है। अर्थात् यहाँ उत्पत्तिविधित्व 'गौण' है और अधिकारविधित्व ही 'मुख्य' है। अतः इस प्रकार देखने पर प्रस्तुत उदाहरण से पूर्वोक्त उत्पत्तिविधि के लक्षण में कोई विरोध उत्पन्न नहीं हो सकता। तात्पर्य यह है कि 'उद्भिदा यजेत पशुकामः' यह विधि मुख्यतः 'अधिकारविधि' ही है किन्तु प्रकृत स्थल में अन्य कोई उत्पत्तिवाक्य विद्यमान न होने से इसे गौणरूप में उत्पत्तिविधि मान लिया गया है।[२]

यहाँ तक के विवेचन में यह बताया है कि उत्पत्तिविधि केवल कर्मस्वरूप का ही बोधक होता है। इसी प्रकार उत्पत्तिविधि में दूसरा विशेष तथ्य यह होता है कि उत्पत्तिविधि वाक्य में जो द्वितीयान्त पद होता है, उसका **तृतीया** की तरह अर्थात् करणत्व के रूप में अन्वय करना होता है। उदाहरणार्थ– **'अग्निहोत्रं जुहोति'** में द्वितीयान्त कर्म **'अग्निहोत्रं'** का **'अग्निहोत्रहोमेन**

१. कर्मस्वरूपमात्रेत्यत्र मात्रपदेनोत्पत्तिविधेः कर्मणः फलादिना सह सम्बन्धबोधकत्वं वारयति' (कौमुदी. पृ. ५५)

२. उद्भिदा यजेत पशुकामः'– इति विधेस्तु श्रौतमधिकारविधित्वमेवोत्पत्तिविधित्वं तु कर्मस्वरूप बोधकविध्यन्तराभावेनार्थकमेवेति न दोषः।' (कौमुदी)

शब्दव्यापारविशेषो भावनैव गुरुमते तु नियोगाख्यमपूर्वमेव लिङादिशब्दार्थभूतो विधिः। तस्य च साध्यस्वभावत्वेन स्वसिद्ध्याक्षेपकत्वमुपपद्यते तथा च लोके लिङः कार्यव्युत्पत्त्यनुरोधेनाग्निहोत्रं जुहुयादित्यादावपि लिङा नियोग एव प्रतीयते। नियोगश्चाधिकारिविषयादिसापेक्ष एव तत्र कस्य नियोग इत्यधिकार्याकाङ्क्षायां जीवनादिमत इति जीवनादिविशिष्टोऽधिकारित्वेन सम्बध्यते। कुत्र नियोग इति विषयाकाङ्क्षायां तु होमादाविति होमादिर्विषयत्वेन सम्बध्यते। होमादिविषयश्च नियोगः कृतिसाध्यतयैव प्रतीयते तस्य च साक्षात्कृतिसाध्यत्वासम्भवेन स्वस्य कृतिसाध्यत्वनिर्वाहार्थं विषयतया सम्बद्धस्य होमादेः करणत्वमप्याक्षिपति। तदुक्तं शालिकायां–कृति तत्साध्यमध्यस्थो यागादिर्विषयो मतः। कार्ये ऽसङ्घटिताकारे करणत्वेन सम्मत इति। तस्मात्काम्यकर्मोत्पत्तिविधेर्विश्वजिता यजेतेत्यादिविधेश्च स्वप्रवर्तकत्वान्यथानुपपत्या सामान्यतः प्रयोजनविशेषाक्षेपकत्वेऽपि नित्यकर्मोत्पत्तिविधेः स्वसिद्धेरेव प्रयोजनत्वान्नप्रयोजनान्तराक्षेपकत्वमिति चेन्न। नियोगख्यविधेः स्वरूपेणाप्रयोजनत्त्वेन स्वसिद्धये पुरुषप्रवर्तकत्वानुपपत्तेः। अन्यथा विश्वजिता यजेतेत्यादावपि विधेः स्वसिद्धार्थमेव पुरुषप्रवर्तकत्वापत्तेः। तच्चानिष्टम्। स स्वर्गः स्यात्सर्वान्प्रत्यविशेषादिति न्यायविरोधात् तस्मान्नित्यादिष्वपि कर्मसु स्वर्गो धर्मेण पापमपनुदतीत्यादिशास्त्रानुरोधेन पापक्षयादिकं वा प्रयोजनं स्वीकर्तव्यमित्यलमतिप्रसङ्गेन। प्रकृतमनुसरामः। तस्मात्साधूक्तमुत्पत्तिविधौ कर्मणः करणत्वेनान्वय इति ।।२१।।

इष्टं भावयेत्'– इत्याकारक तृतीया की तरह करणत्वेन अन्वय करना होता है। पूर्व में इस सम्बन्ध में विवेचन किया गया है। तात्पर्य यह है कि 'अग्निहोत्र' पद करण कारक अर्थ में प्रयुक्त समझा जाना चाहिए। ऐसा करने पर **'अग्निहोत्रं जुहोति'** का रूप होगा– **'अग्निहोत्र-होमेन इष्टं भावयेत्'**। किन्तु उक्त कारण के अतिरिक्त उत्पत्तिविधि में कर्म का करणत्वेन रूपेण ही अन्वय क्यों करना चाहिए? साध्यत्वेन रूपेण अन्वय क्यों नहीं हो सकता? इस का एक अन्य विशेष कारण यह है कि– **'अग्निहोत्रं जुहोति'** इत्यादि उत्पत्तिविधि का **'अग्निहोत्रहोमेन इष्टं भावयेत्'** इत्याकारक अर्थ करने पर यह नितान्तरूपेण स्पष्ट हो जाता है कि 'अग्निहोत्र' कर्म का करणत्वेन रूपेण अन्वय हुआ है। करणत्वेन रूपेण अन्वय करने पर यह जिज्ञासा होती है कि 'अग्निहोत्र' होम से कौन से इष्ट का सम्पादन करना है? तब **'अग्निहोत्रं जुहुयात्स्वर्गकामः'** इस अधिकारविधि वाक्य से ज्ञात होने वाला स्वर्गरूपीफल ही इष्ट होने के कारण 'साध्य' है। इस प्रकार उक्त आकांक्षा का समाधान किया जाता है। परन्तु उपर्युक्त रीति से दर्शित 'अग्निहोत्रहोमेन स्वर्गं भावयेत्' वाक्य का साध्य 'स्वर्ग' होने पर 'अग्निहोत्रं जुहोति' वाक्य के 'अग्निहोत्र' पद को द्वितीया में रखकर 'अग्निहोत्र होमं कुर्यात्' अर्थ करने पर, इसके साध्य 'अग्निहोत्र होम' और अधिकारविधि से ज्ञात 'साध्य-स्वर्ग' इन दोनों का ही **'भावयेत्'** क्रियापद से अन्वय नहीं हो सकेगा और तब अधिकार विध्यवगत स्वर्गरूपी फल का संबन्ध बतलाना कठिन होगा। परन्तु 'अग्निहोत्र' का करणत्वेन अन्वय करने पर उससे फलसम्बन्ध का बोधन हो सकता है। उसका रूप होगा 'अग्निहोत्रहोमेन इष्टं भावयेत्' इसीलिए **'उत्पत्तिविधौ कर्मणः करणत्वेनैवान्वयः'** यह नियम किया गया है।[१]

---

१. उत्पत्तिवाक्ये कर्मणः करणत्वेनाऽन्वयः। (तं.सि.र.द्वितीय परिच्छेद)

(२२) यागस्य रूपद्वयम्

ननु यागस्य द्वे रूपे। द्रव्यं देवता च। तथा च रूपाश्रवणे 'अग्निहोत्रं जुहोती'ति कथमुत्पत्तिविधिः। अग्निहोत्रशब्दस्य तु तत्प्रख्यन्यायेन नामधेयत्वादिति चेन्न। रूपाश्रवणेऽप्यस्योत्पत्तिविधित्वात्। अन्यथा रूपश्रवणाद्दध्नाजुहोतीत्ययमेवोत्पत्तिविधिः स्यात्। तथा चाग्निहोत्रं जुहोतीति वाक्यमनर्थकं स्यात्।।२२।।

नन्वग्निहोत्रं जुहोतीत्यस्य नोत्पत्तिविधित्वं द्रव्यदेवतात्मकस्य कर्मरूप-

---

प्रकृत प्रसंग में पूर्वपक्षी यह शंका कर सकता है कि **'इष्टं भावयेत्'** में कथित 'इष्ट' कौन सा है? इस आकांक्षा के समाधान में **'स्वर्ग'** को पूर्व में इष्ट कहा गया है। किन्तु इस पर पुन: एक शंका उत्पन्न होती है कि **'अग्निहोत्रं जुहोति'** इस उत्पत्तिवाक्य में 'इष्टार्थ' को बतलाने वाला शब्द कौन सा है? जिसके योग से 'अग्निहोत्रहोमेन इष्टं भावयेत्' यह अर्थ हो सकेगा। इस शंका का समाधान यह है कि जब **'जुहोति'** विधि 'श्रुति' विहित है, तब कुछ न कुछ इष्ट तो होना ही चाहिए, क्योंकि किसी न किसी पुरुषार्थ की ओर पुरुष की प्रवृत्ति को उत्पन्न करने की इच्छा रखनेवाली श्रुति किसी कर्म को बताकर उस कर्म का फल उसे अभिप्रेत न हो, ऐसा संभव नहीं है। क्योंकि प्रत्येक क्रिया का कुछ न कुछ प्रयोजन अवश्य होता है, अत: 'अग्निहोत्र' याग का भी कुछ न कुछ प्रयोजन अवश्य होगा। निश्चय ही फल अभिप्रेत न होने पर उस कर्म की ओर पुरुष प्रवृत्त ही नहीं होगा। इसलिए प्रत्येक विधि में श्रुति को कुछ न कुछ इष्टफल अभिप्रेत होता ही है। अत: **'जुहोति'** का अर्थ करते समय 'इष्ट' पद का अध्याहार किया गया है।[१] तब प्रकृत उत्पत्तिविधि का उक्त **'अग्निहोत्रहोमेन इष्टं भावयेत्'** अर्थ सम्पन्न होता है।।२१।।

[अब 'अग्निहोत्रं जुहोति' के उत्पत्तिविधि होने में आक्षेप उपस्थित करके उसका निवारण किया जा रहा है–]

अनुवाद- नन्विति। *पूर्वपक्षी पुन: शंका उपस्थित करते हुए कहता है कि– याग के दो रूप होते हैं (१)* ***द्रव्य*** *और (२)* ***देवता।*** ***'अग्निहोत्रं जुहोति'*** *इस विधिवाक्य में 'द्रव्य' तथा 'देवता' का श्रवण नहीं है अत: यह उत्पत्तिविधि है, इसमें क्या प्रमाण है। 'अग्निहोत्र' पद में द्रव्य तथा देवता का श्रवण नहीं है क्योंकि* ***'तत्प्रख्यन्याय'*** *से 'अग्निहोत्र' याग का नाम है।*

नेति। *सिद्धान्ती कहता है कि-नहीं। प्रस्तुत उदाहरण में रूप अर्थात् द्रव्य और देवता का श्रवण न होने पर भी इसे उत्पत्तिविधि ही माना जाना चाहिए। नहीं तो, यदि रूप के श्रवण से ही कोई वाक्य उत्पत्तिविधि हो जाता तो* ***'दध्ना जुहोति'*** *भी* ***'दधि'*** *रूप द्रव्यात्मक रूप का श्रवण होने से उत्पत्तिविधि हो जाता। और यदि उपर्युक्त विधि को उत्पत्तिविधि मान लेते हैं तो* ***'अग्निहोत्रं जुहोति'*** *वाक्य अनर्थक हो जायेगा।।२२।।*

---

१. विधिर्हि पुरुषार्थे पुरुषं प्रवर्तयन् स्वस्य प्रवर्तकत्वसिद्ध्यर्थं स्वविषयस्य यागादेरिष्टभाव्यकत्वा-माक्षिपतीत्युक्तम्। अत एव क्वचिद्विधिवाक्ये फलपदाश्रवणेऽपि फलसामान्यवाचकेष्टपदाध्याहारेणैव वाक्यार्थ-सम्पादनम्-इष्टं भावयेदिति। (तंसि.र. द्वितीय परिच्छेद

स्यात्राश्रवणादित्याशङ्कते-नन्विति । नन्वग्नये होत्रमत्रेत्यग्निहोत्रशब्देनाग्निदेवतात्मकस्य कर्मरूपस्य श्रवणात्कथं रूपाश्रवणमित्याङ्क्याह-अग्निहोत्रशब्दस्येति । अग्निहोत्रशब्दस्य तत्प्रख्यंचान्यं शास्त्रमिति तत्प्रख्यन्यायेन नामधेयत्वस्य वक्ष्यमाणत्वान्न कस्यापि कर्मरूपस्य श्रवणमत्रेत्यर्थः । यद्यप्यत्र कर्मणो रूपं न श्रूयते तथापि विध्यन्यथानुपपत्या तत्कल्प्यते तच्च सामान्यतःकल्प्यमानं द्रव्यदेवतात्मकं कर्मणो रूपं विशेषाकाङ्क्षया गुणविधिमन्त्रवर्णाभ्यां विशेषेणचावगम्यमानमत्र सम्भवति ततश्चाग्निहोत्रं जुहोतीत्यत्र द्रव्यदेवतात्मकस्य कर्मरूपस्य श्रवणाभावेऽप्यस्य होमरूपकर्मस्वरूपमात्रबोधकत्वरूप-मुत्पत्तिविधित्वं सम्भवतीत्याशयेन परिहरति-नेति । तत्र निरुक्ताशयं हेतुमाह रूपाश्रवण इति । विपक्षे बाधकमाह-अन्यथेति । अग्निहोत्रं जुहोतीत्यस्य रूपाश्रवणमात्रेणोत्पत्ति-विधित्वानङ्गीकारे दध्नाजुहोतीत्यस्यैवोत्पत्तिविधित्वं स्यादत्र कर्मस्वरूपस्य श्रवणादित्य-र्थः । दध्नाजुहोतीत्यस्याग्निहोत्रकर्मोत्पत्तिविधित्वे वाक्यान्तरस्यानर्थकत्वमनिष्टमापादयति

।। अर्थमीमांसा ।।

याग कोई भी हो, वह किसी देवता को उद्देश्य करके उसके प्रीत्यर्थ किया जाता है, और उस याग में उस देवता के प्रीत्यर्थ किये जानेवाले हवन के लिए हवन सामग्री के रूप में **पय, दधि, आज्य, सोम,** इत्यादि द्रव्यों की आवश्यकता होती है। इस हेतु 'द्रव्य' और 'देवता' याग के दो रूप हैं, कहा है।

याग का लक्षण है **'उद्दिश्य देवतां द्रव्यत्यागो यागोऽभिधीयते'**– अर्थात् याग उसे कहते है जिसमें देवता को उद्देश्य करके तन्निमित्तक द्रव्य का त्याग किया जाता है। अत: स्पष्ट है कि प्रत्येक याग के लिए 'द्रव्य' और 'देवता'-इन दो की आवश्यकता होने से द्रव्य एवं देवता-ये याग के दो रूप होते हैं। पूर्वपक्षी कहता है कि आपने पूर्व में उत्पत्तिविधि का लक्षण– **'कर्मस्वरूपमात्रबोधक'** बतलाया है। तदनुसार यागरूपी कर्म के जिन दो रूपों 'द्रव्य' और 'देवता' को निरूपित किया गया है, उनमें से उत्पत्तिविधि के उदाहरण– 'अग्निहोत्रं जुहोति'– में दो रूपों में से एक रूप का (द्रव्य या देवता) तो उल्लेख होना चाहिए था। किन्तु इन दो रूपों में से एक भी रूप 'अग्हिोत्रं जुहोति' वाक्य में नहीं पाया जाता। तब आप उसे उत्पत्तिविधि कैस कहते हैं? उक्त पूर्वपक्षी के कथन पर आक्षेप लेते हुए एक पार्श्वस्थ (समीप बैठा हुआ) कहता है– आप यह कैसे कहते हैं कि 'अग्निहोत्रं जुहोति' इस उत्पत्तिविधि के वाक्य में रूप का कथन नहीं किया गया है? क्योंकि **'अग्नये होत्रं अग्निहोत्रं'** इस प्रकार 'अग्निहोत्र' शब्द का अर्थ करने पर, क्या उसमें 'अग्नि' देवता की प्राप्ति नहीं होती? अत: यहाँ याग के दो रूपों में से एकरूप **'अग्नि'** का कथन तो किया ही है। अत: **'अग्निहोत्रं जुहोति'** इस वाक्य को उत्पत्तिविधि के उदाहरणरूप में ग्रहण करने में कोई आपत्ति नहीं है।

किन्तु पूर्वपक्षी पार्श्वस्थ के उक्त तर्क से सहमत नहीं होता, वह कहता है कि– 'अग्निहोत्र' पद का अर्थ-**'अग्नये होत्रं अग्निहोत्रं'** करने पर संभव है, अग्निदेवतारूपी कर्मस्वरूप उक्त उदाहरण में प्राप्त हो जायँ, किन्तु सिद्धान्ती तो 'अग्निहोत्र' शब्द का उक्त अर्थ स्वीकार नहीं करता, वह कहता है कि 'अग्निहोत्र' तो एक याग विशेष का नाम 'नामधेय' है और यह बात मीमांसा के सुप्रसिद्ध **'तत्प्रख्यन्याय'** से सिद्ध होती है।

तथा चेति। न चाग्निरूपगुणविधित्वेनाप्यस्योपपत्तिरिति वाच्यम्। अग्निर्ज्योतिरित्यादिमन्त्रवर्णेनाग्निरूपगुणस्य प्राप्तत्वात्। कर्मनामधेयत्वस्य वक्ष्यमाणत्वाच्च तस्मादनर्थकमिति साधूक्तम्। किञ्च दध्नाजुहोतीत्यस्योत्पत्तिविधित्वे पयसाजुहोत्तीत्त्यस्यापि वैयर्थ्यं कर्मान्तरविधायकत्वं वा स्याद्धोमस्योत्पत्तिशिष्टदध्यवरूद्धत्वेन तत्र पयोरूपगुणविधित्वासम्भवात्। तथा चानेकादृष्टकल्पनापत्तिः। अग्निहोत्रं जुहोतीत्यस्य होमोत्पत्तिविधित्वे तु दध्नाजुहोति पयसाजुहोतीत्यादिवाक्यस्य सर्वस्यापि तत्र खले कपोतन्यायेन युगपद्दध्यादिगुणविधायकत्वेनाप्युपपत्त्या नानेकादृष्टकल्पनाप्रसङ्ग इत्यग्निहौत्रं जुहोतीत्यस्यैवोत्पतिविधित्वं न्याय्यमित्यलमतिविस्तरेण।।२२।।

तत्प्रख्यन्याय– इस प्रसिद्ध न्याय का स्पष्टीकरण भी प्रस्तुत प्रकरण में अपरिहार्य हो जाता है। जैमिनिसूत्र के प्रथम अध्याय के अन्तर्गत चुतर्थ-पाद का **'तत्प्रख्यं चान्यशास्त्रम्'** नाम का चतुर्थ सूत्र है। और यही चतुर्थ अधिकरण भी है। इस अधिकरण में **पूर्वपक्ष** के रूप में **'अग्निहोत्रं जुहोति'** इस विषय वाक्य को ग्रहण कर उसके द्वारा पूर्वपक्षी द्वारा अग्निदेवता रूपी 'गुण' विधान कहा गया है। परन्तु इस पूर्वपक्ष का खण्डन करने के पश्चात् सिद्धान्त रूप में 'अग्निहोत्र' को एक याग माना गया है। प्रस्तुत अधिकरण का गर्भार्थ अधोलिखित है–

'अग्निहोत्रं जुहोति' वाक्य का 'अग्निहोत्र' पद अग्निदेवता रूपी गुण का वाचक है, यह कहना उपयुक्त नहीं है। क्योंकि 'तत्प्रख्यं चान्यशास्त्रम्' का तात्पर्य यह है कि इस विधिवाक्य की देवता को बतलाने वाला (तत्प्रख्य) शास्त्र अलग (अन्यशास्त्र) ही है। वह शास्त्र अर्थात् वह वेदवचन, या वह मंत्र, **'अग्निर्ज्योतिर्ज्योतिरग्निः स्वाहेति सायं जुहोति'** है, और इस याग की देवता 'अग्नि' है, यह अलग-दूसरे ही मंत्र में या शास्त्र में पूर्व ही निरूपित किया गया है। इसलिए 'अग्निहोत्र' पद का अर्थ- 'अग्नये होत्रं अग्निहोत्रं' करके तदनुसार प्रकृत याग की देवता अग्नि है– यह निश्चित नहीं किया जा सकता। अत: तत्प्रख्य (अग्निप्रख्यापक) नाम का अलग-शास्त्र होने के कारण 'अग्नये होत्रं अग्निहोत्रं'– यह चतुर्थीसमास द्वारा अर्थ न करके **'अग्नये होत्रं होमो यस्मिन्'–** बहुब्रीहि समास द्वारा **'अग्निहोत्र'** शब्द याग का 'नामधेय' है, नाम है यह सिद्ध होता है। हम पुन: अविशिष्ट शास्त्रार्थ की ओर उन्मुख होते हैं, यहाँ पूर्वपक्षी की यह शंका है कि—

तत्प्रख्यन्याय की दृष्टि से देखने पर ज्ञात होता है कि **'अग्निहोत्र'** शब्द केवल एक याग का नाम है। अत: उससे उस याग की देवता का ज्ञान होना संभव नहीं है। और याग-लक्षण के अनुसार द्रव्य एवं देवता के प्रख्यापन के बिना कोई वाक्य 'याग' जैसे कर्म का बोधक नहीं हो सकता। तो फिर 'कर्मस्वरूपमात्रबोधको विधिरुत्पत्तिविधि:' के अनुसार 'अग्निहोत्रं जुहोति' वाक्य उत्पत्तिविधि कैसे हो सकेगा?

सिद्धान्ती पूर्वपक्षी को कहता है कि यद्यपि 'द्रव्य' एवं 'देवता' याग के दो रूपों में से किसी एकरूप का भी 'अग्निहोत्रं जुहोति' वाक्य में श्रवण नहीं होता– आपका यह कहना ठीक है तथापि यह उत्पत्तिविधि ही है। इसके अतिरिक्त अप्रत्यक्षरूप से सामान्यत: 'होम' रूपी कर्मस्वरूप का बोध तो होता ही है। अत: 'अग्निहोत्रं जुहोति' को उत्पत्तिविधि ही मानना उचित होगा। इसमें कर्म का स्वरूप कहीं भी निरूपित नहीं है, यदि इस आधार पर इसे उत्पत्तिविधि

(२३) विनियोगविधिः

अङ्गप्रधानसम्बन्धबोधको विधिर्विनियोगविधिः। यथा 'दध्ना जुहोती'ति। स हि तृतीयया प्रतिपन्नाङ्गभावस्य दध्नो होमसम्बन्धं विधत्ते। दध्ना होमम्भावयेदिति। गुणविधौ च धात्वर्थस्य साध्यत्वेनैवान्वयः। क्वचिदाश्रयत्वेनापि। यथा दध्नेन्द्रियकामस्य जुहुयादित्यत्र दधिकरणत्वेनेनिन्द्रयं भावयेत्। तच्च किन्निष्ठ-मित्याकाङ्क्षायां सन्निधिप्राप्तहोम आश्रयत्वेनान्वेति।।२३।।

तृतीयाध्यायस्यार्थभूतं शेषशेषिभावं निरूपयितुमिदानीं विनियोगविधिं लक्षयति-

---

नहीं माना तो इस विधि की सार्थकता क्या होगी? तात्पर्य यह है कि रूपों का श्रवण आवश्यक नहीं है। ऐसा नहीं माना जा सकता कि जिस विधि में द्रव्य या देवता का श्रवण न हो वह उत्पत्तिविधि हो ही नहीं सकता। जहाँ कर्म के रूप का श्रवण हो, वही उत्पत्तिविधि है और यदि ऐसा माना जायगा तो **'दध्ना जुहोति'** और वाक्य में कर्म के द्रव्यात्मक स्वरूप का श्रवण तो होता ही है, अत: उसे ही 'उत्पत्तिविधि' मानना पडेगा। क्योंकि यहाँ 'दधि' जैसे द्रव्यात्मक रूप का श्रवण होता है, और यदि 'दध्ना जुहोति' को उत्पत्तिविधि मान लेगें तो 'अग्निहोत्रं जुहोति' वाक्य व्यर्थ हो जायगा। अत: 'अग्निहोत्रं जुहोति' वाक्य ही उत्पत्तिविधि है, यह मानलेना आवश्यक है।।२२।।[१]

अनुवाद- अंगप्रधानेति। *अंगो का प्रधान के साथ सम्बन्धबोधक विधि को विनियोगविधि कहते हैं। यथा–* ***'दध्ना जुहोति'***। *उपुर्यक्त विधिवाक्य* ***'दध्ना'*** *इस तृतीया श्रुति से ज्ञापित 'दधि' रूप अंग का* ***'अग्निहोत्र'*** *रूप प्रधान (अंगी) के साथ संबध का विधान करता है। (उपर्युक्त विधिवाक्य से 'दधि' एवं 'होम' के मध्य अंगांगिभाव सम्बन्ध का बोध होता है)* ***'दध्ना जुहोति'*** *का अर्थ* ***'दध्ना होमं भावयेत्'*** *अर्थात् 'दधि' के द्वारा होम का सम्पादन करे' होता है।*

गुणविधौचेति। *गुणविधि में धात्वर्थ अर्थात् क्रिया (होम) का साध्यत्वेन अन्वय होता है, किन्तु कहीं धात्वर्थ का अन्वय आश्रयरूप में भी होता है। यथा–* ***'दध्नेन्द्रियकामस्य जुहुयात्'***[२] *इसमें धात्वर्थ होम का अन्वय आश्रयरूप में होता है, और वाक्य का अर्थ होता है* ***'दधिकरणत्वेन इन्द्रियं भावयेत्'*** *अर्थात् 'दधि' रूप करण से 'इन्द्रिय' रूपी फल की कामना करें। 'दधि' रूप करण किस आश्रय में रहेगा? यह आकांक्षा होने पर विधि वाक्य में समीप श्रुत 'होम' ही आश्रयत्वेन अन्वित होता है।।२३।।*

१.(i) उत्पत्तिविधिरिति। उत्पत्तिः कर्तव्यतया प्राथमिकप्रतीतिः। सा च कर्मणो (१) नाम- निर्देशेन, (२) द्रव्यदेवतात्मकरूपविशिष्टकर्मनिर्देशेन च संभवति। अत: कश्चिदुत्पत्तिविधिः कर्ममात्रोत्पादकः। कश्चिच्च द्रव्यदेवताविशिष्टकर्मोत्पादकः। एवंच 'कर्मस्वरूपमात्रबोधको विधिरुत्पत्तिविधिः' इत्यस्मिंल्लक्षणे मात्र पदं कर्मणः फलसंबंधव्यावर्तकम्। अपि च उत्पत्तिविधेर्भेदद्वयमध्ये 'अग्निहोत्रं जुहोति'– इति नाम निर्देशोदाहरणमिति द्रष्टव्यम्। जै. सू. २/२/५

(ii) येनवाक्येन 'इदं कर्म कर्तव्यम्' इति बोध्यते, तत्कर्मोत्पत्तिवाक्यम्। (परिभाषा)

२. तै. ब्रा. २/२५/६

अङ्गप्रधानेति । अङ्गानां द्रव्यदेवतादिलक्षणानां प्रधानैर्वाक्यान्तरविहितैः सह सम्बन्धस्य शेषत्वलक्षणस्य बोधको विधिरित्यर्थः । तत्रोदाहरणमाह यथा दध्नेति । दध्ना जुहोतीति । पयसा जुहोतीत्यादेरुपलक्षणार्थम् । स हि विधिस्तृतीयया प्रतिपन्नाङ्गभावस्य दध्यादेरग्निहोत्रं जुहोतीति विहितहोमसम्बन्धं विधत्त इत्याह-सहीत्यादिना । ननु दध्ना होमं भावयेद्धोमेनेष्टं भावयेदिति साध्यत्वेन करणत्वेन च होमस्यान्वयःस्यात् । तथा च विरुद्धत्रिकद्वयप्रसङ्गः । तथा हि दध्ना जुहोतीत्यत्र सकृदुच्चरितस्य जुहोतीत्याख्यातस्य दधिरूपगुणे किंचिदिष्टे च तन्त्रेण सम्बन्धाङ्गीकारे सत्युपादेयत्वं विधेयत्वं गुणत्वं चेत्येकं त्रिकमुद्देश्यत्वमनुवाद्यत्वं प्राधान्यं चेत्यपरं त्रिकं होमे सम्पद्यते, कथं शृणु । फलमुद्दिश्य होम उपादीयते, फलमनूद्य होमो विधीयते फलं प्रधानं होम उपसर्जनम् । एवं होममुद्दिश्य दध्युपादीयते, होममनूद्य दधि विधियते होमः प्रधानं दध्युपसर्जनम् । ततश्च होमे फलापेक्षयोपादेयत्वं गुणत्वं दधिरूपगुणापेक्षया चोद्देश्यत्वमनुवाद्यत्वं प्राधान्यं च सम्पद्यते । नचात्र न तंत्रेण सम्बन्धः । किन्तु पृथग्होमावृत्यासम्बन्धो भवतीति वाच्यम् । वाक्यभेदप्रसङ्गात्, दध्ना होमं भावयेत् होमेन चेष्टं भावयेदिति वाक्यद्वयप्राप्तेः । तस्मान्न दधिशब्दो गुणपर इति चेन्न भ्रान्तिमत्वात् । तथाहि यत्र हि साध्यत्वेन करणत्वेन चैकस्य

।। अर्थमीमांसा ।।

जैसा कि पूर्व में उल्लेख हो चुका है- विधि के चार प्रभेद है– **(१) उत्पत्तिविधि (२) विनियोगविधि (३) अधिकारविधि एवं (४) प्रयोगविधि।** इनमें से विधि के प्रथम प्रभेद– उत्पत्तिविधि का विवेचन (लक्षण एवं उसका परीक्षण) पूर्व परिच्छेद तक हो चुका। अब **ग्रंथकार** विधि के द्वितीय प्रभेद– **विनियोगविधि** का लक्षण यहाँ निरूपित करते हैं– **'अङ्गप्रधानसम्बन्धबोधको विधिर्विनियोगविधिः'** अंगप्रधानसंबन्धबोधक विधि को विनियोगविधि कहा जाता है। अर्थात् जिस विधि से अङ्ग (गुण) एवं अङ्गी (प्रधान) के सम्बन्ध का ज्ञान होता है, उसे विनियोग विधि कहते हैं। दूसरे शब्दों में जिस विधि द्वारा अंग (गौण, शेष) और प्रधान (मुख्य, शेषी) के **उपकारकोपकार्यरूपी संबन्ध** का ज्ञान होता है, उसे 'विनियोग विधि' कहते हैं। एवञ्च जिस विधि में कर्मस्वरूप का ज्ञान होता है या निरूपण किया जाता है, वह उत्पत्तिविधि, जिसमें फलसंबन्ध प्रदर्शित किया जाता है, वह अधिकारविधि और जिसमें अंग-प्रधान सम्बन्ध को प्रदर्शित किया जाता है, वह विनियोगविधि होता है। इस प्रकार विधि के उक्त मुख्य तीन प्रकार ही हैं और तीन प्रकार के सम्बन्धों– **कर्मसम्बन्ध, फलसंबन्ध** और **अंगांगिभाव सम्बन्ध** के कारण ही विधि को उक्त तीन प्रकारों में विभक्त किया गया है। और चतुर्थ जो **प्रयोगविधि** है, उसमें भी अंगागिभाव का ही प्रश्न मुख्यरूप से निरूपित होने के कारण उसका विनियोगविधि के अन्तर्गत एक दृष्टि से समावेश हो जाता है। और इसीलिए विधि के मुख्य तीन ही प्रकार माने जाते है।

अधुना हम **'विनियोग'** विधि को स्पष्ट करने का प्रयत्न करते है। जिस विधि से अङ्ग एवं प्रधान के सम्बन्ध का बोध होता है, उसे विनियोग विधि कहते है। अर्थात् विनियोगविधि अङ्गाङ्गिभाव का ज्ञान कराता है। जैसे **'दध्ना जुहोति'** यह वाक्य विनियोगविधि का है।

युगपत्तन्त्रेण सम्बन्ध आशङ्क्यते तत्रैव विरुद्धत्रिकद्वयस्य प्रसक्तिर्भवति, यथा वाजपेयेन स्वाराज्यकामो यजेतेत्यत्र, तत्र च वाजशब्दस्य पेयसुराद्रव्यवाचित्वेन गुणविध्याशङ्कायां मत्वर्थलक्षणा प्रसङ्गाक्षेपे तन्त्रेण युगपत्स्वाराज्यफलवाजपेयगुणसम्बन्धो यागस्य पूर्वपक्षितः। तत्र विरुद्धत्रिकद्वय-प्रसङ्गापादनेन यथोक्तद्रव्यनिमिते वाजपेयशब्दस्य नामधेयत्वं राद्धान्तितम्। विरुद्धत्रिकद्वयप्रसङ्गश्च फलमुद्दिश्य याग उपादीयते फलमनूद्य यागो विधीयते फलं प्रधानम्याग उपसर्जनं एवं यागमुद्दिश्य वाजपेय उपादीयते यागमनूद्य वाजपेयो विधीयते। यागः प्रधानं वाजपेय उपसर्जनं फलस्योद्देश्यत्वं च मानसापेक्षो विषयत्वाकारः। यागस्योपादेयत्वं त्वनुष्ठीयमानत्वाकारः। तौ चोभौ मनःशरीरोपाधिकौ धर्मौ भवतः। अनुवाद्यत्वविधेयत्वे तु शब्दोपाधिकौ धर्मौ स्तः। अनुवाद्यत्वं नाम मानान्तरज्ञातस्यानुकथ्यमानत्वं विधेयत्वं चाज्ञातस्यानुष्ठेयत्वेन प्रतिपाद्यमानत्वम्। फलस्य प्राधान्यं नाम साध्यत्वेन यागस्योपसर्जनत्वं च साधनत्वेन बोध्यम्। तथा यागस्योद्देश्यत्वं नाम मानान्तरसिद्धस्य विधेयान्वयितया निर्देश्यत्व-मन्यत् यथोक्तम्। नचैवं होमे विरुद्धत्रिकद्वयप्रसङ्गः। तस्य साध्यत्वेन साधनत्वेन

'अग्निहोत्रं जुहोति' इस उत्पत्तिविधि से अग्निहोत्रहोम 'प्रधान कर्म' बोधक के रूप में मानलिया गया है, अब **अग्निहोत्रहोम** रूप कर्म को किस गुण द्रव्य से सम्पन्न किया जायँ? ऐसी आकांक्षा उत्पन्न होने पर, वहाँ **'दध्ना जुहोति'** विधि की प्राप्ति होती है। इस विधि में **'दधि'** पद तृतीया विभक्ति में प्रयुक्त है। तृतीया विभक्त्यन्त **'दध्ना'** पद से ज्ञात होता है कि **'दधि'** अङ्ग है और **'होम'** अङ्गी। एवञ्च 'दध्ना जुहोति' विधि से प्रधान 'अग्निहोत्र होम' और उसके अंग का अन्योन्यसंबन्ध का बोध होता है। अर्थात् 'दधि' एवं 'होम' के मध्य में रहने वाले अङ्गाङ्गिभाव का बोध होता है। इसलिए इस विधि को 'विनियोगविधि' कहते हैं। अथवा यह कह सकते है कि **'दधि'** अंग का (गुण द्रव्य का) विनियोग प्रधानभूत अग्निहोत्रहोम में किया जाता है, यह इस विधि से प्रदर्शित किया जाता है, अतः इसे अन्वर्थक नाम 'विनियोगविधि' दिया गया है। इस प्रकार दधि का 'होम' से सम्बन्ध प्रदर्शित होने से 'दध्ना जुहोति' का अर्थ **'दध्ना होमं भावयेत्'** अर्थात् 'दधि के द्वारा होम सम्पन्न करे' होता है। किन्तु **पूर्वपक्षी 'दध्ना जुहोति' के 'दध्ना होमं भावयेत्'** अर्थ पर आक्षेप उठाता है। इस आक्षेप के सम्बन्ध में पूर्वपक्षी और सिद्धान्ती के मध्य में वाद का प्रश्न यह है कि इसमें प्रयुक्त धात्वर्थ अर्थात् होम (क्रिया) का साध्यत्वेन 'दध्ना होमं भावयेत्' अन्वय करना चाहिए, अथवा 'होमेन इष्टं साधयेत्' ऐसा साधनत्वेन अन्वय करना चाहिए? और अन्त में साधक-बाधक रीति से विचार करने के पश्चात् यह निश्चय किया गया है कि 'अग्निहोत्रं जुहोति' जैसे उत्पत्तिविधि वाक्यों में धात्वर्थ जो **होम** है, उसका **'होमेन इष्टं-साधयेत्'** इत्याकारक साधनत्वेन अन्वय होता है, किन्तु **'दध्ना जुहोति'** जैसे गुणविधि वाक्यों में धात्वर्थ जो 'होम' है, उसका केवल **'दध्ना होमं भावयेत्'** इत्याकारक साध्यत्वेन ही अन्वय होता है, साधनत्वेन अन्वय नहीं होता। इस सिद्धान्त को प्रस्थापित करने के लिए रोचक शास्त्रार्थ है जिसे समझलेना नितान्त आवश्यक है।

चात्रविधौ युगपत्तन्त्रेणान्वयानङ्गीकारात्। किन्तु साध्यत्वेनैव तथाच होमस्योद्देश्यत्व-मनुवाद्यत्वं प्रधानत्वमेव न तूपादेयत्वादिकं तस्मान्नविरुद्धत्रिकद्वयापत्तिरित्याशयेनाह-गुणविधौ चेति। धात्वर्थस्य साध्यत्वेनैवान्वय इति धात्वर्थस्य यागदानहोमादेः साध्यत्वेनैवेत्येनेन साधनत्वेनान्वयं वारयति साधनत्वेनान्वयस्तु धात्वर्थस्योत्पत्तिविधाव-धिकारविधौ च भवति न तु गुविधावित्यर्थः। ननु गुणविधौ धात्वर्थस्य साध्यत्वेनैवान्वये दध्नेन्द्रियकामस्य जुहुयादित्यत्र दध्ना होमं भावयेदिन्द्रियकामस्येति वाक्यार्थः स्यात्। तथाचेन्द्रियस्य साध्यत्वेनान्वये तस्याफलत्वप्रसङ्गः। न चात्र गुणविधिः गुणपदस्यानर्थ-कत्वप्रसङ्गः होमस्योभयरूपेणान्वये तु पूर्वोक्तदोषापत्तिश्चेत्याशङ्क्याह-क्वचिदित्यादिना। यद्वा। गुणविधौ धात्वर्थसाध्यत्वेनैवान्वयो नान्यथा यत्र तु तृतीयोपात्ते दध्यादिगुण-करणत्वं तस्य प्रत्ययार्थत्वेन दध्यादिगुणादपि प्रधानत्वात्फलभावनायां करणत्वेन विधीयते तत्र तु धात्वर्थस्याश्रयत्वेनैवान्वय इत्याह-क्वचिदित्यादिना। क्वचिदिति यत्र दध्यादिगुणकरणत्वस्य फलभावनायां करणत्वेन विधानं तत्रेत्यर्थो न तु गुणवि-धावित्यर्थः। तच्चेति तृतीययोपात्तं दधिकरणत्वं चेत्यर्थः। होमाश्रयदधिकरणत्वेनेन्द्रियं भावयेदिति वाक्यार्थः। तथाच करणस्य कर्तृव्यापारव्याप्यत्वनियमात्केवलदध्नः कर्तृव्यापारानाविष्टस्य करणत्वानुपपत्तेर्होमस्य च वाक्यान्तरप्राप्तत्वात्तयोर्विध्यनुपपत्तेः। होमस्य गुणसम्बन्धविधाने फलपदस्यानर्थकत्वप्रसङ्गात्तस्याफलसम्बन्धविधौ च

पूर्वपक्षी कहता है कि आप 'दध्ना जुहोति' का **'दध्ना होमं भावयेत्'** अर्थ करते हैं। परन्तु केवल 'जुहोति' पद का (धात्वर्थ का करणत्व से अन्वय करना चाहिए,) आपके पूर्वोक्त सामान्य नियमानुसार अर्थ करने पर 'होमेन इष्टं भावयेत्' अर्थ होता है। और आपने अभी **'दध्ना जुहोति'** का अर्थ **'दध्ना होमं भावयेत्'** किया है। अब उक्त दोनों अर्थों को यदि एकत्र किया जायँ तो ज्ञात होता है कि 'होम' रूप एक ही 'धात्वर्थ' का एक समय (होमं) साध्य के रूप में और एक समय (होमेन) करण के रूप में 'जुहोति' भावना के साथ (भावयेत् इस क्रिया पद के साथ) अन्वय करना पड़ता है। और ऐसा करने पर आपके विचार में **विरुद्धत्रिकद्वयापत्ति** का दोष आता है। वह दोष इस प्रकार है—

'दध्ना जुहोति- वाक्य का अर्थ करते समय दो वाक्य प्राप्त होते हैं– **(१) दध्ना होमं भावयेत्'** और **(२) 'होमेन इष्टं भावयेत्'**। इन दो वाक्यों में से 'होमेन इष्टं भावयेत्'-वाक्य को प्रथम ग्रहण करते हैं और यह देखते हैं कि इस वाक्य से 'होम' और 'इष्ट फल'-इन दोनों में अन्योन्य संबन्ध किस प्रकार उत्पन्न होता है। (१) इस वाक्य में **फल** के उद्देश्य से **'होम'** उपादेय (स्वीकरणीय) है। अर्थात् फल प्राप्त करने के उद्देश्य से 'होम' का अनुष्ठान कर्तव्य है। और इस दृष्टि से देखने पर 'फल' उद्देश्य और 'होम', **उपादेय** निश्चित होता है। इसके अतिरिक्त एक और भेद ज्ञात होता है, वह यह कि उद्देश्यत्व **मानस धर्म है** और उपादेयत्व यह **शारीर धर्म** है। (२) 'होमेन इष्टं भावयेत्'-इसी वाक्य के फल और होम-के मध्य में स्थित एक और अन्य संबन्ध भी है, इसमें पूर्व में ज्ञात फल का अनुवाद (मानान्तरज्ञातस्य कथनं अनुवादः) करके उस फल की प्राप्ति के लिए होम का विधान प्रतिपादित किया गया

गुणपदस्यानर्थक्यापातात्फलगुणोभयसम्बन्धविधौ च प्राप्तेकर्मण्यनेकपदार्थविधाने च वाक्यभेदप्रसङ्गात् । प्राप्तेकर्मण्यनेकपदार्थविधानस्य च वाक्यभेदापादकस्य-प्राप्ते कर्मणि नानेको विधातुं शक्यते गुणः ।। अप्राप्ते तु विधीयन्ते बहवोऽप्येकयत्नत इति । वचनविरोधेन स्वीकर्तुमशक्यत्वात्तृतीयोपात्तस्य दधिकरणत्वस्य होमनिरूपितत्वेन फलभावनायां करणत्वमत्र विधीयत इति भावः । प्राप्ते कर्मणीत्यत्र कर्मणो द्रव्याद्युपलक्षणत्ववद् गुणस्यापि प्रधानोपलक्षणत्वमेकोद्देशेनानेकविधावेव वाक्यभेदात्। अतएव ग्रहैकत्वाधिकरणे ग्रहं सम्मार्ष्टीत्यत्र ग्रहोद्देशेनैकत्वसम्मार्ज्जनविधौ वाक्यभेदात् ग्रहैकत्वमविवक्षितमित्युक्तम् । तेन दध्नेन्द्रियकामस्य जुहुयादित्यत्रेन्द्रियसम्बन्धस्य प्रधानसम्बन्धत्वेऽपि न क्षतिः । ननु कर्मणो द्रव्योपलक्षणत्वं भवतु ग्रहस्य द्रव्यत्वात् गुणस्य प्रधानोपलक्षणत्वं कुत्र-चरितार्थमिति चेन्न । रेवत्त्यधिकरणे चरितार्थत्वात् । तत्र हि एतस्यैव रेवतीषु वारवन्तीयमग्निष्टोम साम कृत्वा पशुकामो ह्येतेन यजेतेति । तत्र च पशुकामस्य रेवतीः न समादध इत्यादिरेवतिष्वृक्षु वारवन्तीयं साम गातव्यं तथा चात्र रेवतीनामृचां वारवन्तीयनामकेन साम्ना यः सम्बन्धः सोऽयं पशुफलायाग्निष्टुतिगुणो

है। अर्थात् दूसरी दृष्टि से विचार करने पर **फल** यह **अनुवाद्य** और होम **विधेय** निश्चित होता है। इस विषय में एक बात ध्यातव्य यह है कि अनुवाद्यत्व और विधेयत्व-ये दोनों ही धर्म **शब्दोपाधिक** है।[१] (३) **'होमेन इष्टं भावयेत्'** इस वाक्य के फल और होम- के मध्य में निहित एक संबन्ध ऐसा भी है कि इसमें 'फल' साध्य होने से वह **प्रधान** है और 'होम' उस फल का साधन होने से **गौण** अथवा उपसर्जनीभूत है। इस प्रकार उक्त तीन प्रकारों से 'फल' और 'होम' में स्थित अन्योन्यसम्बन्ध से जो धर्म उत्पन्न होते हैं, वे निम्नांकित आकृति के द्वारा प्रदर्शित किये गये हैं, उससे वे सरलरीत्या ध्यान में आते हैं–

होमेन (करणेन)	**इष्टं**	**(फलं)**	**भावयेत्**
(१) उपादेय (शारीर)	उद्देश्य	(मानस)	
(२) विधेय (शाब्द)	अनुवाद्य	(शाब्द)	
(३) उपसर्जन (साधन)	प्रधान	(साध्य)	

उपर्युक्त आकृतिबद्ध शब्दयोजना से ज्ञात होता है कि 'होम' में तीन-धर्म (त्रिक) निहित रहते हैं, वे तीन धर्म ये हैं– (१) **उपादेयत्व,** (२) **विधेयत्व** और (३) **उपसर्जनत्व**। और दूसरे तीन धर्म (दूसरे त्रिक) (१) **उद्‌देश्यत्व,** (२) **अनुवाद्यत्व** और (३) **प्रधानत्व 'फल'** में रहते हैं– 'होमेन इष्टं भावयेत्'– इस वाक्य का यही निष्कर्ष है।

अब इसी प्रकार **'दध्ना होमं भावयेत्'** वाक्य के **'दधि'** और **'होम'** के अन्योन्य सम्बन्ध को यदि देखते हैं, तो इसमें भी उक्त प्रकार के सदृश ही 'दधि' साधन है, और 'होम' साध्य होने से इनमें भी उक्तानुसार ही अन्योन्यधर्मों का उत्पन्न होना स्वाभाविक ही है। वे धर्म

१. 'तौ चौभौ मनःशरीरोपाधिकौ धर्मौ भवतः। अनुवाद्यत्वविधेयत्वे तु शब्दोपाधिकौ धर्मौ स्तः। (कौमुदी)

विधीयते। एतस्यैवेत्यत्र प्रकृतपरामर्शकेनैतच्छब्देनान्यव्यावर्तकेन चैवकारेणाग्निष्टुतः समर्प्यमाणत्वादितिचेन्न। रेवत्यृगाधारकवारवन्तीयसाम्नोऽग्निष्टुत्कर्मसाधनत्वं पशुफल-साधनत्वं चेत्युभयस्य विधाने वाक्यभेदप्रसङ्गात्। ततश्च पशुफलकं रेवत्यृगाधार-कवारवन्तीयगुणविशिष्टं कर्मान्तरमत्र विधीयते, न प्रकृते गुणः। एतच्छब्दस्य तु बुद्धिस्थपरामर्शकत्वेनाप्युपपतेः। एवकारस्य चायोगव्यवछेदकत्वमन्ययोगवछेदकत्वंवोपपद्यत इत्युक्तम्। तस्मात्प्राप्ते होमे गुणफलसम्बन्धोभयविधौ वाक्यभेदो दुष्परिहर इत्यलम्॥२३॥

भी पूर्वोक्तानुसार निम्नांकित आकृति में अंकित कर स्पष्ट करने योग्य है—

	दध्ना	**द्रव्येण**	**होमं (कर्म) भावयेत्**
(१)	उपादेय	(शारीर)	उद्देश्य (मानस)
(२)	विधेय	(शाब्द)	अनुवाद्य (शाब्द)
(३)	उपसर्जन	(साधन)	प्रधान (साध्य)

उपर्युक्त दोनों वाक्यों को एकत्र लिखने पर स्पष्ट होता है कि—

	दध्ना	**होमं**	**होमेन**	**इष्टं भावयेत्**
(१)	उपादेय (शारीर)	उद्देश्य (मानस)	उपादेय (शारीर)	उद्देश्य (मानस)
(२)	विधेय (शाब्द)	अनुवाद्य (शाब्द)	विधेय (शाब्द)	अनुवाद्य (शाब्द)
(३)	उपसर्जन (साधन)	प्रधान (साध्य)	उपसर्जन (साधन)	प्रधान (साध्य)

उपर्युक्त आकृति में उल्लिखित शब्द योजना से यह स्पष्टरूप से ज्ञात होता है कि **'होम'** इस एक ही पद में परस्पर विरूद्ध तीन धर्म उत्पन्न हो रहें हैं। आगे बढ़ने के पूर्व प्रथमत: यह यहाँ ध्यातव्य है कि उपर्युक्त ये दो वाक्य **'दध्ना भावयेत्'** और **'होमेन इष्टं भावयेत्'** जो अलग अलग करके अंकित किये हैं, वे केवल विषय को सरलता से समझने की दृष्टि से कल्पित किये है। उपर्युक्त दो वाक्यों की रचना से यह ज्ञात होता है कि एक ही 'होम'-पद पर **उद्देश्यत्व** और **उपादेयत्व, अनुवाद्यत्व** और **विधेयत्व** एवं **प्रधानत्व** और **उपसर्जनत्व** ये परस्पर विरूद्ध धर्म (विरूद्धत्रिक द्वय) किस प्रकार उत्पन्न होते हैं और यह किस प्रकार दोषास्पद हैं। किन्तु विरुद्धत्रिकद्वयापत्ति दोष के उत्पन्न होने की संभावना तब उत्पन्न होती है जब **'दध्ना जुहोति'** इस वाक्य में केवल एक ही बार पठित धात्वर्थ **'होम'** का एक ही वाक्य में और एक ही समय एक तंत्र से [सकृदुच्चरितस्योभयत्र-संबन्धस्तन्त्रसंबन्धः] एक बार 'साधन' रूप में और एक बार 'साध्य' रूप में उपयोग किया जायँ। अत: पूर्व में विषय को ठीक-ठीक समझने के लिए ज़िन दो वाक्यों की कल्पना क्षणभर के लिए की गई थी, उन्हें अब विस्मृत कर इसे एक ही वाक्य मानने पर पूर्वपक्षी के द्वारा उत्थापित विरूद्धत्रिकद्वयापत्ति-दोष उस वाक्यार्थ पर सम्यक् रीत्या घटित हो जाता है।

उक्त दोष (विरूद्धत्रिकद्वयापत्तिदोष) का निवारण करने के लिए सिद्धान्ती यदि यह कहे कि **'दध्ना जुहोति'** के स्थान पर **'दध्ना होमं भावयेत्'** और **'होमेन इष्टं-भावयेत्'** इन दो वाक्यों को हम मानते हैं तो पूर्वपक्षी कहता है कि आप ऐसा नहीं कर सकते। क्योंकि यदि आपने ऐसे दो वाक्यों को माना तो आप पर वाक्यभेद का दोष आयेगा। तात्पर्य यह है कि यदि आप एक वाक्य में एक तन्त्र से एक ही समय **'होम'** का साध्यत्व के रूप में और साधनत्व रूप में 'भावयेत्' के साथ अन्वय करेंगे तो आपके मत में विरुद्धत्रिकद्वयापत्ति का दोष आता है, और यदि आपने 'दध्ना जुहोति' के स्थान पर 'दध्ना होमं भावयेत्' और 'होमेन इष्टं भावयेत्' इन अलग-अलग दो वाक्यों की रचना की तो आप पर वाक्यभेद का दोष आता है। अत: आप किसी भी प्रकार दोष मुक्त नहीं हो सकते। इसलिए **'दध्ना जुहोति'** इस वाक्य के **'दधि'** का गुणपरक अर्थ आप नहीं कर सकेगें। यही है पूर्वपक्षी का आक्षेप।

पूर्वपक्षी के द्वारा उपर्युक्तानुसार अपने आक्षेप की स्थापना की जाने पर सिद्धान्ती उसका निवारण करते हुए कहता है कि वह दोष हम पर नहीं आता। क्योंकि **'दध्ना जुहोति'** वाक्य का अर्थ करते समय **'होम'** पद का साध्यत्वेन और साधनत्वेन–इस प्रकार दो रीति से हम कदापि अन्वय नहीं करते। हम तो केवल साध्यत्वेन ही 'होम' पद का अन्वय करते है। और ऐसा करने पर **'होम'** पद केवल **उद्देश्य, अनुवाद्य,** और **प्रधान** रूप में ही रहता है। उसके विपरीत रहने वाले दूसरे विरुद्धत्रिक की संभावना भी उत्पन्न नहीं होती। इस लिए हम पर दोनों ही दोष– विरुद्धत्रिकद्वयापत्ति और वाक्यभेद, नहीं आते।

(१) साध्यत्वेन अन्वयः

उपर्युक्त विवेचन से यह नितान्त स्पष्ट हो जाता है कि यद्यपि 'उत्पत्तिविधि' में धात्वर्थका साधनत्वेन (अग्निहोत्रहोमेन इष्टं भावयेत्) अन्वय किया जाता है, तथापि गुणविधि में धात्वर्थ का साध्यत्वेन ही (दध्ना होमं भावयेत्) अन्वय करना युक्तियुक्त होता है। अर्थसंग्रह के टीकाकार,– **रामेश्वर भिक्षु** ने **'गुणविधौ च धात्वर्थस्य साध्यत्वेनैवान्वयः'** पाठ स्वीकार किया है। अर्थसंग्रह के अनेक संस्करणों में **'एव'** पद प्रयुक्त नहीं है। किन्तु हमारी दृष्टि में रामेश्वरभिक्षु के द्वारा स्वीकृत 'एव' पद घटित पाठ ही समीचीन है। इसीलिए वही पाठ यहाँ ग्रहण किया गया है। गुणविधि में ही केवल धात्वर्थ का 'साध्यत्वेन' अन्वय किया जाता है, साधनत्वेन नहीं, इसे स्पष्ट करने के लिए ही 'एव' पद का प्रयोग किया है, जो युक्तिसंगत है।

(२) आश्रयत्वेन अन्वयः

जैसा कि पूर्व में कह चुके हैं कि **'दध्ना जुहोति'** इत्यादि गुणविधि के वाक्य में-धात्वर्थ 'होम' साध्यरूप से अन्वित होता है, साधनत्वेन नहीं। किन्तु गुणविधि में कुछ स्थल ऐसे होते हैं जहाँ धात्वर्थ का अन्वय आश्रय अर्थात् अधिकरणरूप में होता है। आश्रयत्वरूप से होने वाले अन्वय को **'दध्ना इन्द्रियकामस्य जुहुयात्'** उदाहरण के द्वारा समझा जा सकता है। प्रस्तुत उदाहरण में **'दध्ना जुहुयात्'** इतने ही वाक्य के अर्थ को **'दध्ना होमं भावयेत्'** करके और उसमें शेष पद **'इन्द्रियकामस्य'** को मिलाया तो उस वाक्य का अर्थ **'दध्ना होमं**

भावयेत् इन्द्रियकामस्य' (इस) प्रकार होगा। किन्तु **'इन्द्रियकामस्य'** इस पद में 'इन्द्रिय' **'फल'** है, और जो फल होगा, वही साध्य (कर्म) होना चाहिए, इसे **'स्वर्गं भावयेत्'** इत्यादि उदाहरणों मे पूर्व में स्पष्ट किया गया है। अत: प्रकृत में भी **'इन्द्रियकामस्य जुहुयात्'** का केवल 'इन्द्रियं भावयेत्' इतना अर्थ करना तो आवश्यक ही है। अब 'इन्द्रिय' **'फल'** के लिए **'दधि'** करण रूप में निरूपित होने के कारण, करणत्व के रूप में उसका वाक्यार्थ– **दधिकरणत्वेन इन्द्रियं भावयेत्'**- दधिकरणत्वेन इन्द्रियरूपी फल का सम्पादन करे- होगा। इस प्रकार अर्थ करने पर भी **'दधि'** और **'इन्द्रिय'** इन दोनों का अन्योन्यसंबन्ध किस प्रकार संभव हो सकेगा। क्योंकि केवल 'दधि' से इन्द्रियकाम का सफल होना संभव नहीं है। अत: **'दधि'** और **'इन्द्रिय'** के मध्य में दोनों को मिलाने वाला अन्य किसी पदार्थ का होना आवश्यक है। जिसके आश्रय से 'दधि' इन्द्रियरूपी फल को उत्पन्न कर सके। ऐसी आकांक्षा होने पर,– अथवा इसे ही अन्य शब्दों में कहना पड़े तो,– **'दध्ना इन्द्रियकामस्य जुहुयात्'** में उक्त 'दध्ना' पद से जिस दधिकरणत्व का बोध कराया गया है, वह (तच्च किं निष्ठम्) किसके आश्रय से इन्द्रियफल को उत्पन्न करने में समर्थ होगा? ऐसी आंकाक्षा उत्पन्न होने पर **'जुहुयात्'** पद के पास में ही प्राप्त होने वाला (संनिधिप्राप्त) धात्वर्थ **'होम'** का आश्रयत्वेन अन्वय होता है। अर्थात् **'होमाश्रयदधिकरणत्वेन इन्द्रियं भावयेत्–** (होमाश्रित दधिकरणत्व के द्वारा इन्द्रिय बल को प्राप्त करें) यह अर्थ 'दध्ना इन्द्रियकामस्य जुहुयात्' का अन्त में सिद्ध होता है। ऐसे वाक्यों को **'फलाय गुणवाक्य'** भी कहा जाता है।[१]

उपर्युक्त विवेचन का सारांश यह है कि **'दध्नेन्द्रियकामस्य जुहुयात्'** यह एक गुणविधि है। इस गुणविधि का स्पष्ट अर्थ यह है कि 'होमाश्रित दधिकरणकत्व के द्वारा इन्द्रियबल को प्राप्त करे'। वस्तुत: 'दधिकरणकत्व' एक धर्म है। धर्म को सदा आश्रय-धर्मी- की आवश्यकता होती है। धर्म, धर्मी के अभाव में नहीं रह सकता। अत: 'दधिकरणकत्व' रूप धर्म को किसी धर्मी-आश्रय की आवश्यकता होती है। इस प्रकार की आकांक्षा उत्पन्न होने पर धात्वर्थभूत **'होम'** उसके आश्रय रूप में उससे अन्वित होता है। इस प्रकार अन्वित होने पर वह 'दधिकरणकत्व' धर्म होमाश्रित हो जाता है। उपर्युक्त प्रकार से **'होमाश्रितेन दधिकरणकत्वेन इन्द्रियं भावयेत्'** अर्थात् होमाधारक दधिकरणकत्व के द्वारा (होम को दधिकरणक बनाकर) इन्द्रिय बल की प्राप्ति करे' इस प्रकार का वाक्यार्थ बोध-**'दध्ना इन्द्रियकामस्य जुहुयात्'** इस विधि वाक्य से प्राप्त होता है।।२३।।

[अब ग्रंथकार विनियोग विधि से अंगागिभाव का ज्ञान कराने में जो छ: प्रमाण सहायक होते हैं, उनका उल्लेख करते हैं–]

---

१. अतश्चेन्द्रियोद्देशेन दधिरूपे गुणे विहिते सिद्धस्य वस्तुन: व्यापारावेशं विना फलोत्पादासामर्थ्यात् अन्यथा विधिं विनापि फलोत्पत्तेर्निवारयितुमशक्यत्वेन विधिवैयर्थ्यापत्ते: तदनुग्रहाय मध्ये कस्यचित् व्यापारस्याऽपेक्षायां स्वसाध्यभोजनदानहोमाद्यनेकव्यापारप्रसक्तावपि प्रकरणेन होमस्यैव प्रापणात् तस्यैवाऽऽश्रयत्वम्। (तंत्रसिद्धान्तरत्नावली द्वितीयपरिच्छेद)

(२४) विनियोगविधेः श्रुत्यादिषट्प्रमाणानि

एतस्य विधेः सहकारिभूतानि षट् प्रमाणानि। श्रुति-लिङ्ग-वाक्य-प्रकरण-स्थान-समाख्यारूपाणि। एतत्सहकृतेनानेन विधिनाङ्गत्वं परोद्देशप्रवृत्तकृतिसाध्यत्वरूपं पारार्थ्यापरपर्य्यायं ज्ञाप्यते।।२४।।

एतस्य विधेरिति लक्षितस्य विनियोगविधेरित्यर्थः। एतत्सहकृतेनेति। एतत्प्रमाणषट्कसहकृतेनेत्यर्थः। विनियोगविधिसहकारित्वं च तेषां विनियोगविधिकृतविनियोगे प्रमाणत्वाद्भवतीति बोध्यम्। अनेन विधिनाङ्गत्वं ज्ञाप्यत इत्यन्वयः। अङ्गत्वं लक्षयति-परोद्देशेनेत्यादिना। यद्वा ननु न शेषत्वापरनामकस्याङ्गत्वस्य विनियोगविधिबोध्यत्वं सम्भवति तस्यानिरूपणात्। तदनिरूपणं च लक्षणप्रमाणाभावात्, न तावदविनाभूतत्वं तत्त्वं आग्नेयादीनां षण्णामविनाभूतत्वेन परस्परं शेषत्वापत्तेः। नापि प्रयोज्यत्वं शेषत्वं पुरोडाशकपालेन तुषानुपवपतीत्यत्र तुषोपवापनं प्रतिशेषत्वेन श्रुतस्यापि पुरोडाशकपालस्योपायाप्रयोज्यत्वात्। नच विध्यन्तविहितत्वं शेषत्वमितिवाच्यम्। इषेत्वेतिच्छिनत्तीत्यत्र पलाशशाखाछेदनस्य सत्यपि शेषत्वे विध्यादिविहितत्वेनाव्याप्तिप्रसङ्गात्।नापि तत्र प्रत्यक्षं प्रमाणं लोके तत्त्वेऽपि वेदे तस्य शब्दैक-

---

अनुवाद– एतस्येति। *विनियोग विधि के अंगांगिभाव बोधक षट् प्रमाण हैं। ये ६ प्रमाण हैं– (१)* ***श्रुति****, (२)* ***लिंग****, (३)* ***वाक्य****, (४)* ***प्रकरण****, (५)* ***स्थान*** *और (६)* ***समाख्या****। इनके सहयोग से यह विधि 'अंगत्व' का बोधन कराता है। अंगत्व का लक्षण है–* ***'परोद्देश-प्रवृत्तकृतिसाध्यत्वम्'*** *अर्थात् स्वर्गादि फल के उद्देश्य से प्रवृत्त पुरुष का यत्नव्याप्य जो हो उसी को अंग कहते हैं। 'अंगत्व' का पर्यायवाची शब्द 'पारार्थ्य' है।।२४।।*

।। अर्थमीमांसा ।।

पूर्व चर्चित प्रकरण में विनियोगविधि का लक्षण निरूपित किया गया। तत्पश्चात् विनियोगविधि में (१) **साध्यत्व** और (२) **आश्रयत्व** इन दो प्रकारों से धात्वर्थ का अन्वय होने पर उससे वाक्यार्थ बोध किस प्रकार होता है, बतलाया गया है। विनियोगविधि के द्वारा जिस विनियोग का अर्थात् अंग का प्रधान से रहने वाले सम्बन्ध या अन्वय का कथन होता है, वह विनियोग उसी रीति से करना चाहिए, यह किस आधार पर निश्चित किया जाता है,? यह शंका उत्पन्न होने पर, उस शंका का निराकरण करने के लिए यहाँ यह कहा जाता है कि विनियोगविधि में जो अंगप्रधानभाव या शेषशेषिसम्बन्ध प्रदर्शित होता है, वह सम्बन्ध निम्नोक्त प्रमाणों के आधार पर निश्चित किया जाता है और ये छः प्रमाण विनियोग विधि से अंगांगिभाव का ज्ञान कराने में सहायक होते हैं। अर्थात् विनियोगविधि के सहकारी (अंग एवं अंगी भावबोधक) षट् प्रमाण हैं। ये छः प्रमाण इस प्रकार हैं—

गम्यत्वोपगमात्। नापि शब्दः केनापि शब्देन शेषशेषिभावस्याप्रतीयमानत्वात्। लोके क्रियाकारकान्वयस्यैव व्युत्पत्तिप्रयोजकत्वदर्शनेन तत्र कस्यापि शब्दस्य व्युत्पत्यग्रहात्। तत्र च न हेतुरप्युपलभ्यत इति चेदत्रोच्यते न तावदस्य लक्षणासम्भवः। पारार्थ्यस्यैव निर्दुष्टशेषत्वलक्षणत्वात्। नापि तत्र प्रमाणाभावः शब्दगम्यत्वात्। नच तत्र व्युत्पत्यभावात्कथं शब्दगम्यत्वमिति वाच्यम्। शेषशेषिभावस्यान्वयेऽन्तर्भावात्तत्र व्युत्पत्तयुपपतेः। नहि गुणप्रधानभावमन्तरेणान्वयः सम्भवति। द्वयोः प्रधानयोर्गुणयोर्वा परस्पराकाङ्क्षारहितत्वेनान्वययोग्यत्वाभावात्। ततो यथा क्रियाकारकतदन्वयाः शब्दगम्याः तथा तदन्वयान्तर्गतः शेषशेषिभावोऽपि शब्दगम्य एव नापि तत्र हेतोरभावे विवादास्पदः प्रयाजानुयाजप्रोक्षणादिः शेषो भवितुमर्हति पारार्थ्यात् भृत्त्यादिवदिति-हेतुसत्वात्। नच पारार्थ्यस्यैव लक्षणत्वे हेतुत्वे च साङ्कर्यप्रसङ्ग इति वाच्यम्। सेनानां महारथीवदाकारभेदेन तद्भेदोपपतेः। दृष्टान्ते गृहीतव्याप्तिं हि सहायीकृत्य बोधकत्वाकारो हेतुरितरव्यावृत्या बोधकत्वाकारश्च लक्षणमिति तद्भेद इत्यभिप्रेत्याङ्गत्वं लक्षयति-परोद्देशेनेति। परं स्वर्गादिरूपमुत्कृष्टं साध्यं फलं तदुद्देशेन सङ्कलनया मनसि सिद्धवत्करणेन तत्साधनयागादिषु प्रवृत्तस्य पुरुषस्य कृतिसाध्यत्वरूपकृति-

---

(१) श्रुति (२) लिङ्ग, (३) वाक्य, (४) प्रकरण, (५) स्थान, और (६) समाख्या। इन छः प्रमाणों की सहायता से विनियोगविधि किसी प्रधान वस्तु के सम्बन्ध से दूसरे गौण वस्तु के अंगत्व को प्रदर्शित करता है। अर्थात् इन षट् प्रमाणों के सहयोग से 'विनियोगविधि' 'अंगत्व' का बोध कराता है। 'अंग' गौण होता है और 'अंगी' प्रधान। अंग से अंगी उपकृत होता है। दूसरे शब्दों मे कहा जा सकता है कि 'अंग' परार्थ होता है। 'पारार्थ्य' अंगत्व का अपरपर्याय (अंगत्वं पारार्थ्यापरपर्यायम्) अर्थात् तद्वाचक एक दूसरा शब्द है। **'शेषः परार्थत्वात्** (३,१,२) इस जैमिनिसूत्र में अंग का लक्षण बताते समय 'परार्थ' शब्द का ही प्रयोग किया गया है। 'पर एव अर्थः प्रयोजनं यस्य स परार्थः' अर्थात् दूसरे की सिद्धि ही जिसका प्रयोजन हो, उसे ही 'शेष' कहा जाता है। 'परार्थ' का अर्थ है जो दूसरे के लिये हो। जिस प्रकार गृह, दास, आदि दूसरे के लिये होतें हैं, उसी प्रकार 'अंग' दूसरे के लिये होते हैं। परार्थ का भाव ही 'पारार्थ्य' है। और पारार्थ्य का एतादृश अर्थ होने के कारण ही वह अंगत्व के निदर्शक का अपर पर्याय बना है।

ग्रंथकार ने अंगत्व का लक्षण– **'परोद्देशप्रवृत्तकृतिसाध्यत्वरूपम्'** किया है, एक प्रकार से यह 'पारार्थ्य' शब्द की व्याख्या ही है। उक्त लक्षण **'परोद्देशप्रवृत्तकृतिसाध्यत्वरूपम्'** की व्याख्या दो प्रकार से की जा सकती है। (१) पर उद्देश अर्थात् सर्वातिशय उत्कृष्ट हेतु-स्वर्ग, (परम-उत्कृष्टं स्वर्गादिफलम्) तस्य उद्देशेन (तल्लाभार्थमित्यभिप्रायः) प्रवृतः (यागादिप्रवृतः यः पुरुषः) तस्य (पुरुषस्य) कृत्या व्यापारेण साध्यत्वम् सम्पाद्यत्वम्।' तात्पर्य यह है कि 'पर' का अर्थ श्रेष्ठ अर्थात् स्वर्गादिक 'फल'। स्वर्गलाभेच्छुक

व्याप्यत्वरूपमित्यर्थः। तथाच स्वर्गफलोद्देशेन दर्शादिषु प्रवृत्तपुरुषकृतिव्याप्यत्वं प्रयाजानुयाजावघातप्रोक्षणादीनां सुप्रसिद्धमिति तेषां शेषत्वम्। यद्वा परशब्दो दर्शादिपरः तथाच तदुद्देशेन प्रवृत्तपुरुषकृतिव्याप्यत्वं प्रयाजादीनां भवतीति तेषां तत्त्वं दर्शादेस्तु प्रयाजाद्युद्देशेन प्रवृत्तपुरुषकृतिव्याप्यत्वाभावान्न तत्रातिव्याप्तिः। केवलप्रयाजाद्युद्देशेन कस्यचिदपिपुरुषस्य प्रवृत्यभावादिति ध्येयम्। ननु कर्माण्यपि जैमिनिः फलार्थत्वात् तत् फलं च पुरुषार्थत्वात् पुरुषश्च कर्मार्थत्वादित्यत्र जैमिनिसूत्रत्रये कर्मफलपुरुषाणामपि शेषत्वमुक्तम्। तत्र च कर्मणां फलोद्देशेन प्रवृत्तकृतिसाध्यत्वेऽपि फलपुरुषयोस्तु पुरुषकर्मोद्देशेन प्रवृत्तपुरुषकृत्यसाध्यत्वात्कथं शेषत्वमितिचेदत्र वक्तव्यम्। स्वर्गस्य साक्षात्कृतिसाध्यत्वाभावेऽपि यदा पुरुषः स्वस्वर्गोद्देशेन दर्शादिषु प्रयतते तदैव कालान्तरेऽपूर्वद्वारेण स्वर्गो जायते नान्यथेति। भवति पुरुषकृतिव्याप्यत्वं तस्य तथा स्वर्गफलोद्देशेन दर्शाद्युद्देशेन वा प्रवृत्तः पुरुषोपदैवतदनुष्ठानानुकूलं स्वं प्रयत्नेन सम्पादयति। तदैव कर्म निष्पद्यते नान्यथेति। तस्यापि भवति पुरुषकृतिव्याप्यत्वमिति सर्वमनवद्यम्।।२४।।

व्यक्ति स्वर्ग-लाभ की इच्छा से स्वर्ग के साधनभूत 'दर्शादिक याग करने में प्रवृत्त होगा, और ऐसा व्यक्ति 'परोद्देशप्रवृत्त' कहलायगा। तथा दर्शादियागानुष्ठान में सक्रिय व्यक्ति की क्रिया ही 'परोद्देशप्रवृत्तकृति' कहलाती है। दर्शादिक यागानुष्ठान की क्रियाओं को वह प्रयाज, अनुयाज, अवघात, प्रोक्षण आदि अंगों के द्वारा ही पूर्ण कर सकता है। अर्थात् इन अंगों के अनुष्ठान से वह दर्शादिक याग संपूर्ण कर सकता है। एवञ्च प्रयाजादिक परोद्देश से प्रवृत्त पुरुष की कृति से साध्य-संपाद्य (व्याप्य) होते हैं। इसका तात्पर्य यह है कि प्रयाजादि कृत्यों में 'परोद्देशप्रवृत्तकृतिसाध्यत्व' धर्म निहित रहता है, इसलिए प्रयाजादिक दर्शादिक याग के 'अंग' होते है।

(२) दूसरी व्याख्या इस प्रकार की जाती है– 'परः दर्शादियागः तस्य उद्देशेन प्रवृत्तस्य पुरुषस्य कृत्या व्यापारेण साध्यत्वम् सम्पाद्यत्वम्' यहाँ **'पर'** शब्द का अर्थ 'स्वर्ग' का साधनभूत 'याग' ग्रहण किया गया है। तदनुसार स्वर्ग के सम्पादन में प्रवृत्त पुरुष की कृति (क्रिया) की साध्यभूत प्रयाजादिक क्रियाएँ 'अंग' होगीं। **रामेश्वर भिक्षु** ने अपनी टीका में उक्त लक्षण के दूसरे अर्थ को इस प्रकार प्रस्तुत किया है– वे कहते हैं कि प्रयाजादिकों का दर्शादिक याग के अंगों की दृष्टि से विचार करने पर ज्ञात होता है कि दर्शादिक याग भी 'पर' अर्थात् प्रधान होने के कारण उस दर्शादि याग के परोद्देश से प्रवृत्त हुए पुरुष की कृति द्वारा साध्य होने का धर्म जिसमें है वह अंग है,।।२४।।

[विनियोग विधि के सहकारीभूत उपर्युक्त श्रुत्यादि षट् प्रमाणों में से प्रथम प्रमाण 'श्रुति' के लक्षण सहित प्रभेदों का उल्लेख अब ग्रंथकार करते हैं–]

(२५) श्रुतिनिर्वचनम्

तत्र निरपेक्षो रवः श्रुतिः। सा च त्रिविधा। विधात्री, अभिधात्री, विनियोक्त्री च। तत्राद्या लिङाद्यात्मिका। द्वितीया व्रीह्यादिश्रुतिः। यस्य च शब्दस्य श्रवणादेव सम्बन्धःप्रतीयते सा विनियोक्त्री ।।२५।।

तत्र श्रुतिं लक्षयति। तत्र निरपेक्षो रव इति। तत्र षण्णां श्रुत्यादिप्रमाणानां मध्ये इत्यर्थः। स्वकरणीये शेषत्वबोधे प्रमाणान्तरनिरपेक्षः शब्दः। श्रुतिरित्यर्थः। रव इत्युक्ते वाक्यादावतिप्रसङ्गस्तद्वारणाय निरपेक्ष इत्युक्तम्। तां च श्रुतिं विभजते-सा च त्रिविधेति। विधात्री विधानकर्त्री, अभिधात्री अभिधानकर्त्री, विनियोक्त्री विनियोगकर्त्री। तत्राद्यामुदाहरति-तत्राद्यालिङाद्यात्मिकेति। तत्र तिसृणां श्रुतीनां मध्य इत्यर्थः। आदिना लेडादि ग्रहः। अभिधात्रीमुदाहरति-द्वितीया व्रीह्यादीति। तृतीयां विनियोक्त्रीं लक्षयति-

---

*अनुवाद— तत्रेति। पूर्वकथित षड्विध प्रमाणों में से प्रमाणान्तर की अपेक्षा न रखनेवाले शब्द को '**श्रुति**' कहते हैं। वह श्रुति तीन प्रकार की होती है– (१) **विधात्री** (२) **अभिधात्री** और (३) **विनियोक्त्री**। 'लिङ्' आदि श्रुति को 'विधात्री श्रुति' कहते हैं। 'व्रीहि' आदि श्रुति को 'अभिधात्री श्रुति' कहते है और जिस शब्द के सुनने मात्र से '**अंगांगिभाव**' सम्बन्ध का ज्ञान हो जाता है उस शब्द को 'विनियोक्त्री श्रुति' कहते हैं ।।२५।।*

।। अर्थमीमांसा ।।

पूर्व के विवेचन में जिन श्रुत्यादि षट्-प्रमाणों का उल्लेख किया गया है, उनमें से प्रथम प्रमाण '**श्रुति**' का लक्षण '**निरपेक्षो रवः श्रुतिः**' किया गया है। अर्थात् प्रमाणान्तर की अपेक्षा न रखने वाले शब्द को 'श्रुति' कहते हैं। 'लिंग' एवं वाक्यादि प्रमाण अंगभाव के बोधन में सहकारी अवश्य होते है, किन्तु स्वतंत्र अर्थात् निरपेक्ष रूप से नहीं। उन्हें अपने पूर्व प्रमाणों की अपेक्षा रखते हुए अन्त में 'श्रुति' की ही अपेक्षा होती है।[१] जैसे '**स्थान**' को '**प्रकरण**' प्रमाण की अपेक्षा होगी, 'प्रकरण' को 'वाक्य' की, 'वाक्य' को 'लिंग' की एवं 'लिंग' को 'श्रुति' प्रमाण की अपेक्षा होगी। तात्पर्य यह है कि लिंगवाक्यादि प्रमाणों को अपने से पूर्ववर्ती सभी प्रमाणों की अपेक्षा होती है। किं बहुना जिस प्रमाण को लिंगवाक्यादि की तरह अन्य किसी प्रमाण की अपेक्षा नहीं होती अर्थात् जिसे स्वतः प्रामाण्य है, ऐसा जो प्रमाण है, वह 'श्रुति' है।[२]

'शेष-शेषि' संबन्ध का बोध करानेवाली 'श्रुति' तीन प्रकार की है। **(१) विधात्री (२) अभिधात्री** और **(३) विनियोक्त्रि।** विधि या विधान करनेवाली '**विधात्री**' श्रुति कहलाती

---

१. तेषां हि श्रुत्यादिकल्पनापुरस्सरमेवाऽङ्गत्वबोधकत्वम् (तं.सि.र. द्वितीयपरिच्छेद)

२. द्वितीयतृतीयादयो हि विभक्तयः स्वार्थबोधनेऽन्यत् किञ्चिदनपेक्षमाणाः कर्मत्वकरणत्वादिकं झटित्येवाऽवबोधयन्ति। (तं. सि. र. द्वितीयपरिच्छेद)

यस्य चेत्यादिना । सम्बन्ध इति । विनियोज्यविनियोजकभावः सम्बन्ध इत्यर्थः । शेष-शेषिणोः सम्बन्ध इति वा शेषः ।।२५।।

है, यह लिङादिस्वरूप की होती है, जैसे– **'यजेत', 'जुहुयात्'** । इसमे 'लिङ्' आदि प्रत्यय का श्रवण होने से यह 'विधात्री श्रुति' है। ['यः प्रत्ययो विधायको लिङादिः, स एव विधात्री श्रुतिरित्यभिधीयते इत्यर्थः']।। **अभिधान** करनेवली अभिधात्री श्रुति होती है [अभिधया स्वार्थ्यं प्रतिपादयति इति (सा) अभिधात्री'] इस श्रुति में पदार्थ के उच्चारण द्वारा अपेक्षित वस्तु का बोध होता है। यथा **'व्रीहीन् अवहन्ति, व्रीहीन् प्रोक्षति'**– इत्यादि में 'व्रीहि' का अभिधान किया गया है।

तीसरी **विनियोक्त्री श्रुति** है, जिस शब्द के श्रवणमात्र से यह बोध हो कि सुने हुए शब्द का किसी अन्य के साथ शेषेशेषिभाव से अन्वय करना है, वह विनियोक्त्रि श्रुति होती है। इसके लक्षण को इस प्रकार कहा गया है– [यस्य शब्दस्य श्रवणादेव संबन्धः प्रतीयते सा विनियोक्त्री; सा = सः (शब्दः), स शब्दो विनियोक्त्री (श्रुतिरित्यर्थः)]। उपर्युक्त– श्रुति के लक्षण में श्रुति का निरपेक्षत्व **'श्रवणादेव'** पद के द्वारा व्यक्त हो रहा है तथा 'अङाङ्गिभाव बोधन' = **'सम्बन्धः प्रतीयते'** पद के द्वारा बोधित हो रहा है। विनियोक्त्री श्रुति के स्वरूप विवेचन के प्रसंग में किये गये 'विधात्री' और 'अभिधात्री' नामक 'श्रुति' के दो भेदों के विवेचन के विषय में 'न्यायप्रकाश की सारविवेचिनी नामक टीका में अर्थसंग्रहकार के इस विवेचन को प्रकृत सन्दर्भ में विशेष औचित्य पूर्ण नहीं माना गया है– ['यद्यप्यत्र विनियोगप्रस्तावे विधाय्यभिधात्र्योः निरूपणं नातीव संगतं तथापि श्रुतिप्रसंगात् तयोः विधिसहकारित्वाच्च तन्निरुपणमितिबोध्यम्' (सारविवेचिनी)]

उपर्युक्त विवेचन में उल्लिखित श्रुति के दूसरे प्रकार **'अभिधात्री'** के सम्बन्ध में यहाँ कुछ विवेचन करना आवश्यक प्रतीत होता है। प्रश्न होता है कि इस अभिधात्री-श्रुति का तात्पर्य क्या है? वेद के दो भेद हैं– (१) **मंत्र** और (२) **ब्राह्मण**। इन दोनों में से मंत्र के समबन्ध में **'मंत्राविधायकत्वाधिकरण'** नामक एक छोटा अधिकरण है, उसमें **'अपि वा प्रयोगसामर्थ्यान्मंत्रोऽभिधानवाची स्यात्'**[१] सूत्र है। इस सूत्र पर अनेक टीकाएँ हैं, उनका सारांश यह है कि– ब्राह्मणग्रन्थों में ही विशेषरूप से विधि का निरूपण किया होने से मंत्रों में विधायकत्व नहीं माना जा सकता। इसके अतिरिक्त **'यच्छब्द' 'उत्तमपुरुषामंत्रण'** इत्यादि का अन्यत्र निरूपण किया गया होने से मंत्रवाक्यों की विधायकत्व शक्ति नष्ट ही होती है। इस हेतु यच्छब्दघटित मंत्र वाक्यों को केवल अनुवादकत्व ही प्राप्त होता है। तात्पर्य यह है कि ब्राह्मणों के विधायकवाक्यों में जिन विधियों का निरूपण किया गया है, उनके अभिधायक, अर्थात् केवल अनुवादक [विहितार्थाभिधायको मंत्रः] मंत्र होते हैं। और इसीलिए अनुष्ठान के अवसर पर मंत्रों में स्मारकत्व का सामर्थ्य होता है, ऐसा माना जाता है। और इस अधिकरण पर रचित शास्त्रदीपिका की टीका में भी **'अभिधायकत्व'** का अर्थ **'अनुवादकत्व'** निरूपित किया गया है।।२५।।

---

१. जै. सू. अ. २, पा. १, सू. ३१

(२६) विनियोक्त्री श्रुतिस्त्रिधा

सापि त्रिविधा। विभक्तिरूपा, एकाभिधानरूपा, एकपदरूपा चेति। तत्र विभक्तिश्रुत्या अङ्गत्वं यथा व्रीहिभिर्यजेत इति तृतीयाश्रुत्या व्रीहीणां यागाङ्गत्वम्। तदपि पुरोडाशप्रकृतितया। यथा पशोर्हृदयादिरूपहविः प्रकृतितया यागाङ्गत्वम्।।२६।।

विनियोक्त्रीमपि श्रुतिं विभजते। सा त्रिविधेति। तत्र विभक्तिरूपां विनियोक्त्रीमुदाहरति-तत्रेति। यद्वा ननु विनियोक्त्र्याः श्रुतेर्लक्षणविभागावनुपपन्नौ तस्या अङ्गत्वाबोधकत्वादित्याशङ्क्य तत्र विभक्तिश्रुतेरङ्गत्वबोधकत्वं दर्शयति- *तत्रेति*। तिसृणां विनियोक्त्रीणां मध्य इत्यर्थः। विभक्ति श्रुत्याङ्गत्वं बोध्यत एव। तथोपलब्धेरिति शेषः। कुत्रोपलम्भ इति वीक्षायां तत्रोदाहरणमाह-यथा व्रीहिभिरिति। तदपीति व्रीहीणां यागाङ्गत्वमपीत्यर्थः। व्रीहीणां पुरोडाशप्रकृतितया यागाङ्गत्वे दृष्टान्तमाह-यथा-पशोरिति। अथ हृदयस्याग्रे ऽवद्यत्यथ वक्षस इत्यादिशास्त्रात्पशोर्हृदयादिरूपहविरुपादानतयैव यागाङ्गत्वं न साक्षात् तद्वदत्रापीत्यर्थः।।२६।।

***अनुवाद– सेति*। *यह विनियोक्त्री श्रुति भी तीन प्रकार की है–* (१) *विभक्तिरूपा*, (२) *एकाभिधानरूपा*, *और* (३) *एकपदरूपा*।**

तत्रेति*। *विभक्तिश्रुति से* ***अंगत्व *का ज्ञान होता है जैसे–* ***'व्रीहिभिर्यजेत'*** *वाक्यगत 'व्रीहिभिः' तृतीया विभक्ति से , व्रीहि याग का अंग है, यह ज्ञात होता है। 'व्रीहि' पुरोडाश की प्रकृति होने से याग का अंग बनते हैं। [प्रस्तुत प्रकृतिभाव को अग्रिम दृष्टान्त से स्पष्ट कर रहे हैं–] जैसे हविर्भूत पशु हृदयादि की प्रकृति होने से 'पशु' याग का अंग होता है, साक्षात् नहीं ॥२६॥*

।। अर्थमीमांसा ।।

ग्रन्थकार ने विनियोक्त्री के तीन-**विभक्तिरूपा**[१]**, एकाभिधानरूपा** और **एकपदरूपा–** प्रकारों का उल्लेख किया है, उनमें से प्रथम प्रकार– **'विभक्तिरूपा'** का उदाहरण **'व्रीहिभिर्यजेत'** है। क्योंकि **'व्रीहिभिः'** में 'तृतीया' विभक्ति का उपयोग किया गया है। इस तृतीया विभक्ति से 'व्रीहि' याग का अंग है, यह ज्ञात होता है। यद्यपि यहाँ 'व्रीहि' को याग का 'अंग' कहा गया है तथापि 'व्रीहि' को अंगत्व रुप में याग से प्रत्यक्ष सम्बन्ध प्राप्त नहीं होता, वह सम्बन्ध परम्परागत होता है, इसे ध्यान में रखना चाहिए। क्योंकि प्रकृत में 'व्रीहि' का प्रत्यक्ष हवन याग में नहीं किया जाता अपितु व्रीहि से पुरोडाश तैयार किया जाता है और तैयार किये गये पुरोडाश का हवन याग में करना होता है। अर्थात् व्रीहि और याग का 'अन्योन्य सम्बन्ध' है। यहाँ 'व्रीहि' मूल द्रव्य या प्रकृति है और उस प्रकृतिभूत व्रीहि के पिष्ट से पुरोडाश तैयार किया जाता है, वह उस व्रीहिका एक प्रकार से परिणाम ही होता है। अर्थात् 'व्रीहि' प्रकृति है और

---

१. तत्र तृतीयया साक्षादेवाऽङ्गत्वमुच्यते। द्वितीयया कर्मत्वमवबोध्य तत्समभिव्याहृतस्याऽङ्गत्वमाक्षिप्यत इति विशेषः। (त.सि.र. द्वितीय परिच्छेद)

(२७) तृतीयाश्रुतेरन्यदुदाहरणम्

'अरुणया एकहायन्या गवा सोमं क्रीणाति' इत्यस्मिन् वाक्ये अरुणस्यापि तृतीयया श्रुत्या क्रियाङ्गत्वम्। तदपि गोरूपद्रव्य-परिच्छेदद्वारा नतु साक्षात् अमूर्तत्वात्।।२७।।

क्वचित्तु साक्षात्पशोरेव यागाङ्गत्वं यथा पत्नीवन्तयागे। तत्र हि पशोराग्नेयस्य

तन्निर्मित **'पुरोडाश'** उसकी विकृति। ऐसी स्थिति होने के कारण **'व्रीहिभिर्यजेत'** इस वाक्य में 'व्रीहीणां यागांगत्वम्' जो कहा गया है, वह पुरोडाश के माध्यम से (अर्थात् 'व्रीहि' पुरोडाश की प्रकृति होने के कारण) कहा गया है। तात्पर्य यह है कि पुरोडाश की प्रकृति होने से 'व्रीहि' याग का अंग होता है। याग में प्रयुक्त यागांगभूत किसी पदार्थ की प्रकृति होने के कारण प्रकृतिभूत पदार्थ भी याग का अंग होता है। इस मान्यता की पुष्टि एक सामान्य पशुयाग के उदाहरण से की गई है।[१] जैसे– **'पशुना यजेत'** एक वाक्य है। इसमें भी तृतीया विभक्ति के योग से 'पशु' याग का अंग है, कहा गया है। किन्तु यहाँ समग्र पशु प्रत्यक्षत्वेन याग का अंग होता है, ऐसा कदापि नहीं। **'पात्नीवत् याग'** में **'पर्यग्निकृतं पात्नीवतमुत्सृजति'** वचन द्वारा यह कहा गया है कि अग्निदेवता के उद्देश्य से दिये हुए जीवित पशु का ही उत्सर्ग करना चाहिए। ऐसी स्थिति में पात्नीवत् याग में सर्वाङ्गपूर्ण जीवित 'पशु' उस याग का साक्षात् अंग हो सकता है, किन्तु अन्य यागों में ऐसी स्थिति नहीं होती। तात्पर्य यह है कि 'पात्नीवत्' याग में समग्र जीवित पशु याग का अंग होता है, वहाँ पशु हव्य साक्षात् रूप में अंग बनता है, विकृति रूप में नहीं। किन्तु अन्य यागों में ऐसा नहीं होता, क्योंकि वहाँ पशु को याग का अंग समझा जाता है, समग्र पशु की आहुति नहीं दी जाती। **'अथ हृदयस्याग्रेऽवद्यत्यथ वक्षसः'**– इत्यादि वचनों के अनुसार पशु के हृदय आदि विभिन्न अवयवों को काटकर उनकी हवि दी जाती है। तब हृदयादिक हविर्भाग जिस 'पशु' से काटकर निकाले जाते हैं, वह पशु भी इस हविर्भाग की प्रकृति होता है। अर्थात् 'पशु' याग का साक्षात् अंग नहीं बनता, अपितु हविर्भूत अपने हृदयादि अवयवों की प्रकृति होने के कारण। इसलिए प्रकृतित्व की दृष्टि से **'पशुना यजेत'** इत्यादि स्थल पर 'पशु' का यागाङ्गत्व विहित है[२] और उसी प्रकार पुरोडाश की प्रकृति की दृष्टि से ही **'व्रीहिभिर्यजेत'** वाक्य में 'व्रीहि' को याग का अंग माना गया है।।२६।।

अनुवाद– अरुणयेति। 'अरुणया पिंगाक्ष्या एकहायन्या गवा सोमं क्रीणाति' *(पीली आँखों वाली एक रक्तवर्ण गाय से सोम का क्रय करें) यह एक विधि वाक्य है। इस वाक्य में **'अरुणया'** इस तृतीया (विभक्ति) श्रुति से आरुण्य (रक्तवर्ण) 'सोम क्रयण' का अंग होता है। वह भी साक्षात् नहीं, अपितु गोरूप पिण्ड के 'ज्ञापक' रूप में। क्योंकि आरुण्य अमूर्त पदार्थ है, वह साक्षात् 'क्रयण' क्रिया का अंग नहीं हो सकता।।२७।।*

---

१. व्रीहीणां पुरोडाशप्रकृतितया यागाङ्गत्वे दृष्टान्तमाह-पशोरिति।।कौमुदी।।

२. जै. सू. अ. १०, पा. ७, अधि. १

जीवत एवोत्सर्गः क्रियते पर्यग्निकृतं पत्नीवन्तमुत्सृजन्तीति वाक्यात्। तथाच यत्र पशोर्विशसनं हृदयाद्यवदानं च भवति तत्र हृदयादिप्रकृतिरेव पशुरिति सिद्धम्। तृतीयाविभक्तिरूपाया विनियोक्त्र्या उदाहरणान्तरमाह-अरुण्यस्यापीत्यादिना। अरुणया पिङ्गाक्ष्या एकहायन्या सोमङ्क्रीणातीति ज्योतिष्टोमप्रकरणे श्रुतस्यारुणिमगुणस्येत्यर्थः।। क्वचित्पुस्तके मूलग्रन्थ एवेदं वाक्यमुदाहृतम्। अत्रारुणाशब्दोऽरुणिमानं गुणमाचष्टे तस्य गुणविषयतया प्रयुक्तस्यापि नागृहीतविशेषणाविशिष्टबुद्धिरिति न्यायेन गुणबोधकत्वादन्वयव्यतिरेकसिद्धगुणमात्रव्युत्पत्तिकत्वाच्च पिङ्गाक्षीशब्दस्तु पिङ्गलवर्णविशिष्टाक्षिमद् द्रव्यवाचको भवति। एकहायनी शब्दश्चैकसंवत्सरविशिष्टगोद्रव्यवाचकः। तौ च शब्दौ यद्यप्येकगोवाचकौ भवतस्तथापि विशेषणभूतधर्मभेदाच्छब्दद्वयमुपपद्यते। तच्च युगपत्प्रवृत्तं सद्धर्मद्वयविशिष्टं गोद्रव्यं क्रयसाधनत्वेन विधत्ते। अरुणशब्दस्त्वरुणिमगुणस्य कारकाणां क्रियान्वयनियमेन सोमक्रयणान्वयेऽपि

।। अर्थमीमांसा ।।

इसके पूर्व विनियोक्त्री श्रुति का लक्षण इस प्रकार दिया गया है– **'यस्य च शब्दस्य श्रवणादेव संबन्धः प्रतीयते सा विनियोक्त्री'**– इस लक्षण के अनुसार **'व्रीहिभिर्यजेत'** में 'व्रीहिभिः' पदगत तृतीया विभक्ति को देखते ही 'व्रीहि' के यागांगत्व की या दोनों में शेषशेषिभाव संबन्ध की या अंगप्रधानभाव संबन्ध की प्रतीति होती है। और इसे प्रदर्शित करने के लिये 'व्रीहिभिर्यजेत' इस तृतीया विभक्ति के उदाहरण को उपन्यस्त किया गया है। पुनः प्रकृत-प्रकरण में **'अरुणया एकहायन्या गवा सोमं, क्रीणाति'**– यह तृतीया विभक्ति का उदाहरण क्यों प्रस्तुत किया गया है? उक्त दो उदाहरणों को प्रस्तुत करने का कारण यह है कि **'व्रीहिभिर्यजेत'** इस तृतीया विभक्ति के उदाहरण द्वारा **'व्रीहि'** के अंगत्व में तथा दूसरे उदाहरण **'अरुणया'** के द्वारा **'अरुण'** गुण के अंगत्व में क्रमशः मूर्तत्व और अमूर्तत्व की दृष्टि से होने वाले अन्तर को प्रदर्शित किया जा सके। तात्पर्य यह है कि 'विभक्तिरूपा श्रुति' के द्वारा 'व्रीहि' आदि 'मूर्त' पदार्थ के यागांगत्व का प्रदर्शन करने के पश्चात् 'अमूर्त' पदार्थ के यागांगत्व का विवेचन 'अरुणया' वाक्य के द्वारा किया गया है। इसके अतिरिक्त 'व्रीहि' **द्रव्य** है और 'अरुण' **गुण** है, अतः 'द्रव्य' की तरह 'गुण' को भी अंगत्व (परंपरया) प्राप्त हो सकता है। यह बोध भी उक्त उदाहरणों से प्राप्त होता है।

'ज्योतिष्टोम' याग के प्रकरण में **'अरुणया पिङ्गाक्ष्या एकहायन्या सोमं क्रीणाति'**[१]– इस वाक्य का प्रयोग किया गया है। प्रस्तुत उदाहरणरूप वाक्य में सोमक्रयण का विधान है। सोम को निम्नांकित तीन विशेषताओं से युक्त गाय को देकर खरीदना चाहिए– (१) गाय अरुण (लाल) हो, (२) उसके नेत्र पिंगलवर्ण के (पीत) हों और (३) उसकी आयु एक वर्ष

---

१. जै. सू. अ. ३, पा. १, अधि. ६, तै. सं. का. १, प्रपा. २, अनु. ४
अत्र 'गवा' इति विशेष्यमध्याहृत्य वाक्यपूरणम्, पूर्वं तस्या एव प्रक्रान्तत्वात्।
एवं च अरूणवर्णा पिङ्गाक्षी एकवर्षवयस्का गौस्सोमक्रयसाधनमिति फलितम्।

साक्षात्तत्साधनत्वेनामूर्तमरुणिमानं गुणं न विदधात्यमूर्तस्य साक्षात्तत्साधनत्वासम्भवात्। किन्तु सोमक्रयणसाधनीभूतगोद्रव्यपरिच्छेदकत्वेन तत्साधनं। तथाच परस्परमनन्विता-नामेवारुण्यपिङ्गाक्षीत्वादीनां कारकाणां क्रियान्वयनियमात्करणविभक्तिभिः सोमक्र-यणेऽङ्गत्वेनान्वये सत्यारुण्यादेश्च गुणत्वेनामूर्तस्य स्वतःसोमक्रयणसाधनत्वायोगात् तत्साधनगोद्रव्यपरिच्छेदकत्वेन पश्चात्परस्परं पार्ष्णिकान्वयो भवति एकहायनी गौः। सा पिङ्गाक्ष्यरुणा चेत्याशयवानाह-तदपीति। क्रयाङ्गत्वमपीत्यर्थः।।२७।।

की हो। अर्थात् पीली आँखों वाली एक वर्ष की रक्त वर्णीय गाय से सोम का क्रय करें। उक्त वाक्य गत **'अरुणया'** शब्द से 'आरुण्य' गुण की अभिव्यक्ति होती है। वस्तुत: 'अरुणया' पद गाय के विशेषण रूप में प्रयुक्त है। किन्तु 'अरुणत्व' गुण जब गाय में होगा तभी (उस) गाय के लिये **'अरुणा'** शब्द का प्रयोग हो सकता है। और जब 'अरुणत्व' गुण का अभाव गाय में होगा तब उसके लिए 'अरुणा' शब्द का प्रयोग नहीं किया जा सकता। इस प्रकार अन्वयव्यतिरेक की दृष्टि से विचार करने पर **'अरुण'** शब्द का अर्थ 'अरुणत्व' ही ज्ञात होता है।[१] उक्त वाक्य में **'अरुणया'** तृतीया विभक्ति में प्रयुक्त है। तृतीया के कारण **'अरुणया'** पद का अर्थ होता है–उस 'अरुणत्व' से सोम का क्रय करना चाहिए। किन्तु उस 'अरुणत्व' से सोम का क्रय किस प्रकार हो? वस्तुत: वस्त्र या हिरण्य देकर ही किसी वस्तु क्रय किया जाता है। किन्तु प्रश्न यह है कि 'अरुणत्व' गुण 'मूर्त' स्वरूप का न होने के कारण उसे किस प्रकार दिया जायँ? और उसके द्वारा सोम का क्रयण किस प्रकार हो? सिद्धान्ती के मत में उक्त प्रश्न अर्ध सत्य हैं। यह ठीक है कि 'अरुणत्व' गुण नि:सन्देह अमूर्त होने से वह सोम-क्रयण करने का प्रत्यक्ष रूप से साधन नहीं बन सकता। तथापि **'अरुणत्व'** अमूर्त गुण होने पर भी वह जिस गो-द्रव्य के द्वारा सोम-क्रयण करना है, उस गाय का 'परिच्छेद' करता है। अर्थात् सोम-क्रयण करने के लिए विशिष्ट गाय की आवश्यकता होगी, हर एक वर्ण की गाय से सोम क्रयण नहीं हो सकता। अर्थात् वह गाय अरुण वर्ण की ही होनी चाहिए, इस प्रकार उस गाय का स्वरूप निश्चित और मर्यादित करने का परिच्छेदात्मक कार्य यह 'अरुणत्व' गुण ही करता है। अत: वह गाय सोम-क्रयण करने का साधन तो है ही, अत: उसके द्वारा 'अरुणत्व' जो उसका परिच्छेदक गुण है, वह भी सोम क्रयण से अन्वित हो जाता है। सारांश यह है कि 'अरुणत्व' यहाँ 'क्रयण' का अंग है, परन्तु 'अरुणत्व' अमूर्त होने से क्रयण का साक्षात् अंग नहीं हो सकता, अपितु **गोरूपद्रव्यपरिच्छेद** द्वारा ही वह क्रयण का अंग हो सकता है। तात्पर्य यह है कि अरुणत्व 'गाय' क्रयण का साक्षात् अंग है किन्तु आरुण्यगुण विशिष्ट 'गाय' ही क्रयण का अंग बन सकती है, तदितर नहीं। एवञ्च **'आरुण्य'** गोव्यावर्तक रूप में (परंपरया) 'क्रयण' का अंग होता है, साक्षात् नहीं। उक्त विवेचन से सिद्ध होता है कि विभक्तिरूपा श्रुति से आरुण्य जैसे अमूर्त पदार्थ भी क्रियांग हो जाते हैं। उक्त प्रसंग कौमुदी

१. अन्वयव्यतिरेकाभ्यां यं कदाचिन्न मुञ्चति।
स एव तस्य वाच्यार्थो गुणश्चैष न मुञ्चति ।। (तंत्रवार्तिक ३/१/६)

(२८) द्वितीयाश्रुतेरुदाहरणम्

'व्रीहीन्प्रोक्षती'ति प्रोक्षणस्य व्रीह्यङ्गत्वं द्वितीयाश्रुत्या। तच्च प्रोक्षणं न व्रीहिस्वरूपार्थम्। तस्य तेन विनाप्युपपत्तेः। किन्त्वपूर्व-साधनत्वप्रयुक्तम्। व्रीहीनप्रोक्ष्य यागानुष्ठानेऽपूर्वानुपपत्तेः। एवं सर्वेष्वप्यङ्गेष्वपूर्वप्रयुक्तमङ्गत्वं बोध्यम्।।२८।।

द्वितीयारूपां विनियोक्त्रीं श्रुतिमुदाहरति व्रीहीन्प्रोक्षतीति-तच्चेति। प्रोक्षणस्य व्रीह्यङ्गत्वं चेत्यर्थः। तच्चेत्यस्यापूर्वसाधनत्वप्रयुक्तमित्यनेनान्वयः। प्रोक्षणं व्रीहिस्व-रूपार्थमेव स्यादिति। कुतस्तस्यापूर्वप्रयुक्तं व्रीह्यङ्गत्वमित्यत आह-प्रोक्षणन्नेति। प्रोक्षणस्य च व्रीहिस्वरूपार्थत्वाभावे हेतुमाह-तस्येत्यादिना। तस्य व्रीहिस्वरूपस्य। तेन विना प्रोक्षणेन विनेत्यर्थः। ननु यागानुष्ठानेनैवापूर्वसिद्धौ किं प्रोक्षणेन व्रीहिस्वरूपानु-पयोगिनेत्यत आह व्रीहीनप्रोक्ष्येति। अनुपनीतानुष्ठितवेदाध्ययनस्यापूर्वाजनकत्त्ववद्व्री-

---

में विशद रूप से व्याख्यायित हैं। पिङ्गाक्षी, एकहायनी बहुव्रीहि समास निष्पन्न यौगिगशब्द हैं। और यौगिक शब्द सर्वत्र द्रव्यमात्रवाचि ही होते हैं।[१] ।।२७।।

*अनुवाद– **व्रीहीनिति**। [द्वितीया विभक्तिरूपा श्रुति से भी 'अंगांगिभाव' का बोध होता है] **'व्रीहीन्प्रोक्षति'** (व्रीहि का प्रोक्षण (छिडकाव) करता है) इस वाक्य में द्वितीया श्रुति **'व्रीहीन्'** से यह ज्ञात होता है कि 'प्रोक्षण' क्रिया व्रीहि का अंग है। 'व्रीहि' का प्रोक्षण व्रीहि के स्वरूप सिद्धि हेतु नहीं है क्योंकि प्रोक्षण के बिना भी व्रीहि का स्वरूप पूर्व से ही सिद्ध है। किन्तु प्रोक्षण से अपूर्व की उत्पत्ति होती है, इस हेतु प्रोक्षण अपूर्व का हेतुभूत होने से व्रीहि का अंग होता है। क्योंकि 'याग' में व्रीहि का प्रोक्षण न करने पर अभिप्रेत अपूर्व की उत्पत्ति नहीं होती है। इसी प्रकार अवघातादि अन्य समस्त अंग अपूर्व को उत्पन्न करने के कारण ही 'अंग' माने जाते हैं।।२८।।*

।। अर्थमीमांसा ।।

'विनियोगविधि' में अङ्गाङ्गिभाव का बोध कराने वाली मुख्य विभक्ति 'तृतीया' ही होने के कारण उस 'तृतीया' विभक्तिरूपा विनियोक्त्री श्रुति के स्वरूप का निरूपण करने के पश्चात् अब आगे अन्य विभक्तियों के उदाहरणों को प्रस्तुत किया जा रहा है। ग्रन्थकार प्रकृत प्रसंग में 'द्वितीया विभक्तिरूपा विनियोक्त्री श्रुति' के स्वरूप पर प्रकाश डाल रहे है। **'व्रीहीन्प्रोक्षति'**

---

१. (i) सर्वत्र यौगिकैश्शब्दैर्द्रव्यमेवऽभिधीयते। (तंत्रवार्तिक ३/१/६)

(ii) एवञ्च आरूण्यकरणिका पिङ्गाक्षीकरणिका एकहायनीकरणिका क्रयकरणिका भावना इति प्राथमिकश्शाब्दबोधः। अनन्तरञ्च परस्परसम्बन्धजिज्ञासायामारूण्यादिषु त्रिषु पदेषु मत्वर्थलक्षणा-मङ्गीकृत्य आरूण्यविशिष्टेन, पिङ्गाक्षीविशिष्टेन एकहायनीविशिष्टेन क्रयेण सोमं सम्पादयेदिति द्वितीयबोधः। ततः आरूण्येन पिङ्गक्ष्या एकहायन्या क्रयं भावयेदिति तृतीयः। आरूण्येन प्रकृतक्रयापूर्वसाधनीभूतं द्रव्यं परिछिन्द्यादिति चतुर्थःशाब्दबोधः। (तं.सि.र. द्वितीय परिच्छेद)

(२९) द्वितीयाश्रुतेरन्यदुदाहरणम्

एवम्‘इमामगृभ्णन्रशनामृतस्येत्यश्वाभिधानीमादत्त’ इत्यत्र द्वितीयया श्रुत्या मन्त्रस्याश्वाभिधान्यङ्गत्वम् ।।२९।।

हीणां प्रोक्षणं न कृत्वा तैरनुष्ठितस्य यागस्यापूर्वजनकत्वानुपपत्तेरित्यर्थः । प्रोक्षणे सिद्धमपूर्वसंयुक्तं व्रीह्यङ्गत्वमन्यत्रातिदिशति- एवमित्यादिना । एवं दर्शपूर्णमासप्रकरण-सहकृतया द्वितीयाश्रुत्या प्रोक्षणस्य तण्डुलनिष्पत्तिप्रणालिकया व्रीहीणामपूर्वसाधनत्व-प्रयुक्ताङ्गत्ववत्सर्वेषामङ्गानामवघातादीनां तत्तत्प्रमाणवशादपूर्वसाधनत्वप्रयुक्तमेवाङ्गत्व-मित्यर्थः।।२८।।

वाक्य में **‘व्रीहीन्’** पद द्वितीया विभक्त्यन्त है। अतः इस द्वितीया विभक्तिरूपा श्रुति से ‘प्रोक्षण’ व्रीहि का अंग सिद्ध होता है। प्रकृत में **‘व्रीहीन् प्रोक्षति’** (व्रीहि को जल से सींचता है) यह ‘प्रोक्षण’ व्रीहि के उत्पादनार्थ किया जाता है, यह नहीं समझा जाना चाहिए। क्योंकि प्रोक्षण के विना भी व्रीहि के मूल स्वरूप की सिद्धि रहती ही है। अतः प्रोक्षण का अनुष्ठान ‘अपूर्व’ के साधन रूप में होता है। क्योंकि ‘याग’ में व्रीहि का प्रोक्षण न करने पर इष्ट ‘अपूर्व’ की उत्पत्ति नहीं हो सकती। अपूर्व के उत्पादनार्थ ही प्रोक्षण किया जाता है।[१] जैसे– उपनयन होने के पश्चात् वेदाध्ययन करना चाहिए, यह विधि है। तदनुसार उपनयन होने के अनन्तर वेदाध्ययन करने से निःसन्देह अपूर्व की उत्पत्ति होगी, यह स्पष्ट है। परन्तु वैसा न करने पर अर्थात् उपनयन किये बिना यदि कोई वेदाध्ययन करेगा तो वहाँ किसी अपूर्व की उत्पत्ति संभव नहीं हो सकती। उसी प्रकार व्रीहि का प्रोक्षण किये बिना यदि कोई अप्रोक्षित व्रीहि द्वारा यागानुष्ठान करेगा तो अभिप्रेत ‘अपूर्व’ की उत्पत्ति नहीं हो सकती। अतएव ‘प्रोक्षण’ अपूर्व के साधनार्थ ‘व्रीहि’ का अंग होता है। अर्थात् अपूर्वसाधन द्वारा ‘प्रोक्षण’ व्रीहि का अंग है, यह समझना चाहिए। इसी प्रकार के अन्य सभी अंग अपूर्व को उत्पन्न करने के कारण ही अंग माने जाते हैं। जैसे– **‘तण्डुलानवहन्ति’** इत्यादि स्थानों पर जिन अवघातादिक अंगों को कहा गया है, उन सभी अंगों को अपूर्व-साधन से ही अंगत्व प्राप्त होता है, यह समझना चाहिये[२]।।२८।।

अनुवाद– एवमिति । *इस प्रकार* ***‘इमामगृभ्णन्’*** *इस मन्त्र का तात्पर्य यह है कि सत्यरूपी फल से सम्बन्धित इस बन्धनरज्जु को ग्रहण किया। इस वाक्य में ‘अश्वाभिधानीम्’ इस द्वितीया श्रुति से यह मन्त्र ‘अश्वरज्जु’ के ग्रहण का अंग होता है।।२९।।*

---

१. द्वितीया हि साध्यत्वमवबोधयन्ती परिशेषात्तत्सहकृतप्रोक्षणस्य व्रीह्यङ्गत्वं बोधयति- व्रीहीन् सम्पादयेदिति। अत्र प्रोक्षणं व्रीहिस्वरूपसम्पादनार्थम्, तेषां प्रोक्षणात्पूर्वमपि सत्त्वेन स्वरूपसम्पादनानुपपत्तेः। किन्तु अपूर्वसाधनत्वाकारेण। (तं.सि.र. द्विती. परि.)

२. द्रष्टव्य– जै. सू. अ. ३, पा. १, अधि. ४ और अ. ९, पा. १, अधि. १
प्रकृत प्रसंग में टीकाकार की अधोलिखित पंक्तियाँ पठनीय हैं- **‘ननु यागानुष्ठानेनैव.... से ‘यागस्यापूर्वजनकत्वानुपपत्तेरित्यर्थः’** तक ।।

द्वितीयारूपाया विनियोक्त्र्याः श्रुतेरुदाहरणान्तरमाह-एवमित्यादिना। एवं द्वितीयाश्रुत्या प्रोक्षणस्य व्रीह्यङ्गत्ववदित्यर्थः। ऋतस्येति सत्यफलस्येत्यर्थः। तथा च सत्यफलसम्बन्धिनीं रशनामिमां गृहीतवन्त इति मन्त्रार्थः। अश्वाभिधान्यङ्गत्वमिति अश्वाभिधान्या अश्वरशनाया अङ्गत्वमित्यर्थः। केचित्तु वाक्यीयमिमं विनियोगमाहुः। अन्ये तु वाक्याल्लिङ्गस्य बलीयस्त्वेन यावद्वाक्यादश्वाभिधान्यङ्गत्वं भवति तावद्रशनामात्राङ्गत्वमेव स्यादिति तत्र दूषणमाहुः। वाक्यविनियोगवादिनस्तु मन्त्रस्य न रशनामात्रप्रकाशत्वं किन्तु ऋतस्य सत्यफलसाधनभूतस्याश्वस्येमां रशनां गृहीतवन्त

।। अर्थमीमांसा ।।

द्वितीया श्रुति के प्रथम उदाहरण में अपूर्वसाधन द्वारा 'प्रोक्षण' व्रीहिका अंग किस प्रकार होता है, प्रदर्शित किया गया है। अब ग्रंथकार द्वितीया श्रुति के प्रस्तुत उदाहरण द्वारा वैदिक मंत्र में किस प्रकार अंगत्व उत्पन्न होता है, प्रदर्शित करते हैं– **'इमामगृभ्णन्रशनामृतस्येत्यश्वाभिधानीमादत्ते'**[१]– यह एक वाक्य है। **सायाणाचार्य** ने 'अभिधानी' शब्द की व्युत्पत्ति को इस प्रकार बताया है– ['अश्वः अभिधीयते बद्ध्वा धार्यते यया रशनया सेयमश्वाभिधानी'।] 'इमामगृभ्णन्रशनामृतस्य'– मंत्रगत 'ऋत' शब्द 'सत्यार्थ' का वाचक है। अतः 'इमामगृभ्णन्रशनामृतस्य'– मंत्र का अर्थ होता है– सत्य का या सत्यफलदायिनी रशना का ग्रहण किया। इस अर्थ को व्यक्त करनेवाले उक्त मंत्र को कहकर वह **'अश्वाभिधानी'** (अश्व की लगाम) धारण करता है। अर्थात् इस मंत्र का उच्चारण करते हुए अध्वर्यु अश्वरशना को पकड़े, ऐसा चयन प्रकरण में निर्दिष्ट है जैसे, **'उरु प्रथस्व इति पुरोडशं प्रथयति'** अर्थात् **'उरुप्रथस्व'** मंत्र का उच्चारण करके वह पुरोडाश विस्तृत करता है या, **'बर्हिर्देवसदनं दामि'** ऐसा कहकर दर्भ का (कुशा) छेदन किया जाता है। अब यहाँ एक प्रश्न **मंत्रलिंगाधिकरण** मे उपस्थित किया गया है कि याग में उक्त अर्थ प्रत्यायक मंत्रों का उच्चारण किस लिये किया जाता है[२]? और उस उपस्थित प्रश्न का निर्णय इस प्रकार किया गया है कि यज्ञीय प्रयोग के क्रियान्वय के अवसर पर उद्दिष्ट वस्तु का स्मरण रहने के लिए मंत्रोच्चारण किया जाता है, तात्पर्य यह है कि अर्थानुस्मरण के लिये ही मंत्रो का उच्चारण किया जाता है। **प्रश्नकर्ता** यह पूछता है कि यदि मंत्रोच्चारण का अर्थानुस्मरण या अर्थ प्रकाशन ही केवल हेतु हो तो ब्राह्मणादिग्रंथों में उसी अर्थो के वाचक जो वाक्य हैं, क्या उनके पठन से कार्य सम्पादित नहीं होगा? केवल अर्थानुस्मरण के लिये ब्राह्मणादि ग्रंथों में निहित वचनों का पठन न करके वैदिक मंत्रों के उच्चारण की क्या आवश्यकता है? इस प्रश्न का उत्तर यह है कि मंत्रों का अर्थानुस्मरण करना ही दृष्ट प्रयोजन है। ब्राह्मण ग्रंथोक्त वाक्यों से अर्थानुस्मरण संभव होने पर भी **'मंत्रेणैव अनुस्मरणीयम्'** यह जो नियम विधि है, इसका तात्पर्य ही है कि ब्राह्मण-वाक्यों के अर्थानुस्मरण करने मात्र से दृष्टफल की उत्पत्ति न होने के कारण मत्रोंच्चारण में

१. तैं. सं. का. ५, प्रपा. १, अनु. २
२. जै. सू. अ. १, पा. २, अधि. ४

इत्यश्वरशनाप्रकाशकत्वमेवेति लिङ्गसहकृतादश्वाभिधानीमादत्त इति वाक्यान्मन्त्रस्याश्वरशनादाने विनियोग इति स्वाशयमाहुः । रशनाविशेषस्य न लिङ्गमिति तु मूलग्रन्थतात्पर्यम् ।।२९।।

अदृष्ट फल होने की संभावना को नकारा नहीं जा सकता [तस्मात्प्रकाशनेनैव मंत्राणामुपकारिता। उपायनियमादेव त्वदृष्टपरिकल्पनम् ।।]

'इमामगृभ्णनरशनामृतस्येति अश्वाभिधानीमादत्ते'– यह वाक्य भी उक्त मन्त्रलिंगाधिकरण में उल्लिखित है। यहाँ **'अश्वाभिधानीम्'** पद में द्वितीया विभक्ति है, इस द्वितीया विभक्ति से यह मंत्र 'अश्वाभिधानी' का अंग है। अर्थात् अश्वाभिधानी[1] का (घोडे के गले में बद्ध रस्सी) ग्रहण करते समय इस मंत्र के उच्चारण से कमपि अदृष्ट उत्पन्न होने के कारण इस 'मंत्र' को भी अश्वाभिधानी का अंगत्व प्राप्त होता है। अर्थात् द्वितीया विभक्तिरूपा-श्रुति से 'मंत्र' **अङ्ग** बनता है, और 'अश्वाभिधानी का ग्रहण' **अङ्गी**। इस प्रकार संक्षेप में अमूर्त मंत्र भी द्वितीया विभक्ति द्वारा अश्वाभिधानी के ग्रहण का अङ्ग होता है, मन्त्रोच्चारण अदृष्टार्थक है, क्योंकि इसका कोई दृष्ट प्रयोजन नहीं।

उक्त वाक्य के सम्बन्ध में एक विचार ध्यातव्य यह है कि चयनप्रकरण में इस मंत्र का उल्लेख मिलता है, जिसके अनुसार चयनयाग के लिए आवश्यक इष्टकाओं (ईटें) ओं के लिए अर्थात् यज्ञवेदी के निर्माण के लिये अध्वर्यु के लिये एक अश्व और एक गर्दभ ले जाकर अरण्य से मिट्टी लाने का विधान किया गया है। अब प्रश्न यह है कि दो रशनाएँ प्राप्त होने पर अध्वर्यु (अश्वरशना और गर्दभरशना) उक्त मंत्र के द्वारा किस रशना का ग्रहण करे? **'इमामगृभ्णन्रशनाम्'** मंत्रगत **'रशनाम्'** द्वितीयान्त पदार्थ के सामर्थ्यरूपी 'लिंग' से दोनों के ही रशनाओं का ग्रहण प्राप्त होने लगता है। परन्तु **'अश्वाभिधानीमादत्ते'** के **'अश्वाभिधानीम्'** प्रत्यक्ष और स्पष्ट द्वितीयान्त श्रुति का प्रमाण तत्काल आगे ही प्राप्त होने के कारण गर्दभरशना का ग्रहण न करके 'अश्वरशना' का ग्रहण किया जाना चाहिए, ऐसा परिसंख्यात्मक अर्थ यहाँ करना आवश्यक है।[2]

यहाँ **'इमामगृभणन् रशनामृतस्य'**– मन्त्र का उच्चारण करने के पश्चात् अश्वाभिधानी का ग्रहण करना चाहिए, ऐसा स्पष्ट कहा गया है। परन्तु समस्या यह है कि इस प्रकार मंत्रोच्चार करके उसमें विहित पदार्थ और कर्म का अनुष्ठान कब करना चाहिए? क्या वह कर्म मंत्र के प्रारम्भ में सम्पादित करना चाहिए और तत्पश्चात् मंत्रोच्चारण.? अथवा मंत्रोच्चारण करते समय करना चाहिए? या मंत्र समाप्त होने पर कुछ क्षण रुककर (कर्म) करना चाहिए? ऐसे अनेक संशय उत्पन्न होते हैं। उक्त शंकाओं का समाधान यह है कि– वस्तुतः मंत्रोच्चारण में अर्थस्मरण करना ही हेतु है, अतः संपूर्ण मंत्रोच्चारण हुए बिना अर्थज्ञान का होना संभव

---

१. तत्राश्वगलेबद्धा रज्जुरश्वाभिधानी' (सारविवेचिनी)।

२. अत्र ह्येकस्याऽङ्गस्य मन्त्रस्याऽश्वगर्दभरशनाद्वये युगपत्प्राप्तौ सत्यां गर्दभरशनातो मन्त्रस्य निवृत्तिरनेनक्रियते। (तं. सि. र. चतु. परि.)

(३०) सप्तमीश्रुतिःएकाभिधानश्रुतिश्च

'यदाऽहवनीये जुहोती'त्याहवनीयस्य होमाङ्गत्वं सप्तमीश्रुत्या। एवमन्योऽपि विभक्तिश्रुत्या विनियोगो ज्ञेयः। पशुना यजेतेत्यत्रैकत्व-पुंस्त्वयोः समानाभिधानश्रुत्या कारकाङ्गत्वम्।।३०।।

सप्तमी विभक्तिरूपां विनियोक्त्रीं श्रुतिमुदाहरति-यदाहवनीय-इति। एवमन्योऽ-पीति दध्ना जुहोति, पयसा जुहोतीत्यादौ होमानुवादेन दध्यादेस्तदङ्गत्वेन तृतीयाविभक्ति-श्रुत्या विनियोग इत्यर्थः। एकाभिधानरूपामेकपदरूपां च विनियोक्त्रीं श्रुतिमुदाहरति-पशुना यजेतेतीति पशुनेत्यत्रैकपदश्रुत्या ह्येकत्वपुंस्त्वयोः पशुद्रव्याङ्गत्वमेकाभिधानश्रुत्या च कारकाङ्गत्वं च भवति।।३०।।

ने होने के कारण मंत्र समाप्त होने के पूर्व कर्म का संपादन करना योग्य नहीं होगा। मंत्र समाप्ति में अर्थज्ञान के उत्पन्न होने पर, यदि काल-क्षेप किया जाता है तो उत्पन्न ज्ञान के नष्ट होने की संभवना होगी। अतः मंत्र के अन्त में कर्म करना चाहिए। अर्थात् मंत्र की समाप्ति पर अर्थज्ञान के साथ-साथ, कालक्षेप किए बिना कर्म करना चाहिए[१]।।२९।।

*अनुवाद– **यदाहवनीय इति। 'यदाहवनीये जुहोति'** (आहवनीय अग्नि में हवन करे) इस वाक्य में **'आहवनीये'** इस सप्तमी श्रुति से यह बोध होता है कि 'आहवनीय' अग्नि याग का अंग है। इसी प्रकार विभिक्ति श्रुति से अन्य विनियोग भी समझे जाने चाहिये।।*

***पशुनेति। 'पशुना यजेत'** में श्रुत **'टा'** प्रत्यय रूप एकाभिधान श्रुति से 'एकत्व' संख्या और 'पुंस्त्व' ये दोनों करण रूप कारक के अंग होते हैं।।३०।।*

।। अर्थमीमांसा ।।

'यदाहवनीये जुहोति'– (आहवनीय अग्नि में हवन करें) इस वाक्य में 'आहवनीये' यह सप्तम्यन्तपद प्रयुक्त है। इस सप्तम्यन्तपद में श्रुत सप्तमीविभक्तिरूपा श्रुति से यह बोध होता है कि 'आहवनीय' अग्नि 'याग' का अङ्ग है। विभक्तिरूपा विनियोक्त्री श्रुति के जिन उदाहरणों का उल्लेख अभी तक किया जा चुका है, वे तृतीया, द्वितीया एवं सप्तमी विभक्तियों के ही उदाहरण ग्रंथकारोक्त हैं। ग्रंथकार ने अपने ग्रंथ में चतुर्थी, पञ्चमी विभक्ति के उदाहरणों का उल्लेख नहीं किया है। ये विभक्तियाँ भी विनियोग विधि के प्रसंग में जहाँ प्रयुक्त होती है, वहाँ अंगत्व-बोध की सहायिका होती है। जैसे– **'मैत्रावरुणाय दण्डं प्रयच्छति'**[१] यह **चतुर्थी विभक्ति** का उदाहरण है। यहाँ चतुर्थी विभक्तिरूपा विनियोक्त्री श्रुति से **'मैत्रावरुण'** नामक पुरोहित **'दण्ड प्रदान'** क्रिया का अङ्ग है। **'मध्यात्पूर्वार्धाच्च हविषोऽवद्यति' 'उत्तरार्द्धात्स्विष्टकृते समवद्यति'** ये पंचमी विभक्ति के उदाहरण है। यहाँ पञ्चम्यन्त पद **'हविषः'** 'अवद्यति' क्रिया का अङ्ग है।

---

१. द्रष्टव्य– जै. सू. अ. १२, पा. ३, अधि. १०

समानाभिधानश्रुतिः[१]

'पशुना यजेत' में 'पशुना' शब्द एकवचनान्त प्रयुक्त है। किन्तु यहाँ एक शंका उत्पन्न होती है कि क्या इस प्रकार के अन्य वाक्यों के आने पर वहाँ एक वचन ही विवक्षित होता है या अविवक्षित? यदि एक वचन ही विवक्षित होगा तो एक ही पशुको ग्रहणकर याग करना चाहिए। अर्थात् 'एक नर पशु से याग करना चाहिए' यह अर्थ **'पशुना यजेत'** वाक्य से प्राप्त होता है। किन्तु यदि यहाँ एक पशु की विवक्षा न हो कर, एकवचन अविवक्षित हो तो दो या अधिक पशुओं से याग करने में कोई आपत्ति नहीं होगी। इसी प्रकार अन्य शंका यह उत्पन्न होती है कि **'पशुना'** में **'पशु'** शब्द पुल्लिंग होने के कारण **'पशुना'** का पुंस्त्व भी यहाँ विवक्षित है या अविवक्षित? अत: उक्त दोनों शंकाओं का निराकरण करने के लिए मीमांसासूत्र[२] में उक्त शंकाओं की सविस्तर मीमांसा करने के पश्चात् सिद्धान्तत: यह सूचित किया है कि प्रकृत में 'एकत्व' और 'पुंस्त्व' दोनों ही विवक्षित हैं। उक्त अधिकरण में जहाँ **'अग्नीषोमीयं पशुमालभेत'** इस विषय वाक्य का उल्लेख किया गया है। वहाँ प्रस्तुत ग्रंथ में **'पशुना यजेत'** वाक्य का उल्लेख मिलता है। किन्तु दोनों ही वाक्यों के 'एकत्व' और 'पुंस्त्व' से सम्बद्ध प्रश्न एक ही हैं। उपर्युक्त अधिकरण में पूर्वपक्षी का कहना है कि यद्यपि **एकत्व** और **पुंस्त्व** धर्म उस पशु में निहित हैं, तथापि उनका याग से कोई सम्बन्ध नहीं है, इसीलिए एक ही नर पशु से याग करना चाहिए, ऐसी कोई विवक्षा यहाँ दिखाई नहीं देती।

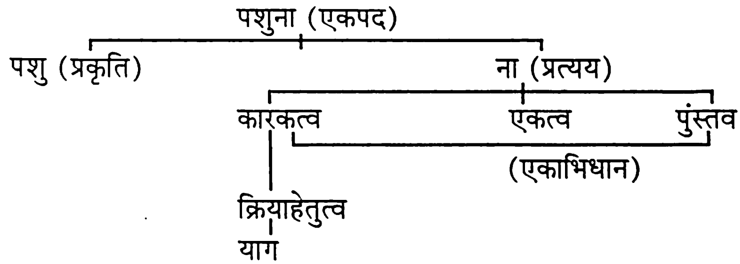
पूर्वपक्षी के उक्त कथन के पश्चात् सिद्धान्ती उसका खण्डन करते हुए कहता है कि- **'एकत्व'** और **'पुंस्त्व'** दोनों ही धर्मों का याग से सम्बन्ध है, इतना ही नहीं, अपितु 'एकत्व' और 'पुंस्त्व' ये दोनों ही एकाभिधान श्रुति से और एकपद श्रुति से याग के प्रत्यक्ष अंग भी हैं- यह भी स्पष्ट रूप से समझना आवश्यक है। अत: **एकत्व** और **पुंस्त्व** दोनों ही याग के अंग होने के कारण संख्या में एक और पुंस्त्व से युक्त पशु से याग करना आवश्यक है। सिद्धान्ती का कहना है कि- **'पशुना यजेत'** में प्रयुक्त **'पशुना'** यद्यपि एक ही पद (सुप्तिङन्तं पदम्) है, तथापि उसके प्रकृति और प्रत्यय-दो भाग हैं, उसमें से **'पशु'** जो प्रातिपदिक है, वह **प्रकृति** है और **'ना'** यह **प्रत्यय** है। प्रकृति द्वारा 'पशु' निर्देशित किया जाता है और 'ना' प्रत्यय से (करण रूपी) **कारकत्व, एकत्व** और **पुंस्त्व**-इन तीन धर्मों को निर्देशित किया जाता है। क्योंकि पुल्लिंगी और एकवचनान्त **'ना'** प्रत्यय में यदि 'एकत्व' और 'पुंस्तव' धर्म न हो तो 'पशुना' शब्द का अर्थ अनेक और स्त्रीलिंगी पशु होने में क्या आपत्ति होगी? परन्तु **'पशुना'** शब्द का अर्थ- 'स्त्रीलिंगी अनेक पशु' कोई नहीं करता। अत: स्पष्ट है कि **'ना'** प्रत्यय में कारकत्व बोध के साथ-साथ **एकत्व** और **पुंस्त्व** धर्म भी निहित है। 'कारकत्व' का अर्थ है- क्रिया सिद्ध करने का साधन, अर्थात् क्रियाहेतुत्व। इस प्रकार **एकत्व** और **पुंस्त्व** का कारक के द्वारा क्रिया से संबन्ध होता है। प्रकृत में 'याग' ही क्रिया है। इस प्रकार सदा रहने वाले अन्योन्य अन्त: सम्बन्ध से **एकत्व** का और **पुंस्त्व** का कारकत्व के द्वारा याग-

---

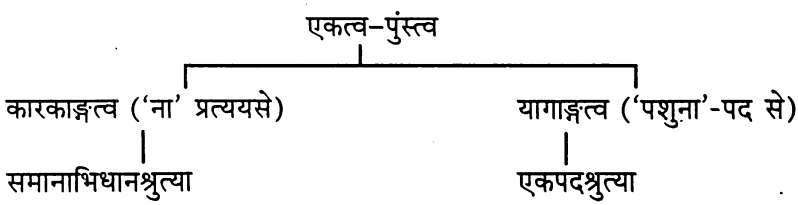
१. समानमेकमभिधानमभिधायकं प्रत्ययरूपं यत्र सा समानाभिधानश्रुति: (तं. सिं. र. द्विती. परि.)

२. जै. सू. अ. ४, पा. १, अधि. ६, ७

क्रिया से संबन्ध प्राप्त होकर उन्हें यागाङ्गत्व प्राप्त होता है।



रेखांकित आकृति से 'पशुना' के भिन्न-भिन्न विभाग किस प्रकार के हैं और उन विभागों का याग से सम्बन्ध किस प्रकार घटित होता है, स्पष्ट हो जाता है। और इसके साथ ही **'पशुना'** में जुड़े **'ना'** प्रत्यय द्वारा **कारकत्व, एकत्व** और **पुंस्तव** धर्म निर्देशित किये जाते हैं। उक्त तीनों धर्म 'ना' प्रत्यय में निहित रहते हैं और उनमें से एकत्व और पुंस्त्व धर्म 'पशु' की अपेक्षा कारक के ही अधिक निकट रहते हैं, स्पष्ट होता है। और इसीलिए वे **एकत्व** और **पुंस्त्व** धर्म एकाभिधानश्रुति के कारण (अर्थात् एक ही प्रत्यय में एकत्र अभिहित, उक्त, होने के कारण) कारक से प्रथम संबद्ध होते हैं। और तत्पश्चात् **'पशुना'** इस एकपदश्रुति से कारक का क्रियाहेतुत्व के द्वारा याग से सम्बन्ध प्राप्त होने के कारण कारक से एकाभिधान श्रुति द्वारा संबद्ध जो एकत्व और पुंस्त्व धर्म हैं, वे भी कारक के द्वारा याग से संबद्ध होते हैं। और इस प्रकार 'पशुना' इस एकपदश्रुति के ३१वें प्रकरण में **'एकपदश्रुत्या च यागाङ्गत्वम्'** जो अन्त में वाक्य अंकित है, उसका प्रकृत प्रकरण में उल्लिखित वाक्य से संबन्ध ज्ञात होता ही है। उसका स्पष्टीकरण निम्नलिखित आकृति से ध्यान में आ जाता है—



किन्तु यहाँ एक **शंका** होती है कि, **एकत्व** और **पुंस्त्व**-ये दो अमूर्त धर्म हैं। अतः इन अमूर्त धर्मों का याग से संबन्ध प्राप्त होने पर भी उससे याग की निष्पत्ति में क्या उपयोग होगा? याग की निष्पत्ति में यदि यथार्थ रूप में उपयोग होता है तो वह केवल पशु-द्रव्य का ही। इस शंका का **समाधान** यह है कि– सोमक्रयण का साधन 'गाय' है, उसका अवच्छेदक दृष्ट्या जिस प्रकार 'अरुणत्व' गुण उस स्थान पर 'सोमक्रयांगत्व' को प्राप्त होता है, उसी प्रकार प्रकृत में **एकत्व** और **पुंस्त्व**-ये धर्म 'पशु' द्रव्य के अवच्छेदक होते हैं, अर्थात् जिस पशु से याग सम्पादित करना है, वह पशु संख्या में अनेक नहीं होना चाहिए अथवा पुंस्त्व रहित भी नही होना चाहिए। तात्पर्य यह है कि वह पशु 'एक' और 'पुंस्त्व' युक्त ही होना चाहिए, इस प्रकार उस 'पशु' द्रव्य का स्वरूप 'एकत्व'

(३१) एकपदश्रुतिः

यजेतेत्याख्याताभिहितसंख्याया आर्थीभावनाङ्गत्वं समानाभिधानश्रुतेः। एकपदश्रुत्या च यागाङ्गत्वम् ।।३१।।

यजेतेत्यत्राप्याख्याताभिहितसङ्ख्याया एकाभिधानश्रुत्या भावनाङ्गत्वमेकपदश्रुत्या च यागाङ्गत्वं च भवतीति भावः। यजेतेत्यभिहितसङ्ख्यायाः समानाभिधानश्रुतेरेव भावनाङ्गत्वमिति सम्बन्धः। समानाभिधानश्रुतेरेवेति। एकशब्दरूपप्रत्ययश्रुतेरेवेत्यर्थः। अभिधीयते अनेनेतिव्युत्पत्याभिधानशब्देन शब्द उच्यते पदश्रुत्या चेति। यजेतेत्येकपदश्रुत्या चेत्यर्थः। अत्रेदम्बोध्यम्। यथा दशापवित्रेण ग्रहं सम्मार्ष्टीत्यत्रैकत्वमुद्देश्यगतत्वेनाविवक्षितं तथा प्रकृतेनोद्देश्यगतमेकत्वं किन्तु विधेयगतत्वेन विवक्षितमेव। न च

और 'पुंस्त्व' गुणों से यहाँ मर्यादित और अवच्छिन किया जाता है। इसलिए यहाँ **'पशुना'** इस एकपदश्रुति से **एकत्व** और **पुंस्त्व**-ये दोनों पशुद्रव्य के अंग हैं, सिद्ध होता है। एवञ्च प्रकृत में एक ही पशु और वह भी पुंस्त्व युक्त होना चाहिए, यह सिद्धान्त प्रस्थापित किया गया है। इसके अतिरिक्त जिस पशु का हवन करना है, उसे भिन्न-भिन्न अवयवों के आप्यायन प्रसंग में **'मेढ्रं तु आप्यायताम्'** जो मंत्र उल्लिखित हैं, उस से भी पुंल्लिंग ही विवक्षित है, यह स्पष्ट ज्ञात होता है।

ग्रन्थकार ने यहाँ पर **'एकाभिधान'** शब्द का प्रयोग न करके इसके स्थान पर '**समानाभिधानश्रुति पद** का प्रयोग किया है। किन्तु संज्ञा में परिवर्तन होने से कोई विसंगति 'कन्फ्यूजन' न हो इसलिए दोनों नाम एक ही हैं, ध्यान में रखना आवश्यक है।।३०।।

अनुवाद– यजेतेति। *इसी प्रकार* ***'यजेत'*** *पद में श्रुत 'त' (तिङ्) प्रत्यय रूप समानाभिधानश्रुति से यह बोध होता है कि आख्यात बोध्य संख्या (एकत्व) उसी* ***'त'*** *प्रत्यय से बोध्य आर्थी भावना का अंग होती है एवं 'यजेत' रूप एकपदश्रुति से यह बोध होता है कि संख्या (एकत्व) याग का अंग है।।३१।।*

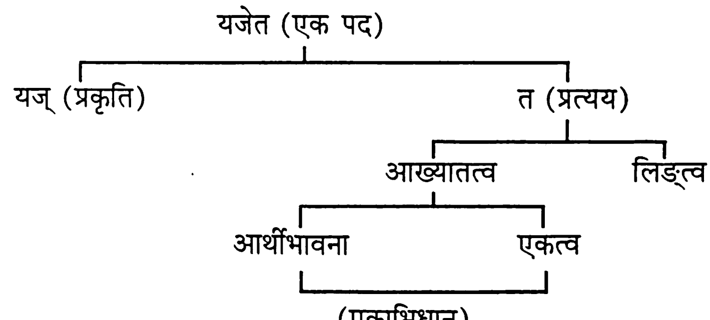
।। अर्थमीमांसा ।।

ग्रन्थकार ने यहाँ तक **'पशुना यजेत'** वाक्य के प्रथम (सुबन्त) पद **'पशुना'** को ग्रहण करके उसके **'ना'** प्रत्यय में समानाभिधानश्रुति द्वारा **एकत्व** और **पुंस्त्व**-ये दोनों धर्म कारक में किस प्रकार समाविष्ट रहते हैं और तदनुसार उनमें कारकाङ्गत्व किस प्रकार उत्पन्न होता है, और उस दृष्टि से वह समानाभिधान श्रुति का उदाहरण किस प्रकार हो सकता है, निर्देशित किया है। अब ग्रंथकार शेष बचे **'यजेत'** इस (तिङन्त) पद के द्वारा वह एकपदश्रुति का उदाहरण किस प्रकार होता है, प्रदर्शित कर रहे हैं–

पूर्वोक्त विवेचन में जिसप्रकार **'पशुना'** पद में **प्रकृति** और **प्रत्यय** दो अंशों का होना बताया है, उसीप्रकार **'यजेत'** पद में भी **प्रकृति** और **प्रत्यय** ये दो अंश हैं ही, और इसे पूर्वोक्त भावना के प्रकरण में स्पष्टरूप से निर्देशित भी किया जा चुका है। तदनुसार **'यजेत'**-

ग्रहं सम्मार्ष्टीत्यत्र नोद्देश्यगतमेकत्वं किन्तु स्वयं विधेयमिति वाच्यम्। ग्रहं सम्मृज्याद्य संम्मृज्यात्तं चैकमिति वाक्यभेदप्रसङ्गात्। तथा च ग्रहमिति द्वितीयया ग्रहस्येप्सितमत्त्वेनोद्देश्यत्वात्प्रयोजनवत्वाच्च प्राधान्यङ्गम्यते। सम्मार्गस्तु ग्रहं प्रति गुणभूत एव ततश्चप्रतिप्रधानं गुण आवर्तनीय इति न्यायाद्यावन्तो ग्रहाः सम्मार्जनीया इति बुभुत्साया अभावादुद्देश्यगतमेकत्वं श्रूयमाणमपि न विवक्षते। यस्य च विशेषणस्य विवक्षामन्तरेणोद्देश्यप्रत्ययो न पर्यवस्यति तादृशं विशेषणमुद्देश्यगतमपि विवक्ष्यत एव। यथा तत्रैव ग्रहत्वं तद्विवक्षामन्तरेण चोद्देश्यस्वरूपं ज्ञातुमशक्यमेव उद्देश्यतावच्छेदकनिर्णयमन्तरेण चमसेष्वपि सम्मार्गप्रसङ्गात्। तेन च तत्र तद्वारणं फलम्। पशुना

पद में **'यज्'** प्रकृति है और उससे जुड़ा **'त'** प्रत्यय है। प्रत्यय में भी पूर्वोक्तानुसार दो भाग- **आख्यातत्व** और **लिङ्त्व**-हैं ही। **'आख्यातत्व' से** आर्थीभावना और **'एकत्व'** संख्या को भी निर्देशित किया जाता है। अर्थात् आर्थीभावना और एकत्व संख्या-ये दोनों ही धर्म 'आख्यातत्व' में एकत्र रहते हैं और इसीलिए वे समानाभिधानश्रुत हैं। एक ही आख्यातत्व में सन्निहित रहनेवाले 'आर्थीभावना' और 'एकत्वसंख्या' जो दो धर्म हैं, उनमें से 'आर्थीभावना' प्रधान होने के कारण और 'एकत्व संख्या' उसकी उपसर्जनीभूत होने के कारण, संख्या **अंग** है, एवं भावना **अंगी**, इस प्रकार संख्या एवं-भावना (आर्थी) में **अंगांगिभाव संबध** है। और इसलिए ['यजेतेत्याख्याताभिहितसंख्याया भावनाङ्गत्वं समानाभिधानश्रुतेः'] मूल ग्रंथोक्त वाक्य में उल्लिखितानुसार **'एकत्व'** संख्या में समानाभिधानश्रुति द्वारा भावनाङ्गत्व उत्पन्न होता है।

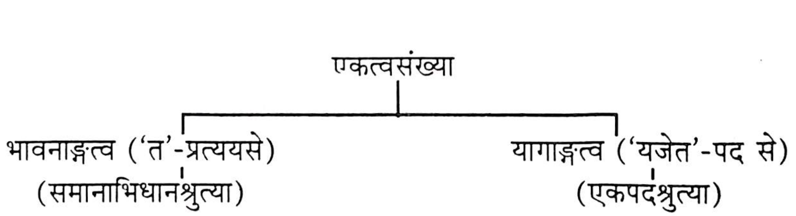


प्रकृत में ध्यातव्य है कि- 'संख्या को' **'आख्याताभिहितसंख्या'** कहा गया है। वस्तुतः **'यजेत'** की 'एकत्व' संख्या एकवचन वाचक **'त'** प्रत्यय से निर्देशित की जाती है। अतः वह संख्या प्रत्ययाभिहित है, ऐसा यथार्थ में कहा जाना चाहिए, किन्तु उसके स्थान पर (ऐसा न कहा जाकर) **'आख्याताभिहित संख्या'** कहा गया है। अतः तत् विषयक उपपत्ति यह होनी चाहिए कि **'यजेत'** में दो भाग– **धात्वर्थ** और **प्रत्यय** हैं, उन दो भागों में से प्रत्यय में भी **आख्यातत्व** और **लिङ्त्व** दो अंशो की स्थिति है। उनमें से आख्यातत्व के द्वारा आर्थीभावना निर्देशित की जाती है, साथ ही आख्यातत्व धर्म दशलकार सामान्य में भी परिगणित होता है, यह पूर्व में ही कहा जा चुका है। उन दशलकारों में ही **'यजेत'** का जो

यजेतेत्यत्र तु यागं प्रति पशोर्विधेयत्वेन गुणभूतत्वात्प्रतिप्रधानं गुण आवर्तनीय इति न्यायप्रवेशो नास्ति। यागस्य च प्रधानत्वादिति कियता पशुना यागः कर्तव्य इति बुभुत्सायाः सत्त्वादेकवचनेन प्रतीयमानं विधेयगतमेकत्वं विवक्षितमेव। किञ्च लिङ्गसङ्ख्याविशेषितस्यैकपदोपात्तस्य पशुद्रव्यरूपकारकस्य विधेयपशुद्वारा तत्तल्लिङ्ग-सङ्ख्यादेरपि क्रियाङ्गत्वादेकत्वादेकत्वादिकं विवक्षितम्। किञ्च तृतीयया विभक्त्याऽ-भिहितयोर्लिङ्गसङ्ख्ययोर्विभक्त्यभिहिततया करणकारकशक्त्यात्मसात् कृतयोः प्रातिप-दिकार्थपशुद्रव्येण सहसम्बन्धमनादृत्य पशुवदेव साक्षाद्यागक्रियाङ्गत्वेन विधौ पश्चादरुणैकहायनीन्यायेन वा परस्परमन्वयोऽपि भवति। यो यागाङ्गत्वेन विहितः पशुः स एकः पुमांश्चेति तस्मात्सर्वथा पश्वेकत्वादिकं विवक्षितमेवेति ।।३१।।

लिङ् है, उसके स्थान पर पाणिनि के सूत्र– **'तिप्तस्झिस्'** (३-४-७८) के अनुसार **'त'** प्रत्यय का आदेश होता है और उसके द्वारा **एकत्व** संख्या का बोध होता है। किन्तु जो आख्यातत्व धर्म दशलकार साधारण है, वह उन दशलकारों के स्थान पर होनेवाले 'तिप्तस्झिस्' इत्यादि सभी आदेशों के लिए साधारण ही है, और इस दृष्टिसे **'त'** प्रत्यय के द्वारा निर्देशित की जानेवाली **संख्या** आख्याताभिहित है, कहा गया है।

यहाँ तक **'एकत्व'** संख्या को भावनाङ्गत्व किस प्रकार प्राप्त होता है, स्पष्ट किया गया है। अब 'एकत्व' संख्या को यागाङ्गत्व किस प्रकार प्राप्त होता है? उसे देखते हैं। यहाँ तक केवल प्रत्यय का ही विचार किया जा रहा था, और केवल उस प्रत्यय की दृष्टि से ही **एकत्व** को भावना का अङ्ग कहा गया है, किन्तु केवल 'त' प्रत्यय स्वतन्त्र नहीं है, उसका **'यज्'**– धातु से भी सम्बन्ध है। क्योंकि प्रकृति- प्रत्यय का संबन्ध होने पर **'यजेत'** पद सिद्ध होता है। एकत्व संख्या के बदलते सम्बन्ध को देखने पर यह परिलक्षित होता है कि **'यजेत'** का जो धात्वर्थ **याग** है, वह यहाँ प्रधान होने के कारण भावना के द्वारा एकत्व संख्या अंगत्वेन संबद्ध है। अर्थात् मूल ग्रंथ में निर्देशितानुसार आख्याताभिहित जो एकत्व संख्या, उसमें उक्त दृष्ट्या यागाङ्गत्व उत्पन्न हुआ है। किन्तु यहाँ **एकत्व** संख्या को जो यागाङ्गत्व प्राप्त हुआ है, वह **'यजेत'** एक समग्र पद की दृष्टि से (समानाभिधानश्रुति के केवल प्रत्यय की दृष्टि से नहीं) प्राप्त हुआ है, और इसीलिए मूल में **'एकपदश्रुत्या च यागाङ्गत्वम्'** उल्लिखित है। सारांश यह है कि, आख्याताभिहित **'एकत्व'** संख्या को समानाभिधानश्रुति से भावनाङ्गत्व और एकपदश्रुति से यागाङ्गत्व प्राप्त होता है। यह निम्नांकित रेखाचित्र के द्वारा निर्देशित किया गया है—



इस प्रकार **'पशुना'** के एकत्व और **पुंस्त्व** का और 'यजेत' के **एकत्व** का याग से किस प्रकार संबन्ध होता है, यह स्पष्ट किया गया है। उनमें से 'पशुना' के **एकत्व** और

पुंस्त्व-ये दो धर्म पशुना पद के द्वारा परम्परा से (और वाक्य प्रमाण से) यागाङ्गत्व प्राप्त करते हैं। और **'यजेत'** का **एकत्व** धर्म यद्यपि प्रत्यक्षरूप से 'यजेत' पद के द्वारा यागाङ्गत्व प्राप्त करता है, तथापि वह यागाङ्गत्व उसे कर्ता के द्वारा कैसे प्राप्त हो सकता है, यह आगे के प्रकरण में निर्देशित किया जायगा।

यहाँ तक 'विनियोक्त्री' श्रुति के पूर्व कथित तीन भेदों **विभक्तिरूपा, एकाभिधानरूपा** और **एकपदरूपा** का विवेचन समाप्त हुआ। प्रकृत में ध्यातव्य है कि– विनियोक्त्री श्रुति के निश्चयार्थ सहायक जिन श्रुतिलिङ्गादिक छः प्रमाणों को पूर्वोल्लिखित प्रकरण में निरूपित किया गया है, उनमें से श्रुति, लिंग, वाक्य और प्रकरण-ये चार प्रमाण व्यापकता और विस्तार की दृष्टि से एक की अपेक्षा दूसरा प्रमाण अधिक प्रबल है। अर्थात् उक्त छः प्रमाणों में क्रमशः पूर्ववर्ती प्रमाण सबल है। जैसे– **प्रकरण** व्यापकता और विस्तार में सबसे अधिक सबल है। 'प्रकरण' अनेक वाक्यों की रचना से निर्मित होता है। फलतः 'वाक्य' स्वभावतः ही 'प्रकरण' की अपेक्षा लघु होता है। इसी प्रकार 'वाक्य' भी अनेक पदों के मिश्रण से संघटित होने के कारण वाक्य में निहित 'पद' वाक्य की अपेक्षा लघु होगा ही, यह स्पष्ट है। पद के (१) पद या शब्द, और (२) उस शब्द का अर्थ-ये दो विभाग होते हैं। इनमें से 'शब्दसामर्थ्यं लिङ्गम्' लिंग के लक्षणानुसार उस शब्द के रूढार्थरूपी सामर्थ्य के अनुरोध से 'लिंग' नामक 'भेद' किया गया है। उक्त विभागात्मक अंश को भी निकाल दिये जाने पर अन्त में शेष रहता है केवल यौगिक **'पद'**। यह जो श्रुतिरूपी 'पद' शेष रहता है, इसके भी अन्तस्थ अवयव तक यदि जाने का विचार करते हैं, तो ज्ञात होता है कि पद[१] का निर्माण **प्रकृति** और **प्रत्यय** के संयोग से होता है। इन दो में से **'प्रत्यय'** को ही **'विभक्ति'** कहा जाता है। इसलिए श्रुतिरूपी पद में समाहित विभक्तिरूपी अंश को दृष्टि में रखकर **'विभक्तिरूपा विनियोक्त्रीश्रुति'** नामक एक विभाग किया गया है। और प्रकृति और प्रत्यय (इन दोनों) के संयोग से निर्मित **'एकपद'** को दृष्टि में रखकर **'एकपदरूपा विनियोक्त्री श्रुति'** नामक दूसरा विभाग निर्मित किया गया है। उक्त दो विभागों के मध्य में **'एकाभिधानरूपा विनियोक्त्री श्रुति'** नामक जो विभाग किया गया है उस विभाग की उत्पत्ति का विवरण हमें **'पशुना'** और **'यजेत'**– इन पदों से सम्बन्धित पूर्वोक्त विवरण में देखने को मिलता है। जैसे– यदि हम (पशुना) पद को देखते हैं तो ज्ञात होता है कि 'पशुना' पद में जुड़े हुए **'ना'** विभक्ति प्रत्यय में **निहितकारकत्व, एकत्व,** और **पुंस्त्व** निहित धर्म दिखाई देते हैं, अर्थात् केवल **'ना'** विभक्ति प्रत्यय द्वारा यहाँ **कारकत्व, एकत्व** और **पुंस्त्व** का एकत्र अभिधान किया गया है। और इसीलिए इसे **'एकाभिधानश्रुति'** संज्ञा से अभिहित किया गया है। या उक्त तीनों– **कारकत्व, एकत्व** और **पुंस्त्व**– का यहाँ समानरूप से अभिधान किया हुआ होने से इसे 'समानाभिधानश्रुति' की संज्ञा दी गई है। एवञ्च केवल विभक्ति की अपेक्षा **कारक, एकत्व** और **पुंस्त्व**-इन तीनों का समुदाय अधिक विस्तृत, और उनकी भी अपेक्षा प्रकृति और प्रत्यय के संयोग से घटित **'पद'** और अधिक विस्तृत होने से **विभक्तिरूपा, एकाभिधानरूपा** और **एकपदरूपा** इन तीन विभागों में जो क्रम निर्धारित किया गया है, वह योग्य प्रतीत होता है।

---

१. 'सुप्तिङन्तं पदम्

(३२) अमूर्ताया अपि भावनाङ्गत्वम्

न चामूर्तायास्तस्याः कथं भावनाङ्गत्वं वाच्यम्। कर्तृपरिच्छेदद्वारा तदुपपत्तेः।। कर्ता चाक्षेपलभ्यः। आख्यातेन हि भावनोच्यते।। सा च कर्तारं विनानुपपन्नेति तमाक्षिपति।।३२।।

ननु सङ्ख्याया न यागाङ्गत्वं भावनाङ्गत्वं च भवति गुणत्वेनामूर्तत्वात्। नह्यमूर्तस्य रूपादेः कुत्रचिदङ्गत्वं दृश्यते व्रीह्यादिद्रव्यस्यैव मूर्त्तभूतस्य ह्यंगत्वमित्याशङ्क्य परिहरति-

---

उक्त विवेचन से एक तथ्य और भी स्पष्ट होता है कि **'श्रुति'** शब्द का अर्थ सामान्यतः व्यापक प्रतीत होने पर भी **विभक्तिरूपा, एकाभिधानरूपा** और **एकपदरूपा**-ये जो श्रुतिरूपी प्रमाण के तीन विभाग कल्पित किये गये हैं, वह 'श्रुति' प्रकृत में पदरूप से ही अभिप्रेत होनी चाहिए, यह स्पष्ट है। उपर्युक्त विभागों का विवेचन निम्नांकित रेखाकृति से अधिक स्पष्ट हो जाता है।—

प्रकरण (४)
|
वाक्य (३)
|
पद

= शब्द = श्रुति (१) | = अर्थ = लिङ्ग (२)

पद (= प्रकृति + प्रत्यय)

विभक्तिश्रुति | एकाभिधानश्रुति | एकपदश्रुति
(ना) | (कारकत्व, एकत्व, पुंस्त्व) | (यजेत) ।।३१।।

अनुवाद– नचेति। 'वह अमूर्त संख्या भावना का अंग कैसे हो सकती है' यह कहना भी उचित नहीं है। क्योंकि कर्ता के व्यावर्तक होने से 'संख्या' भावना अथवा याग का अंग हो सकती है। यद्यपि यहाँ कर्तृवाचक कोई पद नहीं है, फिर भी कर्ता का आक्षेप हो जाता है। आख्यात से भावना का बोध होता है। 'भावना' कर्ता के विना उपपन्न नहीं हो सकती। इस हेतु भावना द्वारा कर्ता का आक्षेप होता है।।३२।।

।। अर्थमीमांसा ।।

पूर्व कृत विवेचन में 'संख्या' को भावना और याग का अंग सिद्ध किया गया है। अर्थात् **'समानाभिधानश्रुति'** से 'संख्या' भावना का अंग होती है और **'एकपदश्रुति'** से याग का अंग होती है। किन्तु **पूर्वपक्षी** प्रश्न करता है कि-संख्या अमूर्त है, वह भावना या याग की अंग कैसे हो सकती है? यदि अंग हो भी जाती है तो उसका क्या उपयोग?

---

१. सुप्तिङौ विभक्तिसंज्ञौ स्तः

नचेत्यादिना। भावनाया यागस्याप्युपलक्षणत्वम्। नचेति प्रतिषेधे हेतुमाह कर्त्रिति।। कर्तुरर्थभावनारूपव्यापारवतो यागकर्तुः। परिच्छेदद्वारा सङ्ख्याया भावनाद्यङ्गत्वोपपत्तेरित्यर्थः। नन्वेवं समानाभिधानश्रुत्या साक्षादेव कर्तरि सङ्ख्याऽख्यातार्थभूतान्वेतु तस्यैवाख्यातार्थत्वात् भावना तु कर्तृव्यापारभूता धातुनापि लभ्यते तथाचोक्तम्– फलव्यापारयोर्धातुराश्रये तु तिङः स्मृताः। इति फलं विक्लित्यादिव्यापारस्तु भावनाभिधा तत्र धातुः स्मृतः आश्रये तु फलाश्रये कर्मणि व्यापाराश्रये कर्तरि च तिङः स्मृता इति वैयाकरणवृद्धवचनपदार्थः। नच कर्तुराख्यातवाच्यत्वमप्रामाणिकमिति वाच्यम्। लः कर्मणि च भावे चाकर्मकेभ्य इति मुनिप्रणीतसूत्रस्यैव चकारात्कर्त्तरिकृ-दिति सूत्रोक्तकर्तरीत्यनुकर्षणेन लकाराणां सकर्मकेभ्यो धातुभ्यः कर्मणि कर्तरि चाकर्मकेभ्यश्च भावे कर्तरि च विधायकस्य प्रमाणत्वात्। तस्मात्कर्तर्येव समाना-भिधानश्रुत्या ऽख्यातार्थसङ्ख्या सम्बध्यते न भावनायामित्याशङ्क्याह-कर्ता चाक्षेपलभ्य इति। आक्षेपोऽनुमानमर्थापत्तिर्वा तादृशाक्षेपेण लभ्योऽनुमेयः। कल्प्यो वेत्यर्थः। तथा च भावना स्वाश्रयागुणत्वात् व्यापारविशेषत्वाच्च सम्प्रतिपन्नगुणवत्तादृशव्यापारविशेषवच्च। तथा लोके व्यापारविशेषस्य निराश्रयस्य अदर्शनाद्भावनारूपो व्यापार विशेषोप्यन्यथानुपपद्यमानः स्वाश्रयमाक्षिपतीत्त्यर्थापत्तिः। न चाचेतनस्यैव कस्यचिदाश्रयस्य

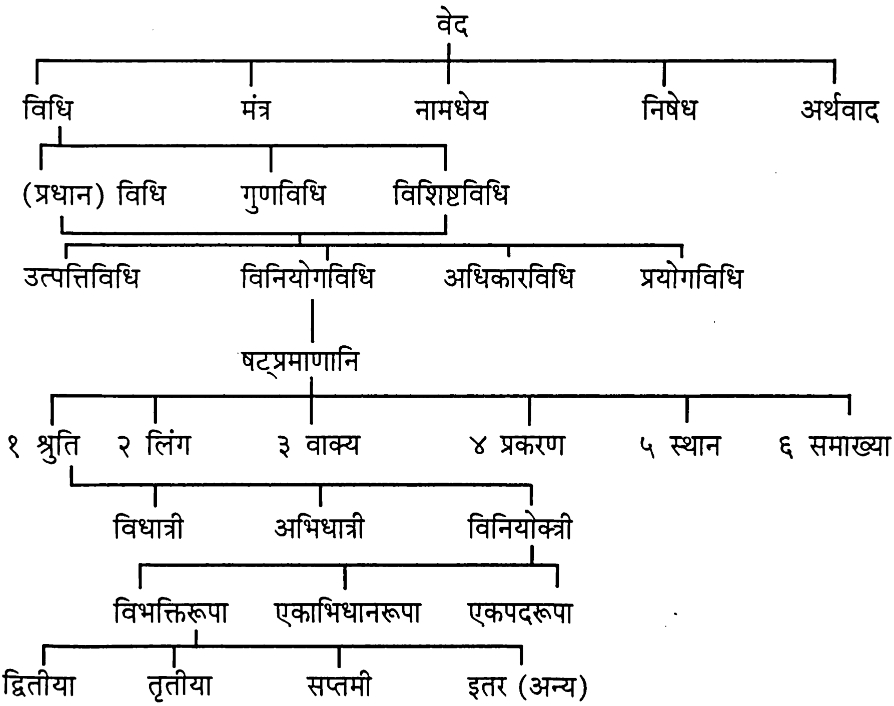
व्रीह्यादिक पदार्थ मूर्त स्वरूप के होते है, अत: उनका उपयोग याग में होता है, किन्तु अमूर्त संख्या याग में क्या करेगी? उसका क्या उपयोग होगा? पूर्वपक्षी के द्वारा इस प्रकार की शंका उत्पन्न करने पर **सिद्धान्ती** का कहना है कि– यह सत्य है कि संख्या स्वत: अमूर्त होने से उसका याग में प्रत्यक्ष उपयोग नहीं हो सकता। किन्तु 'अरुणत्व' गुण अमूर्त होने पर भी जिस प्रकार **'अरुणया एकहायन्या'** इत्यादि वाक्य में गाय के अवच्छेदक रूप में स्वीकार किया जाता है, उसी प्रकार **'यजेत'** क्रिया में स्थित **भावना** का और **याग** का अंगभूत जो एकत्वसंख्यारूपी गुण है, वह **'यजेत'** क्रिया के कर्ता का 'अवच्छेदक' हो सकता है। अर्थात् **'यजेत'** क्रिया के अनेक कर्ता होने की संभावना में यह **एकत्व** संख्या उन अनेक कर्ताओं की संभावना को निरस्त कर देगी। इतना ही नहीं, **'यजेत'** क्रिया का एक ही कर्ता होना चाहिए, इस प्रकार उस क्रिया के स्वरूप को भी **एकत्वसंख्या** मर्यादित, नियंत्रित, अथवा अवच्छिन करेगी। इस प्रकार **'एकत्व'** संख्या कर्ता को परिच्छिन्न करती है। सिद्धान्ती के कथन का सारांश यही है कि एकत्व संख्या भावना का अंग होकर उसके द्वारा कर्ता की अवच्छेदक होती है। इस पर **पूर्वपक्षी** पुन: प्रश्न प्रस्तुत करता है कि प्रथम तो आप 'एकत्व' संख्याको भावना का अंग कहते है, तत्पश्चात् उस भावना के द्वारा उस संख्या को उस भावना के कर्ता के अवच्छेदकरूप में स्वीकार करते है, इतनी बात के लिए यह **द्राविडी प्राणायाम** किस लिये? अर्थात् सरल मार्ग का त्याग कर घुमाव-का मार्ग क्यों स्वीकार करते हैं? इसकी अपेक्षा **समानाभिधानश्रुति** के द्वारा 'संख्या' प्रत्यक्षरूप से कर्ता की अंगभूत है, यह स्वीकार कर, कर्ता में उसका सरलता से अन्वय क्यों नही कर लेते? भावना को बीच में क्यों ग्रहण करते है? वस्तुत: पूर्वपक्षी के द्वारा उत्थापित **उक्त शंका वैयाकरणों की दृष्टि से** उत्थापित

लाभ इति वाच्यम्। कृतिशब्दाभिधेयस्य भावनारूपव्यापारविशेषस्याचेतनाश्रयत्वानुपपत्तेः। किंच भावनाक्षिप्ते च कर्तर्याख्यातस्य लक्षणा स्वीकारान्न शाब्द्याः सङ्ख्याया अशाब्देन कर्त्रान्वियानुपपत्तिः। तस्यापि लक्षणया शाब्दत्वात्। शब्दगम्यत्वस्य हि शाब्दत्वात्। नच कर्तुरिवाख्यातवाच्यत्वेन भावनाया आक्षेपलभ्यत्वं स्यादिति वाच्यम्। कृतिमत एव कर्तृत्वेन कृतेरेव भावनापरनामधेयाया आकृत्यधिकरणन्यायेनाख्यातवाच्यत्वसम्भवे तद्वतः कर्तुराख्यातवाच्यत्वकल्पनायां गौरवात्। किञ्च यस्य हि प्रकारान्तरेणालाभः स एव शब्दस्यार्थो भवति न तु तदन्यः शब्दवाच्यार्थः अनन्यलभ्यः शब्दार्थ इति न्यायात् अत एव न तीरं गङ्गापदार्थः। तस्य लक्षणयैव प्रतिपन्नत्वात्। एवं चोक्तन्यायेन भावनाया आख्यातवाच्यत्वे सम्प्रतिपन्ने तया च कर्तुराक्षेपेण लाभे पुनरपि तस्याख्यातवाच्यत्व-कल्पनं न न्यायविदां शोभते। नच लःकर्मणि च भावे चाकर्मकेभ्य इति मुनिस्मरण-बलादेव कर्तुराख्यातवाच्यत्वं न स्वयं कल्पितमिति युक्तम्। वाच्यवाचकभाव-स्योक्तन्यायसहकृतान्वयव्यतिरेकगम्यत्वेन तस्य मुनिस्मरणाप्रयोज्यत्वात्। तत्र कर्तृकर्म-पदयोः कर्तृत्वकर्मत्वपरत्वेन तस्य कृतिकर्मत्वयोर्लकारविधायकत्वसम्भावाच्च। किञ्च नास्य स्मरणस्य कुर्तराख्यातवाच्यत्वे प्रमाणत्वं सम्भवति। द्व्येकयोर्द्विवचनैकवचने बहुषु बहुवचनमित्यनेन सूत्रेण तस्य स्मरणस्यैकवाक्यत्वेन कर्तुरेकत्व एकवचनात्मको लकारो द्वित्वे द्विवचनात्मको बहुत्वे बहुवचनात्मको लकारो भवेदित्यस्मिन्नेवार्थे प्रमाणत्वात्। नच कर्तुराख्यातानभिधेयत्वे देवदत्तेन पचतीति प्रयोगापत्तिरनभिहितयोः कर्तृकरणयोस्तृतीयाया एव विहितत्वादिति वाच्यम्। उक्तन्यायेन कर्तुर्भावनयैवा-

---

है। क्योंकि वैयाकरणों के मत में किसी क्रियापद का कर्ता उस क्रियापद के आख्यात के वाच्यार्थ से ही प्राप्त होता है। इनके मत में आख्यात का अर्थ 'कर्ता' ही है, परन्तु **मीमांसक** वैयाकरणों के मत को स्वीकार नहीं करते, वे कहते है कि 'कर्ता' आख्यातार्थ नहीं हैं। अपितु कर्त्ता आक्षेपलभ्य है। वे कहते हैं कि 'भावना' ही आख्यातार्थ है, अर्थात् आख्यात से केवल भावना ही अभिहित, व्यक्त की जाती है। प्रश्न यह होता है कि– भावना का अर्थ क्या है? इसके पूर्व प्रकरण में भावना का अर्थ– **'भवितुर्भवनानुकूलो भावयितुर्व्यापारविशेषः भावना'**– स्पष्ट किया गया है। तात्पर्य यह है कि कर्ता के कर्मोत्पादनानुकूल व्यापार को ही भावना कहा जाता है। अत: मीमांसकों के मत में– जब भावना को कर्त्ता का व्यापार माना गया है तो उस भावना का कर्ता के विना उपपन्न होना संभवन न होने के कारण, उस भावना के द्वारा आक्षेप से अर्थात् अनुमान से या अर्थापत्ति से कर्त्ता उपलब्ध होता है। कहने का तात्पर्य यह है कि **'अनन्यलभ्यः शब्दार्थः'** इस न्याय से जब तक कर्त्ता आक्षेपरूपी अन्य मार्ग से उपलब्ध हो सकता है, तब तक वह 'भावना' का वाच्यार्थ नहीं हो सकता, यह स्पष्ट है। क्योंकि यह सर्वसम्मत है (कि) जिसके बिना जो अनुपपन्न हो उससे उसका आक्षेप होता है। अत: भावना से कर्त्ता का आक्षेप होता है। इस विषय में कौमुदीकार के विचार पढ़ने योग्य हैं।

क्षेपतद्गतसङ्ख्यायाश्चाख्यातेनैव प्रतीतेस्तृतीयायाः कर्तृप्रतिपत्यर्थत्वतद्गतसङ्ख्याप्रतिपत्यर्थत्वयोरसम्भवात्। तथाचोक्तं वृद्धैः– 'सङ्ख्यायां कारके वा धीर्विभक्त्या हि प्रवर्तते। उभयं चात्र तत्सिद्धं भावनातिङ्विभक्तित' इति। नच कृतामपि ण्वुल्तृजादीनां कर्तृवाचकत्वं न स्यात्तत्र मानस्य वक्तव्यत्वादिति वाच्यम्। कर्तरिकृदिति मुनिप्रणीतसूत्रस्यैव तेषां तत्र शक्तिग्राहकत्वात्। ननु तर्हि कर्तरिकृदिति सूत्रादेव लःकर्मणीत्यत्र कर्तृपदमनुवर्तते। तथाच तत्र तस्य धर्मिपरत्वेऽत्रापि तत्परतान्याख्यात्र धर्मपरतायां तु तत्रापि धर्मपरतैव स्यादिति चेन्न। शब्दाधिकाराश्रयणादनुवर्तितस्य कर्तृपदस्य धर्मपरतायां बाधकाभावात्। नच शब्दाधिकाराश्रयस्य गमकमन्तरेणासम्भवात्कृतामिवाख्यातस्यापि कर्तृधर्मस्याख्यातवाच्यत्वे सिद्धेऽनुवर्तितस्य कर्तृपदस्य धर्मपरत्वमेव न्याय्यं समुच्चयार्थकेन लःकर्मणि चेति सूत्रस्थ चकारेणैव वा कर्तृधर्मस्यैव लाभो भवति न कर्तृपदानुवृत्तिः कर्तव्या कल्पनालाघवात्पूर्वोक्तन्यायेन कर्तृधर्मस्य भावनारूपस्याख्यातवाच्यत्वसिद्धेश्चेत्यलमति विस्तरेण। तस्माद्भावनैवाख्यातवाच्या न कर्ता तद्वाच्य इत्यभिप्रेत्याह-आख्यातेन हि भावनोच्यत *इत्यादिना*। सा कर्तृव्यापाररूपा भावना कर्तारं विनानुपपद्यमाना पूर्वोक्तप्रकारेण कर्तारमाक्षिपतीत्यर्थः ।।३२।।



एतावत् पर्यन्त उल्लिखित समस्त वेदविभागों की प्रकृत में वृक्षशाखात्मक रेखांकित आकृति दी गई है, उस से सहजगत्या ज्ञात हो सकेगा कि विनियोगविधि में अंगांगिभावों का संबन्ध प्रदर्शित करने के लिये पूर्व में जिन षट् प्रमाणों का उल्लेख किया गया है, उनमें से

(३३) श्रुतिः

सेयं श्रुतिर्लिङ्गादिभ्यः प्रबला। लिङ्गादिषु न प्रत्यक्षो विनियोजकः शब्दोऽस्ति किन्तु कल्प्यः। यावच्च तैर्विनियोजकशब्दः कल्प्यते तावत्प्रत्यक्षया श्रुत्या विनियोगस्य कृतत्वेन तेषां कल्पकत्वशक्तेर्व्याहतत्वात्। अत एवैन्द्र्या लिङ्गान्नेन्द्रोपस्थानार्थत्वम्। किन्तु 'ऐन्द्र्यागार्हपत्यमुपतिष्ठत' इत्यत्र गार्हपत्यमिति द्वितीयाश्रुत्या गार्हपत्योपस्थानार्थत्वम्।।३३।।

एवं श्रुतेः प्रमाणान्तरनिरपेक्षविनियोजकत्वं निरूप्य तस्या लिङ्गादिभ्यः पञ्चभ्यः प्रमाणेभ्यः प्राबल्यमाह-सेयं श्रुतिर्लिङ्गादिभ्यः *प्रबलेति।* **कुत इत्याकाङ्क्षायां तत्र हेतुमाह-लिङ्गादिषु न प्रत्यक्ष इत्यादिना। यावच्च लिङ्गादिभिर्विनियोजकः शब्दोऽर्थ-प्रकाशनादिना कल्प्यते तावत्प्रत्यक्षोपलब्धया श्रुत्या शेषिणाशेषसम्बन्धबोधस्य कृतत्वेन लिङ्गादीनां विनियोजकश्रुतिकल्पनाद्वारेण विनियोगशक्तेः प्रतिबद्धत्वादित्यर्थः। तत्र लिङ्गात् श्रुतेः प्राबल्यसिद्ध्यैव तस्मादपि दुर्बलेभ्यो वाक्यादिभ्यस्तस्याः प्राबल्यसिद्धये**

प्रथम प्रमाण श्रुति है, उसका ही यहाँ तक प्रपञ्च (विस्तार) किया गया है। अर्थात् 'श्रुति' के तीन प्रकारों– **विधात्री, अभिधात्री** और **विनियोक्त्री**– का उल्लेख करने के पश्चात् पुनः उस विनियोक्त्री श्रुति के तीन भागों– **विभक्ति, एकाभिधान** और **एकपद** का निरूपण कर उनके भिन्न-भिन्न प्रकारों के उदाहरणों को यहाँ तक उपन्यस्त किया गया है।।३२।।

अनुवाद– सेयमिति। *यह 'श्रुति' लिङ्ग, वाक्य आदि प्रमाणों से अधिक बलवती होती है। इस का कारण यह है कि लिङ्गादि में 'अंगागिभाव' (विनियोजक) बोधक श्रुति का साक्षात् श्रवण नहीं होता है अपितु उसकी कल्पना करनी होती है। उन लिंगादि प्रमाणों से जब तक प्रत्यक्ष विनियोजक शब्द अर्थात् श्रुति की कल्पना की जायगी, तब तक प्रत्यक्ष श्रुति से विनियोग के हो जाने के कारण लिंगादि प्रमाणों की श्रुतिकल्पना विषयक शक्ति खण्डित अथवा नष्ट हो जाती है। इस हेतु लिंग प्रमाण से* ***'कदाचनस्तरीरसि नेन्द्र सश्चसि दाशुषे'*** *यह ऐन्द्रीऋचा इन्द्रोपस्थान का अंग नहीं होती, किन्तु* ***'ऐन्द्रया गार्हपत्यमुपतिष्ठते'*** *इस वाक्य में श्रुत* ***'गार्हपत्यम्'*** *इस द्वितीया श्रुति से यह मन्त्र* ***'गार्हपत्योपस्थान'*** *का अंग होता है।।३३।।*

।। अर्थमीमांसा ।।

पूर्वोक्त षट् प्रमाणों में– श्रुति, लिंग- वाक्य आदि पाँच प्रमाणों की अपेक्षा अधिक बलवती होती है, यह ज्ञात कराने के लिये यहाँ से अब **'सेयं श्रुतिलिङ्गादिभ्यः प्रबला'**– कहकर ग्रंथ प्रारम्भ किया जा रहा है–

उक्त विषयक जैमिनी सूत्र इस प्रकार है– **'श्रुति-लिङ्ग-वाक्य-प्रकरण-स्थान-**

तावल्लिङ्गात्प्राबल्यमुदाहरणं प्रदर्शयन्साधयति-*अत एवेत्यादिना*। अत एव लिङ्गादिभ्यः श्रुतेः प्रबलत्वादेव ऐन्द्र्या इति षष्ठी नेन्द्रसश्चसीतीन्द्रप्रकाशनसमर्थाया अपि ऋचो न लिङ्गादिन्द्रोपस्थानाङ्गत्वमित्यर्थः। ननु यदीन्द्रप्रकाशनसामर्थ्यरूपाल्लिङ्गादैंद्र्या ऋच इन्द्रोपस्थानार्थत्वं न भवति तर्हि तत्रान्यप्रकाशनसामर्थ्यादर्शनेन तस्याः कस्य-चिदप्युपस्थानार्थत्वासम्भवाद्वैयर्थ्यमेव स्यादित्याशङ्कते-किन्त्विति। यद्यपीन्द्रशब्दस्य गार्हपत्येऽग्नौ रूढिर्नास्ति तथापि तस्यैश्वर्यगुणयोगे।। न यागसाधनत्वं न वा मुख्येन्द्रसदृशत्वाद् गुणवृत्तिरस्ति तथाचैंद्र्यास्तत्प्रकाशनसामर्थ्यस्यापि सत्वेन द्वितीयाश्रुत्या तदुपस्थानार्थत्वं निर्विघ्नमुपद्यत इति समाधत्ते-ऐंद्र्यागार्हपत्यमित्यादिना। अत्रायमाशयः। ऐंद्र्यागार्हपत्यमुपतिष्ठत इति श्रूयते। तत्र च कदाचिनस्तरीरसिनेन्द्रसश्चसिदाशुषे इत्यसावृगैन्द्री तत्रेन्द्रस्य प्रकाशनात् भो इन्द्र कदाचिदपि घातको न भवसि किन्तवाहुतिं दत्तवते यजमानाय प्रीयस इति तस्या अर्थः। तत्रेन्द्रप्रकाशनसामर्थ्यरूपाल्लिङ्गान्मन्त्र-स्येन्द्रविषयक्रियासाधनत्वं गम्यते। यद्यसौ मन्त्रः इन्द्रप्रधानक्रियायाः साधका न भवेत् तदानीमनेनमन्त्रेणेन्द्रप्रकाशनं व्यर्थं स्यात्। तस्मादेतन्मत्रकरणकक्रियां प्रति इन्द्रः प्रधानमित्येतादृशबुद्ध्युत्पादनं लिङ्गविनियोगः। काऽसौ क्रियेति विशेषजिज्ञासाया-

---

समाख्यानां समवाये पारदौर्बल्यमर्थविप्रकर्षात्[1]।'

इसका तात्पर्यार्थ यह है कि षट् प्रमाणों में आगे-आगे का प्रमाण अपने-अपने पूर्ववर्ती प्रमाणों की अपेक्षा अधिक दुर्बल रहता है। 'श्रुति' और 'लिंग' जो प्रथम दो प्रमाण हैं, यदि इन्हें उदाहरण रूप में देखते हैं तो ज्ञात होता है कि 'श्रुति' की अपेक्षा 'लिंग' अधिक दुर्बल प्रमाण है। इसी प्रकार यदि अन्तिम प्रमाण से हम देखते हैं तो समाख्या की अपेक्षा **स्थान**, स्थान की अपेक्षा **प्रकरण**, प्रकरण की अपेक्षा **वाक्य**, वाक्य की अपेक्षा **लिङ्ग**, और लिङ्ग की अपेक्षा **श्रुति-**प्रमाण अधिक प्रबल है। और इस प्रकार-**श्रुति** शेष पांच प्रमाणों की अपेक्षा अधिक प्रबल है। और इसी क्रम से देखें तो ज्ञात होता है कि 'लिङ्ग' प्रमाण आगे कि शेष चार प्रमाणों की अपेक्षा अधिक प्रबल है। इसी प्रकार आगे का क्रम समझना चाहिए।[2] अत: 'लिङ्ग' की अपेक्षा 'श्रुति' प्रबल है, ऐसा दिखाने पर 'श्रुति' समस्त प्रमाणों की अपेक्षा प्रबल है, यह स्वभावत: ही सिद्ध हो जाता है। इसलिए 'श्रुति' लिङ्ग की अपेक्षा किस प्रकार प्रबल है, इस तथ्य को यहाँ **'ऐन्द्रा गार्हपत्यमुपतिष्ठते'**[3] उदाहरण प्रस्तुत कर प्रदर्शित किया गया है।

'श्रुति' लिङ्ग की अपेक्षा प्रबल क्यों होती है? एतद्विषयक उपपत्ति– **'लिङ्गादिषु न प्रत्यक्षो विनियोजकः शब्दोऽस्ति'** इत्यादि वाक्यों के द्वारा मूल में प्रथमत: दी जा रही है। **शेष** और **शेषी** का **अंग**- प्रधान भाव प्रदर्शित कर प्रधान में अंग का विनियोग करनेवाली

---

१. जै. सू. अ. ३, पा. ३, अधि. ७-११

२. यावदुत्तरं प्रमाणं स्वकार्यायप्रक्रमते तावदेव पूर्वं प्रमाणं प्रवृत्तं स्वपूर्वप्रमाणकल्पनया तत्कार्यं सम्पादयतीत्युत्तरप्रमाणस्य मन्थरप्रवृत्तस्य शीघ्रप्रवृत्तेन पूर्व प्रमाणेन विषयस्थाऽपहारादुत्तरप्रमाणस्य प्रवृत्तिरेवनिरूध्यते (तं. सिं. र. द्विती. परि.)

३. मै. सं. १/५/११

मैन्द्र्योपतिष्ठत इत्यनेनाविरुद्धपदद्वयरूपेण वाक्येनोपस्थानक्रियायां पर्यवसानं क्रियते। तथा सत्यैन्द्रमन्त्रणेन्द्रमुपतिष्ठेतेत्ययमर्थः पर्यवस्यति। तथा गार्हपत्यमित्यनया द्वितीयान्तपदरूपया श्रुत्या गार्हपत्यस्य प्राधान्यं गम्यते। तच्च गुणभूतां यत्किञ्चित्करणकक्रियामन्तरेण न सम्भवति ततस्तादृशीं काञ्चित् क्रियां प्रति गार्हपत्यः प्रधानमित्येतादृशबुद्ध्युत्पादनं श्रुतिविनियोगः। ऐंद्र्योपतिष्ठत इति पदद्वये मन्त्रविशेष-क्रियाविशेषयोः पर्यवसानं भवति तथासत्त्यैन्द्रमन्त्रेण गार्हपत्यमुपतिष्ठत इत्यर्थो भवति। यद्यपि प्रमाणत्वाविशेषाच्छ्रुतिलिङ्गयोर्विरोधे प्राप्ते व्रीहियववद्विकल्पः स्यात्। इन्द्रगार्हपत्ययोः प्रधानत्वाविशेषादुपस्थानस्य च गुणत्वात्प्रतिप्रधानं गुणवृत्तिरिति न्याये-नोपस्थानावृत्या श्रुतिलिङ्गयोः समुच्चयो वा स्यात्। श्रुतिर्विनियुंजाना वस्तुसामर्थ्य-मनुसृत्यैव विनियुंक्ते। अन्यथा वह्निना सिञ्चेद्वारिणा दहेदित्यपि विनियुज्येत तस्मात्तदुप-जीव्यत्वेन लिङ्गस्य प्रबलत्वादिन्द्र एवमन्त्रेणोपस्थेयो वा स्यात्। तथाप्यैन्द्रमन्त्रस्य गार्हपत्येऽग्नौ मुख्यवृत्यासामर्थ्याभावेऽपि गुणवृत्या सामर्थ्यस्योक्तत्वात्सामर्थ्याभावकृत-प्रतिबन्धाभावान्निर्विघ्नाश्रुतिराशु विनियुंक्ते लिङ्गं तु विलम्बेन विनियुंक्ते। तथाहि तत्र प्रथमं मन्त्रपदानि स्वाभिधेयार्थं प्रतिपादयन्ति तत ऊर्ध्वं मन्त्रस्य वस्तुप्रकाशनसामर्थ्यं निरुप्यते। तत ऊर्ध्वञ्च तत्सामर्थ्यवशात्साधनत्ववाचिनी प्रधानत्ववाचिनी च श्रुतिः कल्प्यते। कल्पिता च श्रुतिः। पश्चादैन्द्रमन्त्रेणेन्द्रमुपतिष्ठेतेति विनियुंक्त इति मन्त्र पदाभि-धेयप्रतिपादनविनियोगयोर्मध्यवर्तिनौ सामर्थ्यनिरूपणश्रुतिकल्पनव्यापारौ भवतः। प्रत्यक्षश्रुतिविनियोगपक्षे तु मन्त्रपदाभिधेयप्रतिपादनमात्रेण तस्याविनियोजकत्वसम्भवान्न तौ

'श्रुति' जहाँ प्रत्यक्ष होती है, वहाँ अन्य किसी प्रमाण की आवश्यकता ही नहीं होती, परन्तु जहाँ प्रत्यक्ष श्रुति नहीं होती, वहाँ कौन प्रधान है और अंग कौन है? और उस अंग-प्रधानभाव की दृष्टि से किसका कहाँ विनियोग होगा, इस विषयक निर्णय करने में कठिनाई उपस्थित होती है। अतः ऐसे स्थानों पर कर्तव्य का बोध कराने वाली प्रत्यक्ष 'श्रुति' न होने के कारण वहाँ 'लिङ्ग' अर्थात् शब्दसामर्थ्यरूपी चिह्न, या जिसके आधार पर किसी अनुमान की कल्पना की जा सके, ऐसे किसी द्योतक लिंग को देखा जाता है। और उस लिङ्ग या चिह्न के आधार पर 'ऐसा करना चाहिए' इस प्रकार का अनुमान किया जाता है। और उस कल्पित अनुमानानुसार विनियोग करने के लिए कोई काल्पनिक विनियोजक वचन तैयार किया जाता है। और उस कल्पित वचन के आधार पर लिङ्गानुसार विनियोग का निश्चय किया जाता है। सारांश यह है कि 'लिङ्ग' का आधार ग्रहण करके किसी विनियोग का जब निश्चय करना होता है, तब इसके लिए उक्त मार्ग का आश्रय करना होता है, किन्तु इसकी अपेक्षा 'श्रुति' प्रमाण का मार्ग अधिक निकट का होता है क्योंकि, लिङ्ग के आधार पर विनियोजक वचन की कल्पना करके जब तक उस कल्पित वचन से विनियोग किया जाता है तब तक तो प्रत्यक्ष श्रुति के द्वारा विनियोग भी निश्चित कर दिया जाता है। एवञ्च 'लिङ्ग' के आधार पर अनुमान से की हुई कल्पना का यह समस्त प्रपञ्च व्यर्थ हो जाता है। और 'लिङ्ग' के द्वारा विनियोग का निर्णय निश्चित कर लेने के पूर्व-श्रुति कृत निर्णय त्वरित सम्पन्न हो जाता है। इसीलिए

मध्यवर्तिनौ व्यापारौ भवत इति श्रुतेः । प्राबल्यात् तया लिङ्गं बाध्यते । नच प्रत्यक्षश्रुति-विनियोगवेलायामलब्धात्मकत्वेनाप्राप्तं लिङ्गं श्रुत्या कथं बाध्यत इति वाच्यम् । तार्तीय-बाधत्वेन भविष्यत्प्राप्तिप्रतिबन्धस्यैवात्र बाधत्वात् । बाधश्च द्विविधः । प्राप्तबाधो ऽप्राप्तबाधश्च । तत्र दशमे प्राकृतानामङ्गानां चोदकेन विकृतौ प्राप्तानां प्रत्याम्नानादर्थ-लोपात्प्रतिषेधाद्वा यो बाधः स प्राप्तबाधः । यथा चोदकप्राप्तानां प्राकृतानां कुशानां शरमयं बर्हिरिति प्रतिकूलशराम्नानाद्बाधः । यथा चावघातप्रयोजनस्य वैतुष्य रूपस्य लोपात्कृष्णलेष्ववघातस्य बाधः । यथा च पित्र्येष्टौ न होतारं वृणीत इति प्रतिषेधा-द्धोतृवर्णस्य बाधः । अप्राप्तबाधस्तु तृतीयाध्याये यो बाधः तत्र हि यावद्दुर्बलप्रामाणेन विनियोगः कर्तुमारभ्यते तावत्प्रबलप्रमाणेन विनियोगस्य कृतत्वादेव तेन वा तद्बोधितेन वेतरबोधो प्राप्तबाध एव दुर्बलप्रमाणस्याप्रवृत्तत्वादेव । ततश्च कथंचित्प्राप्तभाविप्रवृति-प्रतिबन्धस्यैवात्र बाधत्वमिति सिद्धम् । तस्माद्द्वितीयया श्रुत्या विनियुक्तस्यैव मन्त्रस्य पुनर्विनियोगाकाङ्क्षाया अनुदयाद्विनियोजकं तस्यैव लिङ्गं न प्राप्स्यति तस्माद्-गार्हपत्योपस्थान एव मन्त्रः प्रत्यक्षश्रुत्यैव विनियुज्यते इति सिद्धम् । एवमग्निचयने समाम्नातानिवेशनः संगमन इत्यादिकापि काचिदृगैन्द्री भवति तस्या उत्तरार्द्धे इन्द्रो न तस्थाविति पठनात् । सापि निवेशनः संगमनो वसूनामित्यैन्द्र्यागार्हपत्यमुपतिष्ठत इति ब्राह्मणे तृतीययैन्द्र्यति श्रुत्या गार्हपत्योपस्थाने विनियुज्यते तस्या अपि पूर्वोक्तन्यायेन

श्रुतिप्रमाण 'लिङ्ग' की अपेक्षा अधिक प्रबल होता है। यह सर्वसम्मत निर्णय नितान्त योग्य प्रतीत होता है।[१]

लिङ्गादिक अन्य प्रमाणों की अपेक्षा 'श्रुति' की प्रबलता को उदाहरण के द्वारा समझना आवश्यक है जैसे– **'ऐन्द्या गार्हपत्यमुपतिष्ठते'**– इस श्रुति के केवल इस **'ऐन्द्या उपतिष्ठते'** वाक्यांश का अर्थ है कि, 'इन्द्रदेवतात्मक किसी एक ऋचा से उपस्थापन करें' उदाहरणार्थ– वह ऋचा है– (१) **'कदाचन स्तरीरसि नेन्द्र सश्चसि दाशुषे'**।[२] इस ऋचा का अर्थ है कि– **'भो इन्द्र! कदाचिदपि न स्तरीरसि घातको न भवसि । किंतु आहुतिं दत्तवते यजमानाय सश्चसि प्रीयसे ।'** (हे इन्द्र! तुम कभी भी घातक नहीं होते, तुम्हें आहुति देनेवाले यजमान पर तुम संतुष्ट रहते हो) (२) इस ऋचा में इन्द्र से सम्बन्धित अर्थ प्रकाशित-व्यक्त है, अर्थात् इस ऋचा में **'इन्द्र'** पद का प्रयोग हुआ है और इसीलिए इस ऋचा को **'ऐन्द्री'** कहते है। ऋचा में निहित जो सामान्य अर्थ है, या इस ऋचा का जो सामर्थ्य है, वही **लिङ्ग** है, और इस 'लिङ्ग' के आधार पर यह ऋचा 'इन्द्र' से सम्बन्धित होनी चाहिए, ऐसा अनुमान निश्चित होता है। यदि ऐसा न हुआ तो उस ऋचा में व्यक्त इन्द्रार्थ व्यर्थ हो जायगा। अतः इस इन्द्र प्रकाशन-या इन्द्रार्थ की अभिव्यक्तिरूपी 'लिङ्ग' के आधार पर अनुमान होता है कि इन्द्र देवता

---

१. एवमेव फलं प्राप्तुमुभावारोहतो यदा। एकस्सोपानवर्त्येको भूमिष्ठश्चाऽपरस्तयोः ।। उभयोस्तु ज्वस्तुल्यः प्रतिबन्धश्च नाऽन्तरा। विरोधिनोस्तदैको हि तत्फलं प्राप्नुयात्तयोः (तं. वार्त्तिक- पृ. ८३४)

२. मै. सं. १/५/४

गार्हपत्यप्रकाशन सामर्थ्यस्य सत्वात्। नच मन्त्रस्थेन्द्रपदस्य गुणवृत्या गार्हपत्येऽग्नौ वृतत्वेऽपि रूढ्या तु स्वर्गाधिपतौ सहस्राक्ष इन्द्रे वृतत्वान्मन्त्रेण प्रकाशिते मुख्येन्द्रे मन्त्रब्राह्मणयोर्विवादपरिहाराय ब्राहणस्थगार्हपत्यशब्देन निरुक्तगुणसम्बन्धद्वारेणेन्द्रो-लक्षणीय इति वाच्यम्। इन्द्रगार्हपत्यशब्दयोरन्यतरस्य गौणत्वे ऽवश्यं भाविनि सति मन्त्रस्य प्राप्तार्थत्वेनानुवादकत्वसम्भवान्मन्त्रस्थेन्द्रपदस्यैव गोणत्वस्य न्याय्यत्वात् ब्राह्मणवाक्यस्याप्राप्तार्थत्वेन विधायकत्वाद्विधौ लक्षणाया अन्याय्यत्वाच्च तस्माद्गा-र्हपत्यप्रकाशने समर्थमेव मंत्रमन्द्रेति तृतीया श्रुतिर्गार्हपत्योपस्थाने विनियुङ्क्त इति सिद्धम्। एवं श्रुतेर्लिङ्गस्य दौर्बल्यवल्लिङ्गादेः पूर्वस्मात्पूर्वस्मात्परस्य परस्य वाक्या-देरेकविनियोज्यविषयत्वेन विरोधे दौर्बल्यं स्वार्थावबोधने परस्य पूर्वव्यवधानेन प्रवृत्तेः।। तथाच सूत्रं श्रुतिलिङ्गवाक्यप्रकरणस्थानसमाख्यानां समवाये पारदौर्बल्यम-र्थविप्रकर्षादिति।।३३।।

को प्रधान मानकर **'कदाचनस्तरीरसि'** मंत्र के द्वारा इन्द्र देवता की प्रसन्नता के लिए (प्रीत्यर्थ) किसी क्रिया का सम्पादन करना है, अर्थात् वह क्रिया इन्द्र की प्रधानता को और प्रस्तुत मंत्र उसके गुण को व्यक्त करने वाला है। ऐसी कौनसी क्रिया है जो इन्द्र की प्रधानता और उसके गुण को व्यक्त करती है? (३) तब **'अनेन मंत्रेण इन्द्रमुपतिष्ठते'**– ऐसा एक श्रुतिवाक्य पूर्वोक्त अनुमान के आधार पर कल्पित किया जाता है। और उससे (४) अन्त में उक्त ऋचा के इन्द्रप्रकाशनरूपी 'लिङ्ग' प्रमाण के आधार पर यह निश्चित होता है कि उक्त इन्द्र देवतात्मक मंत्र से 'इन्द्र' का उपस्थापन करें। इस प्रकार 'लिंग' प्रमाण विनियोग के सम्बन्ध में अपने अन्तिम निर्णय तक पहुँचता है। अपने अन्तिम लक्ष्य तक पहुँचने के लिए **लिंग प्रमाण** को मार्ग के चार-सोपानों को पार करना पड़ता है। वे चार सोपान ये हैं– (१) **स्वाभिधेयप्रतिपादन,** (२) **सामार्थ्यनिरूपण,** (३) **श्रुतिकल्पना** और (४) **विनियोग**। उक्त चार सोपानों को पार करने के पश्चात् 'लिंग' प्रमाण अपने विनियोगरूपी इष्ट लक्ष्य तक (स्थान तक) पहुँच पाता है। अतः स्पष्ट है कि 'लिङ्ग' से विनियोग का बोध होने में अधिक समय लगेगा। संक्षेप में कहें तो (१) प्रथम सोपान स्वाभिधेयार्थ प्रतिपादन का है– सर्वप्रथम **'कदाचन स्तरीरसि नेन्द्र सश्चसि दाशुषे'** इस मंत्र के पदों का अभिधेयार्थ ज्ञात होता है। (२) दूसरे सोपान में, जो वस्तु– प्रकाशन सामर्थ्य निरूपण का है, मंत्रार्थ ज्ञात होने के पश्चात् **'इन्द्र'** शब्द की शक्ति से बोध होता है कि यह मंत्र इन्द्र से सम्बन्धित है। (३) तीसरे सोपान में, जो **अंगागिबोधक श्रुति कल्पना** का है,– मंत्र इन्द्र से सम्बन्धित है, यह ज्ञात होने के पश्चात् इस मंत्र से इन्द्र का उपस्थापन करना है– **'अनेन मन्त्रेण इन्द्रमुपतिष्ठते'** इस प्रकार की श्रुति की कल्पना करनी पडेगी। और (४) चौथे सोपान में, जो विनियोग का है, उक्त श्रुति की कल्पना कर लेने के पश्चात् **'ऐन्द्रमन्त्रेण इन्द्रमुपतिष्ठते'** अर्थात् 'ऐन्द्र मन्त्र से इन्द्र की पूजा करे– इस प्रकार विनियोग होता है।

किन्तु उक्त 'लिंग' प्रमाण की अपेक्षा 'श्रुति' प्रमाण का मार्ग अधिक निकट का है। 'कदाचन स्तरीरसि'– इस मन्त्र के 'लिङ्ग' से लिङ्ग प्रमाण को उक्त चार सोपान पार करने के

पश्चात् अपना इष्टस्थान– विनियोग –प्राप्त होता है। दूसरे शब्दों में यह कहा जा सकता है कि **'स्वार्थाभिधेयप्रतिपादन'** और **विनियोग** के मध्य में **'वस्तुप्रकाशनसामर्थ्यनिरुपण'** एवं **'अङ्गाङ्गिबोधक श्रुतिकल्पना'**– इन दो सोपानों का व्यवधान होता है। किन्तु (१) **'ऐन्द्या गार्हपत्यमुपतिष्ठते'**– इस प्रत्यक्ष विनियोजक श्रुति के वाक्य में 'इन्द्र देवतात्मक मंत्र से गार्हपत्य का उपस्थान करें'– कहा गया है। और (२) इसमें **'गार्हपत्यम्'** श्रुति के द्वारा द्वितीया विभक्ति का प्रयोग किया हुआ होने से ऐन्द्री ऋचा का **गार्हपत्य** के उपस्थान की ओर विनियोग करना चाहिए, स्पष्टरूप से सिद्ध होता है। तात्पर्य यह है कि उक्त उदाहरण में प्रत्यक्ष श्रुति के द्वारा जब विनियोग किया जाता है तब 'श्रुति' को केवल दो सोपानों (१) **स्वाभिधेयप्रतिपादन** और (२) **विनियोग** को पार करना पडता है, अर्थात् लिङ्ग प्रमाण के लिये आवश्यक लगने वाले मध्यके दो सोपान **सामर्थ्यनिरूपण** और **श्रुतिकल्पना**-श्रुतिप्रमाण को आवश्यक नहीं होते। तात्पर्य यह है कि 'लिङ्ग' द्वारा विनियोग होने पर (४) चार व्यापारों की आवश्यकता होती है, जबकि 'श्रुति' द्वारा विनियोग होने पर दो (२) व्यापारों की आवश्यकता होती है। अर्थात् उक्त दो व्यापारों में ही 'श्रुति' द्वारा विनियोग हो सकता है, जब कि 'लिङ्ग' द्वारा दो व्यापारों में केवल वस्तु प्रकाशनसामर्थ्य ही निरूपण ही हो पाता है। इसलिए **श्रुति विनियोग पक्ष** में श्रुति द्वारा विनियोग हो चुकने के कारण **लिङ्ग विनियोग पक्ष** में लिङ्ग द्वारा श्रुति की कल्पना करने का कोई प्रयोजन ही नहीं रहता, अतएव 'लिङ्ग' की श्रुतिकल्पनाविषयक शक्ति खण्डित हो जाती है। इस प्रकार अर्थसंनिकर्ष के कारण 'श्रुति' में प्राबल्य उत्पन्न होने के कारण वह श्रुति, लिङ्ग प्रमाण का बाध करने में समर्थ हो सकती है, यह स्पष्ट है।

श्रुति के सोपान (व्यापार)	**लिङ्ग प्रमाण के सोपान-(व्यापार)**
(१) **स्वाभिधेयप्रतिपादन ।**	(१) स्वाभिधेय प्रतिपादन ।
	(२) सामर्थ्य निरूपण ।
	(३) श्रुतिकल्पना ।
(२) **विनियोग ।**	(४) विनियोग ।

उपर्युक्त विवेचन में **'ऐन्द्या गार्हपत्यमुपतिष्ठते'**– इस मंत्र के द्वारा 'लिङ्ग' की अपेक्षा 'श्रुति' की प्रबलता को निरूपित किया गया है। परन्तु यहाँ एक **शंका** यह होती है कि इन्द्रदेवतात्मक ऋचा के द्वारा गार्हपत्य नामक 'अग्नि' का उपस्थान किस प्रकार किया जाता है? अर्थात् उपस्थान करने का आधार क्या है? वस्तुतः इन्द्रदेवतात्मक ऋचा के द्वारा इन्द्रका उपस्थान किया जाना ही उपयुक्त प्रतीत होता है। उक्त शंका का समाधान मीमांसा सूत्र[१] के 'ऐन्द्या गार्हपत्ये विनियोगाधिकरण' में समारोह पूर्वक किया गया है। वहाँ 'निवेशनः संगमनः'– ऋचा को विषयवाक्य के रूप में उपन्यस्त किया गया है। इस ऋचा के उत्तरार्ध में–**'इन्द्रो न तस्थौ'** पदों की रचना है। इस मंत्र को अनुलक्षित कर जो ब्राह्मण ग्रंथ है, वह इस प्रकार है–

---

१. जै. सू. अ. ३, पा. २

'निवेशनः संगमनो वसूनामित्यैन्द्यागार्हपत्यमुपतिष्ठते' और उक्त अधिकरण में गहन मीमांसा करने के पश्चात् मंत्र में प्रयुक्त **इन्द्र** शब्द का अर्थ लक्षणा के द्वारा 'वह्नि' ग्रहण करने का निश्चय किया गया है। उक्त अर्थ ग्रहण करने के पश्चात् पूर्व में जो मंत्र इन्द्र प्रकाशक के रूप में ज्ञात था, वह अब स्पष्ट रूप से गार्हपत्यवह्नि का प्रकाशन करने में समर्थ होता है। और इसलिए वह मंत्र 'इन्द्र' वाचक न होकर गार्हपत्यवाचक है, और ऐन्द्रीऋक् का गार्हपत्यवह्नि का उपस्थान करने के लिए विनियोग करना चाहिए, यथार्थतः उपयुक्त ही है। उक्त अधिकरण का अनुसंधान उपर्युक्त प्रकरण में किया जाना चाहिए।

किन्तु कुछ अन्य स्थल ऐसे भी है, जहाँ 'श्रुति' द्वारा विनियोग अभिहित नहीं किया गया है। वस्तुतः ऐसे स्थलों पर **लिंग** प्रमाण का यथार्थ उपयोग होता है। उदाहरणार्थ– **'अग्नये जुष्टं'** यह एक मंत्र है, इसका विनियोग 'श्रुति' द्वारा अभिहित नहीं है। ऐसी स्थिति में लिंग-प्रमाण की प्रवृत्ति होती है। **'अग्नये जुष्टं निर्वपामि'**[1] इत्यादि मंत्र के अर्थ से मंत्र में निहित निर्वाप प्रकाशन का सामर्थ्य ज्ञात होता है। तदनन्तर लिंग से **'इस मंत्र से निर्वाप' करना चाहिए'**– ऐसी श्रुति की कल्पना होती है। और उस कल्पित श्रुति के द्वारा उस मंत्र का निर्वापन की ओर विनियोग किया जाता है। एवञ्च प्रस्तुत स्थान पर लिंग-प्रमाण विनियोग करने में समर्थ हो सकता है। क्योंकि पूर्वोक्त 'एन्द्या गार्हपत्यम्' उदाहरण के समान इस स्थान पर लिंग प्रमाण से कल्पित श्रुति का बाध करने के लिये अन्य कोई दूसरी प्रत्यक्ष श्रुति ही उपलब्ध नहीं होती। अतः यहाँ 'लिंग' प्रमाण का बाध नहीं हो सकता।

अब यहाँ एक **शंका** यह है कि उक्त विवेचन में 'श्रुति' से लिंग-प्रमाण का बाध हो जाता है, कहा गया है। किन्तु **'ऐन्द्या गार्हपत्यमुपतिष्ठते'**– इस प्रत्यक्षश्रुति के होने पर लिंग-प्रमाण तो प्राप्त ही नहीं होता, तब जो 'लिंग' प्राप्त ही नहीं हो सकता, उसका-श्रुति द्वारा बाध होता है, ऐसा कहने का तात्पर्य क्या है? इस शंका का समाधान इस प्रकार संभव हो सकता है– बाध दो प्रकार का होता है– (१) **प्राप्तबाध** और दूसरा (२) **अप्राप्तबाध** इन दों में से– **'ऐन्द्या गार्हपत्यम्'** उदाहरण **अप्राप्तबाध** का है। प्रथम प्रकार के **'प्राप्तबाध'** में जिसका बाध किया जाना होता है, वह प्रत्यक्ष ही उपलब्ध होता है। अतः उसका बाध करना आवश्यक होता है। किन्तु दूसरे प्रकार का जो **'अप्राप्तबाध'** होता है, इसमें जिसका बाध करना होता है, वह यद्यपि प्रत्यक्ष उपस्थित नहीं होता है, तथापि वह अपनी बुद्धि में तो उपस्थित रहता ही है। इसलिए बुध्युपस्थित जो बाध होता है, उसका निवारण करना संभव होता है, और आवश्यक भी होता है। इसलिए जिसकी प्राप्ति संभवनीय है, किन्तु जो प्रत्यक्ष प्राप्त नहीं है, वह है दूसरे प्रकार का बाध। इस दृष्टि से 'लिंग' प्रमाण का 'श्रुति' ने बाध किया है। उक्त विषय का विशदनिरूपण कौमुदीकार ने किया है।।३३।।[2]

---

१. तै. सं. १/१/४/२

२. पूर्वेणोत्तरस्य बाधोऽप्राप्तबाधः। उत्तरस्य प्रमाणस्याऽप्राप्तावेव बाधात्। (तं.सि.र. द्विती. परि.)

(३४) लिङ्गनिर्वचनम्

शब्दसामर्थ्यं लिङ्गम्। यच्चाहुः 'सामर्थ्यं सर्वशब्दानां लिङ्गमित्यभिधीयते' इति। सामर्थ्यं रूढिरेव। तेन समाख्यातोऽस्या भेदः। यौगिकशब्दसमाख्यातो रूढ्यात्मकलिङ्गशब्दस्य भिन्नत्वात्। तेन 'बर्हिर्देवसदनन्दामी'ति मन्त्रस्य कुशलवनाङ्गत्वं न तूलपादिलवनाङ्गत्वम्। तस्य बर्हिर्दामीति लिङ्गात् तल्लवनं प्रकाशयितुं समर्थत्वात्। एवमन्यत्रापि लिङ्गाद्विनियोगो द्रष्टव्यः।

तदिदं लिङ्गं वाक्यादिभ्यो बलवत्।। अत एव 'स्योनन्ते सदनं कृणोमी'ति मन्त्रस्य पुरोडाशसदनकरणाङ्गत्वम्। सदनं कृणोमीति लिङ्गात्। न तु वाक्यात्।।३४।।

एवं श्रुतिं निरूप्य लिङ्गं लक्षयति- ***शब्दसामर्थ्यमिति।*** ***लिङ्गमिति*** **लक्ष्यनिर्देशः। सामर्थ्यं लिङ्गमित्युक्तेऽङ्कुरादिजननानुकूलबीजादिसामर्थ्ये तत्प्रसङ्गः स्यात्तद्वारणाय शब्देति विशेषणम्। सामर्थ्यं द्विविधं शब्दगतमर्थगतं चेति। तत्राद्यस्य लक्षणमत्रोक्तं तत्रैव वृद्धसम्मतिं प्रदर्शयन् तदर्थमाह-** ***यथाहुरित्यादिना।*** **अन्त्यं तु यथा स्रुवेणा-**

अनुवाद– शब्दसामर्थ्यमिति। *शब्दसामर्थ्य को* ***लिंग*** *कहते हैं। जैसा (तंत्रवार्तिक) कहा है– 'समस्त शब्दों में होने वाले सामर्थ्य को लिंग कहते हैं'। सामर्थ्य शब्द का अर्थ 'रूढि' है अत: समाख्या (यौगिक शब्द) से इसका भेद है। क्योंकि यौगिकशब्द से रूढि रूप 'लिंग' भिन्न है। इसी हेतु* ***'बर्हिर्देवसदनं दामि'*** *यह 'मंत्र' कुश छेदन क्रिया का अंग है, उलप आदि तृणों के छेदन का नहीं। क्योंकि* ***'बर्हिर्दामि'*** *इस लिंग से उक्त मन्त्र में* ***'कुशलवन'*** *प्रकाशन का सामर्थ्य ही है। इसी प्रकार अन्य स्थलों पर भी 'लिंग' द्वारा विनियोग समझा जाना चाहिये।।*

तदिदमिति। *यह 'लिंग' प्रमाण वाक्यादि प्रमाणों से प्रबल है। इसीलिए* ***'स्योनं ते सदनं कृणोमि'*** *यह मन्त्र* ***'सदनं कृणोमि'*** *निष्ठ 'लिंग' से पुरोडाश सदन करण के प्रति अंग होता है। परन्तु 'वाक्य' से पुरोडाश सदन करण के प्रति और पुरोडाश स्थापन के प्रति अंग नहीं होता।।३४।।*

।। अर्थमीमांसा ।।

'लिङ्ग'प्रमाण से सम्बन्धित उपर्युक्त प्रकरण को सामान्यत: दो विभागों में विभक्त किया जा सकता है– (१) **प्रथम विभाग में–** लिङ्ग-प्रमाण का अर्थ और उस प्रमाण द्वारा क्या निश्चित किया जाता है? निरूपित किया गया है। और (२) दूसरे विभाग में– **'तदिदं लिङ्गं**

वद्यतीत्यवदानसामान्यशेषत्वावगमेऽपि स्रुवस्य लिङ्गात्सामर्थ्यरूपादाज्यसान्नाय्यादिद्रव-द्रव्यावदानविशेषाङ्गत्वं स्रुवेण मांसादिद्रव्यावदानस्य कर्तुमशक्यत्वादिति। ननु रूढि-रूपस्य सामर्थ्यस्य समाख्यातो न भेदः स्यात्। तथाच बर्हिर्देवसदनं दामीति मन्त्र-स्योत्पादिलवनाङ्गत्वमपि स्यादित्याशङ्क्याह-समाख्यातो भेद इति। रूढिरूपस्य सामर्थ्यस्येति शेषः यौगिकशब्दरूपसमाख्यातो रूढात्मकस्य लिङ्गशब्दस्य भेद एव प्रसिद्धेः। तथाच न तयोरभेद इत्यर्थः समाख्यातो नाभेद इति पाठेऽपि स एवार्थः, रूढिरूपस्य सामर्थ्यस्य समाख्यातो भेदे फलितमाह- *तेनेति*। **रूढिसमाख्ययोर्मिथो भेदेन पुरोडाशसदनभूतं बर्हिः खण्डयामीति श्रुतपदसामर्थ्याद्बर्हिर्देवसदनं दामीति मन्त्रस्य कुशकाशादिरूपाणां मुख्यबर्हिषां लवनाङ्गत्वं न तु समाख्यातो दर्भसदृशाना-मुलपादिरूपतृणविशेषाणां गौणबर्हिषां लवनाङ्गत्वमित्यर्थः। उक्तेऽर्थे हेतुमाह-** *तस्येत्यादिना*। **तस्येति बर्हिर्देवेत्यादिमन्त्रस्येत्यर्थः। तल्लवनमिति कुशलवनमित्यर्थः, एवमन्यत्रापीति। बर्हिर्देवसदनन्दामीति मन्त्रस्य कुशलवनाङ्गत्ववदग्नये जुष्टं निर्वपामी-त्यादिमन्त्रस्यापि निर्वापादिप्रकाशसामर्थ्यरूपाल्लिङ्गान्निर्वापादौ विनियोग इत्यर्थः। अत्रेदं बोध्यम्। तस्य हि मन्त्रस्य निर्वापाङ्गत्वं सम्भवति यस्य यत्प्रकाशनसामर्थ्यं तस्य मन्त्रस्य तदङ्गत्वमिति न्यायात्। तच्च लिङ्गं द्विविधं सामान्यसम्बन्धबोधक-**

वाक्यादिभ्यो बलवत्' अर्थात् वाक्यादिक प्रमाणों की अपेक्षा **लिङ्ग**-प्रमाण ही अधिक बलवान् होता है,– यह सिद्ध किया गया है।

उक्त दो विभागों में से प्रथम विभाग में सर्वप्रथम 'लिङ्ग' का लक्षण बतलाया गया है **'शब्दसामर्थ्यं लिङ्गम्'**– अर्थात् प्रत्येक शब्द कुछ न कुछ अर्थ व्यक्त करने में समर्थ होता है, अतः शब्द-सामर्थ्य को ही 'लिङ्ग' कहा जाता है। अर्थात् अन्य किसी के सामर्थ्य को 'लिङ्ग' की संज्ञा से अभिहित नहीं किया जा सकता। वह शब्द अपने में निहित सामर्थ्य (शक्ति) के द्वारा अर्थ को व्यक्त करता है। इसी शब्द-सामर्थ्य को 'लिङ्ग' कहा जाता है। अब प्रश्न यह है कि– 'शब्द सामर्थ्यं लिङ्गम्'– इस लिङ्ग के लक्षण में **'शब्द'** पद का प्रयोग क्यों किया गया है? इसका कारण यह है कि यदि लक्षण में 'शब्द' पद का प्रयोग न किया तो **'सामर्थ्यं लिङ्गम्'** इतना ही लिङ्ग का लक्षण हो जाता और इसका परिणाम यह होता कि बीज में अंकुर उत्पन्न करने का जो सामर्थ्य रहता है, वह सामर्थ्य भी लिङ्ग के लक्षण में समाहित हो जाता। और लक्षण– **'सामर्थ्यं लिङ्गम्'** अतिव्याप्ति दोष से ग्रस्त हो जाता। इस अतिव्याप्ति दोष को दूर करने के लिये ही लिङ्ग के लक्षण में **'शब्द'** पद का प्रयोग किया गया है। अर्थात् **'शब्द सामर्थ्यं लिङ्गम्'** यह दोषमुक्त 'लिङ्ग' का लक्षण किया गया है।

तन्त्रवार्तिक १२५ के वृद्धवचन में भी लिङ्ग'-शब्द का यही– **'सामर्थ्यं सर्वशब्दानां लिङ्गमित्यभिधीयते'** लक्षण अंकित है। **आपदेवी** में भी 'लिङ्ग' के लक्षण के लिये इसी श्लोकार्ध को किंचित् पाठ भेद के साथ उद्धृत किया गया है। वहाँ **'सामर्थ्यं सर्वशब्दानाम्'** के स्थान पर **'सामर्थ्यं सर्वभावानाम्'** पाठ दिया गया है। अब प्रश्न यह है कि 'लिङ्ग' के लक्षण में प्रयुक्त 'शब्दसामर्थ्य' का अर्थ क्या है? प्रकृत में सामर्थ्य का अर्थ केवल 'रूढि' ही

प्रमाणान्तरानपेक्षं तत्सापेक्षं चेति। तत्र यद्विनायन्न सम्भवति तस्य तदङ्गत्वं। सामान्यसम्बन्धबोधकप्रमाणान्तरानपेक्षकेवललिङ्गाद्भवति यथार्थज्ञानस्य कर्मानुष्ठानाङ्गत्वं अर्थज्ञानं विना तदनुष्ठानासम्भवात्। यद्विना यत्सम्भवति तस्य तदङ्गत्वं तत्सापेक्षलिङ्गाद्भवति यथोक्तमन्त्रस्य निर्वापाङ्गत्वं निर्वापस्य हि विनापि मन्त्रमुपायान्तरेण स्मृत्वा कर्तुं शक्यत्वान्न मन्त्रो निर्वापस्वरूपार्थः सम्भवति। किन्त्वपूर्वसाधनीभूतनिर्वापप्रकाशनार्थ एव। तादृशनिर्वापप्रकाशनार्थत्वं च न सामर्थ्यमात्राल्लभ्यते, सामर्थ्यस्य निर्वापप्रकाशनमात्रे सत्त्वात्। ततश्चावश्यं प्रकरणादिसामान्यसम्बन्धबोधकं प्रमाणं स्वीकर्त्तव्यम्। तथा च दर्शपूर्णमासप्रकरणे तस्य मन्त्रस्य पाठादेवानेन मन्त्रेण दर्शपूर्णमासापूर्वसम्बन्धिकिञ्चित्प्रकाश्यत इत्यवगम्यते। अन्यथा दर्शादिप्रकरणपाठस्य वैयर्थ्यापत्तेः। किंतद्दर्शपूर्णमासापूर्वसम्बन्धिप्रकाश्यमित्याकाङ्क्षायां निर्वापप्रकाशनसामार्थ्यात्पुरोडाशनिर्वाप इत्यवगम्यते। निर्वापश्च पुरोडाशसंस्कारद्वारा ऽपूर्वसम्बन्धीति लिङ्गान्मन्त्रस्य निर्वापार्थत्वे सति न तस्यानर्थक्यापत्तिः। तस्मादग्नये जुष्टं निर्वपामीति मन्त्रस्य प्रकरणाद्दर्शपूर्णमाससम्बन्धितयाऽवगतस्य निर्वापप्रकाशनसामर्थ्यरूपाल्लिङ्गान्निर्वापाङ्गत्वमिति। तदिदं निरुक्तं सामर्थ्यरूपं लिङ्गं वाक्यप्रकरणादिभ्यः प्रबलमित्याह-*तादिदमित्यादिना*। अत एवेति। लिङ्गस्य वाक्यादिभ्यो बलवत्त्वादेवेत्यर्थः।

ग्रहण करना चाहिए। अर्थात् सामर्थ्य शब्द का अर्थ 'रूढि' है। यह अर्थ ग्रहण करने पर लिङ्गप्रमाण अन्तिम छटे **'समाख्या'** प्रमाण से भिन्न हो सकता है। अर्थात् यौगिक शब्द (समाख्या) से इसका भेद हो जाता है।

प्रकृत में **'लिङ्ग'** और **'समाख्या'** इन दोनों प्रमाणों के भेद का उल्लेख किया गया है। उक्त दोनों ही प्रमाण पूर्वोक्त श्रुत्यादिक छः प्रमाणों के अन्तर्गत आते हैं, 'लिङ्ग' प्रमाण क्रमानुसार दूसरा और 'समाख्या' प्रमाण अन्तिम है। 'समाख्या' प्रमाण का अर्थ– **'समाख्या यौगिकः शब्दः'** निरूपित किया गया है। और लिङ्ग का अर्थ **'सामर्थ्य'** अर्थात् 'रूढि' है। अतः समाख्या के 'यौगिक अर्थ' और लिङ्ग के 'रूढार्थ' में-भेद है, यह स्पष्ट हो जाता है। किन्तु भेद का स्वरूप क्या है? इसे समझने के लिये शब्दों के अर्थ की दृष्टि से होनेवाले चार प्रकारों का निरूपण करना यहाँ आवश्यक प्रतीत होता है।

(१) 'अवयवशक्त्याऽर्थप्रत्यायकं यौगिकम्' अर्थात् **धातु प्रत्यादि** अवयवों से उत्पन्न होनेवाले अर्थ को जिस शब्द के द्वारा व्यक्त किया जाता है, वह **'यौगिक'** शब्द होता है। जैसे– **'पच्'** धातु, और उसके आगे लगे हुए कर्तृवाचक प्रत्यय से निष्पन्न होनेवाला जो **'पाचक'** शब्द है, वह अपने अवयवों से निष्पन्न होने वाले अर्थ का द्योतक होने के कारण, **यौगिक शब्द** है। और इसी यौगिक शब्द को **'समाख्या'** कहा जाता है। (२) यत्समुदायशक्त्याऽर्थप्रत्यायकं तद्रूढम्' अर्थात् अवयवों के अर्थ की ओर ध्यान ने देते हुए समुदायशक्ति से जिस शब्द के द्वारा कुछ भिन्न अर्थ ही अभिव्यक्त या बोधित किया जाता है, वह **'रूढ'** शब्द होता है। जैसे– **'गो'** शब्द का अर्थ 'गाय' होता है, यह अर्थ **'गो'** शब्दगत **धातु, प्रत्यय** आदि अवयवों से अर्थात् अवयवशक्ति से निष्पन्न अर्थ न होकर तद्गत कुल अवयवों की समुदाय

स्योनन्ते सदनं कृणोमीत्यत्र घृतस्य धारया सुसेवं कल्पयामि तस्मिनसीदामृते प्रतितिष्ठ व्रीहीणां मेधसुमनस्य मान इति वाक्यशेषः । भो पुरोडाश ते तव स्योनं समीचीनं सदनं स्थानं कृणोमि करोमि तच्च स्थानं घृतस्य धारया सुसेवं सुष्ठु सेवितुं योग्यं कल्पयामि । भो ब्रीहीणां मेध ! ब्रीहिसारभूत ! त्वं सुमनस्यमानः समाहितमनस्कः सन् तस्मिन्नमृते समीचीने स्थाने सीद उपविश प्रतितिष्ठ तत्र स्थिरोभवेत्यर्थः । तत्र च तस्मिन्नित्यनेन तच्छब्देन । प्रकृतवाचकेन पूर्वोतरार्द्धयोरेकवाक्यत्वे सिद्धे मन्त्रद्वयस्याभावात्सर्वोऽप्ययं मन्त्रः स्थानकरणस्याङ्गं पुरोडाशस्थापनस्य चाङ्गं भवति । तत्र विनियोजिका श्रुतिश्चैवं कल्पनीया सर्वेणानेन मन्त्रेण स्थानं कर्तव्यमिति तथा सर्वेणानेन मंत्रेण तत्र पुरोडाशः स्थापनीय इति च । तथा च सदनकरणपुरोडाशस्थापनयोः अस्य मन्त्रस्य विकल्पः । समुच्चयो वास्येच्छया भविष्यतीति पूर्वपक्षः । तत्र हि पदे तत्पूर्वोतरार्द्धयोः परस्पराऽन्वयेनैकवाक्यं सम्पन्नन्तदेनदुतरार्द्धस्य सदनकरणे शक्तिमक्ल्प्पयित्वा सकलं मन्त्रं सदने विनियोक्तुं नार्हति । तथा तदेव वाक्यं पूर्वार्द्धस्य पुरोडाशस्थापने

शक्ति के द्वारा निष्पन्न **'गो'** शब्द गाय के अर्थ में रूढ हुआ है, इसलिए यह **रूढ शब्द** का उदाहरण है। (३) **योगरूढ–** जैसे **'पंकज'**। पङ्क + ज = पङ्क से उत्पन्न। पंकज शब्द दो अवयवों से बना है (१) पंक और (२) ज । पंक = कीचड़ और ज = उत्पन्न = अर्थात् पंक से उत्पन्न। अत: यौगिक अर्थ होता है, जो कोई कीचड़ से उत्पन्न हुआ हो। इसके अनुसार कीचड़ से उत्पन्न होने वाला कोई भी जन्तु-प्राणि मेंढक आदि भी हो सकता है, किन्तु रूढि के द्वारा उसका अर्थ सीमित होकर केवल 'कमल' ही होता है। अत: 'पंकज' जैसे जिन शब्दों में योग और रूढि-इन दोनों के ही तत्त्व निहित हों, उन्हें 'योगरूढ' शब्द कहा जाता है। 'अवयवशक्त्युपोद्वलितसमुदायशक्त्याऽर्थप्रतीतिजनकं योगरूढ़म्'। (४) **यौगिकरूढ–** ये शब्द भी अपने रूढ अर्थ का बोध कराते हैं और अपनी अवयव वृत्ति से अपने अवयव के अर्थ के अनुसार यौगिक अर्थ का। यथा– **'उद्भिद्'**, इसके अवयव हैं- **उत्** और **भिद्** इन अवयवों के योग से भूमि का उद्भेदन करने वाला, यौगिक अर्थ ज्ञात होता है और रूढि से **'उद्भिद्'** शब्द का अर्थ होता है-एक याग विशेष। अत: ऐसे शब्दों को **'यौगिकरूढ'** कहा जाता है।

इस प्रकार चार प्रकार के शब्दों के वर्णित निरूपण से समाख्या का अर्थ 'यौगिकशब्द' और लिंगरूपी सामर्थ्य का अर्थ 'रूढशब्द' ज्ञात होता है, साथ ही दोनों– (समाख्या का अर्थ यौगिकशब्द और लिंगरूपी सामर्थ्य का अर्थ रूढशब्द) में निहित भेद भी दृष्टिगोचर हो जाता है। इस प्रकार यह स्पष्ट होता है कि 'लिंग' रूढि है जो यौगिक शब्द से सर्वथा भिन्न है। यौगिक शब्द को ही 'समाख्या' कहते हैं।

इस प्रकार उपर्युक्त विवेचन में लिंग-प्रमाण समाख्या से किस प्रकार भिन्न है? निरूपित करने के पश्चात् और 'लिंग' का ही अर्थ रूढि है, बतलाने पर, उस लिंग प्रमाण के रूढ्यात्मक अर्थ के द्वारा-शेषशेषिभाव किस प्रकार निश्चित किया जाता है, **'बर्हिर्देवसदनं दामि'**[1]

---

१. आपस्तम्ब श्री. सू. प्र. १, प. २, खं. ३, सू. ११, मै. सं. १/१/२

शक्तिमकल्पयित्वा न पुरोडाशस्थापने कृत्स्नं मन्त्रं विनियोक्तुं प्रभवति। ततश्च लिङ्गकल्पनव्यवधानेन वाक्यं श्रुतिं प्रति विप्रकृष्यते। प्रत्यक्षं तु लिङ्गद्वयं तां श्रुतिं प्रति न विप्रकृष्यते तथा सति लिङ्गेन वाक्यस्य बाधान्मन्त्रस्यार्द्धद्वयं सदन-करणस्थापनयोर्व्यवस्थितमिति राद्धान्तः। तमेतमभिप्रेत्याह-*मन्त्रस्येत्यादिना*। *लिङ्गा-दिति*। सदनकरणप्रकाशनसामर्थ्यरूपादित्यर्थः। नतु वाक्यादिति मन्त्रस्य पुरोडाश-सदनसादनरूपार्थकरणाङ्गत्वं न तु सदनसादनलक्षणशेषशेषिरूपार्थप्रतिपादकात्सदनं कृणोमि तस्मिन्सीदेत्येवं सहोच्चारणरूपाद्वाक्यादित्यर्थः ।।३४।।

उदाहरण द्वारा निर्देशित किया जा रहा है। 'बर्हिर्दैवसदनं दामि' का अर्थ है– 'देवों के आसनार्थ मैं कुशों का छेदन करता हूँ'– अतः छेदनसामर्थ्य रूप 'लिंग' से उक्त मंत्र का छेदन क्रिया में विनियोग करने का यहाँ निर्देश प्राप्त होता है। जिन बर्हियों (दर्भो) का छेदन करना हैं, वे बर्हि-(दर्भ) दो प्रकार के हैं– (१) **मुख्य अर्थ के** और (२) **गौण अर्थ के**। कुश, काश इत्यादि जो दस प्रकार दर्भ के विहित हैं, वे बर्हि का मुख्य अर्थ हैं। दर्भसदृश उलप आदि तृणविशेष की दूसरी जाति है। इस तृणविशेष को भी दर्भसादृश्य से **'बर्हि'** शब्द से अभिहित किया जाता है। किन्तु उसके लिए **'बर्हिः'** शब्द का प्रयोग **गुण सादृश्य** से अर्थात् लक्षणा से ही प्राप्त होता है। अतः कुश-काश आदि जो दशविध दर्भ विहित हैं (कथित है) वे 'बर्हिष्'– शब्द के रूढार्थ वाचक है। अर्थात् 'बर्हिष्' शब्द का रूढार्थ 'कुश' एवं यौगिकार्थ 'उलप' (तृणविशेष) होता है। अब प्रश्न यह है कि क्या यह मंत्र **'बर्हिर्देवसदनं दामि'** दशविध दर्भके– (कुशलवन) छेदन (कुशकाटने की क्रिया) में विनियुक्त होगा? अथवा 'उलप' (जो तृणविशेष है) आदि के लवन (छेदन में) भी विनियुक्त होगा? उक्त प्रश्न के उत्पन्न होने पर इस अधिकरण में यह सिद्धान्त निश्चित किया गया है कि रूढि के द्वारा 'बर्हिः' शब्द का दशविधदर्भरूपी जो मुख्य अर्थ निश्चित किया गया है, वही सर्वप्रथम शीघ्रता से मन में उपस्थित होता है। अतः सर्वप्रथम उपस्थित होनेवाले मुख्य अर्थ में ही मंत्र का विनियोग प्रथम किया जाता है। एवञ्च मंत्रगत रूढ्यात्मक 'लिंग' के चरितार्थ होने के कारण तत्पश्चात् विलंब से प्रतीत होने वाले 'बर्हिः' शब्द के उलपादिक गौण अर्थ में मंत्र का विनियोग नहीं हो सकता।[1] सारांश यह है कि 'लिंग' द्वारा विनियोग होने के लिये सर्वप्रथम मंत्रार्थ का बोध होना आवश्यक है, इसके पश्चात् मंत्रगत **'दामि'** एवं **'बर्हिष्'** पदों के सामर्थ्य से बोध होता है कि यहाँ कुश काटने– (छेदन-करने) का प्रसंग है। **'बर्हिर्देवसदनं दामि'** मंत्रगत 'बर्हिः' शब्द के रूढ्यार्थ से प्रतीत होने वाला 'लिंग' केवल दशविध दर्भ के छेदन करने में समर्थ होने के कारण यह मंत्र केवल कुश-काश आदि जो दशविध दर्भ हैं, उनके ही छेदन (लवन करने) का अंग हो सकेगा और उलपादिक के लवन करने का अंग नहीं हो सकेगा, यह 'लिंग' प्रमाण द्वारा सिद्ध है। अर्थात् 'बर्हिष्' पद के 'लिंग' से ही कुश का ग्रहण एवं उलप

---

१. तच्च शब्दगतं लिङ्गं मुख्य एवाऽर्थे विनियोजकं न गौणे। मुख्यार्थस्य प्रथममुपस्थितत्वेन तत्र विनियोगकल्पनेनैव मन्त्राकाङ्क्षाशान्तेः गौणार्थपर्यन्तमनुधावने प्रयोजनाभावात्। (तं. सि. र. द्विती. परि.)

आदि अन्य तृणों का निरास हो जाता है। उक्त विवेचन का तात्पर्य यह है कि 'समाख्या' से विनियोग का बोध विलम्ब से होता है, तदपेक्षया 'लिंग' से शीघ्र। अतः प्रकृत स्थल में **'बर्हिर्देवसदनं दामि'** यह मंत्र 'लिंग' प्रमाण से कुशलवन का अंग होगा, 'उलप' आदि तृणाविशेष के लवन का नहीं। इसी प्रकार किस मंत्र का किस प्रकार विनियोग करना चाहिए, यह अन्यत्र भी इसी प्रकार के लिंग-ज्ञान से निश्चित करना चाहिए।

इस के पूर्व 'लिंग' का लक्षण क्या है? और उसके योग से (तदनुसार) मंत्रों के विनियोग किस प्रकार निश्चित किये जाते हैं, यहाँ तक विस्तार से निरूपित किया गया है। अब यहाँ वाक्य, प्रकरण, स्थान और समाख्या आदि की अपेक्षा लिंग–प्रमाण अधिक प्रबल कैसे होता है? यह बताते हैं– 'लिंग' प्रमाण की प्रबलता को निरूपित करने के लिये यहाँ **प्रधानमल्लनिबर्हणन्याय** द्वारा-श्रुतिलिंगविरोध प्रसंग के अवसर पर निरूपितानुसार 'वाक्य' की अपेक्षा 'लिंग' प्रमाण अधिक प्रबल किस प्रकार है, बतलाना पर्याप्त है। जिससे प्रकरण, स्थान और समाख्या आदि की अपेक्षा 'लिंग' प्रमाण की प्रबलता अलग से बतलाने की आवश्यकता नहीं होगी। अतः 'वाक्य' की अपेक्षा 'लिंग' अधिक बलवान् है, इतना ही सिद्ध करके बतलाना आवश्यक है। तदर्थ **'स्योनं ते सदनं कृणोमि'** मंत्र को उदाहरण रूप में यहाँ ग्रहण किया गया है।

मीमांसासूत्र[१] में उक्त विषय की चर्चा की गई है। वह संपूर्ण मंत्र इस प्रकार है– **[स्योनं ते सदनं कृणोमि घृतस्य धारया सुशेवं कल्पयामि। तस्मिन्सीदामृते प्रतितिष्ठ व्रीहीणां मेध सुमनस्यामानः**[२] ।।] और इस मंत्र का अर्थ है– **[भोः पुरोडाश, तव समीचीनं स्थानं करोमि । तच्च स्थानं घृतस्य धारया सुष्ठ सेवितुं योग्यं कल्पयामि । भो व्रीहिसारभूत, त्वं समाहितमनस्कस्तस्मिन्समीचीने स्थाने उपविश । तत्र स्थिरोभव ।]** अर्थात्– हे पुरोडाश! मैं तुम्हारे लिये समीचीन सदन अर्थात् बैठने के स्थान का निर्माण कर रहा हूँ। वह स्थान घृत की धार से सुसेवनीय बनाता हूँ। हे व्रीहिसत्व से निर्मित पुरोडाश! उस सुस्थान पर सन्तुष्ट मन से बैठकर स्थिर हो।'' इस मंत्र के उत्तरार्ध में (उत्तरार्ध के प्रारम्भ में ही) 'तस्मिन्' पद का प्रयोग हुआ है। 'तस्मिन्' पद के कहने पर– कहाँ? यह आकांक्षा उत्पन्न होती है। अर्थात् 'तस्मिन्' पद सापेक्ष है। इससे मंत्र के पूर्वार्ध **'यत्समीचीनं स्थानं कल्पयामि तस्मिन्'**– की ओर संकेत होता है। अर्थात् आकांक्षा की पूर्ति के लिये उक्त पूर्वार्ध से अन्वय लगाना पड़ता है। तात्पर्य यह है कि 'तुम्हारे लिये मैं एक समीचीन स्थान तैयार कर रहा हूँ, और वह स्थान घृत-धारा से समीचीनरीत्या सेवन करने के लिये योग्य बनाता हूँ।'' इस प्रकार पूर्वार्ध में कथित वाक्यांश का उत्तरार्ध के वाक्यांश से एक वाक्यत्वेन संबन्ध जोडना आवश्यक है। क्योंकि मंत्र के पूर्वार्ध एवं उत्तरार्ध अलग-अलग न होकर मिलकर एक वाक्य समझा जाता है। उक्त विषय का प्रतिपादन मीमांसा सूत्र[३] के एकवाक्यत्व लक्षण से सम्बन्धित १४ वे

१. जै. सू. अ. ३, पा. ३, अधि. ८
२. आपस्तम्ब श्रौ. सू. प्र. २, प. ३, खं. १०
३. जै. सू. अ. २, पा. १, अधि. १४

अधिकरण में किया गया है। और वहाँ **'स्योनं ते सदनं कृणोमि घृतस्य धारया सुशेवं कल्पयामि तस्मिन्सीदामृते प्रतितिष्ठ व्रीहीणां मेघ सुमनस्यमानः'**– यह पूरा मंत्र मिलकर एक वाक्य है, ऐसा कहा गया है। इस प्रकार मंत्र का पूर्वार्ध और उत्तरार्ध दोनों ही भिन्न-भिन्न मंत्र न होकर, वे दोनों मिलकर एक वाक्य हैं, यह उपर्युक्त कारणों से सिद्ध होता है। किन्तु **'स्योनं ते सदनं कृणोमि'**– 'लिंग' से यह ज्ञात हो जाता है कि उक्त मंत्रांश पुरोडाश के **'स्थान करण'** के लिये है, और **'तस्मिनसीदामृते प्रतितिष्ठ'** 'लिंग' से यह मंत्रांश **पुरोडाश** के प्रतिष्ठापन का अंग है। किन्तु मंत्र के पूर्वार्ध और उत्तरार्ध मिलकर एक ही वाक्य है, यह पूर्व में सिद्ध हो जाने के कारण, संपूर्ण मंत्र पुरोडाश के स्थानकरण का अंग माना जाता है। और उस प्रकार **'सर्वेण अनेन मंत्रेण स्थानं कर्तव्यम्'**– इस प्रकार की एक मंत्र विनियोजन 'श्रुति' की कल्पना तथा उसी प्रकार यह पूर्ण मंत्र पुरोडाश की प्रतिष्ठापना का अंग है, यह स्वीकृत होने के कारण 'सर्वेण अनेन मंत्रेण पुरोडाशः स्थापनीयः' ऐसी भी एक मंत्र नियोजक 'श्रुति' कल्पित करनी होती है।

परन्तु उक्तरीत्या करने पर मंत्र के जिस उत्तरार्ध का स्थानकरण से कुछ भी सम्बन्ध नहीं है, उस उत्तरार्ध में स्थानकरण का सामर्थ्य है, यह स्वीकार करना पडेगा। और उस प्रकार किये बिना संपूर्ण मंत्र का स्थानकरण में विनियोग करना उचित नहीं होगा। उसी प्रकार मंत्र के पूर्वार्ध में पुरोडाश की स्थापना से कोई सम्बन्ध न होने पर भी पुरोडाश की स्थापना की प्रतिष्ठापना का सामर्थ्य उसमें निहित है, यह स्वीकार करना पडेगा, और उसके किये बिना संपूर्ण मंत्र का पुरोडाश की प्रतिष्ठापना में विनियोग करना योग्य नहीं होगा। तात्पर्य यह है कि **'सदनं कृणोमि'** एवं **'तस्मिन् सीद'** लिंगों से संपूर्ण मंत्र **'स्थानकरण'** एवं **'पुरोडाश स्थापन'** दोनों क्रियाओं में उपयुक्त होता है।

सारांश यह है कि 'वाक्य' प्रमाण की दृष्टि से चलने पर 'वाक्य' से 'श्रुति' तक जाने के लिए (१) **वाक्य** (२) **लिंग** और (३) **श्रुति** इन तीन व्यापारों की आवश्यकता होगी। और इसके स्थान पर **'स्योनं ते सदनं कृणोमि'** इस 'लिंग' से मंत्र का पूर्वार्ध मात्र को ही पुरोडाश के स्थानकरण का अंग मानने पर– (१) **लिंग** और (२) **श्रुति** रूप दो ही व्यापारों की आवश्यकता पड़ती है। अर्थात् एक व्यापार के कम होने पर 'श्रुति' को 'लिंग' प्रमाण अधिक निकट होता है और 'वाक्य' प्रमाण एक व्यापार से दूर पडता है। अतः संपूर्ण मंत्र पुरोडाश के सदनकरण का अंग होना चाहिए, यह जो वाक्य प्रमाणद्वारा निश्चित प्रतीत होता था, बाधित होकर मंत्र के पूर्वार्ध में **'सदनं कृणोमि'** रूप लिंग होने के कारण, केवल पूर्वार्ध ही सदनकरण का अंग होता है, यह 'लिंग' प्रमाण से यहाँ निश्चित किया जाता है। उपर्युक्त गर्भित अर्थ को स्पष्ट करते हुए **पं. चिन्नस्वामी** कहते हैं कि पूर्वार्द्ध के लिंग से 'सदनकरण' में तथा उत्तरार्द्ध के लिंग से 'पुरोडाशसादन' में मंत्र का विनियोग एक्यवाक्यता को भंग करके भी किया जाता है। क्योंकि 'लिंग' उक्तार्थ के प्रकाशक है[१] ॥३४॥

---

१. लिङ्गात्पूर्वार्द्धस्य सदनकरणे उत्तरार्द्धस्य सादने च विनियोगः क्रियत एकवाक्यतां भङ्क्त्वापि। तत्प्रकाशकत्वात्तयोः। (तं. सि. रं. द्विती. परि.)

(३५) वाक्यनिर्वचनम्

समभिव्याहारो वाक्यम्। समभिव्याहारश्च साध्यत्वादिवाचकद्वितीयाद्यभावेऽपि। वस्तुतः शेषशेषिवाचकपदयोः सहोच्चारणम्। यथा 'यस्य पर्णमयीजुहूर्भवति न स पापं श्लोकं शृणोति'। अत्र पर्णता जुह्वोः समभिव्याहारादेव पर्णताया जुह्वङ्गत्वम्।

नचानर्थक्यम्, अन्यथापि जुह्वाः सिद्धत्वादिति वाच्यम्। जुहूशब्देन तत्साध्यापूर्वलक्षणात्।। तथाच वाक्यार्थः। पर्णतयावत्तहविर्धारणद्वारा जुह्वपूर्वं भावयेदिति। एवं च पर्णतया यदि जुहूःक्रियते तदैव तत्साध्यमपूर्वं भवति नान्यथेति गम्यत इति न पर्णताया वैयर्थ्यम्। अवत्तहविर्धारणद्वारेति चावश्यं वक्तव्यम्।। अन्यथा स्रुवादिष्वपि पर्णतापत्तेः।

सेयं पर्णता अनारभ्याधीतापि सर्वप्रकृतिष्वेवान्वेति न विकृतिषु। तत्र चोदकेनापि तत्प्राप्तिसम्भवात्पौनरुक्त्यापत्तेः ।।३५।।

वाक्यं लक्षयति- *समभिव्याहार इति*। वाक्यमिति लक्ष्यनिर्देशः। समभिव्याहारशब्दं व्याचष्टे- *समभिव्याहारश्चेत्यादिना*। तत्रोदाहरणमाह- यथेत्यादिना। पर्णता-

---

अनुवाद–समभिव्याहार इति। *समभिव्याहार अर्थात् सहोच्चारण को 'वाक्य' कहते हैं। [समभिव्याहार को स्पष्ट करते है–] साध्यत्वादि वाचक द्वितीया आदि विभक्तियों का अभाव होने पर भी अंग एवं अंगी का बोध कराने वाले पदों के सहोच्चारण को वस्तुतः 'वाक्य' कहा जाता है। यथा–'यस्य पर्णमयी जुहूर्भवति न स पापं श्लोकं शृणोति' (जिस व्यक्ति की 'जुहू' पलाश काष्ठ निर्मित होती है वह अपना अपयश नहीं सुनता) इस वाक्य में 'पर्णता' और 'जुहू' का एक साथ उच्चारण है इस हेतु 'पर्णता' जुहू का अंग है।*

न चानर्थक्यमिति। *पर्ण (पलाश) के अतिरिक्त अन्यकाष्ठ से भी 'जुहू' का निर्माण हो सकता है, ऐसी स्थिति में पर्णता की व्यर्थता होगी ऐसा कहना भी समीचीन नहीं है। क्योंकि 'जूहू' शब्द से जुहू द्वारा उत्पन्न होने वाला अपूर्व समझना चाहिए अर्थात् 'जुहू' से साध्य 'अपूर्व' में लक्षणा है। तब* ***'पर्णमयी जुहूर्भवति'*** *वाक्य का अर्थ यह होगा कि 'अवत्त हविर्धारणद्वारा पलाशनिर्मित पात्र विशेष से जुहू साध्य अपूर्व का सम्पादन करे'। इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि जब पलाश से जुहू निर्मित होगी तभी उसके द्वारा साध्य 'अपूर्व' उत्पन्न होगा, अन्यथा नहीं। इस हेतु 'पर्णमयी' यह कहना व्यर्थ नहीं है। [यहाँ यह ध्यातव्य है कि] 'अवत्तहविर्धारणद्वारा' यह अर्थ करना ही उचित है, अन्यथा स्रुवा आदि अन्य यज्ञ पात्र भी पर्ण द्वारा निर्मित होने योग्य समझे जाने लगेंगे।*

सेयमिति। *उक्त पर्णता यद्यपि अनारभ्यविधि (सामान्यविधि) में अधीत है तथापि*

जुह्वोरिति शेषशेषिलक्षणयोरिति शेषः । ननु काष्ठान्तरेणैव जुह्वाः सिद्धत्वात्पर्णताया आनर्थक्यं स्यादित्याशङ्क्य परिहरति-नचेत्यादिना । नच वाच्यमित्यत्र हेतुमाह-जूहूशब्देनेत्यादिना । यदि जुहूः पर्णतयैव क्रियते तदैव जुह्वाऽपूर्वं जन्यते नान्यथेति भावः । फलितं वाक्यार्थमाह-*तथाचेत्यादिना ।* क्वचित्पुस्तकेवतेत्यतः प्रागिगितः परत्रैवं च पर्णतया यदि जुहूः क्रियते तदैव तत्साध्यमपूर्वं भवति नान्यथेति गम्यत इति न पर्णताया वैयर्थ्यमिति पाठः । अवद्यत इत्यवत्तम् अवत्तं अवते च तद्धविश्च तस्य धारणद्वारेत्यर्थः, अवत्तेत्यादेर्व्यावृत्तिमाह-*अन्यथेत्यादिना ।* अन्यथाऽवत्तेत्यादेरनुपादान इत्यर्थः । स्रुक् स्रुवादिभिराज्यहविर्धारणद्वारैवोपक्रियत इति भावः । ननु पर्णताया अनारभ्याधीतत्वादनारभ्यविधेश्च सामान्यविधित्वात्पर्णता सर्वेषु प्रकृतिविकृतियागेषु

इसका अन्वय समस्त प्रकृतियागों में होता है, विकृति यागों में नहीं। क्योंकि विकृति यागों में पर्णता की प्राप्ति 'प्रकृतिवद् विकृतिः कर्तव्या' इस अतिदेश वाक्य से ही हो जाती है। अतः विकृति याग में पर्णता का अन्वय करने पर पुनरूक्ति हो जाने का दोष होगा।।३५।।

।। अर्थमीमांसा ।।

श्रुत्यादि प्रमाणों का क्रमानुसार निर्वचन करने के पश्चात् अधुना ग्रंथकार 'वाक्य' प्रमाण का निरूपण प्रारम्भ कर रहे हैं। **'समभिव्याहारो वाक्यम्'** अर्थात् सहोच्चारण को 'वाक्य' कहा जाता है। (एकत्र-एकसाथ-उच्चारण किया जाना)। अग्रिम वाक्यों में **'समभिव्याहार'** के लिए प्रतिशब्द अथवा पर्याय के रूप में प्रयुक्त **'सहोच्चारण'** का भी अर्थ 'एकत्र और एकसाथ उच्चारण' ही है। सामान्य दृष्टि से देखने पर ज्ञात होता है कि कर्म, करण, संप्रदान, अपादान, अधिकरण आदि के वाचक द्वितीयादि विभक्तियाँ प्रायः प्रत्येक वाक्य में होती है। किन्तु उनके होने पर ही वाक्य होगा और उनके न होने पर वाक्य नहीं बनेगा, ऐसा यहाँ 'वाक्य' का तात्पर्यार्थ नहीं है। अतः द्वितीयादि विभक्ति के न होने पर भी वाक्यत्व उपपन्न हो सकता है। समभिव्याहार, अर्थात् सहोच्चारण होना चाहिए, उन एकाधिक शब्दों के सहोच्चारण में द्वितीयादि विभक्तियाँ प्रयुक्त हो या न हो। द्वितीयादि विभिक्तियाँ न होने पर भी उन सहोच्चरित शब्दों पर वाक्यत्व का लक्षण घटित हो सकता है।

मूल पाठ में **'यस्य पर्णमयी जुहूः'** वाक्य उदाहरण के रूप में प्रस्तुत किया गया है, यथार्थ में देखने पर ज्ञात होता है कि द्वितीयादि घटित वाक्य नहीं है। फिर भी उसमें **'पर्णमयी'** और **'जुहू'** (पर्णमयी जुहूः)- इन दो शब्दों का सहोच्चारण है, और इस सहोच्चारण से या समभिव्याहार से यह ज्ञात होता है कि इसमें 'पर्णता' **अंग** या शेष है और 'जुहू' **अंगी** या शेषी। अतः यहाँ द्वितीयादि विभक्ति के न होने पर भी केवल 'पर्णता' और 'जुहू' के समभिव्याहार से ही 'पर्णता' 'जुहू' का अंग है, निश्चित हो जाता है।[१]

---

१. अत्र हि न द्वितीयादि विभक्तिः श्रूयते, केवलं पर्णताजुह्वोः समभिव्याहारमात्रम् तस्मादेव च पर्णतायाः जुह्वङ्गत्वम्– आपदेवी

समन्वेत्वित्याशङ्क्याह- *सेयमित्यादिना*। **एवकारव्यावर्त्यमाह-न विकृतिष्विति । तत्रेति विकृतिष्वित्यर्थः । चोदकेनेति प्रकृतिवद्विकृतिः कर्तव्येति चोदकशब्दितातिदेशवाक्येने-त्यर्थः । तत्प्राप्तिसम्भवादिति । पर्णताप्राप्तिसम्भवादित्यर्थः । पौनरुक्त्यापत्तेरिति । प्रकृतौ वा द्विरुक्तत्वादिति न्यायविरोधेन पौनरुक्त्यरूपदोषापत्तेरित्यर्थः ।।३५।।**

'समभिव्याहारश्च साध्यत्वादिवाचकद्वितीयाद्यभावेऽपि'– ऐसा भी एक पाठभेद है, उसे ही दृष्टि में रखकर उपर्युक्त अर्थ का उल्लेख यहाँ किया गया है। किन्तु एक अन्य पाठ भी है, जिसमें 'अपि' पद लुप्त है, और **न्यायप्रकाश** में स्वीकृत उस पाठ को देखकर प्रस्तुत पुस्तक में उसे स्वीकार किया है, और यही पाठ उपयुक्त भी है। इस पाठ के विचारानुसार ही वाक्य का यह लक्षण– **'साध्यत्वादिवाचकद्वितीयाद्यभावे सति शेषशेषिवाचकपदयोः सहोच्चारणं वाक्यम्'** निष्पन्न होता है। किन्तु यहाँ एक प्रश्न उठता है कि आखिर ऐसा वाक्य का विलक्षण- लक्षण ही क्यों बनाया गया है? क्योंकि **शबरस्वामी** ने अपने भाष्य[१] में **'संहत्य अर्थमभिदधति पदानि वाक्यम्' 'एकार्थमनेकं पदं वाक्यम्'** एतादृश जिन वाक्यों के लक्षणों का उल्लेख किया है, उनमें द्वितीयादि विभक्तियों का अभाव होना चाहिए, ऐसी 'शर्त' (Condition) नियम या ऐसे कथन का उल्लेख कहीं नहीं है। और यदि देखा जाय तो सामान्यत: वाक्यों में द्वितीयादि विभक्तियों का सद्भाव होता ही है। ऐसा होने पर भी वाक्य के लक्षण को **'द्वितीयाद्यभावघटित'** क्यों कहा गया है? उक्त शंका का समाधान यह है कि यदि हम वाक्य के उक्त लक्षण को स्वीकार नहीं करते हैं तो **'ऐन्द्या गार्हपत्यमुपतिष्ठते'** या **'व्रीहीनवहन्ति'** जैसे द्वितीयादिविभक्तिघटित वाक्य भी विनियोजक 'वाक्य' प्रमाण के उदाहरण क्यों नहीं हो सकते? क्योंकि **'ऐन्द्या गार्हपत्यमुपतिष्ठते'** यह भी एक वाक्य है। यद्यपि यह एक वाक्य है, तथापि उसमें **'गार्हपत्यम्'** यह द्वितीयाश्रुति भी है। द्वितीया 'श्रुति' द्वारा ऐन्द्रीऋचाका गार्हपत्य उपस्थान में विनियोग कर देने के पश्चात् वाक्य प्रमाण से विनियोग करने के लिये शेष क्या रहता है? सारांश यह है कि जिन-जिन वाक्यों में द्वितीयादि विभक्ति के प्रयोग होंगे (जो-जो वाक्य द्वितीयादि विभक्ति के प्रयोगों से युक्त होगें) वे-वे वाक्य **'प्रधानेन व्यपदेशा भवन्ति'** न्यायानुसार उन-उन विभक्ति श्रुतियों के उदाहरण होंगे, यह निश्चित होने पर विनियोजक वाक्य के प्रमाण के लिये कौन सा विषय शेष रहेगा? अर्थात् ही द्वितीयादि विभक्ति (श्रुति) के प्रयोगों से शून्य वाक्य होने पर भी जो-जो वाक्य के लक्षण **'समभिव्याहारो वाक्यम्'** के अन्तर्गत समाविष्ट होंगे वे अविशिष्ट वाक्य ही विनियोजक 'वाक्य' प्रमाणों के उदाहरण बन सकेंगे। अर्थात् **'यस्य पर्णमयी जुहूः' अरूणया एकहायन्या गवा' 'स्वर्गकामो यजेत'** इत्यादि वाक्य विनियोजक वाक्य प्रमाणों के उदाहरण बन सकेंगे। इनमें द्वितीयादि विभक्ति न होने पर भी **शेष** और **शेषी** का सहोच्चारण होता ही है। अत: ध्यातव्य है कि ऐसे स्थानों पर ही केवल वाक्यीय विनियोग होता है।[२] पं. चिन्नस्वामी जी ने

---

१. शाबरभाष्य–३।३।१४

२. न्यायरत्नमाला-अंगनिर्णय, ६

'वाक्य प्रमाण' के लक्षण में प्रयुक्त 'समभिव्याहार' का अर्थ स्पष्ट करते हुए कहा है कि 'अङ्गत्वबोधक'श्रुति' से रहित अङ्गांगिभाव बोधक पदों का सहोच्चारण ही 'समभिव्याहार' है। [स चाऽङ्गत्वबोधकश्रुतिराहित्येनाऽङ्गाङ्गिभावयोग्यार्थ-बोधकपदयोरेकत्र सहोच्चारणम्।]

'यस्य पर्णमयी जुहूर्भवति न स पापं श्लोकं शृणोति'[1] इस मन्त्र में **'पर्णमयी'** एवं **'जुहूः'** इन दो पदों का साथ-साथ उच्चारण हुआ है, और ये दोनों पद **अंग** एवं **अंगी** के ज्ञापक हैं। पूर्वपद पर्णमयता-रूप अंग का ज्ञापक और परवर्ती 'जुहूः' पद अंगीभूत घृतपात्र का ज्ञापक है। उक्त मंत्र का अर्थ है– 'जिस व्यक्ति की जुहू पर्ण (पलाश) की निर्मित होती है, वह पापश्लोक (अपकीर्ति-निन्दा) को नहीं सुनता है। अर्थात् उसकी कीर्ति–(अनिंद्यनीय) अच्छी होती है। **'पर्णमयी'**– का अर्थ **शबरस्वामीने**[2] भाष्य में 'पलाश की लकड़ी से निर्मित' किया है– **['तत्र संदेहः,किं खादिरता स्रुवे, पालाशता जुह्वां, प्रकृतौ निविशते, उत प्रकृतौ विकृतौ च इति]** इसके अतिरिक्त कोश में भी पर्ण का अर्थ 'पलाश' कहा गया है– **'पलाशः किंशुकः पर्णोयज्ञियो रक्तपुष्पकः'**। एवञ्च **'यस्य पर्णमयी जुहूः'** वचन में याग में प्रयुक्त होनेवाली जुहू सदा 'पर्ण' की अर्थात् पलाशनिर्मित होनी चाहिए, कहा गया है ['अव्यभिचरितक्रतुसंबंधवतीं जुहूमाश्रित्य तद्हेतुः पर्णवृक्षो वाक्येन विधीयते– 'या जुहूः सा पर्णमयी' इति।][3]

उपर्युक्त विवेचन में 'जुहू'[4] पलाशवृक्ष की लकडी से निर्मित (पर्णनिर्मित) होनी चाहिये, कहा गया है, किन्तु **पूर्वपक्षी** की दृष्टि में 'जुहू' के पर्णनिर्मित होने में किंचित् भी सार्थकता नहीं है (**आनर्थक्यम्**)। क्योंकि– 'उसका निर्माण किसी अन्य काष्ठ से भी हो सकता है। पूर्वपक्षी के इस कथन का **खण्डन** करता हुआ **सिद्धान्ती** कहता है कि ऐसा नहीं कहना चाहिए। यद्यपि आपकी यह शंका (आपका यह कथन) लौकिक दृष्टि से से यथार्थ है, और केवल लौकिक दृष्टि से ही देखने पर **'जुहू'** अन्य किसी भी लकडी से निर्मित हो सकती है अतः उसका पर्णमयीत्व निष्फल होगा, यह भी यथार्थ है, किन्तु यह केवल लौकिक दृष्टिका ही विचार नहीं है, अपितु यह शास्त्रीय दृष्टि का विचार है, और उस दृष्टि से देखने पर- किसी **'अपूर्व'** की उत्पत्ति-सिद्धि'के लिये ही **'जुहू'** का पर्णमयीत्व होना कहा गया है। अर्थात् 'जुहू' यदि पलाश-वृक्ष की लकडी से बनी होगी तो ही उससे 'अपूर्व' उत्पन्न होगा अन्यथा नहीं, अतः 'जुहू' की निर्मिति पलाश की लकडी से ही होनी चाहिए, यह निश्चित

---

१. तै. सं. कां. ३, प्र. ५, अनु. ८

२. शाबरभाष्य– अ. ३, पा. ६, सू. १

३. जैमिनीयन्यायमाला– ३।६।१

४. 'जुहू' शब्द के दो अर्थ होते हैं– 'जुहू'- घी रखने का एक पात्र विशेष होता है। यह पात्र पलाश की लकडी से बनाया जाता है। 'जुहू' शब्द का 'पात्र विशेष' रूप यह अर्थ रूढ है। हवनार्थ प्रयुक्त होनेवाला कोई पात्र– 'हूयसे अनया इति जुहू': इस व्युत्पत्ति के अनुसार 'जुहू' शब्द का यौगिक अर्थ 'यज्ञोपयोगी पात्र' हो सकता है। इस प्रकार स्रुवादिक अन्यपात्र जुहू कहे जा सकते है।

होता है। क्योंकि 'जुहू' शब्द का लाक्षणिक अर्थ– पर्ण से निर्मित-बनी हुई जुहू (तत् पर्णमयी जुहू) से सिद्ध होनवाला 'अपूर्व' इतना है (जुहूशब्देन तत्साध्यापूर्वलक्षणात्)। और इसलिए उक्त दृष्ट्या देखने पर **'पर्णमयी जुहूः'** वाक्य का अर्थ होता है- ['पर्णतया अवत्तहविर्धारणद्वारा जुह्वपूर्वं भावयेत्]। यज्ञनिमित्त तैयार किये हुए सम्पूर्ण हविर्भाग का अंश-अंश के रूप में विभाग करके ग्रहण किये हुए हविर्भाग (अवत्तहविः अव-दो-खण्डने-कर्मणि-क्तः) को धारण करने के लिये क्रतु में 'जुहू' का उपयोग किया जाता है। तात्पर्यार्थ यह है कि अवत्तहविर्धारण द्वारा पर्णता के योग से 'जुहू' से उत्पन्न होनेवाले अपूर्व को साधना चाहिये।

संक्षेप में सिद्धान्ती कहता है कि जहाँ कहीं भी **'जुहू'** का प्रसंग प्राप्त हो उसे 'पर्ण' निर्मित 'जुहू' ही समझना चाहिये, क्योंकि पर्णनिर्मित जुहू से ही शास्त्रवर्णित फलसाधनभूत अपूर्व की उत्पत्ति होती है– अन्यथा नही। अतः 'जुहू' शब्द 'पर्णनिर्मित जूहू से साध्य अपूर्व' की ओर संकेत करता है। इसलिए 'जुहू' के पर्णनिर्मित होने में ही सार्थकता है।

उपर्युक्त विवेचन में सामान्यतः 'यस्य पर्णमयी जुहूः' इस वाक्य का अर्थ 'पर्णतया अवत्तहविर्धारण द्वारा जुह्वपूर्वं भावयेत्'– होता है, कहा गया है। इस अर्थ की निष्पन्नता की प्रक्रिया के विषय में टीकाकार ने विशद विवेचन किया है।[१]

उपर्युक्त अर्थ का विवेचन करने के पश्चात् यहाँ 'जुहू' की यज्ञ में उपयोगिता के सम्बन्ध में **प्रश्न** उत्पन्न होता है- अर्थात् यज्ञ में 'जुहू' किसलिये आवश्यक है? उसका प्रयोजन क्या है? उसकी क्या उपयोगिता है? इस प्रश्न का उत्तर यह है कि– यज्ञ की अग्नि में प्रक्षेप करने तक-हविर्भाग को धारण करने के लिये 'जुहू' की आवश्यकता होती है। अब प्रश्न यहाँ यह भी हो सकता है कि विधिवचनानुसार यदि हविर्धारण करने के लिये 'जुहू' का पर्णमयी होना आवश्यक है तो क्या यज्ञ में प्रयुक्त होने वाले स्रुवादिक-पात्र भी-हविर्धारण करने के कारण, पर्ण-पलाश-निर्मित होने चाहिये? प्रकृत शंका के निवारण हेतु 'अवत्तहविर्धारण-द्वारा' अर्थ करना आवश्यक होगा अन्यथा स्रुवादिक अन्य यज्ञीय पात्रों पर अतिव्याप्ति होगी– अर्थात् स्रुवादिक अन्य यज्ञ-पात्र भी पर्ण-निर्मित होने चाहिए, माने जायेंगे। इस अतिव्याप्ति दोष का निवारण करने के लिये ही 'अवत्त' विशेषण को हविर्धारण के पूर्व प्रयुक्त किया गया है, इसके अतिरिक्त–

'वैकङ्कती ध्रुवा प्रोक्ता आश्वत्थी चोपभृन्मता ।
जुहूः पलाशकाष्ठस्य खादिरस्य स्रुवो मतः ।।''[२]

---

१. 'यद्यपि पर्णमयी जुहूर्भवतीतिवाक्ये जुहूपदस्य जुह्वपूर्वलक्षणायां पर्णमयत्वान्वयानुपपत्तिस्तथापि पर्णता-जुह्वोः सहोच्चारणबलेन 'पर्णतया जुहूं कुर्यादिति यत् श्रुतिवाक्यं कल्पनीयं तत्रैव जुहूपदे जुह्वपूर्वं नाम जुहूकरणकहोमसाध्यापूर्वं लक्षणया स्वीकर्तव्यम् । तेन पर्णतया जुह्वपूर्वं (नाम जुहूकरणकहोमसाध्यापूर्वं) भावयेत्' इति वाक्यार्थोऽवसितो भवति ।''

२. 'स्रुवा' खदिर (खैर) की लकडी से, 'उपभृत'-पीपल की लकडी से और 'ध्रुवा' विकङ्कत (विकङ्कट) की लकडी से निर्मित होते हैं।

इस वचन से भी स्रुवादिक पात्रों की निर्मिति भिन्न-भिन्न काष्ठों से करने का निर्देश होने से उनमें पर्णमयत्व की प्राप्ति नहीं हो सकती, यह स्पष्ट है।

अधुना उक्त 'अवत्त' विशेषण की चर्चा प्रासंगिक होने से यह स्पष्ट रूप से समझना आवश्यक है कि– **'यस्य पर्णमयी जुहूर्भवति**.......' इत्यादि विधिवाक्य का अर्थ ग्रन्थकारने इन शब्दों में माना है– 'पर्णतया अवत्तहविर्धारणद्वारा जुह्वपूर्वं भावयेत्'। और उक्त वाच्यार्थ में 'अवत्तहविर्धारणद्वारा' इत्यादि अंश का प्रयोग अवश्य किया जाना चाहिये, कहा है, नहीं तो **'पर्णमयी जुहूः'** वाक्य से **'स्रुवा'** आदि अन्य यज्ञीय- पात्रों को भी पलाश की लकड़ी से बनाने का प्रसंग उपस्थित होगा, क्योंकि क्रतु में स्रुक्स्रुवादिक जो अन्य पात्र (चमचे के आकार के) होते हैं, उनका केवल आज्यादिक द्रव द्रव्य से अवदान लेने के लिये ('स्रुवेणावद्यति' इत्यादि वाक्य में निर्दिष्टानुसार) क्रतु में उपयोग किया जाता है। 'स्रुवा' का कार्य केवल हवि को अवत्त (खण्डित, छेदित, विभक्त) करना होता है। और 'जुहू' अवत्त किये हुए हवि को धारण करता है। 'स्रुवा' और 'जुहू' में यही अन्तर है। अतः ग्रन्थकार का अभिप्राय उस पात्र विशेष 'जुहू' का पर्ण निर्मित होने से है जो अवत्तहविर्धारणद्वारा क्रतु में उपयुक्त होता है। और इसीलिये **'पर्णमयी जुहूः'** का **'पर्णतया अवत्तह्वविर्धारणद्वारा जुह्वपूर्वं भावयेत्'** अर्थ करते समय **'अवत्तहविर्धारणद्वारा'** इन शब्दों को विशेष रूप से प्रयुक्त किया गया है। और इस प्रकार करने से स्रुवादिक अन्य यज्ञीय पात्र **'पर्णता' की अतिव्याप्ति** दोष से मुक्त हो जाते हैं। 'स्रुवा' और 'जुहू' के स्वरूप और कार्य के विषय में जो भेद प्रदर्शित किया गया है उसका स्पष्टीकरण **'मीमांसापरिभाषा'** में स्पष्टरूप से देखा जा सकता है।[१]

'सेयं पर्णता............पौनरुक्त्यापत्तेः' इस वाक्य में ग्रन्थकार के द्वारा प्रयुक्त पारिभाषिक शब्दों का अर्थ यहाँ समझलेना आवश्यक है। ये शब्द हैं– 'अनारभ्याधीत' 'प्रकृति' 'विकृति' एवं 'चोदक'। इनका स्वरूप का ज्ञान होने से उत्तरवर्ती ग्रंथ को समझना सरल हो सकता है।

(१) अनारभ्यविधि– उक्त विधि को समझने के पूर्व **आरभ्य विधि** को समझते हैं– किसी याग विशेष के विवरण को आरम्भ करके उसी प्रकरण में याग के लिये अपेक्षित विधि-वाक्यों को **आरभ्यविधि** अथवा आरभ्याधीत कहा जाता है। अर्थात् प्रकरण विशेष के सन्दर्भ में पठित वाक्य 'आरभ्य अधीत (विधि) होते हैं, इस विधि को विशेषविधि भी कह सकते हैं। क्योंकि यागविशेष की प्रक्रिया के विवेचन को प्रारम्भ करके उस याग विशेष के प्रसङ्ग में ही यह विधि प्रवृत्त होता है। और आरम्भ किये हुए प्रकरण में जो कथित नहीं होता है, अर्थात् उस प्रकरण को छोड़कर, अन्य किसी विधान का बीच में ही कथन होता है, उसे **'अनारभ्य अधीत'** कहा जाता है[२]। अर्थात् वह विधि जो किसी याग विशेष के आरम्भ किये हुए प्रकरण में बिना किसी प्रसङ्ग के या सभी यज्ञों में समानरूप से प्रवृत्त होनेवाला विधि वर्णित होता

१. 'स्रुवेणावद्यतीत्यवदानसामान्यशेषत्वावगमेऽपि स्रुवस्य सामर्थ्यरूपाल्लिङ्गादाज्यसांनाय्यादिद्रवस्यावदानविशेषाङ्गत्वम्। स्रुवेण पुरोडाशाद्यवदानस्य कर्तुमशक्यत्वात्']

२. जै. सू. अ. ३, पा. ४, सू. २०

है, **'अनारभ्यविधि'** या **'सामान्यविधि'** कहलाता है।[१] उदाहरणार्थ–

'यस्य पर्णमयी जुहूर्भवति न स पापं श्लोकं शृणोति' इस विधि का पाठ किसी याग विशेष (दर्सपूर्णमासादि) के प्रसङ्ग में नहीं आया है, अतः यह विधि 'अनारभ्य-विधि' या 'सामान्य विधि' के अन्तर्गत आता है।

प्रकृति– वेद में **'अग्न्याधान,' 'सायंप्रातरग्निहोत्रहोम' 'दर्शपूर्णमास' 'चातुर्मास्य'**– इत्यादि अनेक यागों का वर्णन किया गया है और साथ ही उन यागों का सम्पादन किस प्रकार करना चाहिए, तत्सम्बन्धित विधानों का विवरण उन-उन यागों के प्रकरण-प्रसङ्गों में दिया गया है। वेद में इस प्रक्रिया को कहने की जिस शैली को अपनाया गया है, उस दृष्टि से याग को **प्रकृति** और **विकृति** जैसे दो भागों में विभक्त किया गया है। तदनुसार 'प्रकृति' में याग का सम्पादन किस प्रकार करना चाहिए? अर्थात् तत्सम्बन्धित समस्त अंगों का वर्णन यथास्थान वर्णित रहता है। अर्थात् **'प्रकृति'** ऐसे यागों का नाम है, जिनकी अङ्गों सहित सम्पूर्ण सम्पादन प्रक्रिया वर्णित हुई हो। विधि के सम्पादन के लिये किसी अन्य स्थल से किसी विधान को ग्रहण न करना पडे। ऐसे यागों का विधि-विधान स्वयं में पूर्ण रहता है। **'दर्श'** याग एवं **'पूर्णमास'** याग 'प्रकृति' याग कहे जाते हैं। क्योंकि इन यागों के प्रकरण में इनका सम्पूर्ण विवरण उपलब्ध होता है। तात्पर्य यह है कि ये याग किसी भी अङ्गविधान के लिये किसी अन्य विधि पर आश्रित नहीं रहते हैं।

विकृति– ऐसे यागों का नाम है, जिनमें विकृति से सम्बन्धित समस्त अंगों का विवेचन नहीं होता है। अर्थात् प्रकरण स्वतः पूर्ण नहीं होता है। इनमें जितने नवीन और विशेष भाग होते हैं, केवल उनका ही विवेचन किया हुआ होता है। अर्थात् इन यागों के प्रकरण में अनुष्ठेय समस्त अंगों का पाठ नही मिलता है, अतः अनुष्ठान के सम्पादन में इन्हें अन्य प्रकृति-यागों पर आश्रित रहना पड़ता है। तात्पर्य यह है कि जिनका पाठ इनमें नहीं होता है, वे प्रकृति-यागोक्त पाठानुसार विकृति याग में करना चाहिए, निर्दिष्ट होता है। **'प्रकृतिवद् विकृतिः कर्तव्या'** अर्थात् प्रकृति के समान ही 'विकृति' याग का सम्पादन करना चाहिये। दूसरे शब्दों में कहा जा सकता है– जिन यागों पर ये विकृति-याग निर्भर रहते हैं, उन्हें इनका 'प्रकृति याग' कहा जाता है, और जिन अङ्गों को ये (विकृतियाग) प्रकृति-याग-विधान से प्राप्त करते हैं, उन अङ्गों को **'चोदक प्राप्त'** या **'अतिदेशप्राप्त'** कहा जाता है। संक्षेप में प्रकृति याग में– क्या और किस प्रकार करना चाहिए– इस विधान को बतलाने वाले **वाक्यों को** 'प्रकृतिवाक्य' कहा जाता है, और प्रकृति में पठित पाठानुसार विकृति में करना चाहिये, इस निर्देश को बतलाने वाले वाक्यों को **'चोदक वाक्य'** कहा जाता है, और इन्हें ही 'अतिदेश' कहा जाता है– **जैमिनीय न्यायमाला** में **'उपदेश'** और **'अतिदेश'** के सम्बन्ध

---

१. 'किञ्चित्प्रकरणमारभ्याधीतं वाक्यमारभ्याधीतम्; प्रकरणसम्बन्धेन विना तथैवाधीतं वाक्यमनारभ्याधीतम् ।'
अर्थात् प्रकरण विशेष के सन्दर्भ में पठित वाक्य 'आरभ्यअधीत' होता है और इसके विपरीत अन्य 'अनारभ्य विधि'।

में वर्णित विवेचन प्रकृत प्रसंग में उपयोगी है।[1]

चोदक– चोदक पद का अर्थ है– **'चोदकं वाक्यं चोदको ग्रन्थो वा'**। अर्थात् 'प्रेरक' या 'विधायक'। दर्शपूर्णमासादिक प्रकृति यागों में तत्-तत् सम्बन्धित यज्ञीय-धर्मों का वर्णन विस्तृतरूप में पठित होता है, परन्तु **सौर्य, श्येन, ऐन्द्राग्न** इत्यादि विकृति यागों को अनुष्ठेय धर्मों की आकांक्षा होती है, इनमें उनके धर्मों का विवेचन किया हुआ नहीं होता है। अत: अनुष्ठान के अवसर पर प्रश्न उठना स्वाभाविक है कि वैकृतयागों के धर्म हैं या नहीं? यदि हैं, तो वे कौन से हैं? और उन धर्मों का अनुष्ठान कैसे हो? ऐसे अवसर पर **'प्रकृतिवद् विकृतिः कर्तव्या'** वाक्य 'विकृति' को 'प्रकृति' के समान सम्पादित करने की प्रेरणा देता है। यही चोदक वाक्य है, और इसे ही अतिदेश वाक्य भी कहा जाता है। इस प्रकार इन चोदक वाक्यों के द्वारा विकृति की आकांक्षा परिपूर्ण की जाती है।

इनके शास्त्रीय परिभाषा में वर्णित लक्षणों को आगे प्रस्तुत किया जांयगा। यहाँ तो केवल इतना ही समझलेना है कि अनारभ्याधीत वाक्यों का प्रकृति-वाक्यों और विकृति-वाक्यों से किस प्रकार सम्बन्ध घटित होता है। 'दर्शपूर्णमास' जैसे किसी प्रकृति-याग का प्रसंग प्रारम्भ होने पर उस प्रकरण में तत्सम्बन्धित जिन विधियों का निरूपण किया होगा, उनका प्रकृति-याग से अन्वय स्थापित होना तो उचित ही है और उन विधियों का अतिदेश के द्वारा विकृति में भी **'प्रकृतिवद् विकृतिः कर्तव्या'** के अनुसार, प्राप्त होना, आदि सभी विधान उक्त वर्णित विवेचनानुसार सहज बोधगम्य हैं।

६टवें पाद में **'यस्य पर्णमयी जुहूः'**[2] इस मंत्र से सम्बन्धित प्रथम अधिकरण है। यह एक अनारभ्याधीत मंत्र है, अर्थात् यह मंत्र दर्शपूर्णमासादिक किसी भी याग के प्रकरण में पठित न होकर स्वतन्त्र रूप से आया है। अत: इस मंत्र में पर्णमयी जुहू होनी चाहिए,– यह जो विधि है, उसका अन्वय कहाँ करना चाहिए,? ऐसा **प्रश्न** उत्पन्न होने पर 'जुहू' प्रकृति याग में और विकृति याग मे (दोनों ही यागों में) प्रयुक्त होने के कारण, इन दोनों ही प्रकार के यागों में पर्णमयी 'जुहू,' होनी चाहिए– इस रूप में विधि का अन्वय करना स्वाभाविकरूप से प्राप्त होता है। किन्तु (पूर्वपक्ष की दृष्टि से) ऐसा होने पर, यह सिद्धान्त निश्चित किया गया है कि– उस विधि का केवल प्रकृतियाग में ही अन्वय होना चाहिए, विकृति याग में नहीं, क्योंकि विकृति याग में 'जुहू' पर्णमयी होनी चाहिए या अन्य प्रकार की यह प्रश्न बाद का है, किन्तु यहाँ विचारणीय **प्रश्न** यह है कि जुहू का प्रवेश विकृति में कहाँ से होता है? उसका

---

१. 'यत्रापेक्षितस्यार्थजातस्य प्रतिपादको ग्रन्थसन्दर्भ: पठ्यते, स उपदेश:। अतिदेशस्तु पूर्वाचार्यैरेवं दर्शित:–

अन्यत्रैव प्रणीताया: कृतस्नाया: धर्मसंतते: ।
अन्यत्र कार्यत: प्राप्तिरतिदेशोऽभिधीयते ।। इति ।
प्राकृतात्कर्मणो यस्मात्तत्समानेषु कर्मसु ।
धर्मोपदेशो येन स्यात्सोऽतिदेश इति स्मृत: ।। इति च

२. जै. सू. अ. ३, पा. ४,५,६

(३६) प्रकृतिविकृतिलक्षणम्

यत्र समग्राङ्गोपदेशः सा प्रकृतिः । यथा दर्शपूर्णमासादिः । तत्प्रकरणे सर्वाङ्गपाठात् । यत्र न सर्वाङ्गोपदेशःसा विकृतिः । यथा सौर्य्यादिः । तत्र कतिपयाङ्गानामतिदेशेन प्राप्तत्वात् । अनारभ्यविधिः सामान्यविधिः ।।३६।।

केयं प्रकृतिर्विकृतिश्चेत्याकाङ्क्षायां तल्लक्षणमाह- *यत्रेत्यादिना*- *अतिदेशेनेति*। उक्तचोदकशब्दितातिदेशवाक्येनेत्यर्थः । किञ्च यत्र चोदकेनाङ्गाप्राप्तिस्तत्रानारभ्याधीता-

---

उत्तर यह है कि प्रकृति में जो जुहू हविर्धारण के आश्रयत्व से निरूपित (विहित) की है वह चोदक वाक्य के द्वारा प्रकृति से विकृति में प्राप्त होती है।[१]

जब ऐसा है तो जुहू के साथ ही 'जुहू' का पर्णमयीत्व भी अतिदेश से विकृति में प्राप्त हो सकता है। और 'जुहू' का पर्णमयीत्व चोदक द्वारा विकृति में प्राप्त होनें पर भी वहाँ यदि अनारभ्याधीत विधि के द्वारा पुन: प्राप्त होगा तों, उस पर पुनरूक्तता का दोष आयगा- संक्षेप में इसे इस प्रकार समझा जा सकता है- **'यस्य पर्णमयी जुहूर्भवति'** यह विधि अनारभ्य विधि है और मंत्र में पठित **'पर्णमयी'** अनारभ्याधीत है। इस विधि का उपयोग प्रकृति-यागों में करने का विधान निरूपित है। विकृति यागों में नहीं। क्योंकि विकृति यागों में उसकी प्राप्ति-'प्रकृति के समान विकृति करनी चाहिये (प्रकृतिवद् विकृतिः कर्तव्या')- इस चोदक वाक्य के द्वारा हो जाती है। अत: यहाँ पुन: विकृति यागों में उसका विधान स्वीकार करने पर-दो बार विधान हो जाने पर, पुनरुक्ति नामक दोष की आपत्ति उत्पन्न होगी। अत: अनारभ्याधीत विधि से विहित जो पर्णता है, उसका प्रकृति याग में ही अन्वय करना चाहिए, विकृति याग में नही; यही योग्य है[२]।।३५।।

अनुवाद- यत्र समग्रेति । *जहाँ समस्त अंगों का उपदेश हो उसे **'प्रकृति'** कहते है। जैसे- दर्शपूर्णमास याग के प्रकरण में याग सम्बन्धित समस्त अंगों का पाठ प्राप्त होता है। जहाँ समस्त अंगों का उपदेश न हों उसे **'विकृति'** कहते हैं। जैसे- सौर्यादि याग। इस याग में कई अंगों की प्राप्ति अतिदेश से होती है। अनारभ्यविधि को ही सामान्य विधि कहते हैं।।३६।।*

।। अर्थमीमांसा ।।

यहाँ ग्रन्थकार ने प्रकृति का लक्षण इस प्रकार दिया है कि- 'यत्र समग्राङ्गोपदेशः सा प्रकृतिः'- अर्थात् जिस याग के समस्त अङ्गों का उपदेश किया गया हो, उसे 'प्रकृति याग'

---

१. पर्णवाक्यात्पर्णताया यावत्क्रतुप्रवेशे जुहूर्द्वारम्। सा च जुहूः प्रकृतावेव विहिता विकृतिषु सर्वत्रातिदिश्यते। जै. न्या. मा.

२. एतेषाञ्च पर्णतादीनामनारभ्याधीतानां प्रकृतिमात्रगामित्वम्, न तु विकृतिगामिता। विकृतावपि गमने द्विरूक्ततापत्तेः। (तं. सिं. र. द्विती. परि.)

नां सन्निवेशः दर्शपूर्णमासयोरपि चोदकप्रमाणेनाङ्गानामप्राप्तेः प्रकरणपठितैरेवाङ्गैर्नैरा- काङ्क्ष्यात्। तत्र पर्णतायाः सन्निवेशो न्याय्य एव। गृहमेधीययागाद्यद्यपि कुत्रापि विकृतौ नाङ्गानामतिदेशेन प्राप्तिः तथापि तस्य क्लृप्तोपकारैराज्यभागादिभिरैव नैराकाङ्क्ष्येण तत्रापि चोदकाङ्गाप्राप्तेः सत्त्वात्तत्रापि पर्णतासन्निवेशो भवत्येव। किञ्च योऽनारभ्यविधिः स सामान्यविधिरित्युच्यते। सामान्यविधेश्चास्पृष्टत्वात्तस्य विशेषेणोपसंहारो भवति तथाचोक्तं 'सामान्यविधिरस्पृष्टः संह्रियेत विशेषत' इति। तथाच सामिधेन्यृचा साप्तदश्यस्यानारभ्याधीतत्वेऽपि न प्रकृतिषु गमनं तस्य प्रकृतियागानां सामिधेन्यृच्यां च दश्यावरोधात्। नापि विकृतिमात्रे तद्गमनं तत्र चोदकप्राप्तायां च दश्यबाधप्रसङ्गात्। किन्तु प्रत्यक्षश्रुतसाप्तदश्यासु मित्रविन्दादिष्वेव विकृतिषु तस्य साप्तदश्यस्य गमनं भवति तथाचोक्तम्। 'एवं च प्रकृतावेतत्पाञ्चदश्यम्प्रतिष्ठितं विकृतौ च न यत्रास्ति साप्तदश्यं पुनः श्रुतिरिति'। नच वाक्यवैयर्थ्यमनारभ्याधीतस्यैव साप्तदश्यस्य मित्रविन्दादिप्रकरणस्थवाक्येनोपसंहारात्। उपसंहारश्च नामसामान्यप्राप्त-

---

कहते हैं। उदाहरण के लिए **'दर्शपूर्णमासादि'** प्रकृति याग हैं, क्योंकि दर्शपूर्णमासादि के प्रकरण में उनके समस्त अंगों अर्थात्-धर्मों का पाठ प्राप्त होता है। उनकी कर्तव्यता के सम्बन्ध में किसी भी प्रकार की आकांक्षा शेष नहीं रहती। इसके विपरीत जिस याग के विषय में समस्त अंगों का पाठ प्राप्त नहीं होता है, उसे 'विकृति याग' कहा जाता है। उदाहरण के लिए– **सौर्य, श्येन, ऐन्द्राग्र** इत्यादि याग विकृतियाग हैं। इन यागों के प्रकरण में उन यागों के लिए अपेक्षित सभी अंगों का उपदेश किया हुआ नही है, अत: उन अंगों को किस प्रकार सिद्ध किया जाय? एतदर्थ आकांक्षा उत्पन्न होती है, और उस आकांक्षा की पूर्ति के लिये प्रकृति याग के अंगों का विकृति-याग में अतिदेश द्वारा प्रवेश कराना पड़ता है, अत: ऐसे यागों को विकृति-याग की संज्ञा दी गई है। अर्थात् उक्त यागों के लिए अपेक्षित अंगों की प्राप्ति प्रकृतियाग से अतिदेश द्वारा होती है। प्रकृति-विकृति के पार्थक्य सम्बन्ध में कपर्दिस्वामी द्वारा प्रदत्त विश्लेषणात्मक विवरण प्रकृत प्रसंग में पठनीय हैं।[१]

उपर्युक्त विवरण में प्रकृति और विकृति यागों के जिन दो भेदों का विवेचन किया गया है, उन दोनों के ही सम्बन्धित वाक्य तत्-तत् प्रकरणों में पठित होते हैं, किन्तु अनारभ्याधीत

---

१. येषां प्रधानानां श्रुत्याद्यवगतशेषत्वैः पदार्थैः कल्पितः उपकारः कथमंशपूरकस्ताः प्रकृतयः। ततश्च विकृतयः कथमंशपूरकमुपकारं गृह्णीयुः। विकृत्यपेक्षं हि– प्रकृतित्वम्। येषां चाविहितेतिकर्तव्यतानामन्यत्र विहितेनोपकारेण कथमंशः पूर्यते ता विकृतयः। विकृतिष्वपि यासां स्वप्रकरणसमाम्नानावगतशेषत्वैः पदार्थैः कल्पितोपकारेण सहातिदेशप्राप्तप्राकृतोपकारस्य साकाङ्क्षत्वं कल्पयित्वैकत्वमापद्य तेनैवोपकारेण कथमंशः पूर्यते ता विकृतयोऽप्यात्मीयसदृश- चोदनाविहितकर्मभ्यस्तमात्मीयमुपकारं प्रयच्छन्ति। अन्यापेक्षया ताः प्रकृतयः। एवं च काश्चित्प्रकृतय एवाग्निहोत्रदर्शपूर्णमासज्योतिष्टोमाः। काश्चिद्विकृतयः प्रकृतयश्च। यथा वैश्वदेवाग्नीषोमीय- पशुप्रमथनिकाय्यग्यद्वादशाहादयः। काश्चिद्विकृतय एव यथा कुण्डपायिनामयनेऽग्निहोत्रसौर्यवा- यव्यपशूद्भित्पौण्डरीकादयः।' आपस्तम्ब सूत्र - ३१

(३७) वाक्यं प्रकरणादिभ्यो बलवत्

तदिदं वाक्यं प्रकरणादिभ्यो बलवत्। अत एवेन्द्राग्नी इदं हविरित्यादेरेकवाक्यत्वाद्दर्शाङ्गत्वं न तु प्रकरणात् दर्शपूर्ण-मासाङ्गत्वम् ।।३७।।

स्य विशेषे नियमनं ततश्च साप्तदश्यस्यानारभ्यविधिः सामान्यविधिः। मित्रविन्दादि-प्रकरणस्थाश्चविशेषविधिरिति सर्वमभिप्रेत्याह–अनारभ्य विधिः *सामान्यविधि-रिति* ।।३६।।

किञ्च तद्धिवाक्यं प्रकरणाद्बलीयो भवति स्थानादितस्तु सुतरां तस्य प्रकरणादपि दुर्बलत्वात् वाक्यस्य प्रकरणादिभ्यो बलवत्त्वादेवेन्द्राग्नी इदं हविरित्यादि मन्त्रस्य दर्शैकवाक्यत्वाद्दर्शाङ्गत्वं न तु दर्शपूर्णमासप्रकरणाद्दर्शपूर्णमासोभयाङ्गत्वमित्याह-*तदिदमित्यादिना*। अत्र चेदं बोध्यम्। अग्नीषोमाविदं हविरजुषेतामवीवृधेतां महोज्याया-योक्राताम् इन्द्राग्नी इदं हविरजुषेतामवीवृधेतां महोज्यायोक्रातामिति सूक्तवाके श्रूयते।

नाम के जो विधि हैं, वे किसी भी प्रकरण के सम्बन्ध में पठित न होकर उनका स्वतन्त्ररूप से विधान किया रहता है। अतः ऐसे अनारभ्याधीत विधियों को 'सामान्य विधि' के रूप में माना जाता है। यद्यपि– अनारभ्याधीत विधि को सामान्य विधि कहा जाता है, तथापि 'यस्य पर्णमयी जुहूः' का वह सामान्य विधि केवल सभी प्रकृति यागों में ही पठित-प्रविष्ट हो सकता है विकृति याग में प्रविष्ट नहीं हो सकता।।३६।।

***अनुवाद– तदिदमिति*। पूर्व विवेचित वह 'वाक्य' प्रमाण 'प्रकरण' आदि से बलवान् होता है। अतएव *'इन्द्राग्नी इदं हविः'* यह मन्त्र 'वाक्य' प्रमाण से *'दर्श'* नामक याग का अंग होता है न कि 'प्रकरण' प्रमाण से *'दर्श'* एवं *'पूर्णमास'* दोनों का अंग ।।३७।।*

।। अर्थमीमांसा ।।

वाक्यप्रमाण का निर्वचन करने के पश्चात् अब यहाँ 'वाक्य' प्रकरण प्रमाण से प्रबल होता है, यह **'इन्द्राग्नी इदं हविः'** इत्यादि मंत्रों के उदाहरण के द्वारा सिद्ध किया जा रहा है।[१] दर्शपूर्णमासयाग के प्रकरण में **'सूक्तवाक'** नामक एक अनुवाक है। उसमें पठित मंत्र का उच्चारण करके– **'सूक्तवाकेन प्रस्तरं प्रहरति'** वाक्य में निर्दिष्टानुसार **'प्रस्तर'** अर्थात् एक दर्भमुष्टि (प्रस्तरो दर्भमुष्टिः) का प्रक्षेप अग्नि में किया जाता है। उसमें अग्निदेवता के लिये **'त्वं सूक्तवागसि'** कहा गया है। अतः इसे 'सूक्तवाक' की संज्ञा दी गई है। सूक्तवाक में निम्नानुसार वाक्यों का उल्लेख है–

["(१) अग्नीषोमाविदं हविरजुषेताम्, अवीवृधेताम्, महो ज्यायोऽक्राताम् (२) इन्द्राग्नी इदं हविरजुषेताम्, अवीवृधेताम् महो ज्यायोऽक्राताम्"– इति।] उक्त वाक्य के दो विभाग

---

१. जै. सू. अ. ३, पा. ३, अधि. ९, तै. ब्रा. ३/५/१०

तत्र च देवतावाचकं पदमग्नीषोमादिरूपं पौर्णमास्यादिकाले यथा देव तं विभज्य प्रयोक्तव्यमिति तृतीये स्थितम्। इदं हविरित्यादिपदमवशिष्टं तु यथोक्ताग्नीषोमैन्द्राग्निमन्त्रद्वयगतमपि यथाक्रममावास्यायामग्नीषोमपदपरित्यागेन पौर्णमास्यामिन्द्राग्निपदपरित्यागेन च पठनीयं तथाच सति तेषां मन्त्रभागानां सर्वशेषत्वबोधकोदर्शपूर्णमासप्रकरणपाठोऽनुगृहीतो भवतीति प्राप्तेऽभिधीयते। अग्नीषोममन्त्रशेषस्येदं हविरित्यादिरूपस्येन्द्राग्निपदान्वयाश्रवणात्मकरणेन प्रथमं तदन्वयरूपं वाक्यं कल्पनीयं तेन च वाक्येनेन्द्राग्निप्रकाशनसामर्थ्यरूपं लिङ्गं कल्पनीयम्। तच्च लिङ्गमनेन मन्त्रभागेनेन्द्राग्निविषया काचित्क्रियानुष्ठेयेति विनियोजिकां तृतीयां श्रुतिं कल्पयति।

स्पाष्टांकित है। प्रथम विभाग **अग्नि** और **सोम**-देवताओं को लक्ष्य करके पठित है और दूसरा विभाग **इन्द्र** और **अग्नि** देवताओं के लिये उद्दिष्ट है। इन दोनों ही विभागों के मंत्र दर्शपूर्णमासयाग के प्रकरण में पठित हैं। **दर्श** और **पूर्णमास**[१] का अर्थ है– दर्श अर्थात् जिस दिन चन्द्र और सूर्य एकत्र स्थित परिलक्षित होते हैं– [एकत्रस्थितचंद्रार्कदर्शनात् दर्श उच्यते] वह दिन 'दर्श' कहलाता है। और जिस दिन चन्द्र पूर्ण होता है, वह पूर्णमास कहा जाता है। इस से यह विदित होता है कि **'अग्नीषौमौ'** और **'इन्द्राग्नी'** इन दो देवताओं का उल्लेख अलग-अलग विभागात्मक मंत्र में पठित है। इन दो देवताओं में से 'चंद्र' पूर्णिमा के दिन पूर्णरूप से दिखाई देने से पूर्णमास-याग के लिये **'अग्नीषोमौ'** देवताओं को निश्चित किया गया है। अर्थात् इन देवताओं का निर्धारण उक्त 'लिंग' प्रमाण से ही निश्चित किया गया है। और दर्श अर्थात् अमावास्या, इस दिन चंद्र न होने के कारण, इस 'लिंग' से 'इन्द्राग्नी' देवताओं को दर्शयाग के लिये निश्चित किया गया है।[२]

'अग्नीषोमौ' ये पूर्णमास की देवता हैं और **'इन्द्राग्नी'** दर्शयाग की देवता हैं, तथापि यहाँ यह प्रश्न उत्पन्न होता है कि– **'इदं हविरजुषेताम्'** इत्यादि जो मंत्र भाग प्रत्येक में अवशेष रहता है, उसकी व्यवस्था किस प्रकार करनी चाहिए? **पूर्वपक्षी** यह कहता है कि, **'इदं हविरजुषेताम्'** ये उक्त दो मंत्रों के दो अवशेष भाग हैं, वे दर्शपूर्णमासयाग के प्रकरण में पठित होने के कारण 'प्रकरण' प्रमाण के आधार पर ऐसा निश्चय करना चाहिये कि दर्शयाग के अवसर पर **'इद्राग्नी इदं हविरजुषेताम्'** यह पूर्ण मंत्र पढ़ कर, दूसरे मंत्र-भाग के **'अग्नीषोमौ'** पद का परित्याग करके (छोड़कर) उसके अग्रिम **'इदं हविरजुषेताम्'**– इत्यादि अवशेष भाग का उच्चारण करना चाहिए और उसी प्रकार पूर्णमास याग के अवसर पर **'अग्नीषोमाविदं हविरजुषेताम्'** इस पूरे मंत्र को कहकर दूसरे मंत्र के **'इन्द्राग्नी'** पद का परित्याग करके (छोड़कर) उसके आगे के **'इदं हविरजुषेताम्'** इत्यादि अवशेष भाग को कहना चाहिये। और ऐसा करने पर ही ये मंत्र इस दर्शपूर्णमासायाग के शेष हैं, यह जो प्रकरण के आधार पर निश्चित हो रहा है, वह यथार्थ होगा।

---

१. आहिताग्निनैव सपत्नीकेन पौर्णमास्यनन्तरप्रतिपदि अमावास्यानन्तरप्रतिपदिचानुष्ठेयः पौर्णमास्यां प्रातरारभ्य श्वोभूते समापनीयः, अमावास्यायां प्रातरारभ्य श्वोभूते समापनीयश्चेति कर्मसमुदायद्वयं दर्शपूर्णमासपदवाच्यम्।

२. जै. सू. अ. ३, पा. २, अधि. ६

ततः प्रकरणविनियोगयोर्मध्ये त्रिभिर्व्यवधानं भवति । अग्नीषोमपदान्वयरूपं वाक्यं तु श्रूयमाणत्वाल्लिङ्गश्रुतिभ्यामेव व्यवधीयते । एवमिन्द्राग्नीमन्त्रशेषस्याप्यग्नीषोमपदान्वया-श्रवणात्प्रकरणेन प्रथमं तदन्वयरूपं वाक्यं कल्पनीयमित्यादि स्वयमूह्यम् । तस्माद्वाक्येन स्वस्माद्दुर्बलस्य प्रकरणस्य बाधितत्वात् तन्मन्त्रशेषस्तत्र तत्रैव व्यवतिष्ठत इति ।।३७।।

संक्षेप में उक्त विवरण को इस प्रकार समझ सकते हैं– यहाँ ग्रन्थकार वाक्य प्रमाण के प्राबल्य को निरूपित कर रहा है 'इन्द्राग्नी इदं हविः' यह संपूर्ण मंत्र इस प्रकार है—

'अग्नीषोमाविदं हविरजुषेतामवीवृधेतां महोज्यायोऽक्राताम् ।
इन्द्राग्नी इदं हविरजुषेतामवीवृधेतां महोज्यायोऽक्राताम् ।।[१]

उक्त मंत्र का दर्शपूर्णमास में सूक्तवाक निगद जप में पाठ करने का विधान है। 'अग्नीषोमाविदं.........ज्योयोऽक्राताम्'– (जैसा कि पूर्व में बताया जा चुका है) यह एक स्वतन्त्र वाक्य है और इसका पाठ **पूर्णमास याग** में किया जाना चाहिये। इसी प्रकार 'इन्द्राग्नी इदं.........'यह भी स्वतंत्र वाक्य होने से-इसका पाठ 'दर्शयाग' में किया जाना चाहिये। इसका कारण यह है कि **'अग्नि एवं सोम'** पूर्णमास याग के देवता माने गये हैं और **'इन्द्र एवं अग्नि'** दर्शयाग के देवता हैं। इसलिये प्रकरणानुसार **'अग्नीषोमौ'** इतने अंश का परित्याग करके शेष अंश का पाठ **दर्शयाग** में और **'इन्द्राग्नी'** इस पद का त्याग करके शेष अंश का पाठ **'पूर्णमास याग'** में किया जाना चाहिये। उक्त प्रकार का विनियोग करने से प्रकरण की मर्यादा रक्षित होती है।

किन्तु **सिद्धान्ती** उक्त **समाधान** से सहमत नहीं है। वह कहता है कि– आप, **'अग्नीषोमौ'**– इस मंत्र के आगे **'इदं हविरजुषेताम्'** इत्यादि जो शेष पद हैं, उनका दर्शयाग के अवसर पर– परित्याग करके 'इन्द्राग्नी'– (इस) के साथ अन्वय करना चाहते हैं। किन्तु इस प्रकार का अन्वय प्रत्यक्ष 'श्रुति' द्वारा प्रोक्त नहीं है। अतः इस अन्वय को स्थापित करने के लिये आपको सर्वप्रथम (१) प्रकरण के बल पर इस अन्वय के स्वरूप का एक **वाक्य** कल्पित करना होगा, (२) और **वाक्य** से **'इदं हविरजुषेताम्'** इस मंत्र में 'इन्द्राग्नी' देवताओं का प्रकाशन करने के लिये एक (३) **लिंग** कल्पित करना होगा, तत्पश्चात् उस 'लिंग' प्रमाण के आधार पर इस मंत्रभाग से 'इन्द्राग्नी' से सम्बन्धित एक क्रिया करने के लिये एक (४) **श्रुति** कल्पित करनी होगी, तदनन्तर इस श्रुति के बल पर अन्त में आप 'इदं हविरजुषेताम्' इस मंत्र का 'इन्द्राग्नी' इस देवता की ओर (५) **विनियोग** कर सकेंगे। अर्थात् आपके कथनानुसार **प्रकरण प्रमाण** से **विनियोग** तक जाने के लिये (१) **प्रकरण** (२) **वाक्य** (३) **लिंग** (४) **श्रुति** और (५) **विनियोग** रूप पांच व्यापार क्रमित करने होंगे। अर्थात् दूसरे शब्दों में प्रकरण से विनियोग तक पांच व्यवधान हैं।

---

१. उक्त मंत्र का सरलार्थ यह है–
'हे अग्नि एवं सोम! तुम दोनों ने इस हवि का सेवन किया है, उसकी वृद्धि की है एवं उसे अत्यधिक श्रेष्ठ (महत्वपूर्ण बना दिया) हे इन्द्र एवं अग्नि! तुम दोनों ने इस हवि का सेवन किया है, उसकी वृद्धि की है एवं उसे बहुत श्रेष्ठ कर दिया है ।।'

(३८) प्रकरणनिरूपणम्

उभयाकाङ्क्षा प्रकरणम्। यथा प्रयाजादिषु 'समिधो यजती'त्यादि वाक्ये फलविशेषस्यानिर्देशात् समिद्यागेन भावयेदिति बोधानन्तरं किमित्युपकार्याकाङ्क्षा। दर्शपूर्णमासवाक्येऽपि 'दर्शपूर्णमासाभ्यां स्वर्गं भावये' दिति बोधानन्तरं कथमित्युपकारकाकाङ्क्षा। इत्थं चोभयाकांक्षया प्रयाजादीनां दर्शपूर्णमासाङ्गत्वम्।।३८।।

प्रकरणं लक्षयति–*उभयेत्यादिना*। आकाङ्क्षात्वं चेल्लक्षणं शाब्दबोधकारणीभूताकाङ्क्षायामतिप्रसङ्गस्तद्वारणायोभयेति विशेषणम्। उभयत्वं चेत्तदोभयत्वावच्छिन्ने घटपटादावतिव्याप्तिस्तद्वारणायोत्तरं दलम्। परस्परमुभयाकाङ्क्षेत्यर्थः। प्रकरणमिति लक्ष्यनिर्देशः। तत्रोदाहरणद्वारोभयाकाङ्क्षां प्रदर्शयन् लक्षणसमन्वयं करोति-यथेत्यादिना। *इत्थञ्चेति*। अनेन प्रकारेण चेत्यर्थः।।३८।।

अब यदि हम उक्त प्रश्न का वाक्यप्रमाण की दृष्टि से विचार करते हैं तो ज्ञात होता है कि **'अग्नीषोमौ इदं हविरजुषेताम्'** इन स्थानों पर **'अग्नीषोमौ'** और **'इदं हविरजुषेताम्'** इन दोनों का एकवाक्यत्वेन अन्वय प्रत्यक्ष 'श्रुति' के द्वारा ही बोधित है। अत: इस वाक्यप्रमाण से विनियोग तक जाने के लिए (१) **वाक्य** (२) **लिंग** (३) **श्रुति** और (४) **विनियोग** रूप चार व्यापारों को क्रमित करना होता है। इस लिए वाक्य की अपेक्षा प्रकरण अधिक प्रकृष्ट (दूर) होने के कारण 'वाक्य' के द्वारा 'प्रकरण' का बाध होता है। इस कारण पूर्वपक्ष के द्वारा 'प्रकरण' के आधार पर निश्चित किया हुआ निर्णय बाधित होकर अन्त में 'वाक्य' प्रमाण से निश्चित किया जाता है कि **'अग्नीषोमौ इदं हविरजुषेताम्'** यह एक वाक्य होने के कारण पूर्ण मंत्र दर्शपूर्णमास का शेष न होकर वह केवल **पूर्णमास** का ही शेष (अंग) हो सकता है; उसी प्रकार **'इन्द्राग्नी'** इदं हविरजुषेताम्' यह मंत्र भी पूर्ण दर्शपूर्णमास का शेष (अंग) न होकर वह केवल **दर्शयाग** का ही शेष (अंग) हो सकता है।।३७।।

अनुवाद– उभयेति*।** *दो वाक्यों की परस्पर आकांक्षा को* ***'प्रकरण' *कहते हैं। जैसे* ***प्रयाजादि*****।** ***'समिधो यजति'*** *इस वाक्य में फलविशेष का निर्देश नहीं है। अत एव उक्त वाक्य का* ***'समिद् यागेन भावयेत्'*** *इस प्रकार वाक्य बोध होने के उपरान्त* ***'किं भावयेत्'*** *इत्याकारक उपकार्य अर्थात् फल की आकांक्षा होती है। इसी प्रकार* ***'दर्शपूर्णमासाभ्यां स्वर्गकामो यजेत'*** *इस वाक्य का भी* ***'दर्शपूर्णमासाभ्यां स्वर्गं भावयेत्'*** *इस प्रकार वाक्य बोध होने पर* ***'कथं भावयेत्'*** *इत्याकारक उपकारक (साधन) की आकांक्षा होती है। इस प्रकार उभयाकांक्षा रूप प्रकरण से प्रयाजादि* ***'दर्शपूर्णमास'*** *याग के अंग होते हैं।।३८।।*

।। अर्थमीमांसा ।।

वाक्यप्रमाण का विस्तृत विवेचन करने के पश्चात् ग्रन्थकार अब **प्रकरण** प्रमाण का प्रतिपादन कर रहे हैं। 'प्रकरण' का लक्षण है– **'उभयाकांक्षा प्रकरणम्'**। प्रकरण-प्रमाण के

अन्य लक्षण भी यत्र-तत्र उपलब्ध होते हैं– यथा– **'वाक्यैकवाक्यता प्रकरणम्' 'अङ्गप्रधानोभयवाक्यगता आकाङ्क्षा प्रकरणम्'**। अर्थात् दो वाक्यों की परस्पर आकाङ्क्षा को प्रकरण कहा जा सकता है। किसका किसके साथ शेष-शेषिभाव है, यह निश्चित करके शेषि में शेष का विनयोग करना विनियोगविधि का कार्य है। उसे करने में विनियोग विधि को सहायक रहने वाले जिन-श्रुत्यादिक छः प्रमाणों को कहा गया है, उनमें एक प्रमाण– **'वाक्य'** भी है। और उस वाक्य के आगे 'प्रकरण' प्रमाण स्वाभाविक रूप से प्राप्त होता है क्योंकि 'प्रकरण' का अर्थ है अनेक साकांक्ष वाक्यों का होना।

अब प्रश्न यह उठता है कि यदि एक वाक्य प्रमाण हो सकता है, तो अनेक वाक्यों के मिलने से निर्मित **'वाक्यैकवाक्य'** अर्थात् **प्रकरण** प्रमाण क्यों नहीं हो सकता? अनेक वाक्यों के मिलने से बनी हुई वाक्यैकवाक्यता में अर्थात् प्रकरण में जो भिन्न-भिन्न वाक्य होते हैं, उन्हें परस्पर आकांक्षा होती है। जिस प्रकार एक वाक्य में प्रयुक्त अलग-अलग पदों को अपना शाब्दबोध पूर्ण करने के लिये अन्य पदों की आकांक्षा होती है, उसी प्रकार वाक्यैकवाक्य में अर्थात् 'प्रकरण' में जो अलग-अलग वाक्य होते हैं, उन्हें भी अपना वाक्यार्थ पूर्ण करने के लिये अन्य वाक्यों की आकांक्षा होती है। अतः एक वाक्य को अपेक्षीत अन्य वाक्य की आकांक्षा ही उभयाकांक्षा या परस्पराकांक्षा कहलाती है। उभयाकांक्षा का अर्थ है– **'अंगप्रधानोभयगत-परस्पराकांक्षा**। और इसे ही वाक्यैकवाक्यता या 'प्रकरण' भी कहा जाता है। इसे संक्षेप में इस प्रकार समझते हैं– एक वाक्य में फल की साधनभूत क्रिया के घटित होने के प्रकार का विधान तो होता है किन्तु साध्यफल का नहीं, इसलिए उसमें क्रिया से उत्पन्न होनेवाले फल की आकांक्षा रहती है। इसके विपरीत दूसरे वाक्य में फल का निर्देश तो होता है, किन्तु उस फल की साधनभूत क्रिया का विधान नहीं रहता है। अतः इस में 'कंथभाव'– कैसे करें? इस प्रकार की साधनभूत क्रियाओं की आकांक्षा विद्यमान रहती है। इस प्रकार दोनों वाक्य एक दूसरे के प्रति (परस्पर) साकांक्ष रहते हैं। इसी आकांक्षा को 'प्रकरण' कहा जाता है।[१]

जैसे– दर्शपूर्णमास में 'दर्शपूर्णमासाभ्यां स्वर्गकामो यजेत'– एक वाक्य उल्लिखित है, और प्रयाज यागों के प्रसंग में **'समिधो यजति'**[२] इत्यादि अन्य वाक्य पाया जाता है। (१) प्रथम– 'दर्शपूर्णमास-वाक्य'– का अर्थबोध होता है– 'दर्शपूर्णमासाभ्यां स्वर्गं भावयेत्' अर्थात् 'दर्श' एवं 'पूर्णमास' यागों से स्वर्ग की भावना (प्राप्ति) करे। किन्तु यहाँ यह उल्लिखित नहीं हैं कि 'दर्श' एवं 'पूर्णमास' से स्वर्ग की प्राप्ति कैसे करें? यह **आकांक्षा** इस वाक्य में शेष रहती ही है। अर्थात् वे कौन सी क्रियाएँ है जिनके करने से स्वर्ग की प्राप्ति हो सकेगी। (२) अब दूसरा वाक्य प्रयाज यागों के प्रसंग में **'समिधो यजति'**– आता है, इसका अर्थ होता है– **'समिद्‌यागेन भावयेत्'**। किन्तु इस वाक्य में भी– समिद्‌याग के द्वारा क्या

---

१. सन्निहितयोः फलवदफलयोः कर्मणोः परस्परमुपकार्योपकारकाकाङ्क्षा प्रकरणम्। (तं.सि.र. द्विनी. परि.)

२. तै. सं. कां. २, प्र. ६, अ. १

प्राप्त करें? यह आकांक्षा शेष रहती ही है। इस प्रकार हम देखते हैं कि प्रथम वाक्य में 'दर्शपूर्णमास' के द्वारा स्वर्ग कैसे प्राप्त करें? इसका बोध नहीं होता और दूसरे वाक्य में समिद्याग के द्वारा कौनसा विशेष फल प्राप्त किया जाय? इसका उल्लेख नहीं है। इसका तात्पर्य यह है कि प्रथम वाक्य 'दर्शपूर्णमासाभ्यां स्वर्ग भावयेत्'– को **'कथंभाव'**[१] की आकांक्षा है, तो दूसरे वाक्य **'समिधो यजति'** अर्थात् 'समिद्यागेन भावयेत्'– को फल की आकांक्षा (अर्थात् साध्याकांक्षा) है।

कथंभावाकांक्षा के सम्बन्ध में इसके पूर्व बताया जाचुका है कि प्रयाजदिक अंगजातों के द्वारा उपकृत हुए दर्शपूर्णमास यागों से स्वर्ग प्राप्त करना चाहिए। तदनुसार यदि कहा जाय तो यह कहना होगा कि प्रयाजादिक अंगों से दर्शपूर्णमास **उपकृत** होते हैं। अतः दर्शपूर्णमास **'उपकार्य'** हैं और प्रयाजादिक अंग- **'उपकारक'** हैं। अब यदि उपकार्योपकारक भाव की परिभाषा में कहना होगा तो यह कहा जायगा कि दर्शपूर्णमास वाक्य को **उपकारक** की आकांक्षा है और **'समिधो यजति'**– इस वाक्य को **उपकार्य** की आकांक्षा है। अर्थात् एक के अश्व नष्ट हुए हैं किन्तु रथ अपने स्थान पर स्थित है और दूसरे का रथ दग्ध हो चुका है, किन्तु अश्व शेष हैं। इस प्रकार दोनों को एक दूसरे की अपेक्षा होकर प्रथम का रथ और दूसरे के अश्व-ये मिलकर **नष्टाश्वदग्धरथन्याय**[२] से जिस प्रकार गमन कार्य संपादित करते हैं, उसी प्रकार यह उभयाकांक्षा है। इस प्रकार जिनकी एक दूसरे को परस्पराकांक्षा है, ऐसे ये दोनों वाक्य होने के कारण उभायाकांक्षत्व के लक्षण के अनुसार यहाँ 'प्रकरण' प्रमाण प्राप्त होकर, उस प्रमाण के योग से ऐसा निश्चित होता है कि 'प्रयाज' दर्शपूर्णमास के शेष (अंग) हैं।

संक्षेप में पूर्वोक्त विवरण का सार यह है कि दो वाक्यों की परस्पर आकांक्षा को **'प्रकरण'** के नाम से निरूपित किया जा सकता है। किसी वाक्य में क्रिया के सम्पादन का विधान निरूपित होता है, और दूसरे वाक्य में फल का विधान निरूपित होता है। प्रथम प्रकार के वाक्यों में **'किं भावयेत्'**? की आकांक्षा होती है। और तद्भिन्न दूसरे वाक्यों में 'कथं भावयेत्'? की आकांशा होती है। इसे ऐसा समझा जा सकता है– **'समिधो यजति'** **'तनूनपातं यजति'**– इत्यादि प्रयाजादि वाक्य केवल क्रिया का विधान करते है, इनमें फल का निर्देश प्राप्त नहीं होता। अतः फलाकांक्षा होने पर **'किं– भावयेत्?'** किसका सम्पादन करें? यह प्रश्न स्वयमेव उपस्थित होता है। 'दर्शपूर्णमासाभ्याम् स्वर्गकामो यजेत्' यह दूसरा वाक्य है, इसका तात्पर्य यह है कि 'दशपूर्णमासाभ्यां स्वर्गं भावयेत्'– अर्थात् 'दर्श' एवं 'पूर्णमास' यागों से स्वर्ग की भावना करें। यहाँ स्वर्गादिरूप फल का विधान निरूपित होने पर भी क्रिया-सम्पादन करने का विधान उक्त नहीं है, अतः आकांक्षा होती है– **कथं स्वर्गं भावयेत्?** एवञ्च उक्त दोनों ही वाक्य परस्पर साकांक्ष है। इसलिए परस्पराकांक्षा रूप 'प्रकरण' प्रमाण से प्रयाजादि **अङ्ग** हैं और स्वर्गादिरूप उत्कृष्ट फल का विधायक होने के कारण 'दर्शपूर्णमास' **अङ्गी** है। अङ्गाङ्गिभाव एक दूसरे के

---

१. कथंभावाकाङ्क्षा, इत्यम्भावाकाङ्क्षा, इतिकर्तव्यताकांक्षा, उपकारकाकांक्षा, अनुग्राहकाकाङ्क्षा इति पर्यायाः।

२. व्याकरण महाभाष्य - १/१/४९

(३९) प्रकरणद्वैविध्यं महाप्रकरणञ्च

तच्च प्रकरणं द्विविधम्। महाप्रकरणमवान्तरप्रकरणं चेति। तत्र मुख्यभावनासम्बन्धिप्रकरणं महाप्रकरणम्। तेन च प्रयाजादीनां दर्शपूर्णमासाङ्गत्वम्। एतच्च प्रकृतावेव। उभयाकाङ्क्षायाः सम्भवान्नतु विकृतौ। तत्र 'प्रकृतिवद्विकृतिः कर्तव्ये'त्यतिदेशेन कथंभावाकाङ्क्षाया उपशमेन। अपूर्वाङ्गानामप्युभयाकाङ्क्षया विनियोगासम्भवात्। तस्मादपूर्वाङ्गानां स्थानादेव विकृत्यर्थत्वमिति।।३९।।

तच्च प्रकरणं विभजते- *तच्चप्रकरणमित्यादिना*। *तच्चेति*। **उक्तलक्षणलक्षितं चेत्यर्थः। तत्रेति। महाप्रकरणावान्तरप्रकरणयोर्मध्य इत्यर्थः।** *मुख्यभावनेति*। **फलभावनेत्यर्थः।** *तेन चेति*। **महाप्रकरणेन चेत्यर्थः। अङ्गत्वं बोध्यत इति शेषः। तद्धि महाप्रकरणं प्रयाजादीन्यङ्गानि दर्शपूर्णमासयोर्विनियुङ्क्त इत्यर्थः। एतच्चेति महाप्रकरणं चेत्यर्थः। तत्र हेतुमाह-** *उभयेति*। **प्रकृतावेवेत्यनुषङ्गः। एवकारव्यावर्त्यमाह-**

अभाव में सम्भव नहीं है। अतः प्रकरण का लक्षण इसमें सर्वथा घटित होता है। प्रकृत में यह ध्यातव्य है कि प्रकरण प्रमाण केवल 'क्रिया' की ही 'अंगता' को बताता है, 'द्रव्य' अथवा 'गुण' जैसे सिद्धवस्तुओं की 'अंगता' को नहीं बताता[१] ।।३८।।

अनुवाद– तच्चेति। *उक्त प्रकरण के दो भेद होते हैं-१-* ***महाप्रकरण*** *और-२-* ***अवान्तर प्रकरण****।*

तत्रमुख्येति। *उनमें मुख्य भावना (फलभावना) सम्बन्धी प्रकरण को महाप्रकरण कहते हैं। इस महाप्रकरण प्रमाण से 'प्रयाजादि' दर्शपूर्णमास के अंग समझे जाते हैं।*

एतच्चेति। *महाप्रकरण प्रकृतियाग में ही प्रवृत्त होता है क्योंकि प्रकृति याग में ही उभयाकांक्षा होती है, विकृति याग में नहीं। विकृति याग में उभयाकांक्षा* ***'प्रकृतिवद् विकृतिः कर्तव्या'*** *इस अतिदेश वाक्य से शान्त हो जाती है, इस हेतु नूतन अंगो का विनियोग भी उभयाकांक्षा से नहीं हो सकता। अतएव 'स्थानप्रमाण' से ही नवीन अंग विकृति याग के अंग समझे जाते है ।।३९।।*

।। अर्थमीमांसा ।।

इस प्रकार पूर्वोक्त 'प्रकरण' के दो भेद होते है; एक **महाप्रकरण** और दूसरा **अवान्तर** प्रकरण। इनमें 'महाप्रकरण' **मुख्य** प्रकरण होता है, और उसमें निहित **गौण** प्रकरणों को 'अवान्तरप्रकरण' कहा जाता है। किन्तु ये 'अवान्तर प्रकरण' महाप्रकरण की अपेक्षा प्रामाण्य के बलाबल की दृष्टि से अधिक बलवान् होते हैं।

---

१. तदिदं प्रकरणं क्रियाया एव विनियोजकं, न द्रव्यगुणादेस्सिद्धस्य वस्तुनः। (तं.सि.र.द्विती. परि.)

नत्विति । विकृतावुभयाकाङ्क्षाया असम्भवादिति भावः । तत्रेति । विकृतावित्यर्थः । *अतिदेशेनेति* । अतिदेशवाक्यप्राप्तप्राकृताङ्गजातेनेत्यर्थः । कथंभावाकाङ्क्षाया इतिकर्तव्यताकाङ्क्षाया इत्यर्थः । तथाच यद्यप्युपहोमादीनामपूर्वाङ्गानामुपहोमादिभिर्भावयेत्किम्भावयेदित्यस्त्याकाङ्क्षा तथापि सौर्यादिविकृतियागस्यातिदेशवाक्यप्राप्तप्राकृताङ्गैरेव नैराकाङ्क्षेण नापूर्वाङ्गानामप्युपहोमादीनामुभयाकाङ्क्षया विकृतौ विनियोगः सम्भतीति भावः । ननु प्राकृताङ्गानां विकृतावपठितत्वादप्रत्यक्षाणां कथं विकृत्याकाङ्क्षोपशमहेतुत्वं वैकृताङ्गानान्तूपहोमादीनामत्र पठितत्वेन प्रत्यक्षाणां सम्भवत्याकाङ्क्षोपशान्तिहेतुत्वमिति चेन्न । तेषां विकृतौ पठितत्वेन प्रत्यक्षत्वेप्यन्यत्राक्लृप्तोपकारकत्वाच्छीघ्रंविकृत्याकाङ्क्षोपशान्तावसामर्थ्यात् । अतिदिष्टानां तु प्रकृतौ क्लृप्तोपकारकत्वेन सम्भवति तदाकाङ्क्षोपशमनसामर्थ्यम् । नच तेषामेव प्राकृताङ्गानां विकृतौ प्रकरणाद्ग्रहणं स्यादिति वाच्यम् । तेषामपि प्रकृतावुपकारकत्वेनोपक्षीणाकाङ्क्षत्वात् । नच प्राकृताङ्गानामत्रोपस्थापकाभावेनानुपस्थितत्वमिति वाच्यम् । उपमानप्रमाणस्योपस्थापकस्य सत्वेन तेषामत्रोपस्थिततत्वात् । तथाहि सौर्यवाक्यस्य दर्शने ह्यौषधद्रव्यस्यैक-

---

महाप्रकरण का लक्षण इसप्रकार है- **'मुख्यभावनासंबन्धिप्रकरणं महाप्रकरणम्'** अर्थात् जिस प्रकरण का संबन्ध मुख्यभावना अर्थात् फलभावना से होता है वह प्रकरण 'महाप्रकरण' कहा जाता है। वक्ष्यमाण 'अवान्तरप्रकरण' का लक्षण इस प्रकार है- **''अंगभावना-संबन्धिप्रकरणं अवान्तरप्रकरणम्''**। उक्त दोनों प्रकरणों के लक्षणों की तुलना करने पर ज्ञात होता है कि **'भावनासंबन्धिप्रकरणम्'** इतना अंश उक्त दोनों लक्षणों में एक जैसा ही है, केवल **'मुख्य'** और **'अंग'** ये दो शब्द दोनों लक्षणों में भिन्न हैं। अर्थात् महाप्रकरण के लक्षण में **'मुख्य'** शब्द की योजना की गई है और **'अंग'** शब्द की योजना अवान्तरप्रकरण के लक्षण में की गई है। **'प्रयाजादीनां दर्शपूर्णमासांगत्वम्'**- इसके अनुसार 'दर्शपूर्णमास' यह मुख्य और 'प्रयाज' उसके अंग है, यह सिद्ध हो चुका है। अतः दर्शपूर्णमास का प्रकरण- **महाप्रकरण** है और प्रयाजों का प्रकरण **अवान्तर प्रकरण** है, यह स्पष्ट होता है। उसी प्रकार 'दर्शपूर्णमासाभ्यां स्वर्गं भावयेत्' इस वाक्य की भावना, **मुख्य भावना है** और 'समिधो यजति' से निष्पन्न होनेवाला अर्थबोध 'समिद्यागेन भावयेत्' की भावना, **अंगभावना** है। अतः उस दृष्टि से देखने पर मुख्यभावना से संबन्धित दर्शपूर्णमास 'प्रकरण' **महाप्रकरण** है, और अंगभावना से संबन्धित 'प्रयाजादिप्रकरण' **अवान्तरप्रकरण** है।

इसके पूर्व प्रकृति और विकृति नामके दो विभागों का उल्लेख किया जा चुका है। उन भागों के अनुसार दर्शपूर्णमास **प्रकृति** है और सौर्यादियाग- विकृति है। अब प्रश्न सहज ही उपस्थित होता है कि जिस प्रकार 'प्रकरण' प्रमाण के आधार पर 'दर्शपूर्णमास' को प्रकृति याग सिद्ध किया गया है, उसी प्रकार विकृति में भी 'प्रकरण' के आधार पर विकृति के अंगों का निश्चय किया जासकेगा या नहीं? उपस्थित प्रश्न का **उत्तर** यह है कि, प्रकरण के आधार पर किसी एक अंग का उसके प्रधान के साथ विनियोग निश्चित करना केवल प्रकृतिवाक्य में ही संभव है। क्योंकि दर्शपूर्णमास एक 'प्रकृतियाग' है, और इस उदाहरण की दृष्टि से यदि

दैवत्त्यत्वस्य च सादृश्यदर्शनेनानेन सदृशमाग्नेयवाक्यमित्याग्नेयवाक्यमुपमीयते गवयदर्शनादनेन सदृशी मदीया गौरिति गोरुपमानवत्। आग्नेयवाक्ये चोपमिते तेन तदर्थो ज्ञायते। स च त्र्यंशभावनारूपस्तस्मिंश्च ज्ञाते सौर्यवाक्ये भावनाया भाव्यस्य करणस्य च विद्यमानत्वे न तत्राकाङ्क्षाभावेऽपीतिकर्तव्यताकाङ्क्षायां प्राकृतोपकारपृष्ठभावेनाग्नेयेति कर्तव्यतामतिदिश्य सौर्ययागेन ब्रह्मवर्चसम्भावयेदाग्नेयवदिति सिद्ध्यति। तस्मादाग्नेयेति कर्तव्यतयैव विकृत्याकाङ्क्षोपशमने सौर्यादौ विकृतावुभयाकाङ्क्षारूपात्स्थानादेवोपहोमादीनामपूर्वाङ्गानां विकृतिशेषत्वमित्युपसंहरति *तस्मादिति*।।३९।।

कहा जाय तो, यह कहा जासकता है कि **'दर्शपूर्णमासाभ्यां स्वर्गं भावयेत्'**– को इतिकर्तव्यता की आकांक्षा है और 'समिद्यागेन भावयेत्' को साध्य की आकांक्षा है। इस प्रकार दोनों को परस्पर उपकार्योपकारकाकांक्षा यहाँ संभव होती है। और इसीलिये इस उभयाकांक्षारूप प्रकरण से इनका अंगागिभाव और विनियोग निश्चित किया जा सका। ऐसा करना केवल प्रकृति में ही संभव होता है। विकृति में ऐसा करना कभी भी शक्य (संभव) नहीं हो सकता। क्योंकि विकृति में प्रकरण को आवश्यक लगनेवाली उपकार्योपकारकांक्षा उत्पन्न ही नहीं हो सकती। क्योंकि (उदाहरणार्थ) विकृति का यदि 'सौर्ययाग' हमें सम्पादित करना है तो, उस वैकृत सौर्ययाग के अंगों की कथंभावाकांक्षा ही मूलतः उत्पन्न नहीं हो सकती। कारण यह है कि– **'प्रकृतिवद्विकृतिः कर्तव्या'** अर्थात् 'प्रकृति के अनुसार विकृति के धर्मों को करना चाहिए'। इस अतिदेशात्मक वाक्य से सम्पूर्ण कथंभावाकांक्षा निवृत्त हो चुकने के कारण विकृति में नवीन कुछ जानने लायक शेष नहीं रहता है। वस्तुतः **'प्रकृतिवद् विकृतिः कर्तव्या'** ऐसा कहाजाने पर विकृति में कथंभावाकांक्षा उत्पन्न होने के लिए अवसर ही नहीं रहता, और आकांक्षा की यदि संभावना ही विकृति में नहीं रहती, तो उभयाकांक्षारूप 'प्रकरण' का विकृति में प्रवेश ही कहाँ से होगा? सारांश यह है, विकृति के अंगांगिभाव और विनियोग का निर्धारण 'प्रकरण' के आधार पर नहीं किया जा सकता है।

प्रकृति के जिन अंगों को विकृति में करना होता है, वे विकृति में 'प्रकरण' प्रमाण के आधार पर प्राप्त न होकर अतिदेश के द्वारा प्राप्त होते हैं। इतना विवेचन यहाँ तक किया गया है। किन्तु अतिदेश के द्वारा प्राप्त होने वाले प्राकृत अंगों की अपेक्षा 'सौर्यादिक' विकृति यागों में उपहोमादिक कुछ अन्य अपूर्व अंगों का निरुपण किया गया है, वे वहाँ कैसे प्राप्त होते हैं? यह प्रश्न उत्पन्न होता है। किन्तु उसके सम्बन्ध में यहाँ यह कहा जाता है कि, जो अपूर्व अर्थात् नवीन अंग है, उनका विधान (निरूपण) वैकृत यागों के स्थान में किया गया है। इसलिए **'स्थान'** नामक पांचवें प्रमाण के आधार से उपहोमादिक नवीन अंग विकृति के शेषभूत हैं, ऐसा समझना चाहिये। क्योंकि उस स्थान पर प्रकरण के लिये आवश्यकरूप से लगनेवाली उभयाकांक्षा की ही संभावना न होने के कारण वहाँ प्रकरण के द्वारा नवीन उपहोमादिक अंगों का विकृति में विनियोग होता है, यह नहीं कहा जा सकता। सौर्यादि 'विकृतियाग' और उपहोमादिक 'नवीन अंगों में' यदि परस्पराकांक्षा होती तो, वहाँ प्रकरण उपपन्न हो सकता था, किन्तु यहाँ उपहोमादिक अंगो को केवल अन्यतराकांक्षा होती है, उभयाकांक्षा नहीं होती।

(४०) अवान्तरप्रकरणम्

अङ्गभावनासम्बन्धि प्रकरणमवान्तरप्रकरणम्। तेन चाभिक्रमणादीनां प्रयाजद्यङ्गत्वम्। तच्च सन्दंशेनैव ज्ञायते। तदभावे चाविशेषात्सर्वेषां फलभावना कथंभावेन ग्रहणप्रसङ्गेन प्रधानाङ्गत्वापत्तेः।।४०।।

अवान्तरप्रकरणं लक्षयति-अङ्गभावनेति। ***तेन चेति।*** **अवान्तरप्रकरणेनचेत्यर्थः। अत्रापि बोध्यत इति शेषः।** ***तच्चेति।*** **तेन तेषां तदङ्गत्वं चेत्यर्थः।** ***सन्दंशेनेति।*** **सन्दंशो लोहकण्टकविद्धलोहशलाकाद्वयरूपस्तेनेत्यर्थः। तन्न्यायेनेति यावत्। तदनङ्गीकारे दोषमाह-** ***तदभावइति*** **। सन्दंशाभाव इत्यर्थः। अविशेषात्। प्रकरणाविशेषात्।**

यह सत्य है कि **'उपहोमादिभिर्भावयेत्'** इस विधान का कथन करने के पश्चात् **'उपहोमादिभिः किं भावयेत्'** यह आकांक्षा उत्पन्न होती है। किन्तु सौर्यादिक विकृतियागों की दृष्टि से देखने पर अतिदेशवाक्य के योग से उनकी आकांक्षा उपशान्त हो जाने के कारण सौर्यादि यागों की ओर से कोई आकांक्षा शेष रहती ही नहीं[१] अर्थात् अपूर्व अंगों की ओर से आकांक्षा हो सकती है, किन्तु वैकृत याग की ओर से वह बिलकूल नहीं होती। और उभयाकांक्षा के बिना प्रकरणरूपी प्रमाण की संभावना नहीं होती। अत: स्थानरूप प्रमाण से ही विकृति के नवीन अंगों में तथा विकृति में शेषशेषिभाव प्रतिपादित किया जाता है।।३९।।

अनुवाद– अङ्गभावनेति। *अङ्गभावना से सम्बन्धित प्रकरण को अवान्तर प्रकरण कहते हैं। इसी अवान्तरप्रकरण से अभिक्रमण आदि क्रियायें प्रयाजादि यागों का अंग मानी जाती है। अङ्गत्व का बोध 'संदंश' से होता है। संदंश के अभाव में प्रयाज, अभिक्रमण आदि के सदृश अन्य क्रियायें फलभावना (फलाकांक्षा) में अन्वित होकर प्रधान दर्शादियाग का अंग होने लगेंगी।।४०।।*

।। अर्थमीमांसा ।।

प्रकरण के दो विभागों में से महाप्रकरण का निरूपण यहाँ करने के पश्चात् अब क्रमप्राप्त 'अवान्तरप्रकरण' का निरूपण प्रारम्भ करते हैं। **अवान्तरप्रकरण का लक्षण** इस प्रकार दिया गया है– **'अंगभावनासंबन्धिप्रकरणं अवान्तरप्रकरणम्'** इस लक्षण का अर्थ, पूर्व में स्पष्ट किया जा चुका है। अर्थात् अङ्गभावना सम्बन्धी प्रकरण को ही अवान्तर प्रकरण कहते हैं। दर्शपूर्णमास के मुख्य प्रकरण में **'समिधो यजति, तनूनपातं यजति, इडो यजति, बर्हिर्यजति, स्वाहाकारं यजति'**– इन पंचप्रयाजों का निरूपण किया गया है। ये प्रयाज 'दर्शपूर्णमास' के अंग हैं। इसलिए **'समिद्यागेन भावयेत्'** इत्यादि प्रकार की पंच प्रयाजों से संबन्धित भावना अंगभावना है, और अंगभावना से संबन्धित जो प्रकरण है, वहीं

१. यद्यप्युपहोमादीनामपूर्वाङ्गानामुपहोमादिभिर्भावयेत्किम्भावयेदित्यस्त्याकाङ्क्षा तथा सौर्यादिविकृतियागस्यातिदेशवाक्यप्राप्तप्राकृताङ्गैरेव नैराकाङ्क्ष्येणनापूर्वाङ्गानामप्युपहोमादीनामुभयाकाङ्क्षया विकृतौ विनियोगः सम्भवतीति भावः।।कौमुदी।।

सर्वेषां प्रयाजादीनामभिक्रमणादीनां च कथम्भावेन इतिकर्तव्यतारूपेण प्रधानाङ्गत्वापत्तेः । दर्शादिप्रधानाङ्गत्वापत्तेः । तथा च अभिक्रमणादीनां प्रयाजाद्यङ्गत्वग्रहे संदशस्याभावे सति दर्शादिप्रधानयागप्रकरणपाठाविशेषात् प्रयाजादिवदभिक्रमणादीनामपि दर्शादिफलभावनाया इतिकर्तव्यताकांक्षयाग्रहणप्रसंगेन दर्शादिप्रधानयागाङ्गत्वापत्तेस्तत्सन्दंशेनैव ज्ञातुं शक्यते इति समुदायार्थः ।।४०।।

अवान्तरप्रकरण है। प्रयाजों के अवान्तर प्रकरण में **'अभिक्रमण'** नामक कर्म का विधान (उल्लेख) किया गया है। अभिक्रमणकर्म से सम्बन्धित विधि प्रयाजों के प्रकरण में पठित होने से, वह प्रयाजदिकों का अंग होता है, यह अवान्तर-प्रकरण से सिद्ध होता है। किन्तु प्रकृत में ध्यातव्य है कि अवान्तरप्रकरण में पठित होने मात्र से ही वह– प्रयाजदिकों का अंग होता हो, ऐसा नहीं है। वस्तुत: यह अभिक्रमणविधि प्रयाजों के अवान्तरप्रकरण में संदंश में फसे, (पकड़े गये) की तरह ग्रस्त है। संदंश कहते हैं 'चिमिटे' को। जिस प्रकार चिमिटे की दो लौह पत्तियों से किसी वस्तु को पकड़ा जाता है, उसी प्रकार प्रकृत अभिक्रमण विधि यहाँ फसा हुआ है।[1] अर्थात् प्रयाजों के अवान्तर प्रकरण में पूर्व में प्रयाज सम्बंधित किसी अंग का विधान है और तत्पश्चात् प्रयाज के किसी अंग का विधान है, और उक्त दो विधानों के मध्य में अभिक्रमण का विधान है। उस कारण किसी संदंश में ग्रस्त की तरह यहाँ प्रयाजों के दो अंगों के संदंश में ग्रस्त होने से उस अभिक्रमणवाक्य का प्रयाजांगत्व निश्चित होता है। और उसमें से उसकी मुक्ति नहीं हो सकती (इस विषय में विशेष निरुपण आगे होगा ही)। अभिक्रमणवाक्य यदि इस संदंश में ग्रस्त नहीं होता, तो वह प्रयाजों के अंगत्व को प्राप्त नहीं होता। अपितु उसकी स्थिति इस प्रकार होती– जैसे– **'दर्शपूर्णमासाभ्यां स्वर्गं भावयेत्'** इस महाप्रकारण की जो मुख्य फलभावना है, उसे 'दर्शपूर्णमास से स्वर्ग का किस प्रकार संपादन करें'? ऐसी कथंभावाकांक्षा है। इसलिए वहाँ दर्शपूर्णमास उपकार्य है, उसपर उपकार करने हेतु प्रयाजादिक जो उपकारक अंग हैं, उन्हें निरूपित करने के लिये ही यह प्रयाजों का अवान्तरप्रकरण प्रवृत्त हुआ है। एवञ्च अवान्तर प्रकरण में जिन-जिन अंगों का विधान किया गया है, वे सभी 'दर्शपूर्णमास' प्रधान याग के सहज ही अंग होंगे। अत: 'प्रयाज' जिस प्रकार 'दर्शपूर्णमास' प्रधान याग के अंग होते हैं, उसी प्रकार उन प्रयाजादिकों के साथ ही ये उपरिनिर्दिष्ट अभिक्रमण भी उसी प्रधान याग के अंग होने लगते। वस्तुत: प्रयाज यद्यपि दर्शपूर्णमास के अंग है, तथापि इस अवान्तरप्रकरण में प्रयाजादिकों के जिन अंगों का विधान है, और उन प्रयाजादिकों के अंगों में से दो अंगों के मध्य में– अर्थात् संदंश में– इस अभिक्रमणवाक्य की स्थिति है। अत: 'अभिक्रमण' प्रयाजादिकों का ही अंग होता है, प्रधान याग का अंग नहीं।[2]

संक्षेप में उक्त विवरण को इस प्रकार समझा जा सकता है– अङ्गभावना से सम्बन्धित प्रकरण को 'अवान्तरप्रकरण' की संज्ञा से अभिहित किया गया है। उसमें **'प्रयाजाः कर्त्तव्याः'** वाक्य के द्वारा **'समिधो यजति'** आदि पांच प्रकार के यागों का विधान बतलाया गया है। ये

---

१. संदंशो लौहकण्टकविद्धलोहशलाकाद्वयरूपस्तेनेत्यर्थ: (कौमुदी)

२. जै. सू. अ. ३, पा. १, अधि. १०

(४१) संदंशलक्षणम्

एकाङ्गानुवादेन विधीयमानयोरप्यङ्गयोरन्तराले विहितत्वं सन्दंशः । यथाऽभिक्रमणे । तत्र हि ''समानयते जुह्वाम् उपभृतस्तेजो वा'' इत्यादिना प्रयाजानुवादेन किञ्चिदङ्गं विधाय विधीयते । तदनन्तरमपि 'यस्यैवं विदुषः प्रयाजा इज्यन्ते प्रैभ्यो लोकेभ्यो भ्रातृव्यान्नुदतेऽभिक्रामं जुहोत्यभिजित्यै' इति तदनन्तरं 'यो वै प्रयाजानाम्मिथुनं वेदे' त्यादिना किञ्चिदङ्गं विधाय विधीयते । अतः प्रयाजाङ्गमध्येऽभिहितमभिक्रमणं तदङ्गम् ।

प्रयाजैरपूर्वं कृत्वा यागोपकारं भावयेदिति ज्ञाते कथमेभिरपूर्वं कर्तव्यमिति कथंभावाकाङ्क्षायाः सत्त्वात् । सा च सन्दंशपठितैरभिक्रमणादिभिः शाम्यति । न चाङ्गभावनायाः कथंभावाकाङ्क्षाऽभावः । भावनासामान्येन तत्रापि तत्सम्भवात् ।।४१।।

सन्दंशं लक्षयति । *एकाङ्गानुवादेनेति* । तत्रोदाहरणमाह । यथाभिक्रमण इति । अभिक्रमणे ह्येकस्य प्रयाजरूपस्याङ्गस्यानुवादेन विधीयमानयोः प्रायाजाङ्गयोरन्तराले

सभी पांचों याग प्रधानभूत दर्शपूर्णमास के अङ्ग होते हैं, क्योंकि अङ्गभावना में 'कथं भावाकांक्षा निहित है– प्रयाजैः कथं भावयेत्? यहाँ अभिक्रमणादि क्रिया का भी विधान प्राप्त होता है। 'अभिक्रमणेन किं भावयेत्? आदि वाक्य 'साकाङ्क्षा' से युक्त है। इसलिए दोनों वाक्य परस्पर साकाङ्क्ष हैं। प्रकरण के द्वारा ही अभिक्रमणादि प्रयाजादि के अङ्गत्व को प्राप्त होते हैं, यह सिद्ध होता है। एवञ्च इसलिए 'अभिक्रमणोपकृतैः प्रयाजैर्भावयेत्'– वाक्यार्थ बोध होने के कारण अभिक्रमणादि की 'कथंभावाकांक्षा' पूर्ण हो जाती है। फलाकांक्षा की पूर्ति **'अभिक्रमणेन प्रयाजोपकारं भावयेत्'**– इस प्रकार के वाक्य बोध से हो सकेगी। प्रस्तुत प्रसंग में अंग भावना के रूप में अभिक्रमणादि को प्रयाजादि से सम्बन्धित निरुपित किया गया है, इसलिए यह 'अवान्तर प्रकरण' के अन्तर्गत माना जायगा।

इसके पूर्व यह निर्धारित किया गया है कि अवान्तर प्रकरण का सम्बन्ध अङ्गभावना से है, अभिक्रमण संदंश में ग्रस्त है (दो के मध्य में पठित है), यह ज्ञात करने के लिये यह जान लेना भी आवश्यक है कि अभिक्रमण का पाठ प्रयाजादि यागों में विहित अन्य क्रियाओं– घृतानयन एवं मिथुनवेदन के मध्य किया गया है। अतः ये क्रियाएं भी प्रयाजादि के अंगत्वरूप में हैं। इस प्रकार अभिक्रमण का अंगत्व संदंश से ही ज्ञात होता है।।४०।।

अनुवाद– एकेति *। प्रधानयाग के एक अंग का अनुवाद करके विधियमान दो अङ्गों के मध्य किये जानेवाले विधान को* ***'सन्दंश'*** *कहते हैं। जैसें-अभिक्रमण स्थल में। यथा-प्रयाज का अनुवाद करके* ***'समानयते जुह्वाम् उपभृतोस्तेजो वा'*** *(उपभृत नामक पात्र विशेष से जुहू में घृत लाता है) इत्यादि वाक्य से घृतानयन रूप अंग का विधान करके अभिक्रमण संज्ञक*

विहितत्वं भवत्येव तदेवाह । *तद्धीत्यादिना*। तद्धि अभिक्रमणं हीत्यर्थः । समानयते जुह्वामुपभृत इति । उपभृतो घृतपात्रविशेषाज्जुह्वाञ्जुह्वरूपपात्रविशेषे घृतं समानयत इति मन्त्रार्थः । किञ्चिदङ्गमिति उपभृतः पात्राज्जुह्वां प्रयाजार्थं घृतानयनरूपमङ्गमित्यर्थः । *तदनन्तरमपीति*। अभिक्रमणानन्तरमपीत्यर्थः । तदनन्तरमपीत्यस्य किञ्चिदङ्गं विधीयत इत्युत्तरेणान्वयः । प्रयाजत्वमिति पाठे तु तस्यापि किञ्चिदङ्गमित्यनेनोत्तरेणैवान्वयः । भ्रातृव्यानिति । शत्रूनित्यर्थः । तुदत इति । व्यथयति अपतुदतीति वार्थः जपतीति यावत् । अभिक्रामं जुहोत्यभिजित्या इति । विजययायाहवनीयं सर्वतः सञ्चरणं कृत्वा जुहुयादित्यर्थः । मिथुनं वेदेतीति । युगलं जानातीत्यर्थः । *अत इति*। प्रयाजानुवादेन विहिततदङ्गमध्ये विहितत्वादित्यर्थः । ननु प्रायाजानामितिकर्तव्यताकाङ्क्षाभावान्न तत्र

---

*क्रिया का विधान **'यस्यैवं विदुषः प्रयाजा इज्यन्ते प्रैभ्यो लोकेभ्यो भ्रातृव्यान् नुदते अभिक्रामं जुहोत्यभिजित्यै'** (इस प्रकार जाननेवाला पुरुष यदि प्रयाजों का अनुष्ठान करता है तो वह इन लोकों से शत्रुओं को भगा देता है, विजय हेतु उसे अभिक्रमण का अनुष्ठान करना चाहिये) आदि वाक्य से किया गया है। इसके पश्चात् **'यौ वै प्रयाजानां मिथुनं वेद'** (जो प्रयाजों के मिथुन को जानता है) इस वाक्य से प्रयाज द्वय के ज्ञान रूप अंग का विधान किया गया है। अत एव प्रयाज के दो अंगों-**घृतानयन** और **मिथुन वेदन** के मध्य पठित **'अभिक्रमण'** क्रिया भी संदंशन्याय से प्रयाज का अंग समझी जाती है।*

प्रयाजैरिति। *अतः **'प्रयाजैरपूर्वं कृत्वा यागोपकारं भावयेत्'** (प्रयाजों से अपूर्व सम्पादन कर यागोपकार की भावना करें) इस प्रकार वाक्यार्थ बोध होने पर **'कथमेभिरपूर्वं कर्तव्यम्'** (इनसे अपूर्व की भावना कैसे करें) इत्याकारक **'कथंभावाकांक्षा'** होती है। तथा इस कथंभावाकांक्षा का उपशमन संदंश पठित अभिक्रमणादि क्रियाओं से होता है। यहाँ यह कहना ठीक नहीं है कि अंगभावना में **'कथंभाव'** रूप आकांक्षा नहीं होती। क्योंकि प्रत्येक भावना में कथंभावाकांक्षा रहती ही है। अतः अंगभावना भी एक भावना ही है। अत एव उसमें भी 'कथंभावाकांक्षा' रहती ही है ।।४१।।*

।। अर्थमीमांसा ।।

पूर्व प्रकरण में 'संदंश' का उल्लेख आया है। प्रकृत प्रकरण में ग्रंथकार संदंश को सम्पूर्णतया व्याख्यायित कर रहे हैं– 'संदंश' शब्द का अर्थ **चिमटा** या **सँडसी** होता है। सन्दंश का लक्षण है– **'एकाङ्गानुवादेन[1] विधीयमानयोरंगयोरन्तराले विहितत्वं संदंशः।'**– अर्थात् किसी मुख्य याग के एक अंग का अनुवाद करके विधीयमान दो अङ्गों के बीच में किसी क्रिया के विहित होने को 'संदंश' कहते है। टीका में इसका अर्थ संक्षेप में इस प्रकार दिया गया है– **'प्रयाजानुवादेन विहित-तदङ्गमध्ये विहितत्त्वं संदंशः'**। 'संदंश' शब्द के उक्त अर्थ के अनुसार यज्ञ से सम्बन्धित विधान के अवसर पर जहाँ किसी एक अङ्गी के दो

---

१. अंगभूत प्रयाजरूप क्रिया समूह का विधान (वाद) 'प्रयाजाः कर्तव्याः' विधि द्वारा किया जाता है। इसी को 'एकांगवाद'– कहा जाता है।

सन्दंशेनाप्यभिक्रमणस्याङ्गत्वेनान्वयः। साकाङ्क्षस्यैव गुणेऽन्वेषणेति न्यायादित्यत आह-*प्रयाजैरित्यादिना*। सा च प्रयाजानामितिकर्तव्यताकाङ्क्षासन्दंशलब्धैरेवाभिक्रमणादिभिः *शाम्यतीत्याह* -साचेत्यादिना। तथाचोक्तम्। 'परप्रकरणस्थानामङ्गैश्रुत्यादिभिस्त्रिभिः ।। ज्ञाते पुनश्च तैरेव सन्दंशेन तदिष्यत' इति। ननु प्रयाजभावनाया अङ्गभावनात्वेन कथंभावाकाङ्क्षाभावान्न प्रयाजभावना कथंभावेनाभिक्रमणं गृह्यत इत्याशङ्क्य परिहरति-*नचेत्यादिना*। प्रयाजादिभावना कथंभावाकाङ्क्षा शून्या अङ्गभावनात्वादित्यत्र हेतोरसाधारणानैकान्तिकत्वात्साकाङ्क्षत्वसाधने हेतुसत्वाच्च न प्रयाजाद्यङ्गभावनायाः कथंभावाकाङ्क्षाशून्यत्वमित्याह- *भावनासाम्येनेति*। प्रयाजाद्य-

---

अङ्ग पठित होते हैं और उन दोनों अंगों के मध्य में कोई तीसरी क्रिया निरूपित होती है, तो वह तीसरी क्रिया जिसमें प्रथम उन पूर्वकी क्रिया द्वयके अंगी के अंगत्व का निर्णय नहीं रहता है, वहाँ मध्यवर्ती क्रिया भी उन पूर्ववर्ती क्रियाद्वय के अंगी का ही अंग मानी जाती है, क्योंकि पूर्ववर्ती दोनों क्रियायें संदंश ('सँडसी') के शलाकाद्वयस्थानीय और बीच में होनेवाली वह क्रिया उत्तारणीय पात्रस्थानीय हो जाती है। इसलिए वह मध्यमें होनेवाली क्रिया दोनों ओर की क्रियाओं के स्वभाव से वैजात्य नहीं रखपाती है, अत: उन दोनों की तरह वह मध्यवर्ती क्रिया भी उन दोनों क्रियाओं के अंगी का ही अंग होती है।

यहाँ प्रस्तुत प्रकरण प्रयाजों का अवान्तर प्रकरण है। प्रयाज दर्शपूर्णमास[१] का एक अंग है। और इस प्रयाजरूप[२] एक अंग की अनुवृत्ति उसके अवान्तर प्रकरण के रूप से चलते रहने पर उसमें विहित दो विधियों के अंतराल में यह अभिक्रमणविधि पठित (कहा गया) है। इसलिए यह 'अभिक्रमण' संदंश का उदाहरण है। प्रकृत में 'संदंश' की स्थिति को स्पष्ट करने हेतु तीन वाक्यों को प्रस्तुत किया है। उन तीन वाक्यों में से प्रथम वाक्य इस प्रकार है– (१) 'समानयते जुह्वाम् उपभृत: तेजो वा'[३] अर्थात् प्रयाजकी एक अंगक्रिया का विधान उक्तमंत्र– 'समानयते.......' से किया जाता है। इस क्रिया को **'घृतानयन'** कहा जाता है, क्योंकि यहाँ **'उपभृत'** नामक यज्ञीय पात्र से घी लाकर **'जुहू'** में रखा जाता है। इस वाक्य में **'उपभृत'** से **'जुहू'** में प्रयाज के लिए घृतानयन करें, इस प्रकार प्रयाज के एक अंग का कथन है। इस अंग का निरूपण करने के पश्चात् उसके आगे निम्नानुसार दूसरा वाक्य पठित है– (२) **'यस्यैवं विदुषः प्रयाजा इज्यते प्रैभ्यो लोकेभ्यो भ्रातृव्यान्नुदतेऽभिक्रामं जुहोत्याभिजित्यै'**[४] इस दूसरे वाक्य में अभिक्रमण क्रिया का विधान पठित है। इसका अर्थ यह है कि जिस यजमान के लिये इन प्रयाजोंका हवन किया जाता है, वह अपने शत्रुओं को इस लोक से अपसरित करता है (भगाता है) अर्थात् उनपर विजय प्राप्त कर लेता है। ऐसा कहकर विजय प्राप्त करने हेतु अभिक्रमण

---

१. 'दर्श' एवं 'पूर्णमास' प्रधान याग है।

२. प्रयाज ५ क्रियाओं का समूह है– वे क्रियाएँ इस प्रकार है–
(१) समिधो यजति, (२) तनूनपातं यजति (३) इडो यजति (४) बहिर्यजति (५) स्वाहाकारं यजति।

३. तै. सं. कां. २, प्र. ६ अनु. १

४. तै. सं. कां. २, प्र. ६ अनु. १

ङ्गभावना कथंभावसाकाङ्क्षाभावनात्वाद्दर्शादिभावनावदिति प्रयोगोऽत्र बोध्यः। नचावहननादिभावनायां व्यभिचारः तस्याः पक्षसमत्वात्। तत्रापि तत्सम्भवादिति। प्रयाजाद्यङ्गभावनायामपि कथंभावाकाङ्क्षासम्भवादित्यर्थः ।।४१।।

करके आहुति देनी चाहिए। इस विधि क्रिया को अभिक्रमण- इसलिए कहा जाता है, क्योंकि इसमें आहवनीयाग्नि के चारों ओर भ्रमण-परिभ्रमण करते हुए यागानुष्ठान संपन्न किया जाता है। तीसरा वाक्य इस प्रकार है- (३) **'यो वै प्रयाजानां मिथुनं वेद स समिधो बह्वीरिव यजति'**[१] अर्थात्- जो इन प्रयाजों के मिथुन (युगल, द्वय) को जानता है, वह मानो पुष्कल समिधाओं से याग करता है। यद्यपि यह वाक्य कुछ अंश में-अर्थवादात्मक है, तथापि इसमें प्रयाजों का उल्लेख होने से, प्रयाजों की जो अनुवृत्ति पीछे से प्रारंभ हुई है, वह इस तीसरे वाक्य तक रही है। यहाँ **'यो वेद'** इत्यादि शब्दों से जिस **'वेदन'** का पाठ किया गया है, वह भी प्रयाजों का एक अंग है, स्पष्ट होता है। उक्त तीनों क्रियाओं का क्रम इस प्रकार है-

(१) घृतानयन-प्रयाज की अंग क्रिया। (२) अभिक्रमण (३) मिथुनवेदन-प्रयाज की अंग क्रिया।

उक्त तीनों वाक्यों के क्रम को देखने पर ज्ञात हो जाता है कि प्रथम और तृतीय वाक्य, प्रयाज के अंग हैं, और इन दो के संदंश में 'अभिक्रमण' का दूसरा वाक्य प्राप्त होने से वह प्रयाज का अंग होता है। तात्पर्य यह है कि उक्त वाक्यों की स्थिति को संदंशस्थिति कहा जाता है। यदि **'घृतानयन'** संदंश की एक लोह पट्टिका है तो **'मिथुनवेद'** दूसरी लोह-पट्टिका। **'अभिक्रमण'** पात्रस्थानीय है। ऐसी स्थिति में 'अभिक्रमण' भी प्रयाज का अंग होगा, क्योंकि वह प्रयाज के दो अंगों के मध्य में पठित है। अतः प्रयाज के अंगों के मध्य में पठित होने से अभिक्रमण क्रिया भी प्रयाज का सहज ही अंग होगी। यहाँ यह ध्यान में रखना होगा कि- **'अभिक्रामं जुहोति'** में **'अभिक्रामम्'**- यह अभिपूर्वक **क्रम्** धातु का क्त्वान्त अर्थ में (णमुल्) रूप है। इसलिए- **'अभिक्रमण'** करके हवन करता है, यह अर्थ किया जाता है। और अभिक्रमण का विशेष अर्थ है- **'आहवनीयं अभितः संचरणम्'**- अर्थात् आहवनीय अग्नि के चारों ओर अभिक्रमण-परिभ्रमण करते हुए आहुति देनी चाहिए।[२]

अभिक्रमण 'संदंश' में किस प्रकार प्राप्त है- इसे निम्नांकित रेखा कृति से समझा जा सकता है—

दर्शपूर्णमास–प्रधानयाग–महाप्रकरण

प्रयाज–दर्शपूर्णमासांग–अवान्तरप्रकरण

(१) घृतानयन (प्रयाजांग) (२) अभिक्रमण (३) मिथुनवेदन (प्रयाजांग)

प्रयाज दर्शपूर्णमास के अंग हैं, अतएव प्रयाजभावना 'अंगभावना' है। पूर्वपक्षी का आक्षेप

---

१. तै. सं. कां. २, प्र. ६, अनु. १

२. 'अभिक्रम्याभिक्रम्यादूरे स्थित्वा प्रथमं हुत्वा पादं पुरतः प्रक्षिप्य द्वितीयं जुहूयात्। एवमुत्तरत्र। तदेतदभिक्रमणम्। सायण, वही ।।

(४२) प्रकरणं क्रियाया एव साक्षाद्विनियोजकम्

तदिदं प्रकरणं क्रियाया एव साक्षाद्विनियोजकम्। द्रव्यगुणयोस्तु तद्द्वारा। तथाहि यजेत स्वर्गकाम इत्यत्र फलभावनायां कथंभावाकाङ्क्षायां सन्निधिपठिताऽश्रूयमाणफलकं क्रियाजातमुपकार्याकाङ्क्षयेतिकर्तव्यतात्वेनान्वेति। क्रियाया एव लोके कथंभावाकाङ्क्षायामन्वयदर्शनात्। न हि कुठारेण छिन्द्यादित्यत्र कथंभावाकाङ्क्षायामुच्चार्य्यमाणोऽपि हस्तोऽन्वेति। किन्तु हस्तेनोद्यम्य निपात्येति उद्यमननिपातने एव। हस्तश्च तद्द्वारैवान्वेतीति सार्वजनीनमेतत्॥४२॥

निरूपितप्रकरणस्य साक्षाद्विनियोज्यविषयमुपन्यस्यति–*तदिदमित्यादिना*।

है कि अंगभावना को कथंभावाकांक्षा की अपेक्षा नहीं होनी चाहिए, क्योंकि अंगभावना स्वयं अपनी प्रधानभावना की कथंभावाकांक्षा का उपशमन करती है। इस हेतु प्रयाजों को इतिकर्तव्यता की आकांक्षा नहीं है, अत: अभिक्रमण उन प्रयाजों का एक अंग है, यह आप कैसे कहते हैं?[१] सिद्धान्ती उक्त प्रश्न का उत्तर ग्रंथकी **'प्रयाजैरपूर्वं कृत्वा'** से लेकर **'भावनासामान्येन तत्रापि तत्संभवात्'**– यहाँ तक की पंक्ति से इसप्रकार देता है कि प्रयाज भावना भी भावना ही है, अतएव उसमें भी कथंभावाकांक्षा होगी, इसमें कोई बाधा नहीं है, क्योंकि– **'प्रयाजाः कर्त्तव्याः'** का तात्पर्य यह है कि प्रयाज का सम्पादन करके जो अपूर्व उत्पन्न हो उससे उसके अंगीभूत दर्शपूर्णमास का उपकार हो। इस प्रकार मुख्यभावनागत कथंभावाकांक्षा से निश्चित हो जाने पर 'प्रयाजों के द्वारा अपूर्व किस प्रकार उत्पन्न किया जाये' इत्याकारक कथंभावाकांक्षा उत्पन्न होती ही है। और यह आकांक्षा प्रस्तुत सन्दर्भ में संदंश में ग्रस्त अभिक्रमणादिकों के योग से शान्त होती है। अर्थात्– प्रयाजभावना की कथंभावाकाङ्क्षा– **'एभिः अपूर्वं कथं कर्तव्यम्'** का शमन **'अभिक्रमणानुष्ठानेन अपूर्वं कर्तव्यम्'**– से हो जाता है। इसके अतिरिक्त मुख्य भावना ही कथंभावाकांक्षा से युक्त होती है, और अंगभावना कथंभावाकांक्षा से युक्त नहीं होती, ऐसा मानने का कोई कारण नहीं है। क्योंकि भावना कोई भी हो, चाहे वह अंगभादना हो या प्रधान उसमें कथंभावाकांक्षा अवश्य होगी। अत: इस कथंभावाकांक्षा के उपशमन के लिये अभिक्रमण का प्रयाजों का अंग होने में कोई बाधा नहीं है[२]॥४१॥

***अनुवाद- तदिदमिति*।** *पूर्वोक्त प्रकरण द्वय (महाप्रकरण, अवान्तरप्रकरण) से साक्षात् क्रिया ही विनियुक्त होती है। द्रव्य और गुण तो क्रिया द्वारा परम्परया अङ्गभूत समझे जाते है। यथा- **'यजेत स्वर्गकामः'** इस विधिवाक्य से 'स्वर्गरूप फलभावना का सम्पादन कैसे करें' इस प्रकार फलभावना में **'कथंभावाकांक्षा'** होने पर समीप में पठित अश्रुत फलयुक्त क्रिया*

---

१. अत्र प्रधानभावनानामेव इतिकर्तव्यताकांक्षा, तासामेव फलसाधनत्त्वेन कथमिति आकांक्षोदयात्, न अङ्गभावनानाम्, तासामफलत्वात् इति वदतां प्रभाकरणां मतमनुवदति-सारविवेचनी।

२. परप्रकरणस्थानामङ्गे श्रुत्यादिभिस्त्रिभिः।
ज्ञाते पुनश्च तैरेव संदंशेन तदीष्यते॥ (तंत्रवार्तिक - पृ. ७४१)

प्रकृतस्यैव व्यवहितविनियोज्यमादर्शयति द्रव्येति । *तद्द्वारेति* । क्रियाद्वारेत्यर्थः । अत्र च द्रव्यस्य क्रियाद्वारैव प्रकरणं विनियोजकं गुणस्य तु द्रव्यक्रियोभयद्वारा विनियोजकमिति भावः । *फलभावनायामीति* । फलभावनायां क्रियाजातमितिकर्तव्यतात्वेनान्वेतीति सम्बन्धः । भिन्नप्रकरणस्थक्रियाया अन्यत्र क्रियायामन्वयापत्तिवारणाय सन्निधिपठितमित्युक्तम् । श्रूयमाणफलस्य क्रियाजातस्येतिकर्तव्यतात्ववारणायाश्रूयमाणफलमित्युक्तम् । प्रधानस्योपकाराकाङ्क्षाऽभावे तत्र तदन्वयादर्शनात्कथंभावाकाङ्क्षायामित्युक्तमगुणस्याप्युपकार्य्याकाङ्क्षाऽभावेप्युपकारकत्वेनान्वयादर्शनादुपकार्याकाङ्क्षायेत्युक्तम् । इतिकर्तव्यताकाङ्क्षायां क्रियाया एव साक्षादन्वये लोकप्रसिद्धिहेतुत्वेन दर्शयति- *क्रियाया एवेत्यादिना* । क्रियाया एवान्वयदर्शनादित्यन्वय इत्यर्थः । कुठारेणछिन्द्यादित्यत्र कथमिति । कथंभावाकाङ्क्षायां हस्तेनेत्युच्चार्यमाणोऽपि हस्तो नहि छिदिभावनायां साक्षादन्वेतीत्यभिप्रेत्याह- *नहीत्यादिना* । उद्यमननिपातन एवान्वित इति

---

*समूह का ही प्रधान (उपकार्य) की आकांक्षा से इतिकर्तव्यता रूप में अन्वय होता है। लोक व्यवहार में भी कथंभाव या इतिकर्तव्यता की आकांक्षा होने पर क्रिया का ही अन्वय होता है। जैसे- **'हस्तेन कुठारेण छिंद्यात्'** (हाथ से कुल्हाडी द्वारा लकडी काटनी चाहिये)। प्रकृत स्थल में **'कथंभावाकांक्षा'** होने पर उच्चरित हस्त ही अन्वित होता है, क्रिया नहीं, यह कहना युक्ति संगत नहीं है। क्योंकि उक्त प्रकार से **'कथंभावाकांक्षा'** होने पर 'हाथ से कुल्हाडी उठाकर उद्यमन (उठाना) एवं निपातन (गिराना) रूप क्रिया द्वय ही साक्षात् रूप से अन्वित होती है। और हाथ का अन्वय तो उद्यमन, निपातन रूप क्रिया के द्वारा परम्परया हो जाता है- यह प्रतीति सार्वजनीन है ।।४२।।*

।। अर्थमीमांसा ।।

इस प्रकार यहाँ तक 'प्रकरण' का विवेचन किया गया है। और इस प्रकरणरूप प्रमाण के आधार पर किस प्रधान में किस अंग का विनियोग करना है, यह निश्चित किया जाता है। अर्थात् यह प्रकरण अन्य प्रमाणों की तरह एक विनियोजक प्रमाण है। किन्तु प्रकरणरूप विनियोजक प्रमाण किस प्रकार के अंग का विनियोग निश्चित कर सकता है? **द्रव्य का? या गुण का?** या **क्रिया का?** यह प्रश्न उपस्थित होने पर, उसके सम्बन्ध में कहा जाता है कि प्रत्यक्ष रीति से देखने पर प्रकरण केवल क्रिया का ही विनियोजक हो सकता है, और बाद में उस क्रिया के द्वारा द्रव्य और गुण का विनियोजक होता है।[1] यह अग्रिम उदाहरण से स्पष्ट किया गया है। **'दर्शपूर्णमासाभ्यां स्वर्गं भावयेत्'**- इत्यादि फलभावनात्मक वाक्य में दर्शपूर्णमास यागों से स्वर्ग किस प्रकार प्राप्त किया जाये, इस प्रकार की कथंभावाकांक्षा उत्पन्न होने पर, वह स्वर्ग 'इस प्रकार प्राप्त किया जाय', इस प्रकार की इतिकर्तव्यता को निरूपित करने वाला कौन सा विधान स्वभावतः वहाँ अन्वित हो सकेगा? निश्चय ही ऐसे

---

१. द्रव्याणां वाक्यसंयुक्तक्रियानिर्वर्तनादृविना ।
न प्रयोजनमन्यत्स्यात् कथंभावाद्यसङ्गतेः ।। (तंत्रवार्तिक पृ. ४११)

शेषः । उद्यमनञ्च-निपातनञ्चोद्यमननिपातने इति द्विर्वचनसन्धिस्तु लेखकप्रमादतः । यद्वा उद्यमनेन निपातन उद्यमननिपातन इति व्याख्येयम् । अत्र चान्वेतीत्यनुषङ्गः । *तत्द्वारैवेति* **। उद्यमननिपातनद्वारैवेत्यर्थः ।** *सार्वजनीनमिति* **। सर्वेषु जनेषु भवमित्यर्थः । सर्वजनप्रसिद्धमिति यावत् । किञ्च कथंभावाकाङ्क्षानामकरणगतप्रकाराकाङ्क्षार्थमतः प्रकारवाचित्वात् । सामान्यस्य भेदको विशेषः प्रकारः सामान्यं च क्रियारूपमेवाख्यातेनोच्यते यजेत स्वर्गकाम इत्यस्य ह्ययमर्थः । यागेन तथा कर्तव्यं यथा स्वर्गो भवतीति क्रियासामान्यस्य च विशेषः क्रियैव भवति नहि ब्राह्मणविशेषः परिव्राजकादिरब्राह्मणो भवति एवं च करणगतक्रियाविशेषाकाङ्क्षापरनामधेयं कथंभावाकाङ्क्षायां क्रियैवान्वेतीति युक्तं स च करणगतः क्रियाविशेषोन्वाधानादिब्राह्मणतर्पणान्तः क्रियारूप एवेति युक्तं तस्य प्रकरणेनैव ग्रहणं तस्य च करणगतत्वं तदुपकारकत्वमेव तेन विना यागेनापूर्वाजननात् । नह्युद्यमननिपतन्व्यतिरेकेण कुठारेण द्वैधी भावो जन्यते तत्सिद्धं कथम्भावाकाङ्क्षया क्रियैवान्वेतीति ।।४२।।**

स्थान पर अन्वित होने वाली क्रिया ही होनी चाहिए। मात्र वह क्रिया **'दर्शपूर्णमासाभ्यां यजेत'** इत्यादि साकांक्ष वाक्यों की सन्निधि में ही, अर्थात् उन प्रकरणों में ही पठित होनी चाहिये। उदाहरणार्थ- **प्रयाज**, एक 'क्रियाजात' अर्थात् अनेक क्रियाओंका समुच्चय है, और वे प्रयाज केवल दर्शपूर्णमास के प्रकरण में. ही पठित हैं, और इसलिए प्रयाज वहाँ अन्वित होने के योग्य हैं। इसके अतिरिक्त जो क्रिया अन्वित होगी, उस क्रिया का (स्वयं का) कोई फल पठित नहीं होना चाहिए, क्योंकि जिन क्रियाओं का स्वयं का फल पठित होगा, उस क्रियाजात को अन्य से अन्वित होने की आकांक्षा ही नहीं होगी। किन्तु प्रयाज क्रियाजात का फल पठित नहीं है, इसलिए **'समिद्यागेन किं भावयेत्'** को उपकार्य की आकांक्षा रहती है, और इसलिए वह क्रियाजात कथंभावाकांक्षा को रखने वाले दर्शपूर्णमासयागों से अन्वित होने योग्य होता है।

उसी प्रकार प्रयाज जो कार्यजात है, वह स्वयं ही उपकारक है और उस उपकारक से जिस पर उपकार करना है, उस उपकार्य की उस कार्यजात को आकांक्षा है। इसलिए पूर्वोक्त सभी कारणों से जिसे कथंभावाकांक्षा है[1], ऐसे दर्शपूर्णमास याग में प्रकरण रूप प्रमाण प्रयाजरूप क्रियाजात से विनियोग करता है। उक्त विवरण को इन शब्दों में समझा जा सकता है—

महाप्रकरण एवं अवान्तर प्रकरण से अर्थात् प्रकरणद्वय से अङ्गाङ्गिभाव या शेषशेषि-भाव का बोध होता है, यह हम इसके पूर्व निरूपित कर चुके है। ग्रंथकार कहते हैं कि जहाँ **श्रुति** प्रमाण द्वारा **द्रव्य** का, **गुण** का, **क्रिया** का आदि का विनियोग होता है, **लिङ्ग** प्रमाण द्वारा **केवल मंत्रों** का विनियोग ज्ञात होता है, तथा **वाक्य** द्वारा **जातिरूप अङ्ग** का विनियोग जाना जाता है, वहीं उक्त तीनों प्रमाणों से भिन्न **प्रकरण**-प्रमाण केवल **क्रिया का ही**

---

१. कथंभावाकांक्षा, इत्थम्भावाकांक्षा, इति कर्तव्यताकांक्षा, उपकारकाकांक्षा, अनुग्राहकाकांक्षा इति पर्यायाः ।।

विनियोजक होता है। अर्थात् यह क्रिया का विनियोजक प्रत्यक्ष रूप से होता है जबकि 'द्रव्य' एवं 'गुण' का परंपरया क्रिया के माध्यम से। तात्पर्य यह है कि **'यजेत स्वर्गकामः'** वाक्य में **'यागेन स्वर्गं कथं भावयेत्?** 'कथंभावकांक्षा' है। संक्षेप में अङ्गीभूत क्रियाभावना सदैव **'कथंभाव'** की आकांक्षा से अन्वित रहती है। और इस आकांक्षा की शान्ति 'अङ्ग' से होती है। और यह शमन तभी हो सकता है जब अंग 'क्रिया' हो। क्योंकि 'कथं' का उत्तर 'क्रिया' से ही होता है।[१]

लौकिक व्यवहार में भी कथंभाव अथवा इतिकर्तव्यता की आकांक्षा होने पर (क्रिया का ही अन्वय परिलक्षित होता है) अर्थात्– उस कथंभावाकांक्षा का उपशमन करने के लिये 'क्रिया' का ही अन्वय करना चाहिए। उदाहरणार्थ– **'कुठारेण छिन्द्यात्'** (कुल्हाडे से काटो) यह वाक्य सुन लेने पर, 'कुल्हाडे से किस प्रकार काटें'? ऐसी कथंभावाकांक्षा की जिज्ञासा से **पूछा** तो, **उत्तर होगा**-हाथ से कुल्हाडे को ऊपर उठाकर उसे नीचे की ओर पटको, जिससे उस कुल्हाडे से लकडी का छेदन होगा-अर्थात् कुल्हाडे को उठाकर और गिराकर, लकडी काटो' अर्थात्– यहाँ छेदन से सम्बन्धित कथंभावाकांक्षा होने पर उसका शमन-उद्यमन और निपातन-यही क्रिया उसकी इतिकर्तव्यता है-तात्पर्य यह है कि **'कैसे'**? का उत्तर 'उठाना और गिराना'-ये क्रियायें हुई। यहाँ किस तरह काटें? का उत्तर **'हाथ से'** यह नहीं होगा, क्योंकि यह उत्तर तो 'किससे' या 'किसके द्वारा' का है। यहाँ किस तरह काटे? का उत्तर – 'उठाना और गिराना' ये क्रियायें हैं, न कि हाथ। हाँ, हाथ 'उठाना और गिराना' क्रियाओं का अंग होने से उद्यमन और निपातन क्रियाओं के द्वारा (परम्परया) काटने की प्रधान क्रिया से अन्वित होता है, साक्षात् रूप से नहीं। साक्षात् रूप से अन्वय 'क्रिया' का ही होता है। तात्पर्य यह है कि कथंभावाकांक्षा होने पर 'प्रकरण' के आधार पर क्रिया का अन्वय प्रत्यक्षरूप से हो सकता है। द्रव्य या गुण-का प्रत्यक्ष अन्वय नहीं हो सकता। यदि द्रव्य और गुण-का अन्वय वहाँ होना भी हो तो वह क्रिया के द्वारा ही होगा। उक्त लौकिक उदाहरण से सभी परिचित है। उक्त उदाहरण के आधार पर यह समझलेना चाहिये कि प्रकरण स्थल में भी क्रिया ही प्रत्यक्ष रूप से अन्वित होती है, एवं द्रव्य तथा गुण 'क्रिया' के द्वारा अन्वित होते हैं, साक्षात् रूप में नहीं[२]।।४२।।

---

१. तेन द्रव्यदेवतादीनां यागसम्पादनादिरूपक्रियाद्वारेणैव प्रकरणाद् ग्रहणमिति तेष्वितिकर्तव्यताव्यवहारो गौणः, न तु वस्तुतः । कर्तव्यताया इति प्रकार विशेषः इति कर्तव्यता, इति हि तद्व्युत्पत्तिः। कर्तव्यविशेषः कर्तव्य एव भवति। तेन क्रियाया एव प्रकरणेन ग्रहणम्। (तं.सि.र. प्रकरण निरूपण)

२. पार्थसारथिमिश्रमते तावत् धात्वर्थानुकूलव्यापारसामान्यस्यैवाऽर्थीभावनात्वात् तद्विशेषाकांक्षैवेतिकर्तव्यताकांक्षा। व्यापारविशेश्च व्यापार एव भवितुमर्हति । यथा- वृक्षविशेषः शिंशपा वृक्ष एव, ब्राह्मणविशेषः परिव्राजको ब्राह्मण एव। व्यापारश्च क्रियारूप एवेति क्रियाया एवेतिकर्तव्यतात्वं सिद्धम्।

(खण्डेदेव) नवीनमते तु-यत्नात्मिकाया भावनाया अनुग्राहककांक्षा इतिकर्तव्यताकांक्षा। अनुग्राहकोऽपि व्यापार एव, न सिद्धं वस्तु। लोके व्यापारस्यैवाऽनुग्राहकत्वदर्शनात्। लोकेहि कुठारेण छिन्द्यादित्युक्ते कथमित्याकांक्षायामुद्यमननिपातनरूपव्यापार एव तथाऽन्वेति, न सिद्धरूपं हस्तादि। तस्य तु क्रियाद्वारेणैवान्वयः। (तं.सि.र. प्रकरण निरूपणम्)

(४३) प्रकरणं स्थानादिभ्यो बलवत्

इदं च स्थानादिभ्यो बलवत्। अत एवाक्षैर्दीव्यति राजन्यं जिनातीति देवनादयो धर्मा अभिषेचनीयसन्निधौ पठिता अपि स्थानान्न तदङ्गं किन्तु प्रकरणाद्राजसूयाङ्गमिति ।।४३।।

तदिदं प्रकरणं स्थानादितो बलीयो भवति। तथाहि राजसूयप्रकरणे पश्विष्टिसोमयागावहवः समप्रधानभूताः पठ्यन्ते। तत्र च कश्चिदभिषेचनीयसञ्ज्ञकः सोमयागः पठितः तस्य हि सन्निधौ विदेवनादयो धर्माः। अक्षैर्दीव्यति राजन्यं जिनाति शौनः शेफमाख्यापयतीति श्रूयते। जिनाति जयतीत्यर्थः। बवृहचब्राह्मणे समाम्नातं श्रुनः शेफविषयमुपाख्यानं शौनःशेफं तदाख्यापयतीत्यर्थः। तत्र च विदेवनादीनां सन्निधिबलादभिषेचेनीयाङ्गत्वमिति प्राप्तेराद्धान्तः। राजसूयेति कर्तव्यताकाङ्क्षायामनु-

---

*अनुवाद– **इदं चेति**। यह 'प्रकरण' प्रमाण स्थानादि प्रमाणों से बलवान् होता है। अत एव **'अक्षैर्दीव्यति'** (अक्षों से द्यूत खेलता है) और **'राजन्यं जिनाति'** (राजा को जीतता है) इस प्रकार के 'देवन' (जुआ) धर्म अभिषेचनीय क्रिया के समीप पठित होने पर भी 'स्थान' प्रमाण से उस अभिषेचनीय क्रिया के अङ्ंग नहीं होते अपितु प्रकरण प्रमाण से 'राजसूय' याग के अंग होते है ।।४३।।*

।। अर्थमीमांसा ।।

यहाँ तक प्रकरणरूप प्रमाण का सर्वतः परीक्षण करलेने के पश्चात् अब उसके सम्बन्ध में यह कहा जाता है कि 'प्रकरण' स्वपरवर्ती 'स्थान' आदि सभी प्रमाणों से अधिक बलवान् होता है।[१]

राजसूय[२] यज्ञ प्रकरण में – **'राजा राजसूयेन स्वराज्यकामो यजेत'** विधि वाक्य से 'राजसूययाग' का विधान है। इस याग में (१) **अनुमत्यादिक इष्टि,** (२) **आदित्यादिक पशुयाग** (३) **अभिषेचनीय, दशपेय, इत्यादिक सोमयाग** तथा (४) **कुछ दर्वीहोम** इत्यादि अनेक यागों का उल्लेख है। इनमें एक **'अभिषेचनीय'** नाम का सोमयाग[३] उल्लिखित है, इसकी सन्निधिमें– **'अक्षैर्दीव्यति' 'राजन्यं जिनाति' शौनःशेपमाख्यापयति**[४] इत्यादि का कथन है। इनका अर्थ यह है कि 'पासों से जुआ खेलता है, राजाओं को जीतता है, और ब्राह्मणों में जिस शुनःशेप का उपाख्यान वर्णित है, उसका वर्णन कराता है।' अब यहाँ संशय

---

१. जै. सू. अ. ३, पा. ३, अधि. १०, अ. ३, पा. ४, अधि. २

२. स चेष्टिपशुसोमयागात्मकः। तत्र षट् सोमयागाः-पवित्रः, अभिषेचनीयः, दशपेयः, केशवपनीयो, व्युष्टिद्विरात्रः, क्षत्रस्यधृतिश्च।

३. तै. सं. कां. १, प्र. ८, अनु. ९

४. तै. सं. कां. १, प्र. ८, अनु. १६

वृत्तायां विहिता विदेवनादयः प्रकरणेन राजसूयशेषा एव भवन्ति। राजसूयश्च बहुयागात्मको भवति ततश्च तत्र हिसर्वयागशेषत्वं विदेवनादीनां सिद्ध्यति। किञ्चाभिषेचनीयस्य काचिदप्याकाङ्क्षा विदेवनादिषु नास्त्येव तस्य ज्योतिष्टोमविकृतित्वेनातिदिष्टैरेव प्राकृताङ्गैस्तदाकाङ्क्षानिवृत्तेः। ननु सन्निहितविधिबलादाकाङ्क्षोत्थाप्यत इति च तर्ह्याकाङ्क्षारूपमन्तराले प्रकरणमादौ परिकल्प्य तत् द्वारा वाक्यलिङ्गश्रुतिकल्पनया सन्निधिर्विप्रकृष्यते राजसूयाकाङ्क्षारूपं महाप्रकरणं तु क्लृप्तत्वादेकयाऽऽकाङ्क्षया सन्निकृष्यते। ततश्च प्रकरणेन सन्निधेर्बाधात्सर्वयागशेषाविदेवनादयो धर्मा इत्यभिप्रेत्य प्रकरणस्य स्थानादिभ्यो बलवत्त्वमाह- *इदञ्चेत्यादिना*।।४३।।

होता है, कि क्या अभिषेचनीय याग की सन्निधि में जो 'देवनादिक' धर्म पठित हैं वे अभिषेचनीययाग के स्थान मे होने से (स्थान प्रमाणानुसार) अभिषेचनीय याग के अङ्ग हैं अथवा 'प्रकरण' के (देवनादिक धर्म राजसूय प्रकरण में पठित होने से) अनुसार 'राजसूय' याग के अङ्ग हैं?

उक्त शंका का उत्तर यह है कि 'देवनादिक' धर्म राजसूययाग के ही अंग मानेजाने चाहिए। क्योंकि (१) **'राजा स्वाराज्यकामो राजसूयेन यजेत'** इस विधिका अर्थ– **'राजसूयेन यागेन स्वाराज्यं भावयेत्'**– यह होने पर, जो कथंभावाकांक्षा उत्पन्न होती है, उस कथंभावाकांक्षा को तृप्त करने के लिए, प्रकृत प्रकरण में जिन देवनादिक क्रियाओं का उल्लेख किया गया है, उनका राजसूययाग से ही अन्वय स्थापित करना चाहिए (२) और राजसूय याग में अनेक याग पठित होने के कारण देवनादि धर्म उन सभी यागों के शेष (अंग) होते हैं। (३) इसके अतिरिक्त अभिषेचनीय नामक जो याग है, और जिसके सन्निधि में इन देवनादिक क्रियाओं का उल्लेख है, उस 'अभिषेचनीय' याग को किसी भी अंग की आकांक्षा नहीं है। क्योंकि, 'अभिषेचनीय' याग 'जोतिष्टोम' प्रकृति की एक विकृति[1] होने के कारण 'प्रकृति के अनुसार विकृति के अंगों को करना चाहिए' इस अतिदेश से प्राप्त प्रकृति के अंगों के योग से 'अभिषेचनीय' याग की आकांक्षा निवृत्त हो चुकी है। अत: यह स्पष्ट है कि प्रकरण के आधार पर 'देवनादिक' क्रिया अभिषेचनीय याग की अंग नहीं हो सकती। किन्तु यदि कोई यह कहे कि अभिषेचनीय याग की सन्निधि में देवनादिक क्रिया पठित होने के कारण-(१) सन्निधिरूप स्थानप्रमाण के बलपर वहाँ आकांक्षा होनी चाहिए-तो उसे प्रथम (२) आकांक्षारूप **प्रकरण** की कल्पना करनी होगी और उस प्रकरण से (३) **वाक्य** (४) **लिंग** (५) **श्रुति** की कल्पना करनी होगी, तब कहीं जाकर विनियोग हो सकता है। किन्तु उसकी अपेक्षा राजसूययज्ञ का प्रकृत आकांक्षारूप महाप्रकरण चलरहा है, उसे ही लेने पर (१) उससे (२) **वाक्य** (३) **लिंग** और (४) **श्रुति** की कल्पना करनी होती है। अत: 'प्रकरण' स्थान की अपेक्षा विनियोग के अधिक समीप है, अत: अधिक बलवान् है। फलस्वरूप 'प्रकरण' प्रमाण के योग से 'संनिधि' प्रमाण का बाध होकर 'देवनादिक' क्रिया राजसूय याग की अंग होती है। एवञ्च

१. जै. सू. ८/१/१६

(४४) स्थाननिरूपणम्

देशसामान्यं स्थानम्। तद् द्विविधम्। पाठसादेश्यमनुष्ठानसादेश्यं चेति। स्थानं क्रमश्चेत्यनर्थान्तरम्। पाठसादेश्यमपि द्विविधम्। यथासन्निधिपाठः यथासङ्ख्यपाठश्चेति ।।४४।।

स्थानं लक्षयति। *देशसामान्यमिति*। सन्निधिविशेषत्वमिति लक्षणान्तरम्। स्थानं क्रमश्चेति लक्ष्यत्वेन निर्दिश्यते। पाठसमानदेशत्वेनानुष्ठानसमानदेशत्वेन च स्थानं विभजते। *तत् द्विविधमित्यादिना*। यथासङ्ख्यपाठत्वेन सन्निधिपाठत्वेन च पाठसमानदेशत्वमपि विभजते। *पाठसादेश्यमित्यादिना*। ।।४४।।

देवनादि धर्म 'प्रकरण' से राजसूय (राजसूयगत समस्त यागों का जिनमें अभिषेचनीय भी एक है) के अंग होते हैं, 'स्थान' प्रमाण से (केवल) अभिषेचनीय के ही अंग नहीं।[१]

यहाँ मूलपाठ में **'इदं च स्थानादिभ्यो बलवत्'– 'स्थानादिभ्यो'** यद्यपि बहुवचनान्त है, तथापि 'प्रकरण' प्रमाण स्थान और समाख्या-इन दो ही प्रमाणों की अपेक्षा 'बलवत्' है, यह ध्यान में रखना होगा ।।४३।।

*अनुवाद– **देशसामान्यमिति**। देश की समानता को 'स्थान' प्रमाण कहते हैं। स्थानप्रमाण के दो भेद हैं– (१) **पाठ सादेश्य** एवं (२) **अनुष्ठान सादेश्य**। स्थान एवं क्रम ये दोनों एकार्थवाची हैं। पाठसादेश्य के भी दो प्रकार होते हैं– (१) **यथासंख्यपाठ** और (२) **सन्निधिपाठ**।।४४।।*

।। अर्थमीमांसा ।।

यहाँ तक 'प्रकरण' प्रमाण का निरूपण समाप्त होने के पश्चात् पांचवे 'स्थान' प्रमाण का निरूपण अर्थात् उसका लक्षण एवं उसके प्रभेदों का निरूपण प्रारम्भ किया जा रहा है। इस स्थान-प्रमाण का पर्याय 'क्रम' भी होता है। यह इस मूल वाक्य– **'स्थानं क्रमश्चेत्यनर्थान्तरम्'** से स्पष्ट होता है। किन्तु **'स्थानं क्रमश्चेत्यनर्थान्तरम्'** बीच में ही क्यों उल्लिखित किया गया है? ऐसी शंका उत्पन्न होना स्वाभाविक ही है। और इसे यहाँ यदि उल्लिखित न भी किया जाता तो कोई अनर्थ भी नहीं होता। वस्तुतः स्थान प्रमाण के दो भेदों– (१) **पाठसादेश्य** और (२) **अनुष्ठानसादेश्य** का निरूपण करने के पश्चात् क्रमप्राप्त पाठसादेश्य के अन्य दो भेदों– (१) यथासंख्यपाठ और (२) सन्निधिपाठ-का उल्लेख यहाँ होना चाहिये था, किन्तु इन दोनों भेदों के मध्य में **'स्थानंक्रमश्च'**– इत्यादि वाक्य का उल्लेख अस्थान में करने का वस्तुतः कोई कारण परिलक्षित नहीं होता है। तो फिर यह वाक्य बीच में ही क्यों उल्लिखित किया गया? इसका कारण ज्ञात करने हेतु न्यायप्रकाश में उक्त प्रसंग का अवलोकन करना चाहिए।[२]

---

१. अविच्छिन्ने कथम्भावे यत्प्रधानस्य पठ्यते।
अनिर्ज्ञातफलं कर्म तस्य प्रकरणाङ्गता ।। (तंत्र-वार्तिक-पृ. ८१७)

२. 'देशसामान्यं स्थानम्। तच्च द्विविधम्। पाठसादेश्यमनुष्ठानसादेश्यं चेति। यथाहुः। तत्र क्रमो द्विधैवेष्टो देशसामान्यलक्षणः। पाठानुष्ठानसादेश्याद्विनियोगस्य कारणम्। इति। स्थानंक्रमश्चेत्यनर्थान्तरम्। पाठसादेश्यमपि द्विविधम् ।।" इत्यादि ।।

यहाँ आपदेवी में 'तत्रक्रमः' इत्यादि तंत्रवार्तिक[१] की जो कारिका उद्‌धृत है, उसमें **'स्थान'** के लिये **'क्रम'** शब्द का प्रयोग किया गया है। इसलिए वहाँ 'स्थानं क्रमश्चेत्यनर्थान्तरम्' ऐसा कहना आवश्यक था। परन्तु अर्थसंग्रह में **'यथाहुः'** और उसके अग्रिम कारिका का लोप (Omit) होने के कारण यहाँ **'स्थानं क्रमश्च'** इत्यादि वाक्य की भी कोई आवश्यकता नहीं रही थी, वस्तुतः प्रकृत प्रकरण में उल्लिखित कारिका तो सम्पादकों के अनवधान से छूट गई। और उस कारिका के 'क्रम' शब्द का ''स्थानं क्रमश्चेति'' इस प्रकार का स्पष्टीकरण मात्र यहाँ अनवधानता से शेष रह गया है। यह तथ्य उपर्युक्त विवेचन से ध्यान में आ सकता है।

ग्रंथकार ने 'स्थान' प्रमाण का लक्षण **'देशसामान्यं स्थानम्'** शब्दों में दिया है। अर्थात् समानदेशवत्व– दो या दो से अधिक का समान देश, अर्थात् एक ही स्थान होना ही **'देशसामान्य'** होता है। दूसरे शब्दों में 'स्थान की समानता' को 'स्थान' प्रमाण माना गया है। जो अनेक बातें एक ही समान देश में अर्थात् एक ही स्थान पर-एक दूसरे के सान्निध्य में पठित होती हैं, उनमें समानदेशत्व रूप धर्म के कारण 'स्थान' नाम का प्रमाण उत्पन्न होता है। और इसीलिए उपर्युक्त टीका में **'संनिधिविशेषत्व'** यह स्थानप्रमाण का दूसरा लक्षण सूचित किया गया है।[२] **मीमांसा परिभाषा** में 'सन्निधि' को स्थान कहा गया है।[३] स्थान प्रमाण दो प्रकार का होता है– एक **पाठसादेश्य** और दूसरा **अनुष्ठानसादेश्य**। यहाँ **'सादेश्य'** का अर्थ **देशसामान्य** से भिन्न नहीं है। ['समानः देशः येषां ते समानदेशाः सदेशाः वा तेषां सदेशानां भावः सदेशत्वं सादेश्यं वा'] इस प्रकार विग्रह करने पर स्पष्ट होता है कि **सादेश्य, सदेशत्व, समानदेशत्व, देशसामान्य,**-ये सभी शब्द समानार्थ के द्योतक हैं।

स्थान सम्बन्धी उपर्युक्त विवरण में सर्वत्र 'देश' शब्द का प्रयोग हुआ है, 'देश' शब्द का अर्थ दो प्रकार से उपपन्न हो सकता है। जैसे,-वेद में या ब्राह्मण में किसी एक अनुवाक में कुछ मंत्र एकत्र पठित होने पर, वह 'मंत्र पाठ' की दृष्टि से समान देश होता है। या, वे मंत्र कहीं भी पठित होने पर, यदि वे किसी एक अनुष्ठान में एक साथ उपयोग में आते हों तो उस अनुष्ठान की दृष्टि से वह उन मंत्रों का समान देश होता है। उक्त रीत्या-पाठ और अनुष्ठान दोनों दृष्टियों से उक्त दो प्रकार उत्पन्न होने के कारण-**पाठसादेश्य** और **अनुष्ठानसादेश्य** नाम के विभागों की कल्पना की गई है। पुनः पाठसादेश्य के भी दो भेद होते हैं– (१) **यथासंख्यपाठ** और (२) **सन्निधिपाठ**। मंत्रों का एक ही स्थान पर पठन होने पर उन मंत्रों के पठन में यदि केवल सान्निध्य मात्र ही हो तो उसे **संनिधिपाठ** कहा जाता है। किन्तु अनेकवार ऐसा भी परिलक्षित होता है कि एक स्थान पर किसी विशिष्टक्रम से उन मंत्रों का पठन किया रहता है, और उसी पूर्व के क्रम को स्थिर रखकर या उसी क्रम से यदि अन्यत्र भी उनका पठन होता है, या पूर्व के क्रमका अतिक्रमण न करके जो पठन किया जाता है, उस पठन को **यथासंख्य पाठ** कहते हैं।।४४।।

---

१. तंत्रवार्तिक– ३।३।५

२. 'सन्निधिविशेषत्वमिति लक्षणान्तरम्। (कौमुदी)

३. स्थानं नाम सन्निधिः। (परिभाषा)

(४५) पाठसादेश्येन विनियोगमध्ये यथासंख्यपाठः

तत्र 'ऐन्द्राग्नमेकादशपालं निर्वपेत्' । 'वैश्वानरं द्वादशकपालं निर्वपे' दित्येवं क्रमविहितेषु 'इन्द्राग्नी रोचनादिव' इत्यादीनां याज्यानुवाक्यामन्त्राणां यथासङ्ख्यं प्रथमस्य प्रथमं द्वितीयस्य द्वितीयमित्येवं रूपो विनियोगो यथासङ्ख्यपाठात् । प्रथमपठितमन्त्रस्य हि कैमर्थ्याकाङ्क्षायां प्रथमतो विहितं कर्मैव प्रथममुपतिष्ठते समानदेशत्वात् । एवं द्वितीयमन्त्रस्यापि ।।४५।।

तत्र यथासङ्ख्यपाठत्वेन समानदेशत्वं समुदाहरति-*तत्रैन्द्राग्नमित्यादिना*। प्रथमस्य प्रथममिति । प्रथमस्यैन्द्राग्नमित्यैन्द्राग्नेष्टियागस्येन्द्राग्नीरोचनादिव इति प्रथमं याज्यानुवाक्यायुगलमङ्गं द्वितीयस्य वैश्वानरमिति वैश्वानरेष्टियागस्य वैश्वानरोऽजीजनदित्यादि द्वितीयमङ्गमित्यर्थः । एवं रूपे विनियोगे हेतुमाह-*प्रथमपठितमन्त्रस्येत्यादिना*।

*अनुवाद– तत्रेति । **'ऐन्द्राग्नमेकादशकपालं निर्वपेत्'** (इन्द्र एवं अग्नि हेतु ११ कपालों में निर्मित पुरोडाश का निर्वाप करना चाहिए) और **'वैश्वानरं द्वादशकपालं निर्वपेत्'** (वैश्वानर हेतु १२ कपालों में निर्मित पुरोडाश का निर्वाप करना चाहिए) इन दो विधि वाक्यों के क्रमशः पाठ के पश्चात् क्रम से **'इन्द्राग्नी रोचना दिवः'** तथा **'वैश्वानरो अजीजनत्'** आदि याज्यानुवाक्या मंत्रों का पाठ मिलता है। यथासंख्य से यह बोध होता है कि प्रथम मंत्र प्रथम विधि बोध्य क्रिया का अङ्ग और द्वितीय मन्त्र द्वितीय विधि बोध्य क्रिया का अंग होता है। क्योंकि प्रथम पठित मन्त्र में 'यह मन्त्र क्यों है' इत्याकारक कैमर्थ्याकांक्षा होने पर समान देश में प्रथम विहित याग की ही विद्यमानता होती है। इसी प्रकार द्वितीय मंत्र के विषय में समझलेना चाहिये ।।४५।।*

।। अर्थमीमांसा ।।

अधुना ग्रंथकार 'यथासंख्य' पाठको उदाहरण द्वारा स्पष्ट कर रहे हैं–

(१) **'ऐन्द्राग्नमेकादशकपालं निर्वपेत्'** (अर्थात् इन्द्र एवं अग्नि के लिये ११ कपालों से निर्मित पुरोडाश का निर्वाप करना चाहिए) और

(२) **'वैश्वानरं द्वादशकपालं निर्वपेत्'** (अर्थात् वैश्वानर के लिए १२ कपालों से निर्मित पुरोडाश का निर्वाप करना चाहिये) इन दोनों वाक्यों के क्रमशः पाठ के पश्चात् क्रम से **'इन्द्राग्नी रोचना दिवः'** एवं **'वैश्वानरो अजीजनत्'** आदि याज्यानुवाक्या मंत्रों का पाठ होता है। मैत्रायणीय शाखा के ब्राह्मण भाग में **'ऐन्द्राग्न.'** **'वैश्वानर'** इत्यादि काम्येष्टि का निरूपण करने के पश्चात् उसी शाखा के मंत्रभाग में उन-उन काम्येष्टियों के याज्यानुवाक्या[१] के मंत्रों का पाठ यथासंख्य क्रम से दिया गया है। इनका क्रम इस प्रकार है– (१) **'इन्द्राग्नी**

१. **'याज्या'** संज्ञक मंत्रों का उच्चारण यागानुष्ठान काल में किया जाता है। **'अनुवाक्या'** संज्ञक मंत्रों से देवता का आह्वान किया जाता है।

कैमर्थ्याकाङ्क्षायामिति। किमर्थोऽयं मन्त्र इति कैमर्थ्याकाङ्क्षायामित्यर्थः। एवं द्वितीयमन्त्रस्यापिति किमर्थोऽयं मन्त्र इति द्वितीयमन्त्रस्यापि कैमर्थ्याकाङ्क्षायां द्वितीयस्थाने विहितमेव कर्मोपतिष्ठते समानदेशत्वादित्यर्थः। कोऽर्थो यस्य स किमर्थः। तस्य भावः कैमर्थ्यं तस्याकाङ्क्षायामिति निरुक्त्या किमनेन मन्त्रेण भाव्यमिति सिध्यति। अत्र च क्रमस्योदाहरणान्तरमपि वर्तते *तथाहि*। **दर्शपूर्णमासयोराध्वर्यवे काण्डे आग्नेयोपांशुयाजाग्नीषोमीययागाः क्रमेणाम्नाताः। याजमाने च काण्डे आग्नेयादि-विषयास्तेनैव क्रमेण मन्त्रा आम्नाताः अग्नेरहं देवयज्ययान्नादोभूयासन्दब्धिरस्य दब्धो भूया-सममुन्दभेयमग्नीषोमयोरहं देवयज्यया वृत्रहा भूयासमिति तत्राद्यन्तयोराग्नेयाग्नीषोमीययोः कर्मणोराद्यन्तौ मन्त्रौ मध्यमस्य चोपांशुयाजस्य कर्मणो मध्यमोदब्धिरस्य दब्धोभूयासममुन्दभेयमिति मन्त्राङ्गन्तस्य च ब्राह्मणवाक्यमेवमाम्नायते। एतया**

रोचना दिवः'– इत्यादि मंत्रयुगल प्रथम पठित हैं और (२) **'वैश्वानरोऽजीजनत्'** यह मंत्रयुगल दूसरे स्थान पर है। यहाँ यथासंख्य पाठ से प्रथम 'ऐन्द्राग्न याग' का प्रथम मन्त्र युगल अर्थात् 'इन्द्राग्नी रोचना दिवः' 'अंग' है एवं द्वितीय 'वैश्वानर याग' का द्वितीय मन्त्र युगल 'वैश्वानरोऽजीजनत्' 'अंग' है। इस प्रकार यथासंख्य पाठ से मन्त्रों का विनियोग निश्चित किया जाता है। क्योंकि 'इन्द्राग्नीरोचना दिवः' यह जो प्रथमस्थान में पठित मंत्र है, वह किसके लिये पठित है? ऐसी आकांक्षा-कैमर्थ्याकांक्षा [कोऽर्थो यस्य स किमर्थः, तस्य भावः कैमर्थ्यं, तस्याकांक्षा कैमर्थ्याकांक्षा-कौमुदी] उत्पन्न होने पर, दूसरी ओर प्रथम स्थान में पठित जो 'ऐन्द्राग्नयाग' रूपी कर्म है वही, प्रथमतः मन में उपस्थित होता है। क्योंकि दोनों का एक ही, अर्थात् प्रथम स्थान में पठन किया गया है। इसी प्रकार दूसरे मंत्र का विनियोग निश्चित किया जाता है। जैसे, 'वैश्वानरोऽजीजनत्' यह जो द्वितीय स्थान में पठित मंत्र है, वह किसके लिये पठित है? इस प्रकार की कैमर्थ्याकांक्षा उत्पन्न होने पर दूसरी ओर दूसरे स्थान में पठित जो वैश्वानरयागरूपी कर्म है, वह प्रथमतः अपने मन में उपिस्थत होता है। क्योंकि दोनों का एक ही अर्थात् दूसरे स्थान में पाठ हैं। 'यथासंख्य पाठ' इस नामकरण में कारण यह है कि मंत्र की क्रमवाचक संख्या का अतिक्रमण न करके मंत्र का पाठ किया जाता है। (संख्यामनतिक्रम्य यथा स्यात्तथा पाठः यथासंख्यापाठः) इसी यथासंख्यापाठ का और अधिक स्पष्ट उदाहरण **'जैमिनियन्यायमालाविस्तर'**[१] में उपन्यस्त किया गया है। वह इस प्रकार है– दर्शपूर्णमास के प्रकरण में अनेक काण्ड हैं, उनमें **आध्वर्यव काण्ड** और **याजमान काण्ड** नाम के दो काण्ड संलग्न हैं। उक्त दो काण्डों में से– आध्वर्यव काण्ड में (१) आग्नेय (२) उपांशु और (३) अग्नीषोमीय-इन तीन यागों का उल्लेख है। और इन यागों को लक्ष्य करके इसी क्रम से याजमान काण्ड में निम्नांकितानुसार मंत्रों को आम्नात किया गया है। वे इस प्रकार है– (१) 'अग्नेरहं देवयज्ययान्नादो भूयासम्' (२) 'दब्धिरस्यदब्धो भूयासममुं दभेयम्'– (३) 'अग्नीषोमयोरहं देवयज्यया वृत्रहा भूयासम्'।– इनमें से प्रथम मंत्र में **'अग्नेः'** पद होने के कारण और तीसरे मंत्र में **'अग्नीषोमयोः'** पद होने से 'प्रथम मंत्र' प्रथम **आग्नेय याग** का अंग है और तीसरा मंत्र तीसरे **अग्नीषोमीय** याग का अंग है। यह निर्विवाद है। अब मध्यस्थानीय

---

१. जैमिनीयन्यायमाला– ३।३।६

(४६) पाठसादेश्येन विनियोगमध्ये संनिधिपाठः

वैकृताङ्गानां प्राकृताङ्गाननुवादेन विहितानां सन्दंशापतितानां विकृत्यर्थत्वं सन्निधिपाठात्। यथा आमनहोमानाम्। तेषां हि कैमर्थ्याकाङ्क्षायां फलं विकृत्यपूर्वमेव भाव्यत्वेन सम्बध्यते। उपस्थितत्वात्। स्वतन्त्रफलकत्वे विकृतिसन्निधिपाठानर्थक्यापत्तेः।।४६।।

वैदब्ध्यादेवा असुरान् दभ्नुवन्तयैव भ्रातृव्यं दभ्नोतीति दब्धिर्घातकमायुधमित्यर्थः। नचाऽग्नेयाग्नीषोमीययोरप्यनिष्टनिवारकत्वेन साधारणलिङ्गेन दब्धिमन्त्रस्याङ्गत्वं किं न स्यादिति वाच्यम्। यथा वाक्यद्वयानुसन्धानेन सम्पन्नप्रकरणं पृथक्प्रमाणं तथा प्रकरणद्वयानुसन्धानसम्पन्नेन क्रमप्रमाणेनोपांशुयाजे तस्य मन्त्रस्य विनियोगात्। नच क्रमस्य प्रकरणेऽन्तर्भाव इति वाच्यम्। द्वयोर्वाक्ययोरिव प्रकरणयोरेकवाक्यत्वाभावात्। तस्मात् क्रमप्रमाणेन मध्यवर्तिन उपांशुयाजस्य मध्यवर्ती मन्त्रोऽङ्गं समानदेशत्वादिति।।४५।।

यथाङ्क्यपाठाद्विनियोग उक्तः सन्निधिपाठात्तु यानि वैकृत्याङ्गानि प्राकृताङ्गानुवादेन विहितानि सन्दंशपतितानि तेषां विकृतौ विनियोग इत्याह-*वैकृताङ्गानामित्यादिना*।

जो मंत्र है, उसके सम्बन्ध में प्रश्न शेष रहता है कि यह मंत्र किस याग का अंग है? मंत्र में **'दब्धि'** शब्द प्रयुक्त है, जो घातक आयुध का वाचक है। उक्त अर्थानुसार दूसरे मंत्र का तात्पर्यार्थ यह है कि 'हे देवते! दब्धि आयुध की तरह घात करने की शक्ति तुझ में निहित है, अत: तेरी कृपा से मेरा घात न हो, और मैं शत्रु का घात कर सकूं।' किन्तु उक्त अर्थ का वाचक जो यह मंत्र है, वह उपांशुयाग का अंग हो, (बने) इस विषय में श्रुति या ब्राह्मण में कहीं कोई उल्लेख नहीं है। अत: यह मंत्र किसका अंग माना जाय? यह प्रश्न उठता है। किन्तु इस उपस्थित प्रश्न का उत्तर-समाधान-यथासंख्यपाठ के प्रमाण के आधार पर ही हो सकता है। यथा– **आध्वर्यव** काण्ड में जिस क्रम से (१) **आग्नेय**, (२) **उपांशु** और (३) **अगनीषोमीय**– ये तीन याग पठित हैं। उसी क्रम से याजमान काण्ड में प्रथम मंत्र 'आग्नेय' याग का और तीसरा मंत्र 'अग्नीषोमीय' याग का यदि पठित है तो, यथासंख्यपाठ से यह स्पष्ट दिखाई देता है कि उपर्युक्त तीन मंत्रों में से **'दब्धिरसि'** इत्यादि याजमान काण्ड का शेष दूसरा मंत्र अध्वर्युकाण्ड के उपांशुयाज का ही अंग होना चाहिए।।४५।।

***अनुवाद– वैकृताङ्गानामिति*।** *प्राकृत यांग के अङ्गों के अननुवाद से संदंश में अपठित जो विकृति के अंग है वे सन्निधि पाठ से 'विकृति याग' के अंग होते है। जैसे–* ***आमन होम*।** *क्योंकि आमन होम में कैमर्थ्याकांक्षा होने पर विकृति याग के अपूर्व फल का ही साध्यरूप से उपस्थित होने के कारण अन्वय होता है, वस्तुत: आमन होम का फल विकृति याग के फल से ही सफल है। क्योंकि आमन होम का फल विकृति के अपूर्व के अतिरिक्त स्वतंत्र रूप से और कुछ होता तो विकृति सन्निधि में उसका पाठ व्यर्थ हो जाता।।४६।।*

तत्रोदाहरणमाह-यथाऽऽमनहोमानामिति अमनसे स्वाहा, रेतस्विने स्वाहेत्यादयो-मनोहोमाः । यद्वा अमनो होमानामिति पाठः प्रामादिक एव किन्त्वामनहोमानामिति सकाररहित आपूर्व एव पाठः साधुः । तत्र च वैश्वदेवीं साङ्ग्रहणीं निर्वपेत् ग्रामकाम इत्यस्य काम्येष्टियागस्य सन्निधौ श्रूयन्त आमनहोमा आमनदेवा इति तिस्र आहुतीर्जुहोतीति । नन्वामनहोमानां फलाकाङ्क्षायां फलवद्विकृत्यपूर्वमेव भाव्यत्वेन सम्बध्यत इत्यसत् तेषां मुख्ययागत्वे विरोधाभावात् । नह्याग्नेयादीनां षण्णामनुमित्यादीनां च बहूनां मुख्यत्वविरुद्धमित्याशङ्क्य यथा दर्शपूर्णमासाभ्यां स्वर्गकाम इति वाक्ये-नाऽऽग्नेयादीनां फलसम्बन्धावगमस्तथाऽमनहोमानां फलसबन्धावगमाभावान्न प्राधान्यं युज्यते । साङ्ग्रहणीं निर्वपेत् ग्रामकाम इति वाक्यस्य तु साङ्ग्रहण्या एव फलसम्बन्धबोधकत्वेनाऽमनहोमानान्तत्सम्बन्धबोधकत्वाभावात् । तस्मात्फलवत्सन्निधा-वफलं तदङ्गमिति न्यायात्फलवत्याः साङ्ग्रहण्याः सन्निधावाम्नाता अफला आमनहो-

।। अर्थमीमांसा ।।

पाठसादेश्य के जिन दो भेदों– **यथासंख्य** और **संनिधिपाठ**-को पूर्व में निरूपित किया गया है, उनमें से यथासंख्यपाठ के द्वारा अंगों का प्रधान के साथ किस प्रकार विनियोग किया जा सकता है, बतलाकर उससे सम्बन्धित दो उदाहरणों को पूर्व में प्रस्तुत किया जा चुका है। प्रकृत में संनिधिपाठ के योग से अंगविनियोग किस प्रकार निश्चित किया जाता है,? उससे सम्बन्धित विवरण ग्रंथकार प्रस्तुत कर रहे हैं। काम्येष्टिकाण्ड[१] में एक विधान है– **'वैश्वदेवीं सांग्रहणीं निर्वपेत् ग्रामकामः'** और उसीके निकट (सन्निधि) **'आमनस्य-आमनस्य देवाः-इति तिस्र आहुतीर्जुहोति'** इस प्रकार का आमन होम विषयक एक अन्य विधान-किया गया है।

प्रथम वाक्य में प्रयुक्त **'सांग्रहणी'** के स्थान पर **'सांग्रहायणी'** का पाठ **शाबरभाष्य** में देखने में आता है। किन्तु तैं. सं.[२] में जहाँ इस इष्टि का विधान किया गया है, वहाँ सर्वत्र 'सांग्रहणी' यह नाम इसी स्वरूप में दिखाई देता है, और **सायणभाष्यमें** उस नाम का निर्वचन भी ['मनसा परस्परमैकमत्येन सम्यक् स्वीकारः संग्रहणम्। तद्यस्यामिष्टावस्ति सा सांग्रहणी'] इस प्रकार दिया गया है। उसी प्रकार दूसरे वाक्य में जिन आमनहोमों का विधान किया गया है, उन होमों का स्वरूप भी इस प्रकार का है– **'अमनसे स्वाहा, रेतस्विने स्वाहा'**। 'आमनहोम' यह नाम भी उसमें पठित प्रथम आहुति-'अमनसे स्वाहा' से ही रूढ हुआ है। अब यहाँ पूर्वोक्तानुसार सांग्रहणी इष्टि के निकट (सन्निहित) आमनहोम का पाठ होने के कारण 'सन्निधिपाठ' से आमनहोम को सांग्रहणी इष्टि का अंग होना चाहिए।

इस पर पूर्वपक्षी एक **शंका** उपस्थित करता है कि आप **'सांग्रहणी इष्टि'** को प्रधान याग और **'आमनहोम'** को उसका **अंग** क्यों मानते हैं? जैसे- 'सांग्रहणी इष्टि' एक प्रधानभूत याग है, उसी प्रकार उसी के समकक्ष **आमनहोम** को भी प्रधानयाग होने में क्या आपत्ति है?

१. जै.सू. ४/४/४

२. तै. सं. कां. २, प्रपा. ३, अनु. ९

मास्तदङ्गमित्यभिप्रेत्य किमर्था इमे। किलेति कैमर्थ्याकाङ्क्षायाम्फलवताविकृत्यपूर्वस्यैव भाव्यत्वेन सबन्धे हेतुमाह-उपस्थितत्वादिति । सन्निधिप्रमाणेनोपस्थितत्वादित्यर्थः । नन्वामनहोमानां साङ्ग्रहणीसन्निधिपाठेऽपि विश्वजिन्न्यायेन स्वतन्त्रफलकत्वमेव किन्न स्यादित्यत आह-स्वतन्त्रफलकत्व इत्यादिना । फलवत्कर्मासन्निधौ पठितस्यैवाश्रूयमाणफलस्य विश्वजिन्यायेन स्वतन्त्रफलं कल्प्यते । अन्यथा प्रयाजादीनामपि तन्न्यायेन स्वतन्त्रफलकत्वापत्तिः स्यात् । अफलस्य फलवत्सन्निधौ पाठस्तु तदङ्गत्वायैव । तदभावेऽनर्थकत्वमेव तस्यापद्येतेति भावः ।।४६।।

क्योंकि एक ही याग प्रधान होना चाहिए, ऐसा कोई नियम नहीं है। **'दर्शपूर्णमासाभ्यां यजेत स्वर्गकामः'**– इत्यादि वाक्य में छ: (६) प्रधान यागों का विधान किया गया है। उसी प्रकार **'स्वराज्यकामो राजसूयेन यजेत'**– इत्यादि वाक्य में भी **पशुयाग, सोमयाग** इत्यादि अनेक प्रधान याग पठित हैं। अत: दर्शपूर्णमास में या राजसूय में जिस प्रकार अनेक प्रधान याग एक दूसरे के साथ अंगांगिसम्बन्ध को प्राप्त किये बिना भी स्वतन्त्ररूप से यदि रह सकते हैं तो, प्रस्तुत प्रकरण में भी 'सांग्रहणी इष्टि' और 'आमनहोम' सभी को वस्तुत: समान योग्यता के– प्रधानभूत याग होने में कोई आपत्ति नहीं होनी चाहिए। तात्पर्य यह है कि सांग्रहणी इष्टि और आमनहोम-इन सभी को प्रधानभूत याग के रूप में माना जाना चाहिए।

किन्तु **उत्तरपक्षी** (सिद्धान्ती) के विचार में पूर्वपक्ष के उपर्युक्त आक्षेप उचित नहीं है। क्योंकि पूर्वपक्षी के द्वारा दर्शपूर्णमास और राजसूय के जिन उदाहरणों को प्रस्तुत किया गया है, वे यहाँ लागू नही होते। उनका यह कहना तो ठीक है कि दर्शपूर्णमास और राजसूय-इन दोनों में अनेक प्रधान याग विहित हैं। किन्तु उन सभी प्रधान यागों का किसी न किसी फल से सम्बन्ध अवश्य है। दर्शपूर्णमासान्तर्गत जो आग्नेयादिक छ: प्रधान याग हैं, उनका **'स्वर्ग'**-फल से सम्बन्ध है और राजसूय याग में जिन अनुमत्यादिक अनेक प्रधान यागों का विधान हैं, उनका 'स्वराज्य' फल से सम्बन्ध है। किन्तु इन आमनहोमों के विषय में देखने पर, उनका किसी भी फल से सम्बन्ध ज्ञात नहीं होता। क्योंकि **'आमनस्य-आमनस्य-देवाः– इति तिस्त्र आहुतीर्जुहोति'**– इस विधायक वाक्य में उनके किसी अलग फल का उल्लेख नहीं है। यदि आमनहोमों का किसी एक भी फल से सम्बन्ध पठित होता तो वे प्रधान याग हो सकते थे। किन्तु उनका स्वयं कोई स्वतंत्र फल पठित न होने से– **'फलवत्संनिधौ अफलं तदंगम्'**– इस न्याय से आमनहोमों को सांग्रहणी इष्टि का 'अंगत्व' प्राप्त है, यही मानलेने के सिवा अन्य कोई गति नहीं है।[१]

अत: **''सांग्रहणीं निर्वपेत् ग्रामकामः''** इस सांग्रहणी वाक्य में जिस ग्राम प्राप्ति रूप

---

१. नह्याग्नेयादीनां षण्णामनुमित्यादीनां..................फलसम्बधावगमस्तथाऽमनहोमानां..............साङ्ग्रहण्या एव फलसम्बन्धबोधकत्वेन...................तस्मात्फलवत्सन्निधावफलं तदङ्गमिति। कोमुदी ।।

'फल' का उल्लेख है, उस फल का सम्बन्ध केवल सांग्रहणी इष्टि से ही हो पाता है, उस फल का आमनहोमों से कोई सम्बन्ध नहीं हो सकता। इसके अतिरिक्त **'आमनस्य-आमनस्य देवा-इति तिस्र आहुतीर्जुहोति'** इस वाक्य में तो आमनहोमों के किसी फल का कोई उल्लेख भी नहीं है। अतः यह स्पष्ट हो जाता है कि आमनहोम अफल अर्थात् **फलरहित हैं**, और 'ग्रामरूप' फल के योग से सांग्रहणी इष्टि फलवती है, यह भी स्पष्ट है। ऐसी स्थिति में फलवती सांग्रहणी इष्टि के निकट (सन्निधि में) जो अफल आमनहोम विहित-पठित-हैं, **'फलवत्संनिधौ अफलं तदंगम्'** इस न्याय से जो अफल आमनहोम हैं, वे फलवत् सांग्रहणी इष्टि के अंग होते हैं, यही मानना चाहिये, यह सिद्ध होता है।

और यही बात ['**वैकृताङ्गानां** (इसके आगे के– 'प्राकृतांगाननुवादेनविहितानां संदंशापतितानाम्'– इन शब्दों का आगे स्पष्टार्थ देने के उद्देश्य से यहाँ उन्हें (Omit) लुप्त किया है) **विकृत्यर्थत्वं संनिधिपाठात्। यथा आमनहोमानाम् ।**']– ग्रंथ के मूलवाक्य में भिन्नरीति से प्रस्तुत की गई है। यहाँ वैकृतांगों का अर्थ, विकृति में चोदक द्वारा प्राप्त अंग न होकर, केवल विकृतियागोंको लक्षित कर उन्हें अप्राप्त 'अपूर्व' अंग (जो विकृतियागों को लक्षित कर पठित है) के अर्थ में ही ग्रहण करना चाहिए।

'सांग्रहणी इष्टि' एक काम्येष्टि है। और वह एक विकृति याग है, और इस विकृतियाग की सन्निधि में (निकट) जिन आमनहोमो का पाठ हैं वे उस विकृतियाग के अपूर्व अंग के रूप में उस विकृतियाग के लिये ही पठित होने चाहिए, यह संनिधिपाठ से सिद्ध होता है। क्योंकि विकृतियाग में आमनहोम सदृश जो नवीन (चोदक द्वारा प्राप्त नहीं) अंग पठित हैं, वे किसके लिये हैं? यह कैमर्थ्याकांक्षा उत्पन्न होने पर विकृतियाग का जो अपूर्वफल है, वही उन आमनहोम सदृश अंगों का फल होता है, यह मानना पड़ता है। अर्थात् **'आमनहोमादिकैः अंगैः किं भाव्यम्'**? इस प्रकार की आकांक्षा उत्पन्न होने पर **'आमनहोमादिकैः अंगैः विकृत्यपूर्वमेव भाव्यम्'**– यही उत्तर देना होगा ।। क्योंकि यहाँ सांग्रहणी इष्टि के निकट आमनहोमों को 'संनिधि'रूप प्रमाण द्वारा उपस्थित कर रखा है। और उन आमनहोमों का (स्वयं का) स्वतंत्र कोई फल भी विहित नहीं है। ऐसी स्थिति में विकृत्यपूर्व ही उनका फल माना जाना चाहिए, इसके अतिरिक्त अन्य कोई मार्ग नहीं है।[१]

अब अन्य कोई **पूर्वपक्षी** पुनः शंका करता है कि– आमनहोमों का अपना कोई स्वतंत्र फल नहीं है, यह सत्य है, किन्तु आप उसका 'विकृत्यपूर्व' ही फल क्यों मानते हैं? क्या इसके अतिरिक्य अन्य कोई मार्ग नहीं है? उसके लिए (पूर्व पक्षी के मतानुसार) अन्य मार्ग है। विश्वजिन्न्याय[२] में जिस प्रकार कहा गया है, वैसा आप करें। उक्त न्याय का स्वरूप इस प्रकार है– **'विश्वजिता यजेत'**– वाक्य आम्नात है। किन्तु उसका कोई फल पठित नहीं है।

---

१. कैमर्थ्याकाङ्क्षायाम्फलवता विकृत्यपूर्वस्येवं भाव्यत्वेन सम्बन्धे हेतुमाह उपस्थितत्वादिति। सन्निधिप्रमाणेनोपस्थितत्त्वादित्यर्थः ।।कौमुदी।।

२. जै.सू. ४/३/५,६,७

तब– **'विश्वजिन्नाम्ना यागेन किं कुर्यात्?** इस आशंका को निवृत्त करने के लिये, उसके समाधान में– "जिसमें निरतिशय सुख है, और जो सभी को इष्ट है, अर्थात् जो स्वर्ग है, उसी की स्वतंत्र फल के रूप में कल्पना करनी चाहिए," ऐसा निश्चय किया जाता है। आप विश्वजिन्यायानुसार अफल आमनहोम के लिए भी किसी स्वतंत्र फल की कल्पना क्यों नहीं कर लेते? उक्त राजमार्ग का त्याग कर आप सांग्रहणी इष्टिरूप विकृति का जो फल है, वही आमन होमो का भी फल है, ऐसी परतंत्र फल की कल्पना क्यों करते हैं?

पूर्वपक्षी की उक्त शंका का **उत्तर** ग्रंथ के मूल पाठ में ही इस प्रकार से दिया गया है– ['स्वतंत्रफलकत्वे विकृतिसंनिधिपाठानर्थक्यापत्ते:']– इस स्थान पर पूर्वपक्षी विश्वजिन्याय लगाने के लिये आग्रह करता है, उसके विचार में उक्तन्याय यहाँ लगाया जाना चाहिए, किन्तु उसका यह कहना समीचीन नहीं है, क्योंकि– विश्वजिन्याय लागू करने का यह अर्थ नहीं है कि जहाँ-जहाँ कोई फल विहित न हो, वहाँ-वहाँ विश्वजिन्याय लगाया जाय, वस्तुत: विश्वजिन्याय लागू करने के लिए दो बातें आवश्यक होती हैं– (१) जिस पर विश्वजिन्नयाय लागू करना हो, उसका स्वयं का स्वतंत्र कोई फल विहित न हो, और (२) किसी भी फलवत्कर्म की संनिधि में उसका पठन न किया गया हो। उक्त दोनों शर्तें जहाँ पूर्ण होती हैं,– वहाँ विश्वजिन्याय उत्पन्न होकर वहाँ तदनुसार स्वर्गरूप स्वतंत्र फल की कल्पना करना संभव होता है। किन्तु आमनहोमों की स्थिति ऐसी नहीं है, क्योंकि वे उक्त नियमों को परिपूर्ण नहीं कर सकते। प्रथम नियम के अनुसार उनका कोई स्वतंत्र फल पठित न होने से, वे प्रथम नियम की पूर्ति तो करते हैं किन्तु दूसरे नियम की वे पूर्ति नहीं कर पाते। क्योंकि फलवत् जो 'सांग्रहणी इष्टि' का कर्म है, उसकी संनिधि में अफल आमनहोमों का पठन किया गया है तब **'फलवत्संनिधौ अफलं तदंगम्'** यही नियम वहाँ प्राप्त होता है। फलत: विश्वजिन्याय का आगमन वहाँ नहीं हो सकता। अब प्रश्न उठता है कि विकृति की संनिधि में पठित आमनहोमों को विकृति का अंग यदि नहीं माना जाना है, तो उस विकृति की संनिधि में इन आमनहोमों का पाठ भी क्यों किया गया? और यदि 'अंगत्व' स्वीकार नहीं किया गया तो इस संनिधिपाठ को निरर्थकत्व प्राप्त हो जाता है। अत: जब विकृति की संनिधि में आमनहोमों का पाठ किया गया है तब अंगत्वेन ही उनका अन्वय किया जाना चाहिये, यह सिद्ध होता है।

ग्रंथकार की पंक्तियाँ प्रकृत प्रकरण में अत्यन्त विशदार्थ की सूचक हैं, उनका क्षेत्र अत्यन्त व्यापक है। इस दृष्टि से **'प्राकृताङ्गानुवादेन-विहितानां संदेशापतितानाम्'** इत्यादि वाक्य का विचार अतिशय महत्त्वपूर्ण है। किन्तु इन शब्दों का स्पष्टीकरण अभी तक नहीं किया गया है। अत: उनका स्पष्टीकरण अब यहाँ करना आवश्यक है। उक्तपंक्ति में दो **षष्ठ्यन्त विशेषण** प्रयुक्त किये गये हैं उनके विषय को समझने के लिए, 'स्थान' प्रमाण के पूर्ववर्ती जो प्रकरणरूप चतुर्थ प्रमाण है, उसकी ओर हमें चलकर देखना चाहिए। अर्थसंग्रह में इस विषय के सम्बन्ध में पूर्व में कभी कोई चर्चा नहीं की गई है, अकस्मात् इस विषय का उल्लेख यहाँ किया गया है। फलत: उसे एकदम-एकाएक-समझना थोडा कठिन है। प्रकरण के दो भेदों-**महाप्रकरण** और **अवान्तर प्रकरण** का निरूपण करने के पश्चात्

अर्थसंग्रह में– [''एतच्च प्रकृतावेव उभयाकाङ्क्षायाः संभवात् न तु विकृतौ। तत्र 'प्रकृतिवद्विकृतिः कर्तव्ये'त्यतिदेशेन कथंभावाकाङ्क्षाया उपशमेन। अपूर्वाङ्गानामप्युभयाकाङ्क्षया विनियोगासंभावात्। तस्मादपूर्वाङ्गानां स्थानादेव विकृत्यर्थत्वमिति''] इन वाक्यों के द्वारा यह बताया गया है कि महाप्रकरण केवल प्रकृति में ही अंगागिभाव संबंध को दिखा सकता है, और उस महाप्रकरण का विकृति के अंगांगिभाव संबंध को दिखाने में उपयोग नहीं हो सकता। क्योंकि महाप्रकरण में जिस उभयाकांक्षा की अपेक्षा होती है, वह विकृति में अतिदेश के कारण शेष नहीं रहती। इसलिए यह प्रश्न उत्पन्न होता है कि– प्रकृति से अतिदेश से प्राप्त होनेवाले (विकृति के) प्राकृत अंगों के अतिरिक्त विकृति में जो कुछ नवीन (अपूर्व) अंगो का समावेश होना होता है, वे किस प्रमाण से समाविष्ट हो सकते हैं? तब वहाँ 'प्रकरण' प्रमाण प्राप्त न हो सकने के कारण 'स्थान' प्रमाण के द्वारा ही उस अपूर्व अंग का विकृति में विनियोग किया जाता है।

अर्थसंग्रह में यहाँ तक के सामान्य नियम को निरूपित करने के पश्चात् उसके आगे के विषय को अविवेचित रूप में छोड़ दिया गया है। तथा उसके आगे 'अवान्तर प्रकरण' के स्पष्टीकरण के लिये प्रारम्भ कर दिया गया है। परन्तु विकृति में 'प्रकरण' का प्रवेश नहीं हो सकता, यह जो अर्थसंग्रह में पठित सामान्य नियम है, उसके अनेक अपवाद हैं, इन अपवादों का उल्लेख अर्थसंग्रह में नहीं किया गया है, जिस कारण उन अपवादों से सम्बन्धित दो विशेषणों **'प्राकृताङ्गानुवादेन विहितानाम्'** तथा **'संदंशापतितानाम्'** का उल्लेख प्रकृत प्रसंग दुर्बोध्य[१] हो गया है।

'प्रकृतिवद्विकृतिः कर्तव्याः'– इस अतिदेश के अनुसार विकृति में (१) प्राकृत अंग चोदक प्राप्त होते हैं किन्तु (२) उनके अतिरिक्त कुछ नवीन (अपूर्व) वैकृत अंग भी पठित होते हैं। और वे स्थान प्रमाण से विनियुक्त होते हैं। ऐसा पूर्वोक्त विवरण में निरूपित किया गया है। किन्तु इस नियम के दो अपवादों का **आपदेवी** में उल्लेख किया गया है। वे इस प्रकार हैं– (१) प्राकृत अंग के अनुवाद से विहित यदि कोई विकृति का अंग हो तो वह विकृति में 'प्रकरण' से ही प्राप्त होता है। और (२) प्राकृत अंग के अनुवाद से विधीयमान दो धर्मों के संदंश में यदि कोई विकृति का 'अपूर्व अंग' प्राप्त हुआ हो तो वह अपूर्व अंग भी विकृति में 'प्रकरण' प्रमाण से ही विनियोजित किया जाता है।

उपर्युक्त दो अपवादों में से **प्रथम अपवाद का उदाहरण ''औदुंबरो यूपो भवति''**– दिया गया है। यहाँ **'यूप'** प्राकृत अंग है, और उसका अनुवाद करके 'वह यूप औदुम्बर का होगा'– इस प्रकार 'औदुंबरत्व' का विधान किया गया है। और यह 'औदुंबरत्व' यहाँ 'स्थान' प्रमाण से विनियुक्त न होकर 'प्रकरण' प्रमाण से ही विनियोजित किया जाता है। यथा-

---

१. तत्सिद्धं महाप्रकरणं प्रकृतावेव विनियोजकम्। विकृतौ तु यत् प्राकृतदृष्टार्थांगानुवादेन विधीयते तस्य विनियोजकम्। न तु केवलं विधीयमानस्यापूर्वांगस्येति। यत्तु विकृतावपि प्राकृतधर्मानुवादेन विधीयमानयोर्धर्मयोरंतराले अपूर्वमप्यंगं केवलं पठ्यते तदपि प्रकरणेन विनियुज्यते। (आपदेवी)

'सोमापौष्णं त्रैतमालभेत पशुकामः''– इस वाक्य के द्वारा एक विकृतियाग विहित है और उसकी सन्निधि में **'औदुंबरो यूपो भवित'** यह वचन है। तब विकृतिभूत इस पशुयाग में प्राकृत अंग **'यूप'**[१] चोदक द्वारा प्राप्त होने पर इस यूपरूप प्राकृत अंग के अनुवाद द्वारा जो नवीन **औदुंबरत्व** विहित है, उसका 'प्रकरण' से ही विनियोग होता है। क्योंकि विकृति को जो **कथंभावाकांक्षा** होती है, वह केवल **यूप** द्वारा शान्त न होकर उसे प्रकरण प्राप्त **औदुंबरत्व** की ही अपेक्षा होती है। (इस विषय की विस्तृत जानकारी के लिये, देखेए– 'आपदेवी')

आपदेवी में **'आमनहोम'** को उपर्युक्त दूसरे अपवाद के उदाहरण के रूप में प्रस्तुत किया गया है। **'वैश्वदेवीं सांग्रहणीं निर्वपेत् ग्रामकामः'**[२] इस वाक्य के द्वारा **'सांग्रहणी'** नाम का एक विकृतियाग विहित है, और उस विकृतियाग के **'आमनहोम'** को अपूर्व अंग कहा गया है। क्योंकि सांग्रहणी इष्टि एक विकृति होने के कारण उसकी प्रकृति से उसमें 'प्रयाज' और 'अनुयाज' दो प्राकृत अंग चोदक प्राप्त होते हैं, उन दोनों के मध्य में ये 'आमनहोम' विहित हैं। **'यत्प्रयाजानां पुरस्तात् जुहुयात् बहिरात्मानं सजातानं दध्यात् यदनुयाजानामुपरिष्टाज्जुहुयात्, स्वर्गलोकमपक्रामेत् मध्ये जुहोति, मध्यत एव सजातानामात्मन्धत्ते'**[३]– इस वाक्य में प्रथम प्रयाजों का हवन करें और अन्त में अनुयाजों का हवन करें और इन दोनों के मध्य में आमनहोम की आहुतियों को दें,– ऐसा कहा गया है। इस प्रकार यहाँ प्रयाज और अनुयाज के संदंश के मध्य में ये आमनहोम ग्रस्त हैं, यह स्पष्ट होता है।[४] और इसलिए **आपदेवी** में यह कहा गया है कि– आमनहोमों को सांग्रहणी इष्टि का जो अंगत्व प्राप्त है, वह 'स्थान' प्रमाण से प्राप्त न होकर 'प्रकरण' द्वारा प्राप्त होता है।[५]

सांग्रहणी इष्टि के संबन्ध से आमनहोमों में निहित अंगत्व को स्थानप्रमाण के आधार पर मानना चाहिये या वह प्रकरण के आधार पर मानना चाहिए– यह एक मतभेद का प्रश्न है। **अर्थसंग्रह** में आमनहोमों का 'अंगत्व' संनिधिपाठ से ही सिद्ध होता है। किन्तु **आपदेवी-तन्त्ररत्नादि** अनेक ग्रंथों के मतानुसार यह अंगत्व **प्रकरणग्राह्य** है, कहागया है। किन्तु यह विचार अधिक योग्य नहीं है, यह **पं० चिन्नस्वामी शास्त्री** ने आपदेवी पर लिखी अपनी टीका

---

१. दृष्टादृष्टसंस्कारगणो यूप इति पार्थसारथिप्रभृतयः। तावत्संस्कारविशिष्टं काष्ठमितिं खण्डदेवः।
२. तै. सं. २।३।९।२
३. मै. सं. २।३।२
४. जै. सू. अ. १०, पा. ४, सू. ७ (शाबरभाष्य)
५. 'यत्तु विकृतावपि प्राकृतधर्मानुवादेन विधीयमानयोर्धर्मयोरन्तरालेऽपूर्वमप्यङ्गं केवलं पठ्यते तदपि प्रकरणेन विनियुज्यते। यद्यपि विकृतेः कथंभावाकाङ्क्षा प्राकृतैरेवाङ्गैः शाम्यति, तथापि यत्र प्राकृताङ्गानुवादेन धर्मविधानं तत्र तद्विधानं यावद्भवति तावत्कथंभावाकाङ्क्षा न निवर्तते। अतो विकृतेराकाङ्क्षावत्त्वादन्तराले विहितस्याप्यपूर्वाङ्गस्य भाव्याकाङ्क्षासत्वाद्युक्तं तस्य प्रकरणाद्विकृत्यर्थत्वम्, यथा आमनहोमेषु। ते हि प्राकृताङ्गानुवादेन विधीयमानयोर्धर्मयोरन्तराले विधीयन्त इत्युक्तं तन्त्ररत्नादावित्यास्तां तावत्।' —(न्याय प्रकाश)

में **शास्त्रदीपिका, न्यायसुधा** इत्यादि ग्रंथों के आधार पर सुष्ठुतया व्यक्त किया है[1]। उक्त विवेचन से यह स्पष्टरूप से ध्यान में आ जाता है कि 'आमनहोमों का अंगत्व प्रकरण ग्राह्य है',– यह विचार अधिक समीचीन नहीं है।

इसके पूर्व जिन दो अपवादों को कहा गया है, उनका निरूपण यहाँ तक किया गया है, और इन दो अपवादों के निरूपण से यह स्पष्ट किया गया है कि विकृति में जो कोई अपूर्व अंग होंगे उनमें से (१) प्राकृत अंग के अनुवाद से विहित जो अपूर्व अंग हो वह और (२) प्राकृत अंग के अनुवाद से विहित किसी दो धर्मों के संदंश में विकृति का जो अपूर्व अंग ग्रस्त होता है वह,– ये ही दो अपूर्व अंग 'प्रकरण' के आधार से विनियोजित किये जाते हैं। तथा उक्त दो अपवादों को छोड़कर शेष सभी विकृति के अपूर्व अंग 'स्थान' प्रमाण से विनियोजित किये जाते हैं। उपर्युक्त संपूर्ण विवेचन का स्वरूप निम्नाकित रेखांकित-आकृति से ध्यान में आसकता है—

प्रकृति–उभयाकांक्षा–प्रकरण

विकृति–अन्यतराकांक्षा

प्राकृत-पूर्व (चोदकप्राप्त) अंगानि		वैकृत-अपूर्व अंगानि
प्राकृतांगानुवादेन-विहित	प्राकृतधर्मसंदंशपतित	एतद् द्वयेतर
अपूर्व अंग (औदुंबरत्व)	अपूर्वअंग (आमनहोम)	अपूर्व अंग (उपहोम)
प्रकरणग्राह्य	प्रकरणग्राह्य	स्थानग्राह्य

उपरि अंकित रेखाचित्र से विकृति के अपूर्व अंगों में से प्रकरण ग्राह्य अंग कौन से हैं और स्थानग्राह्य अंग कौन से है, यह तत्काल-ध्यान में आसकता है। अत: (१) प्राकृत अंग के अनुवाद से विहित और (२) प्राकृतधर्मसंदंशपतित ये जो दो प्रकार के प्रकरणग्राह्य अंग है, उन्हें छोडकर शेष रहा हुआ जो समस्त प्रान्त-क्षेत्र-है, वह संपूर्ण क्षेत्र-प्रांत-स्थानग्राह्य अपूर्व अंगका क्षेत्र है। यही बात– **'प्राकृताङ्गननुवादेन-विहितानां संदंशापतितानां वैकृताङ्गानां विकृत्यर्थत्वं सन्निधिपाठात्'**– इस वाक्य में **'प्राकृताङ्गाननुवादेन-विहितानाम्'** और **'संदंशापतितानाम्'**– इन दो नञ्घटित विशेषणों को 'वैकृताङ्गानाम्' के पूर्व प्रयुक्त कर व्यक्त की गई है।।४६।।

---

१. तन्त्ररत्ने प्रकरणग्राह्यत्वोक्तावपि शास्त्रदीपिकायां सन्निधिग्राह्यत्वमुक्त्वा ''प्रकरणग्राह्यत्वस्यापि संभवात्'' इत्यपिना प्रकरणग्राह्यत्वे अस्वरसः सूचित; । अतएव च न्यायसुधायां बलाबलाधिकरणे आमनहोमानां सन्निधिविषयतैवोक्तेति कथं तेषां प्रकरणग्राह्यत्वमित्यत आह। इत्यास्तां तावदिति । यद्यप्यामनहोमानां सन्निधिग्राह्यतैव समुचिता, अभिमतं चास्माकमपि तदेव, तथापि तन्त्ररत्नाद्युक्तिमात्रमवलम्ब्य प्रकृतोदाहरणार्थमत्रोक्तमिति भावः ।। —(सारविवेचिनी)

(४७) अनुष्ठानसादेश्येन विनियोगः

पशुधर्माणामग्नीषोमीयार्थत्वमनुष्ठानसादेश्यात् । औपवसथ्येऽह्नि अग्निषोमीयः पशुरनुष्ठीयते तस्मिन्नेव दिने ते धर्माः पठ्यन्ते । अतस्तेषां कैमर्थ्याकाङ्क्षायामनुष्ठेयत्वेनोपस्थितं पश्वपूर्वमेव भाव्यत्वेन सम्बध्यते ।।४७।।

सन्निधिपाठसादेश्येन विनियोगं निरूप्यानुष्ठानसादेश्येन विनियोगं निरूपयति- पशुधर्माणामित्यादिना । पशुधर्माह्युपाकरणपर्य्यग्निकरणादयस्यत्र प्रजापतेर्जायमानाः इदं पशुमित्याभ्यामृग्भ्यां पशोरुपस्पर्शनमुपाकरणं दर्भज्वालयाऽर्चिःप्रदक्षिणीकरणम् । पर्य्यग्निकरणम् । यूपेरज्ज्वाबन्धनं यूपनियोजनमित्यादयो बोध्यास्तेषामनुष्ठानसमान-देशत्वादग्नीषोमीयपशुशेषत्वमेव नतु सवनीयादिशेषत्वमित्यर्थः । किञ्च ज्योतिष्टोम-प्रकरणे त्रयः पशवः समाम्नाता अग्नीषोमीयः सवनीयोऽनुबन्ध्यश्चेति । तत्राग्नीषोमीयः पशुः सौप्तनामकादन्हः प्राचीने औपवसथ्यनामकेऽह्नि धिष्ण्यनिर्माणादूर्ध्वं समनुष्ठीयते तत्र चैवाह्नि ते धर्माः समाम्नाताः । ततश्च तेषां शेष्याकाङ्क्षायामनुष्ठेयतयोपस्थित-

---

अनुवाद– ***पशुधर्माणामिति ।*** *अनुष्ठान सादेश्य नामक स्थान प्रमाण से यह अवगत होता है कि पशुओं के जो उपाकरणादि धर्म हैं वे अग्नीषोमीय पशु के अंग होते हैं। औपवसथ्य नामक दिन में अग्नीषोमीय पशुका अनुष्ठान होता है और उसी दिन उपाकरणादि धर्मों का कथन है। इस हेतु उन क्रियाओं के सम्बन्ध में कैमर्थ्याकांक्षा होने पर अनुष्ठेयत्वेन विद्यमान जो अग्नीषोमीय पशुजन्य अपूर्व है वही साध्यरूप मे अन्वित होता है ।।४७।।*

।। अर्थमीमांसा ।।

इसके पूर्व पांचवे प्रमाण 'स्थान' का निरूपण कर उसके दो विभागों– (१) **पाठसादेश्य** और (२) **अनुष्ठानसादेश्य**-का उल्लेख किया गया था। 'पाठसादेश्य' का यहाँ निरूपण समाप्त होने पर अब ग्रंथकार **'अनुष्ठानसादेश्य'** का निरूपण प्रारम्भ कर रहे हैं। तदर्थ जिस उदाहरण को उपन्यस्त किया गया है, वह अग्नीषोमीय पशु से सम्बन्धित है। इस अग्नीषोमीय पशु का सम्बन्ध विशेषरूप से सोमयाग में आता है।

सोमयाग

सोमयाग तीन प्रकार का है, (१) **एकाह** (२) **अहीन** और (३) **सत्र।** सोमयाग में सोम का मुख्यरूप से 'सवन' किया जाता है, इस याग का यही (सोम का सवन करना) प्रधान भाग होता है। यह 'सवन' तीन प्रकार का होता है– (१) **प्रातःसवन** (२) **माध्यंदिन सवन** और (३) **सायं सवन** । ये तीनों प्रकार के सवन जिसमें एक ही दिन में किये जाते हैं, उस सोमयाग को **एकाह** (एक + अहन्) कहा जाता है। आगे दूसरी रात्रि से प्रारम्भ होकर एकादश रात्रि तक जो सोमयाग सम्पन्न किये जाते हैं, उन्हें **'अहीन'** (अहोभिः साध्यते इति)

मग्नीषोमीयपश्वपूर्वमेव सन्निधितो भाव्यत्वेन सम्बध्यते नतु सवनीयानुबन्ध्यापूर्वं तत्सन्निधिविरहात्। अथ कथमितिचेन्न। सवनीयपशोः सौत्यनामकेऽह्नि समाम्नानादाश्विनं ग्रहं गृहीत्वा त्रिवृतायूपं परिवीयाग्नेयं पशुमुपाकरोतीति। अनुबन्ध्यस्यत्ववभृथान्ते श्रूयमाणत्वाच्च। तस्मादुपपद्यते ह्येतेषां धर्माणां सन्निधिनाऽग्नीषोमीयार्थत्वं सवनीयानुबन्ध्ययोस्तु चोदकान्नेऽतिदिश्यन्ते। नच पाठसादेश्यादेव तेषां तदर्थत्वं किं न स्यादिति वाच्यम्। अग्नीषोमीयपशोः सोमक्रयसमीपे पाठात्तेन तत्वासम्भवात्। न च क्रयसन्निधावेव तस्यानुष्ठानमपि किन्न स्यादिति वाच्यम्। स एष द्विदैवत्यः पशुरौपवसथ्येऽहनि आलब्धव्य इति वाक्यात्तस्य तत्रानुष्ठानानुपपत्तेः न च स्थानात्प्रकरणस्य बलीयस्त्वात्तेन तद्धर्माणां ज्योतिष्टोमार्थत्वमेव किं न स्यादिति वाच्यम्। तस्य सोमयागत्वात्तद्धर्मग्रहणायोगात् सोमोह्यभिषवादीन् धर्मानाकाङ्क्षति न तु यूपनियोजनविशसनादीन् तस्मादानर्थक्यप्रतिहतानां विपरीतबलाबलमिति न्यायेन प्रकरणं प्रधानात्प्रचाव्यस्थानात्पशुयागार्थत्वमेव पशुधर्माणां युक्तं भवति। न चाङ्गिन्यनर्थका सन्तस्ते धर्मा अङ्गेषु त्रिष्वपि पशुयागेष्वविशेषेणावतिष्ठन्त्विति वाच्यम्। सन्निधिरूपस्य विशेषस्य दर्शितत्वात्। न

कहा जाता है। ओर जो सोमयाग सहस्र संवत्सरपर्यन्त चलते-(होते) रहते हैं, उनकी संज्ञा **'सत्र'** है। उक्त सभी प्रकार के सोमयागों में से जो प्रथम एकाहरूपी ज्योतिष्टोमयाग है, वह प्रकृतिभूत है। इस ज्योतिष्टोम याग की सप्त (सात) संस्थाएँ हैं- (१) **अग्निष्टोम**, (२) **अत्यग्निष्टोम** (३) **उक्थय** (४) **षोडशी** (५) **अतिरात्र** (६) **अप्तोर्याम** और (७) **वाजपेय**।

इस सोमयाग में विविध कर्म अनुष्ठेय (करणीय) होते हैं। सर्वप्रथम यज्ञ-मण्डप, जिसे **प्राचीनवंश** कहा जाता है, का निर्माण किया जाता है। तत्पश्चात् यजमान को सोमयाग की दीक्षा[१] दी जाती है। इसके पश्चात् सोम का **'क्रयण'** खरीद कर उसे शकट (गाडी) में रखकर प्राचीनवंश नामक यज्ञ-मण्डप में लाया जाता है। सोम के वहाँ आने पर उसके सत्कार में **'आतिथ्येष्टि'** नामक एक इष्टि का आयोजन किया जाता है। इस आतिथ्येष्टि के सम्पन्न होने पर तथा प्राचीनवंश नामक यज्ञीय मण्डप में सोम की स्थापना की जाने के पश्चात् उस सोम-साधन से होनेवाले अनुष्ठेय याग में संभावित असुरों के विघ्नों का निवारण करने के उद्देश्य से त्रिदिवसीय **'उपसद'** नामक होम किये जाते हैं। तत्पश्चात् **'उत्तरवेदि' हविर्धानमण्डप, उपरव, सदोमण्डप, धिष्ण्य** इत्यादि विभिन्न प्रकार के स्थान विशेषों का निर्माण किया जाता है। इस प्रकार सर्वविध यज्ञीय व्यवस्था निश्चित-सम्पन्न-होने पर पशुयाग प्रारम्भ होते हैं। ये पशुयाग तीन प्रकार के होते हैं- (१) **अग्नीषोमीय,** (२) **सवनीय,** और (३) **अनुबंध्य**। इन यागों में से 'अग्नीषोमीय पशु याग' सर्वप्रथम प्रारम्भ किया जाता है। किन्तु इस पशुयाग के पूर्व भी उस याग से सम्बन्धित अनेक अनुष्ठेय कर्म करने होते है। पशुयाग में 'यूप' की आवश्यकता होती है। उस यूप का छेदन तथा उसकी स्थापना पशुयाग प्रारम्भ होने के पूर्व करनी होती है। तत्पश्चात् **अग्निमंथन** होने के बाद, **उपाकरण, पर्यग्निकरण** इत्यादि संस्कारों

---

१. क्रत्वङ्गभूतयमनियमपरिग्रहो दीक्षा इति पार्थसारथिः। अदृष्टरूपयमनियमपरिग्रहानुकूलयोग्यता दीक्षा इति खण्डदेवः

चाग्नीषोमीयेऽपि तद्धर्माणां प्रकरणादेव विनियोगः किं न स्यादिति वाच्यम्। क्लृप्तोपकारैरेव प्राकृतधर्मैरग्नीषोमीयस्येतिकर्तव्यताकाङ्क्षाया उपशान्तत्वात्। अग्नीषोमीयो हि सान्नाय्ययागप्रकृतिको भवति। तयोरुभयोरपि पशुप्रभवद्रव्यकत्वाविशेषात् सान्नाय्यन्दधिपयसी तत्र पशुयागः पयोयागप्रकृतिकः साक्षात्पशुप्रभवद्रव्यकत्वात्। तच्चोक्तं सान्नाय्यं वा तत्प्रभवत्वादिति। तस्माच्चोदकप्राप्तैस्तद्धर्मैर्निराकाङ्क्षत्वान्न पशुयागे तद्धर्माणां प्रकरणं विनियोजकं किन्तु स्थानमेवेत्यभिप्रेत्याह। औपवसथ्येऽह्नीत्यादिना।।४७।।

से संस्कृत **अग्नीषोमिय पशु** पूर्व से स्थापित किये हुए 'यूप' से बान्ध दिया जाता है अर्थात् नियोजित किया जाता है। तदनन्तर उस पशु का विशसन (मार देने के पश्चात्) करके उसकी 'वसा' का हवन किया जाता है। यह कर्मविधि जिस दिन सम्पन्न होनी होती है, उस दिन व्रतपूर्वक उपवास किया जाता है। और इसीलिए उस दिन को **'औपवसथ्यदिन'** कहते हैं। दर्शपूर्णमास के आपस्तंबसूत्र के सूत्र– 'एतत्कृत्वोपवसति'[१] के भाष्य में **उपवास** का अर्थ– ['अग्न्यन्वाधानादिपरिस्तरणान्तं कर्म कृत्वा अग्निसमीपे नियमविशिष्टो वासः उपवासः']– इस प्रकार दिया गया है। औपवसथ्य दिनके आगे के दिन को **'सौत्यदिन'** कहा जाता है।[२] क्योंकि इस दिन 'सोम' से रस निकालने का कार्य किया जाता है। अतः 'शकट' पर रखे हुए सोम को नीचे उतारा जाता है। तत्पश्चात् सोमरस को रखने के लिए अलग-अलग पात्र तैयार किये जाते हैं तथा सोम का **'अभिषव'** किया जाता है अर्थात् सोमलता को दबाकर, उससे सोमरस निकालने की क्रिया की जाती है। इस स्थान पर 'सवनीय पशु' का विधान विहित है। उसके पश्चात्वर्ती दिन अर्थात् 'अवभृथ' स्नान के दिन (अवभृथस्नान के पश्चात्) 'अनुबन्ध्य पशु' का विधान उल्लिखित है। इस प्रकार ज्योतिष्टोम प्रकरण में, **अग्नीषोमीय, सवनीय,** और **अनुबन्ध्य** इन तीन पशुओं का अनुष्ठेय रूप में पाठ मिलता है।

अनुष्ठानसादेश्य के उदाहरण के लिए मूलपाठ में जिस अग्निषोमीय पशु के प्रसंग का उल्लेख किया गया है, उसका यथार्थ ज्ञान होने के लिए सोमयाग से सम्बन्धित उक्त विवरण संक्षेप में दिया गया है। उक्त विवरण से यह ज्ञात होगा कि ज्योतिष्टोम प्रकरण में जिन तीन पशुओं का अनुष्ठेय रूप में पाठ मिलता है, वे हैं– (१) **अग्नीषोमीय**, (२) **सवनीय** और (३) **अनुबन्ध्य**। उसी प्रकार इन पशुओं का हवन करने के पूर्व उन पर किये जाने वाले जो अनुष्ठेय संस्कार **उपाकरण, पर्यग्निकरण** इत्यादि[३] हैं, उनका भी पाठ ज्योतिष्टोम प्रकरण में मिलता है, **'प्रजापतेर्जायमानाः'** और **'इमं पशुम्'**– इन दो ऋचाओं का पाठकर उस अनुष्ठेय पशु का स्पर्श करना 'उपाकरण' संस्कार कहा जाता है। 'पर्यग्निकरण' संस्कार में दर्भ प्रज्वलित कर, उन्हें तीन बार उस पशु के चारो ओर प्रदक्षिणा के रूप में घुमाया जाता है। अब यह शंका होती है कि ज्योतिष्टोम के प्रकरण में उपाकरण, पर्यग्निकरणादिक जो पशुधर्म विहित हैं क्या

---

१. आपस्त्म्बसूत्र– प्र. १., प. ४., कं. १४., सू. १५

२. द्रष्टव्य– तै. सं. कां. १, प्रपा. ४, अनु. १

३. तै. सं. का. १, प्रपा. ३, अनु. ७

वे **अग्नीषोमीय, सवनीय,** और **अनुबन्ध्य**-इन तीनों पशुओं को साधारणत्वेन लागू होंगे? या केवल अग्नीषोमीय पशु को ही।[१] प्रकृत प्रसंग में पूर्वपक्षी कहता है कि ये पशुधर्म तीनों पशुओं को सामान्यरूप से (साधारणत्व से) लागू होने चाहिए, क्योंकि यहाँ ऐसा कोई विशेष कारण दिखाई नहीं देता कि इन धर्मों को अमुक पशु को लागू करें और अमुक को नहीं। किन्तु पूर्वपक्ष का कथन उचित नहीं है। क्योंकि ये धर्म किसी विशेष पशु के लिये ही हैं, ऐसा मानने के लिए यहाँ विशेष कारण हैं। यद्यपि इन पशुधर्मों का पाठ ज्योतिष्टोम प्रकरण में है, किन्तु 'अग्नीषोमीय' पशु का पाठ पूर्वोक्त सोमक्रयण के निकट किया गया है। और उस सोमक्रयण के पश्चात् औपवसथ्य के दिन हविर्धानमंडप, सदोमंडप, धिष्ण्य, इत्यादि स्थान विशेषों के निर्माण के सम्बन्ध में कथन करने के पश्चात् उसके आगे इन 'उपाकरणादिक' धर्मों का विधान किया गया है। और उसी अवसर पर औपवसथ्य के दिन अग्नीषोमीय पशु का हवन करना होता है। इन पशुधर्मों का अनुष्ठान और अग्नीषोमीय पशु के हवन का अनुष्ठान-ये दोनों ही अनुष्ठान औपवसथ्य के दिन एक ही समय पर और एक ही स्थान पर प्राप्त होते हैं। इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि इन दोनों के मध्य में अनुष्ठान समानदेशत्व है। अब कोई यह कहे कि अग्नीषोमीय पशु का पाठ यदि सोमक्रयण के समीप किया गया है तो उसका अनुष्ठान भी सोमक्रय की सन्निधि में उसी समय क्यों न किया जाय तो उसका उक्त विचार समीचीन नहीं है, क्योंकि **'स एष द्विदैवत्यः पशुरौपवसथ्येऽहनि आलब्धव्यः'**– ऐसा स्पष्ट वचन होने के कारण इस अग्नीषोमीय द्विदैवत्य पशु के अनुष्ठान को सोमक्रय की सन्निधि में न कर उसे दीक्षा के दिन से चौथे दिन आनेवाले औपवसथ्य के दिन करना आवश्यक है। इसीलिए अनुष्ठानसादेश्य से ये उपाकरणादिक पशुधर्म अग्नीषोमीय पशु को ही विशेषरूप से लागू होने चाहिए, क्योंकि, औपवसथ्य के दिन अग्नीषोमीय पशुओं का अनुष्ठान करना होता है। और उसी दिन वे उपाकरणादिक धर्म भी किये जाने होते हैं।

उपाकरण आदि धर्मों के विषय में यह आकांक्षा होती है कि ये धर्म किस के लिये हैं? इनका प्रयोजन या अर्थ क्या है? इसी आकांक्षा को कैमर्थ्याकांक्षा कहते हैं। इस आकांक्षा का समाधान स्वाभाविकरूपसे किस प्रकार किया जायगा? और **'एभिर्धर्मैः किं भाव्यम्'**– इस प्रकार का प्रश्न उपस्थित होने पर उसका संबन्ध किससे होगा? इसका समाधान यह है कि पशुयाग के अनुष्ठानार्थ उपस्थित रहने वाला जो 'अग्नोषोमीय' पशु है, उस पशु के अपूर्व के साथ ही इन धर्मोंका सम्बन्ध अन्वित होना स्वाभाविक है। क्योंकि 'अग्नीषोमीय' पशु के अपूर्व की ही यहाँ सन्निधि है। अर्थात् समीपस्थ अग्नीषोमीय पशुजन्य अपूर्व साध्य (अनुष्ठेय) रूप में अन्वित होता है। और सवनीय तथा अनुबंध्य पशुओं का अपूर्व प्रकृत में उपाकरणादि धर्मों के संनिधि में न होने के कारण उन अपूर्वो से इन धर्मों का संबंध होना संभव नहीं है। इसलिए यहाँ अनुष्ठेयत्वेन उपस्थित रहने वाला जो अग्नीषोमीय पशु है, उसका अपूर्व 'शेषी' है और उपाकरणादि धर्म उसके 'शेष' है– यह मानना पडेगा। अर्थात् उपाकरण आदि पशुधर्म अग्नीषोमीय के अंग समझे जाते हैं।

---

१. जै. सू. अ. ३, पा. ६, अधि. ७

(४८) स्थानं समाख्यातः प्रबलम्

तच्च स्थानं समाख्यातः प्रबलम् । अत एव शुन्धनमन्त्रः सान्नाय्यपात्राङ्गं पाठसादेश्यात् । नतु पौरोडाशिकमिति समाख्यया पुरोडाशपात्राङ्गम् ।।४८।।

एवं स्थानं निरूप्य तस्य समाख्यातः प्राबल्यमाह-तच्च स्थानमित्यादिना । तच्चेति । उक्तलक्षणलक्षितं चेत्यर्थः । तन्त्रे तृतीये चेदं स्थितम् । शुन्धध्वं दैव्याय कर्मणे इत्ययं मन्त्रः पौरोडाशिकमिति याज्ञिकैः समाख्याते काण्डे पठितस्तस्य च समाख्यया पुरोडाशकाण्डोक्तानामुलूखलजुह्वादीनामपि शोधनेऽङ्गत्वमिति प्राप्तेराद्धान्तः न समाख्यया मन्त्रस्य पुरोडाशपात्राङ्गत्त्वं पदार्थयोर्भिन्नदेशस्थत्वेन सम्बन्धस्याप्रत्यक्षत्वात् । स्थानविनियोगे तु पदार्थयोर्देशसामान्यलक्षणः सम्बन्धः प्रत्यक्ष एव । नच सा पदार्थयोः सम्बन्धवाचिका भवति यौगिकशब्दानान्द्रव्यवाचकत्वेन पदार्थसम्बन्धा-

---

सवनीय पशु का अनुष्ठान सौत्यनामंक दिन में और अनुबंध्य पशु का अनुष्ठान अवभृथ के अन्त में करने का पाठ होने से उनके इस भिन्नदेशीयत्व के कारण उनमें अनुष्ठानसादेश्य से ये उपाकरणादि धर्म प्राप्त नहीं हो सकते। अत: चोदक वाक्य के द्वारा अतिदेश करके उपाकरणादि धर्मो को सवनीय और अनुबंध्य के साथ करना चाहिए, किन्तु अनुष्ठान सादेश्य रूप प्रमाण से यह स्पष्ट हो जाता है कि इन धर्मो का संबन्ध मुख्यरूप से केवल अग्नीषोमीय पशु के साथ ही होता है।।४७।।

अनुवाद– तच्चेति *। उक्त 'स्थान' प्रमाण 'समाख्या' संज्ञक प्रमाण से बलवान् होता है। अतएव 'शुन्धन मन्त्र' पाठसादेश्य प्रमाण से 'सान्नाय्य' पात्र का अंग होता है, जबकि 'पौरोडाशिकम्' इस समाख्या से 'पुरोडाश पात्र' का अंग नहीं होता ।।४८।।*

।। अर्थमीमांसा ।।

यहाँ तक 'स्थान' प्रमाण के भिन्न-भिन्न प्रकारों का पर्यालोचन किया गया। अब प्रस्तुत प्रकरण में यह सिद्ध किया जाना है कि 'स्थान' प्रमाण 'समाख्या' प्रमाण की अपेक्षा अधिक बलवान् होता है। पूर्वोक्त विवेचन में बताया जा चुका है कि यौगिक शब्द के घटक अवयवों के अभिधेय अर्थ से ही यौगिकशब्द का अर्थ समझा जाता है– **'सम्यगाख्यायते अनया इति समाख्या'**– (यौगिक शब्द को समाख्या कहा जाता है।) इस समाख्यारूपी प्रमाण की अपेक्षा स्थानरूपी प्रमाण किस प्रकार प्रबल होता है, इस तथ्य को जैमिनि ने[१] इस– **'शुन्धध्वं दैव्याय कर्मणे–'** विषय वाक्य को ग्रहण कर स्पष्ट किया है।

दर्शपूर्णमास में पुरोडाश से सम्बन्धित विवरण जिस विभाग में पठित है– [यत्र पुरोडाशोपयोगिनो विधयः श्रुयन्ते] उसे **'पौराडाशिक काण्ड'** का नाम (सामख्या) याज्ञिकों

---

१. जै. सू. अ. ३, पा. ३, अधि. ११, तै. सं. १.१.३.१

वाचकत्वात्तथात्वे वा तस्याः सा सम्बन्धमात्रवाचिका तद्विशेषवाचिका वा स्यात्। नाद्यः तन्मात्रोक्तौ प्रयोजनाभावात्। सर्वेषां यौगिकवचसां पर्यायतापत्तेश्च। द्वितीये तु सम्बन्धिविशेषत्वस्य सम्बन्धिविशेषनिरूप्यत्वादवश्यं सम्बन्धिनौ वक्तव्यौ तथा च स्वसम्बन्धिप्रतिपत्यैव वाक्यार्थप्रतिपत्तिन्यायेन सम्बन्धप्रतिपत्तिसम्भवे तत्रापि शक्ति-कल्पने गौरवान्न समाख्यायाः सम्बन्धवाचित्वं तथा चोक्तम्- ''सर्वत्र यौगिकैः शब्दै-र्द्रव्यमेवाभिधीयते। न हि सम्बन्धवाचित्वं सम्भवत्यतिगौरवात्''। तथान्यच्च। ''पाकं तु पचिरेवाह कर्तारं प्रत्ययोप्यकः। पाकयुक्तः पुनः कर्ता वाच्यो नैकस्य कस्यचिदिति'' किञ्च पौरोडाशिकमितिसमाख्यायां प्रकृतिः पुरोडाशमात्रमभिधत्ते तद्धितप्रत्ययस्तु पुरोडाशस्येदमिति व्युत्पत्त्या काण्डं न चैतावता कृत्स्नपुरोडाशपात्राणां मन्त्रसन्निधिः प्रत्यक्षो भवति। किंत्वर्थापत्या स कल्प्यते। कथं, शृणु यदुक्तः सन्निधिर्न स्यादामन्त्रप्रतिपादकग्रन्थस्य पौरोडाशिकसमाख्या न स्यात्। नह्याग्न्यसन्निहिता-नामिषेत्वेत्यादिमन्त्राणामाग्नेयकाण्डसमाख्या भवति। भवति च सन्निहितानां युञ्जानः प्रथमं मन इत्यादि मन्त्राणां ततश्च काण्डसमाख्यया सन्निधिपरिकल्प्य

के द्वारा दिया गया है। उस पौराडाशिक काण्ड में दर्शयाग के हवनार्थ उपयोगी जो **'सांनाय्य'** हैं (सांनाय्यं दधिपयसी) उसका अर्थात् दही और दूध रखने के पात्रों-का उल्लेख किया गया है। उसी प्रकार जिस व्रीहिसे पुरोडाश तैयार किया जाना है, उस व्रीहि का अवहनन करने के लिये प्रयुक्त होनेवाले 'उलूखल' आदि पात्रों का भी उल्लेख उसी पौरोडाशिक काण्ड में किया गया है। और 'शुन्धध्वं दैव्याय कर्मणे'– यह जो पात्रशोधन विषयक मन्त्र है, वह भी उसी पौरोडाशिक काण्ड में समाम्नात किया गया है। **'शुन्धध्वं दैव्याय कर्मणे'**– मंत्र का अर्थ है– ['हे पात्राणि, देवयज्यात्मने दैव्याय कर्मणे शुन्धध्वं शुद्धानि भवत'।]

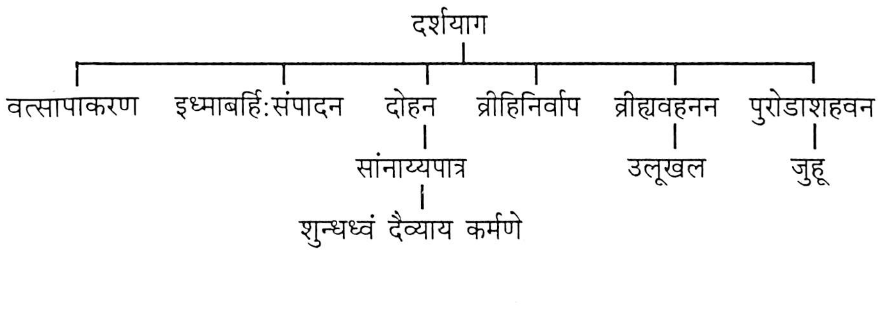
अब **पूर्वपक्षी** का कहना यह कि– **कुम्भी, शाखापवित्र, अभिधानी, दोहन पात्र,** इत्यादि, (१) सांनाय्यपात्र, और उलूखल, मुसल, कृष्णाजिन, दृषदुपल, जुहू इत्यादि, (२) पुरोडाशपात्र, और (३) **'शुन्धध्वं दैव्याय कर्मणे'**– यह मन्त्र, जब इन तीनों का उल्लेख इस समाख्या के पौरोडाशिक काण्ड में किया गया है, तब 'पौरोडाशिक काण्ड' के समाख्यारूपी प्रमाण के आधार पर **'शुन्धध्वं दैव्याय कर्मणे'** इस मन्त्र के द्वारा सांनाय्य पात्रों, पुराडाश पात्रों तथा अन्य सभी पात्रों को शुद्ध किया जाना ही समीचीन है। तात्पर्य यह है कि– पूर्वपक्ष के मतानुसार उक्त मंत्र पौरोडाशिक समाख्या के अनुसार उलूखल आदि समस्त द्रव्यों का संस्कारक है।

पूर्वपक्षी के उक्त कथन को स्वीकार करते हुए सिद्धान्ती कहता है कि 'समाख्या' प्रमाण की दृष्टि से पूर्वपक्षी का कथन सत्य है और यदि यहाँ केवल समाख्या प्रमाण ही होता तो पूर्वपक्षी का कथन भी स्वीकृत हो जाता, किन्तु यहाँ समाख्या प्रमाण के अतिरिक्त एक अन्य प्रमाण भी प्राप्त होता है। और वह प्रमाण है **'स्थान'**। और स्थान प्रमाण की दृष्टि से यहाँ एक विचारणीय प्रश्न उपस्थित होता है कि– **'शुन्धध्वं दैव्याय कर्मणे'** जो वादविषयक मन्त्र है, वह किस स्थान में पठित है? प्रकरण को देखने पर ज्ञात होता है कि दर्शयाग में

कल्पितकाण्डसन्निध्यन्यथानुपपत्या परस्पराकाङ्क्षारूपं कृत्स्नपात्रप्रकरणं कल्पयित्वा तत् द्वारा वाक्यलिङ्गश्रुतीश्च कल्पयित्वा तया श्रुत्या विनियोग इति स्थानापेक्षया विनियोगे समाख्यया विप्रकर्षः सान्नाय्यपात्राणां तु कुम्भीशाखापवित्रादीनां शोधनमन्त्रसन्निधिः प्रत्यक्षो भवति। कथं? शृणु। इध्मा बर्हिः सम्पादनस्य मुष्टिनिर्वापस्य चान्तरालं सान्नाय्यपात्राणां देश उक्तः शोधनमन्त्रश्चाय-मिध्माबर्हिनिर्वापविषययोर्मन्त्रानुवाकयोर्मध्यमेऽनुवाके पठ्यते तेन च प्रत्यक्षसन्निधिना प्रकरणादीनां चतुर्णामेव कल्पनात्सन्निधिः। समाख्यापेक्षया सन्निकृष्यते तस्मात्क्रमेण समाख्यां बाधित्वा सान्नाय्यपात्राणां शोधने शेषोऽयं मन्त्रो भवतीत्यभिप्रेत्याह-अतएवेत्यादिना। अत एव स्थानस्य समाख्यातः प्रबलत्वादेव शुन्धनमन्त्रः शुन्धध्वं दैव्याय कर्मण इति मन्त्रः सान्नाय्यपात्राङ्गमिति। सान्नाययागयोरैन्द्रदध्यैन्द्रपयसोः पात्राणां कुम्भीशाखापवित्रादीनामङ्गमित्यर्थः। पाठसादेश्यादिति। सन्निधिपाठादि-त्यर्थः। पुरोडाशपात्राङ्गमिति। पुरोडाशपात्राणामुलुखादीनामङ्गमित्यर्थः।।४८।।

कृष्णचतुर्दशी के दिन **वत्सापाकरण**, बर्हिराहरण सम्पन्न होने के पश्चात् रात्रि में दोहन किया जाता है और उस दोहन के लिए कुंभीद्वयरूपी दोहन पात्रों का पाठ विहित है। और तत्पश्चात् अमावस्या के दिन **व्रीहिनिर्वाप, व्रीही का अवहनन,** इत्यादि कृत्य करने होते हैं। इस से स्पष्ट होता है कि (१) **प्रथम इध्मबर्हिः संपादन,** तदनंतर (२) **सांनाय्यपात्रसंशोधन,** और तत्पश्चात् (३) **व्रीहिनिर्वाप** कृत्य किया जाता है। इस प्रकार कृत्यों का क्रम है। और इस क्रम में **'शुन्धध्वं दैव्याय कर्मणे'**– यह मंत्र (१) **इध्मबर्हिः संपादन** के अनुवाक और (३) **व्रीहिनिर्वापविषयक** अनुवाक– के मध्य में सांन्नाय्यपात्रों के सन्निधि में उक्त है। अतः कुंभीद्वयरूपी जो सांन्नाय्यपात्र हैं, उन पात्रों के शोधन निमित्त **'शुन्धध्वम्'**– इस मंत्र का विनियोग 'यथासंख्यपाठ' द्वारा हो, यही उचित है।

प्रकृत में ध्यान देने योग्य है कि क्रमानुसार दोहन के पश्चात् व्रीहिनिर्वाप का स्थान (क्रम) आता है, और व्रीहिनिर्वाप के पश्चात् व्रीहि के अवहनन का क्रम आता है और उस अवहनन के लिये उलूखल पात्र की आवश्यकता होती है। उसी प्रकार अवहनन के पश्चात् व्रीहि का पेषण कर पुरोडाश पकाकर जब तैयार होगा, तब उसके हवन के लिए जुह्वादिक पात्रों की आवश्यकता होगी, अर्थात् 'शुन्धध्वम्'– मंत्र को सांनाय्यपात्र ही निकटस्थ होते हैं, और उलूखल जुह्वादि पात्र दूरस्थ होते हैं। अतः संनिधिरूपी पाठसादेश्य प्रमाण के बल पर समाख्या का बाध होकर यह निष्पन्न होता है कि 'शुन्धध्वम्' मंत्र दोहन पात्रों का ही **अंग** होना चाहिए।।४८।।



(४९) समाख्यानिरूपणम्

समाख्या यौगिकः शब्दः। सा च द्विविधा। वैदिकी-लौकिकी च। तत्र होतुश्चमसभक्षणाङ्गत्वम्। होतृश्चमस इति वैदिक्या समाख्यया। अध्वर्योस्तत्तत्पदार्थाङ्गत्वम्। लौकिक्या आध्वर्यवमिति समाख्ययेति सङ्क्षेपः। तदेवं निरूपितानि सङ्क्षेपतः श्रुत्यादीनि षट्प्रमाणानि ।।४९।।

एवं स्थानं निरूप्य समाख्यां लक्षयति-समाख्या यौगिकः शब्द इति। अत्र यौगिकशब्दत्वं लक्षणं समाख्येति लक्ष्यम्। शब्दश्चतुर्धा यौगिको रूढो योगरूढो यौगिकरूढश्चेति। तत्राध्वर्यवं याचक इत्यादिर्यौगिकः स एव समाख्येति चोच्यते। यत्रावयवार्थ एव ज्ञायते स यौगिक इति तन्निर्वचनम्। योऽवयवशक्तिनिरपेक्षया समुदायशक्त्यैवार्थं बोधयति स रूढो यथा गवादिशब्दः। यस्त्ववयवशक्तिविषये समुदायशक्त्यापि प्रवर्तते स योगरूढः। यथा पङ्कजादिशब्दः पङ्कजादिशब्दस्यैवावयवशक्त्या पङ्कजनिकर्तृत्वेन समुदायशक्त्या च पद्मत्वेन रूपेण

अनुवाद– ***समाख्येति****। यौगिक शब्द को 'समाख्या' कहते हैं। समाख्या के दो भेद हैं– (१)* ***वैदिकी समाख्या*** *(२)* ***लौकिकी समाख्या****।* ***'होतृचमसः'*** *इस वैदिकी समाख्या से* ***'होता'*** *चमसभक्षणरूप क्रिया का अङ्ग होता है।* ***'आध्वर्यवं'*** *इस लौकिकी समाख्या से* ***'अध्वर्यु'*** *नामक ऋत्विक् तत्तत् क्रियाओं का अङ्ग समझा जाता है। इस प्रकार यहाँ तक श्रुत्यादि ६ प्रमाणों का संक्षेप में निरूपण किया गया ।।४९।।*

।। अर्थमीमांसा ।।

'समाख्या' नामका यह अन्तिम प्रमाण है। इसका लक्षण– 'समाख्या यौगिकः शब्दः' 'समाख्या' यह एक यौगिक शब्द है, इस रूप में दिया गया है। लक्षण में प्रयुक्त **'यौगिक'** शब्द का अर्थ इसके पूर्व दिया जा चुका है। शब्द के घटकावयवों द्वारा व्यक्त किया हुआ अर्थ जिस शब्द का अर्थ होता है वही 'यौगिक शब्द' होता है। उदाहरणार्थ– **'पाचक'**-इस शब्द में **'पच्'** धातु और **'अक'**– कर्तृवाचक प्रत्यय-ये दो **'पाचक'** शब्द के घटकावयव हैं। इस प्रकार 'पाचक' शब्द का 'पकानेवाला' अर्थ शब्दावयवभूत 'पच्' धातु एवं 'अक' (ण्वुल्) प्रत्यय के अर्थ से द्योतित होता है। इसीलिए 'पाचक' यह एक 'यौगिक शब्द' है। संक्षेप में– यौगिक शब्द के अवयवों के अभिधेय अर्थ से ही यौगिक शब्द का अर्थ ज्ञात होता है। तात्पर्य यह है कि जिस शब्द से केवल अवयवार्थ का ही बोध हो उसे यौगिक शब्द कहा जाता है। 'समाख्या' भी इसी प्रकार का एक यौगिक शब्द है। किन्तु अब यहाँ एक **शंका** उत्पन्न होती है कि 'समाख्या' का अर्थ यहाँ यौगिक शब्द भी मान लिया तो भी यहाँ उसका क्या उपयोग

पद्मबोधकत्वात् । यस्त्ववयवशक्तिसमुदायशक्तिभ्यां रूढार्थयौगिकार्थं च स्वातन्त्र्येण बोधयति स यौगिकरूढः । यथोद्भिदादिशब्दः । स चोर्ध्वभेदन कर्तृतरुगुल्मादिकं बोधयति यागविशेषमपि चेति । सा यौगिकशब्दात्मिका समाख्या तत्र तयोः समाख्ययोर्मध्य इत्यर्थः । होतुरिति भक्षणस्य क्रियात्मकत्वेन प्राधान्यातत्कर्तुर्होतुर्भवति तदङ्गत्वमित्यर्थः । ततत्पदार्थाङ्गत्वमिति । पुरोऽध्वर्युर्विभजतीत्त्यादिना । यजुर्वेदेन च विहितानां पदार्थानामङ्गत्वमित्यर्थः । लौकिक्येति याज्ञिकैः परिकल्पितयेत्यर्थः । तृतीये स्थितं प्रैतुहोतुश्चमस इत्यत्र समाख्या भक्षहेतुः हरिरसिहारियोजन इत्यनेन मन्त्रेण गृह्यमाणे ग्रहो हारियोजनः । तत्र वाक्यम्वषट्कर्तुः प्रथमभक्ष इत्यत्र वषट्कार इत्येव-

---

है? उसके द्वारा अंगागिभावात्मक विनियोग निर्धारित करने में किस प्रकार सहायता प्राप्त होगी? उपर्युक्त शंका उचित[१] नहीं है। क्योंकि समाख्या के योग से भी विनियोग का निर्धारण करने में सहायता मिलती है। यौगिक अर्थ से युक्त समाख्या (नाम) जब किसी के लिए दी जाती है तब वहाँ उन दोनों के मध्य में कुछ न कुछ सम्बन्ध तो होता ही है। जैसे– किसी को **'पाचक'** यह संज्ञा दी, तब उसका पाचनक्रिया से कुछ सम्बन्ध तो होगा ही, यह स्पष्ट है। इस हेतु 'समाख्या' को संज्ञा भी कहा जाता है।[२] और यह बात जिस प्रकार लौकिक व्यवहार में दिखाई देती है, उसी प्रकार वह वेद में भी मानी जानी चाहिए। अब यदि कोई वैदिक उदाहरण प्रस्तुत करने के लिए कहे तो उसका उत्तर यह है कि– (१) हौत्रम्, (२) आध्वर्यम्, (३) औद्गात्रम्, ये तीनों वैदिकी समाख्या हैं।

दर्शपूर्णमास, ज्योतिष्टोम इत्यादि यागों में प्रयुक्त होनेवाली जो अन्य बाते हैं वे भिन्न-भिन्न वेदों में पठित हैं। जैसे (१) आहुति देने के समय पाठ किये जानेवाले **याज्या** और **पुरोनुवाक्यों** के मंत्र ऋग्वेद में पठित हैं। (१) गोदोहन, व्रीहिनिर्वाप इत्यादि विधानों का पाठ यजुर्वेद में पठित हैं। और (२) आज्यस्तोत्र, पृष्टस्तोत्र इत्यादि स्तोत्रों का पाठ सामवेद में मिलता है। ऐसी स्थिति में इनमें से कौन से मंत्रों का पाठ कौन करेगा? और कौन से कर्म किसके द्वारा किये जाने चाहिए। इनके सम्बन्ध में यदि कोई विनिगमक साधन न हो तो, यज्ञ का कोई भी ऋत्विज् अपनी इच्छानुसार किसी भी मंत्र का पाठ करने लगेगा, यज्ञीय कर्म की भी यही स्थिति होगी, इस प्रकार अनवस्था दोष उत्पन्न हो जायगा। परन्तु किस मंत्रका, किस कर्म का और किस स्तोत्र का विनियोग कौन करेगा,– यह 'समाख्या' प्रमाण के आधार पर निर्धारित होने के कारण, यहाँ किसी भी प्रकार के अनवस्था प्रसंग के उद्भूत होने की संभावना नहीं होती। (१) हौत्र (२) आध्वर्यव और (३) औद्गात्र-इन समाख्याओं को क्रमशः (१) ऋग्वेद (२) यजुर्वेद और (३) सामवेद के अनुष्ठेय धर्मों को अनुलक्षित कर समायोजित किया गया है। अतःहौत्र-समाख्या से विहित धर्म 'होता' के द्वारा सम्पादित किये जाने

---

१. दृष्टव्य – जै. सू. अ. ३, पा. ३, अधि. ६
२. दृष्टव्य – जै. सू. अ. ३, पा. ३, अधि. ६

मुक्तत्वात्-त्रय एव भक्ष हेतव इति प्राप्ते राद्धान्तः हविर्धानेग्रावभिरभिषुत्याहवनीये उत्तरवेद्याः प्रतीचीने सदसः प्राचीने मण्डपे भिषवः उत्तरवेद्यां होमः सदसिभक्षणं तत्राभिषवहोमयोर्वचनान्तरप्राप्तयोरविधेयतयाऽतो निमित्तत्वेनानूपभक्षणं विधीयते। तस्मात्समाख्यादिवदेव तयोरपि हेतुत्वमस्तीत्यभिप्रेत्याह सङ्क्षेप इति। श्रुत्यादिप्रमाणस्य विनियोगविधिसहकारिणो निरूपणमुपसंहरति-तदेवमिति ।।४९।।

चाहिये,–इस प्रकार की व्यवस्था 'समाख्या' प्रमाण से संभव हो सकती है। इसलिए 'समाख्या' अन्यप्रमाणों की तरह एक प्रमाण है। यह मान्य किया गया है।

यौगिकशब्दरूप समाख्या के दो भेद माने गये हैं– (१) **वैदिकी** और (२) **लौकिकी**। वैदिकी समाख्या ऐसे यौगिक शब्दों को कहते हैं जो वेद में पठित होते हैं अर्थात् साक्षात् वेद का अङ्ग होते हैं। उक्त दो समाख्याओं में से **'होतृचमस'** वैदिकी समाख्या का उदाहरण है। इसका अर्थ है– 'होता का चमस' (चम्मच)। अर्थात् होता का 'चमस'[१] नामक वह पात्र जिससे वह सोमरस का पान करता है। एवञ्च 'होता' उस चमस भक्षण का अंग है, यह विनियोग यहाँ 'होतृचमस' इस समाख्या प्रमाण से निश्चित होता है। अतः 'होता' चमस का अर्थात् चमसभक्षण का 'अंग' है। तात्पर्य यह है कि यहाँ क्रिया प्रधान है, क्रिया है 'चमसभक्षण' और चमस में स्थित सोम का पान करने के कारण 'होता' अंग हुआ और 'चमसभक्षण' अंगी। इसके पश्चात् **'आध्वर्यव'–** लौकिकी समाख्या के उदाहरण रूप में पठित है। इससे निश्चित होता है कि यजुर्वेद के आध्वर्यव काण्ड में जो-जो अनुष्ठेय कर्म विहित हैं, उन-उन कर्मों को अध्वर्यु सम्पादित करे, यह 'आध्वर्यव' समाख्या से निश्चित होता है। अर्थात् 'अध्वर्यु'– आध्वर्यव काण्ड में विहित भिन्न-भिन्न कर्मों का अंग होता है, यह निष्पन्न होता है। संक्षेप में तात्पर्य यह है कि 'आध्वर्यवम्' लौकिकी समाख्या है इसका अर्थ है– 'अध्वर्यु' का कर्म। अध्वर्यु नामक ऋत्विक् का सम्बन्ध यजुर्वेद से है, अतः 'आध्वर्यवम्'– समाख्या से यह ज्ञात होता है कि 'अध्वर्यु' यजुर्वेद की सभी क्रियाओं का अंग है।

प्रकृत में **'होतृचमस'** समाख्या **'प्रैतुहोतुश्चमसः'** इत्यादि प्रत्यक्ष वैदिक वाक्य में पठित होने से उसे वैदिकी समाख्या[२] का उदाहरण कहा गया है। किन्तु **'आध्वर्यव'** समाख्या प्रत्यक्ष वेदोक्त नहीं है। वह (अध्वर्योः कर्म आध्वर्यवमिति कर्मार्थतद्धितप्रत्ययेन) याज्ञिकों द्वारा कल्पित है। केवल इस भेद मात्र से इस समाख्या को लौकिक समाख्या कहा जाता है।

इस प्रकार यहाँ संक्षेप में विनियोग विधि के द्वारा अङ्गाङ्गिभावबोध में सहायक होनेवाले सभी छः प्रमाणों का विवेचन समाप्त हुआ।।४९।।

---

१. चम्यतेभक्ष्यते सोमः अस्मिन् पात्रविशेषेइति **चमसः।**

२. होतृचमस इत्यादीनां वेद एव श्रुतत्वाद्वैदिकत्वम्।

(५०) विनियोगविधिबोधितांगानि

एतत्सहकृतेन विनियोगविधिना 'समिदादिभिरुपकृत्य दर्शपूर्णमासाभ्यां यजेत' इत्येवं रूपेण यानि नियोज्यन्ते तान्यङ्गानि द्विविधानि। सिद्धरूपाणि क्रियारूपाणि चेति। तत्र सिद्धानि जातिद्रव्यसङ्ख्यादीनि। तानि च दृष्टार्थान्येव। क्रियारूपाणि च द्विविधानि। गुणकर्माणि प्रधानकर्माणि च।। एतान्येव सन्निपत्योपकारकाणि आरादुपकारकाणीति चोच्यन्ते।।५०।।

एतैः षड्भिः प्रमाणैः सहकृतेन विनियोगविधिना यान्यङ्गानि विनियोज्यन्ते तानि विनियोगविधेः स्वरूपमनुवदन् विभजते-एतदित्यादिना। तत्र सिद्धरूपाणि निर्दिशति। तत्रेति। सिद्धरूपक्रियारूपाणां मध्य इत्यर्थः। जातिपशुत्वादिद्रव्यं व्रीह्यादि-सङ्ख्या एकत्वादि तेषां यागस्वरूपोपकारकत्वेन दृष्टार्थत्वमेवेत्याह-तानि चेति। क्रियारूपाणां विभागद्वारा लक्षणमाह-क्रियारूपाणीत्यादिना। गुणस्य कर्माङ्गस्य द्रव्यादेः

अनुवाद– एतदिति। श्रुत्यादि ६ प्रमामों की सहायता से ***'समिदादिभिरूपकृत्य दर्शपूर्णमासाभ्यां यजेत'*** *(समिद् आदि यागों से उपकृत दर्शपूर्णमास नामक यागानुष्ठान से इष्ट का सम्पादन करे) एतत् प्रकारक विनियोग विधि से जो अंग विनियुक्त होते हैं वे अङ्ग दो प्रकार के हैं– (१)* ***सिद्धरूप*** *(२)* ***क्रियारूप****। इनमें* ***जाति, द्रव्य*** *एवं* ***संख्या*** *आदि सिद्धरूप अंग है, इन सबका प्रयोजन तो दृष्ट (प्रत्यक्ष) ही रहता है। क्रियारूप अङ्ग के दो प्रभेद हैं– (१)* ***गुणकर्म,*** *और (२)* ***प्रधान कर्म****। इनमें से गुणकर्म को* ***'सन्निपत्योपकारक कर्म'*** *एवं प्रधानकर्म को* ***'आरादुपकारककर्म'*** *कहते है ।।५०।।*

।। अर्थमीमांसा ।।

विनियोगविधि के सहायक श्रुत्यादिक छः प्रमाणों का विवेचन यहाँ तक पूर्ण किया गया है। इन छः प्रमाणों की सहायता से अमुक-अमुक का अंग है, और इसलिए उस अंग का उसके प्रधान के साथ विनियोग करना चाहिए– इस प्रकार का निर्देशन विनियोग विधि के द्वारा निश्चित किया जाता है। विनियोगविधि, उत्पत्तिविधि इत्यादि के समान 'प्रत्यक्षश्रुति' के द्वारा पठित नहीं होता, अतः **'समिदादिभिरूपकृत्य दर्शपूर्णमासाभ्यां यजेत'** इस प्रकार के विनियोजक श्रुतिवाक्यों की पूर्वोक्त षट् प्रमाणों की सहायता से कल्पना करनी पड़ती है। वस्तुतः यह वाक्य 'समिदादिभिरूपकृत्य दर्शपूर्णमासाभ्यां यजेत'– विनियोग विधि का स्वरूप न होकर प्रयोगविधि का स्वरूप है। परन्तु जिनका अंगत्व विनियोगविधि के द्वारा निश्चित किया जाता है, उनका ही अनुष्ठान प्रयोगविधि के द्वारा किया जाता है। इसलिए इस उद्देश्य से विनियोग विधि के स्वरूप का विवेचन यहाँ किया गया है।

ये अंग दो प्रकार के होते हैं। इन अंगों में से कुछ अंग यज्ञ करने वाले यजमान के बिना किसी प्रयत्न के पूर्व में ही पूर्ण हो चुके होते हैं और कुछ उस यजमान की कृति से

संस्कारकराणि क्रियाविशेषरूपाणि गुणकर्माणि यथावघातदीनि। प्रधानस्य फलापूर्वस्योपकारकाणि तानि प्रधानकर्माणि। यथा प्रयाजादीनि। तेषामेव लक्षणान्तरमाह-एतान्येवेत्यादिना ।।५०।।

सम्पादित होते हैं और इसलिए उक्त दृष्ट्या विनियोगविधि द्वारा विनियुक्त अंगों के दो प्रभेद होते हैं– (१) **सिद्धरूप** और (२) **क्रियारूप**। सिद्धरूप अंग को हम 'क्रिया भिन्न' भी कह सकते है, क्योंकि उनका स्वरूप पूर्व से ही सम्पन्न हुआ रहता है। वह क्रिया की तरह साध्य (उत्पाद्य) नहीं होता, अत: उसे 'सिद्ध' कहा जाता है। अब प्रश्न होता है कि सिद्ध रूप (अर्थात् पूर्ण हुए स्वरूप) अंग कौन से हैं? इस प्रश्न का उत्तर यह है कि सिद्धरूप अंग, **जाति, द्रव्य** एवं **संख्या** आदि अनेक प्रकार का होता है। यहाँ जाति से तात्पर्य है– हवन के अंगभूत (जो) पशु, उसमें स्थित रहनेवाली पशुत्वजाति। **'व्रीहि'** आदि जो पदार्थ का 'द्रव्य' में अन्तर्भाव किया जाता है। पूर्व में **'पशुना यजेत'** इस वाक्य में पशु में स्थित **एकत्व, पुंस्त्व**-धर्मों को सिद्ध किया गया है, उनमें से **एकत्व, द्वित्व** इत्यादिकों को **'संख्या'** शब्द से ग्रहण करना होता है। इसी प्रकार के पुंस्त्व, अरुणत्व इत्यादि इतर सिद्धरूप अंगों का भी मूल में पठित 'आदि' पद से संग्रह करना चाहिए।

विवेचन का तात्पर्य यह है कि– **'पशुत्व'** जाति ('पशुना यजेत'), व्रीहि (अन्नविशेष द्रव्य– 'व्रीहिभिर्यजेत') (अरुणया पिङ्गाक्ष्या एक हायन्या........क्रीणाति)– 'इमामगृभ्णन्रशनामृतस्य' इत्यादि मंत्र, सिद्ध अंग के उदाहरण हैं।

सिद्धरूप अंग के विपरीत क्रियारूप (अर्थात् कर्तृप्रयत्नसाध्य) नामक अंगों का दूसरा प्रकार है। इसके अन्तर्गत– **व्रीहिका अवहनन, प्रोक्षण** इत्यादि अंग आते हैं। क्योंकि व्रीहिका अवहनन, प्रोक्षण ये बातें, क्रियारूप होती हैं और बाद में (आगे) की जानेवाली होती हैं। केवल व्रीहि-रूप द्रव्य पूर्व में अस्तित्व में और सिद्धरूप में होता है, किन्तु उस व्रीहि का प्रोक्षण क्रियारूप होने के कारण आगे (बाद में) सम्पन्न होना होता है। 'सिद्धरूप' और 'क्रियारूप' में यही प्रधान भेद है। इसलिए क्रिया के द्वारा प्रोक्षणादि की तरह जो आगे (बाद मे) साध्य होनेवाले न होकर अपितु पूर्व में ही सिद्ध हुए रहते हैं– ऐसे जाति द्रव्यसंख्यादिक अंगों को सिद्धरूप अंगों के वर्गों में सन्निविष्ट किया गया है।

सिद्धरूप अंगों के सम्बन्ध में एक विशेष उल्लेखनीय बात यह है कि सभी सिद्धरूप अंग केवल दृष्टार्थ ही होते हैं अर्थात् इन अंगों का प्रयोजन प्रत्यक्ष दृश्य होता है। 'द्रव्य' याग का एक दृश्य रूप है और उसी द्रव्य पर जाति, संख्या इत्यादि धर्म रहते हैं। अत: जाति, संख्या, इत्यादि धर्मों से युक्त जो व्रीहि, पशु आदि द्रव्य हैं, वे दृश्यरूप से याग के स्वरूप को उपकृत कर सकते हैं, यह स्पष्टरूप से दिखाई देता है। इसलिए सिद्धरूप अंग 'दृष्टार्थ' होते हैं।

क्रियारूप अंग भी दो प्रकार के होते हैं। (१) **गुणकर्म** और (२) **प्रधान कर्म**। इन दोनों को क्रमश: **संनिपत्योपकारक** और **आरादुपकारक** भी कहाजाता है। अर्थात् 'गुणकर्म' को सन्निपत्योपकारक एवं 'प्रधान कर्म' को आरादुपकारक कहते हैं। उदाहरणार्थ–दर्शपूर्णमास।

(५१) संनिपत्योपकारकाणि

कर्माङ्गद्रव्याद्युद्देशेन विधीयमानं कर्म सन्निपत्योपकारकम्। यथाऽवघातप्रोक्षणादि। तच्च दृष्टार्थं अदृष्टार्थं दृष्टादृष्टार्थं चेति। तत्र दृष्टार्थमवघातादि। अदृष्टार्थं प्रोक्षणादि। दृष्टादृष्टार्थं पशुपुरोडाशादि। तद्धि द्रव्यत्यागांशेनैव अदृष्टं देवतोद्देशेन च देवतास्मरणं दृष्टं करोति।।५१।।

सन्निपत्योपकारकाणां लक्षणमाह-कर्माङ्गेत्यादिना। यानि चाङ्गानि साक्षात्परम्परया वा विहितफलसाधनयागशरीरं निष्पाद्य तद्द्वारा तदुत्पत्यपूर्वोपयोगीनि तानि

दर्शपूर्णमास याग **प्रधान** है, और व्रीह्यादिक **गुण** है। उनमें से व्रीह्यादिक गुणों पर संस्कार उत्पन्न करने वाली अवघातादिक क्रियाएँ (है) (वह) 'गुण कर्म' कहलाती हैं। और प्रधान याग-दर्शपूर्णमास के अपूर्वोत्पत्ति में सहायक होने से प्रयाजादिक 'प्रधानकर्म' होते हैं। प्रयाजादिक प्रधान कर्म को अप्रत्यक्षरीति से [अर्थात्-आरात्=दूरात्, दूरे स्थित्वा, साक्षाद्रव्यादिसंबन्धमन्तरा उपकरोतीति आरादुपकारकम्] फलापूर्व की उत्पत्ति में उपकारक होने से **'आरादुपकारक'** कहा जाता है। और प्रोक्षण, अवहनन, इत्यादि जो अनेक गुणकर्म हैं, वे एकत्र होकर [अर्थात्– संनिपत्य द्रव्यादिषु संबध्यान्युपकुर्वन्ति इति संनिपत्योपकारकाणि] याग के स्वरूप का निर्माण कर अपने-अपने अपूर्व के माध्यम से (द्वारा) याग के फलापूर्वक की उत्पत्ति के काम में उपकारक होने से उन्हें **'संनिपत्योपकारक'** कहा जाता है।[1] तात्पर्य यह है कि 'गुणकर्म' को सन्निपत्योपकारक एवं 'प्रधान कर्म' को आरादुपकारक कहते हैं। इन्हें सन्निपत्योपकारक इसलिये कहाजाता है कि ये किसी के अङ्ग बनकर उसके माध्यम से मुख्यक्रिया (यथा-दर्शपूर्णमास) का उपकार करते हैं। 'सन्निपत्योपकारक कर्म को **'आश्रयि कर्म'** भी कहा जाता है। आरादुपकारक स्वतः, अव्यवधानेन और किसी का अङ्ग न बनकर मुख्य क्रिया का उपकार करते हैं। प्रयाज स्वतः दर्शपूर्णमास का उपकार करते हैं, न कि और किसी किसी का अङ्ग बनकर। इसलिये 'प्रयाज' आरादुपकारक है।।५०।।

अनुवाद– कर्मेति। *कर्म के अङ्गभूत द्रव्य आदि को उद्देश्य करके जो कर्म विहित होता है उसे सन्निपत्योपकारक कहते है। यथा-अवघात, प्रोक्षण आदि। सन्निपत्योपकारक के तीन प्रभेद हैं– (१) दृष्टार्थ, (२) अदृष्टार्थ, एवं (३) दृष्टादृष्टार्थ। इनमें अवघातादि दृष्ट प्रयोजन हैं। प्रोक्षणादि अदृष्ट प्रयोजन हैं और पशुपुरोडाशादि में दृष्टादृष्ट दोनों प्रयोजन हैं। द्रव्यत्याग अंश से अदृष्ट प्रयोजन एवं देवता स्मरण रूप दृष्ट प्रयोजन भी सिद्ध होता है।।५१।।*

।। अर्थमीमांसा ।।

पूर्वप्रकरण में हमने बताया था कि 'गुण कर्म' का ही दूसरा नाम संनिपत्योपकारक है।

---

१. द्रष्टव्य - यान्यङ्गानि साक्षात्परम्परया वा प्रधानयागशरीरं निष्पाद्य तद्द्वारा तदुत्पत्यपूर्वोपयोगिनि तानि सन्निपत्योपकारकाणि। (परिभाषा)

सन्निपत्योपकारकाणीति फलितम्। द्रव्यादीत्यादिना देवतादिपरिग्रहः। क्रियारूपत्वं सर्वेषां कर्मणां गुणकर्मत्वमवघातादीनां प्रधानकर्मत्वं प्रयाजादीनां सन्निपत्योपकारत्वमवघातादीनामारादुपकारकत्वं प्रयाजादीनां च लक्षणमिति समुदायतात्पर्यम्। तत्रोदाहरणमाह-यथावघातेति। सन्निपत्योपकारकाणां पुनरपि त्रिविधं विभागं करोति तच्चेत्यादिना। तच्च सन्निपत्योपकारकं चेत्यर्थः। दृष्टार्थमुदाहरति। दृष्टार्थमवघातादीति। अवघातादेस्तुषविमोकादिरूपदृष्टद्वारा यागस्वरूपतदुत्पत्त्यपूर्वहेतुत्वात्सम्भवति तस्य दृष्टार्थत्वमित्यर्थः। अदृष्टार्थमुदाहरति। अदृष्टार्थमिति प्रोक्षाणादेर्व्रीहिगतसंस्काररूपातिशयदृष्टद्वारा प्रधानयागोत्पत्यपूर्वहेतुत्वात्सम्भवति केवलादृष्टार्थत्वम् प्रोक्षणमन्तरेणापि यागस्वरूपानुपत्यभवात् दृष्टोपकारासम्भवात्। दृष्टादृष्टोभयार्थमुदाहरति-दृष्टादृष्टार्थमीति। पशुपुरोडाशादीत्यादिना यागादिसंग्रहः। तद्धि पशुपुरोडाशादि हीत्यर्थः। अदृष्टमिति यागोत्पत्यपूर्वद्वारा फलापूर्वमित्यर्थः।।५१।।

प्रस्तुत प्रकरण में संनिपत्योपकारक कर्म के लक्षण की विवेचना प्रथमतः की गई है। वह लक्षण इस प्रकार है– **'कर्मांगद्रव्याद्युद्देशेन विधीयमानं कर्म संनिपत्योपकारकम्'**– अर्थात् किसी कर्म के अङ्गभूत द्रव्य आदि का अङ्ग होने वाले कर्म को संनिपत्योपकारक कर्म कहते हैं। प्रकृत लक्षणस्थ 'कर्माङ्गद्रव्यादि' पद पर ध्यान देना आवश्यक है। **'यागस्य द्वे रूपे द्रव्यं देवता च'** पूर्वोक्तवचनानुसार याग के स्वरूप को परिपूर्ण करने के लिये 'द्रव्य' के अतिरिक्त 'देवता' की भी आवश्यकता होती है। अतः मुख्ययागांगभूत जो द्रव्यदेवतादिक 'अंग' हैं उनके उद्देश्य से विधियमान जो कर्म, वे ही संनिपत्योपकारक कर्म होते हैं।[1] और अवघात, प्रोक्षण, पर्यग्निकरण, निर्वाप, पेषण, विलापन, सम्मार्जन आदि इसके उदाहरण हैं। संनिपत्योपकारक के उक्त उदाहरणों– **अवघात-प्रोक्षण** आदि-से ज्ञात होता कि दर्शपूर्णमास याग जो मुख्य कर्म है, उसका अंगभूत 'व्रीहि' द्रव्य (कर्मांगद्रव्य) है। और उस व्रीहिरूपी कर्मांगद्रव्य के उद्देश्य से अवघात, प्रोक्षण आदि कर्म करने के लिए कहा गया हैं। शबरस्वामी के भाष्य में उल्लिखित वाक्य– **'प्रधानोपकारेण खलेकपोतवद् युगपत्संनिपतन्त्यंगानि'**[2] से संनिपत्योपकारक शब्द की व्युत्पत्ति ज्ञात होती है।

संनिपत्योपकारक कर्म के पुनः तीन प्रभेद होते है– (१) **दृष्टार्थ,** (२) **अदृष्टार्थ** और (३) **दृष्टादृष्टार्थ**। उक्त तीन प्रकारों में से 'निर्वाप, अवघात, पेषण आदि' दृष्टार्थ कर्म है। इसका प्रयोजन 'दृष्ट' होता है, 'व्रिहीनवहन्ति' वाक्य द्वारा विहित 'अवघात' कर्म का तुषविमोचन (धान से भूसी हटाना) प्रत्यक्ष प्रयोजन है, अतः 'अवघात' को 'दृष्टार्थ' सन्निपत्योपकारक कर्म कहा जाता है। (२) दूसरा प्रभेद **'अदृष्टार्थ'** है। 'व्रीहीन्प्रोक्षति' वाक्य में पठित 'व्रीही' (का) प्रोक्षण को 'अदृष्टार्थ-कर्म' माना गया है। प्रोक्षण का दृष्ट फल कुछ भी नही है। अर्थात् प्रोक्षण यद्यपि दृष्टरूप में व्रीहि पर कोई प्रभाव नहीं उत्पन्न करता तथापि अदृष्टार्थ की कल्पना करना

---

१. कर्माङ्गभूतद्रव्यदेवतादिकंमुद्दिश्य तत्संस्कारकत्वेन विधीयमानानि सन्निपत्योपकारकाणि। (तं. सिं. र. द्विती. परि.)

२. जै. सू. अ. ११, पा. १, सू. १६

उचित ही है। क्योंकि प्रोक्षण किये बिना भी व्रीहि-पिष्ट का पुरोडाश बनाकर उससे याग सम्पन्न किया जाने से याग का स्वरूप बाह्यत: उपपन्न नहीं होगा, ऐसा नहीं है। व्रीहि का प्रोक्षण किया गया हो या नहो, उसके द्वारा किया हुआ याग का स्वरूप बाह्य दृष्टि से एक जैसा ही होता है। व्रीहिका अवहनन करने से उसका ऊपरी तुष (भूसी) जिस प्रकार निकल जाता है, उसी प्रकार व्रीहिका प्रोक्षण करने से उसमें प्रत्यक्ष अन्तर उत्पन्न होता है, ऐसा नहीं है। यह वस्तुस्थिति रहने पर भी जब व्रीहिका प्रोक्षण करने के लिए कहा गया है, अत: निश्चय ही उस प्रोक्षण से कुछ अदृष्टफल उत्पन्न होता होगा, यह स्पष्ट है। और इसीलिए प्रोक्षणादि कर्म को अदृष्टार्थ कर्म कहा गया है। संक्षेप में उक्त विवेचन को साररूप में यदि कहा जाय तो यह कहना पडेगा कि– 'प्रोक्षण' का दृष्ट प्रयोजन नहीं है। क्योंकि उससे व्रीहि की निष्पति नहीं होती। प्रोक्षण से केवल अपूर्व उत्पन्न होता है, 'अपूर्व' दृष्ट नहीं अदृष्ट होता है। अत: 'प्रोक्षण' आदि कर्म अदृष्टार्थ प्रभेद के अन्तर्गत आते हैं। (३) तीसरा प्रभेद **'दृष्टादृष्टार्थ'** है। पशुपुरोडाश, स्विष्टकद्, वाजिन आदि याग इसके उदाहरण हैं। ज्योतिष्टोमयाग के अंगभूत अग्नषोमीय पशुयाग के प्रकरण में पशु पुरोडाश का विधान इस अग्रिम वाक्य में पठित है– **'अग्नीषोमीयस्य वपया प्रचर्य अग्नीषोमीयं पशुपुरोडाशमेकादशकपालं निर्वपति'** और यह पशुपुरोडाश पशुदेवतासंस्कारार्थक है।[१] पशुपुरोडाशादिक[२] हवन का जो कर्म है, उसका फल अंशत: दृष्ट और अंशत: अदृष्ट होता है। (अ) यज्ञ में इन्द्र, अग्नि, सोम, इत्यादि देवताओं का आवाहन किया जाता है। और उनकी सन्तुष्टि के लिए **'अमुक देवतायै इदम्** (उद्देश्य) **न मम** (त्याग)'– इस वाक्यांश का उच्चारण करते हुए, भिन्न-भिन्न हविर्भाग अर्पण किये जाते हैं। इस प्रसंग पर **'अमुकदेवतायै स्वाहा'**। **'अमुक देवतायै इदम्'** इत्यादि वाक्यांश के उच्चारण से उन-उन देवताओं का जो स्मरण होता है, वह दृष्टफल है। तथा (आ) उन देवताओं के उद्देश्य से जो हविर्द्रव्य का त्याग (हवन) किया जाता है, अथवा द्रव्यत्याग विषयक जो कर्म किया जाता है उससे कौन सा दृष्टफल प्राप्त होता है? देखाजाय तो कुछ नहीं। फिर-ऐसा होने पर भी यदि द्रव्यत्याग करने के लिए यह कहा गया है, उससे स्पष्ट है कि द्रव्यत्याग से अपूर्वोत्पत्ति जैसा कोई अदृष्ट फल निश्चित उत्पन्न होता होगा। अत: पशु पुरोडाशादिक के उक्त उदाहरण में **देवतास्मरण** विषयक **दृष्टफल** और **द्रव्यत्यागविषयक** यागजन्य-अपूर्वरूपी-**अदृष्टफल** उत्पन्न होने से यह 'दृष्टादृष्टार्थ कर्म' होता है, यह माना गया है।

उक्त विवेचन का संक्षिप्त सार यह है कि सन्निपत्योपकारक कर्म का तीसरा प्रभेद 'दृष्टादृष्टार्थ' होता है। पशुपुरोडाशादि याग इसका उदाहरण है। देवता के लिये पशुपुरोडाश आदि द्रव्य का त्याग करने से अदृष्ट (अपूर्व) उत्पन्न होता है, अतएव द्रव्यत्याग अंश में

---

१. जै. सू. अ. १०, पा. १, अधि. ९

२. पशुपुरोडाशो नाम पशुयागाङ्गभूतो वपायागानन्तरं हृदयाद्यङ्गयागात्पूर्वं क्रियमाणः पशुदेवतोद्देश्यकः पुरोडाशद्रव्यको यागः। स च वपायागे उद्दिष्टां हृदयादियागे उद्देश्यमाणां देवतां स्मारणेन संस्करोति। अतो देवताविषये सदृष्टार्थः। द्रव्यत्यागस्याऽदृष्टार्थत्वात्तद्विषयेऽदृष्टार्थः। (तं. सि. र. द्वि. परि.)

पशुपुरोडाशयाग अदृष्टार्थक है। द्रव्यत्याग के अवसर पर देवता का स्मरण किया जाता है, अतः पशुपुरोडाश क्रिया का दृष्ट प्रयोजन देवतास्मरण हुआ। अतएव इसे (पशुपुरोडाशादियाग को) दृष्टार्थक' भी माना जाता है। इस प्रकार पशुपुरोडाशादियाग 'दृष्टादृष्टार्थक' के उदाहरण होते हैं।

उपर्युक्त मूल पाठ में 'संनिपत्योपकारक' के सम्बन्ध में उपर्युक्त विषय का ही विवेचन किया गया है। और उसके आगे के दो प्रकरणों में **आरादुपाकारक** और **संनिपत्योपकारक** के उपयोग में स्थित अन्तर– 'यागस्वरूपेऽप्युपयुज्यते' तक का, विवेचन समाप्त होने पर **'इदमेवचाश्रयिकर्मेत्युच्यते'**– इस वाक्य को अंकित किया गया है। वस्तुतः यह वाक्य प्रकृत प्रकरण के अन्त में अर्थात् **'देवतास्मरणं दृष्टं करोति'** वाक्य के आगे आने में ही सयुक्तिक प्रतीत हो रहा है, और **न्यायप्रकाश** में भी इसी स्थान पर अर्थात् 'देवतास्मरणं दृष्टं करोति'– वाक्य के आगे अंकित किया गया है। क्योंकि **'आश्रयि कर्म'** भी **'संनिपत्योपकारक'** के तीन प्रकारा में से **'दृष्टादृष्टार्थ'**– इस तीसरे प्रकार का ही एक अलग (भिन्न) नाम है। अतः उससे सम्बन्धित **'इदमेवचाश्रयिकर्मेत्युच्यते'** यह वाक्य 'संनिपत्योपकारक' के तीसरे प्रकार– **'दृष्टादृष्टार्थ'** की संनिधि में ही आना चाहिए। उसका वहीं उचित स्थान है। उसका आगे के प्रकरण में जाना उचित नहीं है। क्योंकि उसके आगे के प्रकरण में जाने से **''आश्रयि कर्म''** नाम क्या **'आरादुपकारक'** का है अथवा **'संनिपत्योपाकरक'** का है? ऐसी शंका उत्पन्न होती है। और यह शंका उत्पन्न होने के कारण ही **रामेश्वर भिक्षु** को अपनी टीका में निम्नांकित वाक्य का उल्लेख करना पडा है।—

[**''इदमेव च। संनिपत्योपकारकमेव च। न तु आरादुपकारकमित्यर्थः।''**] रामेश्वर भिक्षु के द्वारा उक्त पंक्ति लिखी जाने से स्पष्ट होता है कि **दृष्टार्थ, अदृष्टार्थ** और **दृष्टादृष्टार्थ** इन तीनों के समन्वित रूप से बनने वाले **'संनिपत्योपकारक कर्मों'** को ही **रामेश्वरभिक्षु** के द्वारा **'आश्रयि कर्म'** नाम दिया गया है। किन्तु यहां एक **प्रश्न** उपस्थित होता है कि संनिपत्योपकारक कर्म को 'आश्रयिकर्म' यह दूसरा नाम क्यों दिया गया? अर्थात् उसे 'आश्रयिकर्म' क्यों कहा जाता है? इसका उत्तर यह हो सकता है कि **अवघात, प्रोक्षण, पशुपुरोडाश** इत्यादि जो संनिपत्योपकारक कर्म हैं, वे सभी **द्रव्य, देवता** इत्यादिकों के आश्रय से अर्थात् तत् संबन्धित कर्म हैं। इसलिए सभी तीनों प्रकार के संनिपत्योपकारक कर्म को दूसरा नाम **'आश्रयि कर्म'**– दिया गया है। किन्तु **आपदेवी** की **सार-विवेचनी** नामक टीका में **''इदमेवचाश्रयिकर्मेत्युच्यते''** का अर्थ भिन्न प्रकार से दिया गया है। वह इस प्रकार है:– [''उभयार्थसंनिपत्योपकारकस्य नामान्तरं ज्ञापयति– इदमेव चेति। यद् दृष्टादृष्टार्थं कर्मानुपदमुक्तं तदेवेत्यर्थः। यथाहुः पार्थसारथिमिश्रः– दृष्टादृष्टं च किञ्चित् कर्म, यदाश्रयि-शब्दाभिधानीयकं भजते, यथा पशुपुरोडाशयागः इति। एवं च 'इदमेव च संनिपत्योपकारकमेव च न त्वारादुपकारकमित्यर्थः' इति संनिपत्योपकारकस्य निखिलस्यापि आश्रयिकर्मत्वं वदन् अर्थसंग्रहव्याख्याता निरस्तो वेदितव्यः॥''] और अध्याय ४ पा.१ के **''आश्रयिणाम-दृष्टार्थताधिकरणम्''**– (इस) नाम के सातवें अधिकरण में भी दृष्टादृष्टार्थ प्रकार के पशुपुरोडाश याग सदृश केवल तीसरे प्रकार के संनिपत्योपकारक कर्म का ही विवेचन किया गया है।

पशुपुरोडाश सदृश याग में 'मंत्रपाठ', 'द्रव्यक्षेप', और देवता के उद्देश्य से त्याग, ये तीन अंश होते हैं। उन अंशो में से **मंत्रपाठ** द्वारा **देवता का स्मरण** किया जाता है, तथा **प्रक्षेप** द्वारा **द्रव्य** का **संस्कार** किया जाता है। परन्तु त्यागरूपी जो तीसरा अंश शेष रहता है, उसके द्वारा कौन सा कार्य उत्पन्न होता है? यदि यह माना जाय कि तीसरे अंश से कोई कार्य उत्पन्न नहीं होता तो वह अंश निष्प्रयोजन होने लगेगा। अत: उस त्यागरूपी अंश से 'अदृष्ट' उत्पन्न होता है, यह माना जाता है। और इस प्रकार पशुपुरोडाशसदृश कर्म में दृष्टादृष्टार्थता प्राप्त होती है। और इसी को अग्रिम कारिका में कहा गया है– ['देवतास्मरणं मन्त्रात्प्रक्षेपाद्द्रव्यसंस्कृति:। त्यागांशस्य तु नादृष्टादृते किंचित्प्रयोजनम् ॥'] उपर्युक्त अधिकरण के प्रथम सूत्र [**"आश्रयिष्व-विशेषेण भावोऽर्थः प्रतीयेत ।।१८"**] के भाष्य में **शबरस्वामी** ने कहा है– **"अत्राश्रयिणः पदार्था उदाहरणम्"**। उसी प्रकार **शास्त्रदीपिका** की टीका में इस सूत्र का अर्थ इस प्रकार दिया गया है– ["ये अंशेन परकीयं द्रव्यदेवतं संस्कारकत्वेनाश्रयन्ते ते आश्रयिणस्तेषु भाव्यते इति भावोऽर्थोऽपूर्वं प्रतीयते अन्यैर्यजति-जुहोतीत्यादिभिरपूर्वार्थैरविशेषेणेति ॥"] इस से इस उभयार्थदर्शक तीसरे प्रकार संनिपत्योपकारक को ही **'आश्रयि कर्म'** का नाम क्यों दिया गया है– ज्ञात हो जााता है। इसके अतिरिक्त **'न्यायरत्नमाला'** में भी दृष्टादृष्टार्थ कर्म को ही **'आश्रयिकर्म'** कहा गया है।[1]

संनिपत्योपकारक के और भी दो प्रभेद होते हैं– वे हैं– (१) **उपयोक्ष्यमाणार्थ** और (२) **उपयुक्तार्थ**। इनमें से उपयोक्ष्यमाणार्थ कर्म वे हैं जो, याग में प्रयुक्त होने वाले 'व्रीहि' से सम्बन्धित अवघातप्रोक्षणादि कर्म होते (किये जाते) हैं। और जिनका उपयोग किया जा चुका है, वे **उपयुक्तार्थ कर्म** कहलाते हैं। जैसे– स्विष्टकृत्, इडाभक्षण, प्रस्तरप्रहरण[2] आदि और इसे ही **'प्रतिपत्ति कर्म'** भी कहा जाता है। प्रतिपत्तिकर्म का लक्षण इस प्रकार है– **'उपयुक्तस्य आकीर्णकरतानिवर्तकं कर्म प्रतिपत्तिकर्म'** तात्पर्यार्थ यह है कि, जिन द्रव्यादिकों का उपयोग– या काम समाप्त हो चुका है, आगे होनेवाले कार्यों में वे अवरोधक न बन सके, इसलिए प्रयुक्त वस्तु को अन्यत्र रखने के कार्य को 'प्रतिपत्ति कर्म' कहा जाता है। ज्योतिष्टोम याग में व्रत ग्रहण कर लेने पर व्रती यजमान के सिर में खुजली (कण्डू) होने पर **'कृष्णाविषाणया कण्डूयते'** के अनुसार यजमान के हाथ में कालेमृग का सींग दिया रहता है, जिससे वह आवश्यकतानुसार उस सींग (शृंग) से कण्डू को दूर करता है।[3] किन्तु दक्षिणा देने के पश्चात् यज्ञ, संपन्न होने पर यजमान अपने हाथमें लिये हुए उस शृंग को गर्त में डाल दे,– इस प्रकार का निर्देश– ['नीतासु दक्षिणासु चात्वाले कृष्णविषाणां प्रास्यति'] इस वाक्य

---

१. 'दृष्टादृष्टार्थं च किंचित्कर्म। यदाश्रयिशब्दाभिधानीयकं भजते। यथा पशुपुरोडाशयागाः। स हि त्यागांशेनादृष्टमुद्देशांशेन च दृष्टं देवतास्मरणं करोतीत्युभयार्थः।'

२. इडाशब्देन तत्राम्नी काचिद्देवतोच्यते शक्त्या। तत्सम्बन्धाद् यागोपयोगशिष्टं चरूपुरोडाशादिकं द्रव्यमपि इडाशब्देनोच्यते लक्षणया। तस्य भक्षणमृत्विग्भिः क्रियमाणमिडाभक्षणम्। प्रस्तरो मुष्टि परिमिता दर्भा वेद्यां हविरासदार्थमास्तृताः कुशाहरणकाले प्रथमं लूनाः। तेषां स्वकार्यसमा-प्त्यनन्तरमाहवनीये प्रक्षेपः प्रस्तरप्रहरणम्। (तं. सि. र. द्वि. परि.)

३. द्रष्टव्य– तै. सं. कां. १, प्रपा. २, अनु. २

(५२) आरादुपकारकाणि

द्रव्याद्यनुद्दिश्य केवलं विधीयमानं कर्म आरादुपकारकम्। यथा प्रायाजादि ।।५२।।

आरादुपकारकाणां लक्षणमाह-द्रव्याद्यनुद्दिश्येति। आत्मसमवेतापूर्वजनकान्यारादुपकारकाणीत्यपि वदन्ति तत्रोदाहरणमाह। यथेति। प्रयाजादीत्यादिनाज्यभागानुयाजादिपरिग्रहः ।।५२।।

में दिया गया है। तदनुसार शिरकण्डूयन कार्य में प्रयुक्त होने के पश्चात् वह कृष्ण विषाण आगे सम्पन्न होने वाले यज्ञीय कार्य में आकीर्ण-फैला हुआ होने से बाधक नहो, इस दृष्टि से उस कृष्ण विषाण को चात्वाल में डाल देना चाहिए, कहा गया है इस प्रकार के कर्म को प्रतिपत्ति कर्म कहा जाता है।[1]

प्रकृत में ध्यात्वय है कि उपयुक्त द्रव्य का संस्कार मात्र ही 'प्रतिपत्ति' है, प्रधान याग में उपयुक्त ही प्रतिपत्ति नहीं है।[2] अन्यथा कृष्णविषाण के प्रक्षेपण का प्रतिपत्तित्व समुचित नहीं होगा, क्योंकि यागाङ्गभूत 'कण्डूयन' में वह उपयुक्त होने पर भी याग में उपयुक्त नहीं हुआ है। अत: 'उपयोग' शब्द का अर्थ 'याग में जहाँ कहीं भी उपयोग मात्र' करना चाहिये।।५१।।

अनुवाद– द्रव्यादीति *। द्रव्यादिरूप उद्देश्य के विना, जब केवल कर्म का ही विधान किया जाता है, उस कर्म को **'आरादुपकारक'** कहते हैं। जैसे– प्रयाजादि ।।५२।।*

।। अर्थमीमांसा ।।

संनिपत्योपकारक कर्म के सभी प्रकारों का विवेचन करने के पश्चात् अब ग्रन्थकार **'आरादुपकारक'** का वर्णन प्रस्तुत प्रकरण में प्रारम्भ करते हैं। **आरादुपकारक** कर्म का लक्षण इस प्रकार दिया गया है– **'द्रव्याद्यनुद्दिश्य केवलं विधीयमानं कर्म 'आरादुपकारकम्'**– अर्थात् द्रव्यादिरूप उद्देश्य के बिना, जब केवल 'कर्म' का ही विधान किया गया हो तब उस कर्म को 'आरादुपकारक'– कहते हैं। यथा– प्रयाजादि। संनिपत्योपकारक लक्षण से आरादुपकारक कर्म के लक्षण की तुलना करने पर, दोनों का अन्तर ध्यान में आजाता है। 'संनिपत्योपकारक' कर्म किसी कर्मांगद्रव्य के उद्देश्य से करने के लिए पठित होते हैं, और उसके विपरीत 'आरादुपकारक' कर्म किसी भी कर्मांगद्रव्य के उद्देश्य से करने के लिये पठित नहीं होते। अर्थात् वे कर्मांगद्रव्यादिक के उद्देश्य विना (केवलम्) पठित होते हैं। उदाहरणार्थ– जिस प्रकार अवघातप्रोक्षणादिक कर्म व्रीह्यादिक कर्मांगद्रव्य के उद्देश्य से पठित हैं, उसी प्रकार 'प्रयाज' किसी भी कर्मांगद्रव्यादिकों पर संस्कार करने के उद्देश्य से पठित न होकर, वे उद्देश्य के बिना पठित हैं, अत: 'प्रयाज' आरादुपकारक कर्मों के उदाहरण है। **मीमांसा परिभाषा** में

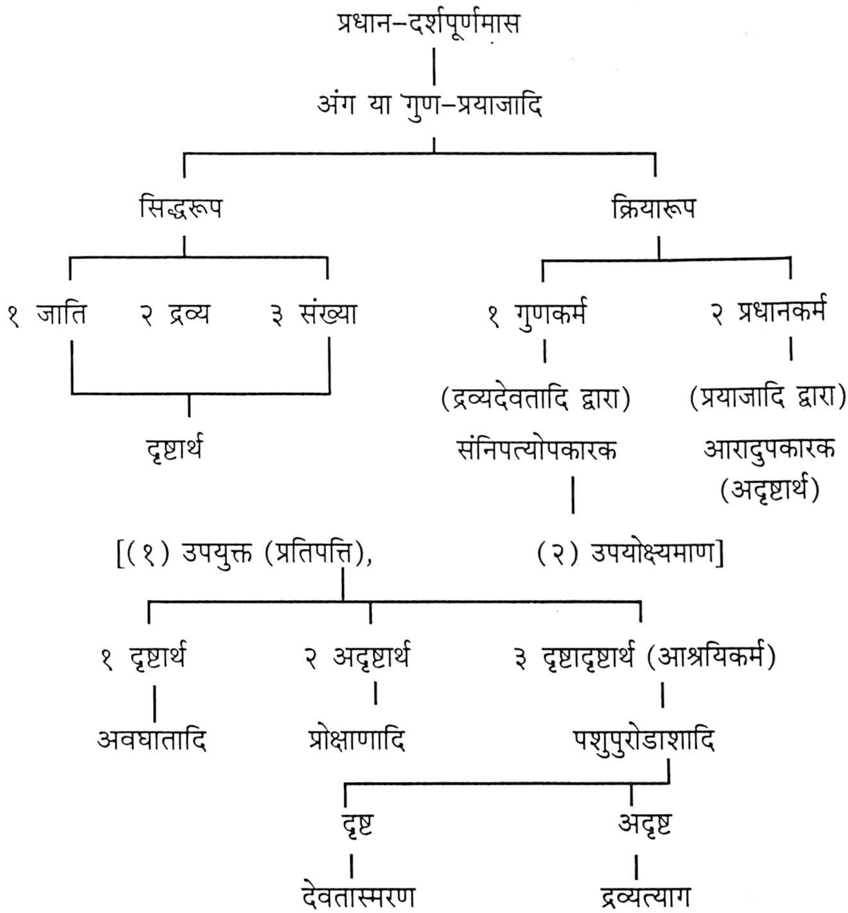
---

१. द्रष्टव्य– जै. सू. अ. ४, पा. २, अधि. ७

२. द्रष्टव्य– उपयुक्तसंस्कारमात्रं प्रतिपत्तिः न प्रधानयागोपयुक्तत्वम् (परिभाषा)।

आत्मा में समवेत अपूर्व के उत्पादक को 'आरादुपकारक' कहा गया है। क्योंकि प्रयाज, अनुयाज, द्रव्य अथवा देवता में संस्कार उत्पन्न नहीं करते हैं अपितु यज्ञ कर्ता के आत्मा में अदृष्ट उत्पन्न करते हैं। अत: आरादुपकारक अंगों का अपूर्वोत्पत्ति में उपयोग है।[१] (१) **संनिपत्योपकारक** और (२) **आरादुपकारक**-इन दोनों के अन्तर को समझने के लिए भर्तृहरि के वाक्यपदीय में प्रस्तुत दृष्टान्त नितान्त उपयोगी है– वह दृष्टान्त इस प्रकार है— [''लोके (१) साक्षादुपकारकं यथा स्वात्मनि अलंकारादि। (२) आराच्च तदेव पुत्रदारादिषु।'']॥५२॥

यहाँ तक विनियोगविधि बोधित अंगों के जिन अनेक विभागों और उपविभागों का निरूपण किया गया है, वे निम्नांकित वृक्षशाखात्मक आकृति से सरलरीत्याध्यान में आ सकते हैं—



---

१. आत्मसमवेतापूर्वजनकान्यारादुपकारकाणि। (परिभाषा)
तैश्च यजमानात्मन्यवस्थितैः परमापूर्वोत्पत्तावुपकार:क्रियते। (तं. सि. र. द्वि. परि.)

(५३) अपूर्वप्रक्रिया

आरादुपकारकं च परमापूर्वोत्पत्तावेवोपयुज्यते। सन्निपत्योपकारकं तु द्रव्यदेवतासंस्कारद्वारा यागस्वरूपेऽप्युपयुज्यते। इदमेव चाश्रयिकर्मेत्युच्यते। तदेवं निरूपितः संक्षेपतो विनियोगविधिः।।५३।।

अत्र परमापूर्वोत्पत्तावेवेत्येवकारेण द्रव्यदेवतागतसंस्कारजननद्वारा यागस्वरूपोपयोगित्वमारादुपकारकाणां निरस्यते यागस्वरूपेऽपीत्यपिना सन्निपत्योपकारकाणां द्रव्यदेवतासंस्कारद्वारा यागोत्पत्त्यापूर्वेऽप्युपकारकत्वं समुच्चीयते अत्र च व्रीह्यादीनां पिष्टद्वारा पुरोडाशनिवर्तकत्वं तद्द्वारा यागशरीरतदुत्पत्त्यपूर्वजनकत्वं च भवति याज्यानुवाक्यादेर्देवतासंस्कारद्वारा यागोत्पत्यपूर्वादावुपयोगित्वं देवतायाश्च साक्षाद्यागशरीरनिर्वर्तकत्वं च भवति यागस्य देवतोद्देशेन द्रव्यत्यागस्वरूपत्वाद् द्रव्यदेवते खलु यागस्वरूपमित्यभ्युपगमाच्चेति ध्येयम्। इदमेव चेति सन्निपत्योपकारकमेव च नत्वारादुपकारकमित्यर्थः। आश्रयिद्रव्यदेवतादिरूप आश्रयोऽस्यास्तीत्याश्रयिपारिभाषिकी वा आश्रयिकर्मेति संज्ञा। इदमेव सामावयिकर्मेत्यपि वदन्ति। किञ्च

---

*अनुवाद– **आरादुपकारकमिति।** परमापूर्व (मुख्यापूर्व) को उत्पन्न करने में आरादुपकारक सहायक होता है। सन्निपत्योपकारक की द्रव्य एवं देवता के संस्कार द्वारा याग के स्वरूप में भी उपयोगिता है। सन्निपत्योपकारक कर्म को ही **'आश्रयिकर्म'** कहते हैं। इस प्रकार यहाँ तक संक्षेप में 'विनियोग विधि' का निरूपण हुआ।।५३।।*

।। अर्थमीमांसा ।।

इसके पूर्व रेखांकित आकृति में निर्दिष्ट विभागों और उपविभागों का विभाजन भिन्न-भिन्न तात्विक दृष्टियों से किया गया है। (१) **प्रथमतः** दिखाई देनेवाले अंगों के जो दो विभाग-**सिद्धरूप** और **क्रियारूप** हैं, वे **सिद्ध** और **साध्य** के तत्त्व की दृष्टि से किये गये हैं। (२) **गुणकर्म** और **प्रधानकर्म** नामक दो विभाग, **गुणप्रधानभाव** की दृष्टि से किये गये हैं। (३) **उपयुक्त** और **उपयोक्ष्यमाण** ये दो विभाग– उपयोगकाल की दृष्टि से किये गये हैं, अर्थात् 'उपयुक्त' के अन्तर्गत वे अंग आते हैं, जिनका उपयोग हो चुका है, और उपयोक्ष्यमाण में वे अंग हैं जिनका उपयोग होनेवाला है। (४) जिन संस्कारों को किया जाना है, उनका फल दृष्ट है या अदृष्ट,? इस प्राश्निक दृष्टि से जब उन भिन्न-भिन्न अंगों की ओर देखा जाता है तब कुछ अंगों के फल दिखाई देते है, कुछ के नहीं और कुछ के अंशतः दिखाई देते है और कुछ के अंशतः नहीं दिखाई देते। अतः उक्त आधार पर **दृष्टार्थ, अदृष्टार्थ** और **दृष्टादृष्टार्थ**–प्रकार के तीन विभागों की कल्पना की गई है। और (५) **संनिपत्योपकारक** और **आरादुपकारक** नामक ये जो दो विभाग निर्मित किये गये है, वे अपूर्वसाधन की दृष्टि से हैं। 'अपूर्व' किन-किन प्रकारों से साध्य होते हैं, तद्विषयक जो प्रक्रिया पूर्ववर्ती आचार्यों ने प्रदर्शित की है, वह निम्नानुसार है–

सामान्यतः कर्म द्विविधमर्थकर्मगुणकर्म चेति। तत्रात्मसमवेतापूर्वजनकं कर्मार्थकर्म। यथाऽग्निहोत्रदर्शपूर्णमासप्रयाजानुयाजादिकं तस्यात्मगतफलापूर्वजनकत्वात्। द्रव्यादिसंस्कारजनकं द्वितीयम्। तदेव सन्निपत्योपकारकमित्युक्तम्। तदपि द्वितीयम्। उपोक्ष्यमाणसंस्कारकमुपयुक्तसंस्कारकं चेति। तत्रावघातप्रोक्षणादिकमुपयोक्ष्यमाणसंस्कारकं यागे व्रीहीणामुपयोक्ष्यमाणत्वात्। प्रतिपत्तिकर्मचात्वालकृष्णविषाणप्रासनेडाभक्षणादिकमुपयुक्तकृष्णविषाणपुरोडाशादिसंस्कारकं द्वितीयम्। उपयुक्तस्याऽऽकीर्णकरस्यावशिष्यमाणद्रव्यादेर्विहितदेशे संस्कारविशेषहेतुः प्रक्षेपः प्रतिपत्तिकर्म उपयोक्ष्यमाणसंस्कारभिन्नसंस्कारकर्मत्वं प्रतिपतिकर्मत्वमित्यपि वदन्ति। ननु भवतु कथञ्चिदिडाभक्षणस्य प्रधानयागोपयुक्ताकीर्णकरपुरोडाशद्रव्यप्रक्षेपात्मकत्वात्प्रतिकर्मत्वं चात्वालेकृष्णविषाणप्रासनस्याग्निहोत्रादिकर्मवद्विहितबहिर्देशविशेषे प्रक्षेपक्रियात्मकत्वात्कथं प्रतिपत्तिकर्मत्वं तथा च तद्वदर्थकर्मत्वमेव तस्य। तदित्थं श्रूयते ज्योतिष्टोमे नीतासु दक्षिणासु चात्वाले कृष्णविषाणं प्रास्यतीति यजमानेन दक्षिणादत्ता ऋत्विग्भिर्यदा नीतास्तदा यजमानः स्वहस्ते धृतं कृष्णमृगस्य शृङ्गं चात्वालनामकगर्ते परित्यजेत्। सोऽयं परित्यागोऽर्थकर्म कुतः। सप्रयोजनत्वलाभात्। प्रतिपत्तिकर्मत्वेऽपूर्वाभावे निरकर्थकः स्यात्। तस्मादपूर्वलाभायार्थकर्मत्वमेव नतु प्रतिपत्तिकर्मत्वमिति

'स्वर्गकामो यजेत' विधिवाक्य से याग के स्वर्गसाधनत्व का ज्ञान होता है। अर्थात् याग से स्वर्गप्राप्त हो सकता है, यह स्पष्टरूप से ज्ञात होता है। किन्तु प्रकृत में शंका उत्पन्न होती है कि-याग तो उत्पन्न होते ही नष्ट होता है, तब ऐसे विनश्वर याग से स्वर्ग की प्राप्ति कैसे होगी? इस शंका का विस्तृत विवेचन पूर्व में **भावना प्रकरण** में किया जा चुका है। और वहाँ अन्त में यह सिद्ध किया गया है कि विनश्वर याग के नष्ट होने पर भी उससे एक प्रकार के अविनाशी **अपूर्व** की उत्पत्ति होती है। और तत्पश्चात् उससे स्वर्ग की प्राप्ति होती है। फिर भी यह **प्रश्न** उठता है कि यह 'अपूर्व' किस साधन से उत्पन्न होता है? इस प्रश्न का **समाधान** यह है कि याग के अनुष्ठान प्रकार से ही 'अपूर्व' की उत्पत्ति होती है। 'अपूर्व' की दृष्टि से यदि हम दर्शपूर्णमासयाग का परीक्षण करते हैं तो यह परिलक्षित होता है कि– इससे विभिन्न प्रकार के अपूर्वों की उत्पत्ति होती है। वे ये हैं – (१) **फलापूर्व** (२) **समुदायापूर्व** (३) **उत्पत्त्यपूर्व** और (४) **अंगापूर्व**। इन अपूर्वों में से (१) दर्शपूर्णमासयाग करने पर जिससे स्वर्गरूपी फल की प्राप्ति होती है, वह **फलापूर्व** है। यह फलापूर्व शेष सभी अपूर्वों में मुख्य होनें के कारण, इसे ही **परमापूर्व** भी कहा जाता है। दर्शपूर्णमासायाग में अमावास्या के दिन तीन यागों **आग्नेय**, **उपांशु** और **एन्द्राग्न,** को संपन्न किया जाना होता है, और पौर्णिमा के दिन अन्य तीन यागों– (१) **आग्नेय**, (२) उपांशु और (३) अग्नीषोमीय। इस प्रकार अमावास्या के दिन संपन्न होने वाले तीन यागों को मिलाकर एक समुदाय और इसी प्रकार पौर्णिमा (के दिन) के तीन यागों का एक समुदाय– कुल मिलाकर इन दो समुदायों से दर्शपूर्णमासयाग संपन्न होता है। जब संपूर्ण दर्शपूर्णमासयाग से 'फलापूर्व' या 'परमापूर्व' की उत्पत्ति होती है, तब उक्त दो समुदायों में से किसी एक समुदाय से उस 'अपूर्व' की उत्पत्ति

चेन्न। कृष्णविषाणया कण्डूयतीति तृतीया श्रुत्या यजमानशिरः कण्डूतावुपयुक्तस्य कृष्णविषाणस्य प्रतिपत्यपेक्षत्वात्। नच प्रतिपत्तिकर्मत्वेऽत्यन्तमपूर्वाभावः। चात्वाल एव प्रासनमित्येवं विधस्य नियमस्य वैधत्वेन प्रासनक्रियाप्रयुक्तापूर्वाभावेऽपि नियमापूर्व-सद्भावात्। तस्मात्प्रासनं प्रतिपत्तिकर्मेति तमेतं सर्वमभिप्रेत्य विनियोगविधिनिरू-पणमुपसंहरति-तदेवमिति ।।५३।।

संभव नहीं हो सकती, क्योंकि एक समुदाय की उत्पत्ति अमावास्या के दिन होती है और दूसरे की पौर्णिमा के दिन। अतः भिन्न-भिन्न समयावधि में घटित होने वाले दो समुदायों से एक 'परमापूर्व' की उत्पत्ति कैसे हो सकती है? यह संभव नहीं। अतः प्रत्येक समुदाय से एक-एक भिन्न-भिन्न 'अपूर्व' की उत्पत्ति माननी होगी। किन्तु उक्त दो समुदायों में (से कोई भी एक समुदाय ग्रहण करने पर) प्रत्येक के पास आग्नेयादि तीन भिन्न-भिन्न याग होते हैं। और वे तीनों ही याग एक ही समय पर संपन्न नहीं हो सकते, वे क्रमशः एक के बाद भिन्न-भिन्न समय पर ही संपन्न होंगे यह स्पष्ट है। अतः इन तीन संयुक्त यागों का एक ही समुदायापूर्व मानना संभव नहीं। अतः प्रत्येक याग का भिन्न-भिन्न अपूर्व मानना होगा। इन अपूर्वों को **उत्पत्त्यपूर्व** की संज्ञा दी गई है। अब प्रश्न यह है कि उपर्युक्त आग्नेयादि तीन यागों में प्रत्येक याग को द्रव्यदेवतादिक अंगों की आवश्यकता होगी। क्योंकि उन अंगों के द्वारा उपकृत होकर ही याग परिपूर्ण हो सकता है। प्रकृत में ध्यातव्य है कि ये सभी भिन्न-भिन्न अंग उस याग पर एक ही समय पर उपकार भी नहीं कर सकते। अतः प्रत्येक अंग का अपूर्व भिन्न-भिन्न होना चाहिए, यह मानना पड़ता है। और इन भिन्न-भिन्न अपूर्वों को ही **'अंगापूर्व'** की संज्ञा दी गई है।

यहाँ तक हमने फलापूर्व से अंगापूर्व की उत्पत्ति की यात्रा का अवलोकन किया है। अब अन्तिम अंगापूर्वादिक से उच्चतम 'फलापूर्व' किस प्रकार सिद्ध होता है, देखते हैं। अवघात, प्रोक्षाणादिक जो कर्म विहित हैं, उनके योग से याग के द्रव्यों और देवताओं पर संस्कार उत्पन्न होने से याग के स्वरूप में एक विशेष उत्पन्न होता है और उसके द्वारा उस याग का **उत्पत्त्यपूर्व** निष्पन्न होता है। अर्थात् अवघातादिक अंगों के अपूर्व से याग का उत्पत्त्यपूर्व तैयार होता है।[1] और इस प्रकार अवघातादिक अंग एकत्र होकर (संनिपत्य) उत्पत्त्यपूर्व निष्पन्न करने के काम में उपकार (साहाय्य) करते हैं। और इसीलिए उन्हें संनिपत्योपकारक कहा जाता है। तथा इस प्रकार अंगापूर्व से निष्पन्न हुए जो उत्पत्त्यपूर्व हैं, उनसे समुदायापूर्व के द्वारा 'फलापूर्व' निष्पन्न किया जाता है। इस 'फलापूर्व' को निष्पन्न कराने के काम में साहाय्यरूपी उपकार करने के लिए प्रयाजादिक आरात् अर्थात् दूर से (तात्पर्य यह है कि संनिपत्योपकार की तरह द्रव्यादिकोंपर प्रत्यक्ष उपकार नहीं करके) व्यापृत होते हैं, इसलिए उन्हें आरादुपकारक की संज्ञा दी गई है।[2]

---

१. एतानि द्रव्यदेवतादौ कञ्चनाऽतिशयविशेषमाधाय तद्द्वारा यागीयापूर्वं उपयुज्यन्ते (तं. सि. र. द्विती. परि.)

२. तैश्च यजमानात्मन्यवस्थितैः परमापूर्वोत्पत्तावुपकारः क्रियते। (त. सि. र. द्विती. परि.)

देखिए– इस आकृति को—

दर्शपूर्णमास

दर्श | पूर्णमास

आग्नेय | उपांशु | ऐंद्राग्न | आग्नेय | उपांशु | अग्नीषोमीय

(१) दर्शयागान्तर्गत-आग्नेविषयक-अंगानि

अवघात | प्रोक्षण | इतर

अंगापूर्व + अंगापूर्व + अंगापूर्व = आग्नेय विषयक, उत्पत्त्यपूर्व

इस प्रकार उपर्युक्त छः यागों के छः उत्पत्त्यपूर्व उत्पन्न होते हैं। पश्चात्

(२) दर्शयागान्तर्गत

आग्नेय उत्पत्त्यपूर्व + उपांशु उत्पत्त्यपूर्व + ऐन्द्राग्न उत्पत्त्यपूर्व = दर्शसमुदायापूर्व

(३) पूर्णमासान्तर्गत

आग्नेय उत्पत्त्यपूर्व + उपांशु उत्पत्त्यपूर्व + अग्नीषोमी यउत्पत्त्यपूर्व = पूर्णमास-समुदायापूर्व

(४) दर्शसमुदायापूर्व + पूर्णमाससमुदायापूर्व = दर्शपूर्णमासपरमापूर्व

उपर्युक्त विवेचन से ग्रंथ के मूल पाठ में उल्लिखित– **'आरादुपकारकंच परमापूर्वोत्पत्तावेवोपयुज्यते'** इत्यादि वाक्यांशका भावार्थ सहज बोधगम्य हो जाता है।

कर्म के जिन दो भेदों– (१) **संनिपत्योपकारक** और (२) **आरादुपकारक**-का उल्लेख किया गया है, उनमें से आरादुपकारक-यह उपरि निर्दिष्टानुसार केवल फलापूर्व अर्थात् परमापूर्व उत्पन्न करने के काम में ही उपयोगी होता है। द्रव्यदेवतादिकों पर संस्कार उत्पन्न कर तदनुसार याग के स्वरूप को निष्पन्न करने का काम प्रयाजादिकों अर्थात् 'आरादुपकारक' कर्म का नहीं है। 'संनिपत्योपकारक' कर्म द्रव्यदेवतादिकों के संस्कार- से अंगापूर्व के द्वारा याग से निष्पन्न होने वाले उत्पत्त्यपूर्व को तैयार करने के काम में उपकारक होता है। संक्षेप में 'आरादुपकारक' कर्म मुख्यापूर्व की उत्पत्ति में सहायक होता है, जबकि सन्निपत्योपकारक (कर्म) द्रव्य एवं देवता के संस्कार के द्वारा याग के स्वरूप सम्पादन में भी काम आता है। अर्थात् संनिपत्योपकारक कर्म के द्वारा याग का स्वरूप संपादित किया जाता है तथा– उत्पत्यपूर्व निष्पन्न किया जाता है।

इस प्रकार यहाँ तक संक्षिप्त विवेचन में विनियोगविधि का निरूपण किया गया है॥५३॥

(५४) प्रयोगविधिः

प्रयोगप्राशुभावबोधको विधिः प्रयोगविधिः । स चाङ्गवाक्यैकवाक्यतापन्नः प्रधानविधिरेव । स हि साङ्गं प्रधानमनुष्ठापयन्विलम्बे प्रमाणाभावादविलम्बापरपर्यायं प्रयोगप्राशुभावं विधत्ते । न च तदविलम्बेऽपि प्रमाणाभाव इति वाच्यम् । विलम्बे त्वङ्गप्रधानविध्येकवाक्यातावगततत्साहित्यानुपपत्तिः । विलम्बेन क्रियमाणयोः पदार्थयोरिदमनेन सहकृतमिति साहित्यव्यवहाराभावात् । स चाविलम्बो नियते क्रमे आश्रीयमाणे भवति । अन्यथा हि किमेतदनन्तरमेतत्कर्तव्यमेतदन्तरं वेति प्रयोगविक्षेपापत्तेः । अतः प्रयोगविधिरेव स्वविधेयप्रयोगप्राशुभावसिद्ध्यर्थं नियतक्रममपि पदार्थविशेषणतया विधत्ते । अत एवाङ्गानां क्रमबोधको विधिः प्रयोगविधिरित्यपि लक्षणम् ।।५४।।

इदानीं प्रयोगविधिं निरूपयति । प्रयोगेत्यादिना । साम्प्रधानकर्मप्रयोगप्राशुभावबोधक इत्यर्थः । स च प्रयोगविधिः प्रयाजाद्यङ्गजातवाक्यैकवाक्यतामापन्नो दर्शपूर्णमासाभ्यां स्वर्गकामो यजेतेत्यादिप्रधानविधिरेवोक्तवक्ष्यमाणविधित्रयमेलनरूपश्चतुर्थोऽयं

अनुवाद– प्रयोगेति । *जिस विधिवाक्य से प्रयोग को शीघ्र करने का बोध होता है उसे* ***'प्रयोगविधि'*** *कहते हैं। वह प्रयोगविधि अङ्गवाक्यों के साथ एक वाक्यता होने पर प्रधानविधि ही है। अङ्गों सहित प्रधान क्रिया का अनुष्ठान कराता हुआ प्रयोगविधि अविलम्ब (शीघ्र) का विधान करता है। विलम्ब होने में कोई प्रमाण नहीं होता, इस हेतु प्रयोग विधि से प्राशुभाव का विधान होता है। [प्रकृत में यह शंका होती है–] प्रयोग के विलम्ब में जैसे प्रमाण का अभाव है उसी प्रकार प्रयोग के प्राशुभाव में भी कोई प्रमाण नहीं है। किन्तु यह कथन समीचीन नहीं है। कारण यह है कि अंगविधि और प्रधानविधि मिलकर एकवाक्यता को प्राप्त करते हैं, प्रयोग अनुष्ठान में विलम्ब होने पर एक वाक्यता से अवगत होने वाले 'अंग एवं प्रधान' का सहभाव (साहित्य) उपपन्न न हो सकेगा। अन्तराल पूर्वक अनुष्ठित दो क्रियाओं के सम्बन्ध में* ***'इदमनेन सह कृतम्'*** *(यह क्रिया इसके साथ सम्पादित हुई) एतत् प्रकारक सहभाव का व्यवहार नहीं हो सकता। जब क्रम नियत रहता है तभी अंग एवं प्रधान के अनुष्ठान में कालव्यवधान नहीं होता। अन्यथा 'क्या यह क्रिया इस क्रिया के अनन्तर होगी अथवा दूसरी क्रिया के पश्चात्' इत्याकारक संशय उपस्थित होगा। जिससे प्रयोगानुष्ठान में बाधा होगी। इससे यह प्रतिफलित होता है कि प्रयोगविधि ही अपने विधेय के प्राशुभाव की सिद्धि के लिए पदार्थ के विशेषणरूप में नियत क्रम का विधान करता है। अत एव 'प्रयोग-विधि' का लक्षण यह भी हो सकता है कि– 'अंगों के क्रम का बोध कराने वाली विधि को 'प्रयोगविधि' कहते हैं ।।५४।।*

विधिर्नतुविध्यन्तरमित्याह-सचेति। तत्र हेतुं प्रदर्शयन् प्रयोगप्राशुभावशब्दं व्याचष्टे-सहीत्यादीना। प्रयोगविधि: साङ्गप्रधानकर्मप्रयोगाविलम्बं विधत्ते तद्विलम्बे प्रमाणाभावात्। सम्प्रतिपन्नवत्। तत्र प्रयोगविधि: तत्र प्रयोगाविलम्बं विधत्ते तदविलम्बे प्रमाणाभावादिति। संप्रतिसाधनतामाशङ्क्य समाधत्ते। सचेत्यादिना। अङ्गप्रधानविध्योरेकवाक्यतयावगतस्याङ्गप्रधानयो: साहित्यस्यानुपपत्तेरेव तदविलम्बे प्रमाणत्वान्न तत्र प्रमाणाभाववचनं शोभतेतरामिति। तत्रार्थापत्तिं प्रमाणं दर्शयति-विलम्ब-इत्यादिना। हि शब्देन तत्साहित्यनिश्चयं द्योतयति प्रयाजाद्यङ्गजातमङ्गशब्दार्थ:। प्रधानशब्देन च दर्शादि: प्रधानयागो ह्युच्यते। तावेव तच्छब्दार्थ:। नच तत्साहित्यमेव नास्तीति वाच्यम्। अङ्गप्रधानविध्येकवाक्यत्वानुपपत्तेः तस्य प्रयोजनान्तरानुपलब्धेश्च। नन्वविलम्बमन्तरेण नाङ्गप्रधानयो: साहित्यानुपपत्ति: तेन विनापि तथा व्यवहारादित्याशङ्क्यमैवमित्याह–विलम्बेनेत्यादिना। पूर्वेह्नि परेह्नि च क्रियमाणयोर्भोजनयो-

---

।। अर्थमीमांसा ।।

भिन्न-भिन्न विधियों के भिन्न-भिन्न उपयोगों की दृष्टि से विधि के कुल मिलाकर चार प्रकारों (१) उत्पत्तिविधि (२) विनियोगविधि (३) अधिकारविधि और (४) प्रयोगविधि– का कथन इसके पूर्व किया जा चुका है। उनमें से **उत्पत्तिविधि** और **विनियोगविधि** का निरूपण यहाँ तक हो चुका है। अब पूर्वोक्त क्रमानुसार 'अधिकारविधि' का निरूपण किया जाना चाहिए, किन्तु 'प्रयोगविधि' का निकट सम्बन्ध 'विनियोगविधि' से होने के कारण यहाँ 'प्रयोगविधि' का ही निरूपण (अधिकार विधि के पूर्व) किया जा रहा है। कोन प्रधान है और कौन अंग है? प्रधान कर्मों और उनके अंगों को एकत्र कर याग का प्रयोग किस प्रकार करना है? और उस प्रयोग मे किस अंग के पश्चात् कौन से अंग का अनुष्ठान किया जाना है? इत्यादि प्रकार की अनेक आकांक्षाएँ सहज ही उत्पन्न होती हैं। अत: क्रमविशिष्ट अनुष्ठेय पदार्थों के ज्ञान के पश्चात् ही अधिकारी विषयक जिज्ञासा का उदय होता है।[१] और उन आकांक्षाओं को निवृत्त करने के लिए प्रयोगविधि प्रकरण ही समर्थ होने से विनियोगविधि के पश्चात् प्रयोगविधि प्रकरण का प्रारम्भ यहाँ किया जा रहा है। **आपदेवी** में भी विनियोगविधि के पश्चात् प्रयोगविधि का प्रकरण ही प्रारम्भ किया गया है। और तत्पश्चात् अधिकारविधिका निरूपण किया गया है। यही क्रम स्वाभाविक भी है, इतना ही नहीं, संपूर्ण मीमांसाशास्त्र के मूलभूत जैमिनीसूत्र में भी प्रथम और द्वितीय अध्याय में प्रमाणभेद निरूपण के द्वारा उत्पत्तिविधि, तीसरे अध्याय में अंगत्व निरूपण के द्वारा विनियोगविधि तथा चौथे और पाँचवे अध्याय मे प्रयोगविधि का निरूपण किया गया है, तत्पश्चात् छठे अध्याय में अधिकारविधि वर्णित है। अत: उपर्युक्त सभी प्रमाणों को दृष्टि में रखकर– अर्थसंग्रह के विधि प्रकरण में **विधिश्चतुर्विध:**– में विधियों का जो क्रम बतलाया है, वह इस प्रकार है– 'विधिश्चतुर्विध:– उत्पत्तिविधि:, विनियोगविधि: अधिकारविधि:, प्रयोगविधि: इति' किन्तु उक्त क्रम के स्थान

---

१. निरूपिते ह्यनुष्ठेये शक्यं शक्तिनिरूपणम्।
तस्यां निरूपितायां तु तदधीनाऽधिकारधी:।। (न्यायरत्नमाला)

रिदमनेन भोजनेन सहकृतमिति व्यवहारादर्शनान्नविलम्बेन क्रियमाणयोरङ्गप्रधानयोः साहित्यव्यवहारोऽभ्रान्तस्योपपद्यते। ततश्च सा तदवस्थेत्यर्थः। सोप्यङ्गप्रधानयोरविलम्बस्तन्नियते क्रमे समाश्रयणे सम्भवति यथाऽग्नेयहविरभिघारणं ततश्चैकान्तरितव्यवधानेनाविलम्ब इति सर्वमुपरिष्टात्स्पष्टीभविष्यतीत्यभिप्रेत्याह-सचेत्यादिना। क्रमे नाङ्गीकारे दोषमाह-अन्यथेत्यादिना। प्रयोगविक्षेपापत्तेरिति। किमाग्नेयहविषोऽभिघारणमैन्द्रदधिहविरभिघारणानन्तरं कर्तव्यं किं वैन्द्रदधिहविषोभिघारणमाग्नेयहविरभिघारणानन्तरमित्येवं सर्वत्रसन्देहेन सर्वानुष्ठानोच्छेदापत्तेरित्यर्थः। संशयात्मा विनश्यतीत्यादिना भगवद्वचनेन संशयात्मन ऐहिकभोगसाधनेऽपि प्रवृत्त्यभावोपलम्भान्न सन्दिहानस्यामुत्र भोगसाधने प्रवृत्तिरुपपद्यत इति भावः। ननु नाङ्गप्रधानयोर्नियतः क्रम उपपद्यते तद्विधायकाभावात्। नच प्रयोगविधिरेव तद्विधायको वाक्यभेदापातात् कथं न प्रयोगविधेरेव प्रयोगप्राशुभावविधायकत्वे गुणप्रधानयोर्नियतक्रमविधायकत्वे च वाक्यभेदापात इति चेन्नैवमित्याह-अत इत्यादिना। यतोऽङ्गप्रधानयोर्नियतक्रममन्तरेणाविलम्बापरनामधेयप्रयोगप्राशुभावो नोपपद्यतेऽतः स्वविधेयप्रयोगप्राशुभावसिद्ध्यर्थं नियतं क्रममपि प्रयोगविधिरेव विधत्ते इत्यर्थः। वाक्यभेदनिरासाय पदार्थविशेषणतयेत्युक्तं व्यापारभेदेन हि विधाने वाक्यभेदो भवति नतु विशिष्टविधान

पर इन विधियों का क्रम यदि ऐसा होता तो वह अधिक योग्य होता– क्रम इस प्रकार होना चाहिए था– 'विधिश्चतुर्विधः– उत्पत्तिविधिः, विनियोगविधिः, प्रयोगविधिः, अधिकारविधिश्चेति'। आपदेवी में भी उक्त क्रम का ही वर्णन है। तथापि प्रयोगविधि की टीका समाप्त होने पर अधिकार विधि की टीका प्रारम्भ करते समय रामेश्वरभिक्षुने 'इदानीं क्रमप्राप्तमधिकारविधिं निरूपयति'– यह कहा है। इससे टीकाकार को भी उक्त आपदेवी का (वांछित) क्रम इष्ट है, स्पष्ट ज्ञात होता है।

प्रयोगविधि

विनियोगविधि के पशचात् और अधिकार विधि के पूर्व प्रयोगविधि का निरूपण क्यों किया जा रहा है? इसका विवेचन इसके पूर्व किया जा चुका है। प्रयोगविधि का लक्षण ग्रंथ के मूल-पाठ में इस प्रकार दिया गया है– **'प्रयोगप्राशुभावबोधको विधिः प्रयोगविधिः'**– अर्थात् अनुष्ठान की शीघ्रता बोधक विधि को 'प्रयोगविधि' कहते है। लक्षण में प्रयुक्त **'प्राशुभाव'** का अर्थ है– विलंब न करना' 'त्वरा'। **'आशु'**– का अर्थ है– शीघ्र, और प्राशु का (प्र + आशु)' अर्थ है- और अधिक शीघ्र– इस प्रकार प्राशुभाव– प्रकर्षेण शीघ्रता को व्यक्त करता है। अर्थात् असंबन्धिपदार्थाव्यवधान, या अप्रामाणिकवैधकर्मान्तराव्यवधान।

प्रयोगविधि के अधिकारक्षेत्र की चर्चा यहाँ करना अनिवार्य है जिससे उक्त विधि के प्रवृत्ति क्षेत्र का स्पष्टीकरण हो सकेगा और उक्तलक्षण का निहितार्थ भी व्यक्त हो सकता है। किसी एक याग को सम्पादित करने का निश्चय होने पर, संपादित किये जानेवाले याग के कौन-कौन से भिन्न-भिन्न अंग हैं, इसका निश्चय 'विनियोगविधि' द्वारा किया जाता है। किन्तु प्रश्न यह है कि उन विभिन्न अंगों के क्रम को अर्थात् उन अनेक अंगों में से कौन से अंग

इत्यवोचामेति भावः। पदार्थश्चात्र क्रियारूपो ग्राह्यः अन्यथा क्रमविधानानुपपत्तेः। तदुक्तं माधवेन यद्यपि क्रमस्य क्रियात्वाभावात्स्वरूपेण न विधियोग्यता तथापि दधिना जुहोतीत्यादावक्रियारूपं दधिद्रव्यं यथा क्रियाविशेषणं सद्विधीयते दधिसाधनकं होमं कुर्य्यादिति। एवमनेन क्रमेण कर्तव्यमिति क्रियाविशेषणतया क्रमो विधीयतामिति। यतः प्रयोगविधिरेव पदार्थविशेषणतया तन्नियतक्रममपि विधत्ते ऽत एव कारणात्तस्य लक्षणान्तरमपीत्याह-अतएवेति ।।५४।।

का अनुष्ठान प्रथम और तत्पश्चात् कौन से दूसरे अंग का अनुष्ठान किया जाना है, यह कौन निर्देशित करेगा? कहीं अमुक अंग के अनन्तर किसी दूसरे अमुक अंग का अनुष्ठान (किया जाय) या उसे छोडकर किसी तीसरे अंग का अनुष्ठान किया जाय? इत्याकारक संशय उत्पन्न होने पर, उस याग के अनुष्ठान में व्यत्यय उत्पन्न होकर विना कारण विलंब होने लगेगा। और इस प्रंकार का विलंब इष्ट नहीं है। अत: विलंब न हो, और त्वरा से (प्राशुभावपूर्वक) एक के पश्चात् एक, बिना किसी बाधा के, अंगों का अनुष्ठान होना नितान्त आवश्यक है। और इस प्रकार की इष्ट व्यवस्था का समायोजन 'प्रयोगविधि' के द्वारा किया जाता है। प्रयोगविधि वह विधि है, जो किसी याग के प्रयोग का कार्य प्राशुभाव से (अर्थात् बिना किसी विलंब के- और असंबद्ध पदार्थों के व्यवधान के बिना) किस प्रकार संपन्न हो सकता है, इस विषय में बोधोत्पत्ति करता है। और इसलिए प्रयोगविधि को **'प्रयोगप्राशुभावबोधक विधि**– कहा जाता है।[१]

यह प्रयोगविधि कोई नवीन विधि है, ऐसा कदापि नहीं है। जैसे **'दर्शपूर्णमासाभ्यां स्वर्गकामो यजेत'** इस वाक्य में एक प्रधानविधि कहा गया है, इसी प्रकार **'समिद्भिर्यजेत'** इत्यादि प्रकार के वाक्यों से प्रधान याग के अंगों को निरूपति किया गया है। अत: प्रधान वाक्य और अंगवाचक वाक्यों को मिलाकर जो एक वाक्यैकवाक्य अर्थात् एक महावाक्य बनता है, और उस संयोग से जो एक संयुक्तवाक्यजन्य अर्थ निष्पन्न होता है, वही **प्रयोगविधि कहलाता** है। इसका तात्पर्य यह है कि **'समिद्भिर्यजेत'** इत्यादि वाक्यों से निरूपित प्रयाजादिक अंगों के अनुष्ठानसे, **'दर्शपूर्णमासाभ्यां स्वर्गकामो यजेत'** इत्यादि प्रधानविधि में पठित, दर्शपूर्णमास याग करना चाहिये, यही प्रयोगविधि के द्वारा कहा जाता है। किन्तु प्रयाजादिक अंगों के साथ दर्शपूर्णमासयाग करना चाहिये– इतना ही निर्देश हमें प्रयोगविधि नहीं देता, अपितु वह दर्शपूर्णमासयाग बिना किसी विलंब के और बिना व्यवधान के प्राशुभाव से किस प्रकार संपन्न किया जा सकेगा, यह भी निर्देशित करता है। **प्राशुभाव** का अर्थ मूल पाठ में– **'अविलम्बापरपर्याय'** के रूप में दिया गया है। अपरपर्याय का अर्थ है– **'प्रतिशब्द'** अर्थात् उसका दूसरा समानार्थक शब्द। अत: प्राशुभाव का अर्थ होता है– **अविलम्ब**, **अव्यवधान**, और यह प्राशुभाव याग के अनुष्ठान में किस प्रकार उत्पन्न करना चाहिये? अर्थात् एक के पश्चात् एक याग के कौन-कौन से अंगों को करना चाहिए? इस

---

१. प्रयोगो नामाऽनुष्ठानम्, तत्प्राशुभावः पदार्थन्तरव्यवधानरूपं शैघ्र्यम्, तद्बोधको विधिरित्यर्थः। (तं सि. र. द्विती. परि.)

विषयका विधान प्रयोगविधि के द्वारा निर्देशित किया जाता है।[१]

अब यदि कोई यह **प्रश्न** करे कि याग के अनुष्ठान को अविलम्ब सम्पादित करने के लिए प्रयोगिविधि की क्या आवश्यकता है? क्योंकि याग के अंगों का अनुष्ठान अविलम्ब और त्वरा पूर्वक होना चाहिए यह कहाँ लिखा है? प्रश्नकर्ता का यह कहना ठीक हो सकता था, किन्तु अंगों का अनुष्ठान विलंब से किया जाना चाहिए– ऐसा प्रमाण भी तो कहीं पठित नहीं है, अर्थात् विलम्ब होने में भी कोई प्रमाण नही है। अत: उन अंगों का अनुष्ठान अविलंब अर्थात् प्राशुभाव से किया जाना चाहिए, यह निष्कर्षत: स्पष्ट होता है। और अंगों का अनुष्ठान अविलंब या त्वरित या प्राशुभाव से करने के लिए प्रमाणरूप में **'अर्थापत्ति'** को प्रस्तुत किया जा सकता है।

वस्तुत: **पूर्वपक्षी** के अनुसार अंगों के अनुष्ठान में विलंब से कोई हानि नहीं होती, अनुष्ठान में विलंब चल सकता है। किन्तु **सिद्धान्त पक्ष** के अनुसार पूर्वपक्षी का कथन युक्तियुक्त नहीं है। यथा– **'गाम् आनय'** वाक्य में यदि कोई **'गाम्'** शब्द का उच्चारण एक दिन करे और **'आनय'** का उच्चारण दूसरे दिन करे, तो क्या इन असहोच्चारित पदों से गाय लाने की क्रिया कभी निष्पन्न हो सकेगी? अत: जिस प्रकार **'गाम् आनय'** के लिए संनिधान आवश्यक है, उसी प्रकार अविलम्बरूपी संनिधान प्रधान याग और उसके अंगों के मध्य में भी आवश्यक है। क्योंकि **'समिद्धिर्यजेत'** इत्यादि अंगवाक्य और दर्शपूर्णमास का प्रधान वाक्य इत्यादि अनेक वाक्य मिलकर प्रयोगविधि में जो महावाक्य या वाक्यैकवाक्य निष्पन्न होता है, उससे स्पष्ट होता है कि अंग और प्रधान के मध्य में साहित्य अर्थात् सहकृतत्व,– साहचर्य, होना चाहिए। इस के अभाव में अर्थात् साहचर्य के अभाव में एकवाक्यत्ता उपपन्न नहीं होगी। साहित्य अर्थात् साहचर्य को स्थिर रखना है तो अंग-प्रधानादिक का अनुष्ठान अविलम्ब करना होगा। वस्तुत: दो क्रियाओं के मध्य में कालकृत बहुत अंतर रखने के बाद वे दोनों क्रियाएँ एक दूसरे के साहचर्य, निकटता से सम्पन्न की गई हैं, ऐसा नहीं कहा जा सकता। आज किया हुआ भोजन और दूसरे दिन किया हुआ भोजन, ये दोनों ही भोजन सहकृत अर्थात् एक दूसरे के पश्चात् किये गये हैं, ऐसा नहीं कहा जा सकता। अत: अन्योन्य साहचर्य के लिए अंगप्रधानादिकों का अनुष्ठान अविलंब करना ही आवश्यक है। यह उपर्युक्त अर्थापत्ति के उदाहरण से स्पष्ट हो जाता है। तथापि अविलम्ब का अर्थ यह नहीं है कि एक अंग और दूसरे अंग या प्रधानयाग इन दोनों के मध्य में एक क्षणभर का भी विलम्ब न हो। इसका अर्थ इतना ही है कि उन दोनों के मध्य में किसी असंबद्ध कर्म के कारण अनपेक्षित या अत्यधिक विलम्ब न होने पाये। इस कारण **'पूर्वेद्युरग्निं गृह्णाति उत्तरमहर्यजति'** इत्यादि वचनों के अनुसार दोनों क्रियाओं के मध्य में उत्पन्न होने वाला विलम्ब या इन दो कालों के अन्तराल में किया हुआ संध्यावन्दनादिक कर्म जनित व्यवधान दोषास्पद नहीं होता।

याग में जिन भिन्न-भिन्न अंगों का अनुष्ठान किया जाना होता है, उनमें से किस अंग

---

१. अत: प्रोयगविधिरेव स्वसिद्ध्यर्थं स्वविधेयपदार्थविशेषणतया नियतं कञ्चित्क्रममपि विधत्ते। (तं. सि. र. द्विती. परि.)

का अनुष्ठान प्रथम किया जाना है और तत्पश्चात् किस अंग का, इस विषय में यदि उन अंगों का क्रम निश्चित (नियत-निर्धारित) करके यज्ञीय अनुष्ठान किया जाता है तो अविलम्ब अर्थात् प्राशुभाव-त्वराभाव उत्पन्न हो जाता है। क्योंकि-शीघ्रता तभी होती है जब निश्चितक्रम का आश्रय लिया जाये, अन्यथा यह क्रिया इस क्रिया के बाद अनुष्ठित की जाये अथवा दूसरी क्रिया के बाद– इस प्रकार का संदेह उत्पन्न होने से अनुष्ठान में बाधा उपस्थित होने लगेगी। जिससे यज्ञ के प्रयोग में विक्षेप अर्थात् पदार्थलोपादिक व्यत्यय आने की संभावना बनी रहती है। अत: प्रयोगविधि अपने विधेय-प्राशुभाव की सिद्धि के लिये पदार्थ के विशेषणरूप में निश्चित क्रम का विधान करता है। इसलिये प्रयोगविधि का यह भी लक्षण है– 'अंगों के क्रम का बोध करानेवाले विधि को प्रयोग-विधि कहते हैं। 'क्रम' विस्तार विशेष अथवा पूर्वापरभावरूप होता है।

पूर्वपक्ष के अनुसार प्रकृत प्रसंग में एक शंका उत्पन्न होती है कि– 'प्रयोगविधि क्रम का विधान करता है' ऐसा आप कहते हैं। अर्थात्– प्रयोगविधि वह विधि है जो क्रियाओं के क्रम का बोध कराता है, जिससे क्रियाओं के सम्पादन में विलम्ब न होकर प्राशुभाव-शीघ्रता-त्वरा-हो। किन्तु यह कैसे संभव है? क्योंकि जिस बात को विधि के रूप में कहा जाता है, वह क्रियार्ह-क्रिया करने की योग्यता रखने लायक होनी चाहिए। क्योंकि विधि क्रियात्मक है, अत: वह विधियोग्यता 'क्रम' में किस प्रकार प्राप्त हो सकती है? **'यजेत'** इत्यादि विधि में प्रतिपादित याग रूप क्रिया जिस प्रकार की जा सकती है, अथवा अनुष्ठेय है, उस प्रकार 'क्रम' अनुष्ठेय कैसे हो सकता है? अत: क्रियात्मक वस्तु की तरह अनुष्ठेय न होने के कारण 'क्रम' के सम्बन्ध में विधि का निरूपण करना असंभवनीय है। उक्त **पूर्वपक्ष** का **समाधान** ग्रन्थ के मूल में पठित **'पदार्थविशेषणतया'** के द्वारा दिया गया है। इसका तात्पर्य यह है कि– यह तो ठीक है कि 'क्रम' क्रियात्मक न होने से तद्विषयक प्रत्यक्ष रीति से विधि का निरूपण नहीं किया जा सकता, फिर भी पदार्थ विशेषणत्व के द्वारा क्रम विषयक विधि का निरूपण करना संभवनीय (शक्य) है। जैसे **'दध्ना जुहोति'** विधि विषयक विवेचन में– किया जा चुका है। वहाँ **'दधि'** पदार्थ क्रिया न होने पर भी उस दधि-द्रव्य से सम्बन्धित विधान किस प्रकार किया गया है? यह हम देख चुके हैं। **'दधि'** द्रव्य क्रियात्मक न होने पर भी वह **'जुहोति'** क्रिया का विशेषण हो सकता है। अर्थात् **'दध्ना जुहोति'** का अर्थ **'दधिसाधनकं होमं कुर्यात्'** करके अक्रियात्मक **'दधि'** द्रव्य का क्रिया विशेषण के द्वारा विधान करना संभव होता है। उसी प्रकार **'अनेन क्रमेण कर्तव्यम्'** सदृश क्रियाविशेषण के द्वारा अक्रियात्मक 'क्रम' का भी विधान करना संभव है। ग्रंथ के मूल पाठ में **'पदार्थविशेषणतया'** जो शब्द उल्लिखित है, उसके **'पदार्थ'** का अर्थ 'तत्तत्कर्म' ग्रहण करना चाहिए।[१]

उक्त विवेचन से ज्ञात होता है कि प्रयोगविधि का जो प्रथम लक्षण **'प्रयोगप्राशुभावबोधको**

---

१. द्रष्टव्य– जै. सू. अ. ५, पा. १, अधि. १। **द्रष्टव्य**-पदार्थश्चात्र क्रियारूपो ग्राह्यः, अन्यथा क्रमविधानानुपपत्तेः। तदुक्तं माधवेन यद्यपि क्रमस्य क्रियात्वा-भावात् स्वरूपेण न विधियोग्या तथापि दधिना जुहोतीत्यादा..........। एवमनेन क्रमेण..............क्रमो विधीयताम् (कौमुदी)

(५५) क्रमस्वरूपम्

तत्र क्रमो नाम विततिविशेषः। पौर्वापर्यरूपो वा।।५५।।

ननु क्रमबोधक इत्यत्र किं लक्षणः क्रमोऽभिमत इत्याकाङ्क्षायां क्रमं लक्षयति-तत्र क्रम इति। यद्वा वाक्यार्थबोधे पदार्थज्ञानस्य हेतुत्वात्क्रमपदार्थज्ञानमन्तरेण प्रयोगविधिलक्षणवाक्यार्थबोधो न स्यात्ततश्च क्रमपदार्थो वक्तव्य इत्याकाङ्क्षायां क्रमलक्षणमाह-तत्र क्रम इति। तत्र प्रयोगविधिलक्षणवाक्यार्थघटकपदार्थानां मध्य इत्यर्थः। विततनं वितानो वा विततिः तनु विस्तार इति धातोः स्त्रियां भावे क्तिन् प्रत्यये विततिरिति रूपं तथा च बहुभिः कर्तृभिर्युगपत्कृतानामपि पदार्थानां वितानविशेषो भवत्येव नतु तत्र क्रमव्यवहारइत्यरुच्या लक्षणान्तरमाह-पौर्वापर्यरूपो वेति। यद्वा

विधिः' के रूप में दिया गया है, उसके अतिरिक्त प्रयोगविधि का एक अन्य लक्षण भी इस रूप में– **'अंगानां क्रमबोधको विधिः'** दिया जा सकता है। अर्थात् अङ्ग क्रियाओं के क्रम का बोध कराने वाला विधि 'प्रयोगविधि' कहा जाता है। क्योंकि भिन्न-भिन्न अंग एक दूसरे के पश्चात् किस-किस क्रम से करने चाहिए,– इस के सम्बन्ध में प्रयोगविधि के द्वारा बोध होता है। अत: इसे **'अंगक्रमबोधकविधि'** कहा जा सकतां है।।५४।।

अनुवाद– तत्रेति। *[प्रसंगोपात्त क्रम का लक्षण करते हैं] विस्तार (वितति) विशेष को 'क्रम' कहते हैं। अथवा, पूर्वापरभाव से स्थिति को 'क्रम' कहते हैं ।।५५।।*

।। अर्थमीमांसा ।।

यहाँ तक जिस क्रम की नितान्त आवश्यकता का विवेचन किया गया है, उस 'क्रम' का अर्थ है– 'विततिविशेष'। 'वितति' शब्द **'वि'** पूर्वक **'तन्'** धातु से उत्पन्न हुआ है। और 'तन्' धातु का अर्थ है– विस्तार। अत: **'वितति'** का अर्थ है– विशिष्ट विस्तार। याग में अनेक अंग अनुष्ठेय होते हैं, उन अंगों का एक के पश्चात् एक विस्तार करते चलने से उससे एक क्रम निष्पन्न होता है। जैसे– तृणों से **'कट'** चटाई बनाई जाती है।

चटाई के निर्माण में भिन्न-भिन्न तृण एक-के पश्चात् एक-एक विशेष रीति से लगाकर उनका विस्तार किया जाता है, यह भी एक विशेष प्रकारी की वितति ही है। और इस प्रकार उस वितति से जिस प्रकार एक चटाई निर्मित होती है, उसी प्रकार यज्ञीय अंगों का एक-के पश्चात् एक, विशिष्ट- क्रमिक प्रकार से जब विस्तार– 'वितति'– करते हुए चलते हैं, तब उन संपूर्ण अंगों की वितति से संपूर्ण याग निष्पन्न होता है, और इसलिए याग का प्रतिशब्द **'वितान'** भी है। अर्थात् याग को 'वितान' भी कहा जाता है।

इसके पूर्व क्रम का अर्थ **'विततिविशेष'** दिया गया है, वह पूर्वपक्षी को पर्याप्त समाधान कारक प्रतीत नहीं हो रहा था। पूर्वपक्षी का कहना है कि क्रम के लक्षण में विस्तार को ही यदि प्रमुखता दी जाती है तो किसी कृत्य के अनेक अंग यदि अनेक लोगों के द्वारा एक साथ अनुष्ठित किये जाते हैं तो उस कृत्य का अपेक्षित विस्तार तो हो ही जाता है, तो

युगपत्कृतानां क्रमेण कृतानां वा पदार्थानां वितानाविशेषेऽपि विशेषपदसूचितं पौर्वापर्यरूपं विवक्षितं लक्षणार्थं लक्षणान्तरव्याजेन वा शब्दमनास्थायां निश्चयार्थं वा मत्वा प्रकटयति पौर्वापर्यरूपो वेति । तदुक्तं तत्तत्पदार्थानन्तरं ततत्पदार्था इत्येवमनेकपदार्थवृत्तिपौर्वापर्य-समुदायरूपविततिरेव क्रम इति । अत्र भाट्टदीपिकाकारास्तु तत्र क्रमो नामाव्यवहि-तोत्तरत्वरूपमानन्तर्य्यम् । तच्चैकप्रतियोगिकमेकवृत्ति यथा वेदं कृत्वा वेदिं करोतीत्यत्र वेदकरणप्रतियोगिकमानन्तर्य्यं वेदिकरणवृत्तिः । अत्र दर्शपूर्णमासोत्तरत्वस्यापि सोमा-ङ्गत्वात्तद्व्यावृत्यर्थमव्यवहितेति विशेषणम् । तत्र दर्शपूर्णमासपूर्वकालताकत्वमात्रं क्त्वाप्रत्ययार्थः । नत्वव्यवहितांशोऽपि । नच सोमविधेस्तदपेक्षा येनाव्यवधान एव तत्पर्यवस्येत । सोमविधेर्भिन्नप्रयोगविधिविधेयदर्शपूर्णमासप्रतियोगिकक्रमानपेक्षत्वात् । अतस्तत्रोत्तरकालत्वमेव विधेयं न क्रमः क्रमश्च सर्वत्रोत्तरपदार्थाङ्गन्तस्यैव क्वाहं कर्तव्य इत्यवेक्षणान्नतु पूर्वपदार्थाङ्गं यदुत्तरं कः पदार्थः कर्तव्य इत्यपेक्षायाः क्वचिदप्यदर्शनात् । पूर्वपदार्थस्तु प्रतियोगितया क्रमविशेषणं दर्शपूर्णमासादिरिव पूर्वकालतायाः एतेन क्रमः पदार्थद्वयाङ्गमिति केषांचिदुक्तमपास्तम् । प्रमाणाभावात् । अस्तु वा प्रथमभक्ष इत्यादौ प्राथम्य पूर्वपदार्थाङ्गमेवत्याहुः ।।५५।।

फिर आपको इसमें क्या आपत्ति हो सकती है? किन्तु इस प्रश्न के उत्तर में यह कहा जा सकता है कि– इस प्रकार से अनेक अंग यदि अनेक लोगों के द्वारा एक साथ किये जाते हैं तो उसे **'क्रम'** की संज्ञा नहीं दी जा सकती। 'क्रम' में विशेष अपेक्षित यह है कि– यदि अनेक अंगों को एक ही कर्ता के द्वारा 'एक के पश्चात् एक' के रूप में अनुष्ठित किया जाता है तो ही वहाँ 'क्रम' उपपन्न हो सकता है, अन्यथा नहीं ।। किन्तु क्रम का यह उक्त अर्थ– **'क्रमो नाम विततिविशेषः'**– इस लक्षण में से स्फुटित नहीं हो सकता। अतः क्रम के दूसरे लक्षण में 'पौर्वापर्यरूपः क्रमः' शब्दों का प्रयोग किया गया है। इसका अर्थ है– 'क्रम' पौर्वापर्य रूप होता है। यज्ञीय अनेक अंगों में से एक अंग का अनुष्ठान पूर्व संपन्न होने पर उसके आगे का 'अपर'– (दूसरा) अंग निश्चित होना चाहिए और उसके भी आगे का अमुक अंग निश्चित हो,– इस प्रकार के रहनेवाले पौर्वापर्य सम्बन्ध को ही **'क्रम'** कहा जाता है। **भाट्टदीपिकाकार** के समान **म.म. चिन्नस्वामी**[1] ने भी एकपदार्थाप्रतियोगिक तथा अपर पदार्थानुयोगिक आनन्तर्य विशेष को ही 'क्रम' पदार्थ माना है। एवञ्च नैरन्तर्य अर्थात् व्यवधानराहित्य ही 'क्रम' पदार्थ है।

इस प्रकार 'क्रम' पूर्व पदार्थ और अपर पदार्थ के पौर्वापर्य के संबन्ध पर निर्भर रहता है, किन्तु इस प्रसंग में यह संशय हो सकता है कि क्या 'क्रम' पूर्व और अपर-दोनों ही पदार्थों का अंग होता है? यदि दोनों का अंग न हो तो, वह किस पदार्थ का अंग होता है? इस विषय में अनेक लोगों का मत यह है कि वह पूर्व-अपर दोनों ही पदार्थों का अंग होता है, परन्तु इस मत की अपेक्षा अन्य (दूसरा) मत विशेष आदरार्ह है कि 'क्रम' केवल अपर

---

१. द्रष्टव्य - 'तंत्रसिद्धान्तरत्नावली' क्रमनिरूपण-तत्र क्रमो नामाऽऽनन्तर्यम्। तच्च एक प्रतियोगिकमेकवृत्ति।

(५६) श्रुत्यादिषट्प्रमाणानि श्रुतिलक्षणञ्च

तत्र षट्प्रमाणानि श्रुत्यर्थपाठस्थानमुख्यप्रवृत्त्याख्यानि। तत्र क्रमपरवचनं श्रुतिः। तच्च द्विविधम्। केवलक्रमपरं तद्विशिष्टपदार्थपरं चेति। तत्र 'वेदं कृत्वा वेदिं करोती'ति केवलक्रमपरम्। वेदिकरणादेर्वचनान्तरप्राप्तत्वात्। 'वषट्कर्त्तुः प्रथमभक्ष' इति तु क्रमविशिष्टपदार्थपरम्। एकप्रसरताभङ्गभयेन भक्षानुवादेन क्रममात्रस्य विधातुमशक्यत्वात्।।५६।।

तन्नियमे च षट्प्रमाणानि श्रुत्यादीनि भवन्तीत्याह-तत्रेति। तत्र षट्सु प्रमाणेषु मध्य इत्यर्थः। क्रमपरवचनवृत्त्या क्रमबोधकं क्लृप्ते शब्दमित्यर्थः। तच्चाथ शब्दादिकम्। तत्राथ शब्दस्यानन्तर्यवाचित्वं शक्तयैव क्त्वाप्रत्ययादीनां तु पूर्वकालादि-

---

अर्थात् उत्तर पदार्थ का ही अंग होता है। क्योंकि यज्ञीय अंगों का (एक के पश्चात् एक का) अनुष्ठान प्रारम्भ होने पर अर्थात् (पूर्व के अंग का अनुष्ठान संपन्न होने पर) अब कौन सा अंग अनुष्ठेय है? '(मदत्तरं कः पदार्थः कर्तव्यः?)' इस प्रकार की जिज्ञासा नहीं की जाती। क्योंकि पूर्व अंग का अनुष्ठान होकर वह निवृत्त हो चुका होता है। इस हेतु **'मेरा अनुष्ठान कहाँ किया जाना है?** (क्वाहं कर्तव्यः) इस प्रकार की आकांक्षा पूर्वोत्तर अंग को होती है। अतः 'क्रम' **उत्तरपदार्थ का अंग** होता है, ऐसा समझा जाता है[१]।।५५।।

अनुवाद– तत्रेति। *याग में जो भिन्न-भिन्न कृत्य सम्पादनीय होतें हैं, उनका क्रम किस प्रकार का होना चाहिए? इसे निश्चित करने के लिये साधनीभूत क्रम के निर्णायक ६ प्रमाण हैं– (१)* ***श्रुति****, (२)* ***अर्थ****, (३)* ***पाठ****, (४)* ***स्थान****, (५)* ***मुख्य****, तथा (६)* ***प्रवृत्ति****।*

तत्रेति। *क्रमबोधक शब्द को* ***'श्रुति'*** *कहते हैं। श्रुति के दो भेद है– (१)* ***केवल क्रमबोधक****, और (२)* ***क्रमविशिष्टपदार्थ बोधक****। जैसे–* ***'वेदं कृत्वा वेदिं करोति'***[२] *यह 'केवल क्रमपरक' श्रुति का उदाहरण है। वेद (कुशमुष्टि) एवं वेदी की रचना का विधान दूसरे विधि वाक्यों से हो जाता है, यहाँ केवल क्रम का विधान* ***'क्त्वा'*** *प्रत्यय से हुआ है। 'क्रमविशिष्टपदार्थपरक' श्रुति का उदाहरण* ***'वषट्कर्तुः प्रथमभक्षः'*** *(अर्थात्* ***वषट्कर्ता*** *प्रथम भक्षण करे) है। इस श्रुति को* ***'विशिष्ट'*** *इस हेतु माना जाता है क्योंकि एकवाक्यता के भङ्ग होने के भय से भक्षण का विधान करके पुनः भक्षण का अनुवाद करके प्राथम्य का विधान नहीं किया जा सकता।।५६।।*

---

१. क्रमश्च सर्वोत्तरपदार्थाङ्गन्तस्यैव क्वाहं कर्तव्य इत्यवेक्षणान्नतु पूर्वपदार्थाङ्गम् मदुत्तरं कः पदार्थः कर्तव्य इत्यपेक्षायाः क्वचिदप्यदर्शनात् (कौमुदी)

२. आप. श्रौतसूत्र - १/८/१३

वाचिनामपेक्षानुरोधात्क्रमपरत्वं लक्षणया अर्थादिषु कल्प्यशब्दस्यैव क्रमबोधकत्वात् क्लृप्तेति विशेषणम्। श्रुतिं विभजते-तच्चेति। क्रमपरवचनं चेत्यर्थः। तत्र केवलक्रमपरं वचनमुदाहरति-तत्रेत्यादिना। तत्र तयोर्द्वयोर्मध्य इत्यर्थः। वेदः दर्भमुष्टिविशेषः वेदिः आहवनीयगार्हपत्ययोर्मध्ये चतरङ्गुलं निखातं भूतलं हविर्निधान-स्थानविशेषरूपम्। तस्य केवलक्रमपरत्वे हेतुमाह-वेदीत्यादिना। दर्शपूर्णमास-योर्हविरधिवासनोत्तरं वेदिकरणविधिवाक्येनैव वेदिकरणस्य प्राप्तत्वात्तदनुवादेन क्त्वा प्रत्ययोक्तक्रममात्रमत्र विधीयते इति भावः। अत्र त्क्वाप्रत्ययोक्तस्य क्रमस्य वाक्यादेव विकरणाङ्गत्वं तत्वेनैव तद्विधिरिति बोध्यम्। क्रमविशिष्टपदार्थपरं वचनमुदाहरति-वषट्कर्तुरिति। ननु भक्ष्यस्य कथंचित्ससम्भवात्प्राप्तिकत्वसम्भवात्प्रथमशब्दोक्तक्रम-मात्रस्यात्रापि विधानं भविष्यतीत्याशङ्क्य तत्र हेतुमाह-एकेत्यादिना। तथाच प्राथम्य-विशिष्टैकभक्ष्यपदार्थप्रसरभावस्य विशिष्टोपस्थितिरूपस्य भङ्गभिया न क्रममात्रं विधातुं शक्यते ऽन्यथा यो वषट्कर्तृर्भक्षः स प्रथम इत्युपस्थितिः स्यान्नतु

।। अर्थमीमांसा ।।

अंगों के पौर्वापर्यरूपी 'क्रम' का निश्चय करने के काम में सहाय्य करनेवाले जिन षट् प्रमाणों का पूर्व में उल्लेख किया गया है, उन क्रमबोधक षट् प्रमाणों में **'श्रुति'** का प्रथमतया परिगणन किया गया है। उसी का यहाँ सर्वप्रथम विवेचन किया जा रहा है। क्रमबोधक श्रुति का लक्षण– **'क्रमपरवचनं श्रुतिः'** दिया गया है, अर्थात्– क्रमबोधक शब्द को **श्रुति** कहा जाता है। इसके पूर्व विनियोगविधि के प्रकरण में श्रुतिप्रमाण का सामान्य लक्षण **'निरपेक्षो रवः श्रुतिः'** दिया गया है। किन्तु 'क्रम' के प्रकरण में 'श्रुति' प्रमाण पठित होने से **'क्रमपरवचनं श्रुतिः'** यह श्रुति का विशेष लक्षण दिया गया है। इसलिए उक्त दोनों लक्षणों में विरोध क्यों नहीं है,? यह विदित हो जाता है। अत: जिससे क्रियाओं के अनुष्ठान का पौर्वापर्यरूप ज्ञान सरलता से होता है, इस प्रकार के वेदोक्त प्रत्यक्ष वचन को 'श्रुति' प्रमाण कहा जाता है। **'अथ' 'ततः' 'क्त्वा'** इत्यादि शब्द क्रमदर्शक होते हैं और इस प्रकार के शब्द प्रयोग द्वारा क्रम का बोध होता है। **'श्रुति'** प्रमाण अर्थात् **'क्रमपरवचन'** के दो भेद माने गये हैं– (१) **केवलक्रमपर वचन** और (२) **क्रमविशिष्टपदार्थपर वचन**। इन दो भेदों के शब्दों पर यदि दृष्टि डालते हैं तो **'केवलक्रम'** और **क्रमविशिष्टपदार्थ**– ये दो शब्द प्रधान तथा महत्त्वपूर्ण प्रतीत होते हैं। जहाँ केवल **'क्रम'** ही प्रदर्शित किया जाता है, वहाँ **'केवलक्रम वचन'** होता है, किन्तु दूसरे भेद में क्रमविशिष्टपदार्थों के द्वारा 'क्रम' प्रदर्शित किया जाता है, यही दोनों में अन्तर-भेद-है। और दोनों में निहित अन्तर को **'केवल'** और **'विशिष्ट'** विशेषणों के द्वारा सूचित किया गया है। यह अन्तर आगे के उदाहरण से ज्ञात होता है—

केवलक्रमपरक-श्रुति का उदाहरण **'वेदं कृत्वा वेदिं करोति'**[१] में मिलता है। **'वेद'** का अर्थ है– 'कुशमुष्टि'। इसके द्वारा संमार्जन का कार्य किया जाता है। सामान्यत: याग में तीन

१. वेदो नाम दर्भमुष्टिविशेषः। 'दर्भमुष्टिं विधाय द्विगुणं कृत्वा अग्रभागे प्रादेशानन्तरं बध्वा अग्राणि छिनत्ति, स वेदः'। अनेन पुरोडाशलग्नभस्मापोहनं क्रियते।

वषट्कर्तृत्वोपाधिविशिष्टसम्बन्ध्यभिन्नः प्राथम्यविशिष्टभक्ष इति भावः। यद्वा एकप्रसरताभङ्ग एकवाक्यताभङ्गो बोध्यः भक्षस्याप्यनेनैव विधानाभ्युपगमात्। तथाचानेन विहितभक्षानुवादेन प्रथमशब्दोपात्तक्रमविधान एकवाक्यताभङ्गेनावृत्त्यात्मको वाक्यभेदः स्यादिति भावः। अत्रापि क्रमविशिष्टभक्षविधानात्प्रथमपदोक्तक्रमस्य वाक्याद्भक्षाङ्गत्वमिति ध्येयम्। अत्रेदं बोध्यम्। यत्र धात्वर्थस्य क्लृप्तप्रमाणेन प्राप्त्यभावेपि कथंचित्सम्भवत्प्राप्तिकस्य पुनर्विधानेन किञ्चित्प्रयोजनं विध्यान्तरं च नान्यत्किञ्चित्तत्र क्रम एव श्रुत्युक्तो विधीयते यथा मन्त्रात्मके द्वादशाहे अध्वर्युर्गृहपतिं दीक्षयित्वा ब्रह्माणं दीक्षयति तत उद्गातारं ततो होतारं ततस्तं प्रति प्रस्थाता दीक्षियित्वा र्द्धिनोदीक्षयति ब्राह्मणाच्छंसिन ब्रह्मणः प्रस्तोतारमुद्गातुर्मैत्रावरुणं होतुस्ततस्तं नेष्टादीक्षयित्वा तृतीयिनो दीक्षयति आग्नीध्रं ब्रह्मणः प्रतिहर्तारमुद्गातुरछावाकं होतुस्ततस्तमुन्नेता दीक्षयित्वा यादिनो दीक्षयति। पोतारं ब्रह्मणः सुब्रह्मण्यमुद्गातुर्ग्रावस्तुतं होतुस्ततस्तमन्यो ब्राह्मणो दीक्षयति ब्रह्मचारीवा ऽचार्यप्रेषित इति श्रुते वाक्ये अत्र हि न दीक्षायाः स्वरूपेण तत्तत्संस्कारकत्वेन वा विधिरिति देशप्राप्तत्वात्। प्रकृतौ हि यजमानसंस्कारार्था दीक्षातिदेशेनैव सत्रे प्राप्यते। सत्रे च ये यजमानस्त ऋत्विज इति

अग्नियों (१) **गार्हपत्य** (२) **दक्षिणाग्नि** (और) (३) **आहवनीय**-के लिये तीन कुण्डों का निर्माण किया जाता है। इन में से **दक्षिणाग्नि** का कुण्ड दक्षिण दिशा की ओर थोडा हट के होता है, **गार्हपत्य** और **आहवनीय** कुण्डों के मध्य चार उँगलियों के बराबर गहरा स्थान हविर्द्रव्यादि को रखने के लिये निर्मित होता है। इस स्थान को ही **'वेदि'** कहा जाता है। उक्त उदाहरण का अर्थ है– **'वेद'**– 'दर्भमुष्टिविशेष'– तैयार करने के अनन्तर **'वेदि'** तैयार करता है। इस के पूर्व कहा गया है कि **'अथ' 'अतः'** इत्यादि शब्दों के द्वारा 'क्रम' प्रदर्शित किया जाता है, वैसे क्रमवाचक शब्द का प्रयोग 'वेदं कृत्वा वेदिं करोति' वाक्य में नहीं किया गया है। परन्तु यहाँ क्रम प्रदर्शित करने का कार्य **'कृत्वा'** के **'क्त्वा'** प्रत्यय ने किया है। इस प्रकार 'वेद' प्रथम तैयार कर लेने के अनन्तर **'वेदि'** करणीय (तैयार की जानी) होती है। इस प्रकार इन दोनों के मध्य 'पौर्वापर्य' का सम्बन्ध है। इसमें केवल क्रम ही विहित होने के कारण, यह 'केवलक्रमपरक' का उदाहरण है।

प्रकृत प्रसंग में पूर्वपक्षी शंका क़रता है कि "यह आप कैसे कह सकते हैं? कि यहाँ **'केवलक्रम'** ही पठित है।" क्या **'वेदिं करोति'** वाक्य में 'विधि' पठित नहीं है? वस्तुतः उस पर उक्त क्रम अवलम्बित होने के कारण वह विशिष्टक्रम है। ऐसा होने पर भी आप इसे 'केवलक्रम' का उदाहरण कैसे कहते हैं? उक्त-शंका का समाधान यह है कि दर्शपूर्णमास के प्रकरण में **हविरधिवासन** के अनंतर **वेदिकरण** के सम्बन्ध में विधिवाक्य पूर्व में ही पठित हो चुका है। उस वेदिकरण से समबन्धित विधि **'वेदिं करोति'** वाक्य में पुनः नवीनरूप में विहित नहीं है। अतः उससे सम्बन्धित जो विधि पूर्व में पठित हो चुका है, तद्विषयक विधि का केवल अनुवाद **'वेदिं करोति'** वाक्य में किया गया है। ऐसी स्थिति में, **'वेद'** और **'वेदि'** ये जो दो पदार्थ यहाँ उपस्थित हैं, तद्विषयक पौर्वापर्यरूपी 'केवलक्रम' का ही विधान

वचनेन ऋत्विक्कार्योद्देशेन यजमानविधानाद्ब्रह्मादीनां यजमानत्वेनैव प्रतिप्रधान-गुणावृत्तिन्यायेन तत्तत्संस्कारकत्वप्राप्तेः ततश्च दीक्षारूपं धात्वर्थमनूद्याख्यातेन क्त्वा प्रत्ययोक्तस्ततः शब्दोक्तश्च क्रमो विधीयते। अत्र चायमर्थः। अध्वर्युर्यजुर्वेदोक्तं करोति तस्य पुरुषास्त्रयः प्रतिस्थाता नेष्टोन्नेता चेति एते चत्वारो दीक्षयितार ब्रह्मा वेदत्रयोक्तस्य प्रत्यवेक्षणं करोति तस्य पुरुषास्त्रयः ब्राह्मणच्छंसी अग्नीत् पोताचेति उद्गातोद्गानं करोति तस्य पुरुशास्त्रयः प्रस्तोता प्रतिहर्ता सुब्रह्मण्यश्चेति होताशंसनं करोति तस्य पुरुशास्त्रयः मैत्रावरुणोऽछावाकग्रावस्तुच्चेति चतुर्षु वर्गेषु ये प्रथमास्ते दक्षिणां सम्पूर्णाम्प्राप्नुवन्ति ये, द्वितीयास्ते तदर्द्धं प्राप्नुवन्तीति ततोऽर्द्धिन उच्यन्ते, ये तृतीयिनः ये चतुर्थास्ते चतुर्थांशां प्राप्नुवन्तीति यादिनः तानेतानुक्तक्रमेण सत्यपुरुषः करोतीति किञ्चेतरमन्यस्तेषां यतो विशेषः स्यादिति न्यायेनाध्वर्युपुरुषाणामाद्यः प्रतिप्रस्थातैवाध्वर्युदीक्षायां प्राप्नोति ब्राह्मणाच्छंस्यादि दीक्षासुत्त्वध्वर्योर्न पूतः पावयेदिति वचनेन सत्रप्रकरणपठितेन दीक्षासु दीक्षाख्या संस्काररहितपुरुषकर्तृविधायकेन पर्य्युदासात्प्रतिप्रस्थातृप्राप्तिः सुलभैव। एवं प्रतिप्रस्थात्रादि दीक्षासु नेष्टुः प्रतिप्रस्थात्रानन्तरस्य नेष्टादिदीक्षासु चोन्नेतुनेष्टनन्तरस्य प्राप्तिर्न्यायादेवेति न विधेयान्तराशङ्का अतः क्रम एवात्राप्राप्तः स एव तत्तद्दीक्षोद्देशेन विधीयते। अत एव चैतानि द्वादशवाक्यानि श्रौतकर्मविधायकानि अर्द्धित्वाद्युद्देशता-

---

मात्र **'कृत्त्वा'** के **'क्त्वा'** प्रत्यय के द्वारा यहाँ किया गया है। इसलिए वह केवलक्रमपरवचन का ही उदाहरण हो सकता है, यह सिद्ध होता है।[१]

तात्पर्य यह है कि **'केवल क्रमपरक'** भेद को समझाने के लिये **'वेदं कृत्वा वेदिं करोति'**– इस दृष्टान्त को ग्रहण किया गया है। इस वाक्य में 'वेद एवं वेदी' के निर्माण का विधान नहीं किया गया है, अपितु 'क्त्वा' प्रत्यय से वेदकरण एवं वेदिकरण का पौर्वापर्यरूपी 'क्रम' का बोध कराया गया है, क्योंकि दर्शपूर्णमास प्रकरण में इन दोनों का विधान पूर्वतः प्राप्त है।

'वषट्कर्त्तुः प्रथमभक्षः'– द्वारा 'क्रमविशिष्टपदार्थ' बोधक श्रुति का उदाहरण प्रस्तुत किया गया है। याज्ञिकी मान्यता के अनुसार **होता** (वषट्कर्ता) को **'वषट्'** शब्द का उच्चारण करने के कारण **'वषट्कर्ता'** कहा जाता है। प्रक्रिया यह है कि यज्ञ में हवन करने के अवसर पर **अध्वर्यु** के द्वारा होता को **'अग्निं यज'** इत्यादि प्रकार का प्रैष (आज्ञा) मिलने के अनन्तर अध्वर्यु के द्वारा जिस किसी देवता– **अग्नि, वायु, इन्द्र** इत्यादि का यजन करने के लिये कहे जाने पर उस देवता के उद्देश्य से पठित याज्या को कहकर, मंत्र के अन्त में 'होता' सदा **'वौषट्'** शब्द का उच्चारण करता है, और उसके द्वारा **'वौषट्'** का उच्चारण करने के अनन्तर **अध्वर्यु** अग्नि में आहुति देता है। अर्थात् संक्षेप में प्रक्रिया इस प्रकार है– देवतोद्देश्य से द्रव्यादि का त्याग करते हुए अध्वर्यु– **'अग्नये अनुब्रूहि'** कहकर **'प्रैष'** अर्थात् आज्ञा प्रदान करता है, तदनन्तर **'होता'** पुरोनुवाक्या का पाठ आहुति देने से पूर्व करता है। इसके

---

१. वेदकरणस्य वेदिकरणस्य च वचनान्तरेण प्राप्तत्वत्तदनुवादेन क्त्वाप्रत्येयन क्रममात्रविधानात्।
(तं. सि. र. द्विती. परि.)

वच्छेदकमङ्गीकृत्य षडेव वा उन्नेतृदीक्षावाक्ये तु वैकल्पिकब्रह्मचारिविधानात्। हृदयादिन्यायेन पाठादेव क्रमसिद्धेस्तत इत्यनुवादः। निपातत्वाच्च वा शब्दस्य ब्रह्मचारिविशेषणत्वेन न वाक्यभेदः ब्राह्मणानामेवार्त्विज्यविधानाद्ब्राह्मण इति चानुवादः ब्रह्मचारिणश्चाचार्याधीनत्वस्मृतेराचार्यप्रेषित इत्यप्यनुवादः। यत्तु यद्यप्यत्र क्रमस्य वाचकःशब्दो नास्ति तथापि वाक्येन प्रतीयते स च प्रतीयमानः क्रमो मानान्तरेण कर्तव्यतया प्राप्त्यभावादिह विधीयते इति क्त्वाप्रत्ययादेः क्रमवाचकस्योक्तत्वात्। अतः क्रम एवात्राप्राप्तस्तत्तद्दीक्षोद्देशेन विधीयते कत्वाप्रत्ययोक्तस्ततः पदोक्तश्चेति भाट्टदीपिकाविरोधाच्चेति ।।५६।।

अनन्तर अध्वर्यु **'अग्निं यज'** रूप में दूसरा प्रैष करता है और तब **'होता'** देवता के लिये याज्या मंत्रों का पाठ करता है। **'याज्यया अधिवषट् करोति'**– देवता के नामोच्चारण के साथ **वषट्** शब्द का प्रयोग अन्त में किया जाता है और इसीलिए **'होता'** को **'वषटकर्तृ'**[१] की संज्ञा है।

'ज्योतिष्टोम' में सोम का हवन करने के अनन्तर ऋत्विजों को शेष रहे हुए सोम का भक्षण करने के लिये कहा गया है। **'वषट्कर्त्तुः प्रथमभक्षः'**– इस दृष्टान्त में होता के 'प्रथम भक्षण' का विधान (निर्देश) किया गया है। अतः उक्त वाक्य में **'क्रम'** विहित है, यह स्पष्ट है। प्रकृत में **'वषट्कर्तुः प्रथमभक्षः'** वाक्य में **'प्रथम'** रूप क्रमवाचक विशेषण प्रयुक्त है, वह विशेषण **'भक्ष'** पदार्थ को लगाकर भक्षरूपी पदार्थ के द्वारा यहाँ 'क्रम' का विधान किया गया है। और इसीलिए इसे **'क्रमविशिष्ट पदार्थपरक वचन'** कहा गया है। अर्थात् उक्त दृष्टान्त में होता के प्रथम भक्षण का निर्देश है। तात्पर्य यह है कि 'प्रथम' शब्द भक्षण क्रिया के विशेषण के रूप में प्रयुक्त है। 'प्राथम्य' पद क्रम का भी बोधक होता है। अतः यह श्रुति वस्तुतः प्राथम्यरूप 'क्रम' से विशिष्ट भक्षणरूप पदार्थ का निर्देश कर रही है। इसे ही 'क्रमविशिष्ट पदार्थ बोधक' कहा गया है। अर्थात् प्राथम्यविषिष्ट भक्षरूपी पदार्थ का यहाँ विशिष्टविधि निरूपित है, यह निष्पन्न होता है।

परन्तु प्रस्तुत प्रसंग में **पूर्वपक्षी** कहता है कि आप यहाँ विशिष्टविधि क्यों मानते हैं? इसके पूर्व 'समाख्या' निरूपण प्रसंग के अवसर पर वैदिकी समाख्या के उदाहरण में **'होतृचमस'** को उदाहरण के रूप में प्रस्तुत किया गया है। उस समाख्या रूप प्रमाण के आधार पर (जिसमें 'होता चमस में स्थित सोम का भक्षण करें' कहा गया है) उक्त विधि प्राप्त हो सकता है। अतः इस प्रकार भक्षण के सम्बन्ध में प्राप्त होनेवाले 'वषट्कर्तुः प्रथमभक्षः' विधि के **'भक्ष'** शब्द का यहाँ अनुवाद ('वेदिं करोति'– उक्त उदाहरणानुसार) किया गया है, यह मानलेना चाहिए। तत्पश्चात् 'वषट्कर्तुः प्रथमभक्षः' के 'भक्ष' शब्द का निर्णय हो जाने बाद 'प्रथम' पद ही शेष रह जाता है। तदनन्तर **'वषट्कर्तुः प्रथमभक्षः'** वाक्य से पूर्व में अप्राप्त जो प्राथम्य है, उसका ही यहाँ विधि विहित है, यह मानलेना चाहिए,

---

१. 'वषट्' शब्द की उत्पत्ति **'वह्'** धातु से मानी गई है। अतः **'इन्द्राय वषट्'** का याज्ञिक सम्प्रदायानुसार **'अग्निः इन्द्राय हविर्वहतु'**-अर्थ होता है।

ऐसा करने से आपको 'विशिष्टविधि' अलग से मानने की आवश्यकता नहीं है।

इस पर **सिद्धान्ती** पूर्वपक्षी को कहता है कि– आप जो कहते हैं, वह समुचित नहीं है। यहाँ विशिष्टविधि को ही ग्रहण करना चाहिए। भक्षण का अनुवाद किया गया है, यह समझकर केवल प्राथम्यरूपी 'क्रम' का ही विधि यहाँ निरूपित है, ऐसा मानना अशक्य है। यदि वैसा माना गया तो एकप्रसरताभंगरूपी दोष उत्पन्न हो जायगा।[1]

'एक प्रसरताभंग' के दो प्रकार से अर्थ किये जाते हैं। प्रथम अर्थ यह कि (१) एकवाक्यता भंग अर्थात् वाक्यभेद का दोष। प्रकृत में भी **'वषट्कर्तुः प्रथमभक्षः'** इस एक ही वाक्य में (१) 'होता' चमस का (अर्थात् चमस में स्थित सोम का भक्षण करे) भक्षण करे, और (२) उसे वह प्रथम भक्षण करे, ये दो वाक्य होने से वाक्य भेद का दोष उत्पन्न होता है। और इस प्रकार वाक्य भंग के (अर्थात् एकप्रसरता भंग के) दोष को उत्पन्न होने देना समुचित नहीं है। इसलिए पूर्वपक्षी के विचार में उस प्रकार का अर्थ करना उचित नहीं होगा। अतः इससे– 'क्रमविशिष्टभक्षण' का बोध करना ही उचित है।

किन्तु **'एकप्रसरताभंग'**[2]– का अर्थ अन्य (भिन्न प्रकार से भी) प्रकार से– **'संभूय विशिष्टार्थप्रतिपादकत्वं एकप्रसरता'** किया जाता है। जैसे– **'वषट्कर्तुः प्रथमभक्षः'** इस वाक्य में **'प्रथमभक्षः'** सामासिक पद है, और समासों के नियमों (के अनुसार) और विवक्षा के प्रवाहानुसार– **'प्रथमश्चासौ भक्षश्च प्रथमभक्षः'**– इस प्रकार की वैशिष्ट्य से एक ही पदार्थ को कहने प्रवृत्ति है। अर्थात् **'प्रथम'** और **'भक्ष'** ये दोनों ही पद मिलकर एक विशिष्ट स्वरूप के एक ही अर्थ को (प्राथम्यविशिष्टभक्ष) प्रतिपादित करें,– इस प्रकार की एक प्रसरता इस स्थान पर स्पष्टतः दिखाई देती है। किन्तु अब यदि पूर्वपक्ष के कथनानुसार अर्थ किया जाता है तो उक्त एकप्रसरता खण्डित करनी पडती है। यथा– पूर्वपक्ष **'भक्ष'** का अनुवाद कर भक्ष के स्थान पर **प्राथम्य** का विधान करना चाहता है। अर्थात् **'यो भक्षः स प्रथमः'** कहना चाहता है। इसका तात्पर्य यह हुआ कि– **'भक्ष' उद्देश्य** है और **'प्रथम' विधेय** है। किन्तु 'भक्ष' को यदि उद्देश्य करना है तो उस **'भक्ष'** शब्द की प्रतीति प्रथम होनी चाहिये-यह एकदम स्पष्ट है। और **'प्रथम'** को विधेय करने की इच्छा से उसके अर्थ की प्रतीति **'भक्ष'** के अनन्तर होनी चाहिए। किन्तु **'प्रथमभक्ष'** इस समस्त पद में इस प्रकार होना नितान्त असंभव है, क्योंकि **'प्रथम'** पद का अर्थ पहले प्रतीत होता है और तदनन्तर श्रुत 'भक्ष' पद का अर्थ अपने मन में उत्पन्न होता है। इसके अतिरिक्त प्राथम्य विशिष्ट-भक्षण की-'प्रथमभक्ष' इस समस्त पद की एकप्रसरता पूर्वपक्ष के कथनानुसार अर्थ करने पर भंग हो जाती है। अतः यहाँ **'प्राथम्यविशिष्ट भक्ष'** अर्थ करना आवश्यक है। और इस प्रकार अर्थ करने पर ही यह

---

१. वचनान्तरेण होतुर्भक्षणप्राप्तावप्येकेन पदेन तदनुवादेन प्राथम्यरूपक्रममात्रविधाने एकप्रसरताभङ्गापत्तेः। (तं. सि. र. द्वि. परि.)

२. एकस्य हि पदस्य समस्तस्य व्यस्तस्य वाऽर्थेन उद्देश्यभूतेन विधेयभूतेन वा एकरूपेण भाव्यम्। उद्देश्यविधेययोः पूर्वप्राप्ताप्राप्तरूपयोः परस्परविरुद्धयोरेकार्थबोधकैकपदप्रतिपाद्यत्वासम्भवात्। (त. सि. र. द्वि. परि)

(५७) श्रुतिरितरप्रमाणापेक्षया बलवती

सेयं श्रुतिरितरप्रमाणापेक्षया बलवती। तेषां वचनकल्पनद्वारा क्रमप्रमाणत्वात्। अत एवाश्विनग्रहस्य पाठक्रमात्तृतीयस्थाने ग्रहणप्रसक्तावाश्विनो दशमो गृह्यत इति वचनात्। दशमस्थाने ग्रहणमित्युक्तम्।।५७।।

इदानीमुक्तश्रुतेरर्थपाठादिप्रमाणापेक्षया प्राबल्यमाह-सेयं श्रुतिरिति। अर्थादि-प्रमाणानां श्रुतिकल्पनद्वारा क्रमे प्रामाण्यादिति तत्र हेतुमाह-तेषामित्यादिना। ज्योतिष्टोम ऐन्द्रवायवादिग्रहेष्वाश्विननामकग्रहस्तृतीयस्थाने पठितः। ततश्च तृतीयस्थाने ग्रहणप्र-सक्तावपि तस्य दशमस्थानत्वमाश्विनो दशमो गृह्यत इति शब्देनैवाम्नायत इति। तत्र

क्रमविशिष्टपदार्थ बोधक श्रुति का उदाहरण हो सकता है, यह सिद्ध होता है।[१] एक प्रसरताभंग से संबन्धित न्याय प्रकाश की टिप्पणी भी पठनीय है[२]।।५६।।

अनुवाद– सेयमिति। *यह 'श्रुति' अन्य अर्थ, पाठ, क्रमादि प्रमाणों की अपेक्षा बलवती होती है। अन्य अर्थादिप्रमाण 'श्रुति' की कल्पना द्वारा परम्परया 'क्रम' का बोध कराते हैं। अत एव पाठक्रम से आश्विनग्रह (सोमग्रह) तृतीय स्थान पर पठित होने पर भी* ***'आश्विनो दशमो गृह्यते'*** *(दसवें स्थान पर आश्विन ग्रहण करें) इस श्रुति वचन से 'आश्विनग्रहण' दसवें स्थान पर होता है।।५७।।*

।। अर्थमीमांसा ।।

इसके पूर्व विनियोगविधि के सहायक **श्रुति, लिंग, वाक्य,** इत्यादिक षट् प्रमाणों का उल्लेख किया जा चुका है, उनका जिस प्रकार पूर्वपूर्वबलीयसत्व होता है, उसी-प्रकार प्रयोगविधि के क्रम निर्धारण मे सहायक **श्रुति, अर्थ, पाठ** इत्यादि षट् प्रमाणों में भी पूर्वपूर्वबलीयस्त्व होता है, और तदनुसार अर्थ, पाठ, स्थान, मुख्य और प्रवृत्ति– इन पांच प्रमाणों की अपेक्षा 'श्रुतिप्रमाण' क्रम निश्चित करने के काम में अधिक बलवती होती है, यही प्रस्तुत प्रकरण में सिद्ध करके दिखाया जा रहा है। अर्थ, पाठादिक पांच प्रमाणों की अपेक्षा श्रुतिप्रमाण अधिक बलवान् इसलिए होता है क्योंकि अर्थ-पाठ आदि जो पांच प्रमाण है, उनमें कहीं भी प्रत्यक्षरूप से श्रुति वचन नहीं होता, अत: उन-उन अर्थ-पाठादिक प्रमाणों के आधार पर क्रम का निश्चय करते समय– **'अमुक'** करने के अनन्तर **'अमुक'** करना चाहिए– इस प्रकार के श्रुतिवाक्य की कल्पना करनी पड़ती है। किन्तु श्रुति-प्रमाण में उक्त कल्पना करने की आवश्यकता नहीं होती। क्योंकि वहां श्रुति प्रत्यक्ष ही उपस्थित होती है।

---

१. द्रष्टव्य– शास्त्रदीपिका– एवं जैमिनीयन्यायमाला- अ. ३, पा. ५, अधि. १

२. 'एकस्यां वृत्तौ या प्रसरता घटकतया प्रविष्टता अर्थादुद्देश्यविधेयवाचकपदयोः, तस्या यो भङ्गः उद्देश्यविधेयभावाप्रतीतिस्तद्द्वयेन। अविमृष्टविधेयांशाख्यदोषभयेनेति यावत्।'.

गमकमप्याह-अत एवेत्यादिना । अत एव इतरप्रमाणापेक्षया श्रुते: प्राबल्यादेवेत्यर्थ: । इत्युक्तमिति पञ्चमाध्याये चतुर्थपादस्य प्रथमाधिकरण इति शेष: । पाठो हि न क्रमस्याभिधायक: किन्त्वन्यथानुपपत्या क्रमं कल्पयति । दशम इत्येषा श्रुतिस्तु साक्षादेव क्रममभिधत्ते । तत: पाठादपि श्रुति: प्रबलेति भाव: ।।५७।।

इसलिए क्रमनिश्चय करने के काम में शेष अर्थ-पाठादिक प्रमाणों की अपेक्षा-श्रुति अधिक बलवती होती है।

अन्य प्रमाणों की अपेक्षा-श्रुति का प्राबल्य **'आश्विनग्रह'** के उदाहरण के आधार पर अच्छी तरह ध्यान में आसकता है ।[१] 'ज्योतिष्टोमयाग' में ऐन्द्रवायवादिक ग्रहों के ग्रहणासादन प्रकरण में **आश्विनग्रह– 'ऐन्द्रवायवं गृह्णाति, मैत्रावरुणं गृह्णाति, आश्विनं गृह्णाति'–** इस पाठ के क्रमानुसार तृतीय स्थान पर पठित किया गया है। अत: तृतीय स्थान पर स्थित **'पाठ'** प्रमाण के आधार पर यदि आश्विन ग्रह का क्रम निश्चित करना होगा तो वह तृतीय स्थान पर प्राप्त होता है। किन्तु **'आश्विनो दशमो गृह्यते'**– इस प्रकार का अन्यत्र 'श्रुति' का स्पष्ट वचन भी है। अत: इस प्रत्यक्ष श्रुतिवचन से पाठक्रम का बाध किया जाना स्वाभाविक ही है, क्योंकि, 'पाठ' क्रम का प्रत्यक्ष अभिधायक नहीं होता, वह तो—क्रमवाचक वाक्य की केवल कल्पना ही कर सकता है। उदाहरणार्थ– 'आश्विन ग्रह' जब तृतीय स्थान पर पठित किया गया है, तब यदि उसी स्थान पर उसका अनुष्ठान नहीं किया गया तो, उस तृतीय स्थान का पाठ अनुपपन्न होने लगेगा। अत: **'आश्विनग्रह'** का तृतीय स्थान पर ही अनुष्ठान किया जाना चाहिए',– इसे बतलाने वाले किसी 'श्रुति' वाक्य की कल्पना करने के लिए वह 'पाठ' प्रवृत्त होता है। इतने में ही **'आश्विनो दशमो गृह्यते'**– भिन्नक्रमप्रतिपादक-श्रुतिवचन प्रत्यक्ष रूप में ही उपस्थित होने से 'पाठ' द्वारा कथित तृतीय स्थान बाधित होकर 'श्रुति' द्वारा विहित दशम स्थान ही निश्चित होता है। अत: 'पाठ' की अपेक्षा श्रुतिप्रमाण प्रबल है, यह सिद्ध होता है।[२]

प्रकृत प्रसंग में ध्यातव्य है कि श्रुति, अर्थ, पाठ इत्यादि जिस क्रम से पठित है, उस क्रम की दृष्टि से 'श्रुति' प्रमाण 'अर्थ' प्रमाण की अपेक्षा प्रबल है, यह प्रथमत: निर्देशित किया जाना चाहिए था, परन्तु तदनुसार न करते हुए यहाँ श्रुति-प्रमाण को पाठ-प्रमाण की अपेक्षा प्रबल दिखाया गया है। इसका कारण **आपदेवी** की सारविवेचिनी नामक टीका में देखा जा सकता है।[३] इसी तथ्य को **'पाठक्रमापेक्षया श्रुत्यर्थयोर्बल-वत्त्वाधिकरण'**[४] में प्रतिपादित कर बतलाया गया है।।५७।।

---

१. जै. सू. अ. ५, पा. ४, अधि. १

२. पाठो हि न क्रमस्याभिधायक: किन्त्वन्यथानुपपत्या क्रमं कल्पयति। दशम इत्येषा श्रुतिस्तु साक्षादेव क्रममभिधत्ते।।(कौमुदी)

३. ''यद्यप्यत्र प्रथमत: श्रुत्यर्थयो: प्राबल्यदौर्बल्यनिरूपणमेव कर्तुमुचितं, तथापि यथा श्रुत्येव प्रयोजनस्य कल्पनीयत्वेन तयोर्विरोधस्यैवासंभवात् तत्परित्यज्य श्रुतिपाठयो: प्राबल्य-दौर्बल्योदाहरणमुक्तमिति वेदितव्यम् ।''

४. जै. सू. अ. ५, पा. ४, अधि. १

(५८) अर्थक्रमलक्षणम्

यत्र प्रयोजनवशेन क्रमनिर्णयः सोऽर्थक्रमः। यथाऽग्निहोत्रं जुहोति, यवागूं पचतीत्यग्निहोत्रयवागूपाकयोः। अत्र हि यवाग्वा होमार्थत्वेन तत्पाकः प्रयोजनवशेन पूर्वमनुष्ठीयते।।५८।।

इदानीमर्थक्रमं लक्षयति-यत्रेत्यादिना। प्रयोजनवशेन प्रयोजनानुपपत्या तद्धि व्युत्क्रमेऽनुपपद्यमानं क्रमे प्रमाणमिति भावः। तत्रोदाहरणमाह-यथाग्निहोत्रमिति। अग्निहोत्रयवागूपाकयोरित्यत्र प्रयोजनवशेन क्रमनिर्णय इत्यनुषङ्गः। अत्र हीति। अत्र प्रकृते यवागूहोमयोर्मध्य इति वार्थः। तत्पाकः पूर्वमनुष्ठीयत इत्यन्वयः। होमादिति शेषः। यवागूः तच्छाब्दार्थः। यवागूपाकस्य पाठक्रमेण पश्चात्करणे पाकसंस्कृतायाः यवाग्वा होमरूपप्रयोजनस्य यवाग्वाग्निहोत्रं जुहोतीति वचनसिद्धस्यानिष्पत्तेः। पाकस्य च यवागूत्पादकत्वेपि तस्या अनुपयुक्तायाः प्रयोजनत्वानुपपत्तेस्तदन्यथानुपपत्या पूर्वं पाकः पश्चाद्धोमोनुष्ठीयत इति भावः।।५८।।

---

*अनुवाद– **यत्रेति**। जहाँ किसी प्रयोजन से क्रम का निर्णय किया जाता है उसे **'अर्थक्रम'** कहते हैं। यथा– **'अग्निहोत्रं जुहोति' 'यवागूं पचति'** इन वाक्यों में अग्निहोत्र होम एवं यवागू पाक में अर्थक्रम है। यवागूपाक का प्रयोजन अग्निहोत्र होम में काम आना है। अतः होमरूप प्रयोजन सिद्धि हेतु यवागूपाक अग्निहोत्र होम से पूर्व किया जाता है।।५८।।*

।। अर्थमीमांसा ।।

'क्रम' विषयक निश्चायक षट् प्रमाणों में अर्थ-प्रमाण दूसरा प्रमाण है। यहाँ **'अर्थ'** शब्द का अभिप्रेत अर्थ **'प्रयोजन'** है। इसका तात्पर्य यह है कि **अर्थक्रम** एवं **प्रयोजनक्रम**– ये दोनों शब्द पर्यायवाची अर्थात् एकार्थक है। 'अर्थ' का प्रयोजन रूप अर्थ ग्रहण करने पर **'अर्थक्रम'** का लक्षण होगा– जहाँ प्रयोजनवशात् क्रम का निर्णय होता है, उसे अर्थक्रम कहते है।[१] उदाहरणार्थ– **'अग्निहोत्रं जुहोति'–'यवागूं पचति'**। यहाँ **यवागू** का अर्थ है– जौ या चावल, गेहूँ इत्यादि के आटे-पिष्ट से निर्मित लपसी। [यवागूः उष्णिका श्राणा विलेपी तरला च सा। इति पंचद्रव दोदनस्य।] और इस यवागूरूपी हविर्द्रव्य से अग्निहोत्र होम में हवन किया जाता है। उक्त दोनों ही वाक्य– (अग्निहोत्रं जुहोति, तथा 'यवागूं पचति') अग्निहोत्र प्रकरण में उक्त क्रमानुसर ही पठित हैं। और यदि पाठक्रमानुसार अनुष्ठान करें तो वह संभव ही नहीं होगा क्योंकि यहाँ पाठक्रम की दृष्टि से 'अग्निहोत्र होम' प्रथम विहित है एवं 'यवागूपाक' बाद में। किन्तु **'यवाग्वा अग्निहोत्रं जुहोति'** वाक्य के अनुसार यवागू रूप हविर्द्रव्य से ही अग्निहोत्रयाग में हवन करना होता है। इसलिए यवागू पाक से पहले होम नहीं कर सकते क्योंकि उस समय द्रव्य ही नहीं है। अतः यवागू का पाक अग्निहोत्रहवन के पूर्व ही सम्पादित हो जाना चाहिये। इस प्रकार यह स्पष्ट होता है कि यवागू (लपसी) का प्रयोजन

---

१. अर्थः प्रयोजनं तदनुरोधेन यः क्रमस्स आर्थक्रमः। (तं. सि. र. द्विती. परि.)

(५९) अर्थक्रमः पाठक्रमाद्बलवान्

स चायं पाठक्रमाद्बलवान्। यथापाठं ह्यनुष्ठाने क्लृप्त-प्रयोजनबाधोऽदृष्टार्थत्वं च स्यात्। न हि होमानन्तरं क्रियमाणस्य पाकस्य किंचिद् दृष्टं प्रयोजनमस्ति।।५९।।

अर्थक्रमश्च पाठक्रमाद्बलीयान्भवतीत्याह-सचायमिति। यवागूपाकस्य यथा-पाठमनुष्ठानेऽदृष्टार्थत्वं स्यादिति विपक्षे बाधकमाह-यथापाठमिति। क्रमप्रयोजनबाधस्तु दर्शितो यवागूपाकस्येत्यारभ्यास्माभिरिति भावः। दृष्टमेव किञ्चित्सम्भवत्प्राप्तिकं भवेदित्यत आह-नहीत्यादिना। नहि भक्षणमन्तरेण किञ्चिद्दृष्टप्रयोजनमुपलभ्यते तच्च न प्रकृतयवाग्वा अदर्शनात्प्रमाणाभावाच्चेति भावः।।५९।।

अग्निहोत्र का अनुष्ठान है। अत: इस प्रयोजन को कार्यान्वित करने के लिए यवागू को ही प्रथम तैयार करना होगा तत्पश्चात् उससे अग्निहोत्र का अनुष्ठान सम्पादित हो सकेगा। इस प्रकार यहाँ प्रयोजनवशात् क्रम का निर्धारण किया गया है। तात्पर्य यह है कि प्रयोजन या अर्थक्रम से यवागूपाक एवं अग्निहोत्र होम के अनुष्ठान में जो पूर्वापरभाव है वह 'पाठक्रम' से प्राप्त पूर्वापरभाव के विपरीत है। इसलिए उक्त वाक्य 'अर्थक्रम' के उदाहरण है[१]।।५८।।

*अनुवाद– **स चायमिति।** यह **'अर्थक्रम'** अपने परवर्ती 'पाठक्रम' नामक प्रमाण से बलवान् होता है। यदि पाठक्रमानुसार पहले अग्निहोत्र होम और तत्पश्चात् यवागू पाक किया जाय तो यवागू से अग्निहोत्र रूप निश्चित प्रयोजन की सिद्धि में बाधा होगी तथा [बाध स्वीकार करने पर] यवागू पाक का अदृष्ट प्रयोजन स्वीकार करना होगा। क्योंकि अग्निहोत्र होम के पश्चात् यवागू पाक का कोई दृष्ट प्रयोजन तो रह नहीं जाता है।।५९।।*

।। अर्थमीमांसा ।।

इसके पूर्व **पाठ** की अपेक्षा **श्रुति** प्रमाण किसप्रकार प्रबल होता है, यह **आश्विनग्रह** के उदाहरण के द्वारा निर्देशित किया गया है। अब यहाँ पाठक्रम की अपेक्षा **'अर्थ'** प्रमाण किस प्रकार प्रबल होता है– यह **'यवागूं पचति'** के उदाहरण द्वारा निर्देशित किया जा रहा है। **'अग्निहोत्रं जुहोति'**– इस वाक्य के आगे दूसरा वाक्य **'यवागूं पचति'** पठित किया गया है। अब यदि वाक्यों के पाठानुसार कृत्यों का अनुष्ठान करने के लिये कहा गया तो अग्निहोत्र होम रूपी जिस प्रयोजन के लिए इस यवागू-पाक की आवश्यकता है, वह प्रयोजन बाधित होगा। अर्थात् अग्निहोत्रहोम के प्रयोजन के लिए जो **यवागू** प्रथम तैयार किया जाना चाहिए, वह प्रथम तैयार नहीं किया जा सकेगा और अग्निहोत्र होम के पश्चात् जो यवागू सिद्ध होगा, उस पाक का कोई दृष्ट प्रयोजन शेष नहीं रहेगा। क्योंकि होम संपन्न हो जाने के पश्चात् यवागू पाक की आवश्यकता भी क्या है? भक्षण करने के सिवा उस यवागू का कोई दृष्ट प्रयोजन नहीं दिखाई देता। और यवागू का भक्षण करें, इस प्रकार का निर्देश भी कहीं नहीं है। इस प्रकार कोई भी दृष्ट-प्रयोजन संभव न होने के कारण किसी अदृष्ट प्रयोजन की कल्पना

---

१. द्रष्टव्य– जै. सू. अ. ५, पा. १, अधि. २

(६०) पाठक्रमलक्षणम्

पदार्थबोधकवाक्यानां यः क्रमः स पाठक्रमः। तस्माच्च पदार्थानां क्रम आश्रीयते। येन हि क्रमेण वाक्यानि पठितानि तेनैव क्रमेणाधी-तान्यर्थप्रत्ययं जनयन्ति। यथा प्रत्ययं च पदार्थानामनुष्ठानम्।।६०।।

पाठक्रमं लक्षयति पदार्थेति-तस्माच्चेति। पाठक्रमाच्चेत्यर्थः। पाठक्रमात्प-दार्थः। क्रममुपपादयति-येनेत्यादिना। वाक्यानीति पदस्याप्युपलक्षणम्। पदार्थ-प्रत्ययस्य क्वात्रोपयोग इत्यत आह-यथा प्रत्ययं चेति।।६०।।

करनी पड़ेगी। किन्तु दृष्ट प्रयोजन की संभावना होने पर भी अदृष्ट प्रयोजन की कल्पना करना अन्याय्य है। अत: **'यवाग्वा अग्निहोत्रं जुहोति'** इस वाक्य में कथित निर्देशानुसार यवागू के द्वारा अग्निहोत्रहोम का अनुष्ठान करना ही यहाँ **दृष्ट प्रयोजन** है। और इसलिए पाठक्रमानुसार यद्यपि **'यवागूं पचति'** वाक्य पश्चात् पठित है, तथापि प्रयोजनवश 'यवागूं पचति' को **'अग्निहोत्रं जुहोति'** वाक्य के पूर्व कल्पित कर तदनुसार अग्निहोत्रहोम के पूर्व यवागू का पचन-पाक-तैयार किया जाना चाहिये। उक्त विवेचनानुसार 'पाठक्रम' का अर्थक्रम के द्वारा बाध किया जाता है।।५९।।

अनुवाद– पदार्थेति। *अनुष्ठेय पदार्थ के बोधक वाक्यों का जो क्रम है उसे* ***पाठक्रम*** *कहा जाता है। पाठक्रम पदार्थों के क्रम का आधार होता है। क्योंकि जिस क्रम से वाक्य पठित हैं उसी क्रम से उनका अध्ययन करने पर उन वाक्यों के अर्थ का बोध होता है। तदनन्तर जिस क्रम से उनका ज्ञान होता है उसी क्रम से उनका अनुष्ठान किया जाता है।।६०।।*

।। अर्थमीमांसा ।।

पूर्व प्रकरण में 'अर्थक्रम' का निरूपण करने के पश्चात् क्रमों का निश्चय (निर्धारण) करनेवाले षट् प्रमाणों में क्रमप्राप्त **पाठरूपी** तीसरे प्रमाण का लक्षण ग्रंथकार ने यहाँ प्रस्तुत किया है– **'पदार्थबोधकवाक्यानां यः क्रमः स पाठक्रमः'**– अर्थात् अनुष्ठेय पदार्थों (क्रिया) के बोधक वाक्यों का जो क्रम है, उसे **'पाठक्रम'** कहते हैं अथवा पदार्थ बोधक वाक्यों के क्रम को पाठक्रम कहते हैं। यहाँ वाक्यों में पदों का भी समावेश हो सकता है। तात्पर्य यह है कि– किसी पदार्थ का बोध करनेवाले जो वाक्य होंते हैं, वे जिस क्रम से पठित होते हैं, उस क्रम को 'पाठक्रम' कहा जाता है। और उन वाक्यों के पाठक्रम के आधार पर उनमें पठित पदार्थों का क्रम निश्चित किया जाता है। क्योंकि मूल वेद में वाक्य जिस क्रम से पठित हैं, उसी क्रम से अर्थात् क्रमयुक्त रीति से ही उन वाक्यों का अध्ययन किया जाना चाहिए,– इसका निर्देश **'स्वाध्यायोऽध्येतव्यः'** विधिवाक्य में किया गया है। अर्थात् जिस क्रम से पाठ हो, उसी क्रम से अध्ययन करना चाहिए, यह 'क्रम' के विषय में अध्ययनविधि निरूपित है[१]।

---

१. द्रष्टव्य– शास्त्रदीपिका, अ. ५, पा. १, अधि. ४

(६१) पाठक्रमद्वैविध्यं मंत्रपाठात् क्रमश्च

स च पाठो द्विविधः। मन्त्रपाठो ब्राह्मणपाठश्चेति। तत्राग्नेयाग्नीषोमीययोस्तत्तद्वाक्यानां याज्यानुवाक्यानां पाठाद्यः क्रम आश्रीयते स मन्त्रपाठात्।।६१।।

पाठक्रमं विभजते-स च पाठो द्विविध इति। मन्त्रपाठक्रममुदाहरति-तत्रेत्यादिना। तत्र मन्त्रपाठब्राह्मणपाठयोर्मध्य इत्यर्थः। किञ्च अग्नीषोमीययाग-स्तैत्तिरीयब्राह्मणपञ्चमप्रपाठके द्वितीयानुवाके समाम्नातः। ताभ्यामेतमग्नीषोमीय-मेकादशकपालं पूर्णमासे प्रायच्छदिति। आग्नेययागस्तु षष्ठप्रपाठके तृतीयानुवाके आम्नातः यदाग्नेयोऽष्टाकपालोऽमावस्यायाञ्चाच्युतोभवतीति। तत्रानुष्ठानस्य ब्राह्मणोक्त-विध्यधीनत्वादग्नीषोमीयस्य प्रथममनुष्ठानमित्याशङ्क्य मन्त्रकाण्डे पूर्वं पठिता आग्नेयमन्त्राः तथा हि हौत्रकाण्डे आज्यभागमन्त्रानुवाकादुत्तरस्मिन्ननुवाके प्रथममग्निर्मूर्द्धेत्यादिके

अतः वेद में जिस क्रम से वाक्य पठित किये गये हैं, उसी क्रम से उनका अध्ययन किया जाता है, इसलिये निश्चय ही वे वाक्य उसी क्रम से उन पदार्थों का स्मरण कराते हैं। और जिस क्रम से उन पदार्थों का स्मरण कराया जाता है, उसी क्रम से उनका अनुष्ठान किया जाना भी युक्तियुक्त एवं स्वाभाविक प्रतीत होता है। संक्षेप में– जैसा पाठ वैसा ही अध्ययन, जैसा अध्ययन वैसा ही अर्थ प्रत्यय (स्मरण) और जैसा अर्थप्रत्यय वैसा ही अनुष्ठान,– इस प्रकार की वैज्ञानिक एवं सयुक्तिक स्वाभाविक परम्परा होने के कारण 'पाठक्रम' को प्रामाण्य प्राप्त होना योग्य ही है।।६०।।

*अनुवाद– **स चेति**। वह पाठक्रम दो भेदों वाला है– (१) **मन्त्रपाठ,** तथा (२) **ब्राह्मण पाठ**।*

तत्रेति *। [मंत्र पाठ को स्पष्ट करते हैं] **'आग्नेय'** एवं **'अग्निषोमीय'** याग की याज्या एवं अनुवाक्या के पाठ में जो क्रम निश्चित होता है वह 'मन्त्रपाठ' से ही होता है।।६१।।*

।। अर्थमीमांसा ।।

इसके पूर्व बताया जा चुका है कि वेदोक्त वाक्य जिस क्रम से पठित होते हैं, उसी क्रम को 'पाठक्रम' कहा जाता है। किन्तु वेद-मंत्र और ब्राह्मण के रूप में दो प्रकार का होने से पाठक्रम के भी दो प्रभेद होते हैं– **मंत्र पाठ** और **ब्राह्मण पाठ**।

इस प्रसंग में **संशय** यह है कि– मंत्रगत पाठ के अनुसार एक क्रम और ब्राह्मणोक्त पाठ के अनुसार यदि दूसरा ही भिन्न क्रम प्राप्त होता है तो, वहाँ व्यवस्था किस प्रकार हो? क्योंकि दर्शपूर्णमासयाग में **'आग्नेय'** और **'अग्नीषोमीय'**– इन दो यागों का पाठ (अन्य यागों के साथ) मिलता है। इस सन्दर्भ में एक प्रश्न उत्पन्न होता है कि 'आग्नेय' याग का अनुष्ठान प्रथम किया जाय या 'अग्नीषोमीय' याग का? इस संशय का कारण यह है कि– **तैत्तिरीय ब्राह्मण** के पाँचवे प्रप्राठकान्तर्गत दूसरे अनुवाक में ['ताभ्यामेतमग्नीषोमीयमेकादशकपालं

आग्नेय्यौपाज्यानुवाक्ये आम्नाते ततः प्रजायते नत्वदेतानीत्यादिके प्राजापत्ये ततोऽग्नीषोमासवेदसेत्यादिके अग्नीषोमीये आध्वर्यवे काण्डेऽप्यग्नये जुष्टन्निर्वपाम्यग्नीषो-माभ्यामित्याग्नेयः पूर्वमाम्नातः याजमानकाण्डेऽप्यग्नेरहं देवयज्ययान्नादोभूयासमित्याग्नेयस्य पश्चादग्नीषोमयोरहं देवयज्ययान्नादोभूयासमित्याग्नेयस्य पश्चादग्नीषोमयोरहं देवयज्यया वृत्रहाभूयासमित्याम्नायते मन्त्रक्रमप्रबलः मन्त्रैः स्मृत्वा पश्चादनुष्ठेयत्वाद्ब्राह्मणत्व-प्राप्तपदार्थे विधिनापि चरितार्थ अतोऽनुष्ठानस्मरणायैवोत्पन्नान्मन्त्रान् बाधितुं नालमिति मन्त्रक्रमेणाग्नेयस्यैव प्रथममनुष्ठानमिति समाधानमभिप्रेत्य वा मन्त्रपाठस्य ब्राह्मणपाठाद्ब-लीयस्त्वमाह सचायमित्यदिना । किञ्च पाठयोस्तु मन्त्रब्राह्मणगतयोर्मन्त्रपाठो बलीयान् । नतु ब्राह्मणपाठः तस्योत्पत्तिविनियोगविधिगतत्वेन प्रथमोपस्थिततत्वेऽपि पाठस्य स्मारकक्रमविधयैव क्रमनियामकत्वोक्तेर्मन्त्रसत्वे च तस्यैव स्मारकतया विधानोपयुक्त-स्यासमर्थस्य च विधेः स्मारकत्वाभावान्मन्त्रपाठक्रम एव बलीयान् । तेन च याज्यानु-वाक्यादिमन्त्रपाठक्रमादाग्नेयस्य प्रथमानुष्ठानं पश्चाच्चोपांशुयाजोत्तरमग्नीषोमीयस्य ।।६१।।

पूर्णमासे प्रायच्छत्'] इस वाक्य में अग्नीषोमीय याग का पाठ **प्रथमतः** आया है और उसी तैत्तिरीय ब्राह्मण के छठे प्रपाठान्तर्गत तीसरे अनुवाक में ['यदाग्नेयोऽष्टाकपालो-ऽमावास्यायां च पौर्णमास्यां चाच्युतो भवति'] इस वाक्य के द्वारा **आग्नेय याग** का पाठ **तत्पश्चात्** किया गया है। **ब्राह्मण** के पाठक्रम की दृष्टि से देखने पर ज्ञात होता है कि 'अग्नीषोमीय' याग का अनुष्ठान प्रथम और 'आग्नेय' याग का अनुष्ठान तत्पश्चात् करना चाहिए। किन्तु केवल तैत्तिरीय ब्राह्मणोक्त पाठक्रमानुसार निर्णय कर लेना योग्य नहीं है। कारण यह है कि इन दो यागों से सम्बन्धित मंत्रभाग का पाठ इसके विपरीत है।

दर्शपूर्णमास में जब 'आग्नेय' और 'अग्नीषोमीय' यागों का अनुष्ठान होना होता है, तब अन्य यागों की तरह अग्नि में हविर्भाग का त्याग करने के पूर्व उन देवताओं के उद्देश्य से **पुरोनुवाक्या** और **याज्या**– के मंत्रों का उच्चारण करना होता है। यहाँ पुरोनुवाक्या और याज्या के अर्थों को स्पष्ट करना आवश्यक है। दोनों के लक्षण आज्यभागब्राह्मण में दिये हुए हैं– वे इस प्रकार हैं– **'पुरस्ताल्लक्ष्मा पुरोनुवाक्या'** और **उपरिष्टाल्लक्ष्मा याज्या'**– इन वैदिक लक्षणों का स्पष्टार्थ यह है। ['यस्या ऋचाः पूर्वोर्धे देवतालिंगं सा पुरोनुवाक्या। उत्तरार्द्धे तल्लिगं चेद्याज्या सा भवति ।'][1] परन्तु ये सामान्य लक्षण हैं, क्योंकि अनेक स्थानों पर इनके अपवाद भी देखने में आते हैं। परन्तु मुख्यतः जिस ऋचा के पूर्वार्ध में देवतावाचक शब्द विद्यमान रहता है, वह **'पुरोनुवाक्या'** और जिस ऋचा के उत्तरार्ध में देवतावाचक शब्द रहता है, वह **'याज्या'** होती है। पुरोनुवाक्य के मंत्रों का पाठ प्रथम किया जाता है और तत्पश्चात् याज्या के मंत्रों का पाठ। हविर्द्रव्य का अग्नि में त्याग करने के पूर्व अग्न्यादिक देवताओं का आवाहन करने के लिये **'अग्नये अनुब्रूहि'** इस प्रकार अध्वर्यु, होता को **प्रैष** देता है। और प्रैष प्राप्त होने के अनन्तर होता **पुरोनुवाक्या** के मंत्रों का पाठ करता है। तत्पश्चात् अध्वर्यु– **'अग्निं यज'**– इस प्रकार होता को **प्रैष** देता है। तब होता **याज्या** के मंत्रों का पाठ करता है [पुरोनुवाक्या यागात्पुरस्ताद्देवताह्वानायाध्वर्युप्रैषमनु होत्रा वक्तव्यत्वात्। इन्द्राग्नी-

---

१. द्रष्टव्य– जै. सू. अ. ५, पा. १, अधि. ९

(६२) मंत्रपाठो ब्राह्मणपाठाद्बलीयान्

स चायं मन्त्रपाठो ब्राह्मणपाठाद्बलीयान्। अनुष्ठाने ब्राह्मणवाक्यापेक्षया मन्त्रपाठस्यान्तरङ्गत्वात्। ब्राह्मणवाक्यं हि प्रयोगाद्बहिरेवेदं कर्तव्यमिति अवबोध्य कृतार्थम्। मन्त्राः पुनः प्रयोगकाले व्याप्रियन्ते। तेन अनुष्ठानक्रमस्य स्मरणक्रमाधीनत्वात् तत्क्रमस्य च मन्त्रक्रमाधीनत्वाद् अन्तरङ्गोऽयं मन्त्रपाठ इति।।६२।।

ननु ब्राह्मणपाठक्रमादग्नीषोमीयस्य प्रथमं पश्चादुपांशुयाजोत्तरमाग्नेयस्येत्यभिप्रेत्य मन्त्रपाठस्य ब्राह्मणपाठाद्बलीयस्त्वमाह-स चायमित्यादिना। याज्यानुवाक्यानामिति।

भ्यामनुब्रूहीत्येतादृशोऽध्वर्यु-प्रैष:। द्वितीयो मंत्रों याज्या। इज्यतेऽनयेति तद्व्युत्पत्ति:। अत एवात्र यजेति प्रैष: पठ्यते।।]

उपर्युक्त विवेचन से याज्या और पुरोनुवाक्या का अर्थ क्या है? और उनका संबन्ध यहाँ किस प्रकार आता है, ध्यान में आ जाता है।

अब हम देखते हैं कि **आग्नेय** और **अग्नीषोमीय**– इन दोनों ही यागों में जिन भिन्न-भिन्न **याज्या** और **पुरोनुवाक्याओं** का पाठ करना होता है, वे मंत्रभाग में किस क्रम से दी गई हैं। **हौत्रकाण्ड** में आज्यभागमंत्र के अनुवाक के अग्रिम अनुवाक में प्रथमत: **'अग्निर्मूर्धादिवः ककुत्पतिः पृथिव्या अयं'**– इत्यादि 'आग्नेय' याग की याज्या और अनुवाक्याओं का पाठ है। और तत्पश्चात् मध्य में 'प्राजापत्य' याग की याज्यानुवाक्या का पाठ देकर उसके आगे **'अग्नीषोमा सवेदसा सहूती वनतं गिरः'**– इत्यादिक 'अग्नीषोमीय' याग की याज्यानुवाक्याओं का पाठ दिया गया है। उसी प्रकार **अध्वर्युकाण्ड** और **यजमानकाण्ड**– इनमें भी हौत्रकाण्ड में दिये हुए पाठानुसार ही 'आग्नेय' याग के मंत्रों का पाठ प्रथमत: दिया गया है और तत्पश्चात् 'अग्नीषोमीय' याग के मंत्रों का पाठ है। उपर्युक्त परीक्षण से यह विदित होता है कि यद्यपि ब्राह्मणभागगत क्रम 'अग्नीषोमीय' और 'आग्नेय' है, तथापि मंत्रभाग का क्रम उसके विपरीत है अर्थात् **आग्नेययाग** प्रथम और **अग्नीषोमीययाग** तत्पश्चात्। अत: आग्नेययाग की याज्यानुवाक्याओं का पाठ मंत्रभाग में प्रथम दिया गया है, और अग्नीषोमीय याग की याज्यानुवाक्याओं का पाठ मंत्रभाग में तत्पश्चात् दिया गया है। एवञ्च आग्नेययाग प्रथम और अग्नीषोमीय याग तत्पश्चात् होना चाहिए, इस प्रकार का जो क्रम यहाँ निश्चित किया गया है, वह **मंत्रपाठ** के बल पर किया जाता है।।६१।।

अनुवाद– स चायमिति। *वह मन्त्रपाठ 'ब्राह्मणपाठ' से बलवान् होता है। क्योंकि प्रयोगानुष्ठान में मन्त्रपाठ, ब्राह्मणपाठ की अपेक्षा अन्तरङ्ग होते हैं। वस्तुत: ब्राह्मणवाक्य तो प्रयोगानुष्ठान से दूर रहकर ही* ***'इदमेव कर्तव्यम्'*** *(ऐसा करना चाहिए) इस प्रकार ज्ञापन करके चरितार्थ हो जाते हैं। जबकि मन्त्र अनुष्ठान काल में होते हैं, क्योंकि क्रियानुष्ठान का क्रम 'स्मरण क्रम' के अधीन है और उस 'क्रम' का आधार मन्त्रपाठक्रम है इस हेतु मन्त्रपाठ अन्तरंग (विश्वस्त) माना जाता है।।६२।।*

यजेति प्रैषानन्तरमृग्या ब्रह्मणा समुच्चार्य्यते सा याज्येत्युच्यते। अनुब्रूहीति प्रैषानन्तर-मृग्यातेनैव समुच्चार्य्यते सानुवाक्येत्युच्यत इत्यर्थः तस्य तद्बलीयस्त्वे हेतुमाह- अनुष्ठान इत्यादिना। मन्त्रपाठस्य ब्राह्मणपाठादनुष्ठानेऽन्तरङ्गत्वमुपपादयति- ब्राह्मणवाक्यमित्या-दिना। स्मरणक्रमाधीनत्वादिति। अनुष्ठेयपदार्थस्मरणक्रमाधीनत्वादित्यर्थः। तत्क्र-मस्येति। अनुष्ठेयपदार्थस्मरणक्रमस्येत्यर्थः। मन्त्रक्रमाधीनत्वादिति। अनुष्ठेयपदार्थ-स्मारकमन्त्रक्रमाधीनत्वादित्यर्थः।।६२।।

।। अर्थमीमांसा ।।

इसके पूर्व चर्चित प्रकरण में ब्राह्मण पाठ के अनुसार **अग्नीषोमीय** और **आग्नेय**-इस प्रकार 'क्रम' प्राप्त होने पर उसे बाधित कर मंत्रपाठ के आधार पर 'आग्नेय' और 'अग्नीषोमीय' पाठ निश्चित किया गया है। क्योंकि 'मंत्रपाठक्रम' ब्राह्मणपाठक्रम से बलवान् माना जाता है। एवञ्च **मंत्र** और **ब्राह्मणवाक्य** की अपेक्षा मंत्र को ही अधिक बलवान् मानना आवश्यक प्रतीत होता है। क्योंकि, जब किसी याग का अनुष्ठान प्रारम्भ किया जाता है, तब यह देखा जाना चाहिए कि क्रियमाण अनुष्ठान से मंत्र और ब्राह्मण में से किसको अंतरंगत्व प्राप्त होता है? अर्थात् उस अनुष्ठान से अधिक निकट का सम्बन्ध किसका है? ब्राह्मण का या मंत्र का? निश्चय ही उस अनुष्ठान से मंत्रों का ही अंतरंगत्व के रूप में निकट संबन्ध होता है। क्योंकि ब्राह्मण-वाक्य मंत्र की तरह अनुष्ठान के अंतरंग में प्रविष्ट नहीं हो सकते। अर्थात् क्रियानुष्ठान में 'मंत्रपाठ' ब्राह्मणपाठ की अपेक्षा अंतरङ्ग होते हैं। **'सोमेन यजेत' 'दध्ना जुहोति'**– ये विधि ब्राह्मण वाक्यों द्वारा पठित होते हैं। अर्थात् **'इदमेवं कर्तव्यम्'** इस प्रकार का विधि करने के पश्चात् ब्राह्मणवाक्य का कार्य समाप्त हो जाता है। अर्थात् ब्राह्मणवाक्य तो क्रियानुष्ठान से दूर रहकर ही **'ऐसा करना चाहिए'** इस प्रकार अज्ञात क्रिया का ज्ञापन करके कृतकृत्य हो जाते हैं। यहाँ विशेष ध्यातव्य यह है कि इस प्रकार का विधि करने का कार्य प्रत्यक्ष अनुष्ठान से नितान्त बाहर का है। और वह कार्य ब्राह्मण वाक्यों के द्वारा बाहर ही समाप्त किया जाने पर जब उस विधि का प्रत्यक्ष अनुष्ठान प्रारम्भ होता है, उस समय अनुष्ठान की अन्तर्व्यवस्था में ब्राह्मणवाक्यों की यत् किंचित् भी आवश्यकता नहीं होती। उस समय प्रयोग की अन्तर्व्यवस्था में मंत्रों की ही आवश्यकता होती है। क्योंकि याग का अनुष्ठान प्रारंभ होने पर उसके अंगों का क्रमशः संपादन अर्थात् एक के पश्चात् एक का अनुष्ठान– करना होता है, और यह 'क्रम' अनुष्ठेय पदार्थों के स्मरण पर निर्भर रहता है। उनका स्मरण एक के बाद एक क्रम से होने पर 'क्रम' में प्रमाद होने की संभावना नहीं रहती। और यह क्रम मंत्रों के द्वारा स्थिर रहता है। [प्रयोगकालीनअर्थस्मरणहेतुतया–मंत्राणामुपयोगः]

सारांश यह है– मंत्रस्मरण से स्मरणक्रम, और स्मरणक्रम से अनुष्ठानक्रम, अर्थात् क्रियानुष्ठान के क्रम का आधार 'स्मरणक्रम' है और स्मरणक्रम का आधार 'मंत्रपाठक्रम' है। इसलिए अनुष्ठान में ब्राह्मण की अपेक्षा मंत्रों का ही अधिक निकट सम्बन्ध आने के कारण मंत्रों में अंतरंगत्व होता है। अतः अनुष्ठान में बहिरंगत्व से साहाय्य करनेवाले ब्राह्मण पाठ की अपेक्षा अंतरंगत्व से व्यापृत होनेवाले मंत्रों के पाठ का प्रबलतरत्व मानना योग्य है, यह सिद्ध है।।६२।।

(६३) ब्राह्मणपाठात् क्रमः

प्रयाजानां 'समिधो यजति' 'तनूनपातं यजति' इत्येवं विधिपाठक्रमाद्यः क्रमः स ब्राह्मणपाठक्रमात्। यद्यपि ब्राह्मणवाक्यान्यर्थं विधाय कृतार्थानि तथापि प्रयाजादीनां क्रमस्मारकान्तरस्याभावात्तान्येव क्रमस्मारकत्वेन स्वीक्रियन्ते ।।६३।।

प्रयाजानामनुष्ठानक्रमः समिधो यजति, तनूनपातं यजति, इडो यजति, बर्हिर्यजति, स्वाहाकारं यजतीति ब्राह्मणपाठक्रमात्स्वीक्रियते इत्याह-प्रयाजानामित्यादिना। ननु समिधोऽग्न आज्यस्य व्यन्त्वित्यादिमन्त्राणां प्रयाजक्रमस्मारकाणां सत्त्वेन कथं तेषां ब्राह्मणवाक्यक्रमात्क्रमः स्वीक्रियते। तद्वाक्यानां विधानमात्रे चरितार्थत्वादित्याशयेनाशङ्कते-यद्यपीति। मन्त्रपाठस्यान्यादृशत्वेन वा मन्त्राणां देवतामात्रस्मारकत्वेन कर्मस्मारकत्वाभावाद्वा प्रयाजक्रमो ब्राह्मणपाठक्रमादेवेत्याशयेन परिहरति-तथापीति। तथा च येन क्रमेण ब्राह्मणवाक्यान्यधीतानि तेनैव क्रमेणार्थस्मरणं जनयन्तीति युक्तं तेषां

---

*अनुवाद– प्रयाजानामिति। पंचप्रयाजों **'समिधो यजति' तनूनपातं यजति,** का जो क्रम है उसका आधार ब्राह्मण पाठक्रम है। यद्यपि ब्राह्मण पाठवाक्य कर्म का विधान करके चरितार्थ हो जाते हैं तथापि प्रयाजादि यागों का स्मरण कराने वाले अन्य वाक्यों का अभाव होने से ब्राह्मणवाक्य ही क्रम के स्मारक होते हैं।।६३।।*

।। अर्थमीमांसा ।।

प्रकृत में ब्राह्मण पाठोक्त 'अग्नीषोमीय' तथा 'आग्नेययाग' के अनुष्ठान क्रम को बाधित कर उसके विपरीत मंत्रपाठोक्त क्रम के बल पर क्रम को निश्चित किया गया है। परन्तु इसका अर्थ यह नहीं है कि ब्राह्मण पाठोक्त क्रम कहीं भी विचारणीय नहीं होता। क्योंकि, जहाँ क्रम को निर्देशित करनेवाले मंत्रपाठ का साधन उपलब्ध नहीं होता, वहाँ ब्राह्मणपाठ के आधार पर ही अनुष्ठेय पदार्थों का क्रम निश्चित किया जाता है अर्थात् जहाँ क्रमबोधक मंत्रपाठ नहीं प्राप्त होता है, अथवा विधेयार्थ स्मारक मंत्र नहीं प्राप्त होते हैं, वहां अगत्या ब्राह्मणपाठ को ही क्रमबोधक मानना होता है। उदाहरणार्थ– **'समिधो यजति', 'तनूनपातं यजति', 'इडो यजति', 'बर्हिर्यजति', 'स्वाहाकारं यजति'**,– इस क्रम से ब्राह्मण में ये पंचप्रयाज पठित हैं। किन्तु यहाँ एक **शंका** उत्पन्न होती है कि– इन पंच प्रयाजों का क्रम किस प्रकार निश्चित करना चाहिए? क्योंकि यहाँ क्रमविधायक कोई 'श्रुति' उपलब्ध नहीं है। **समिधाओं** का याग संपन्न (अनुष्ठित) करने पर **तनूनपात** का याग करना चाहिये। इसे बतलाने के लिए **'क्त्वा'** प्रत्यय अथवा पंचमीवाचक शब्द 'ततः' का भी यहाँ प्रयोग नहीं किया गया है। **'अग्निहोत्र-हवन** के पूर्व **यवागू** का पाक तैयार कर लेना चाहिए', यह जिस प्रकार 'अर्थक्रम' के आधार पर निश्चित किया जाता है, ऐसा भी यहाँ कोई साधन नहीं है। **किं बहुना समिद्याग** के पूर्व **तनूनपाद्** याग का अनुष्ठान कर लेने में भी यहाँ कोई बाधा

तेनैव क्रमेणानुष्ठानमिति भावः। वस्तुतस्तु प्रायजक्रमो न ब्राह्मणपाठक्रमात्स्वीक्रियते समिधो ऽग्न आज्यस्य व्यन्त्वित्यादिभिः क्रमप्रकरणप्राप्तैर्मन्त्रैर्देवतागुणत्वेन समर्प्यन्त इति नवमतंत्ररत्नविरोधप्रसङ्गात्। अन्यथा मन्त्राणामन्यादृशक्रमत्वे तदनुपपत्यापत्तेः किन्तुमन्त्रपाठक्रमात्क्रमएव ब्राह्मणपाठक्रमात्क्रममस्तु यत्रार्थस्मारका मन्त्रा नसन्त्येव तेषामेव यथातूष्णीं विहितानां कर्मणां क्रमो ब्राह्मणपाठक्रमाद्भवति। तत्र तेषामेव प्रयोगसमवेतार्थस्मारकत्वात्। प्रयाजोदाहरणं तु कृत्वा चिन्तया तत्र ब्राह्मणवाक्यानां प्रयोगसमवेतार्थस्मारकत्वाभावात्। तथाचार्थवादपादे वार्तिकवचनम्। प्रयाजादि-वाक्यान्यर्थं समर्प्य चरितार्थानि स्वरूपसंस्पर्शे सत्यपि प्रयोज्यतां न प्रतिपद्यन्त इति तस्मान्मत्रक्रमादेव प्रयाजक्रम इति सिद्धमिति ध्येयम्।।६३।।

नहीं दिखाई देती। ऐसी स्थिति में इन पंचप्रयाजों का क्रम किस प्रकार निश्चित करना चाहिए? इस शंका का **समाधान** यह है कि उपर्युक्त ब्राह्मण पाठ में जो क्रम पठित है, यदि उसका अन्य किसी प्रमाण के द्वारा बाध नहीं होता है तो ब्राह्मण पाठ में जो क्रम पठित (विहित) है, उसी क्रम को मान्य करना चाहिये। अतः पंचप्रयाजों का जो क्रम स्वीकार किया गया है, वह ब्राह्मण पाठ के क्रम के आधार पर ही किया गया है।[१]

प्रकृत प्रसंग में **पूर्वपक्षी** यह कहता है कि इसके पूर्व आपने मंत्रों का अंतरंगत्व निर्देशित करते समय यह कहा था कि ब्राह्मणवाक्य साक्षात् अनुष्ठान से दूर रहते हैं। वे केवल अङ्गों का विधान करते हैं तथा क्रियानुष्ठान से दूर रहकर ही **'ऐसा करना चाहिये'** इस प्रकार अज्ञात क्रिया का ज्ञापन करके कृतकृत्य हो जाते हैं। ऐसा पूर्व कहने पर भी आप पुनः यहाँ प्रयाजों का क्रम निश्चित करने के लिए उन्हीं ब्राह्मणवाक्यों को स्वीकार करने के लिये कहते हैं, यह वदतोव्याघात नहीं है?

पूर्वपक्षी की इस शंका के **समाधान** में यह कहा जाता है कि– यह सच है कि ब्राह्मणवाक्य विधि का विधान करके अर्थात् अज्ञात क्रिया का ज्ञापन करके कृतकृत्य हो जाते हैं, तथापि अनुष्ठान के समय प्रयाजादिकों के क्रम का स्मरण कराने के लिए मंत्रादिरूप कोई अन्य साधन उपलब्ध न होने के कारण वहाँ ब्राह्मणवाक्यों को ही क्रमस्मारक–रूप में स्वीकार कर लेना चाहिये।

प्रकृत प्रसंग में ग्रंथकार का कहना मात्र यह है कि जहाँ अनुष्ठेय पदार्थों के स्मारक मंत्र उपलब्ध न हों, केवल वहाँ ब्राह्मणपाठ के आधार पर क्रम निश्चित करना चाहिए। उदाहरणार्थ– कुछ कर्म मौन रहकर (तूष्णीम्) अर्थात् किसी मंत्र का उच्चारण न करते हुए, करने के लिये कहे गये है। ऐसे स्थानों पर मंत्र का अभाव होने से ब्राह्मणपाठ से ही उस अनुष्ठेय कर्म का क्रम निश्चित कर लेना चाहिए। क्योंकि वहाँ अनुष्ठेय कर्म का स्मरण उस ब्राह्मणवाक्य के द्वारा ही कराया जाता है[२]।।६३।।

---

१. द्रष्टव्य– जै. सू. अ. ५, पा. १, अधि. ४

२. यत्रार्थस्मारका मन्त्रा न सन्त्येव तेषामेव यथा तूष्णीं विहितानां कर्मणां क्रमो ब्राह्मणपाठाद् भवति। तत्र तेषामेव प्रयोगसमवेतार्थस्मारकत्वात् (कौमुदी)।।

(६४) स्थानलक्षणम्

स्थानं नामोपस्थितिः । यस्य हि देशे योऽनुष्ठीयते तत्पूर्वतने पदार्थे कृते स एव प्रथममुपस्थितो भवतीति युक्तं तस्य प्रथममनुष्ठानम् । अतएव साद्यस्क्रे अग्नीषोमीयसवनीयानुबन्ध्यानां सवनीयदेशे सहानुष्ठाने कर्तव्ये आदौ सवनीयपशोरनुष्ठानमितरयोः पश्चात्। तस्मिन्देशे आश्विनग्रहणानन्तरं सवनीयस्यैव प्रथममुपस्थितिः ।।६४।।

इदानीं स्थानं लक्षयति-स्थानं नामोपस्थितिरिति । प्रकृतौ नानादेशानां पदार्थानां विकृतौ चोदकवचनादेकस्मिन्देशे ऽनुष्ठाने कर्तव्ये यस्य देशे ते ऽनुष्ठीयन्ते तस्य प्रथममनुष्ठानमितरयोस्तु पश्चादयं यः क्रमः स स्थानक्रमः तेन चोपस्थितिविशेषेण योऽनुष्ठानक्रमः स एव स्थानक्रम इत्युच्यत इति भावः । उपस्थितिं व्यनक्ति यस्येत्यादिना । यस्येति । ज्योतिष्टोमादिप्रकृतेः साद्यस्क्रादिविकृतौ चोदकप्राप्तस्य सवनीयादेरित्यर्थः । य इति । अग्नीषोमीयानुबन्ध्यादिरित्यर्थः । तत्पूर्वतन इति तस्मात्सवनीयादेः पूर्वतन आश्विनग्रहणादौ पदार्थे कृते सतीत्यर्थः । एवेति सवनीयादिरेवेत्यर्थः । प्रथममिति अग्नीषोमीयानुबन्ध्यामपेक्षया प्रथममित्यर्थः । तस्येति । सवनीयादेरेवेत्यर्थः ।

अनुवाद– ***स्थानमिति*** *। उपस्थिति को 'स्थान' कहते हैं। जिसके देश में जिसका अनुष्ठान किया जाता है उससे पूर्ववर्ती पदार्थों का अनुष्ठान कर लेने के पश्चात् दूसरों की अपेक्षा वही पहले उपस्थित होता है इसलिए उसका प्रथम अनुष्ठान करना उचित है। इसीलिये जब* ***'साद्यस्क्र'*** *नामक याग में सवनीयदेश में* ***अग्नीषोमीय, सवनीय*** *एवं* ***आनुबन्ध्य*** *इन तीन पशुओं का एक साथ अनुष्ठान करना होता है तो प्रथम सवनीय नामक पशु का अनुष्ठान होता है, तत्पश्चात् शेष दो पशुओं का अनुष्ठान होता है। क्योंकि सवनीय देश में आश्विनग्रहण के अनन्तर सवनीय पशु की ही प्रथम उपस्थिति होती है।।६४।।*

।। अर्थमीमांसा ।।

'क्रम' का निश्चय करने वाले षट्-प्रमाणों में से– श्रुति, अर्थ और पाठ– इन तीन प्रमाणों की चर्चा यहाँ तक हो चुकी है, अब यहाँ क्रम प्राप्त चतुर्थ-स्थान-प्रमाण के स्वरूप का निरूपण प्रारम्भ करते हैं। यहाँ विशेष ध्यातव्य यह है कि पूर्व में विनियोगविधि के प्रकरण में जिस 'स्थान' रूपी प्रमाण का निरूपण किया गया है, उस अंगताबोधक स्थान प्रमाण से यह (प्रस्तुत) उपस्थितिरूप एवं क्रमबोधक 'स्थानप्रमाण' कार्यवशात् भिन्न है। 'स्थान' का लक्षण ग्रंथकार ने संक्षेपतः इस प्रकार दिया है– **'स्थानं नामोपस्थितिः'**– उपस्थिति को **'स्थान'** कहते हैं। अर्थात् स्थान का अर्थ है– उपस्थित होना, प्राप्त होना। किसी विशिष्ट स्थान पर कोई विशिष्ट पदार्थ कर्तव्यत्वेन उपस्थित-प्राप्त-होने पर, वह उसी स्थान पर अनुष्ठित हो, इस प्रकार जो क्रम निश्चित किया जाता है, वह क्रम, स्थान प्रमाण के आधार पर निश्चित किया जाता है। इसलिए, इस प्रकार से निश्चित किये हुए 'क्रम' को स्थानक्रम कहते हैं। इसी का विशदार्थ प्रकट करने के लिए ग्रन्थकार ने लिखा है–

अत एवेति । प्रथमोपस्थितप्रथमानुष्ठानस्य युक्तत्वादेवेत्यर्थः । इतरयोरिति अग्नीषोमीयानुबन्ध्ययोरित्यर्थः । तस्मिन्देश इति । त्रयाणामपि पशूनां विकृतौ प्राप्तसवनीयदेश इत्यर्थः । आश्विनग्रहणानन्तरमित्यत्र सवनीयस्यैव विकृतौ प्रधानप्रत्यासत्तिबलाच्चोदकप्राप्ततत्वेनोपस्थितियोग्यत्वादिति शेषः । प्रथममिति । अग्नीषोमीयानुबन्ध्यापेक्षया प्रथममित्यर्थः ।।६४।।

['यस्य हि देशे योऽनुष्ठीयते तत्पूर्वतने पदार्थे कृते स एव प्रथममुपस्थितो भवति ।']– यद्यपि यह सामान्य लक्षण थोड़ा उलझा हुआ होने से इसे आपाततः समझना कठिन प्रतीत होता है। फिर भी **स्थान** का सामान्य स्वरूप इस प्रकार समझा जा सकता है– एक स्थान पर यदि कई अनुष्ठेय कर्मों का साहित्य-एकत्र-हो जाय तो यह शंका होना स्वाभाविक है कि इन सबमें प्रथमतया अनुष्ठेय कौन है? इसका समाधान यह है कि जिसके देश (काल, प्रसंग) में जिसका अनुष्ठान किया जाता है, उसके अव्यवहित पूर्व में विद्यमान क्रिया का अनुष्ठान होने पर वही प्रथमतया उपस्थित होता है, अतः उसका सबसे प्रथम अनुष्ठान करना योग्य प्रतीत होता है। यह याज्ञिक दृष्टान्त द्वारा सरलतया समझा जा सकता है। यह दृष्टान्त **'साद्यस्क्र'** याग का है। किन्तु इस याग का स्वरूप समझने के लिए उसके विषय में प्रथमतः जान लेना आवश्यक है।

इसके पूर्व **'अनुष्ठानसादेश्य'** के प्रकरण में ज्योतिष्टोमयाग का विस्तृत विवरण दिया गया है। यहाँ उसी का पुनः संक्षिप्त विवरण पहले देना आवश्यक है। ज्योतिष्टोमयाग भी एक सोमयाग ही है। और वह प्रकृतिभूत याग है। इस ज्योतिष्टोम याग में तीन पशुयागों का विधान किया गया है। वे ये हैं– प्रथम- अग्नीषोमीय– पशु, दूसरा– सवनीय पशु और तीसरा– अनुबन्ध्य पशु। और इन तीनों ही पशुयागों को भिन्न-भिन्न प्रसंगों पर सम्पादित करने के लिए कहा गया है। उक्त तीनों में 'अग्नीषोमीय' पशुयाग का अनुष्ठान औपवसथ्य के दिन, दूसरे 'सवनीय' पशुयाग का अनुष्ठान सुत्या के दिन, जिस दिन सोमरस निकाला जाता है, और तीसरे 'अनुबन्ध्य' पशुयाग का अवभृथ स्नान के पश्चात् अनुष्ठान करने का विधान किया गया है। इस प्रकार इन तीन पशुयागों के भिन्न-भिन्न देश (अर्थात् काल, प्रसंग) हैं। प्रकृतिभूत 'ज्योतिष्टोम' नामक सोमयाग की एक विकृति है– **साद्यस्क्रयाग** । अर्थात् 'साद्यस्क्र' नामक सोमयाग विशेष को ज्योतिष्टोम की विकृति माना गया है। क्योंकि इसमें देवता का नाम एवं सभी अङ्गों का विधान[१] नहीं मिलता। और इसलिए प्रकृतिभूत ज्योतिष्टोमयाग में जिन तीन पशुयागों का विधान विहित है, वे ही तीन पशुयाग इस साद्यस्क्रनामक विकृतियाग में भी अतिदेश से प्राप्त होते हैं। किन्तु इनमें भिन्नता यह है कि वे तीनों पशुयाग प्रकृतियाग में जिस प्रकार तीन भिन्न-भिन्न दिनों में अनुष्ठित होते हैं, वैसे वे साद्यस्क्र नामक विकृतियाग में

---

१. अव्यक्तत्वात्– 'अव्यक्तत्वात् स्वार्थचोदितदेवताराहित्यादित्यर्थः' 'का अव्यक्तता ? द्रव्यदेवतस्य अभावः । द्रव्यदेवतेन हि यागः अभिव्यज्यते ।' **शाबरभाष्य** ।
यत्र तद्धितचतुर्थीमन्त्रवर्णैर्यागार्थतयैव देवता विनियुक्ता तद्व्यक्तम्। इतरत्तु अव्यक्तम्– **शास्त्रदीपिका** ।

अनुष्ठेय न होकर, **'सहपशूनालभेत'** वाक्य में विहितानुसार उन तीनों ही पशुओं का आलंभन साहित्य से अर्थात् एकत्र किया जाना चाहिए।'साहित्य' का अर्थ ही होता है– साहित्यमेंककालिकतंत्रानुष्ठानम्।

अब प्रश्न यह है कि जो आलंभन[१] भिन्न-भिन्न तीन दिनों तथा तीन भिन्न-भिन्न यागों में किया जाना है, वह एक ही स्थान पर करने के लिए प्राप्त होने पर शंका उपस्थित होती है कि इन तीनों ही पशुओं का आलंभन अग्नीषोमीय में करना चाहिए या सवनीय में या अनुबन्ध्य में करना चाहिए? अर्थात्– तीनों दिनों में से किस दिन तीनों पशुओं का आलंभन किया जावे? इस शंका का समाधान यह है कि- उन तीनों ही पशुओं का आलंभन सवनीय पशुयाग के देश में ही करना उचित है। क्योंकि– साद्यस्क्रयाग[२], सोमयोग की ही विकृति है[३]। अत: साद्यस्क्रयाग में भी (यह) सोम ही प्रधान होता है। अब यदि यह **पूछा जाय** कि उस प्रधानभूत सोम की प्राप्ति (अर्थात् प्रत्यासति) अग्नीषोमीय, सवनीय और अनुबन्ध्य– इन तीन पशुयागों में से कहाँ होती है? तो समाधान यह है कि– उसकी प्राप्ति सवनीय पशुयाग में ही होती है। इसके अतिरिक्त, प्रधानभूत सोमयाग के पश्चात्वर्ती सवनीययाग अनुष्ठेय होने से सवनीययाग सोमयाग का प्रत्यासन्न होता है।[४] और इसलिए उस प्रधानभूत सोमयाग सान्निध्य के कारण (प्रत्यासत्ती के कारण) साद्यस्क्रयाग में सवनीययाग के देश (काल) में ही तीनों ही पशुओं का आलंभन किया जाना चाहिए।[५]

अब **प्रश्न** शेष यह रहता है कि जिस सवनीययाग में इन तीनों पशुओं का सहालंभन प्राप्त होता है, उस सवनीययाग का देश (काल) कौन सा है? अर्थात् किस कर्म के सम्पादन के पश्चात् इस याग का अनुष्ठान किया जाना चाहिए? **उत्तर** यह है कि– मूल प्रकृतिभूत ज्योतिष्टोम याग में सवनीय याग का जो स्थान होगा, वही स्थान इस विकृतिभूत साद्यस्क्र याग में भी होना चाहिए। प्रकृतियाग में सुत्या के दिन प्रात: सवन के प्रसंग पर (१) **ऐन्द्रवायवग्रह** और (२) **मेत्रावरुणग्रह**– इन दो ग्रहों के पश्चात् जो (३) **आश्विनग्रह**[६]– विहित है, उस आश्विनग्रह के पश्चात् प्रकृति में इस सवनीय याग का अनुष्ठान किया जाता है।[७] अत: विकृति में भी आश्विनग्रह का ग्रहण होने के साथ ही उसके अग्रिम स्थान पर स्थानक्रम के बल पर सवनीययाग प्राप्त होता है। अत: उस सवनीययाग का ही (अग्नीषोमीय,

---

१. आलंभपिंजविशरघातोन्माथवधा अपि– **अमरकोष**।

२. साद्यस्क: सद्य: कालीन: । साद्यस्क्र: एकदिनानुष्ठेय: सद्य: सोमक्रयविशिष्ट: सोमयागविशेष: । **शाबरभाष्य** में 'साद्यस्क्र' पाठ एवं **शास्त्रदीपिका** एवं **न्यायमाला** आदि ग्रंथों में 'साद्यस्क' पाठप्राप्त होता है।

३. यथा प्रकृतिभूते ज्योतिष्टोमे सुत्याकालिक: सवनीय: प्रधानप्रत्यासन्नस्तथैव तद्विकृतिशेषे साद्यस्केऽपि तात्कालिक: स प्रधानप्रत्यासन्न एवेति भाव:' । (कौमुदी)

४. 'प्रधानस्य सोमयागस्य समनन्तरानुष्ठेयत्वेन सन्निहितत्वादित्यर्थ:' । (सारविवेचिनी पृ. ९६)

५. प्रधानप्रत्यासत्ते: प्रधानस्य यागस्य सानिध्यात् । प्रधानद्रवसोमसानिध्याच्च ।

६. तै. सं.– का. १, प्रपा. ४, अनु. ६

७. 'आश्विनं ग्रहं गृहित्वा त्रिवृता यूपं परिवीयाऽग्नेयं सवनीयं पशुमुपाकरोति (शं.ब्रा. ४.२.४.१२)

(६५) साद्यस्क्रयागः

तथाहि ज्योतिष्टोमे त्रयः पशुयागाः। अग्नीषोमीयः सवनीय आनुबन्ध्यश्चेति। ते च भिन्नदेशाः। अग्नीषोमीय औपवसथ्येऽह्नि। सवनीयः सुत्याकाले। आनुबन्ध्यस्त्वन्ते। साद्यस्क्रो नाम सोमयाग-विशेषः। स चाव्यक्तत्वाद् ज्योतिष्टोमविकारः। अतस्ते त्रयोऽपि पशुयागाः साद्यस्क्रे चोदकप्राप्ताः। तेषां च तत्र साहित्यं श्रुतं 'सह पशूनालभेत' इति। तच्च साहित्यं सवनीयदेशे। तस्य प्रधान-प्रत्यासत्तेः। स्थानातिक्रमसाम्याच्च।।६५।।

विकृतावाश्विनग्रहणानन्तरमेव सवनीयस्थानप्रदर्शनाय प्रथमं प्रकृतौ तत्स्थानं

सवनीय और अनुबन्ध्य इस क्रम को बाधित करके) अनुष्ठान प्रथम किया जाना चाहिए। यद्यपि ज्योतिष्टोम– प्रकृतियाग में अग्नीषोमीय याग का अनुष्ठान प्रथम किया जाता है, तथापि उसका इस स्थान-क्रम के द्वारा बाध किया जाकर सवनीय याग ही प्रथम अनुष्ठेय होता है। और तत्पश्चात् प्रकृतियाग में विहित क्रमानुसार प्रथम अग्नीषोमीय और उसके पश्चात् अनुबन्ध्य याग का अनुष्ठान किया जाना चाहिए, इस प्रकार स्थानप्रमाण के आधार पर निश्चित किया गया है।[१]

इस प्रकार साद्यस्क्रयाग विषयक उक्त विवरण प्रस्तुत करने के पश्चात् अब हम पुन: ['यस्य हि देशे योऽनुष्ठीयते तत्पूर्वतने पदार्थे कृते स एव प्रथममुपस्थितो भवति']– ग्रंथ के इस मूल सर्वनामघटित वाक्य की ओर ध्यान देते हैं। इन सर्वनामों से जो-जो नाम अभिप्रेत हैं, वे-वे नाम उस-उस स्थान पर स्थापित कर एक नवीन वाक्य की रचना की जासकती हैं– जिससे अर्थ स्पष्ट होगा– वह वाक्य इस प्रकार होगा– 'यस्य **सवनीयस्य** देशे य: **अग्नीषोमीयः अनुबन्ध्यश्च** अनुष्ठीयते तत्पूर्वतने नाम **सवनीयपूर्वतने** पदार्थे नाम **आश्विनग्रहग्रहणे** कृते स एव नाम **सवनीय** एव प्रथममुपस्थितो भवति'– उपर्युक्त परिष्कार के अनुसार उक्त वाक्य का अर्थ इस प्रकार होता है– प्रधान भूत सोम की प्रत्यासत्ति के लिए सवनीय के स्थानपर ही अग्नीषोमीय और अनुबन्ध्य का सहानुष्ठान करना प्राप्त है। सवनीययाग के पूर्व होनेवाला जो आश्विनग्रह की ग्रहण है, उसके होने के पश्चात्, तदनन्तर अर्थात् उस आश्विनग्रह के ग्रहण के अनन्तर प्रथमत: वह सवनीययाग ही वहाँ प्रथम उपस्थित होता है। (इसी 'उपस्थिति को' स्थान प्रमाण कहा जाता है।) और वह प्रथम उपस्थित होने के कारण उसका अनुष्ठान प्रथमत: करना ही आवश्यक होता है। और शेष अग्नीषोमीय तथा अनुबन्धय पशु याग का अनुष्ठान क्रमश: सवनीययाग के पश्चात् किया जाना ही युक्तियुक्त होता है।।६४।।

अनुवाद– तथाहीति। *[उक्त विषय का स्पष्टीकरण इस प्रकार है] ज्योतिष्टोम याग के अन्तर्गत ३ पशुयाग हैं– (१) अग्नीषोमीय, (२) सवनीय तथा (३) आनुबन्ध्य। इन तीनों यागों के भिन्न-भिन्न देश हैं। 'अग्नीषोमीय' का औपवसथ्य नामक दिन में, 'सवनीय' का*

---

१. द्रष्टव्य– जै. सू. अ. ५, पा. १, अधि. ६

प्रदर्शयति-तथाहीत्यादिना। औपवसथ्येऽह्नित्युक्तार्थ एव अन्त इति। अवभृथादूर्ध्व-काल इत्यर्थः। अव्यक्तत्वादिति। स्वार्थचोदितदेवतारहितत्वादित्यर्थः। तदुक्तं न्याय-प्रकाशे अव्यक्तत्वं च। स्वार्थचोदितदेवताराहित्यमिति। अत इति। ज्योतिष्टोमविकार-त्वादित्यर्थः। तत्रेति। साद्यस्क्र इत्यर्थः। तच्चेति। श्रुतञ्चेत्यर्थः। तस्येति। सवनीयस्येत्यर्थः। प्रधानेति यथा प्रकृतिभूते ज्योतिष्टोमे सुत्याकालिकः सवनीयः प्रधानप्रत्यासन्नस्तथैव तद्विकृतिविशेषे साद्यस्क्रेऽपि तत्कालिकः। स प्रधानप्रत्यासन्न एवेति भावः। सवनीयदेशे साहित्ये तन्त्राणां स्वस्वस्थानातिक्रमसाम्यं हेत्वन्तरमाह-स्थानेति।।६५।।

अनुष्ठान सुत्याकाल में और 'आनुबन्ध्य' का अन्तिम दिन में अनुष्ठान होता है। 'साद्यस्क्र' सोमयाग विशेष है। देवता का निर्देश न होने से वह ज्योतिष्टोम याग का विकृति याग है। अत: अतिदेशवाक्य से 'साद्यसक्र' याग में तीनों पशुओं के सहानुष्ठान का विधान ***'सह पशूनालभेत'*** *(पशुओं का आलम्भन साथ-साथ करे) इस 'श्रुति' से होता है। पशुओं का यह सहानुष्ठान सुत्याकाल में होता है क्योंकि सवनीय की प्रधान के साथ प्रत्यासत्ति है तथा सवनीय देश में सहानुष्ठान होने से केवल अग्नीषोमीय एवं आनुबन्ध्य ही स्व स्व स्थान का अतिक्रमण करेंगे।।६५।।*

।। अर्थमीमांसा ।।

प्रस्तुत (उपर्युक्त) सभी वाक्यों का भावार्थ इसके पूर्व के प्रकरण में स्पष्ट रूप से निरूपित किया जा चुका है, अत: उनकी पुनरुक्ति करना यहाँ उचित नहीं होगा। जिन वाक्यों का पूर्व में उल्लेख नहीं किया गया है, वे दो ही वाक्य प्रस्तुत प्रकरण में विवेचनीय हैं– वे ये हैं– (१) **'स च अव्यक्तत्वाज्ज्योतिष्टोमविकारः'** और (२) **'स्थानातिक्रमसाम्याच्च'**। इन दो वाक्यों में से 'स्थानातिक्रमसाम्याच्च'– वाक्य का सम्बन्ध अग्रिम प्रकरण से होने के कारण उसका स्पष्टीकरण वहीं किया जायगा। अब जो शेष प्रथम वाक्य है– ['स च **अव्यक्तत्वाज्ज्योतिष्टोमविकारः**'] इस वाक्य में प्रयुक्त 'सः' 'साद्यस्क्र' नामक याग को व्यक्त करता है, अर्थात् **'सः'** का अर्थ है– 'साद्यस्क्र' नामक याग। इसके पूर्व निरूपित किया जा चुका है कि साद्यस्क्रयाग ज्योतिष्टोम का विकार– अर्थात् विकृतियाग है। यह साद्यस्क्रयाग ज्योतिष्टोम का विकृतियाग क्यों है? इस विषय में **'अव्यक्तत्वात्'** रूप कारण को यहाँ प्रथम वार (नवीन) निरूपित किया गया है। टीका में **'अव्यक्तत्वात्'** का अर्थ ['अव्यक्तत्वं च स्वार्थचोदितदेवताराहित्यम्'] दिया गया है। [**'का अव्यक्तता?** द्रव्यदेवतस्य अभावः। द्रव्यदेवतेन हि यागः अभिव्यज्यते। (शाबरभाष्य) 'यत्र तद्धितचतुर्थी 'मंत्रवर्णैर्यागार्थतयैव देवता विनियुक्ता तद्व्यक्तम्। इतरत्त्वव्यक्तम्।' (शास्त्रदीपिका][1]। **अव्यक्तत्व** का अर्थ है– अस्पष्टत्व। अब देखना है कि इस साद्यस्क्रयाग में– अस्पष्ट, अव्यक्त, या न कहा हुआ, ऐसा क्या है? देखने

---

१. अ. ८, पा. १, सू. १६

(६६) स्थानातिक्रमसाम्य

सवनीयदेशे ह्यनुष्ठानेऽग्नीषोमीयानुबन्ध्ययोः स्वस्वस्थानातिक्रमो भवति। अग्नीषोमीयदेशे त्वनुष्ठाने सवनीयस्य स्वस्थानातिक्रममात्रम्। अनुबन्ध्यस्य तु स्वस्थानातिक्रमः सवनीयस्थानातिक्रमश्च स्यात्। एवमनुबन्ध्यदेशेऽग्नीषोमीयस्य द्रष्टव्यः स्थानातिक्रमः ।।६६।।

तदेव स्वस्वस्थानातिक्रमसाम्यं प्रदर्शयति। सवनीयदेश इत्यारभ्य तथाचेति। प्राक्तनेन ग्रन्थेन स्वस्वस्थानातिक्रमो भवतीति यथा प्रकृतौ तथैव विकृतावपि चोदक–प्राप्तस्याग्नीषोमीयस्यौपवसथ्याहोरूपस्य स्वस्थानमात्रस्यातिक्रमो भवत्यानुबन्ध्यस्य च स्वान्तस्थानमात्रस्यातिक्रमो भवतीत्यर्थः। सवनीयस्य तु सुत्याकालरूपस्वस्थानस्य नातिक्रमो भवतीत्यत्र लाघवमिति भावः। त्रयाणामिति स्वस्वस्थानातिक्रम इति अग्नीषोमीयस्य देश औपवसथ्येऽह्नि सर्वेषामनुष्ठानेऽग्नीषोमीयस्य सवनीयप्रधान-

---

पर प्रतीत होता है कि देवता का उल्लेख नहीं किया गया है। अत: देवताराहित्य ही इस याग का अव्यक्तत्व है। प्रत्येक याग को किसी देवता की आवश्यकता होती है अर्थात् उसमें किसी देवता का होना आवश्यक होता है। यह न्यूनता-देवताराहित्य की पूर्ति ज्योतिष्टोम से चोदक–द्वारा हो सकती है। अत: साद्यस्क्रयाग प्रकृतिभूत ज्योतिष्टोम का विकृतियाग है। यह माना गया है।।६५।।

अनुवाद– सवनीयेति। *सवनीय (सुत्याकाल) में अनुष्ठान करने पर अग्नीषोमीय एवं आनुबन्ध्य ही अपने अपने स्थान का अतिक्रमण करते हैं। अग्नीषोमीय देश में अनुष्ठान करने पर केवल सवनीय अपने स्थान का अतिक्रमण करेगा। इसी प्रकार आनुबन्ध्य पशु के अपने स्थान का अतिक्रमण होता है और सवनीय स्थान का भी अतिक्रमण होता है। इसी प्रकार आनुबन्ध्य देश में अग्नीषोमीय के स्वस्थनातिक्रम के विषय में समझना चाहिये।।६६।।*

।। अर्थमीमांसा ।।

इसके पूर्व बताया जा चुका है कि ज्योतिष्टोम में पशु भिन्न-भिन्न दिनों में अनुष्ठित होते थे, किन्तु 'साद्यस्क्र' में (ज्योतिष्टोम के विपरीत) तीनों पशुओं का आलंभन एक ही दिन में होता है। क्योंकि **'सह पशूनालभेत'**– इस विधि–वाक्य के द्वारा 'साद्यस्क्र याग में तीनों पशुओं का आलंभन साथ-साथ अर्थात् एक ही दिन में किया जाय।' कहा गया है, और वह भी सवनीययाग के देश में–सुत्याकाल में। उक्त निश्चय के दो कारणों का उल्लेख भी पूर्व के प्रकरण में किया जा चुका है। उन दो कारणों में से (१) **प्रधानभूतसोमयागप्रत्यासत्तिलाभ**– इस प्रथम कारण का स्पष्टीकरण भी पूर्व में निरूपित किया गया है। अब दूसरा कारण– **'स्थानातिक्रमसाम्य'**– यह शेष है, इसका स्पष्टीकरण प्रस्तुत प्रकरण में दिया जा रहा है। (१) साद्यस्क्र याग सोमयाग की विकृति होने से उसे सोमयाग की प्रत्यासत्ति अर्थात् सांनिध्य प्राप्ति सवनीययाग में ही हो सकती है। अत: सवनीययाग में ही तीनों पशुओं का सहालंभन

सोमप्रत्यासत्तिबलात्साहित्यविधिप्राप्तसुत्याकालरूपसवनीयस्थानरूपस्वस्थानातिक्रमो भवति आनुबन्ध्यस्य तु तादृशसवनीयस्थानरूपस्वस्थानातिक्रमः स्वीयान्तस्थानातिक्रमो भवतीति । त्रयाणां स्वस्वस्थानातिक्रमः आनुबन्ध्यस्य देशे तु तेषामनुष्ठानेऽग्नीषोमीयस्यौपवसथ्याहोरूपस्य स्वस्थानस्यातिक्रमस्तादृशसवनीयस्थानरूपस्वस्थानस्यातिक्रमश्च भवति । आनुबन्ध्यस्य तु निरुक्तसवनीयस्थानरूपस्वस्थानस्यातिक्रमः सवनीयस्य तु स्वस्थानमात्रस्यातिक्रमश्च भवतीति । त्रयाणां स्वस्वस्थानस्यातिक्रम इत्यर्थः ।।६६।।

किया जाय,– इस कारण के अतिरिक्त दूसरा कारण है– (२) **स्थानातिक्रमसाम्य** । उसका स्पष्टीकरण **सारविवेचनी** नामक टीका में दिया गया है[1]।

यहाँ विशेष ध्यातव्य यह है कि प्रस्तुत मूल ग्रंथ का पाठ संभ्रमात्मक अथवा (Confusing-संदिग्ध) संभवत: अशुद्ध भी प्रतीत होता है। उसका अनुवाद करते समय **डॉ. थीबो**[2] **ने** पाठ की अशुद्धता की ओर संकेत किया है।

संप्रति जिस मूल-पाठ को स्वीकार किया गया है, उस पाठ का अवलोकन करने से यह ज्ञात होता है कि जब सवनीय देश में सहालंभन (तीनों पशुओं का) अनुष्ठान करना हो तब अग्नीषोमीय और अनुबन्ध्य– इन दोनों में से प्रत्येक को अपने-अपने स्थान का परित्याग करके 'सवनीय' प्रदेश में जाना होता है। यह उनमें एक-एक स्थानातिक्रमसाम्य है। परन्तु यदि 'अग्नीषोमीय' देश में वह अनुष्ठान करना हो तो, 'सवनीय' पशु को अपने प्रदेश का त्याग करके 'अग्नीषोमीय'-देश में जाना होता है, और 'अनुबन्ध्यपशु' को अपने स्वयं के प्रदेश का त्याग और सवनीय-देश का भी त्याग करना होता है। इस प्रकार 'सवनीय' को एक और 'अनुबन्ध्य' को दो देशों का अतिक्रमण करना होता है, अत: उनमें स्थानातिक्रमसाम्य नहीं हो पाता। इसी प्रकार यदि आनुबन्ध्य देश में अनुष्ठान करने का निश्चय हो तो, सवनीय को अपने देश का त्याग करके अनुबन्ध्य-प्रदेश में जाना होता है और अग्नीषोमीय पशु को तो

---

१. 'अग्नीषोमीयस्य स्वस्थानं परित्यज्य सवनीयदेशे उत्कर्षः । आनुबन्ध्यस्यापि स्वस्थानं परित्यज्य सवनीयदेशे अपकर्षः । इत्युभयोरेकैकं स्वं स्वं स्थानं परित्यज्य स्थानान्तरप्राप्तिरूपं साम्यं भवतीत्यर्थः ।।''

२. ''For, if the three sacrifices are performed at the place of the सवनीय, only the अग्नीषोमीय and the अनुबन्ध्य are removed from their proper places; while in the case of the three sacrifices being performed either on the day of the अग्नीषोमीय or on the day of the अनुबन्ध्य, all three are removed from their proper places; for, if they are performed on the day of the अग्नीषोमीय पशु, the latter itself cannot be said to have its proper place, as it thereby is removed from the pressing of the सोम, proximity to which becomes indispensible, as soon as the injunction of all the three sacrifices having to be performed together is observed; the same resoning, if applied to the अनुबन्ध्य पशु, shows that the अनुबन्ध्य day is not the proper one.''

(६७) सवनीयस्य प्रथममनुष्ठानम्

तथा च सवनदेशे सर्वेषामनुष्ठाने कर्तव्ये सवनीयस्य प्रथममनुष्ठानम् । आश्विनग्रहणानन्तरं हि स यस्य प्रथममनुष्ठानं सवनीयदेशः । तथा च प्रकृतावाश्विनग्रहं कृत्वा त्रिवृता यूपं परिवीय आग्नेयं सवनीयं पशुमुपाकरोतीत्याश्विनग्रहणानन्तरं सवनीयो विहित इति साद्यस्क्रेऽप्याश्विनग्रहणे कृते सवनीय एवोपस्थितो भवति । अतो युक्तं तस्य स्थानात्प्रथममनुष्ठानमितरयोस्तु पश्चादित्युक्तम् ।।६७।।

तथाचेति उक्तयुक्त्या सवनीयदेशे त्रयाणामनुष्ठाने कर्तव्ये चेत्यर्थः वेकृतसवनीयस्थाननिर्णयोपायतया प्राकृतं सवनीयस्थानं श्रुत्या प्रदर्शयति । प्रकृतावित्यादिना । त्रिवृता त्रिगुणितरज्ज्वा परिवीय परिवेष्टनं कृत्वा आश्विनः सोमग्रहः तद्ग्रहणानन्तरं ज्योतिष्टोमे सवनीयो विहित इति भावः । इति यतः प्रकृतावाश्विनग्रहणानन्तरं स

स्वयं के प्रदेश का तथा सवनीय-प्रदेश का त्याग– इस प्रकार दोनों ही प्रदेशों का अतिक्रमण करना पड़ेगा– अत: यहाँ भी स्थानातिक्रमसाम्य संभव नहीं हो पाता। इसके अतिरिक्त यदि और अधिक लाघव-गौरव का विचार किया जाए तो, सवनीय-देश में सहालंभन का अनुष्ठान करने पर केवल दो ही स्थानातिक्रम होते हैं और अग्नीमोषीय अथवा अनुबन्ध्यप्रदेश में वह अनुष्ठान करना हो तो, उस प्रत्येक प्रसंग पर तीन-तीन स्थानातिक्रम करना आवश्यक होता है। इस दृष्टि से देखने पर सवनीय-देश में अनुष्ठान करने में ही स्थानातिक्रम विषयक लाघव प्रतीत होता है। और इसीलिए सवनीय देश में ही सहालंभन का अनुष्ठान करना न्यायसङ्गत है।।६६।।

अनुवाद– तथाचेति । *सुत्या (सवनीय) काल में सभी पशुओं का सहानुष्ठान कर्तव्य होने पर सर्वप्रथम सवनीय पशु का ही अनुष्ठान किया जाता है। क्योंकि आश्विनग्रहण के अनन्तर ही सवनीय देश प्राप्त होता है। प्रकृति याग में* ***'आश्विनग्रहं कृत्वा त्रिवृता यूपं परिवीय आग्नेयं सवनीयं पशुमुपाकरोति'*** *(आश्विनग्रह ग्रहण करके त्रिगुणित रज्जु से यूप को वेष्टित करके अग्निदेवताक सवनीय पशु का उपाकरण करे) इस वाक्य से आश्विनग्रह ग्रहण करने के पश्चात् सवनीय की उपस्थिति होती है। इस हेतु स्थानक्रम से सवनीय पशु का सर्वप्रथम अनुष्ठान करना उचित है। अन्य दोनों पशुओं का बाद में अनुष्ठान होता है।।६७।।*

।। अर्थमीमांसा ।।

प्रस्तुत प्रकरण में 'स्थानक्रम' के सम्बन्ध में अब किसी नवीन विषय का प्रतिपादन नहीं किया जा रहा है। केवल पूर्व के तीन प्रकरणों में स्थानक्रम से सम्बन्धित निरूपित विषय को लक्षण से समन्वित करते हुए पुन: प्रतिपादित किया गया है। 'सवनीय' देश में तीनों यागों का अनुष्ठान करने का निश्चय किया जाने पर, उन तीनों में से 'सवनीय' याग का ही

विहितोऽतोहेतोरित्यर्थः । आश्विनग्रहण इति । अत्रापि आश्विनग्रहणानन्तरमेव तस्य चोदकप्राप्तत्वेन तदनन्तरमेव तदुपस्थितिरितिभावः । तस्येति । सवीयस्येत्यर्थः । स्थानादिती । उपस्थितेरित्यर्थः । इतरयोरिति । अग्नीषोमीयानुबन्ध्ययोरित्यर्थः । ननु तयोः पश्चादनुष्ठानेऽपि कस्य पृथममनुष्ठानं कस्य पश्चादित्यनिर्णये प्रयोगविक्षेपापत्तेरित्यत आह । उक्तमिति । पञ्चमाध्यायस्य प्रथमे पाद इति शेषः । तत्र हि स्थानात्सवनीयस्य प्राथम्ये निश्चते स्थानभ्रष्टयोस्तयोरग्नीषोमीयस्य प्रथममनुष्ठानमानुबन्ध्यस्य पश्चादित्युक्तमित्यर्थः । उक्तं हि न्यायमालाविस्तरे साद्यस्क्र-नामकः कश्चित्सोमयागः । तत्र श्रूयते सह पशूनालभत इति प्रकृतावग्नीषोमीय-पशुरौपवसथ्येदिने आलभ्यते सवनीयपशुः श्रुत्यादिने प्रातः सवन आश्विनग्रहा-दूर्ध्वमालभ्यते आनुबन्ध्यः पशुरवभृथादूर्ध्वमालभ्यते इह तु त्रयोऽपि पशवः सहालब्धव्याः सोऽयं सहालम्भः श्रुत्यादिने आश्विनग्रहादूर्ध्वं सवनीयस्थाने भवतीत्येत-दवश्यमभ्युपेतव्यं तथा सति प्रधानसोमप्रत्यासत्तिलाभादिति । सवनीयो हि स्वस्थान एव वर्तते आश्विनग्रहसामीप्यस्य सवनीयस्थानत्वात् । आश्विने गृहीते सति सवनीय एव बुद्धिस्थे भवति प्रकृतौ तदानन्तर्यस्य क्लृप्तत्वात् ततः सवनीयस्य प्राथम्ये स्थानान्निश्चिते सति स्थानभ्रष्टयोरग्नीषोमीयानुबन्ध्ययोः प्रकृताविवपूर्वोत्तरभावा द्रष्टव्या इति । यद्वा । उक्तमिति । आदौ सवनीयपशोरनुष्ठानमितरयोः पश्चादित्यत्र पूर्वत्रोक्तमित्यर्थः ।।६७।।

अनुष्ठान प्रथमत: प्राप्त होता है। क्योंकि, आश्विनग्रहण के अनन्तर जो क्रमप्राप्त स्थान है, वही सवनीययाग का स्थान है। अर्थात् प्रकृतियाग 'ज्योतिष्टोम' में आश्विनग्रहण के अनन्तर सवनीय पशु का अनुष्ठान विहित है– **'आश्विनग्रहणानन्तरं हि सवनीयदेशः'**। साद्यस्क्र याग के प्रकृतिभूत ज्योतिष्टोमयाग में **'आश्विनग्रहं कृत्वा त्रिवृता यूपं परिवीय आग्नेयं सवनीयं पशुमुपाकरोति'**– कहा गया है। इस वाक्य के **'त्रिवृता परिवीय'** का अर्थ है– **'त्रिगुणितरज्ज्वा परिवेष्टनं कृत्वा'**। अर्थात् 'आश्विन(ग्रह) ग्रहण करने के अनन्तर त्रिगुणित तन्तुओं से ग्रथित रज्जू से यूप का परिवेष्टन करके 'आग्नेय' नामक सवनीय पशु का उपाकरण संस्कार करना चाहिए।' अत: इस वाक्य से यह स्पष्ट हो जाता है कि आश्विन ग्रहण के अनन्तर सवनीयपशुयाग किया जाए। यही प्रकृतियाग में विहित है। अत: उसी प्रकृतियाग की जो विकृति **साद्यस्क्र** है उसमें भी आश्विन ग्रहण के पश्चात् सवनीय याग ही वहाँ प्रथमत: उपस्थित होता है। और इसीलिए स्थानक्रम रूपी प्रमाण के आधार पर सवनीययाग का ही अनुष्ठान प्रथम करना योग्य है। और उस अनुष्ठान के अनन्तर प्रकृति में विहितानुसार क्रमश: 'अग्नीषोमीय' का प्रथम और तत्पश्चात् 'अनुबन्ध्य' पशु का अनुष्ठान करना योग्य है,– यह सिद्ध होता है[१]।।६७।।

---

१. द्रष्टव्य– जै. सू. अ. ५, पा. १, अधि. ६,
तयोरपि अग्नीषोमीयानुबन्ध्ययोरपि. मध्ये कस्य प्रथममनुष्ठानमिति चिन्तायां तत्र प्रकृतिदृष्टक्रमस्य परित्यागे प्रमाणाभावेन प्रथमतोऽग्नीषोमीयस्य अनन्तरमानुबन्ध्यस्य इत्येव क्रमो बोद्धव्यः ।' **(सारविवेचिनी)**

(६८) मुख्यक्रमलक्षणम्

प्रधानक्रमेण योऽङ्गानां क्रमः आश्रीयते स मुख्यः क्रमः। येन हि क्रमेण प्रधानानि क्रियन्ते तेनैव क्रमेण तेषामङ्गान्यनुष्ठीयन्ते चेत् तदा सर्वेषामङ्गानां स्वैः स्वैः प्रधानैस्तुल्यं व्यवधानं भवति। व्युत्क्रमेणानुष्ठाने केषाञ्चिदङ्गानां स्वैः प्रधानैरत्यन्तमव्यवधानं केषाञ्चिदत्यन्तं व्यवधानं स्यात्। तच्चायुक्तम्। प्रयोगविध्यवगतसाहित्यबाधापत्तेः। अतः प्रधानक्रमोऽपि अङ्गक्रमे हेतुः। अतएव प्रयाजशेषेणादावाग्नेयहविषोऽभिघारणं पश्चादैन्द्रस्य दध्नः। आग्नेयैन्द्रयागयोः पौर्वापर्यात्। एवं च द्वयोर्द्वयोरभिघारणयोः स्वस्वप्रधानेन तुल्यमेकान्तरितं व्यवधानम्। व्युत्क्रमेणाघारे त्वाग्नेयहविरभिघारणाग्नेययागयोरत्यन्तमव्यवधानम्। ऐन्द्रदध्यभिघारणैन्द्रयागयोर्द्व्यन्तरितं व्यवधानं तच्चायुक्तमित्युक्तमेव ।।६८।।

अथ मुख्यक्रमं लक्षयति प्रधानक्रमेणेति। तेनैव क्रमेणेत्यत्र यदेति शेषस्तदेत्यनुरोधात्। यत्र ह्यनेकेषां साङ्गानां प्रधानानां सहकर्तव्यता तत्र प्रयोगविधिनाङ्गप्रधानयोः साहित्यावगतावपि प्रधानान्तरसाहित्यानुरोधेन यावदनुज्ञातव्य-

---

*अनुवाद– **प्रधानेति**। प्रधान द्वारा निर्णीत क्रमानुसार जो अङ्गों के अनुष्ठान का क्रम होता है उसे **'मुख्यक्रम'** कहा जाता है। जिस क्रम से प्रधान का अनुष्ठान किया जाता है उसी क्रम से उनके अङ्गों का अनुष्ठान किये जाने पर ही सभी अङ्गों का अपने अपने प्रधानों से **'तुल्य व्यवधान'** होता है। किन्तु विपरीतक्रम से अनुष्ठान करने पर कुछ अङ्गों का अपने प्रधान के साथ अत्यन्त अव्यवधान (सामीप्य) हो जायगा और कुछ अङ्गों का अपने प्रधान के साथ अत्यन्त व्यवधान हो जायगा। किन्तु इस प्रकार की दुर्व्यवस्था उचित नहीं है। क्योंकि 'प्रयोगविधि' जिस सहभाव अथवा तुल्यव्यवधान का बोध कराती है उसमें बाधा पड़ती है। अतः अङ्गों के क्रम में प्रधान का क्रम कारण है। अतएव प्रयाज के अनुष्ठान से अवशिष्ट घृत से प्रथम **'आग्नेयहवि'** का अभिघारण होता है और पश्चात् **'ऐन्द्रदधि'** का अभिघारण होता है, क्योंकि 'आग्नेययाग' और 'ऐन्द्रयाग' में पूर्वापरभाव विद्यमान है। एवञ्च दोनों अभिघारणों का अपने प्रधान से एकान्तरित व्यवधान होता है। किन्तु व्युत्क्रम से अनुष्ठान करने पर 'आग्नेय हवि का अभिघारण' एवं 'आग्नेय याग' में अतिसामीप्य (अव्यवधान) होता है, तथा 'ऐन्द्रदधि का अभिघारण' एवं 'ऐन्द्रयाग' के मध्य दो के अन्तर से व्यवधान होता है। इस प्रकार का अव्यवधान अथवा व्यवधान उचित नहीं है यह पूर्व में कहा भी गया है।।६८।।*

।। अर्थमीमांसा ।।

अब ग्रन्थकार क्रमानुसार पांचवें प्रमाण-**मुख्यक्रम**-का लक्षण प्रस्तुत करते हैं **'प्रधानक्रमेण**

वधानस्वीकारेऽपि तदधिकव्यवधाने प्रमाणाभावात्प्रधानप्रत्यासत्त्यनुग्रहाय मुख्यक्रमेणैवाङ्गक्रमनियमः। अतएव प्रवृत्तौ अङ्गनिरूपितप्रत्यासत्त्यनुग्रहो बीजं मुख्यक्रमे तु प्रधाननिरूपितप्रत्यासत्यनुग्रहो बीजमिति। तयोर्भेद इति भावः। प्रधानक्रमव्युत्क्रमेणङ्गानुष्ठाने बाधकमाह-व्युत्क्रमेणेत्यादिना। तत्रापीष्टापत्तिमाशङ्क्य प्रयोगविध्यवगततत्साहित्यबाधापत्तिरूपमनिष्टं बाधकमाह-तच्चायुक्तमिति। केषाञ्चिदङ्गानान्तैरत्यन्ततमव्यवधानं केषाञ्चिदत्यन्तव्यवधानं चेति शेषः। अभिघारणमिति क्षरद्घृतेनाभिषेक इत्यर्थः। एवञ्चेति मुख्यक्रमेण हविरभिघारणरूपाङ्गक्रमे चेत्यर्थः। एकान्तरितं व्यवधानमिति आग्नेयहविरभिघारणाग्नेययागयोरैन्द्रयागहविरभिघारणे न व्यवधानादित्येकान्तरितं व्यवधानमित्यर्थः। तथा चादावाग्नेयहविरभिघारणं तत् ऐन्द्रस्य हविषोऽभिघारणं तत आग्नेययागः ततश्चैन्द्रयाग इत्येव क्रमो मुख्यक्रमात् सिद्धो भवतीति भावः। यदित्वादावैन्द्रहविषोभिघारणं तत आग्नेयहविषस्तत्क्रियते ततश्च याज्यानुवाक्यक्रमवशादाग्नेययागस्यानुष्ठानं तत ऐन्द्रयागस्यानुष्ठानामिति क्रमः स्वीक्रियते।

योऽङ्गानां क्रमः स मुख्यक्रमः'– अर्थात् प्रधान द्वारा निर्णीत क्रमानुसार अङ्गों के अनुष्ठान का जो क्रम है, उसे **'मुख्य-क्रम'**[1] कहा जाता है। अंगों की दृष्टि से प्रधान ही 'मुख्य' होता है, अत: मुख्यरूप से प्रधान के द्वारा क्रम निर्णीत होता है, इसलिए उसे 'मुख्यक्रम' कहा जाता है [मुख्यानां क्रम इव क्रम: मुख्यक्रम:] जिस 'क्रम' से प्रधान कर्म किये जाते हैं, उसी क्रम से जब उनके अंगों का भी अनुष्ठान किया जाता है, तब सभी अंगों का अपने-अपने प्रधान कर्मों के साथ तुल्य व्यवधान (अन्तर) रहता है। (किन्तु) विपरीत क्रम से (व्युत्क्रम से) अनुष्ठान करने पर किसी अङ्ग का अपने प्रधान के साथ सामीप्य अर्थात् अत्यन्त अव्यवधान हो जायगा और किसी अंग का अपने प्रधान कर्मों के साथ अत्यन्त व्यवधान (= दूर) हो जायगा, यह ठीक नहीं है, क्योंकि इस प्रकार कम या अधिक व्यवधान (अन्तर) प्रधान और उनके अंगों में उत्पन्न होने प्रयोगविधि द्वारा बोधित सहभाव-साहचर्य या तुल्य व्यवधान में बाधा होगी। अत: अङ्गों के क्रम में प्रधान का 'क्रम' ही कारण है।

उक्त विवेचन का तात्पर्य यह है कि जिस क्रम का आधार ग्रहण करके प्रधानों का अनुष्ठान होता है उसी क्रम का आधार (अवलंबन) उनके अंगों के लिए भी होता है, इसलिए क्रमानुसार अनुष्ठान में प्रधान एवं अंगों में तुल्य व्यवधान रहता है। **'तुल्य–व्यवधान'** से प्रयोजन विशेष की सिद्धि होती है। **'प्रयोगविधि'** के निरूपण प्रसंग में यह निर्देशित किया जा चुका है कि यह विधि अनुष्ठान को अविलम्ब सम्पन्न कराने का बोध कराता है।[2] किन्तु यह तभी सम्भव होता है जब प्रधान एवं उनके अंगों का अनुष्ठान साथ-साथ हो अर्थात् उनमें अनुष्ठान साहित्य हो। प्रकृत में ध्यातव्य है कि यह नियम तभी संभव और उपयुक्त होता है

---

१. **मुख्यक्रम** को मध्यमपदलोपी मानने पर उसके विग्रह का रूप इस प्रकार होगा– 'मुख्यनिर्णीत क्रम:, मुख्यै: कर्मभि: निर्णीत: क्रम:, मुख्यानां कर्मणां क्रमेण निर्णीत: क्रम:'– इत्यर्थ:।

२. प्रयोगप्राशुभावबोधको विधि: प्रयोगविधि:।

तदा कस्यचिदत्यन्तमव्यवधानं कस्यचिदत्यन्तव्यवधानं च स्यात्। तच्चायुक्तं प्रयोगविध्यवगततत्साहित्यबाधापत्तेरित्यभिप्रेत्याह-व्युक्रमेणेत्यादिना। उक्तमेवेति। तच्चायुक्तं प्रयोगेत्यादौ दूषणमुक्तमेवेत्यर्थः।।६८।।

जब एक ही प्रधान और उसके कुछ अङ्गों का ही अनुष्ठान करना हो, और उस प्रसंग में प्रधान और उसके अंगों में विलम्बोत्पादक कोई व्यवधान न आता हो। किन्तु इस नियम को एक अपवाद यह है कि– जब कई प्रधान कर्मों का अनुष्ठान यदि उनके अङ्गों सहित करना पड़ता है तब यह नितान्त असम्भव है कि सभी का अनुष्ठान एक साथ अर्थात् एककालावच्छेदेन हो। अत: कुछ व्यवधान तो होना स्वाभाविक है। अत: आवश्यक होने वाले व्यवधान को स्वीकार करना ही पड़ता है। परन्तु उस आवश्यक व्यवधान की अपेक्षा अधिक व्यवधान यदि किसी कारणवश उत्पन्न होता है, तो वह स्वीकार्य होना सम्भव नहीं हैं। अत: उस व्यवधान का परिहार करने के उद्देश्य से जिस क्रम से प्रधानकर्म का अनुष्ठान किया जाता है, उसी क्रम से अंगों का अनुष्ठान भी किया जाना चाहिए, यह नियम निश्चित किया गया है। तात्पर्य यह है कि प्रधान एवं उसके अंगों के अनुष्ठान के व्यवधान का काल समान हो। यह तभी सम्भव हो सकता है जब अंगों के अनुष्ठान का क्रम प्रधान के अनुष्ठान क्रम से हो। अर्थात् प्रधान कर्म और उसके अंगों में (कम से कम तुल्य व्यवधान से) सांनिध्य (प्रत्यासत्ति) हो। परन्तु यदि इस प्रक्रिया का परिपालन नहीं किया जाता, अर्थात् प्रधानकर्म के क्रम से अंगों का अनुष्ठान न कर, अंगों के क्रम में यदि कुछ व्युत्क्रम किया गया तो प्रधान और उसके अंगों में एक जैसा अन्तर न रहकर पूर्वोक्त प्रधानप्रत्यासत्ति का नियम भंग हो जाता है। अत: प्रधानकर्म के क्रमानुसार ही अंगों के अनुष्ठान का क्रम निश्चित किया जाना चाहिए।

यहाँ तक सामान्य शब्दों में जिस प्रधानप्रत्यासत्ति के तत्त्व का निरूपण (प्रतिपादन) किया गया है, उसी तत्त्व को **'अतएव प्रयाजशेषेण'** इत्यादि वाक्यों के उदाहरण द्वारा स्पष्ट रूप से सिद्ध करके प्रदर्शित किया जा रहा है। यह तो पूर्व से ही सुविदित है कि दर्शपूर्णमास में छ: प्रधान याग विहित हैं। उनमें से (१) **आग्नेययाग** और (२) **ऐन्द्रयाग**– इन दो यागों को उदाहरणार्थ उद्धृत किया है। उक्त दो यागों में से **आग्नेययाग** का अनुष्ठान प्रथम और तत्पश्चात् **एन्द्रयाग** का अनुष्ठान किया जाता है। इनमें 'अष्टाकपाल (अष्टसु कपालेषु संस्कृत:) पुरोडाश'– **आग्नेययाग** का हविर्द्रव्य विहित है। और 'दधि' **ऐन्द्रयाग** का हविर्द्रव्य विहित है।[१] और इन दोनों ही हविर्द्रव्यों अभिघारण का संस्कार करने के अनन्तर उन हविर्द्रव्यों से आग्नेययाग और ऐन्द्रयाग का अनुष्ठान किया जाता है। अभिघारण का अर्थ है– **'क्षरद्घृतेनाभिषेकः'**। अर्थात् जिस हविर्द्रव्य का हवन किया जाना है, उस पर तरलघृत की धारा से जो संस्कार किया जाता है, उस संस्कार को 'अभिघारण' कहा जाता है। आग्नेय याग के पूर्व पंच प्रयाजों की आज्याहुति दी जाती हैं, और उस प्रयाजानुष्ठान से अवशिष्ट घृत के द्वारा उक्त पुरोडाश और दधि– इन हविर्द्रव्यों का अभिघारण–**'प्रयाजशेषेण हवींषि अभिघारयति'** इस 'श्रुति' के अनुसार किया जाता है। इस प्रकार आग्नेययाग का हविर्द्रव्य (१) जो पुरोडाश

---

१. द्रष्टव्य- 'यदाग्नेयोऽष्टाकपालोऽमावास्यायां भवति, ऐन्द्रदधि' (तै.सं. २/५/३)

है, उसका अभिघारण प्रथमत: किया जाता है, और ऐन्द्र याग का हविर्द्रव्य (२) जो दधि है, उसका अभिघारण तत्पश्चात् किया जाता है। और उसके अनन्तर (३) आग्नेययाग प्रथम और (४) ऐन्द्रयाग तदनन्तर,– इसी क्रम से इन दोनों ही यागों का अनुष्ठान किया जाता है। और इसी क्रम से कर्मों का अनुष्ठान किये जाने पर– अर्थात् (१) पुरोडाश का अभिघारण और (२) दधि का अभिघारण, इन दो अंगों के अनुष्ठान में अपने-अपने जो (३) आग्नेय और (४) ऐन्द्र, ये प्रधान याग हैं, उनमें केवल एक ही कर्म का तुल्यव्यवधान रहता है। वह किस प्रकार रहता है? यह निम्नांकित आकृति से त्वरित ध्यान में आयगा–

क्रमेण अनुष्ठाने

(१) आग्नेयपुरोडाश– अभिघारण (अंग)	(२) ऐन्द्र दधि– अभिघारण (अंग)
(३) आग्नेय याग (प्रधान)	(४) ऐन्द्रयाग (प्रधान)

ऊपर अंकित आकृति से यह त्वरित ध्यान में आयगा कि (१) आग्नेय पुरोडाश का अभिघारण और (३) आग्नेय याग,– इन दो अंग-प्रधान में (२) 'ऐन्द्रदधि-अभिघारण' रूप केवल एक कर्म का व्यवधान होता है। उसी प्रकार (२) ऐन्द्र दधि– अभिघारण और (४) ऐन्द्रयाग– इन दो अंग-प्रधान में भी (३) **आग्नेययाग–** रूप केवल एक कर्म का व्यवधान रहता है। इससे स्पष्ट है कि मुख्य क्रम से अनुष्ठान करने में प्रधान एवं अङ्ग के क्रम में व्यवधान एक का ही है। (चित्र में १ एवं ३ में २ का, तथा २ एवं ४ में ३ का।) जो तुल्य-व्यवधान कहा जाता है। अर्थात् दोनों ही स्थानों पर एकांतरित तुल्यव्यवधान है। यह प्रधानप्रत्यासत्ति की दृष्टि से सह्य और सयुक्तिक है।

किन्तु व्युत्क्रम का आश्रय ग्रहण करने पर तुल्य व्यवधान नहीं रह पाता, क्योंकि पूर्व में (१) आग्नेयपुरोडाश का अभिघारण प्रथम किया गया था, और (२) ऐन्द्रदधि का अभिघारण तत्पश्चात् अनुष्ठित किया गया था। अब इस क्रम को बदलना है, अर्थात् (१) ऐन्द्रदधि का अभिघारण प्रथम करते हैं और (२) आग्नेयपुरोडाश का अभिघारण तत्पश्चात् करेंगे, किन्तु यहाँ 'श्रुति' का कोई स्पष्टप्रमाण नहीं है। यद्यपि व्युत्क्रम किया जा रहा है। तथापि (१) आग्नेययाग और (२) ऐन्द्रयाग का क्रम हम नहीं बदल सकते। क्योंकि याज्या और अनुवाक्या के क्रमानुसार (१) **प्रथम** आग्नेययाग और (२) ऐन्द्रयाग उसके पश्चात् अनुष्ठित करने का क्रम निश्चित किया जा चुका है, क्योंकि तै. ब्रा. में **'अग्निर्मूर्धादिवः'**[1] तथा **'भुवो यज्ञस्य'**– आग्नेययाग की याज्यानुवाक्या का पाठ होने के पश्चात् **प्राजापत्य, अग्नीषोमीय** तथा **ऐन्द्राग्न** की याज्यानुवाक्याओं का पाठ विहित है। और तदनन्तर **'ऐन्द्र सानसिं रयिं'** तथा **'प्रस साहिषे'** ऐन्द्र याग की याज्यानुवाक्याएँ पठित हैं। अब देखना है कि इस व्युत्क्रम की स्थिति में किस-किस में कितना व्यवधान उत्पन्न होता है, यह अग्रिम आकृति से देखते हैं—

व्युत्क्रमेण अनुष्ठाने

(१) ऐन्द्रदधि– अभिघारण (अंग)	(२) आग्नेयपुरोडाश– अभिघारण (अंग)

१. द्रष्टव्य– ३।५।७

(६९) मुख्यः क्रमः पाठक्रमाद्दुर्बलः

स च मुख्यः क्रमः पाठक्रमाद्दुर्बलः। मुख्यक्रमो हि प्रमाणान्तर-सापेक्षप्रधानक्रमप्रतिपत्तिसापेक्षतया विलम्बितप्रतिपत्तिकः। पाठक्रमस्तु निरपेक्षस्वाध्यायपाठक्रममात्रसापेक्षतया न तथेति बलवान्।।६९।।

इदानीं पाठक्रमान्मुख्यक्रमस्य दौर्बल्यमाह-सचेति। तत्र हेतुमाह-मुख्यक्रमो हीति। यतो मुख्यक्रमः प्रमाणान्तरसापेक्षाया प्रधानक्रमस्य प्रतिपत्तिस्तत्सापेक्षत्वेन विलम्बितप्रतिपत्तिकोऽतः पाठक्रमादुर्बल एवेत्यर्थः। किञ्च निरपेक्षो यः स्वाध्यायपाठक्रमस्तन्मात्रसापेक्षत्वेन यतो न दुर्बलः पाठक्रमो ऽतो बलवानिति। पाठक्रमस्य ततो

---

(३) आग्नेययाग (प्रधान) (४) ऐन्द्रयाग (प्रधान)

उक्त आकृति से हम यह देखते हैं कि **आग्नेयपुरोडाश**– अभिघारण और **आग्नेययाग**– ये दोनों ही अव्यवधान पूर्वक एक-दूसरे के अत्यन्त निकट आ गये हैं। और **ऐन्द्रदधि**– अभिघारण तथा ऐन्द्रयाग– इन दोनों में दो कर्मों का व्यवधान उत्पन्न हो गया है। तात्पर्य यह है कि विपरीतक्रम में व्यवधान वैषम्य है। अत: इस प्रकार के कम-अधिक व्यवधान उत्पन्न होने से प्रधानप्रत्यासत्ति के तुल्यता में व्यत्यय आना और प्रयोगविधि में निरूपित अविलंबात्मकसाहित्य में बाधा उत्पन्न होना, योग्य नहीं है। यह व्यवस्था ठीक नहीं है। अत: प्रधानक्रम के अनुरोध से ही अंगों का क्रम ग्रहण किया जाए। तात्पर्य यह है अङ्गक्रियाओं के अनुष्ठान में प्रधानक्रम को ही ग्रहण किया जाता है।

अब एक शंका यह है कि प्रस्तुत प्रकरण के मूल वाक्यों के अन्तिम **'तच्चायुक्त-मित्युक्तमेव'**– इस वाक्य में 'उक्तमेव' यह जो कहा गया है, वह पूर्व में कहाँ उक्त किया गया है? इस **शंका** का **उत्तर** यह है कि प्रस्तुत प्रकरण में ही **'तच्चायुक्तं प्रयोगविध्यवगत-साहित्यबाधापत्तेः'**– यह जो पूर्व में कहा गया है, उसी के उद्देश्य से यहाँ अन्त में **'उक्तमेव'**– कहा गया है।।६८।।

अनुवाद– स चेति। *यह 'मुख्यक्रम' पाठक्रम की अपेक्षा दुर्बल होता है। क्योंकि 'मुख्यक्रम' का आधार प्रधानक्रम का ज्ञान है। प्रधानक्रम, पाठक्रम पर आधारित है। अत: 'प्रधानक्रम' प्रमाणान्तर की अपेक्षा करता है। इस प्रकार मुख्यक्रम का ज्ञान विलम्ब से होगा। परन्तु पाठक्रम से स्वाध्याय पाठक्रम की ही अपेक्षा होती है, श्रुति (स्वाध्याय) के पाठक्रम के अतिरिक्त इसे किसी की भी अपेक्षा नहीं होती, स्वाध्याय पाठक्रम निरपेक्ष होता है, इस हेतु पाठक्रम, मुख्यक्रम से बलवान् माना जाता है।।६९।।*

।। अर्थमीमांसा ।।

यहाँ तक मुख्यक्रम के लक्षण तथा उसके उदाहरण के सम्बन्ध में विवेचन किया गया है। अब इसके पश्चात् प्रस्तुत प्रकरण में जो पांचवां मुख्यक्रम है, वह तृतीय पाठक्रम की

वैषम्यमाह-पाठक्रमस्त्विति। अत्रेदं बोध्यम्। दर्शपूर्णमासयोरुपांशुयाज्योऽग्नीषोमीयश्चेत्येतदुभयं पौर्णमास्यामाम्नातं तत्रोपांशुयाजस्याज्यं द्रव्यं आज्यस्य धर्मा उत्पवनं चतुर्गृहीतत्वादय अग्नीषोमीयस्य पुरोडाशो द्रव्यं तस्य धर्मा निर्वापावघातादयः। तत्र चायं पूर्वपक्षः मुख्यौ यागावुपांशुयाजाग्नीषोमीयौ पूर्वोत्तरभाविनौ भवतः। तथा च सति अङ्गक्रमस्य प्रधानक्रमेणैवाश्रयणीयत्वात्प्रथममाज्यधर्माणामेवानुष्ठानं न निर्वापादीनामिति। तत्र सिद्धान्तः औषधधर्माः निर्वापादयः पूर्वमाम्नाताः आज्यधर्मास्तु पश्चात् तत्र मुख्यक्रमप्रयुक्तमाज्यधर्माणां प्राथम्यं बाधित्वा पाठक्रमानुरोधेनौषधधर्मा एव प्रथमतोऽनुष्ठेयाः पाठक्रमो हि वैदिकैः शब्दैः सह सा प्रतीयते मुख्यक्रमानुसारी तु क्रमः उपपत्या कल्पनीयः।।६९।।

अपेक्षा दुर्बल क्यों? और कैसे होता है, स्पष्ट कर रहे हैं– इस प्रश्न को सम्यक् रीत्या समझने के लिए– अर्थात् मुख्यक्रम की उत्पत्ति किस प्रकार होती है इसे सर्वप्रथम समझने का प्रयत्न करते हैं। 'मुख्यक्रम' के उत्पन्न होने में प्रधानक्रम के ज्ञान की (प्रतिपत्ति की) अपेक्षा होती है। क्योंकि, प्रधानकर्म के क्रम का ज्ञान जब होता है, तब प्रधानकर्म के अनुरोध से मुख्यक्रम के तत्त्वानुसार हम अंगों के क्रम को निश्चित कर सकते हैं। इससे यह स्पष्ट होता है कि 'मुख्यक्रम' प्रधानक्रमप्रतिपत्तिसापेक्ष होता है। इसके पूर्व **आग्नेययाग** और **ऐन्द्रयाग**–इन दो प्रधान यागों के सम्बन्ध में हम देख चुके हैं कि 'आग्नेययाग' की याज्या और अनुवाक्याओं का पाठ प्रथम निरूपित किया गया है और 'ऐन्द्रयाग' की याज्या तथा अनुवाक्याओं का पठन तत्पश्चात् किया गया है। और इस पाठक्रम के आधार पर ही आग्नेययाग प्रथम करें और तदनन्तर ऐन्द्रयाग, इस प्रकार 'प्रधानकर्म' का क्रम निश्चित किया गया है, अर्थात् प्रधानकर्म का क्रम पाठरूपी तीसरे प्रमाण की अपेक्षा से निश्चित किया गया है, यह स्पष्ट है। तात्पर्य यह है कि प्रधानक्रम– पाठरूपी प्रमाणान्तरसापेक्ष होता है। और प्रमाणांतर सापेक्ष प्रधानक्रम के ज्ञान के आधार पर मुख्यक्रम अवलंबित रहता है। इसलिए 'पाठक्रम' और 'प्रधानक्रम'– इन दो व्यापारों के अनन्तर 'मुख्यक्रम' की प्रतिपत्ति (ज्ञान) होने के कारंण वह प्रतिपत्ति (ज्ञान) निश्चित ही उतने ही अंशों में विलम्ब से उत्पन्न होती है। तथा श्रुति (स्वाध्याय) में जिस प्रकार पठित किया गया होगा, उसी क्रम से पाठक्रम निश्चित किया जाता है। अर्थात् श्रुति के पाठक्रम को छोड़कर (अपेक्षा) इसे अन्य किसी की भी अपेक्षा नहीं होती। श्रुतिपाठ निरपेक्ष होता है यह तो सिद्ध ही है। अत: 'पाठक्रम' को केवल श्रुतिक्रम की ही अपेक्षा होती है। और मुख्यक्रम को– 'पाठक्रम' तथा 'प्रधानक्रम'– इन दोनों की अपेक्षा होती है। अत: 'पाठक्रम' की जितनी त्वरापूर्वक (सत्वरता से) प्रतिपत्ति (ज्ञान) होती है, उसकी अपेक्षा 'मुख्यक्रम' की प्रतिपत्ति होने में विलम्ब होता है। अर्थात् पाठक्रम अपेक्षाकृत शीघ्रता से जाना जाता है। इसलिए 'पाठक्रम' की अपेक्षा 'मुख्यक्रम' दुर्बल होता है। यह निश्चित किया गया है।

यहाँ तक उक्त विषय से सम्बन्धित जो तात्त्विक दृष्टि से विवेचन किया गया है,

उसे याज्ञिकप्रक्रिया में निर्दिष्ट दृष्टान्त द्वारा अधिक स्पष्टतः समझा जा सकता है। 'मुख्यक्रम' की अपेक्षा 'पाठक्रम' किस प्रकार बलवान् होता है– यह निर्देशित करने के लिए दर्शपूर्णमास[१] के अन्तर्गत– **पूर्णमास** में **उपांशु** एवं **अग्नीमोषीय** संज्ञक दो याग उदाहरणार्थ लिये गए हैं। उपांशुयाज, आग्नेय और अग्नीमोषीय इन दो यागों के मध्यमें किया जाता है।[२] इनमें से प्रथम याग– **उपांशुयाज**– का **'आज्य'** द्रव्य है और **उत्पवन, चतुर्गृहीतत्व** आदि आज्य के धर्म (संस्कार) है। द्वितीय याग **आग्नीमोषीय**– का **'पुरोडाश'** द्रव्य है, और **'निर्वाप'** एवं **'अवघात'**– आदि धर्म (संस्कार) हैं। अब संशय यह है कि आज्य धर्मों का अनुष्ठान प्रथम होगा अथवा पुरोडाश का? क्योंकि उक्त दो प्रधान यागों–उपांशु और अग्नीषोमीय में उपांशुयाग का अनुष्ठान प्रथम किया जाता है तत्पश्चात् अग्नीषोमीय याग का अनुष्ठान। अर्थात् मुख्यक्रम प्रमाण के अनुसार आज्यधर्मों का प्रथमतया अनुष्ठान होगा, तदनन्तर पुरोडाश का। क्योंकि इनके प्रधान क्रमशः उपांशु एवं अग्नीषोमीय याग हैं। अतः प्रधान के अनुष्ठान के क्रम से अङ्गों का भी अनुष्ठान किया जाना उचित है। और यदि ऐसा ही किया जाता है तो उत्पवन, चतुर्गृहीतत्वादि जो उपांशुयाज के लिए आवश्यक विहित धर्म हैं, उनका अनुष्ठान प्रथम किया जाना चाहिए और तदनन्तर अग्नीमोषीय याग को लगनेवाले पुरोडाश के निर्वापावघातादिक जो धर्म हैं, उनका अनुष्ठान किया जाना चाहिए। किन्तु स्वाध्याय पाठक्रम में निरूपित क्रम इससे भिन्न है अर्थात् वेद में पुरोडाश की 'निर्वाप एवं अवघात' आदि अङ्गक्रियाएँ प्रथमतया पठित हैं तथा आज्य की 'उत्पवन एवं चतुर्गृहीतत्व' आदि क्रियाओं का पाठ तदनन्तर है। अतः पाठक्रम की प्रबलता को स्वीकार करते हुए पुरोडाश धर्मों का अनुष्ठान प्रथम एवं आज्यधर्मों का अनुष्ठान बाद में करना उपयुक्त है।

वस्तुतः श्रुतिपाठ को ध्यान में रखने पर निर्वापादिक जो व्रीहिरूपी औषधि से तैयार किये हुए पुरोडाश के औषधधर्म हैं, वे पूर्व में आम्नात किये गये हैं। अर्थात् वेद में पुरोडाश की निर्वाप एवं अवघात आदि अङ्ग क्रियाओं (औषधधर्माः) का पाठ पहिले है, और आज्यधर्म (का पाठ) तदनन्तर आम्नात किये गये है। अतः इसी पाठक्रम को प्राधान्य दिया जाना चाहिए। इसलिए मुख्यक्रम के अनुरोध से (अनुसरण करने से) आज्यधर्मों को जो प्राथम्य प्राप्त हो रहा था, उसे बाधित कर अधिक प्रबल पाठक्रम के अनुसार औषधधर्मों का ही प्रथमतया अनुष्ठान करना आवश्यक है। क्योंकि पाठक्रम का ज्ञान वैदिक शब्दों से तत्काल होता है। और उसकी प्रतीति शीघ्र होती है तथा मुख्यक्रम के आधार पर जो क्रम निश्चित किया जाता है, वह प्रमाणान्तर सापेक्ष होने के कारण उसकी प्रतीति होने में विलम्ब होता है। इससे स्पष्ट है कि मुख्यक्रम, पाठक्रम की अपेक्षा दुर्बल होता है।।६९।।

---

१. द्रष्टव्य– जै. सू. अ. ५, पा. १, अधि. ८

२. तै. सं. कां. २, प्रपा. ६, अनु. ६ 'यदनुक्रमगतौ आग्नेयाग्नीषोमीयपुरोडाशौ स्यातामेतेन यज्ञस्य आलस्याय क्रियते। अत आलस्यपरिहाराय तयोः पुरोडाशयोर्मध्य उपांशुयाजं यजेत्। किं च पुरोडाशद्रव्यक एको याग आज्यद्रव्यकोऽपर इति मिथुनत्वम्।' (सायण भाष्य)

(७०) मुख्यः क्रमः प्रवृत्तिक्रमाद् बलवान्

स चायं मुख्यः क्रमः प्रवृत्तिक्रमाच्च बलवान्। प्रवृत्तिक्रमे हि बहूनामङ्गानां प्रधानविप्रकर्षात्। मुख्यक्रमे तु सन्निकर्षात्।।७०।।

तस्मादग्नीषोमीयपुरोडाशार्था औषधधर्माः प्रथममनुष्ठेया आज्यधर्मास्तु पश्चादिति प्रवृतिक्रमापेक्षया तु मुख्यक्रमस्य प्राबल्यमेवेत्याह-प्रवृत्तीति। तत्र हेतुमाह-प्रवृत्तिक्रमे हीति। अत्रेदं बोध्यम्। दर्शपूर्णमासयोरादावाग्नेययागस्यानुष्ठानं ततः सान्नाय्ययागस्य सान्नाय्यधर्माश्च केचिद्वत्सापाकरणदोहनादयः पूर्वमेवानुष्ठीयन्ते। तत्र यदि प्रवृत्तिक्रममाश्रित्य सान्नाय्यधर्मा अवदानाभिघारणहविरासादनादयोऽपि सर्वे पूर्वमेवानुष्ठीयेरन्। तत आग्नेयधर्मा अवदानादयस्तु तदनुष्ठानं च ततः सान्नाय्ययागानुष्ठानं तदा सान्नाय्यधर्माणां सर्वेषां स्वप्रधानेन सह द्वाभ्यामाग्नेयधर्मतदनुष्ठानाभ्यां विप्रकर्षः स्यात्।

अनुवाद– ***सचायमिति।*** *वह मुख्यक्रम प्रवृत्तिक्रम की अपेक्षा बलवान् होता है। क्योंकि प्रवृत्तिक्रम स्थल में बहुत से अंग अपने प्रधान से दूर हो जाते हैं जबकि मुख्यक्रम स्थल में समीप हो जाते हैं।।७०।।*

।। अर्थमीमांसा ।।

विनियोगविधि के षट् प्रमाणों के समान प्रयोगविधि के श्रुति, अर्थ, पाठ, स्थान, मुख्य एवं प्रवृत्ति इत्यादि जो षट्प्रमाण हैं, उनमें भी पूर्वपूर्वबलीयस्त्व रहता है, यह हम पूर्व में बता चुके हैं। परन्तु उनका प्रत्येक स्थान पर पूर्वपूर्वबलीयस्त्व सभी विषयों में सिद्ध करके नहीं दिखाया गया है। उनका प्राबल्य केवल दो स्थानों पर ही दिखाया गया है, यथा– (१) प्रवृत्ति की अपेक्षा मुख्यक्रम प्रबल है और (२) पाठक्रम की अपेक्षा अर्थक्रम प्रबल है। केवल इन दो स्थानों पर ही व्यवस्थित रीत्या प्राबल्य निर्देशित किया गया है। शेष स्थानों पर भी प्राबल्य निर्देशित किया गया है। किन्तु क्रमशः न होकर आगे-पीछे निर्देशित है। जैसे– (१) श्रुति प्रमाण अग्रिमस्थ अर्थक्रम की अपेक्षा बलवान् है, यह यथार्थ रूप से सिद्ध करके दिखाया जाना चाहिए था, किन्तु ऐसा न करके अर्थात् अर्थक्रम को छोड़कर-श्रुति को बीच में ही पाठक्रम की अपेक्षा बलवान् होती है, निर्देशित किया गया है, (२) आगे, स्थान क्रम की अपेक्षा पाठक्रम बलवान् होता है, वस्तुतः यह दिखाना क्रमप्राप्त था, किन्तु उसका उदाहरण प्रस्तुत न कर मंत्र पाठ और ब्राह्मण पाठ– इन दो भेदों में से ब्राह्मणपाठ की अपेक्षा मंत्रपाठ अधिक प्रबल होता है, यह दिखाया गया है। (३) पुनः स्थानक्रम, मुख्यक्रम की अपेक्षा बलवान् होता है, यह प्रदर्शित किया जाना चाहिए था, उसे कहीं भी न दिखाकर मुख्यक्रम की अपेक्षा पाठक्रम अधिक प्रबल होता है,– दिखाया गया है। अर्थक्रम की अपेक्षा श्रुति बलवान् होती है,– इसका उदाहरण भी प्रस्तुत नहीं किया गया है। परन्तु यहाँ ध्यातव्य यह है कि अर्थ का तात्पर्य प्रयोजन होता है, और यह सर्वदा श्रुति से ही निश्चित किया जाने के कारण श्रुति और अर्थ में किसी विरोध की संभावना नहीं होती। और यही बात– ['श्रुत्यर्थयोर्विरोधस्तु नैवं वचनसंभवे। यथा श्रुत्येव हि न्याय्यमर्थस्य परिकल्पनम्'] उक्त

यदा तु सान्नाय्यधर्माणां केषाञ्चिद्वत्सापाकरणादीनां पूर्वमनुष्ठानानन्तरमनुष्ठीयन्ते तदा सर्वेषामाग्नेयधर्मसान्नाय्यधर्माणामेकैकेन विजातीयेन व्यवधानं भवति । आग्नेयधर्माणां स्वप्रधानेन सह सान्नाय्यधर्मैर्व्यवधानात्सान्नाय्यधर्माणां च स्वप्रधानेन सहाग्नेयानुष्ठानेन व्यवधानादिति न विप्रकर्षः तस्मान्मुख्यक्रमः प्रवृत्तिक्रमाद्बलवानिति ।।७०।।

कारिका में बताई गई हैं।[1]

अब प्रकृत प्रकरण में– 'मुख्यक्रम' प्रवृत्तिक्रम की अपेक्षा बलवान् क्यों होता है? निरूपित करना है। परन्तु हमें यहाँ प्रवृत्तिक्रम क्या है? समझ लेना चाहिए। बिना यह समझे मुख्यक्रम की प्रबलता समझना कठिन है। इसलिए अग्रिम प्रकरण में प्रवृत्तिक्रम का निरूपण करने के अनन्तर वस्तुत: मुख्यक्रम की प्रबलता सिद्ध करके दिखाना चाहिए था, जिससे समझने में सुलभता होती, परन्तु मुख्यक्रम 'पाठक्रम' की अपेक्षा दुर्बल होता है, यह निरूपित करने के अनन्तर, उसी मुख्यक्रम के सम्बन्ध में वह (मुख्यक्रम) प्रवृत्तिक्रम की अपेक्षा प्रबल होता है,– यह भी साथ साथ निरूपित कर देना चाहिए, संभवत: इस विचार से ग्रंथकारने यहाँ मुख्यक्रम के बलीयस्त्व (प्रबलता) का निरूपण किया है।

उपर्युक्त निरूपित 'मुख्यक्रम' वक्ष्यमाण 'प्रवृत्तिक्रम' की अपेक्षा अधिक प्रबल होता है, इसका कारण यह है कि अनेक अंगों का अनुष्ठान प्राप्त होने पर किसी एक क्रम को स्वीकार करके एक के पश्चात् एक क्रमश: उन अंगों का अनुष्ठान करने के लिए जो प्रवृत्तिक्रम है, उसे यदि ऐसे प्रसंग पर स्वीकार किया गया तो उन अंगों और उनके प्रधानकर्म में अधिक विप्रकर्ष अर्थात् व्यवधान (अन्तर) होने लगेगा, और ऐसे प्रसंग पर यदि मुख्यक्रम का आश्रय ग्रहण किया गया तो अंगों और उनके प्रधान कर्मों में तुल्य-व्यवधान समतुल्यता, अन्तर, संनिकर्ष उत्पन्न होता है। इसीलिए प्रवृत्ति-क्रम की अपेक्षा 'मुख्यक्रम' बलवान् माना गया है।

दर्शपूर्णमास[2] के **दर्शयाग** में प्रथमत: 'आग्नेययाग' और तत्पश्चात् 'सांनाय्ययाग' का अनुष्ठान किया जाता है। **'नासोमयाजी संनयेत्'**[3] इत्यादि वचनानुसार जिन्होंने सोमयाग का अनुष्ठान किया हो, उन्हें दर्शपूर्णमास में सांनाय्ययाग ही करना चाहिए। **सांनाय्य का अर्थ है**– दधि और पय, जिसे पूर्व में निरूपित किया जा चुका है। अत: सांनाय्य द्रव्य का जिसमें हवन किया जाता है, उस याग को सांनाय्य याग की संज्ञा दी गई है। इस 'सांनाय्य' नाम का निर्वचन को प्रस्तुत करने वाली एक अर्थवादात्मक सूचना तै. सं.[4] में उल्लिखित है।

---

१. 'तथापि यथाश्रुत्येव प्रयोजनस्य कल्पनीयत्वेन तयोर्विरोधस्यैवासंभवात्' (सारविवेचिनी)।

२. द्रष्टव्य– जै. सू. अ. ५, पा. ४, अधि. २

३. द्रष्टव्य– जै. सू. अ. १०, पा. ८, अधि. १४

४. द्रष्टव्य– ["इन्द्रो वृत्रवधेन भीतो दूरे पलायमान: स्वकीयेन सामर्थ्येन वियुक्तोऽभूत्। तदोषधयो वीरुधोऽभवन्। तदेतदिंद्रिय-सामर्थ्यस्य औषध्यादिरूपत्वं– प्रजापतेरग्रे कथितवान्। स च प्रजापति: एतदिंद्रियसामर्थ्यमिन्द्रार्थं सम्यक् प्रापयत इति पशूनब्रवीत्। तत्सामर्थ्यं पशव औषधीभ्य: सकाशादानीय स्वशरीरे सम्यक् स्थापितवन्त:। पुन: स्वनिष्ठं तद्वीर्यं क्षीरादिरूपमिन्द्रं प्रति दुग्धवन्त: । यस्मात्पशव: समनयंस्तस्मात् सांनाय्यस्य गोरसस्य सम्यगानयनेन संपन्नमिति व्युत्पत्त्या सांनाय्य नाम भवति।"] कां. २, प्रपा. ५, अनु. २

अब हम पुन: यहाँ विवेच्य विषय की ओर मुडते हैं– उक्त दो आग्नेय एवं उपांशु संज्ञक यागों का दर्शपूर्णमास प्रकरण के दर्शयाग के अन्तर्गत विधान है। उपांशुयाग की सांनाय्ययाग भी संज्ञा है। उक्त दो अनुष्ठेय यागों में से प्रथमत: किया जाने वाले **आग्नेय** के **अवदान**, **अभिघारण** एवं **हविरासादन** आदि धर्म हैं। और इसके पश्चात् अनुष्ठेय सांनाय्ययाग के **शाखाहरण**, **वत्सापाकरण** एवं **दोहन** के साथ-साथ **अवदान**, **आभिघारण** एवं **हविरासादन** धर्म माने गये हैं। अत: सान्नाय्य धर्म के दो भाग करना आवश्यक हैं। प्रथम भाग के अन्तर्गत– **शाखाहरण**, **वत्सापाकरण** एवं **दोहन** का समावेश होता है और द्वितीय भाग में– **अवदान**, **अभिघारण**, **हविरासादन** (हविर्भाग का आसन्नकरण) का समावेश होता है।

उक्त दो विभागों में से प्रथम विभाग के सांनाय्य धर्म प्रथम विहित हैं और उनका अनुष्ठान भी प्रथम करना आवश्यक है। क्योंकि शाखाहरण, वत्सापाकरण एवं दोहनादि कृष्णाचतुर्दशी के दिन इसलिये समाप्य हैं, क्योंकि जब तक शाखाहरण करके (पलाश से) बछड़े को गाय से अलग (वत्सापाकरण) नहीं किया जायगा तबतक दोहन करके दर्शयाग के लिये **'दधि'** नहीं तैयार हो सकेगा। इस प्रकार दूसरे दिन दधि तैयार होने पर सांनाय्य द्रव्य तैयार होगा और उस पर **अवदान**, **अभिघारण**, एवं **हविरासादन** आदि संस्कार करना संभव होता है। इसलिए प्रथम विभाग के धर्मों को प्रथम करना पड़ता है। और दूसरे विभाग के धर्म तत्पश्चात् हवन के अवसर पर किये जाते हैं। किन्तु इस व्यवस्था को देखकर एक प्रश्न सहज ही उत्पन्न होता है, कि (१) शाखाहरण से हविरासादनादिक जो सांनाय्य धर्म हैं, उन्हें खण्डरूप में करना, अर्थात् कुछ धर्मों का अनुष्ठान एक समय और शेष अवदानादिक धर्मों का अनुष्ठान अन्य समय करना– क्या योग्य है? अत: प्रश्नकर्ता के विचार में– 'प्रवृत्तिक्रम' के तत्त्वानुसार शाखाहरण से लेकर जिन धर्मों का अनुष्ठान करने के लिए हम प्रवृत्त हुए हैं, उन्हें एक समय में ही, अर्थात् **शाखाहरण**, **वत्सापाकरण**, **दोहन**, **अवदान**, **अभिघारण**, **हविरासादन** आदि सभी सांनाय्य धर्म एक लाईन-पंक्ति से समाप्त कर लिये जाने चाहिए। तत्पश्चात् (२) **आग्नेययाग** के पुरोडाशरूपी हर्विद्रव्य के **अवदान**, **अभिघारण**, **हविरासादनादिक** धर्मों को करना चाहिए। और तदनन्तर (३) जिस 'आग्नेययाग' का अनुष्ठान प्रथम करना है, उसे कर लेना चाहिए, और (४) उसके पश्चात् होने वाला जो 'सांनाय्ययाग' है, उसका अनुष्ठान करना चाहिये।

किन्तु इस प्रकार करना ठीक नहीं है, क्योंकि 'प्रवृत्तिक्रम' से यदि हम उक्तानुसार करने लगे तो (१) **सांनाय्य धर्म** और (४) **सांनाय्य याग**– दोनों के मध्य में (२) **आग्नेय धर्म** एवं (३) **आग्नेययाग**– इन दोनों का व्यवधान हो जाने से 'अंग' और 'प्रधान' के मध्य में विप्रकर्ष उत्पन्न हो जायगा। यह विप्रकर्ष 'प्रवृत्तिक्रम' के कारण किस प्रकार उत्पन्न होता है, यह निम्नोक्त आकृति से ध्यान में आ सकेगा–

प्रवृत्तिक्रमेण

(१) सर्वसांनाय्यधर्म (गुण)	(२) आग्नेयधर्म (गुण)
(३) आग्नेययाग (प्रधान)	(४) सांनाय्ययाग (प्रधान)

उपर्युक्त आकृति में क्रमानुसार (१) और (४) के मध्य में (२) और (३) का व्यवधान

(७१) प्रवृत्तिक्रमलक्षणम्

सहप्रयुज्यमानेषु प्रधानेषु सन्निपातिनामङ्गानामावृत्त्यानुष्ठाने कर्तव्ये द्वितीयादिपदार्थानां प्रथमानुष्ठितपदार्थक्रमाद्यः क्रमः स प्रवृत्तिक्रमः ।।७१।।

इदानीं प्रवृत्तिक्रमं लक्षयति । सह प्रयुज्येत्यादिना ।।७१।।

आकर विप्रकर्ष उत्पन्न करता है। अत: विप्रकर्ष के कारण प्रकृत में 'प्रवृत्तिक्रम' को ग्रहण करना योग्य नहीं है।

परन्तु मुख्यक्रम को प्रमाण मानने पर स्थिति भिन्न होगी। इसलिए यहाँ 'मुख्यक्रम' का ही आश्रय ग्रहण करना योग्य होगा। क्योंकि 'मुख्यक्रम' का आश्रय ग्रहण करने पर समस्त अंगप्रधानों में समान व्यवधान होने से संनिकर्ष उत्पन्न होने लगेगा। अत: उस 'मुख्यक्रम' के अनुसार व्यवस्था कैसी होती है, यह हम देखते हैं—

सांनाय्य धर्मों में से यद्यपि **शाखाहरण**, **वत्सापाकरण**, **दोहन** आदि धर्मों का अनुष्ठान पूर्व में समाप्त हो चुकने पर भी **अवदान**, **अभिघारण**, **हविरासादन** इत्यादि शेष रहे जो धर्म है, उनके संबन्ध से मुख्यक्रम के अनुसार (१) प्रथम आग्नेय धर्मों का अनुष्ठान और (२) तत्पश्चात् सांनाय्य धर्मों का अनुष्ठान किया जाना चाहिए। और तदनन्तर (३) प्रथम आग्नेययाग का अनुष्ठान सम्पन्न करके तदनन्तर (४) सांनाय्ययाग का अनुष्ठान करना चाहिए। जिससे विप्रकर्ष उत्पन्न न होकर समान व्यवधान से संनिकर्षरूपी प्रधानप्रत्यासत्ति प्राप्त होने लगेगी। वह इस प्रकार—

मुख्यक्रमेण

(१) आग्नेयधर्म (गुण)	(२) सांनाय्यधर्म (गुण)
(३) आग्नेययाग (प्रधान)	(४) सांनाय्ययाग (प्रधान)

उपर्युक्त आकृति पर से ज्ञात होता है कि (१) आग्नेयधर्म और (३) आग्नेययाग– इनमें (२) 'सांनाय्य धर्म' का ही व्यवधान आता है। उसी प्रकार (२) सांनाय्य धर्म और (४) सांनाय्ययाग– इनमें भी (३) 'आग्नेययाग' का केवल एक ही व्यवधान आता है। और यह व्यवधान पूर्वोक्त मुख्यक्रम के प्रकरण में निरूपितानुसार समान और सह्य होने के कारण संनिकर्ष से प्रधानप्रत्यासत्ति के तत्त्व का इसमें पालन हो जाता है।

अत: उपर्युक्त तुलनात्मक विवेचन से यह ज्ञात होता है कि 'प्रवृत्तिक्रम' से विप्रकर्ष उत्पन्न होता है और 'मुख्यक्रम' से संनिकर्ष उत्पन्न होता है और इसलिए विप्रकर्ष को उत्पन्न करनेवाले 'प्रवृत्तिक्रम' की अपेक्षा समानसंनिकर्ष उत्पन्न करनेवाला 'मुख्यक्रम' ही प्रवृत्तिक्रम को बाधित करने से अधिक प्रबल निश्चित होता है।।७०।।

अनुवाद– सहेति *। अंगों के साथ साथ प्रधान का अनुष्ठान करते हुए यदि सन्निपत्योपकारक अंगों का आवृत्ति से अनुष्ठान करना हो तो द्वितीयादि पदार्थों का प्रथमानुष्ठित पदार्थक्रम से जो क्रम स्वीकृत होता है उसे 'प्रवृत्तिक्रम' कहते हैं।।७१।।*

।। अर्थमीमांसा ।।

ग्रन्थकार प्रस्तुत प्रकरण में प्रवृत्तिक्रम का निरूपण कर रहे हैं। 'क्रम' निदर्शक पूर्वोक्त षट् प्रमाणों में प्रवृत्तिक्रमसंज्ञक अन्तिम प्रमाण है। इन षट् प्रमाणों में **श्रुति**, **अर्थ** और **पाठ**– ये प्रथम तीन प्रमाण ही वस्तुत: अधिक महत्त्व के हैं, और इन तीनों के उत्तरवर्ती प्रमाण- **स्थान**, **मुख्य** और **प्रवृत्ति** गौण प्रमाण हैं। क्योंकि स्थान और मुख्य, ये दो प्रमाण बह्वंशी 'पाठक्रम' पर ही निर्भर रहते हैं। और 'प्रवृत्तिक्रम' तो प्रथमावसर ही केवल ऐच्छिक होता है। और जो ऐच्छिकक्रम प्रथमावसर पर एक बार प्रयुक्त होता है, वही क्रम आगे भी रहता है। अर्थात् 'प्रवृत्तिक्रम' पद में प्रवृत्ति-शब्द ही इस बात को सूचित करता है कि प्रथम अङ्ग को अनुष्ठान हेतु चुनने के लिये हम स्वतन्त्र हैं, परन्तु तत्पश्चात् दूसरे अङ्गों का उसी क्रम में (जो पूर्व था) अनुष्ठान करना होगा। इसके अतिरिक्त 'मुख्यक्रम' और 'प्रवृत्तिक्रम' के सम्बन्ध में **न्यायरत्नमाला** में निरूपित तथ्य को भी ध्यान में रखना होगा।[1]

षट् प्रमाणों के अन्तर्गत आनेवाले प्रवृत्तिक्रम का लक्षण इस प्रकरण में निरूपित किया गया है, परन्तु उसे समझने के पूर्व कुछ बातों को समझ लेना आवश्यक है, अत: उन्हें सर्वप्रथम निरूपित करते हैं।

पूर्वोक्त मुख्यक्रम के उदाहरण में **आग्नेययाग** और **ऐन्द्रयाग**– इन दो प्रधान यागों को ग्रहण किया गया था। और इन प्रधानयागों के क्रमानुसार उनके अंगों का अनुष्ठान करने के लिए कहा गया था। अर्थात् जो क्रम प्रधान यागों का होगा उसी क्रम को उनके अंगों के अनुष्ठान में ग्रहण करना चाहिए। किन्तु इस प्रवृत्तिक्रम के लिए प्राजापत्ययागों का जो उदाहरण लिया गया है, उसमें मुख्यक्रम के समान केवल दो ही प्रधानयाग हैं जबकि प्राजापत्ययाग में सभी याग प्रधान हैं और उनकी संख्या सप्तदश (१७) है। इसके अतिरिक्त 'मुख्यक्रम' और 'प्रवृत्तिक्रम' के उदाहरणों में एक और भिन्नता है कि, मुख्यक्रम के **आग्नेय** और **ऐन्द्रयागों** का अनुष्ठान अलग-अलग किया जाता है, किन्तु 'प्रवृत्तिक्रम' के जो सप्तदश (१७) प्राजापत्य याग हैं, वे सब एक साथ (सह प्रयुज्यमान) अनुष्ठित होते हैं। क्योंकि इन सप्तदश यागों की **'प्रजापति'** संज्ञक एक ही देवता है। और उन समस्त यागों का समय-काल भी एक ही विहित है। **'सप्तदश प्राजापत्यान् पशूनालभते'**[2] इस वाक्य से प्रजापति संज्ञक एक ही देवता संप्रतिपन्न (प्राप्त, व्यक्त, ज्ञात) होती है, और **'पशून्'** एक पद से समस्त सप्तदश पशुओं का एक ही समय सहप्रयुज्यमानत्व 'श्रुति' द्वारा स्पष्टत: विहित है। इसके अतिरिक्त याग की 'प्रजापति' संज्ञक देवता एक ही होने के कारण तथा उस देवता के याज्यानुवाक्या के मंत्र भी एक ही होने के कारण समस्त सप्तदश पशुओं के वपा का सहप्रक्षेपण करना भी नितान्त आवश्यक होता है। उसी प्रकार **'वैश्वदेवीं कृत्वा प्राजापत्यैश्चरन्ति'**– वाक्य में **'क्त्वा'** प्रत्यय के द्वारा समस्त प्राजापत्य यागों के अनुष्ठान का काल वैश्वदेवी के बाद का एक ही है। अत: समस्त प्रमाणों के आधार पर सप्तदश प्राजापत्य पशुओं का

---

१. 'सर्वेषामेव क्रमाणां प्रयोगविधिविधेयत्वे सत्यपि मुख्यप्रवृत्तिक्रमयो: प्रामाण्यं प्रयोगविध्यवगतसाहित्यनिमित्तम्।'

२. तै. ब्रा. १।३।४।३

अनुष्ठान एक्र साथ एकतंत्र से किया जाना चाहिए, यह सिद्ध होता है।[१]

ये समस्त सप्तदश प्राजापत्ययाग फलापूर्व की उत्पत्ति की दृष्टि से **आरादुपकारक** हैं और उन सबका उक्त कारणों से एकतंत्रसे एक साथ अनुष्ठान (सहप्रयुज्यमानत्व) करना युक्त है। किन्तु समस्या यह है कि उन सप्तदश प्रधान यागों के संनिपत्योपकारक (संनिपाति) जैसे **उपाकरण**, **नियोजन** आदि अंग हैं, उनका अनुष्ठान कैसे हो? वस्तुत: देखा जाय तो प्रधानों के समान उन प्रधानों के अंगों का अनुष्ठान भी एकदम (साथ ही) किया जाना चाहिए। किन्तु ये सभी अनुष्ठान एकसाथ (एकदम) कैसे हों? क्योंकि पशुओं की संख्या एवं अनुष्ठेय क्रियाएं अधिक हैं । एक ही मनुष्य के द्वारा सप्तदश पशुओं का उपाकरण, सप्तदश पशुओं का नियोजन, आदि सभी कर्म एक ही समय में कैसे किये जा सकते हैं । अत: मुख्यक्रम के प्रकरण के अनुसार, समानव्यवधान की स्थिति रखकर उक्त कर्मों का अनुष्ठान यदि किया गया तो ही उनका प्रधान प्रत्यासत्तिभाव स्थित रहकर उनका साहित्य (युगपदनुष्ठान) उपपन्न हो सकेगा। अत: 'प्रवृत्तिक्रम' का आश्रय लेकर इस समस्या का समाधान किया जा सकता है। अर्थात् सप्तदश पशुओं में से किसी एक पशु का उपाकरण करके दूसरे पशु का उपाकरण करने से अव्यवधानेन साहित्य हो सकता है, और यह उपाकरण रूप प्रथम पदार्थ (धर्म, संस्कार) समाप्त होने पर, पूर्व अवलम्बित क्रम के अनुसार एक पशु का नियोजन करके दूसरे का नियोजन करना चाहिये। इस प्रकार एक पशु से आरम्भ कर समस्त सप्तदश (१७) पशुओं में क्रमश: उपाकरण कर उसी क्रम से नियोजनादि करना चाहिए। इसी क्रम को प्रवृत्तिक्रम कहा जाता है।[२]

उपर्युक्त विवेचन के आधार से प्रस्तुत प्रकरण में **'सह प्रयुज्य मानेषु प्रधानेषु'** इत्यादि जो प्रवृत्तिक्रम का लक्षण दिया गया है, उसे समझने में कोई कठिनाई नहीं होगी। उक्त लक्षण में सप्तदश प्राजापत्य याग, जैसा कि पूर्व में कहा गया है, प्रधान याग हैं और वे सहप्रयुज्यमान अनुष्ठेय हैं। इन प्रधानयागों के **उपाकरण** एवं **नियोजन**– संनिपाति अर्थात् 'संनिपत्योपकारक' अंग हैं। इन अंगों का आवृत्ति से (अभ्यास, पुन: उसी क्रम से, किन्तु साहित्य से नहीं) अनुष्ठान किया जाने पर, प्रथमत: अनुष्ठित होनेवाला जो उपाकरणरूपी पदार्थ (संस्कार) है, वह जिस क्रम से किया जायगा, उसी क्रम से दूसरे नियोजन रूपी पदार्थ (संस्कार) का जो क्रम अनुष्ठित होता है, उसे प्रवृत्तिक्रम कहा जाता है।[३] परन्तु प्रस्तुत प्रकरण में वस्तुत: ['द्वितीयादिपदार्थानां प्रथमानुष्ठित- पदार्थक्रमाद्य: क्रम: स प्रवृत्तिक्रम:']– इतना ही 'प्रवृत्तिक्रम' का लक्षण है, और इस प्रकार की स्थिति कहाँ उत्पन्न होती है, यह निर्देशित करने के लिए **'सह प्रयुज्यमानेषु प्रधानेषु संनिपातिनामंगानामावृत्यानुष्ठाने कर्तव्ये'**– यह पद प्रयुक्त किया गया है।।७१।।

---

१. द्रष्टव्य– जै. सू. अ. ११, पा. २, सू. २४

२. तत्रोपाकरणाख्य आद्य: पदार्थ: यत: कुतश्चिदारभ्य यत्र क्वचित् समापनीय:, नियोजनादिकन्तु येन क्रमेण उपाकरणं प्रवृत्तं तेनैव क्रमेण कर्तव्यम् ।।(परिभाषा)।।

(अ) प्रवृत्ति: प्रथमाङ्गानुष्ठानम्, तत्क्रमेण द्वितीयाद्यङ्गानुष्ठाने य: क्रम: स प्रवृत्तिक्रम: इत्यर्थ: (तं.सि.र.द्वि.परि.)

३. प्रधानानामनेकेषां 'प्रतिप्रधानं गुणावृत्ति' रिति न्यायेनाऽऽवृत्त्याऽनुष्ठाने कर्तव्ये द्वितीयादिपदार्थानां प्रथमानुष्ठितपदार्थेन य: क्रम: स प्रवृत्तिक्रम:। (तं. सि. र. द्विती. परि.)

(७२) प्रवृत्तिक्रमस्य उदाहरणम्

यथा प्राजापत्यपश्वङ्गेषु। प्राजापत्या हि 'वैश्वदेवीं कृत्वा प्राजापत्यैश्चरन्तीति वाक्येन तृतीयानिर्देशात्सेतिकर्त्तव्यताका एकका-लत्वेन विहिताः। अतस्तेषां तदङ्गानां चोपाकरणनियोजनप्रभृतीनां साहित्यं सम्पाद्यम्। तच्च प्राजापत्यपशूनां सम्प्रतिपन्नदेवताकत्वेन युगपदनुष्ठानादुपपद्यते। तदङ्गानां चोपाकरणादीनां युगपदनुष्ठानम-शक्यम्। अतस्तेषां साहित्यमव्यवहितानुष्ठानात्सम्पाद्यम्। तच्चैकस्योपाकरणं विधायापरस्योपाकरणं विधेयम्। एवं नियोजनादिकमपि। तथाच प्राजापत्येषु कस्माच्चित्पशोरारभ्य एकं पदार्थं सर्वत्रानुष्ठाय द्वितीयादिपदार्थः तेनैव क्रमेणानुष्ठेयः स प्रवृत्तिक्रमः ।।७२।।

तत्रोदाहरणमाह-यथेति। प्राजापत्याहि सेतिकर्तव्यताका एककालत्वेन विहिता इत्यन्वयः। अत इति। तेषामेककालत्वेन विहितत्वादित्यर्थः। तेषामिति प्राजापत्याना-मित्यर्थः। उपाकरणेत्याद्युक्तार्थ एव बोध्यः। तच्चेति। साहित्यं चेत्यर्थः। सम्प्रतिप-

---

अनुवाद– यथेति। *यथा– **'प्रजापत्य'** नामक पशुयागों की अङ्गभूत क्रियाओं के क्रम का निश्चय 'प्रवृत्तिक्रम' से ही होता है। **'वैश्वदेवीं कृत्वा प्राजापत्यैश्चरन्ति'** (वैश्वदेवी का अनुष्ठान करने के पश्चात् प्राजापत्य पशुओं का अनुष्ठान करे) इस वाक्य में **'प्राजापत्यैः'** इस तृतीयाश्रुति से **'इतिकर्तव्यता'** के साथ ही अंग एवं प्राजापत्य पशुओं का अनुष्ठान करना चाहिए, यह विहित है। अतः प्राजापत्य यागों का एवम् उनके अंगों 'उपाकरण, नियोजनादि' का अनुष्ठान साथ-साथ होना चाहिए। अनुष्ठान का साथ-साथ होना तभी सम्भव है जब समानदेवताक पशुओं का अनुष्ठान एक साथ हो। प्राजापत्य पशुयाग की उपाकरण, नियोजनादि क्रियाओं का युगपद् अनुष्ठान असम्भव है। अतः अव्यवहितरूपेण एक के बाद दूसरी अंग क्रिया के अनुष्ठान के द्वारा सहानुष्ठान का सम्पादन करना चाहिये। अर्थात् एक पशु का उपाकरण करने के पश्चात् दूसरे का उपाकरण करना चाहिये। इसी प्रकार नियोजनादि के विषय में समझना चाहिये। स्पष्टार्थ यह है कि किसी भी पशु में प्रथम क्रिया के अनुष्ठान को आरम्भ करके अन्य सभी पशुओं में उसी क्रम से क्रिया का अनुष्ठान करे, इसी को 'प्रवृत्तिक्रम' कहते हैं।।७२।।*

।। अर्थमीमांसा ।।

पूर्व के प्रकरण में 'प्रवृत्तिक्रम' का सामान्य स्वरूप प्रस्तुत किया गया है। उस सामान्य विवरण को समझने की दृष्टि से तत्सम्बन्धित उदाहरणों को प्रस्तुत करना भी आवश्यक था। इसलिए प्रवृत्तिक्रम के उदाहरणरूप सप्तदश प्राजापत्ययाग के अंगों के अनुष्ठान का पर्याप्त

न्नदेवताकत्वेनेत्यत्र सम्प्रतिपन्नदेवताकालत्वेनेति पाठः तत्कालस्तु वैश्वदेव्यनुष्ठानानन्तरकालो देवता च प्रजापतिरेव तदङ्गानामिति प्राजापत्याङ्गानामित्यर्थः । अशक्यमिति अनेकेषां पशूनामुपाकरणं नियोजनं चैकस्मिन्काल एकेन कर्त्रा कर्तुमशक्यमित्यर्थः । अत इति उपाकरणादीनां युगपदनुष्ठानादुपपत्तेरित्यर्थः । तेषामिति । उपाकरणादीनामित्यर्थः । तच्चेति । अव्यवधानेन साहित्यं चेत्यर्थः । एवमेकस्य पशोर्नियोजनं विधायापरस्य पशोर्नियोजनं विधेयमित्यतिदिशति । एवमिति । प्राजापत्येष्वेकस्य पदार्थस्य सर्वत्रानुष्ठेयत्वे यं पशुमारभ्यैकः पदार्थोऽनुष्ठितस्तमेव पशुमारभ्य द्वितीयादिः पदार्थोऽनुष्ठेय इत्याह । तथा चेत्यादिना ।।७२।।

स्पष्टीकरण प्रस्तुत करना भी आवश्यक होने से उसे वहाँ प्रस्तुत किया गया है। उसी उदाहरण का अधिकांश भाग प्रकृत प्रकरण में पुन: प्रस्तुत हुआ है। यहाँ ध्यातव्य यह है कि यद्यपि इस भाग की चर्चा पूर्व में पर्याप्त हो चुकी है, तथापि प्रस्तुत प्रकरण के मूल वाक्यों में निहित अनेक तथ्यों को स्पष्ट रूप से प्रतिपादित करना शेष हैं, अत: पुनरुक्ति के दोष की उपेक्षा करके पुन: इस प्रकरण में उन्हें प्रस्तुत किया गया है—

प्रश्नकर्ता कहता है कि **'यथा प्राजापत्यपश्वङ्गेषु'** वाक्य 'प्रवृत्तिक्रम' का उदाहरण हो नहीं सकता; क्योंकि जैसा कि पूर्व में कहा जा चुका है कि इन समस्त सप्तदश यागों का अनुष्ठान एक साथ किया जाना है। अत: प्रवृत्तिक्रम की आवश्यकता ही कहां है? किन्तु यह कहना ठीक नहीं है क्योंकि सप्तदश प्राजापत्य पशुओं के उपाकरण, नियोजन इत्यादिक प्रत्येक के १७-१७ अंगों का क्रम निश्चित करने में ही प्रवृत्तिक्रम की आवश्यकता होती है। अत: इन अंगों का जो क्रम है, वही प्रवृत्तिक्रम का उदाहरण है। प्रश्नकर्ता कहता है– आप प्राजापत्ययागों का सहानुष्ठान किया जाना चाहिए, कहते हैं, तो ऐसा करने के लिए कहाँ कहा गया है? **उत्तर है– 'वैश्वदेवीं कृत्वा प्राजापत्यैश्चरन्ति'**– इस वाक्य में वे सप्तदश प्राजापत्ययाग एकतंत्र से सहानुष्ठित किये जाँए, कहा गया है। **'सप्तदशप्राजापत्यान्पशूनालभते'** से सम्बन्धित दूसरे एक वाक्य में प्रयुक्त **'पशून्'** एक ही शब्द से सप्तदश पशुओं का एकत्र निर्देश किया होने से इन सप्तदश पशुओं का युगपत् (एक साथ) सहानुष्ठान करने के लिए निर्देश प्राप्त होता है,– यह जिस प्रकार पूर्व में कहा गया है, उसी प्रकार **'प्राजापत्यैश्चरन्ति'** वाक्य के **'प्राजापत्यैः'** इस तृतीयान्त एक ही शब्द के द्वारा सप्तदश पशुओं का सहानुष्ठान विहित है। इसके अतिरिक्त **'प्राजापत्यैः'** तृतीयान्त पद से समस्त यागों की **'प्रजापति'** संज्ञक एक ही **देवता** होने का भी ज्ञान होता है। और **'वैश्वदेवीं कृत्वा'**– इन पदों से वैश्वदेवीयाग करने के उपरान्त इन प्राजापत्य यागों के अनुष्ठान का निर्देश होने के कारण वैश्वदेवीयाग के बाद का जो काल है, वह इन समस्त सप्तदश प्राजापत्य यागों का भी एक ही काल है, यह भी कहा गया है।[1]

और अब प्रश्न यह है कि यदि इन सप्तदश प्रधान यागों का अनुष्ठान करना हो तो उनका अनुष्ठान किस विधि से किया जाय? यह **कथंभावाकांक्षा** भी स्वभावत: उत्पन्न होती है। तब **उपाकरण**, **नियोजन** इत्यादि सप्तदश प्राजापत्य पशुओं के प्रतिपशु के योग से होने

---

१. द्रष्टव्य– जै. सू. अ. ११, पा. २, सू. २४

वाले सत्रह-सत्रह जो अङ्ग हैं, उनके अनुष्ठान के उपकार से वे मुख्ययाग उपकृत हों, इस प्रकार से (सेतिकर्तव्यताका:) वे सम्पन्न किये जाएँ। और इसीलिए **'सेतिकर्तव्यताका:'** पद **'प्राजापत्यैश्चरन्ति'**– का अर्थ विशद करने के अवसर पर, सोद्देश्य प्रयुक्त किया गया है। अत: उपर्युक्त वचनानुसार सप्तदश प्रधानयागों और उनके उपाकरण नियोजनादिक अंगों का सहानुष्ठान (साहित्य) करना चाहिये, ज्ञात होता है। इस प्रकार प्राजापत्ययाग के जो दो विभाग– **प्रधान** और **अंग** संज्ञक हैं, उनमें से प्रधानभूत जो सप्तदश प्राजापत्ययाग हैं, उनका सहानुष्ठान संप्रतिपन्नदेवताकत्व (एकदेवताकत्वात्) के कारण से होना संभव है। उक्त वाक्यांश में प्रयुक्त **'संप्रतिपन्न'** का सामान्यत: यहां अर्थ है– **'ज्ञात, अवगत, व्यक्तं'** । इन अर्थों को यहाँ स्वीकार करने में कोई आपत्ति नहीं होनी चाहिए। तात्पर्य यह है कि– 'इस प्रजापत्ययाग की प्रजापति संज्ञक एक ही देवता है'–इस प्रकार जिसके विषय में उक्त विवेचन से अवगत–ज्ञात हुआ है, वह यह 'प्राजापत्ययाग' हैं। यही उक्त हेतु से निष्कर्ष प्राप्त होता है।

प्रकृत में अर्थसंग्रह के टीकाकारों ने **'संप्रतिपन्नदेवताकालत्वेन'** दूसरे पाठ को प्रस्तुत कर '**तत्कालस्तु वैश्वदेव्यनुष्ठानानन्तरकाल: । देव च प्रजापतिरेव** ।' उक्त पाठ का अर्थ प्रस्तुत किया है। अर्थात् इन प्राजापत्य यागों की प्रजापति संज्ञक एक ही देवता है। और वैश्वदेव्यनुष्ठान के बाद का समय-काल भी एक ही है, अत: उक्त विवेचन से इन यागों का सहानुष्ठान ही किया जाना चाहिये। **आपदेवी** में इस स्थल पर **'संप्रतिपन्नदेवताकत्वेन एकस्मिन्काले'** पाठ दिया गया है। अर्थसंग्रह में मात्र 'सम्प्रतिदेवताकत्वेन' इतना ही पाठ प्राप्त होता है।

'संप्रतिपन्नदेवताकत्व' हेतु के सम्बन्ध में भिन्न-भिन्न पाठों को ध्यान में रखकर यहाँ तक जो विवेचन किया गया है, उससे यह स्पष्ट हो जाता है कि इन प्राजापत्य यागों की देवता और काल एक ही होने के कारण उनका सहानुष्ठान करना आवश्यक है और तदनुसार वह करना संभव भी है। परन्तु यहाँ एक समस्या यह है कि उन यागों के उपाकरणादिक जो अनेक अंग हैं उनका सहानुष्ठान एक ही समय में एक ही यजमान के द्वारा किया जाना कैसे संभव होगा? यह होना तो नितान्त असंभव ही है। उक्त समस्या का एक ही निदान– समाधान संभव है कि उन अनेक अंगों का सहानुष्ठान एक साथ एकतंत्र रीत्या यदि संपादित न हो रहा हो, तो कम से कम वह अव्यवधानपूर्वक संपादित किया जाए। **अव्यवधान** से तात्पर्य है— **कर्मान्तरव्यवधानाभाव**, अर्थात् उपाकरण का जो कर्म प्रारम्भ किया गया है, उसमें 'नियोजन' या अन्य कर्मों का व्यवधान मध्य में न आवे। अर्थात् प्रथमत: किसी एक पशु से उपाकरण प्रारम्भ करके तत्पश्चात् दूसरे पशु का उपाकरण करना चाहिए, तत्पश्चात् तीसरे पशु का उपाकरण करें, और इस प्रकार उन समस्त सप्तदश पशुओं का उपाकरण क्रमश: एक के पश्चात् एक करते हुए पूर्ण कर लेना चाहिए। और उपाकरण का पदार्थ (संस्कार) पूर्ण हो जाने के पश्चात् नियोजनादिक दूसरे पदार्थ (संस्कार) का प्रारम्भ करना चाहिए। इसी को **पदार्थानुसमय**[१] की संज्ञा दी गई है। किन्तु नियोजन को प्रारम्भ करने के अवसरपर– पूर्व में उपाकरण के समय प्रवृत्त (प्रारम्भ) किया हुआ प्रवृत्तिक्रम ही प्राप्त होता है। और वह प्रवृत्तिक्रम यह कहता है कि जिस क्रम से पूर्व में उपाकरण किया गया है, उसी क्रम से आप

१. एवमेकं पदार्थं सर्वेष्वपि प्रधानेष्वनुष्ठाय तत: पदार्थन्तरस्य पूर्वक्रमेणाऽनुष्ठानं पदार्थानुसमय:।

उन पशुओं का नियोजन करें।[१]

उपाकरण और नियोजन– इन अंगों का, वस्तुत: पूर्व में निरूपितानुसार, **'वैश्वदेवीं कृत्वा प्राजापत्यैश्चरन्ति'**– वाक्य के आधार पर एक ही समय, एक ही क्षण पर अनुष्ठान किया जाना चाहिए था। किन्तु जिस क्षण प्रथम पशु का उपाकरण प्रारम्भ करते हैं उसी क्षण दूसरे पशु का उपाकरण कैसे किया जाए? यह तों असंभव ही है। अत: जिस प्रथम क्षण में जो उपाकरण न किया जा सका, वह कम से कम दूसरे क्षण पर किया जाय, यह सहानुष्ठान की दृष्टि से योग्य और आवश्यक है। क्योंकि दूसरे क्षण दूसरे पशु का उपाकरण नहीं करें, ऐसा कहने में कोई हेतु-कारण नहीं है। अत: इस प्रकार समस्त पशुओं का उपाकरण कर लेने के पश्चात् उसी क्रम से सभी पशुओं का नियोजन कर लेना चाहिये। और यही योग्य भी है। क्योंकि प्रथम उपाकरण के अवसर पर जिस क्रम से पशुओं का उपाकरण प्रवृत्त किया गया, उस बुद्धिस्थ प्रवृत्तिक्रम को नियोजन के अवसरपर त्यागने की आवश्यकता नहीं है, और ऐसा करने पर सभी संस्कारों को प्रधानप्रत्यासत्ति का लाभ एक जैसा (समान रूप से) प्राप्त हो सकता है।[२] क्योंकि किसी व्यवधान के बिना अव्यवहित प्रत्यासत्ति प्राप्त होना संभव नहीं है। अर्थात् प्रत्येक संस्कार में कोई न कोई कालकृत व्यवधान तो निश्चितरूप से रहेगा ही। ऐसी स्थिति में कम से कम व्यवधान हमे श्रुतिवचन से ज्ञात करना चाहिए। श्रुति में **'सप्तदश प्राजापत्यान्'**– कहा गया है, इससे यह निष्कर्ष निकलता है कि सोलह संस्कारों का व्यवधान मध्य में आने पर चल सकता है। इससे यह ज्ञात हो ही जाता है कि सोलह व्यवधानों से कम या अधिक व्यवधान इन संस्कारों में उत्पन्न नहीं होना चाहिए। अब यदि हम पूर्वोक्त प्रवृत्तिक्रमानुसार कार्य करते हैं तो १६ व्यवधानों का अंतर सर्वत्र स्थिर रहता है। क्योंकि प्रथम पशु का उपाकरण संस्कार अनुष्ठित होने पर उसके आगे शेष १६ पशुओं का उपाकरण होता है। और तत्पश्चात् पुन: जिस पशु का प्रथमत: उपाकरण किया गया है, उसी का प्रथम नियोजन (संस्कार) करने पर– इन दो संस्कारों में १६ का अंतर रहेगा, उसी प्रकार जिस पशु का द्वितीय स्थान पर उपाकरण किया गया होगा, उसी का नियोजन प्रसंग पर द्वितीयत्वेन नियोजन करने पर, इन दो संस्कारों में १६ का अंतर रहेगा, इस प्रकार सर्वत्र १६ का समान व्यवधान रह सकता है। यह अग्रिम आकृति से ध्यान में आ सकता है। अधोलिखित आकृति में १ से १७ उपाकृत पशुओं के क्रमांक हैं, और १८ से ३४ ये नियोजित पशुओं के क्रमांक हैं। और उनके नीचे के १६ अंकों के द्वारा किसी भी पशु का उपाकरण और नियोजन– इन दोनों में १६ का समान व्यवधान प्रदर्शित किया है–

१ २ ३ ४ ५ ६ ७ ८ ९ १० ११ १२ १३ १४ १५ १६ १७

---

१. प्रकृत में दो संस्कार– **उपाकरण** और **नियोजन** कथित हैं, उनमें से उपाकरण का अर्थ इस प्रकार दिया गया है– [''प्रजापतेर्जायमाना:'' ''इमं पशुम्'' इत्याभ्यामृग्भ्यां पशोरुपस्पर्शनम् उपाकरणम्।] ये पशु उपाकरण के मंत्र तै. सं. में दिये गये हैं, और **नियोजन** का अर्थ है– पशुयाग में निर्मित यूप के पास पशु को ले जाकर नियोजित करना, बांधना।

२. द्रष्टव्य-तत्रोपाकरणाख्या आद्य: पदार्थ: यत: कुतश्चिदारभ्य: यत्र क्वचित् समापनीय:, नियोजनादिकन्तु येन क्रमेण उपाकरणं प्रवृत्तं तेनैव क्रमेण कर्तव्यम्। (परिभाषा)

(७३) प्रवृत्तिक्रमस्य श्रुत्यादिभ्यो दुर्बलत्वम्

सोऽयं श्रुत्यादिभ्यो दुर्बलः। तदेवं सङ्क्षेपतो निरूपितः षड्विधक्रमनिरूपणेन प्रयोगविधिः ।।७३।।

सोऽयमिति प्रवृत्तिक्रम इत्यर्थः। आदिशब्देनार्थक्रमादयो गृह्यन्ते। अत्रेदं बोध्यम्। सप्तदश हि प्राजापत्यान्पशूनालभेतेति तद्विधौ तथैव श्रवणात् । तथाच प्राजापत्येषु तेषु यं कञ्चित्पशुमारभ्योपाकरणं सप्तदशसु पशुषु कृत्वा तमेव पशुमारभ्य नियोजनं कर्तव्यं । एवं च तत्तत्पशूपाकरणानां तत्तत्पशुनियोजनैस्तुल्यं षोडशक्षणैर्व्यवधानं भवति । तथा

---

१८ १९ २० २१ २२ २३ २४ २५ २६ २७ २८ २९ ३० ३१ ३२ ३३ ३४

१६ १६ १६ १६ १६ १६ १६ १६ १६ १६ १६ १६ १६ १६ १६ १६ १६

परन्तु यदि प्रवृत्तिक्रम का त्याग करके स्वेच्छा से अथवा अन्य किसी क्रम से किसी भी पशु का (अर्थात् क्रम का त्याग करके) नियोजन करना प्रारम्भ करेंगे तो उक्त तुल्य (समान) व्यवधान स्थिर न रह सकेगा। जैसे– किसी एक विशिष्टक्रम से समस्त पशुओं का (सप्तदश पशुओं का) उपाकरण संस्कार संपन्न होने पर प्रवृत्ति क्रमानुसार पूर्व के क्रम के अनुसार उन पशुओं का नियोजन न करके जिस अन्तिम १७वें पशु का उपाकरण किया गया, उस अन्तिम पशु का प्रथम नियोजन किया और उसके विपरीत क्रम से जिस पशु का प्रथम उपाकरण किया गया था, उसका सबसे अन्त में नियोजन किया तो यहाँ समान व्यवधान का रहना संभव नहीं होगा। क्योंकि प्रथम पशु का उपाकरण और नियोजन– इन दोनों के मध्य में ३२ व्यवधान उत्पन्न होंगे । और उपाकरण के समय का जो १७वाँ अन्तिम पशु, उस पर उपाकरण के पश्चात् तत्काल नियोजन का संस्कार करने के कारण– उन दोनों संस्कारों के मध्य में कोई भी व्यवधान नहीं रहेगा। यह निम्नांकित आकृति से ध्यान में आ सकेगा–

व्युत्क्रमानुसार

१ २ ३ ४ ५ ६ ७ ८ ९ १० ११ १२ १३ १४ १५ १६ १७

३४ ३३ ३२ ३१ ३० २९ २८ २७ २६ २५ २४ २३ २२ २१ २० १९ १८

३२ ३० २८ २६ २४ २२ २० १८ १६ १४ १२ १० ८ ६ ४ २ ०

इस प्रकार अव्यवस्था उत्पन्न हो जायगी। और एक बार शास्त्र के द्वारा षोडश संस्कारों का व्यवधान अनुज्ञात होने पर उसमें न्यूनाधिक्य उत्पन्न होना योग्य नहीं। अत: सोलह (१६) समान व्यवधानों को सर्वत्र स्थिर रखने के लिए 'प्रवृत्तिक्रम' को स्वीकार करना ही आवश्यक है।।७२।।

अनुवाद– सोऽयमिति । *प्रवृत्तिक्रम, श्रुति आदि सभी प्रमाणों से दुर्बल होता है। इस प्रकार ६ प्रकार के क्रमों के निरूपण के साथ 'प्रयोगविधि' का संक्षेप में विवेचन हुआ।।७३।।*

।। अर्थमीमांसा ।।

यह प्रवृत्तिक्रम– श्रुति, अर्थ, पाठ, स्थान और मुख्य– इन पांचों प्रमाणों से दुर्बल

(७४) अधिकारविधिलक्षणम्

कर्मजन्यफलस्वाम्यबोधको विधिरधिकारविधिः। कर्मजन्यफलस्वाम्यं कर्मजन्यफलभोक्तृत्वम्। स 'च यजेत स्वर्गकामः' इत्यादिरूपः। स्वर्गमुद्दिश्य यागं विदधताऽनेन स्वर्गकामस्य यागजन्यफलभोक्तृत्वं प्रतिपाद्यते। 'यस्याहिताग्नेरग्निर्गृहान् दहेत्सोऽग्नये क्षामवतेऽष्टाकपालं निर्वपे'दित्यादिनाऽग्निदाहादौ निमित्ते कर्म विदधता निमित्तवतः कर्मजन्यपापक्षयरूपफलस्वाम्यं प्रतिपाद्यते। एवमहरहः सन्ध्यामुपासीतेत्यादिना शुचिविहितकालजीविनः सन्ध्योपासनजन्यप्रत्यवायपरिहाररूपफलस्वाम्यं चोद्यते।।७४।।

सति सप्तदशप्राजापत्यान्पशूनालभेतेत्युत्पत्तिवाक्ये वैश्वदेवीं कृत्वा प्राजापत्यैश्चरन्तीति प्रयोगवाक्ये च श्रुतं साङ्गानां सप्तदशपशुयागानां साहित्यमुपपद्यते। अन्यथा तेष्वेकैकस्मिन् यथा वपाकरणनियोजनादिसर्वसंस्काराणां समापने प्रत्यक्षवचनावगतपशुसाहित्यं बाधितं भवेदिति। एवं निरूपितं षड्विधक्रमनिरूपणेन प्रयोगविधिमुपसंहरति-तदेवमिति।।७३।।

इदानीं क्रमप्राप्तमधिकारविधिं निरूपयति-कर्मजन्येति। कर्मजन्यफलस्वाम्य-

---

होता है। मुख्यक्रम के प्रकरण में प्रवृत्तिक्रम की अपेक्षा मुख्यक्रम किस प्रकार अधिक बलवान् होता है, निरूपित किया जा चुका है। अत: निश्चय ही मुख्यक्रम का पूर्ववर्तीक्रम मुख्यक्रम की अपेक्षा बलवान् होगा ही यह स्पष्ट है। इस प्रकार क्रमप्रतिपादक जो षड्विध श्रुत्यादिक प्रमाण हैं, उनका यहाँ तक विवेचन के साथ संक्षिप्तरूप से निरूपित 'प्रयोगविधि' निरूपण समाप्त हुआ।।७३।।

__अनुवाद– कर्मजन्येति__। यागादि कर्मजन्य स्वर्गादि फल के स्वामित्व बोधक विधि को __'अधिकारविधि'__ कहते हैं। कर्मजन्यफलभोक्तृत्व को ही कर्मजन्यफलस्वामित्व कहते हैं। यह अधिकारविधि __'यजेत स्वर्गकामः'__ इत्यादि रूप होता है। यह विधि स्वर्ग को उद्देश्य करके याग का विधान करता हुआ स्वर्गकाम पुरुष को यागजन्य फल का अधिकारी बनाता है। __'यस्याहिताग्नेरग्निर्गृहान्दहेत्सोऽग्नये क्षामवतेऽष्टाकपालं निर्वपेत्'__ (अग्न्याधान किये हुए जिस पुरुष का घर अग्नि से जल गया हो वह पुरुष क्षाम गुण विशिष्ट अग्नि के लिए आठ कपालों से बने हुए पुरोडाश का निर्वाप करे) इससे यह बोध होता है कि उक्त प्रकार से पुरोडाश निर्वाप से उत्पन्न होने वाला पापक्षयरूप फल उसी पुरुष को मिल सकता है जो अग्न्याधान कर चुका हो और साथ ही जिसका घर भी जल चुका हो। इसी प्रकार 'अहरहः सन्ध्यामुपासीत' यह विधि पवित्रतापूर्वक जीवन व्यतीत करने वाले पुरुष को सन्ध्योपासनजन्यप्रत्यवायपरिहार रूपफल का अधिकारी बोधित करता है।।७४।।

मिति । सचेति । अधिकारविधिश्चेत्यर्थः । अनेनेति । यजेत स्वर्गकाम इत्यादिवाक्येनेत्यर्थः । तत्रोदाहरणान्तरमाह । यस्येति । क्षामवत इति । क्षामवत्वगुणविशिष्टायेत्यर्थः । निमित्तवत इति । अग्निना गृहदाहादिरूपनिमित्तवतः पुरुषस्येत्यर्थः । इत्यादिना कर्म विदधता विधिनेत्यन्वयः । कर्मजन्येति । अग्निदेवताककर्मजन्येत्यर्थः । तत्रैवोदाहरणान्तरमाह-एवमिति । शुचिविहितकालजीविन इति शौचविशिष्टत्वे सति विहितकालजीविन इत्यर्थः ।।७४।।

।। अर्थमीमांसा ।।

अधिकारविधि का लक्षण **'कर्मजन्यफलस्वाम्यबोधको विधिरधिकारविधिः'** इत्यादि वाक्य के द्वारा निरूपित किया गया है। लक्षण में प्रयुक्त– **'कर्मजन्यफलस्वाम्य'** पद का अर्थ– **'कर्मजन्यफल-भोक्तृत्व'** के रूप में दिया गया है। अर्थात् कर्मजन्य फलभोग (भोक्तृत्व) ही कर्मजन्यफलस्वामित्व हैं। यागादिक कर्म से उत्पन्न होने वाला (जन्य) जो स्वर्गादिफल, उसका स्वाम्य अर्थात् भोक्तृत्व (भोक्ता) किसे प्राप्त होता है इसके विषय में (फल के उपभोक्ता का) बोध करानेवाला विधि ही 'अधिकारविधि' होता है। **'यजेत स्वर्गकामः'** इत्यादि प्रकार के जो विधि हैं, वे अधिकारविधि के उदाहरण हैं। और **'यजेत स्वर्गकामः'** वाक्य के साथ उपर्युक्त अधिकारविधि के लक्षण का समन्वय **'स्वर्गमुद्दिश्य यागं विदधता'** इत्यादि वाक्य के द्वारा निर्देशित किया गया है। अर्थात् इस विधि के द्वारा यह प्रतिपादित किया गया है कि जिसे स्वर्ग की कामना है, ऐसे स्वर्गकामी मनुष्य को उस याग से उत्पन्न होने वाले स्वर्गरूपी फल का भोक्तृव प्राप्त होता है। और इसलिए यह विधि अधिकारविधि होता है।

यागादिक जो अनेक कर्म अनुष्ठेय होते हैं, उनके तीन भेद होते हैं– (१) काम्य (२) नैमित्तिक और (३) नित्य। **मीमांसापरिभाषा** में उक्त भेदों को 'अर्थकर्म' के भेदों के रूप में परिगणित किया है[१]। किसी कामना को हृदय में रखकर, उसे प्राप्त करने के लिए जो कर्म किये जाते हैं, वे **काम्य कर्म** कहलाते हैं। किसी निमित्त के कारण जो कर्म किये जाते हैं, वे **नैमित्तिक कर्म** होते हैं, जैसे– अग्निदाहादि रूप निमित्त। कामना से या बिना किसी कामना के, किसी निमित्त से या बिना किसी निमित्त के जो कर्म किये जाते हैं, वे **नित्यकर्म** होते हैं। संध्यावन्दनादि सदृश कर्म जिनका अनुष्ठान प्रत्येक स्थिति में करना आवश्यक होता है, और न करने से प्रत्यवाय दोष उत्पन्न होता है, वे नित्यकर्म हैं। उक्त कर्मों में से प्रथम काम्यकर्मसम्बधित अधिकारविधि का **'यजेत स्वर्गकामः'** उदाहरण प्रस्तुत किया गया है। **'यस्याहिताग्नेः'**– वाक्य के द्वारा नैमित्तिक कर्म के अधिकारविधि का उदाहरण प्रस्तुत किया गया हैं। दूसरे प्रकार के अधिकारविधि का वाक्य इस प्रकार है–

---

१. द्रष्टव्य- अर्थकर्म त्रिविधम् - नित्यनैमित्तिककाम्य-भेदात् (परिभाषा)।
२. तै. सं. कां. १, प्रपा. ३, अनु. १४

'यस्याहिताग्नेरग्निर्गृहान्दहेत् सोऽग्नये क्षामवतेऽष्टकपालं निर्वपेत् ।'[२] ('अग्न्याधान किये हुए जिस पुरुष का घर अग्नि दहन करेगा (या घर अग्नि से जल गया हो) वह पुरुष 'क्षामवत्' नामक अग्नि के लिए आठ कपालों से बने हुए पुरोडाश का निर्वाप करे') सायणभाष्य में मूल मंत्र में प्रयुक्त **'क्षामवते'**– का अर्थ **'क्षुधा युक्ताय'** दिया गया है। यहाँ घरों का अग्नि के द्वारा दाह किया जाना, अर्थात् **'गृहदाह'** निमित्त कारण है। और यह निमित्त कारण उत्पन्न होने पर ही क्षामवती इष्टि करें– इस प्रकार का विधि इस वाक्य में विहित है। गृहदाह के विषय में समझा जाता है कि आहिताग्नि के हाथ से अग्निदेवता से सम्बन्धित कर्म के आचरण में कोई पाप उत्पन्न हुआ हो, जिसके परिणामस्वरूप गृहदाह हुआ हो। अर्थात् गृहदाह वस्तुतः पापसूचक है। और उस पाप का क्षय होना आवश्यक है। पापक्षयरूपी फल उसी पुरुष को प्राप्त हो सकता है, जो अग्न्याधान कर चुका हो, और साथ ही जिसका गृह जल चुका हो। अर्थात् वह अग्निहोत्री– यजनकर्ता 'निर्वापजन्यपापक्षयरूपफल' का अधिकारी हो जाता है। यही बात इस विधि के द्वारा निरूपित होने के कारण यह 'अधिकारविधि' का दूसरा उदाहरण है।

'अहरहः सन्ध्यामुपासीत'– यह नित्यकर्म का द्योतक वाक्य अधिकारविधि का तीसरा उदाहरण है। **'यावज्जीवमग्निहोत्रं जुहोति'**, **'यावज्जीवं दर्शपूर्णमासाभ्यां यजेत'**– इत्यादि वाक्य भी नित्यकर्म के अन्य उदाहरण प्रस्तुत करने योग्य हैं। ये उदाहरण नित्यकर्म को अनुलक्षित कर प्रस्तुत किये गये हैं।

प्रातःकाल, मध्याह्नकाल और सायंकाल– सन्ध्यावन्दन के शास्त्रविहित त्रिकाल हैं, निर्दिष्ट समय पर शुचिर्भूत होकर प्रतिदिन सन्ध्या की उपासना करना ही नित्यकर्म है। यहाँ ग्रन्थ के मूल पाठ में **'शुचिविहितकालजीविनः'**– प्रयुक्त पद का अर्थ टीका में– 'शौचे विशिष्टत्वे सति विहितकालजीविनः'– दिया गया है। **'शौचविशिष्टे सति'** का अर्थ– **'अशौचादिरहितत्वे सति'**– ग्रहण करना चाहिए।[१] नित्यकर्म न करने पर प्रत्यवाय (दोष) उत्पन्न होता है। और करने पर उस प्रत्यवाय दोष का परिहार हो जाता है। सन्ध्योपासना से प्रत्यवायपरिहाररूपी फल की प्राप्ति होती है। और फल का स्वाम्यत्व शास्त्रविहित काल में शुचित्वेन सन्ध्योपासना करके जो अपना जीवन व्यतीत करता है, उसे प्रत्यवायपरिहाररूपी फल उपभोग के लिए प्राप्त होता है। और यह तथ्य **'अहरहः सन्ध्यामुपासीत'**– विधि के द्वारा बोधित होता है। अतः यह 'अधिकारविधि' का उदाहरण है। और इसका नित्यकर्म से संबन्ध होने के कारण यह तीसरे प्रकार के कर्म का उदाहरण है[२]।।७४।।

---

१. **'काले कुर्यात् शुचिः कुर्यात्'– इति श्रुत्या शौचमधिकारिविशेषणम्**। लघुपूर्वमीमांसा, अधि. ६२

२. जै. सू. अ. २, पा. ४, अधि. १

(७५) फलस्वाम्यम्

तच्च फलस्वाम्यं तस्यैव योऽधिकारविशिष्टः। अधिकारश्च यद्विधिवाक्येषु पुरुषविशेषणत्वेन श्रूयते। यथा काम्ये कर्मणि फलकामना। नैमित्तिके कर्मणि निमित्तनिश्चयः। नित्ये सन्ध्योपासनादौ शुचिविहितकालजीवित्वम्। अतएव 'राजा राजसूयेन स्वाराज्यकामो यजेते'त्यनेन विधिवाक्येन स्वाराज्यमुद्दिश्य विदधतापि न स्वाराज्य-मात्रकामस्य तत्फलभोक्तृत्वं प्रतिपाद्यते। किंतु राज्ञः सतः स्वाराज्य-कामस्यैव। राजत्वस्यापि अधिकारिविशेषणत्वेन श्रवणात्॥७५॥

तच्चेति। फलविधिबोधितं चेत्यर्थः। को ह्यधिकारो यद्विशिष्टस्य पुंसः कर्मज-न्यफलभोक्तृत्वरूपं फलस्वाम्यं विधिना बोध्यत इत्यत आह-अधिकारश्चेति। अतएवेति। विधिवाक्येषु पुरुषविशेषणत्वेन श्रूयमाणस्याधिकारत्वादेवेत्यर्थः। स्वाराज्यमुद्दिश्येत्यत्र राजसूयमिति राज्ञः सत इति क्षत्रियस्य सत इत्यर्थः। तत्र हेतुमाह। राजत्वस्येति। श्रवणादिति। राजा राजसूयेनेत्यत्र श्रवणादित्यर्थः। अत्र हि

अनुवाद– ***तच्चेति।*** *फल का स्वामी वही व्यक्ति होता है जो अधिकार से विशिष्ट होता है तथा जो विधिवाक्यों में कर्ता के विशेषण रूप में जाना जाता है, उसे 'अधिकार' कहते हैं। जैसे–काम्यकर्म में स्वर्गादि रूप फल की कामना,* ***नैमित्तिक*** *कर्म में अग्निदाहादि रूप निमित्त का निश्चय तथा* ***नित्य*** *सन्ध्योपासनादि कर्म में पवित्रतापूर्वक जीवन यापन। अतएव 'राजसूयेन स्वराज्यकामो यजेत' (स्वराज्य प्राप्ति का इच्छुक राजा राजसूय याग करे) यह विधिवाक्य स्वाराज्य को उद्देश्य करके याग का विधान करता हुआ भी मात्र स्वाराज्यकामी व्यक्ति को राजसूय याग के फल का अधिकारी प्रतिपादित नहीं करता अपितु राजा होते हुए भी स्वराज्यकामी व्यक्ति को ही तज्जन्य फल का अधिकारी मानता है। क्योंकि 'राजत्व' को भी अधिकारी पुरुष के विशेषणरूप में सुना गया है॥७५॥*

॥ अर्थमीमांसा ॥

यहाँ तक पूर्व के प्रकरण में अधिकारविधि का लक्षण फलस्वाम्य की दृष्टि से निरूपित किया गया। अब अधिकारविधि में 'अधिकार'[१] के अर्थ को अर्थात् उसके स्वरूप को **'तच्च फलस्वाम्यम्'** इत्यादि वाक्यों के द्वारा विशद किया जा रहा है। अब प्रश्न यह है कि– फलभोक्तृत्व किसे प्राप्त होता है? अर्थात् जो पुरुष अधिकार विशिष्ट होगा, उसे ही प्राप्त होता है। इस प्रसंग में **'पुरुष'** का अर्थ– अधिकारविशिष्ट पुरुष– समझा जाना चाहिए। **'अधिकारविशिष्ट'** में प्रयुक्त 'अधिकार' का अर्थ है– विधिवाक्य में पुरुष के विशेषण रूप में जो कुछ निरूपित होता है, वही अधिकार होता है। अर्थात् जो विधिवाक्यों में कर्त्ता के विशेषण रूप में जाना जाय, या सुना जाय, उसे 'अधिकार' कहा जाता है। उदाहरणार्थ–

---

१. स चाऽधिकारो न फलकामनावत्पुरुषमात्रस्य, किन्तु अधिकारिविशेषणविशिष्टस्यैव। (तं.सि.र.द्वि.परि.)

राजशब्देन क्षत्रिय एवोच्यते नतु राज्यसम्बन्धमात्रेण तदन्योऽपि तेन क्षत्रियस्यैव राजसूयेऽधिकारो नतु तदन्यस्य ब्राह्मणादेरित्यन्यत्र विस्तर इति भावः ।।७५।।

'यजेत स्वर्गकामः' इस काम्यकर्म के विधिवाक्य में **'स्वर्गकामः'** पद को पुरुष के विशेषणरूप में प्रयुक्त किया गया है। अर्थात् यहाँ स्वर्गरूपी फल प्राप्त होने के सम्बन्ध में **'कामना'** पुरुष का विशेषण होने के कारण काम्यकर्म में 'फलकामना' अधिकार है।

इसके पूर्व कर्म के तीन प्रकारों को निरूपित किया गया है– वे हैं– (१) **काम्य**, (२) **नैमित्तिक** और (३) **नित्य**। इनके अनुसार अधिकार के भी तीन भेद होते हैं– (१) **फलकामना**, (२) **निमित्तनिश्चय** और (३) **शुचिविहितकालजीवित्व**। इनमें से प्रथम प्रकार का जो अधिकार है (फलकामना) उसे इसके पूर्व निरूपित किया गया है। अब दूसरे प्रकार का **'निमित्तनिश्चय'** रूप जो अधिकार है, उसे बताते हैं– [**'यस्याहिताग्नेरग्निगृहान्दहेत्सोअग्नये क्षामवतेऽष्टाकपालं निर्वपेत्'**] यह नैमित्तिक कर्म का विधिवाक्य है। और इस वाक्य में प्रयुक्त **'सः'** पुरुषवाचक शब्द है और **'यस्याहिताग्नेरग्निर्गृहान्दहेत्'** उसके विशेषण के रूप में प्रयुक्त है। और विशेषण ही 'अधिकार' होता है। इस विशेषण में क्षामवती इष्टि के प्रयोजक स्वरूप गृहदाह के निमित्त को निरूपित किया गया है। अतः इस निमित्त का निश्चय ही अधिकार है। "**यस्याहिताग्ने.....क्षामवते.......प्रतिपाद्यते**।" विधिवाक्य के द्वारा निर्वाप का अधिकार उस आहिताग्नि (व्यक्ति) को है जिसका गृह अग्नि ने जला दिया हो। यहाँ **'गृहदाह'** निमित्तकारण है एवं **आहिताग्नित्व** अधिकारी का विशेषण है।

'अहरहः सन्ध्यामुपासीत' यह विधिवाक्य **नित्यकर्म** का द्योतक है। इसमें **'अहरहः'**– इत्यादि पदों के द्वारा **शुचिविहित–कालजीवित्व** को पुरुष के विशेषण के रूप में निरूपित किया गया है। अतः 'शुचिविहितकालजीवित्व' यह संध्योपासन आदि नित्यकर्म में अधिकार है।

उपर्युक्त तीन उदाहरणों से यह सिद्ध होता है कि विधिवाक्य में पुरुष विशेषणत्वेन जो कुछ निरूपित किया जाता है, वह 'अधिकार' कहलाता है। उक्त नियम के प्रकाश में **'राजा राजसूयेन स्वाराज्यकामो यजेत'**– इस विधिवाक्य का परीक्षण करने पर प्रतीत होता है कि- **'यजेत स्वर्गकामः'** वाक्य में स्वर्ग के उद्देश्य से जिस प्रकार याग विहित है, उसी प्रकार प्रस्तुत वाक्य में स्वाराज्य के उद्देश्य से राजसूय विहित है। अतः स्वाराज्यरूपी फल की कामना ही यहाँ पुरुष का विशेषण है। इसका तात्पर्य यह हुआ कि जिस को स्वाराज्यफल कामना उत्पन्न होगी, उस पुरुष को इसके योग से राजसूय यज्ञ करने का अधिकार प्राप्त होगा। **किन्तु वस्तुतः जिस किसी को राजसूय याग करने का अधिकार प्राप्त नहीं हो सकता**। क्योंकि, उपर्युक्त विधिवाक्य में **'राजा'** भी एक पद है। यहाँ राजा-पद से **'क्षत्रिय'** अर्थ ग्रहण करना चाहिए। एवञ्च **'स्वाराज्यकामः'** जिस प्रकार पुरुषविशेषण है, उसी प्रकार **'राजा'** पद भी एक और पुरुषविशेषण है। अर्थात् क्षत्रिय होने के कारण यदि उसे स्वाराज्यप्राप्ति की कामना होती है, तो उसे राजसूय यज्ञ करने का अधिकार प्राप्त हो सकेगा, अन्यथा नहीं।[१] इसका तात्पर्य यह है कि उक्त वाक्य में विशेषण रूप से दो पद **'राजा'** एवं **'स्वाराज्यकामः'** प्रयुक्त है। राजसूय याग करने का अधिकारी वही हो सकता है जो

---

१. द्रष्टव्य– जै. सू. अ. २, पा. ३, अधि. २

(७६) अश्रुतपुरुषविशेषणम्

क्वचित्तु पुरुषविशेषणत्वेनाश्रुतमप्यधिकारिविशेषणम्। यथा-अध्ययनविधिसिद्धा विद्या। क्रतुविधीनामर्थज्ञानापेक्षणीयत्वेनाध्ययनविधिसिद्धार्थज्ञानवन्तं प्रत्येव प्रवृत्तेः। एवमग्निसाध्यकर्मसु आधानसिद्धाग्निमत्ता। अग्निसाध्यकर्मणामग्न्यपेक्षत्वेन तद्विधीनामाधानसिद्धाग्निमन्तं प्रत्येव प्रवृत्तेः। एवं सामर्थ्यमपि। 'आख्यातानामर्थं ब्रुवतां शक्तिः सहकारिणी'ति न्यायात्। समर्थं प्रत्येव विधिप्रवृत्तेः। तदेवं निरूपितो विधिः ।।७६।।

इदमत्र चिन्त्यते। दर्शपूर्णमासाभ्यां स्वर्गकामो यजेतेति श्रूयते। तत्र क्रियानिष्पादकत्वं कर्तृत्वं फलभोक्तृतया स्वामित्वमधिकारः तादृशोऽधिकारो यागकर्तुर्नास्ति कुतः फलभोगाभावात्। तथाहि यजेतेत्यत्राख्यातेन भावनाभिधीयते तस्यां च धात्वर्थो भाव्यः एकपदोपात्तत्वात्। स्वर्गस्तु पदान्तरोपात्तत्वाद्वाक्येन भाव्यतया ऽन्वेतव्यः तच्च

स्वाराज्यकामी होने के साथ-साथ क्षत्रिय भी हो।

पूर्व में अधिकार के जो तीन भेद निरूपित हैं, उन तीनों ही स्थानों पर विधिवाक्य में पुरुषविशेषण प्रत्यक्ष रीति से श्रुत है। और उस श्रुत पुरुषविशेषण से ये तीन भेद उत्पन्न हुए है। इसके अतिरिक्त **'अश्रुत' पुरुषविशेषण** से अधिकार के और तीन प्रकार होते हैं। उन्हें अग्रिम प्रकरण में निरूपित किया जायगा-।।७५।।

अनुवाद- क्वचित्विति। *कुछ स्थलों पर पुरुष के विशेषण रूप में न सुने गये रहने पर भी, वह अधिकारी का विशेषण होता है। यथा- 'स्वाध्यायोऽध्येतव्य:' इस अध्ययन विधि में विद्या का श्रवण न रहने पर भी 'विद्या' अधिकारी का विशेषण होती है। क्योंकि याज्ञिक विधियों में अर्थज्ञान अपेक्षित रहता है। अत: अध्ययन द्वारा अर्थज्ञ मनुष्य को उद्देश्य करके याज्ञिक विधियों की प्रवृत्ति होती है। इसी प्रकार अग्निसाध्य कर्म का अनुष्ठाता पुरुष वही हो सकता है जिसने नियमपूर्वक अग्न्याधान कर लिया है। क्योंकि अग्निसाध्यकर्मों में अग्नि की अपेक्षा रहने से अग्निसाध्यविधियों की प्रवृत्ति आधानसिद्ध अग्निवालों के लिये होती है। इसी प्रकार तत्तत् क्रियाओं के सम्पादन सामर्थ्य को भी अनुष्ठेय कर्म के लिये पुरुष का विशेषण स्वीकार किया जाना चाहिए क्योंकि 'आख्यातानामर्थं ब्रुवतां शक्ति: सहकारिणी' इस न्याय से यह विदित होता है कि आख्यात जब अर्थ का बोध कराते हैं तब पुरुषगत सामर्थ्य भी अर्थबोध में सहायक होता है। इस प्रकार विधि का निरूपण समाप्त हुआ।।७६।।*

।। अर्थमीमांसा ।।

इसके पूर्व पुरुषविशेषण के दो प्रकारों- (१) श्रुत और (२) अश्रुत के सम्बन्ध में बताया गया है। उन दो प्रकारों में से **श्रुत विशेषणों** के उदाहरणों को भी इसके पूर्व निरूपित किया गया है। अब अधिकारी पुरुष के जो अन्य विशेषण होते हैं, उन्हें यहाँ निर्देशित किया

वाक्यमेकपदरूपया श्रुत्या बाध्यते। स्वर्गस्य भाव्यत्वाभावे सति गुणत्वमभ्युपेयं स्वर्गशब्दो नात्र सुखवाची किन्तु सुखसाधनं चन्दनादिद्रव्यं ब्रूते, लोके तथा व्यवहारात्। तच्च कामयितुं योग्यं तेन द्रव्येण विना यागानिष्पत्तेः। तस्मादस्मिन्वाक्ये फलानभिधाने तद्योगाभावात्कर्तुर्योगे कर्तृत्वमेव नत्वधिकार इत्यधिकारलक्षणं नारब्धव्यमिति प्राप्ते ब्रूमः यजेतेत्यत्र प्रत्ययस्य केवलमाख्यातरूपत्वमेवेति नच मन्तव्यं किन्तु लिङ्प्रत्ययत्वेन विधिरूपत्वमप्यस्ति। तत्राख्याततत्वाकारेण भावनामाचष्टे विधित्वाकारेण पुरुषं प्रवर्तयति पुरुषश्च स्वाभिमतफलमन्तरेण न प्रवर्तते इति तदपेक्षितं स्वर्गमेव भाव्यतया विधिरुपादत्ते स्वर्गशब्दश्चोत्कृष्टे सुखे रूढः द्रव्ये तु लाक्षणिकः तस्मात्सुखस्य भाव्यत्वं विधिश्रुत्या सिद्धं धात्वर्थस्य तु भाव्यत्वमेकपदेन प्रतीयमानमपि प्रत्ययेन नावगम्यते किन्तु प्रकृत्या तथा सति स्वर्गभाव्यत्वं भावनायां प्रत्यासन्नमेकेनैव विधिरूपेणाख्यातेनावगमात्कमियोगादपि स्वर्गस्यैव भाव्यत्वं तस्मात्फलभोगसम्भवेन कर्तुरधिकारोस्तीत्यधिकारलक्षणमारब्धव्यमिति विधिवाक्येष्वश्रुतमपि किञ्चिदधिकारिविशेषणत्वेनान्यथानुपपत्त्या तत्समाश्रयणेन व्यवहारोपपत्तिरित्याशयेनाह-क्वचित्विति। तत्रोदाहरणमाह-यथेति। विधेरन्यत्रविधिवाक्येष्वश्रुतमप्यधिकारिविशेषणत्वेन तद्विशेषणमिति शेषः तत्र हेतुमाह-क्रत्वित्यादिना। तत्रैवोदाहरणान्तरमाह-एवमिति।

जा रहा है– वे विशेषण– (१) **विद्या** (२) **अग्निमत्ता** और (३) **सामर्थ्यसंज्ञक** तीन प्रकार के हैं।

(१) **'स्वाध्यायोऽध्येतव्यः'** अध्ययनविधि है। अध्ययनविधि के अनुसार– अर्थज्ञान से युक्त वेद से सम्बन्धित विद्या पूर्ण होने के पश्चात् यज्ञयागादिकों के अनुष्ठान में जो बातें विहित होती हैं, उनका अर्थ यज्ञ का अनुष्ठान करनेवाले अधिकारी पुरुष को ज्ञात होने लगता है। और इस प्रकार अर्थज्ञान जिसे पूर्व में हो चुका है, ऐसे अधिकारी पुरुष को अनुलक्षित कर **'स्वर्गकामो यजेत'**– इत्यादि निर्देश देने के लिए विधि प्रवृत्त होता है। तात्पर्य यह है कि क्रतुविधायक विधियों में **'स्वाध्यायोऽध्येतव्यः'**– इस अध्ययनविधि द्वारा विहित विद्या को अधिकारीपुरुष का विशेषण माना जाता है, यद्यपि यह 'श्रुत' नहीं है। क्रतु का अधिकार उसी को है जिसने अर्थज्ञानपूर्वक वेदाध्ययन किया हो। अतः क्रतुविधियों की प्रवृत्ति भी स्वभावतः ऐसे पुरुष के प्रति होती है, जिसने वेदाध्ययन अर्थज्ञानपूर्वक किया हो। क्योंकि पूर्वार्जित विद्या से यज्ञविषयक विधि भाग का अर्थज्ञान प्राप्त करने का जिसके पास कुछ साधन न हो, ऐसे पुरुष को यज्ञानुष्ठान करने के लिए विधि क्यों प्रवृत्त होगा? अतः अग्न्याधान के अनन्तर अनुष्ठेय जो दर्शपूर्णमासादिक (उत्तर) क्रतुविधि हैं, उन उत्तरक्रतुविधियों को (अर्थात् यज्ञविषयक विधियों को) अर्थज्ञान की अपेक्षा होने के कारण **'स्वाध्यायोऽध्येतव्यः'** विधि, पूर्व में सार्थवेदाध्ययन जिसने संपादित किया है, ऐसे पुरुष को ही यज्ञानुष्ठान करने के सम्बन्ध में निर्देश देने के लिए प्रवृत्त होता है। अतः विधिप्रवृत्ति से जो अध्ययनविधिसिद्ध विद्या है, वह अधिकारीपुरुष का एक विशेषण बने (या होना चाहिए,) यह स्पष्ट है। **'स्वर्गकामः'** अथवा **'यस्याहिताग्नेरग्निर्गृहान्दहेत्'**– इत्यादि स्थानों पर जिस प्रकार पुरुषविशेषण साक्षात् श्रुत हैं, वैसे 'अध्ययनसिद्धविद्या' पुरुषविशेषण साक्षात् श्रुत नहीं है। परन्तु वह आर्थिक रीत्या

अग्निमतेत्यत्रापि पूर्ववदेव शेषो बोध्यः तत्रापि हेतुमाह-अग्निसाध्येति । तद्विधीनामिति । अग्निसाध्यकर्मविधीनामित्यर्थः। अनेन च निरुक्ताधिकारिविशेषणेन शूद्रस्य यागे नाधिकारो ध्वनितः । तस्याध्ययनविधिसिद्धविद्याया अभावादाधानसिद्धाग्निमत्ताया अभावाच्च । किञ्च अध्ययने ह्युपनीतस्यैवाधिकारात् उपनयनेऽपि चाष्टवर्षं ब्राह्मणमुपनयीतेत्यादिना त्रैवर्णिकस्यैवाधिकारविधानात् अग्नयाधानेऽपि वसन्ते ब्राह्मणोऽग्नीनादधीतेत्यादिना त्रैवर्णिकमात्रस्याधिकारविधानाच्च यद्यपि वर्षासु रथकारोऽग्नीनादधीतेत्यनेन रथकारस्य सौधन्वानापरनामकस्याग्नयाधानं विहितं योगाद्रूढेर्बलीयस्त्वात् तथापि नास्योत्तरकर्मस्वधिकारः । तस्याध्ययनविधिसिद्धविद्याया अभावादित्यन्यत्र विस्तर इति भावः । ननु तत्र रथं करोतीति व्युत्पत्त्या त्रैवर्णिक एव रथकारो नतु शुद्रस्य तत्राप्यधिकार इति चेन्न । सङ्कीर्णजातिविशेषरथकारशब्दस्य रूढत्वात्तथाहि वैश्यायां क्षत्रियादुत्पन्नो माहिष्यः शूद्रायां वैश्यादुत्पन्ना करणी तस्यां करण्यां माहिष्यादुत्पन्नो रथकारः । तथाच याज्ञवल्क्यः- 'माहिष्येण करण्यां तु रथकारः प्रजायत' इति । तस्मान्न तादृशव्युत्पत्या त्रैवर्णिको रथकारशब्देन ग्रहीतुं शक्यत इति । किञ्च कुत्रचिद्यागेऽपि कस्यचिच्छूद्रस्याधिकारो भवति । वास्तुमयं रौद्रं चरुं निर्वपेदिति प्रकृत्य एतया निषादस्थपतिं याजयेदिति श्रवणात् । वस्तुशब्दः किञ्चित्प्रकृतिद्रव्यविशेषमाह । एतस्यामिष्टावधिकारी निषादस्थपतिशब्दवाच्यस्त्रैवर्णिक

प्राप्त होता है। अत: इस विशेषण को **'अश्रुतविशेषण'** की कोटि में रखा गया है।

(२) उसी प्रकार **'अग्निमत्ता'** दूसरा अश्रुत विशेषण है। अब प्रश्न यह है कि **'दर्शपूर्णमासाभ्यां स्वर्गकामो यजेत'**– इत्यादि वाक्यों में याग का विधान किया गया है। वे याग अग्नि में देवताओं के उद्देश से हविर्द्रव्यों के प्रक्षेप द्वारा सिद्ध होते हैं। अत: इन यागों को अग्नि की आवश्यकता होती है। **'वसन्ते ब्राह्मणोऽग्निनादधीत'**– इस विधिवाक्य में विहितानुसार अग्नि का आधान करके सिद्ध किया हुआ अग्नि यागादिकों में आवश्यक होता है और जो आहिताग्नि (अर्थात् अग्न्याधान किया हुआ) होता है, उसके द्वारा (स्थापित) अग्न्याधान किया हुआ– अग्नि सिद्ध किया हुआ होता है। अत: उस आहिताग्नि में 'अग्निमत्ता' धर्म निहित रहता है। इसलिए दर्शपूर्णमासादिक यागों को आधानसिद्ध अग्नि की अपेक्षा होन से आधानसिद्ध अग्नि को रखनेवाले आहिताग्नि को अनुलक्षित कर यागानुष्ठान का निरूपण करने के लिए दर्शपूर्णमासादिक विधि प्रवृत्त होते हैं (तद्विधीनां प्रवृत्तेः)। 'तात्पर्य यह है कि अग्निसाध्य कर्म में **'आधानसिद्ध अग्निमत्ता'** पुरुष का विशेषण होती है। क्योंकि अग्नि द्वारा अनुष्ठेय कर्मों के अनुष्ठान में अग्नि की अपेक्षा होती है। अतएव अग्निसाध्य कर्मों का विधान करनेवाले विधियों की प्रवृत्ति ऐसे पुरुषों के प्रति ही होती है जो शास्त्र निर्धारित अग्न्याधान के नियमों के अनुसार अग्नि का आधान कर चुके होते हैं (तद्विधीनामाधानसिद्धाग्निमन्तं प्रत्येव प्रवृत्तेः)। यहाँ भी उपर्युक्त **'विद्या'** की तरह **'अग्निमत्ता'** विशेषण साक्षात् श्रुत न होने से, इसे भी 'अश्रुत' कहा गया है।

अब यहाँ एक शंका उत्पन्न होती है कि उपर्युक्त– **'स्वाध्यायोऽध्येतव्यः'** और **'वसन्ते ब्राह्मणोऽग्नीनादधीत'**– दोनों ही उदाहरण मूलभूत श्रौतविधि के होने पर भी इन्हें

एव कुतः निषादानां पतिरिति षष्ठीसमासस्य त्रैवर्णिके सम्भवात्। तस्य ह्यधीतवेदत्वेन विद्यासम्भवाच्चेति प्राप्ते ब्रूमः निषादश्चासौ स्थपतिश्चेति कर्मधारयसमासस्य मुख्यत्वान्न षष्ठीसमासेन त्रैवर्णिको निषादस्थपतिशब्दार्थः। षष्ठीसमासे तु सङ्कीर्णजाति-विशेषवाचिना निषादशब्देन तत्सम्बन्ध उपलक्ष्येत नत्वयं कर्मधारये दोषोऽस्ति। तस्मात् तात्कालिकाचार्योपदेशादिना विद्यां सम्पाद्य धनिको निषादो रौद्रं यागं कुर्य्यादिति राद्धान्तः। अध्ययनविधिसिद्धविद्यादिवत्पुरुषसामर्थ्यमपि विधिवाक्येष्वश्रुत-मप्यधिकारिविशेषणमित्याह-एवमिति। सामर्थ्यमिति। आज्यावेक्षणादिकं लौकिक-पुंसामर्थ्यमित्यर्थः। वैदिकसामर्थ्यस्याध्ययनविधिसिद्धविद्यादेः पूर्वमेवोक्तत्वादित्यर्थः। वृद्धोक्तन्यायं विनिगमकं समुदाहरन् तत्र हेतुमाह-आख्यातानामिति। अनेन च विशेषणेनान्धादेरनधिकारो ध्वनितः। इदमत्र विचार्यते। अन्धः पङ्गुर्बधिरो मूको गवाश्वादयश्च तिर्यञ्च इत्यादीनां चेतनत्वेन निरतिशयसुखरूपे स्वर्गकामना सम्भवति। अथोच्यते केषुचिदङ्गेषु तेषां शक्तिर्नास्ति तथाहि अन्धो नाज्यमवेक्षितुं क्षमः पङ्गुर्विष्णुक्रमेष्वशक्तः बधिरो नाध्वर्युप्रोक्तं शृणोति। तथाच क्लृप्तोर्वाचयतीति। विहितस्यानुष्ठानं न सिद्ध्येत्। मूकोऽनुमन्त्रणादावसमर्थः। तिर्यञ्चो बहुष्वसमर्था इति

अश्रुत उदाहरणों में कैसे सम्मिलित किया गया? इस शंका का समाधान यह है कि– **स्वाध्याय** और **अग्न्याधान** विषयक ये विधि सामान्य स्वरूप के हैं और **विद्या** तथा **अग्निमत्ता**– ये दोनों ही उनसे परम्परा (साक्षात् न होकर) से फलित होते हैं। यागानुष्ठान प्रारम्भ होने पर, यागानुष्ठान करनेवाले पुरुष को तद्विषयक अर्थज्ञान का होना आवश्यक है, और तदर्थ उसे आधानसिद्ध अग्नि की आवश्यकता होती है, नहीं तो, तदुत्तर क्रतुओं का अनुष्ठान करना संभव ही नहीं हो सकता। अतएव तदुत्तर यागानुष्ठान करने के लिए **विद्या** और **अग्निमत्ता**– ये पूर्व से ही सिद्ध हैं, यह समझकर ही कार्य करना पड़ता है। और इसीलिए इन पुरुषविशेषणों को 'अश्रुत' कोटि में रक्खा गया है।

'अष्टवर्षं ब्राह्मणमुपनयीत' 'एकादशवर्षं राजन्यम्' 'द्वादशवर्षं वैश्यम्'– इन वचनों के द्वारा त्रैवर्णिकों को ही उपनयन का विधान है और **'तमध्यापयीत'**– इस वचन के द्वारा उन्हें अध्ययन का अधिकार प्राप्त होने से, तथा **'वसन्ते ब्राह्मणोऽग्नीनादधीत' 'ग्रीष्मे राजन्यः' 'शरदिवैश्यः'**– इत्यादि वचनों के द्वारा उन्हें अग्न्याधान विहित होने से, **विद्या** और **अग्न्याधान** के योग से त्रैवर्णिकों को ही अधिकार प्राप्त होता है।[१]

(३) **विद्या** और **अग्निमत्ता**– इन दोनों को उपर्युक्त सामान्यविधि आधारभूत हैं, परन्तु तीसरे पुरुषविशेषण **'सामर्थ्य'**, को उपर्युक्त किसी भी विधि का आधार प्राप्त नहीं है और इस दृष्टि से **'सामर्थ्य'** विशेषण 'विद्या' और 'अग्निमत्ता' से भिन्न स्वरूप का है। **'सामर्थ्य'**– विशेषण को सामान्य व्यवहार की दृष्टि से नितान्त आवश्यक माना जाता है। क्योंकि, (समर्थं प्रत्येव विधिप्रवृत्तेः) जो समर्थ होगा, उसे ही यागानुष्ठान का उपदेश देने हेतु विधि प्रवृत्त होता

---

१. अत एव तदुभयाभावाच्छूद्रस्य न कर्मस्वधिकारः। अध्ययनं ह्युपनीताधिकारिकम्। उपनयनञ्च त्रैवर्णिकमात्रविषयकमिति। शूद्रस्योपनयनाभावादनुपनीतस्य चाऽध्ययनाभावात्तत्सिद्धं ज्ञान दुर्लभमेव। एवमाधानस्याऽपि त्रैवर्णिकमात्रविषयत्वेन तत्सम्पादिताऽग्निमत्तापि तस्य दुर्लभैवेति न शूद्रस्याऽग्नि-विद्यासाध्येषु वैदिककर्मस्वधिकारसिद्धिः (तं.सि.र.द्वि.परि.)

तन्न । यथाशक्त्यङ्गानामनुष्ठेयत्वात् । स्वर्गकामो यजेतेत्यनेन प्रधानवाक्येन सर्वाधिकारः प्रतीयते । स चाज्यावेक्षणाद्यङ्गवाक्यानुसारेण न सङ्कोचयितुं युक्तः किन्तु प्रधानानुसारेणाङ्गानुष्ठानमेव सङ्कोचयितुं युक्तं तस्मादन्धादेरप्यधिकार इति प्राप्ते ब्रूमः यदाज्यावेक्षणादयः पुरुषार्थतया विधीयेरन् तदा तल्लोपयिनः क्रतोर्वैकल्यं इह तु क्रत्वङ्गतया ते विहिता इति तल्लोपं क्रतुरेव न निष्पद्येत । तस्मादसमर्थस्य नास्त्यधिकार इति सिद्धम् । किञ्च ज्योतिष्टोमे श्रूयते यदुद्गातापछिद्येनादक्षिणोयज्ञः संस्थाप्योऽथान्यश्चाह । तव्यस्तत्र तद्दद्याद्यद्यत्पूर्वस्मिन्दास्यन्स्यात् यदि प्रतिहर्ता पच्छिद्येत सर्वस्वं दद्यादिति अस्यायमर्थः । प्रातः सवने बहिष्पवमानेन स्तोष्यमाणा ऋत्विजः शालायाः बहिः प्रसर्पन्ति तदानीमेकस्य पृष्ठतोऽन्य इत्येव पिपीलिकावत्पङ्क्त्याकारेण गन्तव्यं तत्र पुरतो गन्तुः कच्छं गृहीत्वैव पृष्ठतोऽन्यो गच्छेत् एवं सति यदि प्रमादादुद्गाता गृहीतं कच्छं मुञ्चेत् तदा दक्षिणामदत्वा प्रक्रान्तो यज्ञः समापनीयः । तं समाप्य पुनरपि स यज्ञः प्रयोक्तव्यः तस्मिन्प्रयोगे पूर्वं यद्दित्सितं द्रव्यं तद्दद्यात् । यदा प्रतिहर्ता मुञ्चेत् तदा तस्मिन्नेव प्रयोगे सर्वस्वं दद्यादिति । तत्र यदुद्गातृप्रतिहर्तारौ युगपत्तन्मुञ्चेतां तदानीमुक्तं प्रायश्चित्तनिमित्तं विहन्येत एककर्तृकोह्यपच्छेदो निमित्तत्वेन श्रुतः । अयन्तूभयकर्तृकत्वान्नैकेन व्यपदेष्टुं शक्यते तस्माच्छ्रूयमाणस्य निमित्तस्य विहितत्वान्नास्ति

है। जिस व्यक्ति में इन्द्रियादि अकुशलता होगी वह यज्ञ का अधिकारी नहीं हो सकता। क्योंकि **'चक्षुषा काणः'** पुरुष **आज्यावेक्षण** में अशक्त होगा, **'कर्णेन बधिरः'** पुरुष होता के आदेश को सुन न सकेगा। **'पादेन खञ्जः'** पुरुष **अभिक्रमण** नहीं कर सकेगा, और मूक पुरुष मन्त्रोच्चारण में असमर्थ होगा।[१] इसी प्रकार अन्य प्रकार के इन्द्रिय वैकल्य प्रतिबन्धक होंगे। तो फिर ऐसे इन्द्रियादि से विकल पुरुष को यागानुष्ठान करने का निर्देश देने के लिए विधि क्यों प्रवृत्त होगा? अतः स्पष्ट है कि जिसके शरीर में सामर्थ्य होगा, उसे ही विधि आज्ञा देने के लिए प्रवृत्त होता है। इसलिए **'सामर्थ्य'** को तीसरे पुरुषविशेषण के रूप में स्वीकार करना आवश्यक है। इस सामर्थ्य को स्वीकार करने के लिए आधारभूत **'स्वाध्यायोऽध्येतव्यः'** जैसा कोई भी वैदिक विधि नहीं है। अतः उस सामर्थ्य के आधारार्थ **'आख्यातानामर्थं ब्रुवतां शक्तिः सहकारिणी'**[२]– इस न्याय को प्रस्तुत किया गया है।

---

१. एवं मनुष्याणामपि विकलाङ्गानां नाऽधिकारः, तेषां यथावत्कर्मानुष्ठानासम्भवात्। अन्धस्याऽऽज्यावेक्षणासम्भवात्, मूकस्य मन्त्रोच्चारणाशक्तेः, पङ्गोर्विष्णुक्रमणेऽसामर्थ्यात्। बधिरस्य मन्त्रादिश्रवणाभावत्। अतोऽन्धादीनामप्रतिसमाधेयाङ्गानां कर्मस्वधिकारो नाऽस्त्येव। (तं. सि. र. द्विती. परि.)

2. The general meaning of the maxim is that when verbs (Ākhyātam) lay down certain things, it is presumed that they are laid down for those who are able to perform them. Thus, this ability (Sakti) to perform the things enjoined is the helpmate (Sahakarni) of verbs in all injunctions. Consequently, ability is regarded as an unmentioned qualification of the performer in the case of all rites'– Gajendragadkar A.B. Artha Samgraha English Notes. Page 209

प्रायश्चितमिति प्राप्ते ब्रूमः। द्वौ ह्यत्रापच्छेदौ तयोरेकैकस्यैकैकएव कर्तेति निमित्तस्य नास्ति विघातः कालमात्रैक्यादेकापच्छेदभ्रान्तिः तस्मान्निमित्तविघाताभावादस्ति प्रायश्चित्तम्। किञ्च अदक्षिणत्वं सर्वस्वदक्षिणत्वं चेति। यत्प्रायश्चित्तद्वयं निमितभेदेन श्रुतं तन्निमितद्वयसन्निपाते समुच्चेतव्यम्यद्यदक्षिणत्वसर्वस्वदानयोरन्योन्यविरोधस्तर्हि प्रयोगभेदेन व्यवस्थापनीयं अपच्छेदयुक्ते प्रथमप्रयोगे दक्षिणा न दातव्या उत्तरप्रयोगे सर्वस्वं दातव्यं सत्यपि प्रयोगेभेदे कर्मण एकत्वात् समुच्चय इति प्राप्ते ब्रूमः। नह्युत्तरप्रयोगे ऽपच्छेदो विद्यते न चासति निमित्ते प्रायश्चितं युक्तम्। तस्मात्प्रथमप्रयोग एव निमित्तद्वयवशात्प्रायश्चित्तद्वयं प्राप्तं तच्चान्योन्यविरुद्धं विकल्प्यते। किञ्च उद्गातृप्रतिहर्तृकर्तृकयोरपच्छेदयोर्यौगपद्ये समानबलत्वादस्तु प्रायश्चित्तयोर्विकल्पः। यदा तु क्रमेणापच्छेदौ स्यातां तादानीमसञ्जातविरोधित्वेन पूर्वस्य प्रबलत्वाच्छुतिलिङ्गा-दाविवोत्तरस्य प्रवृत्तिर्निरुध्यत इति चेन्मैवं श्रुतिलिङ्गादावुत्तरस्य पूर्वसापेक्षत्वात्पूर्वेण विरोधे सत्युतरस्योत्पत्तिरेव नास्ति। इह तु ज्ञानं द्वयमन्योन्यानिरपेक्षं वाक्यद्वयादुत्पद्यत इत्युत्पत्तिप्रतिबन्धो नास्ति। उत्पद्यमानं चोत्तरज्ञानं स्वविरुद्धस्य पूर्वज्ञानस्य बाधेनैवो-त्पद्यते। ननु निरपेक्षत्वस्य समानत्वात्पूर्वज्ञानमेवोत्तरस्य बाधकमस्त्विति चेन्न।

आख्यातानामर्थं ब्रुवतां शक्तिः सहकारिणी। यह नियम जैमिनिसूत्र के शबरस्वामीकृत भाष्य में 'सामर्थ्यानुसारेण अव्यवस्थित्त-व्यवस्थाधिकरण'[१] नामक अधिकरण में देखने को मिलता है। परन्तु तत्रस्थ न्यायभूत वाक्य का पाठ किंचित् भिन्न होने पर भी अधिक स्पष्ट है। वह पाठ इस प्रकार है– "आख्यातशब्दानामर्थब्रुवतां शक्तिः सहकारिणी"। किन्तु **जैमिनीय न्यायमालाविस्तर** में अंकित पाठ– "आख्यातानामर्थ– ऐसा ही है। उक्त अधिकरण का विषय इस प्रकार है– **'स्रुवेणाऽवद्यति**, **'स्वधितिनाऽवद्यति'**, **'हस्तेनावद्यति'**,– इत्यादिवाक्य श्रुति में देखने को मिलते हैं। इन वाक्यों के अनुसार– द्रविभूत, सान्द्र और कठोर, इत्यादि भिन्न-भिन्न प्रकार के हविर्भागों के द्रव्यों में से अवदानों को ग्रहण करना होता है। इन वाक्यों के सम्बन्ध से एक संशय उत्पन्न होता है कि क्या ऐसी कोई व्यवस्था है? जिससे **स्रुवा** (द्रवद्रव्यग्रहणयोग्य) **स्वधिति**– (मांसच्छेदनोपयोगी शस्त्रविशेष) और **हस्त**– इत्यादि में से अमुक साधन से अमुक हविर्द्रव्य ग्रहण करना चाहिए, या स्वेच्छा से, चाहे जिस साधन से, चाहे जो हविर्द्रवय ग्रहण किया जासकता है।

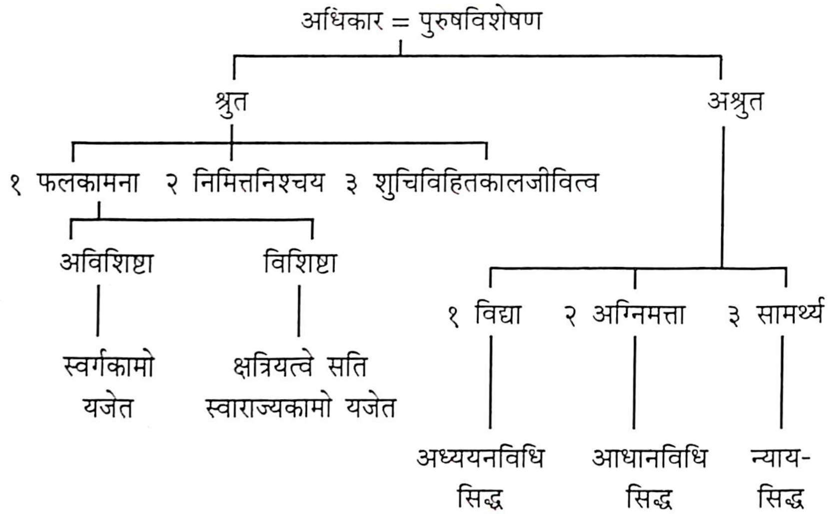
इस प्रकार की शंका उत्पन्न होने पर उसके समाधान में यह कहा जाता है कि शब्दों के अर्थ को ग्रहण करते समय उन शब्दों में निहित सामर्थ्य के अनुसार उन-उन शब्दों के अर्थों को ग्रहण करना या समझना चाहिए। जैसे– **'कटे भुङ्क्ते'** **'कांस्यपात्र्यां भुङ्क्ते'**– इत्यादि प्रकार के लौकिक वाक्यों का प्रयोग प्रायः देखने में आता है। किन्तु उन-उन वाक्यों में प्रयुक्त शब्दों के सामर्थ्यानुसार प्रथम वाक्य का अर्थ **'कटे आसीनः भुङ्क्ते'**– समझा जाता है, और दूसरे वाक्य का अर्थ– **'कांस्यपात्र्यामोदनं निधाय भुङ्क्ते**, किया जाता है। शब्दसामर्थ्यानुसार अर्थग्रहण करने की यह पद्धति जिस प्रकार लौकिक

---

१. द्रष्टव्य– जै. सू. अ. १, पा. ४, सू. ३०

पूर्वज्ञानोत्पत्तिदशायमाविद्यमानस्योत्तरज्ञानस्य बाध्यत्वायोगात्। उत्तरकाले तु स्वयं बाधितं पूर्वज्ञानं कथमुत्तरस्य बाधकं भवेत्। नचान्यत्किञ्चिदुत्तरस्य बाधकं पश्यामः। तस्मादुत्तरकालीनापच्छेदनिमित्तं प्रायश्चितमनुष्ठेयम्। किञ्च यदुद्गाता पश्चादपच्छिद्यते तदा तस्यापच्छेदस्य प्रबलत्वात्तन्निमितं प्रायश्चितमनुष्ठेयन्तच्च प्रायश्चितमीदृशं प्रथमप्रयोगं दक्षिणारहितमनुष्ठाय द्वितीयप्रयोगे पूर्वं दित्सिता दक्षिणा दातव्येति पूर्वं च गवां द्वादशाधिकंशतं दित्सितं तस्य ज्योतिष्टोमदक्षिणारूपेण विहितत्वात्तस्मादुत्तरप्रयोगे द्वादशशतं देयमिति प्राप्ते ब्रूमः प्रतिहर्तुः प्रथममपच्छेदे सति तन्निमित्तकं सर्वस्वदानरूपं प्रायश्चित्तं प्रथमप्रयोगे प्राप्तं तेन च क्रतुस्वभावप्रयुक्तस्य द्वादशशतस्य बाधात्सर्वस्वं दित्सितं नचोद्गात्रपच्छेदेन पश्चाद्भाविना सर्वदित्सा बाध्यत इति शङ्कनीयं बाधकस्य दक्षिणान्तरस्य तत्रानुक्तत्वात्। यद्दित्सितं तदुत्तरप्रयोगे देयमित्येतावदेव तत्रोच्यते। दित्सितं च सर्वस्वमित्युक्तम्। अत उत्तरकालीनोद्गात्रपच्छेदनिमित्तेऽपि पुनः प्रयोगे पुर्वकालीनप्रतिहर्त्रपच्छेदप्रयुक्तं सर्वस्वमेव दातव्यमित्यादिकमर्थजातं निरूपणीयमभिप्रेत्य विधिनिरूपणमुपसंहरति-तदेवमिति। तस्मिन्नतीते ग्रन्थ उक्तप्रकारेणेत्यर्थः। यः सर्वकर्ता सकलात्मरूपश्चन्द्रार्कवह्निक्षणकश्चिदात्मा।। सान्वो हि सोमार्द्धविभूषणाढ्यस्तं नौमि देवार्चितपादपीठम्।।७६।।

वाक्यों के सम्बन्ध में स्वीकार की जाती है, उसी प्रकार वैदिक वाक्यों के सम्बन्ध में भी स्वीकार की जानी आवश्यक है। यहाँ उदाहरण के लिए एक वैदिक वाक्य– **'अंजलिना सक्तून् प्रदाय जुहुयात्'**– लेते हैं। इस वाक्य में प्रयुक्त **'अंजलि'** शब्द के अर्थ के विषय में प्रश्न उत्पन्न होने पर उस शब्द के सामर्थ्यानुसार ही यहाँ जो अर्थ ग्रहण करने योग्य होगा, उसे ही ग्रहण किया जाना चाहिए। वस्तुत: गुरु, देवता इत्यादिकों के अभिनन्दन के अवसर पर निश्छिद्र द्विहस्तसंयोग से जो अंजलि बनाई जाती है, वह अंजलि यहाँ सक्तु को धारण करने में समर्थ नहीं होगी। अत: प्रकृतस्थल में 'अंजलि' शब्द का अर्थ हस्तद्वय से निर्मित अंजलि के मध्यभागगत अवकाश, जो सक्तुधारण करने में समर्थ होगा, रूप अर्थ ही सामर्थ्य की दृष्टि से स्वीकार किया जाता है। अत: वैदिक वाक्यों में शब्दसामर्थ्य के लौकिक न्याय के अनुसार अंजलिविषयक जो व्यवस्था की जाती है, उसी प्रकार की सामर्थ्यमूलक व्यवस्था– **'स्रुवेणावद्यति'** इत्यादि विषयवाक्यों के लिए स्वीकार की जानी चाहिए। अर्थात् आज्यादि जो द्रवद्रव्य हैं, उनका अवदान 'स्रुवा' से करना चाहिए, पशुमांस जैसे जो छेदनीय हविर्द्रव्य हैं, उनका अवदान 'स्वधिति' के द्वारा किया जाना चाहिए, और सान्द्र पदार्थ जो हाथ से छेदनीय-तोड़ने लायक जैसा पुरोडाशादिक हविर्द्रव्य हों, उनका अवदान हाथ से करना चाहिए। तात्पर्य यह है कि शब्द के सामर्थ्यानुसार कल्पना करके व्यवस्था की जानी चाहिए। यही अभिप्राय प्रस्तुत अधिकरण के न्याय का है। अत: उसी न्याय के अनुसार अधिकारी पुरुष में सामर्थ्य है, यह समझकर ही उसे यागादिक अनुष्ठान करने का निर्देश देने के लिए विधि प्रवृत्त होता है, यह समझना चाहिए। यहाँ तक निरूपित पुरुषविशेषणात्मक अधिकार के भिन्न-भिन्न प्रकारों को समझने के लिए निम्नांकित आकृति उपयोगी होगी–



अधिकार के विषय में यहाँ तक जो विवेचन किया गया है, उससे कुछ तथ्य इस प्रकार निष्पन्न होते हैं– कौमुदीकार ने टीका में इनका एकत्र संकलन कर दिया है- अध्ययनविधिसिद्ध **विद्या** और आधानविधिसिद्ध **अग्निमत्ता**– ये दोनों ही धर्म शूद्रों में न होने के कारण शूद्रों को यागानुष्ठान का अधिकार प्राप्त नहीं होता। परन्तु **'निषादश्च स्थपतिश्च'**– इस रूप में कर्मधारय समास के विग्रह की दृष्टि से निषाद जाति के ही निषादस्थपति को रौद्रयाग के सम्बन्ध में अपवाद रूप में यागानुष्ठान करने का अधिकार प्राप्त है।[1] उपनयन और अग्न्याधान धर्म त्रैवर्णिकों को विहित होने से ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्यों को यागानुष्ठान का अधिकार प्राप्त है, परन्तु रथकार जाति का मनुष्य त्रैवर्णिक में समाविष्ट न हो सकने के कारण उसे यागानुष्ठान का अधिकार प्राप्त नहीं है। केवल **'वर्षासु रथकार[2] आदधीत'** इतना आधान का ही अधिकार उसे विहित है। अब स्त्रियों के सम्बन्ध में एक शंका उत्पन्न होती है– स्त्रियों को याग में अधिकार प्राप्त है या नहीं? उक्त शंका का समाधान[3] यह है कि– पत्नी को यागानुष्ठान में अधिकार प्राप्त है, किन्तु वह (अधिकार) दम्पती के सम्बन्ध से, यजमान के साथ (अर्थात् पति के साथ) यजमान पत्नी को सहाधिकार प्राप्त है। क्योंकि पत्न्यवेक्षण इत्यादिक जो धर्म विहित हैं वह पत्नी विना उपपन्न नहीं हो सकते। उसी प्रकार अंध, पंगु, वधिर, मूक और गवाश्वादिक तिर्यञ्चों को यागाधिकार प्राप्त है या नहीं? इस सम्बन्ध में भी विचार मन्थन करने के पश्चात् यह निश्चय किया गया है कि– **आज्यावेक्षण**-कर्म अन्धपुरुष नहीं कर सकता, जो **विष्णुक्रमादि**-धर्म हैं, उन्हें पंगु-पुरुष सम्पादित करने में असमर्थ रहता

---

१. द्रष्टव्य– जै. सू. अ. ६, पा. १, अधि. १३

२. रथकारो नाम 'व्रात्यात्तु जायते शूद्रात्सुसधन्वाऽऽचार्य एव च' इति वचनात् 'सौधन्वना ऋभवस्सूरचक्षस' (ऋ.वे. १/१११/४) इति मन्त्रवर्णनाच्च सौधन्वनापरपर्यायो वेदानधिकृतो जातिविशेषो, न तु शूद्रः।

३. द्रष्टव्य– जै. सू. अ. ६, पा. १, अधि. ३,४

है, अध्वर्यु द्वारा उच्चरित शब्दों को बधिर पुरुष सुनने में असमर्थ रहता है। और गवाश्वादिक– जो शेष प्राणि हैं वे तो उक्त और अन्य अनेक धर्मों का आचरण करने में सर्वथा असमर्थ ही रहते हैं। अत: आज्यावेक्षणादिकों का सामर्थ्य उपर्युक्त अंधादिकों में न होने के कारण उन्हें काम्य यागों का अधिकार नहीं है। परन्तु नित्यकर्म यावज्जीवन करने के लिए विहित होने से, जितने अंगों का अनुष्ठान सम्पादित हो सकता हो, उन्हें सम्पादित कर, प्रधान कर्मानुष्ठान नित्य करना चाहिए।[१]

इस प्रकार यहाँ विधि-निरूपण समाप्त हुआ। वेद के पांच विभागों में से विधि-भाग ही मुख्य है। और उस महत्त्व की दृष्टि से विधि भाग का विस्तृत रीति से निरूपण किया गया है। **मंत्र**, **नामधेय**, **निषेध** और **अर्थवाद**– ये शेष चार विभाग यद्यपि भिन्न-भिन्न हैं, तथापि किसी न किसी प्रकार से वे विधि के ही साहायक होते हैं। और इसलिए भी वेद का विधि विभाग मुख्य है। उस विधि के प्रकृत विधिमीमांसा प्रकरण में भिन्न-भिन्न प्रकार से, समय-समय पर भिन्न-भिन्न विभाग किये गये हैं। विभाजन के लिए जिस दृष्टि का अवलंबन किया जाय, उस दृष्टि से उसे विभक्त किया जा सकता हैं। और उस तत्त्व की दृष्टि से देखने पर एक विधि के इतने भिन्न-भिन्न विभाग किस प्रकार हुए हैं, यह ध्यान में आ सकता है। अर्थसंग्रह मे सर्वप्रथम (१) **मुख्यविधि**, **गुणविधि** और **विशिष्टविधि** रूप में विधि के जो भेद निर्देशित किये गये हैं, वे भेद 'गुण-प्रधानभाव' की दृष्टि से किये गये हैं, यह स्पष्ट है। तत्पश्चात् (२) **उत्पत्तिविधि**, **विनियोगविधि**, **प्रयोगविधि** और **अधिकारविधि** के रूप में विधि के चार भेद और किये गये हैं। ये भेद विधियों के उपयोग दृष्टि से किये गये हैं। अब यदि विधि के प्रथम तीन विभागों और दूसरे चार विभागों की परस्पर तुलना करें तो ज्ञात होता है कि प्रथम विभाग का मुख्य या प्रधान विधि और दूसरे विभाग का उत्पत्तिविधि लगभग एक ही है। और प्रथम विभाग के गुणविधि तथा गुणविशिष्टविधि– इन दोनों का दूसरे विभाग के विनियोगविधि, प्रयोगविधि और अधिकारविधि से पर्याप्त सादृश्य (साम्य) है। क्योंकि विनियोग इत्यादि विधियों के द्वारा शेषशेषिभाव से मुख्यविधि के गुण का ही निरुपण किया जाता हैं। प्रथम विभाग के **मुख्यविधि**, **गुणविधि** इत्यादि दूसरे विभाग के उत्पत्तिविधि, विनियोगविधि इत्यादि भेदों में ही अन्तर्विलीन होने के कारण, अन्त में उपयोग की दृष्टि से किये हुए चार भेद– उत्पत्तिविधि, विनियोगविधि, प्रयोगविधि, और अधिकारविधि– ही शेष रहते हैं। (३) इनके अतिरिक्त विधि के अन्य और दो विभाग– **नियमविधि** और **परिसंख्याविधि**– संज्ञक किये गये हैं । इन दोनों विभागों का आधार यह है कि– किसी भी विधि की **'चोदना'** अर्थात् **'आज्ञा'** सर्वांश रूप में आवश्यक रूप से मानी जानी चाहिए या अंशात्मक रूप मे मान लेनी चाहिए अथवा अंशात्मक रूप में नहीं माननी चाहिए, ऐसे जो प्रसंग प्राप्त होते हैं उनकी दृष्टि से नियम और परिसंख्या– ये दो भेद किये गये हैं। इन दो प्रभेदों का निरूपण भी वस्तुत: यथायोग्य विषय विभाग की दृष्टि से प्रकृत विधिमीमांसा के प्रकरण में ही किया

१. द्रष्टव्य– जै. सू. अ. ६, पा. १, ३, अधि. २
द्रष्टव्य– जै. सू. अ. ६, पा. ३, अधि. १

(७७) मन्त्रमीमांसा

प्रयोगसमवेतार्थस्मारका मन्त्राः। तेषां च तादृशार्थस्मारकत्वेनैवार्थवत्त्वम्। न तु तदुच्चारणमदृष्टार्थम्। सम्भवति दृष्टफलकत्वेऽदृष्टफलकल्पनाया अन्याय्यत्वात्। नच दृष्टस्यार्थस्मरणस्य प्रकारान्तरेणापि सम्भवान्मन्त्राम्नानं व्यर्थमिति वाच्यम्। मन्त्रैरेव स्मर्तव्यमिति नियमविध्याश्रयणात्।।७७।।

इदानीं मन्त्ररूपं वेदभागं निरूपयति-प्रयोगेति। तेषामिति। मन्त्राणामित्यर्थः। तादृशार्थेति। प्रयोगसमवेतार्थेत्यर्थः। अर्थवत्त्वमिति। प्रयोजनवत्त्वमित्यर्थः। ननु मन्त्रोच्चारणस्यादृष्टार्थकत्वेनाप्युपपतेः। कुतस्तेषां प्रयोगसमवेतार्थस्मारकत्वेनैव प्रयोजनवत्त्वमित्यत आह नत्विति। तदुच्चारणमिति। मन्त्रोच्चारणमित्यर्थः। तत्र

जाना चाहिए था, परन्तु विधिविभाग के निरूपणावसर पर प्रसंग के अभाव में इन दोनों का उल्लेख नहीं किया गया। इनका उल्लेख आगे के मंत्रमीमांसा प्रकरण में किया गया है। परिभाषाकार ने उक्त भेदों का वर्णन एकत्र ही किया है। अ. १ पा. २ में– **मंत्रलिंगाधिकरण** संज्ञक एक अन्तिम प्रकरण है। उसमें– निश्चित किये गये सिद्धान्तानुसार यागानुष्ठान के अवसर पर अनुष्ठेय कर्मों का मंत्रों द्वारा ही अनुस्मरण किया जाना चाहिए, और उक्त सिद्धान्त को निश्चित करते समय नियमविधि का आश्रय ग्रहण करना पड़ा है। संभवत: इसी कारण से **आपदेवी** तथा **अर्थसंग्रह** के मंत्रमीमांसा प्रकरण में क्रमानुसार नियमविधि का निरूपण किया गया है और नियमविधि का निरूपण होने पर उसी के आगे क्रमश: परिसंख्या का निरूपण हुआ है। परन्तु यथार्थ रूप में उक्त दोनों विधियों– **नियमविधि– परिसंख्याविधि**– का उचित स्थान विधिप्रकरण में ही है, यह स्पष्ट है।।७६।।

अनुवाद– प्रयोगेति। *अनुष्ठान से सम्बद्ध द्रव्य, देवतादि पदार्थों का जो स्मरण कराते हैं उन्हें 'मन्त्र' कहते हैं। इस प्रकार से प्रयोग समवेत पदार्थों का स्मरण कराने में ही मंत्रों की सार्थकता है। मन्त्रों के उच्चारण का अदृष्ट प्रयोजन नहीं है क्योंकि जब दृष्ट फल संभव है तो अदृष्ट फल की कल्पना करना अनुचित है। यह कहना कि 'अर्थस्मरणरूप' दृष्ट प्रयोजन की सिद्धि तो अन्य प्रमाणों से भी हो सकती है अत: मन्त्रोच्चारण व्यर्थ है, उचित नहीं है। क्योंकि, 'मन्त्रों द्वारा ही अर्थ का स्मरण करे' इस नियमविधि का आश्रय लेने से मन्त्रोच्चारण व्यर्थ नहीं होगा।।७७।।*

।। अर्थमीमांसा ।।

पूर्व में वेद के पांच विभागों– **विधि**, **मंत्र**, **नामधेय**, **निषेध** और **अर्थवाद**– का उल्लेख किया गया है, उनमें से **'मंत्रसंज्ञक'** यह दूसरा विभाग है। और उक्त क्रमानुसार विधिमीमांसा समाप्त होने पर क्रमप्राप्त मंत्रमीमांसा का प्रारम्भ अब ग्रंथकार कर रहे है– यहाँ मूल में– ग्रंथकार ने **'प्रयोगसमवेतार्थस्मारका मंत्रा:'**– इस वाक्य के द्वारा मंत्रों के याग में

हेतुमाह-दृष्टफलकत्व इति। ननु दृष्टस्य देवताद्यर्थस्मरणस्य ब्राह्मणवाक्यादिनापि सम्भवान्मत्रोच्चारणस्यादृष्टार्थकत्वानङ्गीकारे तदाम्नातस्य वैय्यर्थ्यापत्तिरित्याशङ्क्य मन्त्रैरेव सोऽर्थः स्मर्तव्य इति नियमविध्यङ्गीकारान्न मन्त्राम्नातस्य वैय्यर्थ्यमिति परिहरति नचेत्यादिना।।७७।।

उपयोग को निरूपित करने का प्रसंग सहसा (At once) प्रारम्भ किया है। अर्थात् उनके उपयोग को बतलाया है किन्तु उपयोग को समझने के पूर्व मंत्रों के स्वरूप को समझ लेना आवश्यक है।

वेद में क्या निरूपित है और उस निरूपित तत्त्व का विनियोग किस प्रकार किया जाना चाहिए? इसे ध्यान में रखकर ही **वेद के विधि**, **मंत्र**, **नामधेय** इत्यादि पांच विभाग निरूपित किये गये हैं। परन्तु वेदग्रंथों के संग्रथन की दृष्टि से सर्वप्रथम वेद के **मंत्र** और **ब्राह्मण** संज्ञक केवल दो ही विभाग होते हैं। उनमें से ब्राह्मण ग्रंथों में विधि इत्यादि का निरूपण है, और उनमें विहित कर्मों का स्मरण कराने के लिए जिन मंत्रों का पाठ किया जाता है, वे मंत्रभाग में निरूपित हैं। अर्थात् तत्तत् कर्मानुष्ठानकाल में अनुष्ठेय क्रिया एवं तदङ्गभूत द्रव्य देवतादि का प्रकाशन 'मन्त्र' द्वारा ही होता है।[1] किन्तु इन मंत्रों को किस प्रकार पहचाना जाए? मंत्रत्व कहाँ या किस स्थान पर निहित रह सकता है? और कहाँ उसका सद्भाव नहीं हो सकता? इस विषय में कतिपय मंत्रलिंगों का अग्रिम कारिका में, किसी भिन्न निषेधात्मक प्रसंग के द्वारा, एकत्र ग्रथन किया गया है। वह कारिका इस प्रकार है–

उत्तमामंत्रणास्यन्तत्वान्तरूपाद्यभावतः ।
मंत्र प्रसिद्ध्यभावाच्च मंत्रतैषां न युज्यते ।।

उपर्युक्त कारिका में कथित चिह्न या लिंग जहाँ परिलक्षित होते हैं, वहाँ उस मंत्र का सद्भाव समझना चाहिए। जैसे– (१) **'अग्नये जुष्टं निर्वपामि'**– इस मंत्र में– **'निर्वपामि'** (पृथक् कृत्य स्थापयामि) 'उत्तमपुरुष' रूप लिंग परिलक्षित होता है, अतः यह मंत्र है। (२) **'अग्ने यशस्विन्यशसे समर्पय'**– इसमें **'अग्ने'**– आमन्त्रण अर्थात् 'सम्बोधन' रूप मन्त्र लिंग है। (३) **'उर्वी चासि, वस्वी चासि'**– इसमें **'असि'**– **'अस्'** धातु के द्वितीय पुरुष–एकवचन का जो रूप विहित है, वह 'अस्यन्त' रूप **मंत्रलिंग** है। (४) **'इषे त्वा, ऊर्जे त्वा'**– इसमें **त्वान्त** रूप मंत्रलिंग है। इनके अतिरिक्त आशीर्वाद, देवताप्रतिपादन इत्यादि भी मंत्रलिंग हैं। उसी प्रकार– **'अग्नीदग्नीन्विहर'**– जैसे कुछ प्रैषरूप मंत्र, **'अधःस्विदासीदुपरि स्विदासीत्'**– इत्यादि कुछ **विचारस्वरूपात्मक** मंत्र, **'अम्बे अम्बिके अम्बालिके न मानयति कश्चन'**– इत्यादि कुछ परिदेवनात्मक मंत्र होते है। **'पृच्छामि त्वां परमन्तं पृथिव्याः'**– इत्यादि कुछ प्रश्नात्मक मंत्र, और **'वेदिमाहुः परमन्तं पृथिव्याः'**– इत्यादि कुछ उत्तररूपी मंत्र भी होते हैं।

अब प्रश्न सहज ही उपस्थित होता है कि उपर्युक्त स्वरूप के मंत्रों का उपयोग क्या

---

१. सर्वसाधारणत्वेन विचारस्य प्रयोजनम्। कर्मकालेऽनुसंधेयो मन्त्रार्थोऽर्थपरत्वतः।। (न्यायसुधा) (अ) तत्तत्कर्मानुष्ठानकालेऽनुष्ठेयक्रियातदङ्गद्रव्यदेवतादिद्वारामन्त्रणां प्रयोजनवत्त्वम् (तं.सि.र. प्रथमपरि.)

है ? क्योंकि वेद के जो दो भाग– **मंत्र** और **ब्राह्मण** हैं, उनमें से ब्राह्मण भाग में ही समस्त विधीत्यादि हैं, तब इन मंत्रों की ओर क्या कार्य शेष रहता है ? इस शंका के निरसनार्थ ग्रंथ के मूल में ही– **'प्रयोगसमवेतार्थस्मारका मंत्राः'** मंत्र प्रयोगसमवेतार्थस्मारक होते हैं, कहा गया है। सिद्धान्त पक्ष का मत है कि मंत्रों के पाठ से उन पदार्थों का स्मरण किया जाता है जिनका उपयोग अनुष्ठान के अवसर पर किया जाना है। तात्पर्य यह है कि मन्त्र अनुष्ठान (प्रयोग) में समवेत (सम्बद्ध) पदार्थों (क्रिया एवं क्रिया भिन्न) के स्मारक होते हैं। अर्थात् मंत्रों की सार्थकता प्रयोगसमवेत अर्थो के स्मरण कराने में ही है। और इस प्रकार मन्त्र के अर्थस्मारकत्व से ये मन्त्र कृतार्थ हो सकते हैं। इतने कार्य से उन मन्त्रों को सार्थक्य (चरितार्थत्व) प्राप्त होने के कारण पूर्वपक्षी मन्त्रोच्चारण से कुछ न कुछ अदृष्ट-फल उत्पन्न होने की कल्पना कर सकते हैं। अर्थात् वे मन्त्रोच्चारण को अदृष्टार्थक मानने का आग्रह कर सकते हैं। किन्तु सिद्धान्ती के विचार में इस प्रकार की कल्पना करने का कोई प्रयोजन नहीं है। क्योंकि मंत्रों का प्रत्यक्ष दिखाई देनेवाला फल **अर्थस्मारकत्व** विद्यमान होने पर बिना कारण अदृष्टोत्पत्ति से सम्बन्धित कोई कल्पना करना योग्य नहीं है। पूर्वपक्षी के द्वारा यह शंका की जा सकती है कि मन्त्र का प्रयोजन **'प्रयोगस्मारकत्व'** ही है तो यह स्मरणरूप व्यापार अन्य प्रकार से भी अर्थात् ब्राह्मण-वाक्यों द्वारा भी कराया जा सकता है। याग में अर्थस्मरण केवल मंत्रोच्चारण द्वारा ही किया जाना चाहिए, यह दुराग्रह क्यों हैं? उदाहरणार्थ– **'उरु प्रथस्व'**– इस मन्त्र के द्वारा पुरोडाश प्रथित (विस्तृत) करें, इस अर्थ का स्मरण कराया जाता है। किन्तु **'उरु प्रथस्व इति पुरोडाशं प्रथयति'** इस प्रकार का ब्राह्मण-वाक्य भी है। पूर्वपक्षी कहता है कि उक्त ब्राह्मण वाक्य के द्वारा भी पुरोडाश प्रथन (विस्तृत) होने का स्मरण नितान्त संभवनीय है। अतः ब्राह्मणवाक्य के द्वारा स्मरणरूप कार्य संभव होने पर मंत्रों के द्वारा ही उसका स्मरण कराने का आग्रह आप क्यों करते हैं? सारांश यह है कि मंत्रों का अर्थस्मरणरूप कार्य ब्राह्मण वचनों द्वार भी संभवनीय होने पर मंत्राम्नान व्यर्थ है। अतः इस व्यर्थता को टालने के लिए याग में उच्चरित मंत्र कुछ अदृष्ट उत्पन्न करते है, इस प्रकार की कल्पना करना आवश्यक है। परन्तु यह व्यवस्था ठीक नहीं है, क्योंकि दृष्टफल के साक्षात् उपलब्ध होने पर अदृष्टफल की कल्पना उचित नहीं है। पूर्वपक्षी पुनः कहता है कि ठीक है, किसी उपदेष्टा पुरुष के द्वारा पदार्थों का उपदेश कर देने पर तो उनका ज्ञान हो जायगा और उसी ज्ञान से यागादि का अनुष्ठान संभव हो जायगा। इसलिए मंत्रों की कोई आवश्यकता प्रतीत नहीं होती। उक्त विचार भी ठीक नहीं है क्योंकि उपदेष्टा पुरुष के उपदेश से उत्पन्न पदार्थ ज्ञान से यागादि का अनुष्ठान हो सकता है, परन्तु 'मन्त्रों से ही पदार्थों का स्मरण करके यागादि का अनुष्ठान सम्पादन करने पर ही तद्विहित फल की सिद्धि होगी अन्यथा नहीं ऐसा नियम माना गया है।[१] वस्तुतः उक्त नियम 'नियमविधि' के अनुरोध से कथित है। और उक्तनियम विधि के स्वीकार करने में कोई भी दृष्ट हेतु की संभावना न होने से तत्पूर्ति के लिए यदि चाहें तो अदृष्ट फल की कल्पना कर सकते हैं[२]।।७७।।

१. न चोपदेष्टृवचनादिनाऽप्यर्थस्मरणसम्भवादनुष्ठानोपपत्तिरितिवाच्यम्। मन्त्रैरेवार्थं स्मृत्वाऽनुष्ठाने सति फलं भवति, नान्यथेति नियमाङ्गीकारात्। (परिभाषा)

२. द्रष्टव्य– जै. सू. अ. १, पा. २, अधि. ४

(७८) नियमविधिः

नाना साधनसाध्यक्रियायामेकसाधनप्राप्तावप्राप्तस्यापरसाधनस्य प्रापको विधिर्नियमविधिः। यथाहुः। 'विधिरत्यन्तमप्राप्तौ नियमः पाक्षिके सति। तत्र चान्यत्र च प्राप्तौ परिसङ्ख्येति गीयत' इति। अस्यार्थः। प्रमाणान्तरेणाप्राप्तस्य प्रापको विधिरपूर्वविधिः। यथा 'यजेत स्वर्गकाम' इत्यादिः। स्वर्गार्थकयागस्य प्रमाणान्तरेणाप्राप्तस्यानेन विधानात्। पक्षेऽप्राप्तस्य प्रापको विधिर्नियमविधिः। यथा 'व्रीहीनवहन्ती'त्यादिः।

ननु किं लक्षणको नियमविधिर्यदाश्रयणादन्यस्यार्थस्मारकस्य व्यवच्छेदो लभ्यत इत्याशङ्क्य नियमविधिलक्षणमाह-नानासाधनेति। तत्र सम्मतिमाह। यथाहुरिति। तां व्याचष्टे-अस्यार्थ इत्यादिना। तत्रापि विधिरत्यन्तमप्राप्ताविति प्रथमपादमपूर्वविधिपरं व्याचष्टे प्रमाणान्तरेणेति। प्रमाणान्तरेण यदर्थत्वेनाप्राप्तस्य तदर्थत्वेन प्रापको यो विधिः सोऽपूर्वविधिरित्यर्थः। तत्रोदाहरणमाह-यथेति। तस्यापूर्वविधित्वे हेतुमाह-स्वर्गेति।

अनुवाद– नानासाधनेति। *विविध साधनों से सिद्ध होनेवाली क्रिया के अनुष्ठान में एक साधन के प्राप्त रहने पर अप्राप्त दूसरे साधन की प्राप्ति करानेवाले विधि को 'नियमविधि' कहते हैं। जैसा कि (तन्त्रवार्तिककार कुमारिलभट्टपाद ने) कहा है–*

विधिरिति। *अत्यन्त अप्राप्त पदार्थ का विधान करनेवाले विधि को अपूर्वविधि, पदार्थ की पाक्षिक अप्राप्ति होने पर तद्विधायक वाक्य को नियमविधि तथा जहाँ दोनों पदार्थों की एक काल में प्राप्ति हो, वहाँ दोनों में से एक पदार्थ की निवृत्ति कराने वाले विधि को परिसंख्याविधि कहते हैं।।*

अस्यार्थ इति। *(अधुना ग्रंथकार उपर्युक्त कारिका का अर्थ कर रहे हैं–) प्रमाणान्तर से अप्राप्त पदार्थ के प्रापक वाक्य को अपूर्वविधि कहते हैं। यथा–'यजेत स्वर्गकाम:' इत्यादि। प्रकृत में प्रमाणान्तर से स्वर्गप्राप्ति हेतु अप्राप्तयाग का विधान किया गया है–अत: यह अपूर्वविधि, है। और पक्ष में अप्राप्त के प्रापक विधि को नियमविधि कहते हैं। जैसे-व्रीहीनवहन्ति।*

।। अर्थमीमांसा ।।

'नानासाधनसाध्यक्रियायाम्'– इत्यादि वाक्य से नियमविधि का लक्षण निरूपित किया गया है, उसके अनुसार– किसी भी क्रिया की सिद्धि नाना साधनों से सम्भव होती है। उदाहरणार्थ– जल पीने की क्रिया यदि करनी हो (अर्थात् यदि जल पीना हो) तो क्रिया अनेक साधनों से साध्य हो सकती है। जैसे– जल, हाथ से पिया जा सकता है अथवा किसी पात्र विशेष से भी पिया जा सकता है। अथवा दूसरा उदाहरण क्षुधा लगने पर उस क्षुधा की शान्ति

स्वर्गार्थकत्वेन प्रमाणान्तरेणाप्राप्तस्य यागस्य तदर्थत्वेन यजेत स्वर्गकाम इत्यनेन विधानाद्भवत्ययमपूर्वविधिरित्यर्थः । नियमः पाक्षिके सतीति द्वितीयपादं प्रकृते सम्मतिरूपं व्याचष्टे । पक्षे ऽप्राप्तस्येति ।

फलाहारसाधन से हो सकती है या अन्नाहार के द्वारा भी हो सकती है। इस प्रकार के उदाहरणों से यह प्रतीत होता है कि व्यवहार की ये भिन्न-भिन्न क्रियाएँ नाना– भिन्न-भिन्न– साधनों द्वारा–साध्य होती हैं। यदि नाना साधन-साध्य किसी क्रिया को करना हो तो, ऐसे अवसर पर जो साधन (रागादिक हेतु से) सर्वप्रथम सम्मुख आकर उपलब्ध होता है, वह साधन (रागप्राप्त) **प्राप्त** साधन होता है। और इस प्राप्त साधन को ग्रहणकर हम अपनी इष्ट क्रिया को प्रारम्भ करते हैं। उक्त प्राप्त साधन के अतिरिक्त जो अन्य साधन होते हैं वे **'अप्राप्त'** साधन होते हैं। उदाहरण के लिए हम ऐसी क्रिया लेते हैं जिसकी सिद्धि के लिए, मानों, दो ही साधन हैं। कल्पना करते हैं कि हमें गहरी नदी के पार जाना है, तब हमारे सम्मुख दो ही साधन हैं उस क्रिया को सम्पादित करने के लिए– या तो हम तैरकर नदी के उस पार पहुँचे या फिर नौकायान द्वारा उस पार जाएँ। इन दो पक्षों में से किसी को तैरकर उस पार जाने का साधन प्रथमतः (रागतः) ध्यान में आया तो उस साधन का प्रथम पक्ष उसे रागतः प्राप्त हुआ, यह कहा जायगा। और नौकायान द्वारा उस पार जाने के साधन का दूसरा पक्ष जो शेष रहा है, वह 'अप्राप्त' पक्ष कहलायगा। अब प्रथम पक्ष– तैरकर– जाने के साधन द्वारा नदी को पार करने के लिए यदि कोई उद्युक्त होता है तो दूसरे साधन– नौका यान का, जो अप्राप्त (पक्ष) साधन है, (तुम नौका में बैठकर नदी पार करो) यदि कोई प्राप्त करा देता है तो यह 'नियमविधि' का उदाहरण हो जाता है।

अब हम इस नियमविधि के लक्षण को **'मंत्रैरेव स्मर्तव्यम्'**– इस वैदिक नियमविधि के उदाहरण पर घटाकर (Apply करके) देखते हैं। प्रकृत उदाहरण में अनुष्ठेय क्रिया **'अर्थस्मरण'** है। अर्थस्मरण क्रिया भी नानासाधनसाध्य क्रिया है। प्रकृत में अर्थस्मरण क्रिया नानासाधनसाध्य होने पर भी, वैदिक व्यवस्थानुसार वह दो साधनों द्वारा साध्य है। वे दो साधन हैं– (१) **ब्राह्मण वाक्य** और (२) **मंत्रोच्चारण**। यागानुष्ठान में अर्थस्मरणरूप अनुष्ठेय क्रिया की सिद्धता ब्राह्मण वाक्य के साधन द्वारा संभव होगी या मंत्रों के द्वारा साध्य होगी। इस प्रकार यहाँ दो पक्ष– **ब्राह्मण** और **मंत्र**– प्राप्त हैं। इन दो पक्षों-साधनों– में से यदि कोई ब्राह्मण-वाक्य के साधन से अर्थस्मरण करने के पक्ष को स्वीकार करके (एकसाधन-प्राप्तौ) यागारम्भ करता है तो यहाँ मंत्ररूपी जो दूसरा साधन है– अप्राप्त पक्ष– उसे प्राप्त कराने (प्रापण कराने) वाला (अप्राप्तस्यापरसाधनस्य प्रापकः) जो **'मंत्रैरेव स्मर्तव्यम्'** विधि है, वह नियमविधि है। नियम का अर्थ है– आवश्यकत्व, अर्थात् स्वायोगव्यवच्छेद।

ग्रंथकारोक्त 'नानासाधनसाध्यक्रियायां'– इत्यादि नियमविधि को पूर्ववर्ती ग्रंथकारों की संमति प्राप्त है– यह सूचित करने के लिए **'यथाहुः'** कहकर **'विधिरत्यन्तमप्राप्तौ'**[१] कारिका

१. तंत्रवार्तिक– १।२।४

को ग्रन्थकार ने उद्धृत किया है। इस कारिका मे विधि, नियम, और परिसंख्या– इन तीनों के ही तीन लक्षणों को एकत्र निरूपित किया गया है। उन तीनों लक्षणों में से **'विधिरत्यन्तमप्राप्तौ'** यह (अपूर्व) 'विधि' का लक्षण है। **'नियमः पाक्षिके सति'** यह 'नियमविधि' का लक्षण है और शेष लक्षण **'परिसंख्या'** का है। इन तीनों में से प्रथम, विधि का लक्षण इसके पूर्व निरूपित किया गया है। और **परिसंख्या** के लक्षण को इसी ग्रंथ में नियमविधि प्रकरण के आगे निरूपित किया जाना है। वस्तुत: **'नियमः पाक्षिके सति'** इस नियमविधि के लक्षण की ही यहाँ अपेक्षा है। फिर भी 'विधिरत्यन्तमप्राप्तौ' का अर्थ प्रथम निरूपित करने पर 'नियम: पाक्षिके सति' का अर्थ बोधगम्य होगा, इस हेतु ग्रंथकार ने **'अस्यार्थ:'** इस प्रकार के अवतरण द्वारा प्रारम्भ किया है। यहाँ– 'विधिरत्यन्तमप्राप्तौ' का अर्थ करते हुए **'प्रमाणान्तरेणाप्राप्तस्य प्रापको विधिः'** यह जो विधि का लक्षण निरूपित किया गया है, प्राय: तत्सदृश शब्दों मे इसके पूर्व भी ['स च तादृशप्रयोजनवदर्थविधानेनार्थवान् यादृशं चार्थं प्रमाणान्तरेणाप्राप्तं विधत्ते'] विधि का लक्षण निरूपित किया गया है। और पूर्व में 'अग्निहोत्रं जुहुयात्स्वर्गकाम:' उदाहरण को प्रस्तुत किया गया था और यहाँ **'यजेत स्वर्गकामः'** उदाहरण को ग्रहण किया गया है। केवल इतनी ही किञ्चित भिन्नता है।

अधुना 'यजेत स्वर्गकाम:' को समझने का प्रयास करते हैं कि वह 'अपूर्वविधि' कैसे होता है। प्रकृत स्थल में इतना तो नितान्त स्पष्ट है कि याग 'स्वर्गार्थक' है, अर्थात् याग के द्वारा स्वर्ग की प्राप्ति होती है। किन्तु इस तथ्य को किसी भी प्रत्यक्षादिक प्रमाणों से नहीं समझा जा सकता। अर्थात् यह तथ्य अन्य प्रमाणों से अप्राप्त (अज्ञात, अज्ञेय) है। इस प्रकार इस तथ्य की अत्यन्तत्वेन अप्राप्ति होने पर प्रमाणान्तरों से अप्राप्त स्वर्गार्थक याग का **'यजेत स्वर्गकामः'** विधि के द्वारा प्रापण (ज्ञान) कराया जाता है। इस हेतु उसे 'विधि' कहा जाता है। और यह तथ्य पूर्व में ज्ञात नहीं था, ऐसा अपूर्व तथ्य इस 'विधि' के द्वारा ज्ञात होने से इसे **'अपूर्वविधि'** अन्वर्थक नाम दिया गया है।

क्रमप्राप्त नियमविधि को स्पष्टतया समझने के लिए अपूर्वविधि को प्रथमत: स्पष्टरूप से जानना आवश्यक है– यह हमने पूर्व में कहा था। किंबहुना अपूर्वविधि के लक्षण से नियमविधि को सुगमतया समझा जा सकता है–

अत्यन्तं अप्राप्तस्य प्रापको विधिः अपूर्वविधिः ।
पक्षे अप्राप्तस्य प्रापको विधिः नियमविधिः ।

उपर्युक्त दर्शित रीति से इन दो लक्षणों की तुलना करने पर यह ज्ञात होता है कि अपूर्व- विधि अत्यन्त अप्राप्त होता है और नियमविधि (पूर्व में कथितानुसार कल्पित दो पक्षों में से) केवल एक ही पक्ष में (एक ही विषय में) अप्राप्त होता है। **'व्रीहीनवहन्ति'** यह नियमविधि का उदाहरण कहा गया है। उक्त उदाहरण में **'पक्षे अप्राप्तत्व'** किस प्रकार होता है? इस प्रश्न के समाधान के लिए ग्रंथकार ने अग्रिम पंक्तियों को उल्लिखित किया है—

कथमस्य पक्षे ऽप्राप्तप्रापकत्वमिति चेदित्थम्। अनेन ह्यवघातस्य वैतुष्यार्थत्वं न प्रतिपाद्यते ऽन्वयव्यतिरेकासिद्धत्वात्। किन्तु नियमः। स चाप्राप्तांशपूरणम्। वैतुष्यस्य हि नानोपायसाध्यत्वाद्यदावघातं परित्यज्य उपायान्तरं ग्रहीतुमारभते। तदावघातस्याप्राप्तत्वेन तद्विधानात्मकमप्राप्तांशपूरणमेवानेन विधिना क्रियते। अतश्च नियमविधावप्राप्तांशपूरणात्मको नियम एव वाक्यार्थः। पक्षेऽप्राप्तावघातस्य विधानमिति यावत्।।७८।।

तत्रोदाहरणमाह-यथेति। ननु व्रीहीनवहन्तीत्यस्यावघातविधेः कथं पक्षेऽप्राप्तस्यावघातस्य प्रापकत्वं स्वीक्रियते वैतुष्यार्थत्वेन प्रमाणान्तरेण प्राप्तस्य तस्य तदर्थत्वेनानेन विधानोपपत्तेरित्याशङ्क्यानेन हि विधिनोवघातस्य वितुषतार्थत्वं न प्रतिपाद्यते तस्य तदर्थत्वेनान्वयव्यतिरेकासिद्धत्वात्। अवघातादिसत्वे व्रीहीणां वैतुष्यं जायते तदसत्वे तदभाव इति सार्वजनीनमिति परिहरति-कथमित्यादिना। इत्थमिति। अनेन वक्ष्यमाणप्रकारेणेत्यर्थः। ननु यद्यवघातादीनां सर्वेषामेव वैतुष्यार्थत्वमन्वयव्यतिरेकाभ्यां सिद्धं तदा व्रीहीनवहन्तीत्यवघातविधेरन्वयव्यतिरेकसिद्धावघातप्रापकत्वेन वैय्यर्थ्यमेवापद्येतानुवादकत्वादित्याशङ्कते किन्त्विति।

__अनुवाद– कथमस्येति। 'व्रीहीनवहन्ति'__ इस वाक्य का पक्ष में अप्राप्त पदार्थ की प्राप्ति का विधान कैसे सम्भव होगा? 'व्रीहीनवहन्ति' इस वाक्य के द्वारा तुषविमोक हेतु अवघात का विधान नहीं किया जाता है क्योंकि वह कार्य तो 'अन्वय-व्यतिरेक' से सिद्ध है। यह विधि नियम का प्रतिपादन करता है। अप्राप्त अंश की प्राप्ति को ही नियम कहा जाता है। तुषविमोक अवघात, नखविदलनादि अनेक उपायों से सिद्ध हो सकता है, अतएव जब अवघात को छोड़कर अन्य किसी उपाय को ग्रहण कर तुषविमोक किया जाने लगता है तब अवघात अप्राप्त हो जाता है, (ऐसी स्थिति में) नियम विधि अप्राप्त अवघात का विधान करके अप्राप्त अंश की पूर्ति करता है। अत: नियमविधि में अप्राप्त अंश की पूर्ति रूप नियम का बोध होता है। यहाँ पक्ष में अप्राप्त-अवघात का विधान ही नियम है।।७८।।

।। अर्थमीमांसा ।।

प्रकृत उदाहरण 'व्रीहीनवहन्ति' दशपूर्णमास प्रकरण का है। प्रसंगानुसार पुरोडाश तैयार करने हेतु चावल के पिष्ट की आवश्यकता होती है। उसके लिए सर्वप्रथम 'व्रीहि' का अवहनन करना होता है। अर्थात् तण्डुलनिष्पत्ति की क्रिया निष्पन्न करनी होती है। तण्डुलनिष्पत्ति की क्रिया दो साधनों से की जा सकती है। व्रीहि तुषविमोक (धान से भूसी हटाना) क्रिया का अनुष्ठान (१) **नखविदलन से हो सकता है**, अथवा (२) **अवहनन** (मूसल से कूटकर) से हो सकता है। उक्त दो साधनों में से नखविदलन साधन का पक्ष स्वीकार करके तण्डुलनिष्पत्ति में वैतुष्य (विगताः तुषाः येभ्यः तेषां भावः वैतुष्यम्) उत्पन्न

नास्य विधेरनुवादकत्वेन वैय्यर्थ्यं सम्भवति नियमविधायकत्वेनाप्युपपत्तेरिति परिहरति–नियम इति । व्रीहीणां वैतुष्यमवघातेनैव सम्पादनीयमिति नियमः प्रतिपाद्यत इत्यर्थः । ननु तादृशनियमप्रतिपादनेऽत्र कीदृशो वाक्यार्थो भवतीत्यत आह-सचेति । स एवाप्राप्तांशपूरणरूपो नियमोऽत्र वाक्यार्थ इत्यर्थः । ननु कथमत्राप्राप्तांशो लभ्यते यस्य पूरणेनास्य विधेः सार्थक्यमित्यतोऽत्राप्राप्तांशपूरणरूपमेव वाक्यार्थमुपपादयति वैतुष्येत्यादिना । उपपादितमप्राप्तांशपूरणरूपं वाक्यार्थमुपसंहरति अतश्चेति । अस्य विधेरप्राप्तांशपूरणरूपनियमप्रतिपादकत्वाच्चेत्यर्थः । पर्यवसितार्थमाह पक्ष इति । यावदिति । पर्यवसन्नमित्यर्थः ।।७८।।

करने के लिए प्रवृत्त होने पर यहाँ नियमविधि के द्वारा अवहनन रूप साधन का अप्राप्त दूसरा पक्ष विहित होता है। अर्थात् (यदि कोई नखविदलन से तण्डुलनिष्पत्ति करने के लिए प्रवृत्त होता है तो नखविदलन क्रिया का परित्याग करके) वह तण्डुलनिष्पत्ति अवहनन के द्वारा की जानी चाहिये, यह नियम 'तंडुलानवहन्ति' विधि द्वारा किया जाता है। और इसीलिए इसे नियमविधि की संज्ञा दी गई है। इसे **'स्वायोगव्यवच्छेदक'** भी कहा जाता है। अर्थात्– **'व्रीहीनवहन्ति'** नियमविधि में **'स्व'**– अर्थात् 'अवहनन'– उसका **'अयोग'** अर्थात् विरह, नखविदलन के साधन से जो प्राप्त होने लगा था, उस **'अयोग'**– का **'व्यवच्छेद'**– अर्थात् परिहार– 'अवहनन से ही तुषविमोक करना चाहिए' यह नियमविधि द्वारा किया जाता है। इसलिए वह 'स्वायोगव्यवच्छेदक' होता है। तात्पर्य यह है कि अवघात एवं नख-विदलनादि विविध प्रकार से वैतुष्य हो सकता है। जब अवघात का परित्याग करके नख विदलन से ही तुषविमोक किया जाने लगता है, तब अवघात 'अप्राप्त' हो जाता है। अत: इस परिस्थिति में नियमविधि अप्राप्त अवघात का विधान करके अप्राप्त अंश (पक्ष) की पूर्ति करता है, अर्थात् नियमविधि से पक्ष में अप्राप्त-अवघात का विधान होता है।[१] तात्पर्य यह है कि उक्त नियम को मान लेने पर नख-विदलनादि की अत्यन्त निवृत्ति हो जाती है।

अब यदि कोई पूर्वपक्षी कहे कि– **'व्रीहीनवहन्ति'**– यह नियमविधि न होकर, व्रीहि में वैतुष्य उत्पन्न करने के लिए यह एक 'अपूर्वविधि' है, किन्तु सिद्धान्ती पूर्वपक्षी के उक्त कथन को योग्य नहीं समझता। क्योंकि वैतुष्य उत्पन्न करने के लिए ही यह विधि नहीं था। अवघात का प्रयोजन नियमापूर्व की उत्पत्ति है, तुष विमोक मात्र नहीं है। इस तथ्य का ज्ञान प्रमाणान्तरों से सर्वविदित है। व्रीहि पर अवघात होने पर तुषविमोक होता है (अन्वय) एवं अवघात के अभाव में तुषविमोक नहीं होता (व्यतिरेक)। इसप्रकार अन्वय– व्यतिरेक द्वारा तुषविमोक की सिद्धि लौकत: प्राप्त है– सर्वविदित है। अत: अवघात का विधान तुषविमोक के लिये नहीं है। अपितु इस वाक्य ने यह नियम प्रतिपादित किया है कि नखविदलन के द्वारा वैतुष्य संपादित न किया जाकर, उसे अवहनन के द्वारा ही संपादित करना चाहिए।

---

१. द्रष्टव्य– जै. सू. अ. ४, पा. २, अधि. ११

यह विधान अप्राप्तांश का पूरक है, क्योंकि अवघात एवं नखविदलनादि- अनेक विधियों से वैतुष्य संपादित हो सकता था। उनमें जब अवघात का परित्याग करके नखविदलन से ही तुषविमोक किया जाने लगता है, तब अवघात 'अप्राप्त' हो जाता है। ऐसी परिस्थिति में नियमविधि अप्राप्त का विधान करके अप्राप्तांश की पूर्ति करता है। तात्पर्य यह है कि नियमविधि पक्ष में अप्राप्त अवघात का विधान करता है। संक्षेप में इस नियमविधि में तीन बातें होती हैं- (१) अनभिप्रेत (अनीप्सित) साधन की प्राप्ति होने लगती है, (२) अभिप्रेत साधन (अंश) की अप्राप्ति होती है (३) अप्राप्त अंश का विधान (पूर्ति) किया जाता है। इस प्रकार नियमविधिस्थल में उक्त तीनों ही विशेषताएँ समवेतरूप में निहित रहती हैं।

नियमविधि के नियमविधायक वाक्य का **'अप्राप्तांशपूरणात्मक नियम'**- ही यहाँ वाक्यार्थ है। अर्थात् एक पक्ष की दृष्टि से अप्राप्त रहनेवाले अवघात का विधान इस नियमविधि में विहित होता है। यही इसका पिण्डित निष्कर्ष है।

'पक्षेऽप्राप्तावघातस्य विधानमिति यावत्' इस अन्तिम वाक्य के आगे **आपदेवी** में'- **'न त्वपूर्वविधाविवात्यन्ताप्राप्तयागविधानमिति'**- यह वाक्य उल्लिखित है। अर्थात् अपूर्वविधि में जैसे अत्यन्त अप्राप्त किसी याग का विधान विहित होता है, वैसा नियमविधि में न होकर केवल 'पक्षे अप्राप्त' जो अवघात उसका विधान किया जाता है। सारांश यह है कि 'अत्यन्त अप्राप्त' और 'अंशत: अप्राप्त'- इन दोनों में जो अन्तर है, वही अपूर्वविधि और नियमविधि द्वारा व्यक्त किया जाता है[१]।

इस नियमविधि के और भी अनेक उदाहरण 'कर्तृदेशकालविधीनां नियमार्थता'- अधिकरण[२] में देखने के लिए मिल सकते हैं।।७८।।

---

1. The distinction between विधि and नियम may thus be stated. Both विधि and नियम enjoin things, which are अप्राप्त. But while विधि enjoins a matter, which is अत्यन्त अप्राप्त or **प्रमाणान्तरेण** अप्राप्त (not known from any other source) नियम lays down a matter which is only पक्षे अप्राप्त (nor established in the alternative). Secondly, विधि represents an injunction, pure and simple, of a matter not known from any other source, नियम on the other hand asks us to perform a thing, already known from an other source, in some special manner. Thirdly विधि performs a single function. viz. enjoining a thing unknown befor; but नियम performs two really, because it restricts us to one of the many alternatives and excludes the others.

–Gajendragadkar A. B. The Arthasamgraha. See 50, Pages 218

२. द्रष्टव्य- जै. सू. अ. ४, पा. २

(७९) परिसंख्याविधिः

उभयोश्च युगपत्प्राप्तावितरव्यावृत्तिपरो विधिः परिसंख्याविधिः । यथा 'पञ्चपञ्चनखा भक्ष्या' इति । इदं हि वाक्यं न पञ्चनखभक्षणपरम्। तस्य रागतः प्राप्तत्वात् । नापि नियमपरम् । पञ्चनखापञ्चनखभक्षणस्य युगपत्प्राप्तेः । पक्षेऽप्राप्त्यभावात् । अत इदमपञ्चनखभक्षण-निवृत्तिपरमिति भवति परिसङ्ख्याविधिः ।।७९।।

तत्र चेत्यादुत्तरार्द्धं परिसङ्ख्याविधिपरं व्याचष्टे । उभयोश्चेति तत्रोदाहरणमाह-यथेति । अस्यात्यन्तमप्राप्तविधित्वरूपमपूर्वविधित्वमाशङ्क्य निराचष्टे-इदं हीति । तत्र हेतुमाह-तस्येति । पञ्चनखभक्षणस्येत्यर्थः । अस्य वाक्यस्य नियमविधित्वमपि निराचष्टे । नापीति । तत्रापि हेतुमाह । पञ्चनखेति । अत इति विधिद्वयासम्भवादित्यर्थः । इदमिति । पञ्चपञ्चनखा भक्ष्या इति वाक्यमित्यर्थः । पञ्चनखभक्षणनिवृत्तिस्तु न केनापि

---

*अनुवाद– **उभयोश्चेति** । दो पदार्थों की एक ही काल में प्राप्ति होने पर दोनों में से एक पदार्थ की निवृत्ति का बोध कराने वाले वाक्य को 'परिसंख्या' विधि कहते हैं। यथा– 'पञ्च पञ्चनखा भक्ष्याः' (पाँच पञ्चनखवाले जीवों का भक्षण करें)। यह वाक्य पञ्चनख भक्षण का विधान नहीं करता है क्योंकि पञ्चनखभक्षण स्वभावतः राग से ही प्राप्त है। यह वाक्य नियमपरक भी नहीं है, क्योंकि एक ही समय में पञ्चनखभक्षण एवं उनसे भिन्न पञ्चनखों का भक्षण स्वभावतः प्राप्त होने से पक्ष में अप्राप्ति नहीं है। अतएव 'पञ्चपञ्चनखाभक्ष्याः' यह वाक्य पञ्चनख से अतिरिक्त जीवों के भक्षण का निषेधक है। यह परिसंख्याविधि है।।७९।।*

।। अर्थमीमांसा ।।

इसके पूर्व नियमविधि के प्रकरण में **'विधिरत्यन्तमप्राप्तौ नियमः पाक्षिके सति । तत्र चान्यत्र च प्राप्तौ परिसंख्येतिगीयते**।। इस कारिका का उल्लेख किया गया है। उस कारिका में कथित अपूर्वविधि और नियमविधि– इन दोनों का यहाँ तक विवेचन किया गया है। अब उस कारिका में अवशेष बचे हुए परिसंख्याविधि का प्रस्तुत प्रकरण में प्रतिपादन किया जा रहा है। ग्रंथ में **'उभयोश्च युगपत्प्राप्तावितरयावृत्तिपरोविधिः परिसंख्याविधिः'** परिसंख्याविधि का लक्षण उल्लिखित है। और उसके उदाहरणरूप में [**'पञ्च पञ्चनखा भक्ष्याः**[१]**'**] प्रस्तुत किया गया है। **मीमांसा परिभाषा** के अनुसार 'जब एक ही लक्ष्य में

---

१. द्रष्टव्य- **देवल स्मृति** में–'**पञ्च** पञ्चानखा भक्ष्या धर्मतः परिकीर्तिताः। गोधा (घड़ियाल) कूर्मः (कच्छप) शशः (खरगोश) खड्गी (गैंडा) शल्यकः (मछली) चेति ते स्मृताः।' इस वचन का उल्लेख है।

इसके अतिरिक्त इससे सम्बन्धित वचन **वाल्मीकिरामायण, याज्ञवल्क्यस्मृति** और **मनुस्मृति** में भी देखने को मिलते है। **रामचन्द्र** को अनुलक्षित कर बाली का कहा हुआ वचन रामायण में इस प्रकार उल्लिखित है—

प्राप्ता ततश्च तद्विधायकत्वेन नास्यं वाक्यस्यानुवादकत्वमपि तथा च सैवात्र वाक्यार्थ इति भावः ।।७९।।

समुदित रूप से दो कार्यों की प्राप्ति होती है, तब उनमें से एक की निवृत्ति बोधक विधि को परिसंख्या विधि कहते हैं।[१]

प्राणियों में नखों की दृष्टि से भेद करने पर अश्वादि जैसे अनेक प्राणि एक शफवाले हैं। गाय-बैल (इत्यादि) जैसे अनेक प्राणि द्विशफ के होते हैं। इस प्रकार खुरों की और नखों की संख्या में वृद्धि होते होते पांच तक पहुँचती है। मेंढ़क इत्यादि प्राणियों के आगे के हाथों और पैरों में अँगूढा न होने से चार ही नाखून रहते हैं। और शेष प्राणि सामान्यतः पंचनख होते हैं। जो लोग मांसाहारी हैं, उन्हें कौन से प्राणियों का मांस खाना चाहिए और कौन से प्राणियों का नहीं, यदि इस दृष्टि से विचार करते हैं तो यही ज्ञात होता है कि मानव की सामान्यतः सभी प्राणियों के मांस खाने की ओर नैसर्गिक रीति से (रागतः) प्रवृत्ति होती है। मानव मात्र में सहजात इस नैसर्गिक प्रवृत्ति (रागतः प्रवृत्ति) को नियंत्रित करने की दृष्टि से स्मृति-ग्रन्थों में जो अनेक वचन हैं, उनमें से ही **'पञ्च पञ्चनखा भक्ष्याः'** यह एक वचन है। उक्त स्मृति वचन त्रिविध विधियों में कौन से विधि के क्षेत्र में आता है– इस विषयक विचार करने पर यह ज्ञात होता है कि **'पञ्च पञ्चनखा भक्ष्याः'**– यह अपूर्वविधि नहीं हो सकता, क्योंकि अपूर्वविधि होने के लिए इसे अत्यन्त अप्राप्त होना आवश्यक है। किन्तु पञ्चनख भक्षण करने की प्रवृत्ति तो रागप्राप्त ही है। अर्थात् मानव की स्वाभाविक वासना से ही प्राप्त है। अतः प्रमाणान्तर से अप्राप्त न होने से यह अप्राप्तप्रापक अपूर्वविधि नहीं हो सकता, यह स्पष्ट है। उसी प्रकार 'उक्त-वाक्य' नियमविधि भी नहीं हो सकता। क्योंकि इसे– नियमविधि का उदाहरण होने के लिए पंचनखभक्षण अंशतः अप्राप्त (पक्षे अप्राप्त) होना चाहिए, परन्तु वह अंशतः अप्राप्त नहीं है, अपितु वह सर्वांशों से (पूर्णत्व से ही) प्राप्त है। इसके अतिरिक्त, प्रकृत में क्षुधा निवारणार्थ जो क्रिया अनुष्ठेय है, उसे साध्य होने के लिए दो साधन प्राप्त हैं– (१) एक अपञ्चनख भक्षण और (२) दूसरा पञ्चनखभक्षण। अर्थात् यहाँ दो भिन्न-भिन्न पक्ष या अंश प्राप्त है। इन दो अंशों में से अपञ्चनखभक्षण रागप्राप्त होने पर यदि पंचनखभक्षण अप्राप्त होगा तो उस स्थिति में नियमविधि प्राप्त हो सकेगा। किन्तु जिसप्रकार अपञ्चनखभक्षण

[''पञ्च पञ्चनखा भक्ष्या ब्रह्मक्षत्रेण राघव। शशकः शल्यको गोधा खड्गी कूर्मोऽथ पञ्चमः।।'']
याज्ञवल्क्यस्मृति में उक्त वचन का पाठ इस प्रकार देखने को मिलता है—
['भक्ष्याः पञ्चनखाः सेधा गोधा कच्छपशल्लकाः।।']
और **मनु** उक्त वचन को इस प्रकार कहते हैं—
['श्वाविधं शल्लकं गोधां खड्गकूर्मशशांस्तथा। भक्ष्यान् पञ्चनखेष्वाहुः।'] इस प्रकार अनेक स्थानों पर उल्लिखित पंचनखभक्षण सम्बन्धित वाक्य परिसंख्याविधि के सर्वत्र एक निश्चित उदाहरण के रूप में कथित है।

१. द्वयोः समुच्चित्य प्राप्ताावितरनिवृत्तिफलको विधिः परिसंख्याविधिः।

रागप्राप्त है, उसी प्रकार पञ्चनखभक्षण भी राग प्राप्त ही है। क्योंकि जो मांस खाने के लिए ही प्रवृत्त है, उसे स्वभावत: किसी भी प्रकार का मांस खाने की इच्छा का होना स्वाभाविक ही है। अत: नियमविधि का अंशत: अप्राप्तत्व लक्षण इस स्थान पर निविष्ट-प्रयुक्त (Apply) न हो सकने के कारण, यह वाक्य नियमविधि का भी नहीं हो सकता। यह स्पष्ट है।

अधुना परिसंख्याविधि के लक्षण को, जो पूर्व में निरूपित है, यहाँ किस प्रकार प्रयुक्त होता है, देखते हैं। पूर्वोक्त कारिका में निरूपित **'तत्र चान्यत्र प्राप्तौ'**– लक्षण और प्रस्तुत प्रकरण में अंकित **'उभयोश्च युगपत्प्राप्तौ'**– यह लक्षण दोनों ही वस्तुत: एक ही है। क्योंकि कारिका में निरूपित **'तत्र प्राप्तौ'** अर्थात् **'प्राप्तपक्षे प्राप्तौ'** और **'अन्यत्र प्राप्तौ'** अर्थात् **'अप्राप्तपक्षे प्राप्तौ'**– यह जो कहा गया है, उसे ही **'उभयोः युगपत्प्राप्तौ'**– वाक्य में कहा गया है। परिसंख्याविधि के 'उभयोश्च युगपत्प्राप्तावितरव्यावृत्तिपरोविधि:' लक्षण में से 'इतरव्यावृत्तिपरो' इतना अंश अलग करके विचार करते हैं तो अधोलिखित समीकरण उभरकर सामने आता है—

क्षुधा निवारण

अपंचनखभक्षण	पंचनखभक्षण
(रागप्राप्त)	(रागप्राप्त)

उक्त आकृति में अंकितानुसार क्षुधानिवारण क्रिया के अपंचनखभक्षण और पंचनखभक्षण– ये दो साधनात्मक अंश हैं, और वे दोनों ही एक साथ यहाँ रागप्राप्त हो रहे हैं। अत: इस प्रकार की युगपत्प्राप्ति की स्थिति में यदि कोई विधि संभव हो सकता हो तो वह केवल परिसंख्याविधि ही हो सकता है।

उक्त लक्षण के शेष अंश **'इतरव्यावृत्तिपरो विधिः परिसंख्याविधिः'**– के द्वारा यह कहा गया है कि परिसंख्याविधि 'इतरव्यावृत्तिपर'– होता है। अंग्रेजी के Two negative make one affirmative,– वाक्य में जो अर्थ निहित है, वही अर्थ 'इतर-व्यावृत्ति'– वाक्य में निहित है । उदाहरणार्थ,– अश्व। यह अश्वेतरव्यावृत्त है, अर्थात् अश्व से जो इतर (अन्य) प्राणि हैं उनसे व्यावृत्त (भिन्न) अश्व प्राणि है। और इसी दृष्टि से **'परिसंख्या'**– का **'अन्ययोगव्यवच्छेद'**– अर्थ भी निरूपित किया जाता है। अर्थात् पञ्चनखभक्षण से इतर अर्थात् अपंचनखभक्षण और इस अपंचनखभक्षण से व्यावृत्त (अर्थात् भिन्न, व्यवच्छिन्न) कौन है? अर्थात् वह पञ्चनखभक्षण ही है। एवञ्च पञ्चनखभक्षण अर्थात् 'अपंचनखभक्षणव्यावृत्ति' रूप अर्थ ग्रहण करने पर– अर्थात् यह अर्थ पूर्वोक्त किसी भी रीति से प्राप्त न होने से और इसमें किसी नियम का कथन न होने से, यह परिसंख्याविधि होता है, यह माना गया है। परिसंख्या शब्द का अर्थ वर्जनबुद्धि– Exclusion– है।[१]

१. 'परिशब्दोऽत्र वर्जनार्थक: 'परेर्वर्जने' (८।१।५) इति पाणिनिस्मृते:। संख्या बुद्धि:। 'यत्सांख्यै: प्राप्यते स्थानं तद्योगैरपि गम्यते'– इति श्रीमद्भागद्गीतावचनात्। तेन वर्जनबुद्धि: परिसंख्येत्यन्वर्थेयं संज्ञा।

(८०) परिसंख्याया श्रौतीत्वलाक्षणिकीत्वभेदौ ।

सा च द्विविधा । श्रौती लाक्षणिकी चेति । तत्रात्रह्येवावपन्तीति श्रौती परिसङ्ख्या । एवकारेण पवमानातिरिक्तस्तोत्रव्यावृत्तेरभिधानात् । 'पञ्च पञ्चनखा भक्ष्या' इति तु लाक्षणिकी । इतर-निवृत्तिवाचकपदाभावात् । अत एवैषा त्रिदोषग्रस्ता ।।८०।।

सा च परिसङ्ख्या द्विविधेत्याह-सा चेति । आद्यामुदाहरति । तत्रेति द्वयोः परिसङ्ख्ययोर्मध्य इत्यर्थः । अत्रेति । प्रकृत इत्यर्थः । अवयन्तीति । अवजानन्तीत्यर्थः । गायन्तीति यावत् । श्रौत्या परिसङ्ख्यायास्तत्वे हेतुमाह-एवकारेणेति । द्वितीयामुदा-

---

यहाँ तक परिसंख्या के जिस उदाहरण का विवेचन किया गया है, वह 'पञ्च पञ्चनखा भक्ष्या:'– उदाहरण स्मृति निरूपित (प्रोक्त) एक वचन है। परन्तु श्रुतिप्रोक्त परिसंख्या का उदाहरण **'इमामगृभ्णन्रशनामृतस्य'**– यह जो मंत्र पूर्व में द्वितीया विनियोक्त्री श्रुति के उदाहरणार्थ दिया गया है[१], उसमें देखने को मिलता है। अथवा **'अंगिरसां द्विरात्रे षोडशिनः–परिसंख्या'**[२]– यह एक परिसंख्या वृत्तिकार के मतानुसार कथित है। **'गृहमेधीयकेऽपूर्वाज्य-भागविधानम्'**[३] अधिकरण में जो पांचवा पक्ष ग्रहण किया गया है, वहाँ भी परिसंख्या का प्रसंग देखने को मिलता है। इन उदाहरणों के अतिरिक्त एक अन्य उदाहरण अग्रिम प्रकरण के– **'अत्र ह्येव आवपतन्ति'**– इस वाक्य में प्रस्तुत किया गया है।।७९।।

अनुवाद– सा चेति *। परिसंख्या के दो भेद हैं– (१) श्रौती (२) लाक्षणिकी। श्रौतीपरिसंख्या का उदाहरण है– 'अत्र हि एव आवपन्ति'। उक्त वाक्य में प्रयुक्त 'एव' शब्द से पवमान से अतिरिक्त स्तोत्रों की निवृत्ति समझी जाती है। लाक्षणिकी परिसंख्या का उदाहरण है– 'पञ्च पञ्चनखा भक्ष्या:'। यहाँ इतर निवृत्तिवाचक पद का अभाव है। लक्षणा द्वारा उसकी कल्पना करनी पड़ती है। अतएव यह लाक्षणिकी परिसंख्या तीन दोषों से युक्त होती है।।८०।।*

।। अर्थमीमांसा ।।

पूर्व के प्रकरण में परिसंख्या का लक्षण और उदाहरण प्रस्तुत किया गया। अब यहाँ उस परिसंख्या के दो भेदों का निरूपण किया जा रहा है। परिसंख्या के दो भेद हैं– **श्रौती** एवं **लाक्षणिकी**। जो प्रत्यक्षवाचक (अभिधायक, प्रत्यक्षश्रुत) **'एव'**– इत्यादि शब्दों से व्यक्त होती है, उसे **श्रौती परिसंख्या** कहा जाता है, अर्थात् जिस परिसंख्या में इतरव्यावर्तक शब्द साक्षात् श्रुत होता है। एवं जिस परिसंख्याविधि में 'एव' आदि इतरव्यावर्तक शब्द साक्षात्–श्रुत नहीं होता, अपितु आर्थिक रीति से लक्षणा से जो निष्पन्न होती है, वह लाक्षणिकी परिसंख्या होती है। अर्थात् इसमें लक्षणा द्वारा इतरव्यावर्तक शब्द की कल्पना की जाती है। इन दो भेदों

---

१. द्रष्यव्य- मीमांसा परिभाषा।

२. द्रष्टव्य– जै. सू. अ. ६, पा. १, अधि. १३

३. द्रष्टव्य– जै. सू. अ. ६, पा. १, अधि. ३, ४

हरति। पञ्चेति। पञ्चपञ्चनखास्तु पञ्चपञ्चनखा भक्ष्या ब्रह्मक्षत्रेण राघव।। शशकः शल्लकी गोधाखड्गीकूर्म्मोऽथ पञ्चम इत्यादिवचनोदाहृता बोध्याः। अस्या अपि तत्वे हेतुमाहइतरनिवृत्तीति। अत एवेति। इतरनिवृत्तिवाचकपदाभावादित्यर्थः। एषेति। लाक्षणिकीत्यर्थः।।८०।।

में से प्रथम श्रौतीपरिसंख्या का उदाहरण है– **'अत्र ह्येव आवपन्ति'**[१]। इस उदाहरण में 'एव' इस प्रत्यक्ष श्रुत पद से उक्त वाक्य की परिसंख्या को व्यक्त किया गया है। अत: यह श्रौती परिसंख्या का उदाहरण है। क्योंकि इस वाक्य में 'एव' शब्द इतरव्यावर्तक है। परन्तु **'पञ्च पञ्चनखा भक्ष्या:'**– इस उदाहरण वाक्य में 'एव' आदि जैसा प्रत्यक्षश्रुत कोई भी शब्द प्रयुक्त नहीं किया गया है। अर्थात् 'एव' जैसा इतरव्यावर्तक पद का प्रयोग न होकर, वह कल्प्य है, (अर्थाक्षिप्त) अत: इस वाक्य को लाक्षणिकी परिसंख्या का उदाहरण माना गया है।

पवमान प्रकरण के पवमानस्तोम में आज्यादिक कुछ स्तोत्र विहित है। उन स्तोत्रों के छन्द तीन प्रकार के हैं– **गायत्री, बृहती** और **अनुष्टुभ्**। यहाँ पूर्वपक्षी शंका उपस्थित करता है कि उक्त छन्दों से युक्त जो ऋचाएँ हैं, क्या उनमें ही कुछ आवाप (आवाप: = प्रक्षेप: समुच्चय:, कुछ नूतन शब्दों को जोडना) और उद्वाप (उद्धार:, निवृत्ति:, पूर्व विद्यमान शब्दों को हटाना) करना चाहिये, अथवा पवमानातिरिक्त किसी दूसरे स्तोत्र की किसी ऋचा में आवाप और उद्वाप को किया जा सकता है? प्रकृत प्रसंग में सिद्धान्त यह है कि– पवमानस्तोम के गायत्री, बृहती और अनुष्टुप् इन छंदों से युक्त जो ऋचाएँ हैं, उनमें ही आवाप और उद्वाप किया जाना चाहिए। अन्य किसी दूसरी ऋचा में आवाप और उद्वाप नहीं किया जा सकता। क्योंकि ['त्रीणि ह वै यज्ञस्योदराणि यद्गायत्री, बृहती और अनुष्टुप् च। अत्र ह्येवाऽऽवपन्ति अत एवोद्वपन्ति।']– इस वाक्य में– गायत्री, बृहती और अनुष्टुभ्– ये यज्ञ के तीन उदर होने से इनमें ही आवाप किया जाना चाहिए और उनमें से ही उद्वाप किया जाना चाहिए,– कहा गया है। अत: उक्त तीन छन्दों से युक्त जो पवमानस्तोम की ऋचाएँ हैं, उनमें ही आवाप और उद्वाप करना आवश्यक है, यह सिद्ध होता है।[२]

प्रकृत 'अत्र ह्येव आवपन्ति' के स्थान पर 'अत्र ह्येव अवयन्ति'– पाठ अर्थसंग्रह की मुंबई और बनारस की प्रतियों में मुद्रित है। और मुंबई की आपदेवी की प्रति में भी 'अवयन्ति' पाठ ही मिलता है। इसके अतिरिक्त टीकाकार ने भी 'अवयन्ति'– पाठ को ग्रहण करके– **'अवजानन्ति गायन्तीति यावत्'** अर्थ व्यक्त किया है। **डॉ. थीबो** ने भी अपने भाषान्तर में 'अवयन्ति' पाठ को ग्रहण करके– 'There only they sing' के रूप में उसका अनुवाद किया है। किन्तु उक्त पाठ और उसके सभी अर्थ अशुद्ध– 'Mistaken'– हैं, और 'अत्र ह्येव आवपन्ति' यही पाठ शुद्ध है, यह उपर्युक्त अधिकरण के आवापोद्वाप के प्रसंग से स्पष्ट हो जाता है।

---

१. द्रष्टव्य- जै. सू. अ. १०, पा. ४, अधि. १३।

२. (गायत्रीबृहत्यनुष्टुप्) एतत्त्रयातिरिक्तेषु पवमानस्तोत्रसम्बन्धिषु छन्दस्सु पवमानातिरिक्तेषु स्तोत्रेषु वानसमवाप: कार्य:)"– तात्पर्य यह है कि पवमान के उक्त तीनों छन्दों के अलावा किसी अन्य जगह पर 'आवाप' निर्दिष्ट नहीं है।

(८१) परिसंख्यायां दोषत्रयम्

दोषत्रयं च श्रुतहानिरश्रुतकल्पना-प्राप्तबाधश्चेति । तदुक्तम् । 'श्रुतार्थस्य परित्यागादश्रुतार्थप्रकल्पनात् । प्राप्तस्य बाधादित्येवं परिसङ्ख्या त्रिदूषणा' इति । श्रुतस्य पञ्चनखभक्षणस्य हानात् ।

अश्रुतापञ्चनखभक्षणनिवृत्तेः कल्पनात्। प्राप्तस्य चाऽपञ्चनखभक्षणस्य बाधनादिति । अस्मिंश्च दोषत्रये दोषद्वयं शब्दनिष्ठम् । प्राप्त-बाधस्त्वर्थनिष्ठ इति दिक् ।।८१।।

दोषत्रयं प्रदर्शयति-दोषत्रयं चेति । तत्र श्रुतहानौ हेतुमाह-श्रुतस्येति ।

इस प्रकार श्रौती परिसंख्या के स्पष्टीकरण का निरूपण समाप्त होने पर क्रमप्राप्त **'पञ्च पञ्चनखा भक्ष्याः'**– इस लाक्षणिकी परिसंख्या का विवेचन प्रारम्भ करते हैं। इससे सम्बन्धित पूर्ण विवेचन प्रायः इसके पूर्व किया जा चुका है। अब यहाँ केवल– 'इसे लक्षणिकी क्यों कहा जाता है?' इतना ही विवेचन करना शेष है। लाक्षणिकी कहने का कारण– ''इतरनिवृत्तिवाचक-पदाभाव'' कहा गया है। उक्त उदाहरण में – 'एव' जैसे इतरव्यावर्तक पद का प्रयोग नहीं किया गया है। अर्थात्– 'अत्र ह्येवावपन्ति'– इस उदाहरण में इतरनिवृत्तिवाचक 'एव' पद जिस प्रकार प्रत्यक्ष श्रुत है, वैसा कोई भी प्रत्यक्ष श्रुत पद उक्त उदाहरण में नहीं है। उसका केवल भावार्थ मात्र आर्थिकरीत्या प्राप्त होता है। एवञ्च **'पञ्च पञ्चनखा भक्ष्याः'**– का जो मुख्यार्थ है वह बाधित होकर– **'अपञ्चनखभक्षणनिवृत्ति'** रूप लाक्षणिक अर्थ स्वीकार करना पड़ता है। अतः इसे लाक्षणिकी परिसंख्या कहा जाता है। इसप्रकार जो लक्षणा से परिसंख्या प्राप्त होती है, वही केवल (एषा एव) तीन दोषों से ग्रस्त है। वे तीन दोष कौन से हैं,– उनका विवेचन अग्रिम पाठ में किया जा रहा है।।८०।।

अनुवाद– दोषत्रयमिति । *लाक्षणिकी परिसंख्या के तीन दोष हैं– (१) श्रुतहानि, (२) अश्रुतकल्पना और (३) प्राप्तबाध। कहा भी गया है कि– परिसंख्या श्रुत अर्थ के छोड़ने, अश्रुत अर्थ की कल्पना करने एवं रागतः प्राप्त की बाधा से, तीन दोषों वाली होती है।*

[अधुना ग्रंथकार 'पञ्च पञ्चनखा भक्ष्याः' उदाहरण में उक्त तीन दोषों की उद्भावना कर रहे हैं–]

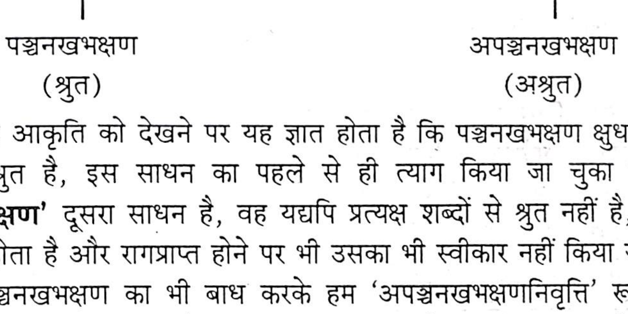
श्रुतार्थस्येति । *'पञ्च पञ्चनखा भक्ष्याः' इस वाक्य में विधिश्रुत 'पञ्चनखभक्षण' निर्देश को त्यागना होता है (श्रुतहानि), अश्रुत शशकादि पञ्च भिन्न पञ्चनखभक्षण की निवृत्ति रूप कल्पना (अश्रुत कल्पना) तथा रागतः प्राप्त पञ्चातिरिक्त पञ्चनखभक्षण का निषेध (प्राप्तबाध) होता है। उक्त तीनों दोषों में प्रथम दो शब्द निष्ठ हैं एवं 'प्राप्तबाध' अर्थनिष्ठ होता है।।८१।।*

।। अर्थमीमांसा ।।

पूर्व प्रकरण में परिसंख्या के तीन दोषों की चर्चा हुई है। प्रस्तुत प्रकरण में ग्रंथकार उन

अश्रुतकल्पनायां हेतुमाह-अश्रुतेति। प्राप्तस्य बाधेऽपि हेतुमाह-प्राप्तस्येति। रागतः प्राप्तस्येत्यर्थः। अस्य दोषत्रयस्य व्यवस्थया वृत्तित्वमाह-अस्मिश्चेति। दोषत्रयमध्य इत्यर्थः।।८१।।

दोषों की व्याख्या कर रहे हैं– परिसंख्या के तीन दोष हैं– (१) श्रुतहानि, (२) अश्रुतकल्पना और (३) प्राप्तबाध। इन तीन दोषों को निम्नांकित एक कारिका में एकत्र निरूपित किया गया है– ['श्रुतार्थस्य परित्यागादश्रुतार्थप्रकल्पनात्। प्राप्तस्य बाधादित्येवं परिसंख्या त्रिदूषणा।।'][१] यहाँ पञ्च पञ्चनखा भक्ष्याः'– वाक्य में उक्त तीन दोषों को निर्देशित किया जा सकता है– (१) 'पञ्च पञ्चनखाभक्ष्याः' वाक्य में प्रत्यक्ष शब्दों द्वारा श्रुत (अर्थात् विहित किया हुआ) 'पञ्चनखभक्षण' का परिसंख्या के अवसर पर त्याग (हान) करना पड़ता है। क्योंकि, पञ्चनखभक्षण– यह जो उन शब्दों का वाच्यार्थ है, उसे स्वीकार नहीं किया जाता। अतः **श्रुतपरित्याग** यह परिसंख्या का प्रथम दोष है। (२) उस वाच्यार्थ का स्वीकार न करके, इसके विपरीत–वाच्यार्थ द्वारा जो कुछ व्यक्त नहीं किया गया है, ऐसे एक अर्थ की कल्पना करके, उसे स्वीकार किया जाता है, अर्थात् वाच्यार्थ का त्याग कर एक कल्पित अर्थ 'अपञ्चनखभक्षणनिवृत्ति'– को ग्रहण-स्वीकार करते हैं। किन्तु यह अर्थ तो कल्पित किया हुआ है, वस्तुतः इस अर्थ का द्योतक– प्रत्यक्षवाचक कोई भी शब्द– **'पञ्च पञ्चनखा भक्ष्याः'**– इस वाक्य में साक्षात् श्रुत नहीं है। अतः यहाँ जो श्रुत नहीं है, ऐसे अश्रुत की कल्पना करनी पड़ती है। इसलिए यह परिसंख्या का दूसरा दोष है। (३) अब परिसंख्या का जो तीसरा दोष है, वह निम्नानुसार है–



उपर्युक्त आकृति को देखने पर यह ज्ञात होता है कि पञ्चनखभक्षण क्षुधानिवारण का एक साधन श्रुत है, इस साधन का पहले से ही त्याग किया जा चुका है। अब जो **'अपञ्चनखभक्षण'** दूसरा साधन है, वह यद्यपि प्रत्यक्ष शब्दों से श्रुत नहीं है, तथापि वह रागतः प्राप्त होता है और रागप्राप्त होने पर भी उसका भी स्वीकार नहीं किया जाता है। उस रागप्राप्त अपञ्चनखभक्षण का भी बाध करके हम 'अपञ्चनखभक्षणनिवृत्ति' रूप तीसरे ही कल्पित अर्थ को स्वीकार करते हैं। इस प्रकार रागप्राप्त जो अपञ्चनखभक्षण है, उसका हमें बाध करना पड़ता है। अतः 'प्राप्तबाध' परिसंख्या का तीसरा दोष है। उक्त परिसंख्या के तीन

---

१. दोषत्रयञ्च स्वार्थहानिः, परार्थस्वीकारः, प्राप्तबाधश्चेति। विधिशब्दघटितवाक्यस्य हि विधानं व्यापारः। स त्यज्यते। वर्जनबोधनं च नञ्घटितवाक्यस्य व्यापारः। सोऽनेन स्वीक्रियते। प्राप्तस्य पञ्चातिरिक्तपञ्चनखस्य बाधनं क्रियते इति। इदं च दोषत्रयं शाब्द्यामेव परिसंख्यायाम्। तत्राऽपि लाक्षणिक्यामेव, नतु श्रौतपरिसंख्यास्थले। (तं.सि.र. चतुर्थ परिच्छेद)

दोष क्यों और कैसे उत्पन्न होते हैं, यह अग्रिम आकृति से ध्यान में आ सकेगा।

परिसंख्या के तीन दोष

पंचनखभक्षण	अपंचनखभक्षण	अपंचनखभक्षणनिवृत्ति
श्रुत	अश्रुत	अश्रुत
(रागतः) प्राप्त	(रागतः) प्राप्त	अप्राप्त
श्रुतहानि	प्राप्तबाध	अश्रुतकल्पना
१	३	२

उपर्युक्त रेखांकित आकृति में जिन तीन दोषों को दर्शाया गया है, उन्हें पुनः दो विभागों में विभक्त करके कहा गया है कि, (१) **श्रुतहानि** और (२) **अश्रुतकल्पना** ये प्रथम दो दोष **शब्दनिष्ठ** हैं और (३) प्राप्तबाध नाम का तीसरा दोष **अर्थनिष्ठ** है। प्रथम दो दोष– १ और २ के सम्बन्ध में यह कहा जाता है कि **'पञ्च पञ्चनखा भक्ष्याः'** वाक्य के मूल शब्द (अपना) निजार्थ का त्याग करके अन्य अर्थ,– जो उनका स्वयं का अर्थ नहीं है, को ही प्रकट करने लगते हैं, ये दो दोष उन शब्दों के द्वारा होने के कारण, उन्हें (अर्थात् प्रथम दो दोषों को) शब्दनिष्ठ दोष की संज्ञा दी गई है। शब्दों से सम्बन्धित कोई भी अन्य प्रश्न तीसरे दोष में उत्पन्न न होने के कारण और उस प्राप्तबाध नामक तीसरे दोष में केवल प्राप्त हुए अर्थ का ही बाध किया जाने से, इस तीसरे दोष को अर्थनिष्ठ की संज्ञा दी गई है।

इस प्रकार उक्त लाक्षणिकी परिसंख्या में यद्यपि तीन दोष उत्पन्न होते हैं, तथापि श्रौती परिसंख्या की स्थिति लाक्षणिकी परिसंख्या से भिन्न है। **'अत्र ह्येव आवपन्ति'**– इस श्रौती परिसंख्या के उदाहरण में **'एव'** यह पद प्रत्यक्षश्रुत होने से स्वार्थत्याग और परार्थस्वीकार रूप दो दोष उसमें उत्पन्न नहीं होते हैं, केवल **'प्राप्तबाध'** यही एक दोष उसमें उत्पन्न होता है।[1]

यहाँ तक परिसंख्या का निरूपण किया गया। प्रस्तुत प्रकरण वस्तुतः मंत्र मीमांसा का है। उस प्रकरण में **'मंत्रैरेव स्मर्तव्यम्'** नियम विधि के उपयोग करने का प्रसंग प्राप्त होने से नियम-विधि को जानने की जिज्ञासा उत्पन्न होने के कारण, उस जिज्ञासा के समाधानार्थ अपूर्वविधि, नियमविधि और परिसंख्याविधि– का विवेचन प्रवाहवश किया गया है। उन तीन विधियों में से अन्तिम परिसंख्याविधि का विवेचन यहाँ समाप्त होने पर, मंत्रमीमांसा से सम्बन्धित शेष विवेचन को पुनः ग्रन्थकार उपसंहार करने की दृष्टि से अग्रिम पाठ में प्रारम्भ करने में प्रवृत्त हो रहे हैं–॥८१॥

१. द्रष्टव्य- **शास्त्रदीपिका** के निम्नांकित उद्धरण से उक्त विवेचन का स्पष्ट अर्थ ज्ञात हो सकेगा– ['न च परिसंख्यायाः त्रिदोषत्वम्। एवकारेण तस्या एव श्रुतत्वात्। १०-४-१२, श्रुतत्वादेव स्वार्थत्यागपरार्थस्वीकारलक्षण-दोषद्वयाप्रसंगान्न त्रयोपि दोषाः। किन्तु प्राप्तबाधलक्षण एक एव इति नात्यन्तदुष्टा परिसंख्या इति भावः। –टीका]

(८२) केषांचिन्मत्राणामुच्चारणस्यादृष्टार्थकत्वम्

येषां तु प्रयोगसमवेतार्थस्मारकत्वं न सम्भवति तदुच्चारणस्यानन्यगत्याऽदृष्टार्थकत्वं कल्प्यत इति नानर्थक्यमिति ।।८२।।

ननु कथं सर्वेषाम्मन्त्राणाम्प्रयोगसमवेतार्थस्मारकत्वेनैवार्थवत्वमुपपद्यते हुम्फडादिमन्त्राणां प्रयोगसमवेतार्थस्मारकत्वासम्भवादित्याशङ्क्याह-येषामित्यादिना । तदुच्चारणस्येति हुम्फडादिमन्त्रोच्चारणस्येत्यर्थः । अनन्यगत्यादृष्टार्थत्वमित्यत्रादृष्टार्थत्वमिति पदछेदः इति नानर्थक्यमिति । अतो हेतोर्हुंफडादिमन्त्राणां नानर्थक्यमित्यर्थः ।।८२।।

अनुवाद– येषामिति । *जो मन्त्र यागानुष्ठान में उपयुज्यमान पदार्थों के स्मारक नहीं होते हैं, अगत्या यह मान लिया जाता है कि उन मन्त्रों का उच्चारण अदृष्ट को उत्पन्न करने के लिए होता है। अत: मन्त्रोच्चारण व्यर्थ नहीं होता।।८२।।*

।। अर्थमीमांसा ।।

इसके पूर्व कहा गया है कि मन्त्र का प्रयोजन अनुष्ठान में समवेत अर्थों का स्मरण कराना है। उन मंत्रों के दो भेद हैं। उनमें से कुछ मन्त्रों में अर्थस्मारकत्व रहता है, परन्तु कुछ मन्त्र ऐसे हैं जिनमें वह सामर्थ्य नहीं रहता, यथा, **'कवचाय हुम्', 'नेत्रत्रयाय वौषट्', 'अस्त्राय फट्'** आदि। इनमें अर्थस्मारकत्व का अभाव रहता है। ऐसी स्थिति में पूर्वपक्षी कहता है कि, यह तो ठीक है कि कुछ मंत्रों में अर्थस्मारकत्व होने के कारण उनका उच्चारण दृष्टफल का द्योतक हो सकेगा, किन्तु जिन मंत्रों में अर्थस्मारकत्व नहीं रहता उनके उच्चारण का क्या फल है? क्या इन मंत्रों को अनर्थक मान लिया जाय? या ऐसे मंत्रों का कुछ अदृष्टफल मानना चाहिए। और यदि यह संभव न हो तो आपको वेद के कुछ मंत्रों को निरर्थक मान लेना चाहिए। पूर्वपक्षी के उक्त विचारानुसार इन्हें अनर्थक नहीं माना जा सकता, क्योंकि वेद के प्रत्येक भाग में किंचित् अर्थवत्त्व है ही। अत: उसके किसी भाग में आनर्थक्य (निरर्थकत्व) नहीं हो सकता। किन्तु जिन हुंफडादिक मंत्रों का कुछ अर्थ न होने के कारण, उनसे अर्थस्मारकत्व की संभावना भी नहीं है इस हेतु कदाचित् आनर्थक्य हो सकेगा, और इस आनर्थक्य दोष का निवारण करने के लिए अन्य कोई मार्ग न होने से ऐसे हुंफडादिक मंत्रों के उच्चारण में कुछ-किंचित्-अदृष्टार्थकत्व होने की कल्पना कर लेना आवश्यक है। तात्पर्य यह है कि **'स्वाध्यायोऽध्येतव्य'**– इस विधिवाक्य से समस्त वेद का ग्रहण हो जाता है, सिद्धान्तत: वेद का कोई भी अंश निष्प्रयोजन या तत्त्वार्थशून्य नहीं है। अत: इन मंत्रों के उच्चारण से यद्यपि 'प्रयोग समवेत अर्थ स्मारकत्व' रूपी बात सिद्ध नहीं होती तथापि इनमें 'अदृष्टार्थकता' विद्यमान है। और उनके उच्चारण में आनर्थक्य न होकर अर्थवत्त्व ही है। प्रकृत में ध्यातव्य है कि नवीन मीमांसक खण्डदेव प्रभृति मंत्रों के अर्थ प्रकाशन को भी परमदृष्टार्थक ही माने हैं[1]।।८२।।

---

१. मीमांसाकौस्तुभ पृ. ७२, भाट्टदीपिका पृ. ३२

(८३) नामधेयमीमांसा

नामधेयानां च विधेयार्थपरिच्छेदकतयाऽर्थवत्त्वम् । तथा हि 'उद्भिदा यजेत पशुकाम' इत्यत्रोद्भिच्छब्दो यागनामधेयम् । तेन च विधेयार्थपरिच्छेदःक्रियते । तथा हि अनेन वाक्येनाप्राप्तत्वात् फलोद्देशेन यागो विधीयते । यागसामान्यस्याविधेयत्वात् यागविशेष एव विधीयते । तत्र कोऽसौ यागविशेष इत्यपेक्षायामुद्भिच्छब्दादुद्भिद्रूपो याग इति विज्ञायते । उद्भिदा यागेन पशुं भावयेदित्यत्र सामानाधिकरण्येन नामधेयान्वयात् ।।८३।।

मन्त्रभागस्य यथायथं प्रयोजनवत्त्वमुपपाद्येदानीं क्रमप्राप्तं नामधेयानां सार्थक्यमुपपादयति-नामधेयानामिति । विधेयार्थपरिच्छेदकतयेति । विजातीयव्यावर्तकत्वेन विधेयार्थनिश्चायकतयेत्यर्थः । विधेयार्थस्येव समर्थकतयेति यावत् । एतदेव प्रदर्शयति । तथाहीत्यादिना । तेन चेति । उद्भिच्छब्देन चेत्यर्थः । उद्भिच्छब्दस्य विधेयार्थपरिछेदकतया नामधेयत्वप्रदर्शनाय भूमिकामारचयति-तथाहीत्यादिना । अनेनेति ।

---

*अनुवाद– **नामधेयानामिति** । नामधेय विधेयार्थ का निश्चय कराता हुआ सार्थक होता है। यथा– 'उद्भिदा यजेत पशुकाम:'। यहाँ 'उद्भिद्' शब्द याग का नामधेय है। इसके द्वारा विधेय अर्थ का परिच्छेद किया जाता है। इसके द्वारा पशुरूप फल को उद्देश्य करके किसी अन्य वाक्य द्वारा अप्राप्त याग का विधान किया जाता है। यहाँ याग सामान्य का विधान न होने से याग विशेष का ही विधान किया गया है। 'यह यागविशेष' कौन सा है? इस प्रकार आकांक्षा होने पर 'उद्भिद्' शब्द से उद्भिद् रूप याग विशेष का ज्ञान होता है। 'उद्भिदायागेन पशुं भावयेत्' इत्याकारक वाक्यबोध होने पर उद्भिद् एवं याग का समानाधिकरण्येन अन्वय होता है।।८३।।*

।। अर्थमीमांसा ।।

वेद के प्रत्येक-भाग को किसी न किसी प्रकार का अर्थवत्त्व है, इस पर प्रश्नकर्ता यह कहता है कि विधि, और मंत्र, तथा निषेध एवं अर्थवाद को अर्थवत्त्व (उपयुक्तत्व) किस प्रकार प्राप्त होता है, यह तो ध्यान में आ जाता है, किन्तु नामधेय (अर्थात् नाम) को याग के सम्बन्ध में अर्थवत्त्व किस दृष्टि से प्राप्त होगा? यह समझ में नहीं आता। प्रश्नकर्ता की इस शंका का निवारण करने के लिए– ['नामधेयानां विधेयार्थपरिच्छेदकतयार्थवत्त्वम्'] वचन को यहाँ प्रस्तुत किया गया है।

यहाँ 'नामधेय' का अर्थ है याग का नाम। ऐसे यागों के नाम हैं– **'उद्भिदा यजेत' 'बलभिदा यजेत' 'विश्वजिता यजेत' 'वाजपेयेन यजेत' 'वैश्वदेवेन यजेत'**। इस पर पूर्वपक्षी कहता है कि ये नाम विधि वाचक नहीं हैं और न ये मंत्र ही हैं, अथवा इनमें न निन्दा है और न स्तुति ही है, अत: ये निषेध या अर्थवाद भी नहीं हो सकते। इसलिए इन्हें किसी

उद्भिदा यजेत पशुकाम इत्यनेनेत्यर्थः । फलोद्देशेनेति पशुरूपफलोद्देशेनेत्यर्थः । यागेति साधनवैलक्षण्यमन्तरेण फलवैलक्षण्यानुपपत्तेर्नात्र यागसामान्यं विधीयते ततश्च यागविशेष एव विधीयत इत्यर्थः । क इति । कोऽसौ यागविशेष इति । यागविशेषापेक्षायामित्यर्थः । उद्भिच्छब्दादुद्भिद्रूपो याग इति विज्ञायत इति उद्भिच्छब्दात्पुनरुद्भिन्नामको यो यागः स एवात्र याग विशेष इति विज्ञायत इत्यर्थः । एवं च सिद्धमुद्भिच्छब्दस्य धात्वर्थसामानाधिकरण्येनान्वयं फलितमाह-उद्भिदेति । ननूद्भिच्छब्दस्य नीलमुत्पलमिव नीलपदस्योत्पलपदसामानाधिकरण्यवद्यजिसामानाधिकरण्यं भवेत्किन्नामधेयत्वेनेति चेन्न, वैषम्यात् । तथाहि तत्र हि नीलपदस्यार्थो नीलगुण उत्पलपदार्थादुत्पलरूपद्रव्यादतिरिक्तो भवति लक्षणया तु नीलपदस्य तादृशद्रव्यपरत्वेनोत्पलपदसामानाधिकरण्यमुपपद्यते । उद्भिच्छब्दस्य तु यज्यवगतयागविशेषान्नातिरिक्तोऽर्थोऽस्ति तस्यैव तत्र विशेषत्वसमर्पकत्वात् । ततश्चार्थान्तरवाचकत्वाभावेन नोद्भिच्छब्दस्य नीलशब्दस्योत्पलशब्दसामानाधिकरण्यवद्यजिसामाना-

---

भी प्रकार प्रामाण्य प्राप्त न हो सकने के कारण याग में इन नामधेयों को अर्थवत्त्व प्राप्त नहीं हो सकता। अत: नामधेय वेद का एक निरूपयोगी विभाग होना चाहिए। इस शंका का समाधान सिद्धान्ती यह कहकर करता है कि– यागो के ये नामधेय विधि, मंत्र, निषेध या अर्थवाद नहीं हैं, यह कहना तो ठीक है, फिर भी विधेयार्थपरिच्छेदकत्वेन नामधेयों को अर्थवत्त्व प्राप्त होता है। उदाहरणार्थ– **'यजेत'**– पद से **'यागेन भावयेत्'**– कहा गया है। इसका तात्पर्य यह है कि यहाँ याग यह एक विधेय अर्थ (अनुष्ठेय पदार्थ) विहित है। किन्तु इसके सम्बन्ध में अधिक कोई विशेष सूचना नहीं है। अत: विधेय अर्थ जो 'याग' है, उसके निश्चायक (परिच्छेद = निर्णय, निश्चय) ज्ञान की यहाँ अपेक्षा है। जैसे 'उद्भिदा यजेत'। यहाँ 'उद्भिद्' याग का नाम है। ऐसी स्थिति में वाक्य बोध 'उद्भिद्नामकेन यागेन भावयेत्' सामानाधिकरण्य से होता है। क्योंकि दोनों पदों के वचन और विभक्ति समान है। अतएव दोनों एक हैं। यह तभी संभव हो सकता है जब **'उद्भिद्'** याग का नाम हो। क्योंकि इस स्थान पर 'याग' केवल विधेय अर्थ का बोधक था, इस कारण अनेक प्रकार के और विविध नाम के यागों का ज्ञान वहाँ हो रहा था, किन्तु उन सभी का निरास (निराकरण) करके यहाँ केवल **'उद्भिद्'** नामक विधेय अर्थ (याग) को ग्रहण करना चाहिए। यह परिच्छेद अथवा निर्णय **'उद्भिन्नामकेन यागेन भावयेत्'** वाक्यगत 'उद्भिद्' इस **नामधेय** से होता है। इस प्रकार विधेयार्थ परिच्छेद के कार्य 'नामधेय' के द्वारा किये जाते हैं, इसलिए विधेयार्थपरिच्छेदकत्वेन नामधेयों को अर्थवत्त्व प्राप्त होता है। उक्त विषय को **'तथा हि उद्भिदा यजेत पशुकामः'** इस वाक्य में स्पष्ट रूप से निरूपित किया गया है।

उपर्युक्त चर्चित प्रकरण को हम संक्षेप में इस प्रकार समझ सकते है– **'उद्भिदा यजेत पशुकामः'** इस वाक्य में **'उद्भिद्'** शब्द याग का नामधेय है। यथा– **'उद्भिदा यजेत पशुकामः'**– में पशुरूपफल के उद्देश्य से याग का विधान किया गया है। वस्तुत: इस याग का ज्ञान किसी अन्य वाक्य से नहीं हो सकता। यदि इस वाक्य से **उद्भिद्** शब्द को विलुप्त करके केवल **'यजेत पशुकामः'** शेष रहने दिया जाय तो **'यागेन पशुं भावयेत्'**– यह

(८४) नामधेयत्वे निमित्तचतुष्टयम्

नामधेयत्वं च निमित्तचतुष्टयात्। मत्वर्थलक्षणाभयाद्वाक्यभेदभया-त्तत्प्रख्यशास्त्रात्तद्व्यपदेशादिति ।।८४।।

धिकारण्यमुपपद्यते किन्तर्हि वैश्वदेव्यामिक्षेत्यत्रामिक्षापदस्य वैश्वदेवीशब्द-सामानाधिकरण्यवत्। वैश्वदेवीशब्दस्य हि देवतातद्धितत्वात्। तस्य च सास्य देवतेति सर्वनामार्थे स्मरणात् सर्वनाम्नां चोपस्थितविशेषवाचित्वेन विशेषपरत्वं तत्र कोऽसौ वैश्वदेवीशब्दोपात्तो विशेष इत्यपेक्षायाम् आमिक्षापदसान्निध्यादामिक्षारूपो विशेष इत्यवगम्यते। यथाहुः-आमिक्षां देवतायुक्तां वदत्येवैष तद्धितः। आमिक्षापदसा-निध्यादस्यैव विषयापर्णमिति ।। तस्माद्यथा वैश्वदेवीशब्दोपात्तविशेषसमर्प्पकत्वेना-मिक्षापदस्य वैश्वदेवीशब्दे न सामानाधिकरण्यमेवं सामान्यस्याविधेयत्वाद्यज्यवगतयाग-विशेषसमर्प्पकत्वेनैववोद्भिच्छब्दस्य यजिसामानाधिकरण्यमित्युक्तप्रकारेणैव नामधे-यानामन्वयः साधुरिति ।।८३।।

तथाचोक्तं तदधीनत्वाद्यागविशेषसिद्धेरिति। तच्च निमित्तचतुष्टयाद्भवतीत्याह-नामधेयत्वं चेति। निमित्तचतुष्टयं निर्दिशति-मत्वर्थेत्यादिना। तत्राद्यनिमित्तविषयमुदा-हरति ।।८४।।

वाक्यार्थ होगा, ऐसी स्थिति में कौन से याग का अनुष्ठान करना चाहिये, इसका, उसका या अन्य किसी याग का, स्पष्टज्ञान नहीं हो पाता। वस्तुतः **'यागेन पशुं भावयेत्'**– इस वाक्य से तो याग सामान्य का विधान हो जाता है। और एक अनिश्चयात्मक स्थिति उत्पन्न हो जाती है, क्योंकि नाम अभिहित किये बिना अनुष्ठान सम्भव नहीं है। उस अनिश्चयात्मक स्थिति का निवारण करके केवल **'उद्‌भिद्'** नामक ही याग करना चाहिए, यह परिच्छेद (निर्णय, निश्चय) नामधेय के द्वारा किया जाता है। अतः **'उद्‌भिद्'** याग का 'नामधेय' हुआ और एक निश्चयात्मक यागविशेष का संकेतक होने से 'विधेयार्थपरिच्छेदक' भी हुआ। यहाँ यह भी ध्यातव्य है कि **'उद्‌भिदा यागेन पशुं भावयेत्'**– वाक्य में **उद्‌भिद** एवं **याग** इन दोनों पदों के वचन, विभक्ति एवं लिङ्ग– समान होने से सामानाधिकरण्य भी हो जाता है। अतः इस प्रकार **'उद्‌भिद्'** यह नामधेय अर्थात् नाम एक विशेष याग की संज्ञा है। और यह नामधेय 'उद्‌भिद्' नामक याग को सामान्य याग से अलग करने का कार्य करता है, एवञ्च 'नामधेय' को अर्थवत्त्व प्राप्त होता है।।८३।।

अनुवाद– नामधेयत्वमिति। *नामधेयत्व चार कारणों से होता है– (१) मत्वर्थलक्षणा के भय से, (२) वाक्यभेद के भय से, (३) तत्प्रख्यशास्त्र से एवं (४) तद्‌व्यपदेश से।।८४।।*

।। अर्थमीमांसा ।।

'स्वाध्यायोऽध्येतव्यः' विधि के द्वारा संपूर्ण वेदाध्ययन करने के लिये कहा गया है। यहाँ ध्यातव्य यह है कि यदि वेद अप्रमाणीभूत होता तो उसका अध्ययन करने के लिए विधि

(८५) मत्वर्थलक्षणाभयात्

तत्र 'उद्भिदा यजेत पशुकाम' इत्यत्रोद्भिच्छब्दस्य यागनामधेयत्वं मत्वर्थलक्षणाभयात्। तथाहि न तावदनेन वाक्येन फलं प्रति यागविधानम्। तं प्रति च गुणविधानं युज्यते। वाक्यभेदापत्तेः। उद्भिच्छब्दस्य गुणसमर्पकत्वे च यागस्याप्यप्राप्तत्वात्। गुणविशिष्टकर्मविधानं वाच्यम्। उद्भिद्वता यागेन पशुं भावयेदिति विशिष्टविधौ च मत्वर्थलक्षणेत्युक्तमेव।।८५।।

तत्रोद्भिदा यजेतेति तत्रेति चतुर्षु मध्य इत्यर्थः। अत्र मत्वर्थलक्षणापत्तिप्रदर्शनाय तावद्वाक्यभेदमापादयति। न तावदिति। अस्मिन्पक्षे तूद्भिद्यते भूमिरनेनेति व्युत्पत्त्या खनित्रवाच्यसावुद्भिच्छब्दो भवेत्तथाचोद्भिदा यजेत पशुकाम इत्यनेन वाक्येन यागेन पशुं

ने कहा न होता। अतः उस वेद के नामधेयात्मक जो वचन हैं, वे भी स्वभावतः ही प्रामाण्ययुक्त हैं। तथा उन नामधेयों के वचनों को अर्थवत्त्व किस प्रकार प्राप्त होता है, यह पूर्व में निर्देशित किया जा चुका है। सम्प्रति नमाधेयत्व को अनेक स्थानों पर क्यों स्वीकार किया जाता है, इसके निम्नांकित चार कारण हैं– (१) **मत्वर्थलक्षणा के भय से**, (२) **वाक्यभेद के भय से**, (३) **तत्प्रख्यशास्त्र से** और (४) **तद्व्यपदेश से**। इन चार कारणों के अर्थों को आगे तत्-तत् स्थानों पर निर्देशित किया जायगा। इन चार कारणों में से मत्वर्थलक्षणाभय रूप प्रथम कारण का विवेचन आगे किया जा रहा है।।८४।।

अनुवाद– तत्रेति। *उक्त चार कारणों में प्रथम 'उद्भिदा यजेत पशुकामः' है। यहाँ मत्वर्थलक्षणा के भय से 'उद्भिद्' शब्द को याग का 'नामधेय' माना जाता है। क्योंकि 'उद्भिदा यजेत' इस एक वाक्य से फल (पशु) को उद्देश्य करके याग का विधान एवं याग को उद्देश्य करके गुण का विधान नहीं माना जा सकता। और मानने पर 'वाक्यभेद' उपस्थित होगा। और यदि 'उद्भिद्' शब्द को गुणपरक मानकर प्रमाणान्तर से अप्राप्त याग का विधान करते हैं तो प्रकृत स्थल में 'गुणविशिष्टकर्म विधि' मानना होगा। ऐसी स्थिति में 'उद्भिदा यजेत पशुकामः' का वाक्यबोध 'उद्भिद्वता यागेन पशुं भावयेत्' होगा। और विशिष्ट विधि में मत्वर्थलक्षणा होती ही है।।८५।।*

।। अर्थमीमांसा ।।

अधुना ग्रंथकार **'उद्भिदा यजेत पशुकामः'**[१] वाक्यगत **'उद्भिद्'**– शब्द एक याग के नामधेय के रूप में मत्वर्थलक्षणा के भय से क्यों माना गया है, विवेचन कर रहे हैं। **'उद्भिद्यते पशुफलं अनेन यागेन'**– इस प्रकार के निर्वचन के द्वारा **'उद्भिद्'** एक याग का नाम है, ऐसा सिद्धान्त रूप में मान्य किया गया है। परन्तु **'पूर्वपक्षी** उक्त निर्वचन के द्वारा

---

१. द्रष्टव्य– तां. ब्रा. १९.७.२,३.। जै. सू. अ. १, पा. ४, अधि. २

भावयेद्यागञ्च खनित्रेण भावयेदिति फलम्प्रति यागविधानं यागम्प्रति च गुणविधानं क्रियेत तच्च न युज्यत इत्यर्थः । तत्र हेतुमाह-वाक्येति । आवृत्तिरूपवाक्य-भेदापत्तेरित्यर्थः । नन्वनेन वाक्येन खनित्ररूपो गुण एव विधीयते । दध्ना जुहोतीत्यनेन गुणविधिना समानत्वात् । न चात्र पशुफलकः कश्चिद्यागो विधीयत इति वाच्यम् । पशूनां गुणफलत्वात् । यथा गोदोहनेन पशुकामस्येत्यत्र पशवो गोदोहनगुणस्य फलं तथेह खनित्रगुणस्य फलनस्तु । यदि चमसेनापःप्रणयतीति विहितं प्रकृतम-पाम्प्रणयनमाश्रित्य गोदोहनं विधीयते तर्ह्यत्रापि ज्योतिष्टोमेन यजेतेति विहितं प्रकृतं ज्योतिष्टोममाश्रित्य खनित्रं विधीयतां तस्माद्गुणविधिरित्याशङ्क्य पशुकामो यजेतत्यस्य पदद्वयस्यायमर्थः । पशुरूपं फलं यागेन कुर्यादिति । तत्र केन यागेनेत्यपेक्षायां उद्भिदेति तृतीयान्तं पदं यागनामत्वेनान्वेति । उद्भिद्यते पशुफलमनेन यागेनेति निरुक्त्या नामत्वमुद्भित्पदस्योपपद्यते । नचैवमपि गुणविधिनामधेयत्वयोः शब्दनिर्वचनसाम्यान्न निर्णय इति वाच्यम् । सामानाधिकरण्यस्य निर्णायकत्वात् । तथाहि उद्भिन्नामकेन यागेन पशुरूपं फलं कुर्यादित्युक्ते सामानाधिकरण्यं लभ्यते । गुणविधित्वे तु खनित्रेण साध्यो

प्राप्त **'उद्भिद्'** शब्द का अर्थ याग विशेष न मानकर– 'उद्भिद्यते उत्पाट्यते भूमिरनेन' इस व्युत्पत्ति से **'खनित्र'** **'कुदाली'** के रूप में करने की इच्छा व्यक्त कर अपने अर्थ को स्वीकार करने का आग्रह करता है। वह कहता है कि– **'दध्ना जुहोति'** **'व्रीहिभिर्यजेत'** इत्यादि वाक्यों में **'दधि'** **'व्रीहि'** जिस प्रकार याग के गुण हैं, उसी प्रकार 'खनित्र' को भी याग का गुण मानलें; जिससे **'उद्भिद्'** याग का नाम है, यह कहने की आवश्यकता नहीं पड़ेगी। और दूरवर्ती कल्पना करने का कारण नहीं रहेगा। परन्तु सिद्धान्ती पूर्वपक्षी के कथन को उचित न मानकर कहता है कि **'यजेत पशुकामः'** में खनित्र को याग का गुण मान लेने पर **'यजेत पशुकामः' (यागेन पशुं भावयेत्)** के अर्थ को आपके विचारानुसार **'उद्भिदा'**– का अर्थ **'खनित्रेण गुणेन'** करने पर **'खनित्रेण यागेन पशुं भावयेत्'** करना पड़ेगा। सिद्धान्त के अनुसार हम **'उद्भिन्नामकेन यागेन पशुं भावयेत्'**– इस प्रकार का सामानाधिकरण्य से (अर्थात्– उद्भिद्यागपदयोरेकविभक्तित्वेन) अन्वय करते हैं, अत: हमारा वाक्य सरल होता हैं परन्तु आपके (पूर्वपक्षी के) **'खनित्रेण यागेन पशुं भावयेत्'**– इस वाक्य में **'खनित्रेण'** और **'यागेन'**– ये जो तृतीया एकत्र हो रही हैं, उनका आप क्या करेंगे? और आपको **'खनित्रेण'** और **'यागेन'**– इनमें सामानाधिकरण्य है, ऐसा भी अर्थ की दृष्टि से कहना संभव न हो सकेगा। अत: आपको– **'खनित्रेण यागं, यागेन च पशुं भावयेत्'**– ऐसा कहना पड़ेगा। और ऐसा कहने पर व्यधिकरण से (भिन्न विभक्तित्वेन) अन्वय हो जायगा, तदनुसार **'खनित्रेण यागं भावयेत्'** और **'यागेन पशु भावयेत्'**– ये दो वाक्य बन जाते हैं। सिद्धान्ती पूर्वपक्षी से कहता है– यदि आपके कथनानुसार अन्वय करते हैं तो **'फलं प्रति यागविधानं'**– अर्थात् **'यागेन पशुं भावयेत्'** ऐसा एक वाक्य निष्पन्न होता है। और **'यागं प्रतिगुणविधानं'**– ऐसा दूसरा वाक्य, अर्थात् **'खनित्रेण यागं भावयेत्'** ऐसा वाक्य निष्पन्न होता है। और ऐसा होने पर पूर्व में विनियोगविधि के प्रकरण में **विरुद्धत्रिकद्वयापत्ति** का जो दोष कहा गया है,

यो यागस्तेन तादृशफलं कुर्य्यादित्येवं वैयधिकरण्यं स्यात् । तच्चायुक्तम् । किञ्च नानेन वाक्येन ज्योतिष्टोमे खनित्ररूपो गुणो विधातुं शक्यते तस्य सोमेन यजेतेत्युत्पत्तिशिष्टसोमरूपगुणावरुद्धत्वात् । किञ्च यद्यस्योद्भिच्छब्दस्य खनित्ररूपगुण-समर्पकत्वं स्वीक्रियते तदा यत्र तेन गुणः समर्पणीयस्तादृशकर्मणोऽप्यप्राप्तत्वादनेन वाक्येन खनित्ररूपगुणविशिष्टकर्मविधानमेव वक्तव्यमन्यथा वाक्यभेदप्रसङ्गात् । ततश्चोद्भिच्छब्दार्थरूपखनित्रवता यागेनेति सामानाधिकरण्येनान्वयो भविष्यति तथा च मत्वर्थलक्षणापत्तिरिति परिहरति । उद्भिच्छब्दस्येत्यादिना । उक्तमेवेति । सोमेन यजेतेति विध्यर्थनिरूपणप्रस्ताव इति शेषः ।।८५।।

वही दोष यहाँ प्राप्त होगा। अर्थात् **'खनित्रेण यागं, यागेन च पशुम्'** इस एक वाक्य में 'याग' इस एक ही शब्द के स्थान पर (१) **उद्देश्यत्व** और **विधेयत्व**, (२) **प्रधानत्व** और **गुणत्व**, और (३) **अनुवाद्यत्व** और **उपादेयत्व**– ये परस्पर विरुद्ध धर्म उत्पन्न होकर **विरुद्धत्रिकद्वयापत्ति** का निर्माण करते हैं। इसे हम इस प्रकार समझ सकते हैं–

खनित्रेण	**यागं**	**यागेन**	**पशुं**	**भावयेत्**
विधेयत्व	उद्देश्यत्व	विधेयत्व	उद्देश्यत्व	
गुणत्व	प्रधानत्व	गुणत्व	प्रधानत्व	
उपादेयत्व	अनुवाद्यत्व	उपादेयत्व	अनुवाद्यत्व	

उक्त आकृति से ज्ञात होता है कि, **'खनित्रेण यागम्'** वाक्य में जो 'याग' उद्देश्य, प्रधान, और अनुवाद्य है, वही 'याग' **'यागेन पशुम्'** इस वाक्य में विधेय, गुण और उपादेय हो जाता है। इस प्रकार एक ही शब्द पर एक ही समय परस्पर विरुद्ध धर्म को आरोपित करना, योग्य नहीं है। इसलिए **'खनित्रेण यागं, यागेन पशुम्'** इस प्रकार कहना उचित नहीं है।

सिद्धान्ती यह भी कहता है कि आपके (पूर्वपक्षी के) अर्थानुसार यह वाक्यभेद का दोष तो आप पर आता ही है, किन्तु इसके अतिरिक्त– **'उद्भिद्'** शब्द से खनित्ररूपी गुण निरूपित होता है– ऐसा आपके कथनानुसार मान लेने पर, और भी एक अन्य आपत्ति उत्पन्न होती है कि **'उद्भिदा यजेत पशुकामः'**– यहाँ– याग अन्य किसी भी वचन से पूर्व में प्राप्त न होने से, यहाँ आपके मतानुसार गुण का भी विधान करना पड़ेगा और यागरूपी कर्म का भी विधान करना पड़ेगा, क्योंकि ये दोनों पूर्व में अप्राप्त ही हैं, और इन दोनों का विधान आपको एक साथ करना पड़ा तो आप वह किस प्रकार करोगे? और ऐसा होने पर आप निश्चित ही विशिष्ट विधान करेंगे, अर्थात् उद्भिद्रूपी जो गुण, तद्विशिष्ट याग विधान (गुण विशिष्टकर्म विधानं) आपको करना होगा। किन्तु गुणविशिष्टविधि का विधान करने पर, **'सोमवता यागेन इष्टं भावयेत्'** के अनुसार **उद्भिद्वता यागेन पशुं भावयेत्'** ऐसी विशिष्टविधि में आवश्यक रहनेवाली मत्वर्थलक्षणा आपको करनी पड़ेगी। और लक्षणा दोष को हमने पूर्व में कहा भी है । तब यह मत्वर्थलक्षणा जो आपके लिए अपरिहार्य (Unavoidable) है, उसका परिहार-त्याग (Avoid) करने के लिए 'उद्भिद्'– यह एक याग का नाम है, ऐसा ही मानना उचित है। इसके अतिरिक्त **'दध्ना जुहोति' 'व्रीहिभिर्यजेत'** इत्यादि स्थानों पर

(८६) नामधेयत्वस्य वाक्यभेदप्रसङ्गरूपद्वितीयनिमित्तोदाहरणम्

'चित्रया यजेत पशुकाम' इत्यत्र चित्राशब्दस्य कर्मनामधेयत्वं वाक्यभेदभयात् । तथाहि न तावदत्र गुणविशिष्टयागविधानं संभवति । 'दधि मधु पयो घृतं धाना उदकं तण्डुला; तत्संसृष्टं प्राजापत्य'मित्यनेन गुणस्य विहितत्वात् । तद्विशिष्टयागविध्यनुपपत्तेः । यागस्य फलसंबन्धे गुणसंबन्धे च विधीयमाने वाक्यभेदः । तस्माच्चित्राशब्दः कर्मनामधेयम् । तथा च चित्रायागेन पशुं भावयेदिति सामानाधिकरण्येनान्वयान्न वाक्यभेदः । प्रकृतेष्टेरनेकद्रव्यत्वेन चित्राशब्दवाच्यत्वोपपत्तिः ।।८६।।

इदानीं द्वितीयं वाक्यभेदप्रसङ्गरूपं नामधेयत्वस्य निमित्तमुदाहरणद्वारा प्रदर्शयति चित्रया यजेतेति, वाक्यभेदमेवोपपादयति । तथा हीत्यादिना । अत्रेति । चित्रया यजेत

'दधि', **'व्रीहि'** ये द्रव्य जिसप्रकार प्रसिद्ध हैं, उसी प्रकार **'सोमेन यजेत'**– वाक्यगत **'सोम'**– पदार्थ भी प्रसिद्ध है। ऐसी स्थिति में **'सोम'** के प्रसिद्ध अर्थ का त्याग करके, **'सोम'** किसी याग का नाम है, (नामधेय है) ऐसे अप्रसिद्ध अर्थ को उस पर लादने की अपेक्षा **'सोमवता'** लक्षणा करना ही अधिक योग्य था, अत: वहाँ मत्वर्थलक्षणा को स्वीकार कर **'सोमवता यागेन भावयेत्'** यह अर्थ हमने ग्रहण किया है। परन्तु **'उद्‌भिद्'** शब्द का वैसा अर्थ लोगों में प्रसिद्ध न होने से– वह एक नामधेय है, यह जो हमने कहा है, वही योग्य है।।८५।।[१]

अनुवाद– चित्रयेति । *'चित्रया यजेत पशुकामः' (पशु रूप फल को प्राप्त करने के इच्छुक व्यक्ति को 'चित्रा' याग का अनुष्ठान करना चाहिए।) प्रकृत में 'चित्रा' शब्द को यागनामधेय माना गया है, वाक्यभेद के भय से परन्तु प्रकृत में 'चित्रा' शब्द को गुणवाची मानकर 'चित्रवर्ण' रूप गुण विशिष्ट याग का विधान नहीं मानना चाहिए। क्योंकि 'दधिमधुपयो' इत्यादि वाक्य से गुण का पहले ही विधान हो चुका है। अत: गुणविशिष्ट याग का प्रतिपादक यह विधि नहीं है। और पुन: याग में पशु रूप फल के सम्बन्ध का एवं चित्रवर्णरूप गुण के सम्बन्ध का विधान करते हैं तो वाक्यभेद का प्रसंग होगा। अतएव 'चित्रा' शब्द याग का नाम है। ऐसी स्थिति में 'चित्रया यजेत पशुकामः' का वाक्यबोध 'चित्रायागेन पशुं भावयेत्' (चित्रा याग से पशुफल की भावना करे) होगा। यहाँ 'चित्रा' एवं 'याग' का सामानाधिकरण्य से अन्वय होगा। ऐसी स्थिति में वाक्यभेद नहीं होगा। चित्रा याग में 'दधि, मधु, दुग्धादि' अनेक द्रव्यों का उपयोग होता है। अत: चित्रा शब्द का अर्थ भी सिद्ध हो जाता है।।८६।।*

---

१. दध्यादौ गत्यभावेन सर्वमेतत्समञ्जसम् ।
उद्‌भिदादिषु तन्नैवं नामधेयत्वसंभवात् (शा. दी. १/४/२)

पशुकाम इत्यस्मिन्वाक्य इत्यर्थः । गुणविशिष्टे चित्राशब्दार्थभूतचित्रवर्णककिञ्चिद्गुणविशिष्टेत्यर्थः । अत्र विशिष्टविधानासम्भवे हेतुमाह-दधीत्यादिना । तत् संसृष्टं प्राजापत्यमितीति तैर्दध्यादिभिर्द्रव्यैर्युक्तं प्रजापतिदेवताकं कर्मेत्यर्थः । तद्विशिष्टेति निरुक्तगुणविशिष्टेत्यर्थः । दधीत्यादिप्रकृतवाक्यस्यैतत्कर्मणोऽस्तूत्पत्तिवाक्यत्वादस्यकर्मण उत्पत्तिशिष्टदध्यादिगुणावरुद्धत्वान्न तत्र गुणान्तरन्विधातुं शक्यत इतिभावः । अत्र दध्यादिवाक्ये दध्यादीनि षडेव द्रव्याणि श्रुतावाम्नातान्युदकपदं तु प्रमादादायातं श्रुतितात्पर्यज्ञैर्माधवाचार्यैस्तथैवास्य वाक्यस्य व्याख्याततत्वात् । तथा च तद्वचनं दध्यादीनि विचित्राणि देयद्रव्याणि षडाम्नातानीति । नन्वत्र वाक्ये ह्युत्पत्तिवाक्यसिद्धस्वरूपस्य यागस्य पशुरूपफलसम्बन्धो विचित्रद्रव्यरूपगुणसम्बन्धश्च विधीयते ततश्च न कर्मनामधेयत्वं चित्राशब्दस्येत्याशङ्क्याह-यागस्येति । तथा च यागेन पशुं भावयेद्यागं च तादृशगुणेन भावयेदिति यागस्य गुणफलोभयसम्बन्धविधीयमाने सत्यावृत्तिलक्षणो वाक्यभेदो दुर्वार इति भावः । उपपादितं वाक्यभेदप्रसङ्गमुपसंहरति-तस्मादिति । सिद्धे चित्राशब्दस्य कर्मनामधेयत्वे वाक्यं योजयति-तथाचेति । सामानाधिकरण्येनेति । यजिधात्वर्थयागसामानाधिकरण्येन नामधेयस्यान्वयाच्चित्रानामकेन यागेन पशुं

।। अर्थमीमांसा ।।

'मत्वर्थलक्षणा' को पद दोष माना गया है, अत: मत्वर्थलक्षणा के भय से– अर्थात् उस प्रसंग से निवृत्त होने के लिए 'उद्भिद्' शब्द में नामधेयत्व को स्वीकार किया गया, यह इसके पूर्व निर्देशित किया गया है। अब वाक्यभेद के प्रसंग से निवृत्त होने के लिए 'चित्रा' शब्द में नामधेयत्व का स्वीकार किस प्रकार किया जा सकता है, यह प्रस्तुत प्रकरण में निर्देशित किया जा रहा है। **'चित्रया यजेत पशुकामः'**[१]– एक वाक्य उल्लिखित है। वाक्यगत **'चित्रा'** पद का अर्थ क्या करना चाहिए? यह प्रश्न यहाँ उपस्थित होता है।

प्रस्तुत प्रसंग में **पूर्वपक्षी** कहता है कि इसके पूर्व **'उद्भिद्'** शब्द में नामधेयत्व स्वीकार किया गया है, अर्थात् 'उद्भिद्' शब्द को याग का नामधेय माना गया है। और इस मान्यता के पीछे आपका आग्रह यह था कि 'उद्भिद्' शब्द रूढ़ न होने से लोगों में प्रसिद्ध नहीं है। अत: आपने **'उद्भिद्यते पशुफलं अनेन यागेन'** इस प्रकार की व्युत्पत्ति के द्वारा उस शब्द का यौगिक अर्थ ग्रहण किया था। किन्तु प्रस्तुत प्रसंग में **'चित्रया यजेत पशुकामः'** इस वाक्य के 'चित्रा' शब्द में पूर्वोक्त कारण को स्वीकार नहीं किया जा सकता। क्योंकि **'चित्रा'**– शब्द लोगों में रूढ़ है। और उस रूढ़ि के बल से **'चित्रत्व'** और **'स्त्रीत्व'**– ये दो गुण चित्रा शब्द से व्यक्त किये जाते हैं। तात्पर्य यह है कि पूर्वपक्ष **'चित्रा'** शब्द का अर्थ **'गुण'** लेना चाहता है। उसके अनुसार 'चित्रा' शब्द का अर्थ अनेक वर्णों से युक्त स्त्री (मादा) 'पशु' होना चाहिये। अत: पूर्वोक्त यौगिक शब्द 'उद्भिद्'– के अनुसार प्रस्तुत प्रसंग में नामधेयत्व न मानकर 'चित्रा' जो रूढ़ शब्द है, उससे व्यक्त होने वाले **'चित्रत्व'** और **'स्त्रीत्व'** इन दो गुणों का विधान **'चित्रया यजेत पशुकामः'** इस उत्पत्तिविधि के वाक्य में किया गया है, यह मान

१. तै. सं. कां. २, प्रपा. ४, अनु. ६, जै. सू. १/४/३

भावयेदित्याकारकान्ननिरुक्तवाक्यभेदापत्तिरित्यर्थः । अनेकद्रव्यत्वेनेति । दध्यादि-विचित्रानेकद्रव्यसाध्यत्वेनेत्यर्थः । ननु चित्राशब्दाच्चित्रत्वस्त्रीत्वयोः प्रतीतेः स्त्रीत्वस्य च स्वभावतः प्राणिधर्मत्वात्प्रकृते दध्यादिद्रव्यके कर्मणि निवेशासम्भवान्नानेन वाक्येन प्रकृते कर्मणि अनारभ्याधीतानां चाङ्गानां प्रकृतिमात्रे प्रवेशाङ्गीकारात् । चित्रावाक्य-स्याप्यनारभ्याधीतत्वात्सर्वपशुयागप्रकृतिभूते प्राणिद्रव्यकेऽग्नीषोमीयं पशुमालभेतेति विहितं पशुयागमत्र वाक्ये यजेतेति पदेनानूद्य तत्र चित्रापदेन चित्रत्वस्त्रीत्वरूपौ गुणौ विधीयेते इति चेन्न चित्रत्वेन स्त्रीत्वेन च तं भावयेदिति द्वयोर्गुणयोर्विधाने वाक्यभेदप्रसङ्गात् । प्राप्ते कर्मण्यनेकगुणविधाने वाक्यभेदप्रसङ्गस्य सर्वसम्मतत्वात् । तथाचोक्तम्- प्राप्ते कर्मणि नानेको विधातुं शक्यते गुणः ।। अप्राप्ते तु विधीयेरन् बहवोऽप्येकयत्नत इति ।। नन्वत्र वाक्यभेदपरिहाराय गुणद्वयविशिष्टम्पशुद्रव्यरूपं कारकं विधीयत इति चेन्न गौरवलक्षणवाक्यभेदप्रसङ्गात् । किञ्च दध्यादिवाक्यं प्रकृतमस्य चित्रानामकस्य यागस्योत्पत्तिवचनं भवति यागस्वरूपभूतयोर्दध्यादि-द्रव्यप्रजापतिदेवतयोरत्रोपदिश्यमानत्वात् । उत्पन्नस्य च तस्य यागस्य चित्रया यजेत

लेना चाहिये। यदि आप यह कहें कि **'चित्रत्व'** और **'स्त्रीत्व'**- इन दो गुणों को कहाँ (किसमें) मानना चाहिये? उसका समाधान यह है कि- **'अग्नीषोमीयं पशुमालभेत'** इस प्रकृतियाग के वाक्य में जो केवल पशु विहित है, उसका **'चित्रया यजेत'**- इस वाक्य में अनुवाद है, यह मान लेना चाहिये, और पुनश्च **'अग्नीषोमीयं पशुमालभेत'**- इस वाक्य में जो 'पशु' विहित है- वह 'पशु' चित्रवर्ण का और स्त्री जाति का होना चाहिये, अर्थात् **चित्रत्व** और **स्त्रीत्व**- ये दो गुण 'चित्रया यजेत'- इस उत्पत्तिविधि के वाक्य के द्वारा उस पशु के सम्बन्ध में विहित हैं, ऐसा मान लेना चाहिये। और ऐसा करने पर 'चित्रा' पद में 'नामधेयत्व' मानने का प्रसंग उपस्थित नहीं हो सकेगा।

किन्तु पूर्वपक्षी का उक्त कथन समीचीन नहीं है। क्योंकि, **'चित्रया यजेत पशुकामः** इस वाक्य में **द्रव्य** और **देवता** इन दोनों का प्रकाशन न होने से, यह 'उत्पत्तिविधि' का वाक्य नहीं हो सकता। यहाँ **'दधि मधु पयो घृतं धाना उदकं तण्डुलास्तत्संसृष्टं प्राजापत्यम्'**- यह उत्पत्तिविधि का वाक्य है। क्योंकि, इस वाक्य में याग के दो जो मुख्य स्वरूप हैं उनका- अर्थात् **द्रव्य** और **देवता**- का प्रकाशन किया गया है। 'दध्यादिक' द्रव्य हैं और 'प्रजापति' याग की देवता है। एवञ्च उत्पत्तिविधि वाक्य में द्रव्य और देवता का निरूपण हो जाने के अनन्तर केवल उस याग के फल का निरूपण करना ही शेष रह जाता है। और वह पशुरूपी फल **'चित्रया यजेत पशुकामः'**- इस वाक्य में विहित ही है। इसकारण से **'दधिमधुपयोघृतम्'**- इत्यादि वाक्य ही उत्पत्तिविधि वाक्य है, यह निश्चित है। द्वितीय तथ्य यह है कि- पूर्वपक्षी यह जो कहता है कि **चित्रत्व** और **स्त्रीत्व**- इन दो गुणों से विशिष्ट याग का उल्लेख **'चित्रया यजेत पशुकामः'**- वाक्य में किया गया है,- उसका यह कथन कदापि संभवनीय नहीं है। क्योंकि, **'दधिमधुपयोघृतम्'**- इत्यादि गुण एक बार उत्पत्तिविधि के वाक्य में विहित किये जाने पर, **चित्रत्व** और **स्त्रीत्व**- इन गुणों का फिर से विधान नहीं किया जा सकता। इसके

पशुकाम इत्येतत्फलवाक्यमत्रयागस्य फलसम्बन्धबोधनात्। एवं च सति प्रकृतार्थो लभ्येत अग्नीषोमीयपश्वनुवादेन तादृशगुणविधाने तु प्रकृतहानाप्रकृतप्रक्रिये प्रसज्येयातां लिङ्प्रत्ययस्य चानुवादत्वाङ्गीकारान्मुख्यो विध्यर्थो बाध्येत तस्माच्चित्रापदं नामधेयमेव न गुणविधिरिति ध्येयम्।।८६।।

अतिरिक्त, चित्रत्व और स्त्रीत्व– ये दो भिन्न-भिन्न गुण हैं। और पूर्वपक्षी इन दो भिन्न गुणों का **'चित्रया यजेत पशुकामः'**– इस एक वाक्य से विधान करना चाहता है। और 'चित्रया यजेत पशुकाम:'– इस वाक्य से पशुरूपी फल का निरूपण करना भी उसे (पूर्वपक्षी को) स्वीकार है। पूर्वपक्षी के मनोराज्य में **'चित्रया यजेत पशुकामः'**–यह एक वाक्य (१) पशुरूपीफल, (२) अग्नीषोमीय पशु से जो पुल्लिंगी पशु प्राप्त था, उसके स्थान पर यह विधि 'स्त्री' पशु का उल्लेख करेगा, और (३) इसके अतिरिक्त 'चित्रत्व' गुण को भी कहेगा। इतनी सभी बातें एक वाक्य से किस प्रकार निरूपित की जा सकेंगी? इतनी बातों का निरूपण केवल एक वाक्य के द्वारा किये जाने का तात्पर्य यह है कि उतनी ही बार उस विधि की बार-बार आवृत्ति करना होगी, अर्थात् उतने भिन्न-भिन्न वाक्य बनने से वाक्यभेद का दोष उत्पन्न होगा। अत: इस वाक्यभेद की दृष्टि से पूर्वपक्षी का कथन योग्य नहीं है।[१]

उक्त विवेचन के अतिरिक्त, पूर्वपक्षी के कथनानुसार तीसरा दोष भी उत्पन्न होता है। वह दोष यह है कि– **'चित्रा'**– इस पद से वह दो गुणों– **स्त्रीत्व** और **चित्रत्व**– को ग्रहण करना चाहता है। साथ ही वह इन दो गुणों को अग्नीषोमीय पशु में निविष्ट (Apply) करना चाहता है। किन्तु इन दो गुणों का अंत:स्थ परस्परसंबन्ध देखने पर ज्ञात होता है कि **'चित्रत्व'** और **'स्त्रीत्व'** इन दोनों में से 'स्त्रोत्व'– धर्म उद्देश्यवाचक है और 'चित्रत्व' धर्म विधेयवाचक है। इसका तात्पर्य यह हुआ कि स्त्रीपशु को (नाम) उद्देश्य करके चित्रत्व (विशेषण) गुण का विधान किया जाए। उद्देश्यवाचक पद अलग और विधेयवाचक पद अलग रहना चाहिए, यह नितान्त स्पष्ट है और तदनुसार उद्देश्यवाचक पद को प्रथम और विधेयवाचक पद को उसके आगे रखना आवश्यक होगा। इस प्रकार की एकप्रसरता पूर्व में **'वषट्कर्तुः प्रथमभक्षः'** स्थान पर विशद रूप से निर्देशित की गई है। ऐसी स्थिति में उद्देश्य और विधेय ये दो पद प्रथम और द्वितीय क्रम से आकर जो कार्य अनुष्ठेय है, वह कार्य 'चित्रा' इस एक पद से किस प्रकार संभव हो सकेगा? अत: एकप्रसरताभंग अर्थात् अविमृष्टविधेयांशरूपी दोष होने के कारण से 'चित्रा' पद में **चित्रत्व** और **स्त्रीत्व** धर्मों को मान लेना योग्य नहीं होगा।

अब पूर्वपक्षी उपर्युक्त समस्त दोषों का परिहार करने की दृष्टि से कदाचित् यह कह सकता है कि **चित्रत्व** और **स्त्रीत्व** गुणों से विशिष्ट याग का विधान– **'चित्रया यजेत पशुकामः'** में किया गया है ऐसा मान लें और यही मेरे कहने का तात्पर्य था और आपका (सिद्धान्तीका) यह कथन भी मैं (पूर्वपक्षी) क्षणभर के लिए स्वीकार करता हूँ कि– **'दधिमधुपयोघृतम्'** इत्यादि गुणों का विधान दूसरे एक 'उत्पत्ति वाक्य' में विहित होने से

१. प्राप्ते कर्मणि नाऽनेकोविधातुं शक्यते गुण:।
अप्राप्ते तु विधीयन्ते बहवोऽप्येकयत्नत:।। तंत्रवार्तिक पृ. ४८५।

चित्रत्व और **स्त्रीत्व**– इन गुणों से विशिष्ट याग का विधान करना असंभव होगा, तथापि उक्तानुसार स्वीकार करने पर भी, 'चित्रा' यह नामधेय क्यों (किस लिए) स्वीकार किया जाय? आपको तो यही मानना चाहिए कि पशुरूपी फल और 'दधिमधुपयोघृतं'– इत्यादि विचित्र द्रव्यरूपी गुणों का ही यहाँ याग के सम्बन्ध में विधान किया गया हैं। आप इतना ही स्वीकार करलें।

उक्त पूर्वपक्षी के कथन पर सिद्धान्ती यह कहता है कि इस प्रकार पशुरूपीफल और विचित्र द्रव्यरूपी गुण– इन दोनों का यहाँ याग को उद्देश्य कर विधान मानलेनेपर (यागस्य फलसंबंधे गुणसंबंधे च विधीयमाने), आप पर पुनः वाक्यभेद का दोष आयगा। क्योंकि– फल और गुण का एकत्र विधि आपके द्वारा माने जाने पर **'दध्यादिविचित्रद्रव्येण यागं, यागेन च पशुं भावयेत्'**– इस प्रकार का वाक्य आपको बनाना पड़ेगा, और ऐसा वाक्य करने पर– ये विध्यावृत्तिरूप दो वाक्य बन जाते हैं, और ये दो वाक्य होने पर विरुद्धत्रिकद्वयापत्ति का दोष भी आयगा ही। वह इस प्रकार–

दध्यादिविचित्रद्रव्येण	**यागं**	**यागेन च**	**पशुं**	**भावयेत्**
विधेयत्व	उद्देश्यत्व	विधेयत्व	उद्देश्यत्व	
गुणत्व	प्रधानत्व	गुणत्व	प्रधानत्व	
उपादेयत्व	अनुवाद्यत्व	उपादेयत्व	अनुवाद्यत्व	

इस प्रकार यह जो वाक्यभेदरूपी दोष उत्पन्न होता है, उसका परिहार (Avoid) करने के लिए **'चित्रा'**– यह एक याग का नाम है, यही मानना पड़ता है, और **'चित्रा'** को नामधेय मानकर **'चित्रायागेन पशुं भावयेत्'**– इस प्रकार सामानाधिकरण्य से अन्वय करने पर, वाक्यभेद का दोष उत्पन्न नहीं हो सकेगा।

प्रकृत इष्टि में दधि, मधु, इत्यादि अनेक चित्रद्रव्य विहित होते हैं। जिस प्रकार नानावर्णो से युक्त किसी वस्त्र को चित्रपट कहा जाता है, उसी प्रकार इस इष्टि को 'चित्रा' (यह) शब्द से अभिहित करने का तात्पर्य 'अनेक द्रव्यों' से है। इस याग में दध्यादि अनेक द्रव्यों का विधान होने से इसे 'चित्रा' इष्टि– कहने में कुछ भी अनुचित नहीं है। यह याग अन्वर्थनामा है। अतः वाक्यभेद के भय से उस प्रसंग का परिहार करने के लिए यहाँ **'चित्रा'** को नामधेय रूप में स्वीकार किया गया है।

उपर्युक्त 'दधिमधुपयोघृतम्' इत्यादि वाक्य में सब मिलाकर सात द्रव्य[१] विहित हैं। अर्थसंग्रह के टीकाकारों ने उक्त वाक्य में छः द्रव्यों का ही उल्लेख किया है। और उसमें उल्लिखित **'उदक'** पद को, श्रीमाधवाचार्य के जैमिनीयन्यायमालाविस्तर ग्रंथ के आधार पर, प्रमादवश अंकित माना है। **जैमिनीयन्यायमालाविस्तर** में–]"दधि, मधु, घृतं, आपः धानाः, तण्डुलास्तत्संसृष्टं प्राजापत्यम् इति दध्यादीनि विचित्राणि प्रदेयद्रव्याणि षडाम्नातानि"]

१. मै. सं. ३/२/६ 'दधि मधु'– इत्यादि का अर्थ है कि (१) दधि, (२) मधु, (३) दुग्ध, (४) घृत, (५) धान, (६) जल और (७) चावल

(८७) तत्प्रख्यशास्त्रान्नामधेयत्वम्

'अग्निहोत्रं जुहोती'त्यत्राग्निहोत्रशब्दस्य कर्मनामधेयत्वं तत्प्रख्यशास्त्रात् । तस्य गुणस्य प्रख्यापकस्य प्रापकस्य शास्त्रस्य विद्यमानत्वाद् अग्निहोत्रशब्दः कर्मनामधेयमिति यावत् । नन्वयं गुणविधिरेव कुतो नेति चेन्न । यद्यग्नौ होत्रमस्मिन्निति सप्तमीसमासमाश्रित्य होमाधारत्वेनाग्निरूपो गुणो विधेयस्तदा 'यदाहवनीये जुहोती'त्यनेनैवाग्नेः प्राप्तत्वात्तद्विधानानर्थक्यम्। अग्नये होत्रमस्मिन्निति चतुर्थीसमासमाश्रित्य अग्निदेवतारूपगुणोऽनेन विधीयत इति चेन्न । तद्देवतायाः शास्त्रान्तरेण प्राप्तत्वात् ।।८७।।

इदानीं तत्प्रख्यशास्त्ररूपातृतीयनिमितान्नामधेयत्वमग्निहोत्रशब्दस्य प्रदर्शयति- *अग्निहोत्रमिति।* तत्प्रख्यं चान्यशास्त्रमिति हि तत्प्रख्यशास्त्रसूत्रं तस्य फलितार्थमाह-

---

इस प्रकार का वाक्य मुद्रित है। **'न्यायमालाविस्तर'**– में 'पयः' और ''उदक''– ये पद मुद्रित नहीं हैं; किन्तु नवीन **'आपः'** पद निवेशित किया गया है। और इसप्रकार छः की संख्या को पूर्ण किया गया है। किन्तु अन्य सभी ग्रंथों में सात द्रव्यों का उल्लेख मिलता है। माधवाचार्य ने **'उदक'**– पद-(द्रव्य) को लुप्त करके छः की संख्या को यथावत् रक्खा है। किन्तु आठवें अध्याय में चित्रायाग का पुनः प्रसंग उपस्थित होने पर– **'मधूदके द्रव्यसामान्यात् पयोविकारः स्यात्'**[१]– इस जैमिनी के सूत्र में 'उदक' शब्द को यथावत् रखा है।।८६।।

अनुवाद– अग्निहोत्रमिति । *'अग्निहोत्रं जुहोति' इस विधिवाक्य में प्रयुक्त 'अग्निहोत्र' शब्द तत्प्रख्यशास्त्र से कर्म विशेष का नाम है। उस गुण के प्रख्यापक (प्राप्ति कराने वाले) शास्त्र के विद्यमान होने के कारण, 'अग्निहोत्र' शब्द याग का नाम होता है।*

नन्विति । *प्रकृत में यह शंका होती है कि 'अग्निहोत्रं जुहोति' को गुणविधि क्यों न स्वीकार किया जाय। परन्तु यह शंका समीचीन नहीं है। क्योंकि यदि 'अग्नौ होत्रमस्मिन्' इस प्रकार सप्तमी तत्पुरुष समास मानकर होम का आधार 'अग्नि' रूप गुण का विधान माना जाय तो 'यदाहवनीये जुहोति' से प्राप्त 'अग्नौ' पद निरर्थक हो जायगा। और यदि 'अग्नये होत्रमस्मिन्' इस प्रकार चतुर्थी तत्पुरुष समास करके देवता रूप अग्नि गुण का विधान स्वीकार करते हैं, तो भी यह उचित नहीं है क्योंकि अग्नि रूप देवता की प्राप्ति दूसरे वाक्य से विहित है।।८७।।*

।। अर्थमीमांसा ।।

नामधेयत्व को स्वीकार करने में आधारभूत दो कारणों– (१) मत्वर्थलक्षणाभय और

---

१. द्रष्टव्य– जै. सू. अ. ८, पा. १, सू. ४०

तस्येत्यादिना। नन्वग्निहोत्रं जुहोतीत्यत्राग्निरूपस्य गुणस्यैव विधिर्न नामधेयत्वमग्निहोत्रशब्दस्य स्वीकर्तव्यमित्याशङ्कते-नन्वयमिति। यद्यत्र सप्तमीसमासमाश्रित्य होमाधारत्वेनाग्निरूपस्य गुणस्य वाक्यान्तरेण प्राप्तत्वात्तत्वेन तद्विधानस्यानर्थक्यमापद्येतेत्याह। यद्यग्नावित्यादिना चतुर्थी समासमाश्रित्यात्राग्निददेवतारूपस्य गुणस्य विधानमाशङ्कते-चतुर्थीत्यादिना। नात्र देवतारूपेणाग्निरूपस्य गुणस्य विधानमुपपद्यते इति समाधत्ते। नेति। तत्र हेतुमाह। तद्देवताया इति अग्निरत्र तच्छब्दार्थः ।।८७।।

---

(२) **वाक्यभेदभय**– का निरूपण करने के पश्चात् ग्रन्थकार नामधेय मानने में तीसरे निमित्त– **'तत्प्रख्यशास्त्र'** की चर्चा प्रारम्भ करते हैं, और उसके लिए **'अग्निहोत्रं जुहोति'**– इस वाक्य को उदाहरणार्थ ग्रहण किया है। इसके पूर्व 'उद्भिद्' शब्द की लोक में प्रसिद्धि न होने के कारण 'उद्भिद्' शब्द को नामधेय माना गया है। किन्तु प्रस्तुत प्रसंग में **'अग्निहोत्र'** शब्द की स्थिति **'उद्भिद्'**– शब्द जैसी नहीं है, क्योंकि **'अग्निहोत्र'** शब्द लोगों में पर्याप्त प्रसिद्ध है, अत: अप्रसिद्धि के आधार पर **'अग्निहोत्र'** यह एक नामधेय है, ऐसा नहीं कहा जा सकता। इस प्रकार यदि कोई आक्षेप करे तो उसका उक्त कथन ठीक नहीं होगा, क्योंकि **'अग्निहोत्र'** शब्द लोकप्रसिद्ध होने पर भी उसे किसी अन्य कारण से नामधेयत्व प्राप्त होता है। यह निर्देशित करने के लिए ग्रन्थकार यहाँ प्रस्तुत प्रकरण का प्रारम्भ कर रहे हैं। **'अग्निहोत्रं जुहोति'**[१]– यह वाक्य अग्निहोत्र के प्रकरण में उल्लिखित है। और इस वाक्य में प्रयुक्त 'अग्निहोत्र' एक नामधेय ही है।[२]

अब **प्रश्न** यह है कि **'अग्निहोत्र'**– यह यागरूपी कर्म का नामधेय है, यह क्यों निश्चित किया गया है? उक्त प्रश्न का समाधान यह है कि मूल में ही **'तत्प्रख्यशास्त्रात्'** को उसका कारण कहा गया है। और इसके अधिक स्पष्टीकरण के लिए 'तस्य गुणस्य प्रख्यापकस्य प्रापकस्य शास्त्रस्य विद्यमानत्वात्'– यह वाक्य उसके आगे उल्लिखित किया गया है। 'तत्प्रख्यं चान्यशास्त्रम्' सूत्र के आधार पर **'तत्प्रख्यशास्त्रात्'**– इस पंचम्यन्त हेतु को यहाँ निर्देशित किया गया है। इस चतुर्थ सूत्र का उल्लेख और स्पष्टीकरण पूर्व में दिया गया है।

पूर्व में यह बताया जा चुका है कि 'तत्प्रख्यशास्त्र' के कारण से अग्निहोत्र शब्द कर्मनामधेय का ही वाचक होना चाहिए। प्रकृत प्रसंग में पूर्व पक्षी शंका करता है कि 'अग्निहोत्र' को गुणविधि (गुण का विधायक) क्यों न स्वीकार किया जाय? आप **'अग्निहोत्र'** को एक याग का नाम क्यों मानते हैं? आप तो केवल इतना माने कि यह गुणविधि 'द्रव्य' और 'देवता'– इन दोनों में से अग्निरूपी देवता का समर्पण करनेवाला है। और पूर्वपक्षी को यदि कोई यह पूछे कि **'अग्निहोत्रं जुहोति'**– यह 'गुणविधि' किस प्रकार हो सकता है? इस प्रश्न के समाधान में वह कहता है कि– **'अग्निहोत्र'**– यह एक सामासिक शब्द है। यह दो प्रकारों से गुणविधि हो सकता है।

---

१. द्रष्टव्य– तै. सं. कां. १, प्रपा. ५, अनु. ९

२. द्रष्टव्य– जै. सू. अ. १, पा. ४, अधि. ४

(१) **अग्नौ होत्रम् अस्मिन्'**– होमाधार रूप में अग्नि को गुण मानना। यहाँ सप्तमी घटित व्यधिकरण बहुव्रीहि समास संभव है।

(२) **अग्नये होत्रमस्मिन्**– देवता रूप में अग्नि को गुण मानना। [यस्मिन् अग्नये होत्रं होमो भवति तदग्निहोत्रम्-शाबरभाष्य] इस प्रकार यहाँ चतुर्थी घटित व्यधिकरण बहुव्रीहि समास भी संभव हो सकेगा। **'अग्नौ होत्रमस्मिन्'**– इस प्रकार विग्रह करने पर **'होत्र'** अर्थात् होम, उसका अधिकरण अर्थात् उसका आधार क्या? ऐसी आकांक्षा उत्पन्न होने पर **'अग्नौ'** पद में अधिकरणवाचक सप्तमी द्वारा निर्दिष्ट **'अग्नि'** ही **'होम'** का आधार ज्ञात होता है, अर्थात् यहाँ 'अग्नि' रूप गुण का कथन है। यहाँ होम **आधेय** और अग्नि **आधार** रूप अर्थात् इन दोनों– होम और अग्नि– में **आधारधेयभावसंबन्ध** होने के कारण होम प्रधान तथा अग्नि उसका गुण ज्ञात होता है। और इसलिए **'अग्निहोत्र'** शब्द में होम को उद्देश्य करके **'अग्नि'** रूप गुण का विधान किया गया है ऐसा मानना चाहिए। फलत: **'अग्निहोत्रं जुहोति'** गुणविधि है, यह सिद्ध होता है। और इस प्रकार मानने पर नामधेय मानने की आवश्यकता नहीं है।

किन्तु पूर्वपक्षी के उक्त कथन को सिद्धान्ती यह उत्तर देता है कि **'यदाहवनीये जुहोति'**– इस वाक्य में आहवनीय अग्नि को होम का आधार निर्दिष्ट किया गया है। जब एक बार अग्नि का **'यदाहवनीये जुहोति'** वाक्य में होमाधार होने पर [अग्ने: होमाधारत्वेन प्राप्तत्वात्] उसी अग्नि का पुन: **'अग्नौ होत्रमस्मिन्'** इस प्रकार के सप्तमीघटित समास के द्वारा होमाधारत्वेन विधान मानना निरर्थक है।

किन्तु अब पूर्वपक्षी यह कहता है कि उक्त सप्तमी समास ग्रहण करने में यदि आपको आपत्ति हो रही है तो हम उसे छोड़ देते हैं, किन्तु अभी **'अग्नये होत्रमस्मिन्'**– यह चतुर्थी समास तो शेष है ही। अत: इस चतुर्थीसमास का ही आश्रय ग्रहण कर लेते हैं। **'अग्नये होत्रम्'**– यह चतुर्थीसमास ग्रहण करने पर, 'अग्नि' याग की देवता है यह फलित हो जाता है। याग के दो अंग होते हैं– (१) **द्रव्य** और (२) **देवता**। अत: यहाँ **याग** प्रधान है, और **'अग्नये होत्रम्'**– इस चतुर्थीसमास के द्वारा निर्देशित अग्निरूपी देवता ही उस याग का गुण है। अत: **'अग्निहोत्रं जुहोति'**– वाक्यगत **'अग्निहोत्र'** पद के द्वारा प्रस्तुत याग की अग्निरूपी देवता गुण रूप में विहित होने से– इसे गुणविधि माना जाना चाहिये। एवञ्च अग्निहोत्र– यह नामधेय है, यह मानने की आवश्यकता नहीं होगी।

किन्तु पूर्वपक्षी के ये उक्त विचार सिद्धान्ती को स्वीकार नहीं है। क्योंकि, 'यदाहवनीये जुहोति'– इस दूसरे वाक्य के द्वारा 'अग्नि' जिस प्रकार पहले ही होमाधारत्व को प्राप्त हो चुका है, उसी प्रकार 'अग्नि' याग की देवता है, यह 'अग्नये होत्रम्' इस चतुर्थी समास के द्वारा अलग से नवीन रूप से ज्ञात करने की आवश्यकता नहीं है। देवता का ज्ञान भी शास्त्रान्तर से पूर्व ही हो चुका है।८७।।

(८८) देवतारूपेणाग्निप्रापकशास्त्रप्रश्नः

किं तच्छास्त्रान्तरमिति चेत् । 'यदग्नये च प्रजापतये च सायं जुहोती'ति केचित् । अपरे तु अग्निर्ज्योतिरग्निस्स्वाहे'ति मन्त्रवर्ण एवाग्निरूप-देवताप्रापकः ।।८८।।

देवतारूपेणाग्निप्रापकं शास्त्रं पृच्छति-किमिति । केषाञ्चिन्मतानुसारेणोत्तरमाह-यदग्नये चेति । अत्राग्निर्ज्योतिरित्यादि मन्त्रवर्णप्राप्तमग्निमनूद्य तत्समुच्चितप्रजापतिमात्र-विधाने लाघवं तदुभयसमुच्चितस्यैवात्र विधाने गौरवमिति । न समुच्चितोभयविधानं यदग्नये च सायं जुहोतीत्यत्र स्वीकर्तव्यमित्यस्वरसबीजं केचिदित्यनेन सूचितम् । अधुना सिद्धान्तमतेनोत्तरमाह । अपरेत्विति । किञ्च अग्निर्ज्योतिर्ज्योतिरग्निः स्वाहेति सायं जुहोतीति विहितेन मन्त्रेण प्राप्तमग्निमनूद्य तत्समुच्चितस्य प्रजापतेर्यदग्नये च प्रजापतये च सायं जुहोतीत्यत्र सायंकालेऽग्निहोत्रदेवतात्वं विधीयते । सूर्यो ज्योतिर्ज्योतिः सूर्यः

अनुवाद– किंतदिति । *अग्निदेवता का प्रापकशास्त्र कौन सा है? कुछ मीमांसकों का मत है कि 'यदग्नये च प्रजापतये च सायं जुहोति' यह अग्नि देवता का प्रापक वाक्य है। तथा अन्य मीमांसक 'अग्निर्ज्योतिरग्निःस्वाहा' इन मन्त्रवर्णों को ही अग्निदेवता का प्रापक शास्त्रान्तर मानते हैं।।८८।।*

।। अर्थमीमांसा ।।

प्रकृत प्रसंग में प्रश्न उपस्थित होता है– कि वह विधिवाक्य– अर्थात् शास्त्रान्तर कौन सा है? इस प्रश्न का समाधान किया जा रहा है–

'अग्निहोत्रं जुहोति' वाक्य की चर्चा के प्रसंग में यह निश्चित किया गया है कि 'अग्निहोत्र'– नामधेय है, क्योंकि इसे 'होम का आधार' या 'देवता के रूप में अग्निरूप गुण' का ज्ञापक नहीं कहा जा सकता। इस मान्यता की पुष्टि में पूर्ववर्ती सन्दर्भ में पर्याप्त चर्चा की जा चुकी है और यह निर्णय किया गया है कि देवता रूप अग्नि का प्रापक शास्त्रान्तर– शास्त्रवचन– उपलब्ध है।

अब जिज्ञासा होती है कि वह शास्त्रान्तर कौन सा है? जिससे अग्निहोत्र में अग्निरूप देवता की प्राप्ति होती है। इस जिज्ञासा के समाधान में दो भिन्न-भिन्न वाक्यों को निरुपित किया गया है। उन दो वाक्यों में से (१) 'यदग्नये च प्रजापतये सायं जुहोति'– यह प्रथम वाक्य है। और (२) 'अग्निर्ज्योतिर्ज्योतिरग्निः स्वाहा'– यह दूसरा वाक्य है। इनमें से प्रथम वाक्य ब्राह्मण से है और दूसरा वाक्य मंत्रभाग से। प्रथम वाक्य को **शबर स्वामी** ने अपने भाष्य में उद्धृत किया है। परन्तु उनसे उत्तरवर्ती **शास्त्रदीपिकाकार–** जैसे प्राय: सभी ग्रंथकारों ने प्रथम वाक्य– 'यदग्नये' इत्यादि वाक्य के प्रति अरुचि व्यक्त की है और उन्होंने दूसरे वाक्य 'अग्निर्ज्योति:' इत्यादि को प्रस्तुत किया है। प्रथम वाक्य के प्रति अरुचि को 'यदग्नये च प्रजापतये च सायं जुहोति'– वाक्य के आगे **'इति केचित्'** शब्दों को प्रयुक्त

स्वाहेति प्रातर्जुहोतीति विहितेन च मन्त्रेण प्राप्तं सूर्यमनूद्य तत्समुच्चितस्य च तस्य यत्सूर्याय च प्रजापतये च प्रातर्जुहोतीत्यत्र प्रातःकालेऽग्निहोत्रदेवतात्वं विधीयते तेनाग्नेर्मान्त्रवर्णिकत्वे प्रजापतिविधेरेकेनैव वाक्येन सिद्धेर्यदग्नये च प्रजापतये सायं जुहोति यत्सूर्याय च प्रातर्जुहोतीत्यत्र वाक्यद्वयं व्यर्थमिति निरस्ते सायं होमेऽग्निसमुच्चितस्य प्रजापतेर्विधानं प्रातर्होमे सूर्यसमुच्चितस्य च तस्यैकेन वाक्येन कर्तुमशक्यत्वादित्यलं विस्तरेणाधिकं तु न्यायप्रकाशे द्रष्टव्यम् ।।८८।।

करके ध्वनित किया गया है।[१]

इस प्रसंग में पुन: जिज्ञासा उत्पन्न होती है कि– उक्त प्रथम वाक्य उचित क्यों नहीं है? और दूसरा वाक्य अधिक उपयुक्त क्यों है? प्रथम वाक्य के प्रति अरुचि क्यों? और दूसरे वाक्य में अधिक स्वारस्य क्या है? उक्त प्रश्नों के उत्तर इस प्रकार हैं– पूर्वपक्ष का प्रश्न यह है कि– अग्निदेवतारूपी गुण का प्रापक या प्रख्यापक आपका अन्यशास्त्र कौनसा है? और पूर्वपक्षी के प्रश्न का उत्तर यदि **'यदग्नये च प्रजापतये च सायं जुहोति'** इस प्रथम वाक्य के द्वारा दिया गया है। किन्तु यहाँ यह देखना है कि क्या **'यदग्नये च'** वाक्य यथार्थरूप से देवतारूपी गुण का प्रख्यापक है? यदि यह वाक्य अग्नि का विधान कर रहा हो तो ठीक है, किन्तु यदि 'यदग्नये' वाक्य के द्वारा अग्नि का विधान न हो सकता हो तो, पूर्वपक्ष के प्रश्न के प्रत्युत्तर के लिए यह वाक्य योग्य (उचित) नहीं हो सकेगा। 'यदग्नये' वाक्य के सकृद्दर्शन में तन्निहित चतुर्थी विभक्ति से इसमें अग्निदेवतारूपी गुण का विधान हुआ है, ऐसा प्रतीत होता अवश्य है। किन्तु– वास्तविकरीत्या क्या इसमें अग्निदेवतारूप गुणविधान हुआ है?

'यदग्नये च प्रजापतये च सायं जुहोति'– इस वाक्य के सकृद्दर्शन में ज्ञात होता है कि यहाँ अग्नि और प्रजापति– इन दोनों का समुच्चय से विधि विहित है, किन्तु दोनों का विधान अर्थात् एक वाक्य के द्वारा किया हुआ कथन गौरवरूपी दोष को उत्पन्न करता है। अत: इस प्रसंग के परिहार के लिए **'यदग्नये च प्रजापतये च सायं जुहोति'**– यह वाक्य 'अग्निर्ज्योतिर्ज्योतिरग्नि: स्वाहेति सायं जुहोति'– मंत्रवर्णके स्वसमानार्थक दूसरे वाक्य को मंत्रवर्ण में देखकर और इस मंत्रवार्णिक वाक्य के द्वारा सायंहोम के लिये **'अग्नि'** देवता का विधान किया गया है, यह देखने के अनन्तर, **'यदग्नये च प्रजापतये च सायं जुहोति'**– यह प्रथम वाक्य अग्निदेवता का 'अग्नये' पद के द्वारा केवल अनुवाद करके केवल **'प्रजापति'**– इस एक ही देवता का विधान करता है और इसप्रकार वह वाक्य स्वयं में लाघव को उत्पन्न कर लेता है। इसप्रकार से अर्थ करने पर यह निष्पन्न होता है कि **'अग्निर्ज्योतिर्ज्योतिरग्नि:'**– यही अग्निदेवता का विधान करनेवाला मुख्य विधि वाक्य है। दूसरी बात यह है कि **'यदग्नये च प्रजापतये च सायं जुहोति'**– इस वाक्य में **'अग्नये'**– पद में वास्तविक अग्निदेवता का विधि पूर्णत: (बिलकूल) न होकर इतरत्र किया हुआ अग्निदेवता के विधान का केवल अनुवाद मात्र है, और उस अनुवाद का समुच्चय करके

१. शबर स्वामी आदि कुछ मीमांसकों (केचित्) का मत है कि अग्निदेवता का प्रापक शास्त्रान्तर 'यदग्नये' आदि है, किन्तु पार्थसारथि मिश्र आदि दूसरे मीमांसक (और अर्थसंग्रहकार भी) 'अग्निर्ज्योतिर्ज्योतिरग्नि: स्वाहा' मंत्र को अग्निदेवतारूप गुण का विधायक मानते हैं।

(८९) अग्नेः प्रजापतिदेवतया न बाधः

नन्वग्नेर्मान्त्रवर्णिकत्वे प्रजापतिदेवतया बाधः स्यात्। मन्त्रवर्णस्य चतुर्थीतो दुर्बलत्वात्। यथाहुः। 'तद्धितेन चतुर्थ्या च मन्त्रवर्णेन वा पुनः। देवताया विधिस्तत्र दुर्बलं तु परं पर'मिति चेन्न। 'यदग्नये च प्रजापतये च सायं जुहोती'त्यत्र न केवलं प्रजापतिविधानम्। किन्तु

नन्वग्नेर्मान्त्रवर्णिकत्वे प्रजापतिना तस्य बाधः स्यात्प्रजापतेश्चतुर्थ्या देवतारूपेण

'प्रजापति'– इस एक ही देवता के विषय में इस वाक्य में विधान किया गया है।

अत: उपर्युक्त विवेचन का निष्कर्ष यह है कि, **'यदग्नये च प्रजापतये च सायं जुहोति'**– इस वाक्य में अग्नि से सम्बन्धित कोई भी विधि विहित न होकर उसमें केवल अन्यत्र के विधि का अनुवाद है। **शास्त्रदीपिकाकार** जैसे सभी उत्तरवर्ती ग्रन्थकारों की प्रथम वाक्य– **'यदग्नये**.....।' इत्यादि के प्रति अरुचि का कारण उपर्युक्त विसंगति ही है। क्योंकि पूर्वपक्षी के द्वारा यह पूछे जाने पर कि अग्निदेवतारूप गुणविधि का प्रख्यापन करनेवाला आपका अन्यशास्त्र कौनसा है? पूर्वपक्षी को– 'यदग्नये च प्रजापतये च सायं जुहोति' जैसे निरुपयोगी वाक्य को, जिसमें अग्निदेवतारूप गुण का विधान न हो और विधि का केवल अनुवाद मात्र हो, बतलाने से क्या लाभ? यह समझकर ऐसे निरुपयोगी वाक्य को (पूर्वपक्षी के) सम्मुख रखना उचित नहीं है, यही मूलत: उन ग्रन्थकारों की अरुचि का कारण है। और इसी अरुचि को **'इति केचित्'**– इन शब्दों से व्यक्त किया गया है। और उस अरुचि को व्यक्त करने के अनन्तर **'अग्निर्ज्योतिर्ज्योतिरग्निः स्वाहेति सायं जुहोति'**– निर्दोष वाक्य को, जो अग्निदेवता रूप गुणविधि का प्रख्यापक वाक्य है, **'अपरे तु'**– इन शब्दों– द्वारा पूर्वपक्षी के सम्मुख प्रस्तुत किया गया है[१]।।८८।।

अनुवाद– नन्विति। *प्रकृत में शंका हो सकती है कि यदि मन्त्रवर्ण से **'अग्नि'** की प्राप्ति होगी तो उसका चतुर्थी विभक्ति में प्रयुक्त प्रजापति देवता से बाध होगा। क्योंकि मन्त्रवर्ण, चतुर्थी से दुर्बल होता है। जैसा कि **भट्टपाद** कहते हैं–*

तद्धितेनेति। *देवता का विधान तद्धित, चतुर्थी और मन्त्रवर्ण के द्वारा होता है और उनमें उत्तरोत्तर पूर्व-पूर्व से दुर्बल होता है।।*

*परन्तु यह कहना उचित नहीं है। क्योंकि **'यदग्नये च प्रजापतये च सायं जुहोति'** वाक्य में मात्र 'प्रजापति' का ही विधान नहीं है अपितु 'अग्निर्ज्योति ज्योतिरग्निः स्वाहा' इस मन्त्रवर्ण से प्राप्त 'अग्नि' का अनुवाद करके उस अग्नि सहित 'प्रजापति' का विधान है। इस प्रकार यहाँ 'प्रजापति' से मन्त्रवर्ण बाधित नहीं होता है। क्योंकि मात्र 'प्रजापति' का विधान असम्भव है। प्रकृत में यह कहना भी उचित न होगा कि 'यदग्नये....' वाक्य से 'प्रजापति' एवं 'अग्नि' दोनों का विधान होता है क्योंकि दोनों के युगपत् विधान की अपेक्षा दूसरे वाक्य से प्राप्त 'अग्नि' का अनुवाद करके 'अग्नि' सहित प्रजापति के विधान में लाघव है।।८९।।*

---

१. 'अपरे' का अर्थ प्रकृत में 'अन्य' से नहीं है। अपितु 'न परे अपरे' अर्थात् अपनी विचारधारासमर्थक से है।

मन्त्रवर्णप्राप्तमग्निमनूद्य तत्समुच्चितप्रजापतेः। एवं च न बाधः। केवलप्रजापतिविधानाभावात्। न चात्र समुच्चितोभयविधानमेव कथं नेति वाच्यम्। समुच्चितोभयविधानापेक्षयाऽन्यतः प्राप्तमग्निमनूद्य तत्समुच्चितप्रजापतिमात्रविधाने लाघवात्।।८९।।

प्राप्तत्वेन प्रबलत्वात्। अग्नेस्तु मन्त्रवर्णप्राप्तत्वेन दुर्बलत्वाच्च। न च सास्यदेवतेति तद्धितप्रत्ययस्य देवतात्वे स्मरणवच्चतुर्थी न देवतात्वं स्मर्यते सम्प्रदाने चतुर्थीति सम्प्रदानमात्रे तस्याः स्मरणात्। तस्मात् प्रजापतिना कथमग्नेर्बाधः स्यादिति वाच्यम्। त्यज्यमानद्रव्योद्देश्यत्वे सति प्रतिग्रहीतृत्वस्य सम्प्रदानं पदार्थत्वेन त्यज्यमान-द्रव्योद्देश्यत्वरूपस्य देवतात्वस्य सम्प्रदानस्वरूपान्तर्गतत्वात्। ततश्चतुर्थीतः सम्प्रदानै-कदेशतया देवतात्वप्रत्ययो भवत्येव मन्त्रवर्णात्तु न देवतात्वप्रतीतिरस्ति किंत्वधिष्टानत्वमेव ततः प्रतीयते तस्मान्मन्त्रवर्णश्चतुर्थीतो दुर्बल एव। तथा च प्रबलप्रमाणबोधित-प्रजापतिदेवतया दुर्बलप्रमाणबोधिताग्नेर्बाधो दुर्वार एवत्याशयेन शङ्कते-नत्विति। तत्र सम्मतिमाह-यदाहुरिति। तत्रेति। तद्धितादिषु मध्य इत्यर्थः। परमिति। तद्धितापेक्षया

।। अर्थमीमांसा ।।

इसके पूर्व प्रतिपक्ष के प्रश्न के प्रत्युत्तर के लिये **'यदग्नये च प्रजापतये च सायं जुहोति'**– वाक्य की अपेक्षा **'अग्निर्ज्योतिर्ज्योतिरग्निः स्वाहेति सायं जुहोति'**– वाक्य ही अधिक योग्य है– निर्देशित किया गया है। तथापि पूर्वपक्ष को एक ओर आपत्ति है। उसका कहना है कि– **'अग्निर्ज्योतिः ज्योतिरग्निः'** इस वाक्य को आपने निर्दोष समझकर प्रस्तुत किया है, किन्तु वह वाक्य भी आपकी इष्ट सिद्धि नहीं कर सकेगा। क्योंकि आप कहते हैं कि **'अग्निर्ज्योतिर्ज्योतिरग्निः'**– इस वाक्य में अग्निहोत्रयाग के संबन्ध से अग्निदेवतारूप गुणविधि विहित है। अतः यह हमारा तत्प्रख्यशास्त्र है। किन्तु आप जिस अग्निदेवता से सम्बन्धित विधि को यहाँ मान रहे है, आपका वह विधि टिकता कहाँ है? अर्थात् उसका बाध हो जाता है। उसके बाध का कारण यह है कि यहाँ **'प्रजापति'** इस देवता के द्वारा आपके अग्निदेवता का ही बाध हो जाता है, अर्थात्– अग्निहोत्र के लिये अग्निदेवता की प्राप्ति **'अग्निर्ज्योतिर्ज्योतिरग्निः स्वाहा'** इस मंत्रवर्ण से मानी जायेगी तो **'यदग्नये च प्रजापतये च सायं जुहोति'** इस वाक्य के चतुर्थ्यन्त **'प्रजापतये'** पद से बोध्य 'प्रजापति' देवता से अग्निदेवता का बाध हो जायेगा। इसे और अधिक स्पष्टरूप से इस प्रकार समझते हैं 'अग्निर्ज्योतिर्ज्योतिरग्निः स्वाहेति सायं जुहोति' और ('यदग्नये च प्रजापतये च सायं जुहोति'– इस वाक्य का उत्तर भाग) 'प्रजापतये सायं जुहोति' इसप्रकार दो वाक्य सामने हैं। इन वाक्यों में से **'अग्निर्ज्योतिः'** इत्यादिवाक्य मांत्रवार्णिक अर्थात् मंत्रभाग से है, और **'प्रजापतये सायं जुहोति'** यह ब्राह्मण वाक्य होने के साथ-साथ इसका **'प्रजापतये'** पद चतुर्थ्यन्त है। ऐसी स्थिति में चतुर्थ्यन्त पद से किये हुए विधान की अपेक्षा– मंत्रवर्ण के किसी वाक्य से किया हुआ विधान अधिक दुर्बल होता है, इसप्रकार का नियम होने से **'प्रजापतये सायं जुहोति'**

चतुर्थ्या दौर्बल्यं चतुर्थ्यपेक्षया च मन्त्रवर्णस्य दौर्बल्यं भवतीति परस्परं दुर्बलं बोध्यमित्यर्थः। ततः परमिति पाठे तु ततस्ततः परं दुर्बलप्रमाणमिति वीप्सापरत्वेन व्याख्येयम्। यदि च प्रजापतये जुहोतीति केवलप्रजापतिविधानं स्यात्तदा तु भवेदपि प्रजापतिनाग्नेर्बाधः परं तु न तथाविधानं क्रियते इति परिहरति-यदग्नये चेत्यादिना। प्रजापतेरित्यत्र विधानमित्यस्यानुषङ्गः। एवं चेति। मन्त्रवर्णप्राप्तमग्निमनूद्य तत्समुच्चितस्य प्रजापतेर्विधाने चेत्यर्थः। न बाध इति। न प्रजापतिनाग्नेर्बाध इत्यर्थः। तत्र हेतुमाह-केवलेति। ननु यदग्नये च प्रजापतये चेत्यस्मिन् वाक्ये होमानुवादेन समुच्चितस्यैवोभयस्य विधानं क्रियत इति कथं न स्वीक्रियत इत्याशङ्क्य तयोः समुच्चितयोर्विधानापेक्षया मन्त्रवर्णतः प्राप्तमग्निमनूद्य लाघवेन तत्समुच्चितप्रजापतेर्विधानमेवोचितमिति परिहरति। न चेत्यादिना।।८९।।

के चतुर्थीयुक्त विधि से 'अग्निर्ज्योतिः'– इस मांत्रवार्णिक वाक्य के अग्निविषयक विधि का बाध किया जाना नितान्त स्वाभाविक है। और इस बाध के कारण 'अग्नि' देवता का यहाँ उपस्थित रहना असंभव है और यहाँ केवल 'प्रजापति' एक देवता ही अवशिष्ट रहती है। अतः 'अग्नि' पद का लक्षणा से प्रजापतिदेवतापरक अर्थ स्थापित करके निर्वाह करना होता है। अतः जब अग्निदेवता ही यहाँ उपस्थित नहीं रह सकती, तब **'अग्निर्ज्योति'** यह तत्प्रख्यशास्त्र कहाँ हो सकेगा?

किन्तु चतुर्थी की अपेक्षा मंत्रवर्ण दुर्बल होता है। इसका आधार क्या है? यह पूछे जाने पर पूर्वपक्षी निम्नोक्त कारिका को प्रस्तु करता है–

[तद्धितेन चतुर्थ्या वा मंत्रवर्णेन वा पुनः,
देवताया विधिस्तत्र दुर्बलं तु परं परम्।]

उक्त कारिका का उल्लेख कुमारिलभट्ट के तन्त्रवार्तिक में[१] देखने को मिलता है। वहाँ इस कारिका का पाठ– इस प्रकार है–

[तद्धितेन चतुर्थ्या वा मंत्रवर्णेन चेष्यते।
देवतासंगतिस्तत्र दुर्बलं च परं परम्।।]

और टीकाकारों ने **'परं परम्'** के स्थान पर **'ततः परम्'**– इस प्रकार के पाठभेद का उल्लेख किया है। किन्तु ये पाठ भेद गौण हैं, वार्तिक का सारांश इसप्रकार है– याग के देवतारूपी गुण का विधान तीन भिन्न-भिन्न प्रकारों से किया जाता है– (१) **'सा अस्य देवता'** (पाणिनि ४-२-२४) इस सूत्र के द्वारा तद्धित प्रत्यय से देवता का निर्देश किया जाता है। उदाहरणार्थ– **'इन्द्रो देवता अस्य इति ऐन्द्रं हविः'**– इत्यादि। यह एक प्रकार है। (२) **दूसरे** प्रकार में चतुर्थी विभक्ति के द्वारा देवता का निर्देश किया जाता है। यथा,– **प्रजापतये सायं जुहोति'**– यहाँ पर किया गया है। अब यहाँ एक शंका उत्पन्न होती है कि– **'सा अस्य देवता'**– इस पाणिनी के सूत्र में **'देवता'** के अर्थ में तद्धित प्रत्यय होता है,– यह जिस प्रकार कहा गया है, वैसा– **'संप्रदाने चतुर्थी'**– इस पाणिनि के सूत्र में देवता का कहीं

उल्लेख नहीं है, तब चतुर्थी विभक्ति से देवता का ज्ञान करना चाहिए, यह कैसे कहा जा सकता है? इस शंका का समाधान यह है कि **'सम्प्रदान'** के (अर्थ) में चतुर्थी होती है। यह तो सत्य ही है। प्रकृत में, होम के द्रव्य का अग्नि में जो त्याग करना होता है, वह किसी के उद्देश से ही करना होता है, अर्थात् किसी देवता को उद्देश करके ही करना होता है। अतः सम्प्रदान में देवता का सम्बन्ध अन्तर्भूत होने से जहाँ चतुर्थी का निर्देश होता है, वहाँ देवता की प्रतीति होती है, यह नितान्त स्पष्ट है। और (३) **तीसरे** प्रकार में **'अग्निर्ज्योतिः'** इत्यादि मांत्रवर्णिक वाक्य में **'अग्नि'** के समान किये हुए किसी देवता का नामनिर्देश होता है। इस प्रकार ये जो तीन प्रकार हैं, उनमें एक के पश्चात् एक देवता निर्देश उत्तरोत्तर दुर्बल होता है, यही कारिका में कहा गया है।[१]

प्रथम प्रकार में **'सा अस्य देवता'** इस सूत्र से देवता का प्रत्यक्ष संबन्ध कहा गया है। **दूसरे प्रकार** में उस देवता का सम्बन्ध प्रत्यक्षरूप से कथित न होने से, तद्धित की अपेक्षा चतुर्थी का प्रमाण दुर्बल होना स्वाभाविक ही है। अब **दूसरे** प्रकार और **तीसरे** प्रकार की बलाबल की दृष्टि से यदि तुलना करके देखते हैं तो, **'संप्रदाने चतुर्थी'** इस पाणिनि के सूत्र के आधार पर अप्रत्यक्षरूप से ही क्यों न हो, तो भी त्यज्यमानद्रव्योद्देश्यत्वेन चतुर्थी का देवता से संबन्ध पहुँचता ही है। परन्तु **'अग्निर्ज्योतिः'** इत्यादि मंत्रवर्ण में देवता का सम्बन्ध निर्देशित करनेवाले **'अग्नि'** पद को छोड़कर अन्य कुछ भी गमक नहीं है। प्रकृत में अग्नि को देवता न मानना होता तो, यहाँ 'अग्नि' पद की स्थापना क्यों की गई होती। इसप्रकार का अनुमान अग्निरूप लिंग के आधार पर किया जाना संभव है। किन्तु उसकी अपेक्षा चतुर्थी श्रुति अधिक बलवान् होती है, अतः चतुर्थी की अपेक्षा मंत्रवर्ण दुर्बल है, यह स्पष्ट होता है।

अब पूर्वपक्ष को एक और आपत्ति है, वह कहता है कि वार्तिक में किये हुए निर्देशानुसार **'प्रजापतये सायं जुहोति'** वाक्यगत **'प्रजापतये'** इस चतुर्थी से प्राप्त होनेवाली प्रजापतिरूपी देवता है, उससे **'अग्निर्ज्योतिः'** इत्यादि मंत्रवर्ण से प्राप्त होने वाली अग्निरूपी देवता का बाध हो जाता है। ऐसा होने पर **'अग्निर्ज्योतिः'** वाक्य तत्प्रख्यशास्त्र नहीं हो सकता। तात्पर्य यह है कि अग्निहोत्र के लिये अग्निदेवता की प्राप्ति **'अग्निर्ज्योतिर्ज्योतिरग्निः स्वाहा'** इस मंत्र वर्ण से मानी जायगी तो **'यदग्नये च प्रजापतये च सायं जुहोति'** इस वाक्य के चतुर्थ्यन्त **'प्रजापतये'** पद से ज्ञापित प्रजापति देवता से अग्निदेवता का बाध हो जायेगा।

सिद्धान्ती पूर्वपक्ष के उक्त कथन का खण्डन करता है। सिद्धान्ती के अनुसार **'यदग्नये च प्रजापतये च सायं जुहोति'** इस वाक्य में केवल प्रजापति का ही विधान किया गया है, ऐसा नहीं है, अपितु **'अग्निर्ज्योतिः'** इस मांत्रवर्णिक वाक्य से बोध्य अग्निदेवता का अनुवाद करके उसके सहवर्तमान प्रजापति का विधान किया गया है। परिणामतः अग्निदेवता का प्रजापति देवता के द्वारा बाध नहीं हो सकता। क्योंकि मांत्रवर्णिक वाक्यगत 'अग्नि' का अनुवाद न करके **'प्रजापतये सायं जुहोति'**– इतना ही विधान यदि इस वाक्य में होता तो, चतुर्थ्यन्त **प्रजापति** द्वारा मांत्रवर्णिक **अग्निदेवता** का बाध हो जाता, परन्तु **'यदग्नये च'**–

१. तंत्रवार्तिक अ. २, पा. २, सू. २३

(९०) समिदादिशब्दानां कर्मनामधेयत्वम्

एवं च प्रयाजेषु समिदादिदेवतानां 'समिधः समिधोअग्नआज्यस्य व्यन्तु'इत्यादि मन्त्रवर्णेभ्यः प्राप्तत्वात्। 'समिधो यजति'इत्यादिषु समिदादिशब्दास्तत्प्रख्यशास्त्रात्कर्मनामधेयाः।।९०।।

तत्प्रख्यशास्त्रान्नामधेयत्वेत्युदाहरणान्तरमाह-एवमिति। समिदादिशब्दा इत्यत्रादिपदेन तनूनपातादयः शब्दा गृह्यन्ते।।९०।।

इत्यादि वाक्य में केवल प्रजापति का ही विधान न होने से, उस विधान के साथ ही अग्निदेवता का भी अनुवाद किया गया होने से, 'अग्नि' का बाध होना संभव नहीं है।

उक्त चर्चा के पश्चात् संभव है, कि पूर्वपक्षी यह कहे कि **'यदग्नये च'** वाक्यगत 'अग्नि' का अनुवाद करके केवल 'प्रजापति' का ही विधान किया गया है, ऐसा आप क्यों कहते हैं? आप यह क्यों नहीं मानते कि यहाँ 'अग्नि' और 'प्रजापति'– इन दोनों का ही समुच्चय से एकत्र विधान किया गया है। इस आक्षेप का प्रत्युत्तर यह है कि– **अग्नि** और **प्रजापति** इन दोनों का समुच्चय से यहाँ विधान मानने में गौरव है, और **'अग्निर्ज्योतिर्ज्योतिरग्निः'** इस मांत्रवार्णिक वाक्य से प्राप्त 'अग्नि' का अनुवाद करके उसके सहवर्तमान केवल अकेले 'प्रजापति' का ही ('यदग्नये च प्रजापतये च'– इस वाक्य में) विधान किया हुआ है यह मानने में लाघव है। क्योंकि दोनों का विधि मानने की अपेक्षा एक का ही विधि मानने में लाघव है, यह नितान्त स्पष्ट है। इसप्रकार से **'अग्निर्ज्योतिः'** और **'यदग्नये च'** इन दो वाक्यों की व्यवस्था करने पर 'प्रजापति' देवता से 'अग्नि' देवता का बाध न होकर **'अग्निर्ज्योतिः'** वाक्य निर्दोष सिद्ध होता है। और इसप्रकार से निर्दोष सिद्ध हुए **'अग्निर्ज्योतिः'** अन्यप्रख्यशास्त्र के रहते 'अग्निहोत्रं जुहोति' वाक्यगत 'अग्निहोत्र' पद अग्निदेवतारूप गुणविधि का वाचक नहीं हो सकता, अतः 'अग्निहोत्र' याग का नामधेय ही सिद्ध होता है।।८९।।

अनुवाद– एवमिति। *इस प्रकार प्रयाजों में गुण रूप समिदादि देवताओं की प्राप्ति 'समिधः समिधो' इत्यादि मन्त्रवर्णों से होती है। इस हेतु 'समिधो यजति' आदि वाक्यों में 'समिद्' आदि शब्द तत्प्रख्यशास्त्र से कर्म के नामधेय होते हैं।।९०।।*

।। अर्थमीमांसा ।।

'अग्निहोत्रं जुहोति' वाक्य की तरह पांच प्रयाजादि वाक्य[१] मिलते हैं, वे हैं– **'समिधो यजति। तनूनपातं यजति। इडो यजति। बहिर्यजति। स्वाहाकारं यजति।'** पूर्वपक्षी यदि प्रस्तुत प्रसंग में यह कहे कि– इन पांच वाक्यों में 'समिदादिक'– पांच शब्द हैं, उनके योग से उस-उस याग के देवताओं का विधान किया जाता है अथवा ये स्वयं याग विशेष के नाम है? तो उसका वह कथन इस तत्प्रख्यशास्त्र से ही बाधित हो जाता है। क्योंकि, मंत्रकाण्ड के पांचवें अनुवाक में **समिधो अग्न आज्यस्य वियन्तु। तनूनपादग्न आज्यस्य वेतु। इडो**

---

१. तै. सं. कां. २, प्रपा. ६, अनु. १

(९१) तद्व्यपदेशेन कर्मनामधेयत्वम्

'श्येनेनाभिचरन् यजेत' इत्यत्र श्येनशब्दस्य कर्मनामधेयत्वं तद्व्यपदेशात्। तेन व्यपदेशादुपमानात्तदन्यथानुपपत्तेरिति यावत्। तथा हि यद्विधेयं तस्य स्तुतिर्भवति। यद्यत्र श्येनो विधेयः स्यात् तदाऽर्थवादैस्तस्यैव स्तुतिः कार्या। अत्र 'यथा वै श्येनो निपत्यादत्ते। एवमयं द्विषन्तं भ्रातृव्यं निपत्यादत्ते' इत्यनेनार्थवादेन श्येनः स्तोतुं न शक्यः। श्येनोपमानेनार्थान्तरस्तुतेः क्रियमाणत्वात्। न च श्येनोपमानत्वेन स एव स्तोतुं शक्यते। उपमानोपमेयभावस्य भिन्ननिष्ठत्वात्। यदा तु श्येनसंज्ञको यागो विधीयते तदार्थवादेन श्येनोपमानेन तस्य स्तुतिः कर्तुं शक्यत इति श्येनशब्दः कर्मनामधेयम्। तद्व्यपदेशादिति ।।९१।।

इदानीं चतुर्थनिमित्तेन तद्व्यपदेशरूपेण श्येनशब्दस्य कर्मनामधेयत्वं प्रदर्शयति- श्येनेति। कर्मनामधेयत्वमिति। नन्वत्र श्येनशब्दस्य कर्मनामधेयत्वं न भवति। किन्तु

अग्न आज्यस्य वियन्तु। बर्हिरग्न आज्यस्य वेतु' इत्यादि वाक्यों में उनके देवताओं का निर्देश है। अतः उनके देवताओं का प्रख्यापन करनेवाला यह अन्यशास्त्र (तत्प्रख्यशास्त्र) होने से अत्रस्थ समिदादिक शब्द देवतावाचक न होकर कर्मनामधेय के ही वाचक हैं, यह सिद्ध होता है[१] ।।९०।।

अनुवाद– श्येनेनेति। *'श्येनेनाभिचरन्यजेत' इस वाक्य में तद्व्यपदेशरूप निमित्त से 'श्येन' शब्द याग का नाम है। [तद्व्यपदेश शब्द की व्याख्या है] उस गुण से उपमान होने का कथन होने से 'श्येन' शब्द को यागवाची माने बिना उपमान की उपपत्ति संभव नहीं है। [तात्पर्य यह है कि] जो विधेय होता है उसकी अर्थवाद से स्तुति की जाती है। यदि प्रकृत स्थल में 'श्येन' का विधान होता अर्थात् श्येन विधेय होता तो अर्थवाद के द्वारा उसी श्येन पक्षी की ही स्तुति की जाती। परन्तु यहाँ 'यथा वै श्येनो निपत्यादत्ते' इस अर्थवाद वाक्य से श्येन पक्षी की स्तुति नहीं कर सकते, क्योंकि श्येन की उपमा से श्येन की पक्षी की स्तुति नहीं हो सकती। अपितु श्येन पक्षी के उपमान के द्वारा श्येन पक्षी से इतर अर्थ की ही स्तुति की जा सकती है। क्योंकि उपमान एवं उपमेय में भिन्नता रहती है। अतः यदि 'श्येन' नामक याग को विहित माना जाय तब अर्थवाद द्वारा श्येन पक्षी की उपमा से श्येन याग की भी स्तुति कर सकते हैं। इस प्रकार 'तद्व्यपदेश' नामक निमित्त से 'श्येन' शब्द याग का नामधेय (नाम) होता है।।९१।।*

---

१. प्रयाजमन्त्रेषु 'समिधो अग्न आज्यस्य व्यन्तु'– इत्यादिषु समिदादिशब्दैर्बहुवचनैकवचनान्तैर्देवता निर्दिष्टा....। तस्मान्नात्र देवतासंस्कारविधिः। किन्तु केवला यागा विधीयन्ते।'
जैमिनिसूत्र १, २, ५९-६० पर जैमिनीयन्यायमाला विस्तर पृ. ४५४

सोमयागे नित्यं सोमद्रव्यं बाधित्वा तस्य स्थाने पक्षिद्रव्यरूपो गुणः काम्यो विधीयते। तथा सति श्येनशब्दस्य पक्षिणि लोकप्रसिद्धा रूढिरुपपन्ना भवतीत्याशङ्क्य श्येनशब्द-स्य कर्मनामधेयत्वे हेतुमाह-तद्व्यपदेशादिति। तद्व्यपदेशशब्दं व्याचष्टे। तेनेति। श्येनेनेत्यर्थः। तदिति। उपमानोपमेयभावस्य भेदघटितत्वादेवार्थवादवाक्ये श्येनोपमानेन विधेयस्तुतेः श्येननामककर्मविशेषं विनानुपपत्तेर्नात्र पक्षिद्रव्यरूपो गुणो विधातुं शक्यत इति भावः। तदन्यथानुपपत्तिमेवोपपादयति-तथाहीत्यादिना। तदिति। विधेयस्यस्तुतेः कर्तव्यत्वादित्यर्थः। अत्रेति। श्येनेनाभिचरन्यजेतेत्यत्रेत्यर्थः। श्येन इति। श्येननामकपक्षिविशेष इत्यर्थः। तस्यैवेति श्येननामकपक्षिविशेषस्यैवेत्यर्थः। यथेति। यथा श्येनः पक्षिविशेषो निपत्य मत्स्यादीन् जन्तुनादत्ते एवमयं श्येननामको यागो द्विषन्तं भ्रातव्यं शत्रुं निपत्यादत्त इत्यर्थः। यमभिचरति। श्येनेनेति वाक्यशेषः। अत्रेति। अत्र प्रकृतेऽनेन श्येनार्थवादेन श्येनः पक्षिविशेष एव स्तोतुं न शक्यते

।। अर्थमीमांसा ।।

नामधेयत्व के चार कारणों में से **'तद्व्यपदेश'**– यह अन्तिम कारण है। और उसका उदाहरण **'श्येनेनाभिचरन्यजेत'** यहाँ प्रस्तुत किया गया है।[१] 'श्येनेनाभिचरन्यजेत'....।'– वाक्यगत **'श्येन'** पद के सम्बन्ध में पूर्वपक्षी कहता है कि– **'श्येन'**– शब्द 'बाज नामक एक पक्षी' के अर्थ से लोगों में प्रसिद्ध है। अतः इसी रूढ़ अर्थ को ग्रहण करके– 'श्येन पक्षी' याग का द्रव्य है, ऐसा गुणविधि मानना चाहिये, न कि 'श्येन' याग का नामधेय। सिद्धान्ती पूर्वपक्षी को कहता है कि वैसे 'श्येन'– शब्द का अर्थ बाज पक्षी ही होता है, किन्तु प्रकृत स्थल में यह एक कर्मनामधेय है, यही अर्थ यहाँ ग्रहण करना चाहिये।

प्रकृतस्थल में 'श्येन' शब्द का अर्थ पक्षिविशेष नहीं लिया जा सकता, 'तद्व्यपदेशात्' कारण होने से। **'तद्व्यपदेशं च'** के आधार पर ही 'तद्व्यपदेश' को यहाँ कारण माना गया है। भाष्य में 'तद्व्यपदेश'– सूत्र का अर्थ इसप्रकार दिया गया है– ['तेन श्येनादिना प्रसिद्धेन यस्य व्यपदेशः तच्च कर्मनामधेयम्।'] किन्तु **शास्त्रदीपिका** की टीका में 'तद्व्यपदेशः' का अर्थ भिन्नरूप से दिया गया है। वह इस प्रकार है– ['अत्र तद्व्यपदेशशब्दः सौत्रानुकरणम्।' सूत्रे च तच्छब्देन यस्मिन्गुणोपदेश इति प्रकृतो गुणो निर्दिश्यते। विशब्दश्च भिन्नार्थकः ततश्च तस्माद्विधेयत्वाभिमताद्गुणात् व्यपदेशो भेदेन निर्देशः।'] परन्तु ग्रन्थ के मूल पाठ में **'तद्व्यपदेशात्'**– का अर्थ ['तेन व्यपदेशात् = उपमानात्'] दिया गया है। अतः सिद्धान्ती के मतानुसार **'श्येनेन यजेत'** वाक्यगत **'श्येन'** शब्द का अर्थ है– **'श्येननामक याग**। किन्तु पूर्वपक्षी का आग्रह 'श्येन' शब्द का **श्येन नामक पक्षी** अर्थ ग्रहण करने के लिए है। सिद्धान्ती के अनुसार प्रस्तुत प्रसंग में 'श्येन' का अर्थ 'श्येनयाग' ही होना चाहिए, 'श्येन-पक्षी' अर्थ यहाँ उपयुक्त नहीं होगा। क्योंकि श्येन याग के सम्बन्ध में एक अर्थवादात्मक वाक्य का उल्लेख है, ['यथा वै श्येनो निपत्यादत्ते एवमयं द्विषन्तं भ्रातृव्य निपत्यादत्ते'] अर्थात् 'जैसे बाज झपटकर (अपनी शिकार को) पकड़ लेता है, वैसे ही श्येन याग का कर्ता

१. जै. सू. अ. १, पा. ४, अधि. ५

इत्यर्थः । तत्र हेतुमाह । श्येनेति । ननु श्येनार्थवादोपमानेन श्येन एव पक्षिविशेषः कथं न स्तोतुं शक्यः स्यादित्यत आह-न श्येनोपमानत्वेनेति । तदशक्यत्वे हेतुमाह । उपमानेति । यद्यत्र श्येनसंज्ञकस्य यागस्य विधेयत्वं स्वीक्रियते तदा तादृशार्थवादोपमानेन तस्य श्येनसंज्ञकस्य यागस्य स्तुतिः कुर्तुं शक्या भवत्येवेत्याह-तदेत्यादिना । फलितमुपसंहरति । इतीति । एवमुक्तेन प्रकारेणेत्यर्थः ।।९१।।

यजमान द्वेष करनेवाले शत्रु को झपट कर पकड़ लेता है।'' इस अर्थवादात्मक वाक्य के आधार पर यह स्पष्ट हो जाता है कि **'श्येनेन यजेत'** वाक्य में जिस **श्येनयाग** का विधान है, उस श्येनयाग को उक्त अर्थवादात्मक वाक्य में श्येनपक्षी की उपमा दी गई है, अर्थात् प्रकृत स्थल में श्येन याग **उपमेय** है, और श्येन पक्षी **उपमान**। वस्तुत: उपमेय और उपमान, ये दोनों एक दूसरे से भिन्न होने चाहिये, और ऐसा होने पर ही उनमें **उपमानोपमेयभाव** हो सकता है। किन्तु पूर्वपक्षी तो यह कहता है कि– **'श्येनेन यजेत'** वाक्यगत **'श्येन'** शब्द का अर्थ **'श्येनपक्षी'** ही ग्रहण करना चाहिये। और पूर्वपक्षी के कथनानुसार अर्थ ग्रहण करने पर तथा उस अर्थवादात्मक वाक्यगत उपमा का समन्वय करने पर **'श्येनपक्षी'** ही उपमेय और 'श्येनपक्षी' ही उपमान हो जायेंगे, किन्तु इसप्रकार का होना इष्ट नहीं है। यहाँ ध्यातव्य यह है कि जिस श्येनपक्षी को उपमान मानना है, वह श्येनपक्षी उपमेय से भिन्न होना चाहिये, यह नितान्त स्पष्ट है। अन्यथा वह उपमान ही नहीं हो सकता। अत: प्रकृत उपमा का उपमेयभूत जो 'श्येनेन यजेत' है, उसके **श्येन** शब्द का अर्थ, उपमानभूत जो श्येनपक्षी है, उससे भिन्न अर्थात् 'श्येननामक याग' को ही समझना चाहिये। इसी का स्पष्टीकरण– 'तथा हि' इत्यादि वाक्यों से आगे किया गया है–

'श्येनेन यजेत' इस वाक्य में **'श्येन याग'** विधेय है और जो विधेय होता है, उसकी अर्थवाद में स्तुति की जाती है, यही परम्परागत सम्प्रदाय रहा है। और तदनुसार **'यथा वै श्येनो निपत्यादत्ते'** इत्यादि अर्थवाद वाक्य से श्येननामक विधेय याग की स्तुति की गई है। किन्तु पूर्वपक्षी उक्त कथन से असहमत होकर कहता है **'श्येनेन यजेत'** वाक्य में याग द्रव्यभूत श्येनपक्षी ही विधेय है। और ऐसा मान लेने पर **'यथा वै श्येनो निपत्यादत्ते'** इत्यादि अर्थवादों से उस श्येन पक्षी की ही स्तुति करना प्राप्त होता है। किन्तु **'यथा वै श्येनो निपत्यादत्ते एवमयं द्विषन्तं भ्रातृव्यं निपत्यादत्ते'**– इस अर्थवाद से तो श्येनपक्षी की स्तुति नहीं की जा सकती। क्योंकि इस अर्थवादात्मक वाक्य में **'यथा'** शब्द से श्येनपक्षी को उपमान के रूप में माना गया है, यह नितान्त स्पष्ट है। अत: उपमानभूत श्येनपक्षी के द्वारा (स्वयं को छोड़कर अन्य किसी की स्तुति की जानी चाहिये- श्येनोपमानेन अर्थान्तरस्तुते: क्रियमाणत्वात्) क्योंकि वह उपमानभूत श्येनपक्षी स्वयं की स्तुति किस प्रकार कर सकेगा? क्योंकि उपमान और उपमेय ये दोनों एक दूसरे से भिन्न होना आवश्यक होते हैं [उपमानोपमेयभावस्य भिन्ननिष्ठत्वात्]।

ऐसी स्थिति में पूर्वपक्षी संभवत: ऐसी शंका कर सकता है कि, **'रामरावणयोर्युद्धं रामरावणयोरिव'** जैसे अनन्वयनामक अलंकार का उदाहरण हैं, उसमें उपमेय और उपमान

(९२) कर्मनामधेयत्वे उत्पत्तिशिष्टगुणबलीयस्त्वम्

उत्पत्तिशिष्टगुणबलीयस्त्वमपि पञ्चमं नामधेयनिमित्तमिति केचित्। यथा 'वैश्वदेवेन यजेते'त्यादौ। अत्रोत्पत्तिशिष्टाग्न्यादीनां बलीयस्त्वाद्वैश्वदेवशब्दस्य विश्वेदेवदेवता विधायकत्त्वं न सम्भवतीति कर्मनामधेयत्वम्। वस्तुतस्तु तत्प्रख्यशास्त्रादेवास्य कर्मनामधेयत्वं। प्रकृतयागे विश्वेदेवरूपगुणसम्प्रतिपन्नशास्त्रस्यार्थवादरूपस्यैव सत्वात्। 'यद्विश्वे देवाः समयजन्त तद्वैश्वदेवस्य वैश्वदेवत्वम्' इति।।९२।।

अत्र कर्मनामधेयत्वे चोत्पत्तिशिष्टगुणबलीयस्त्वं पञ्चममपि निमित्तं भवतीति। केषांचिन्मतमाह-उत्पत्तिशिष्टेति। तत्रोदाहरणमाह-यथेति। अत्रेति। अस्मिन्वाक्ये

दोनों एक ही होते हैं, वही स्थिति यहाँ क्यों न मानी जावे? पूर्वपक्षी के इस संशय का प्रत्युत्तर सिद्धान्ती यह देता है कि **अनन्वय** अलंकार में सामान्य धर्म वस्तुत: एक ही होता है, परन्तु प्रकृत **'यथा वै श्येनो'** की उपमा में उपमेय वाक्य में मत्स्यादिक भक्ष्यपदार्थों का ग्रहण वर्णित है, और उपमान वाक्य में भ्रातृव्य का ग्रहण वर्णित है। इस प्रकार इन सामान्य धर्मों में भेद होने से, यह अनन्वय का उदाहरण नहीं हो सकता।[१] अत: उपमानभूत श्येनपक्षी से उपमेय का भिन्न होना आवश्यक होने से उपमेयभूत जो 'श्येन' शब्द है, उसका अर्थ 'श्येनयाग' ही है, यह मानना आवश्यक है। और इसीलिए पूर्वपक्षी का यह कहना कि **'श्येनेन यजेत'** इस वाक्य के 'श्येन' शब्द से यागांगभूत श्येनद्रव्य विहित है, योग्य नहीं है।

इस प्रकार सिद्धान्ती के कथनानुसार **'श्येनेन यजेत'** वाक्य में श्येननामक याग का ही विधान विहित है यह मानने पर कोई समस्या उत्पन्न नहीं होती। और यह मानने पर अर्थवादवाक्य के श्येनपक्षी के उपमान से श्येनयाग की स्तुति करने में किसी प्रकार की अनुपपत्ति भी उत्पन्न नहीं होती। अत: 'अभिचार करते हुए शत्रुवध की इच्छा वाला पुरुष श्येन नामक याग के द्वारा अभिचाररूप फल की भावना करे- 'अभिचरन् शत्रुवधकाम: श्येननामकेन यागेन अभिचारं[२] भावयेद्' यह समुचित वाक्यार्थ सम्पन्न होता है।।९१।।

अनुवाद– उत्पत्तीति। *उत्पत्तिविधि से बोधित 'गुण' प्रबल होता है, कुछ मीमांसक इसे भी नामधेय में पाँचवा निमित्त मानते हैं। जैसे– 'वैश्वदेवेन यजेत' इत्यादि स्थलों पर 'वैश्वदेव' का देवतावाचक होना सम्भव नहीं है क्योंकि उत्पत्तिविधि से विहित 'अग्न्यादि' देवता प्रबल हैं, इस हेतु 'वैश्वदेव' याग का नाम है।*

[किन्तु उपर्युक्त मत समीचीन नहीं है।] वस्तुत: प्रकृत स्थल में भी तत्प्रख्यशास्त्ररूप निमित्त से ही 'वैश्वदेव' शब्द याग विशेष का नामधेय होता है। प्रस्तुत याग में विश्वेदेव रूप गुण का प्रकाशक अर्थवाद वाक्य 'यद् विश्वेदेवा: समयजन्त तद् वैश्वदेवस्य वैश्वदेवत्वम्' है। इसलिये 'वैश्वदेवेन यजेत' में 'वैश्वदेव' शब्द याग का नामधेय होता है।।९२।।

---

१. द्रष्टव्य– शास्त्रदीपिका– १।४।५ आचार्य सोमनाथ

२. अभिचारो वैरिमरणानुकूलो व्यापार:

वैश्वदेवशब्दस्य विश्वेदेवदेवता विधायकत्वं न सम्भवत्युत्पत्तिशिष्टाग्न्यादीनां बलीयस्त्वादित्यन्वय।ः फलितार्थमुपसंहरति-इतीति। तस्येति शेषः। अत्रेदं बोध्यम्। चातुर्मासस्य चत्वारि पर्वाणि वैश्वदेवो वरुणप्रघासः शाकमेधः शुनासीरीयश्चेति। तेषु प्रथमे पर्वण्यष्टौ यागा विहिता आग्नेयमष्टाकपालं निर्वपति। सौम्यं चरुं, सावित्रं द्वादशकपालं, सारस्वतं चरुं, पौष्णं चरुं, मारूतं सेप्तकपालं, वैश्वदेवीमामिक्षां, द्यावापृथिव्यमेककपालमिति। तेषामष्टानां यागानां सन्निधाविदमाम्नायते वैश्वदेवेन यजेतेति। अत्र चाग्नेयादीन्यागान्यजेतेत्यनूद्य वैश्वदेवशब्देन देवतारूपो गुणस्तेषु विधीयते।यद्यपि वैश्वदेव्यामामिक्षायां विश्वेदेवाः प्राप्तस्तथाप्याग्नेयादिषु सप्तसु यागेष्वप्राप्तत्वाद्विधीयन्ते। तेष्वप्यग्न्यादिदेवताः सन्तीति चेत्तर्हि गत्यभावात्तेषु देवताविकल्प्यतां नामधेयत्वे तु नाममात्रस्याविधेयत्वाद्द्रव्यदेवतयोरभावेन यागस्यात्र स्वरूपासंभवात्। श्रूयमाणो विधिरनर्थकः स्यात्तस्माद्गुणविधिरिति पूर्वपक्षः। उत्पत्तिवाक्यैर्विहिताऽऽग्नेयादीनष्टौ यागान्यजेतेत्यनूद्याष्टानां

।। अर्थमीमांसा ।।

इससे पूर्व नामधेयत्व स्वीकार करने में चार कारणों– (१) **मत्वर्थलक्षणाभय**, (२) **वाक्यभेदभय**, (३) **तत्प्रख्यशास्त्र**, और (४) **तत्व्यपदेश**– का सोदाहरण विवेचन किया गया है। परन्तु कुछ **न्यायसुधाकार** आदि मीमांसक विद्वानों के विचार में पाँचवा **'उत्पत्तिशिष्टगुणबलीयस्त्व'** संज्ञक कारण नामधेय में माना जा सकता है। इसी का विवेचन ग्रन्थकार यहाँ पूर्वपक्ष निरूपण पुरस्सर प्रस्तुत कर रहे हैं। प्रस्तुत विषय का वाक्य 'वैश्वदेवेन यजेत' है।[१] इस वाक्य में प्रयुक्त **'वैश्वदेव'** शब्द याग का नामधेय किसप्रकार होता है, यह देखते हैं। चातुर्मास्ययाग[२] के चार पर्व[३] हैं, (१) **वैश्वदेव**, (२) **वरुणप्रघास**, (३) **साकमेध** और (४) **शुनासीरीय**। इन चार पर्वों में से प्रथम पर्व वैश्वदेवनामक विभाग में निम्नोक्तानुसार आठ यागों का उल्लेख किया गया है– (१) आग्नेयं अष्टाकपालं निर्वपति, (२) **सौम्यं चरुम्**, (३) **सावित्रं द्वादशकपालम्** (४) **सारस्वतं चरुम्**, (५) **पौष्णम् चरुम्**, (६) **मारुतं सप्तकपालम्**, (७) **वैश्वदेवीमामिक्षाम्** और (८) **द्यावापृथिव्यमेककपालम्**, इन आठ यागों का निरूपण होने के पश्चात् उन्हीं कीं संनिधि (समीप) में **'वैश्वदेवेन यजेत'** यह वाक्य पठित (निरूपित) है। अतः प्रकृत में 'वैश्वदेव' शब्द के द्वारा गुणविधि विहित है या वह कर्मनामधेय है, यह संशय उत्पन्न होता है।

पूर्वपक्ष का कहना है कि जिन आग्नेयादिक आठ यागों का निरूपण पूर्व में किया जा चुका है, उनका (अर्थात् आठो यागों का) **'वैश्वदेवेन यजेत'** वाक्यगत **'यजेत'** पद से अनुवाद करके उसी वाक्य के **'वैश्वदेव'** शब्द से इन आठो यागों के देवतारूप गुण का विधान किया गया है। यद्यपि **'वैश्वदेवीमामिक्षाम्'** वाक्य में 'विश्वेदेव' देवता विहित है, तथापि 'आग्नेयं अष्टाकपालं निर्वपति' से लेकर 'मारुतं सप्तकपालम्' एवं 'द्यावापृथिव्यमेकक-

१. तै. सं. कां. १, प्रपा. ८, अनु. २

२. तै. सं. का. १, प्रपा. ८

३. फाल्गुन्यादिषु पौर्णमासीषु अनुष्ठेयो यागसमुदायः पर्वशब्देनाऽवबोध्यते।

सङ्घे वैश्वदेवशब्दो नामत्वेनोपवर्ण्यते । नच विधित्वाभावेऽपि नामोपदेशस्य वैयर्थ्यमिति वाच्यम् । प्राचीनप्रवणे वैश्वदेवेन यजेतेत्यादिषु वैश्वदेवशब्देनैकेनैवाष्टानां सङ्घस्य व्यवहर्तव्यत्वेनार्थवत्त्वोपपत्तेः । नामप्रवृत्तिनिमित्तभूता निरुक्तिस्तु द्विधा, आमिक्षायागे विश्वेषां देवानामिज्यमानतया तत्सहचरितानां सर्वेषां छत्रिन्यायेन वैश्वदेवत्वमिति विश्वेदेवा अष्टानां कर्तार इति वा तेषां वैश्वदेवत्वं तथा च ब्राह्मणं यद्विश्वेदेवाः समयजन्त तद्वैश्वदेवस्य वैश्वदेवत्वमिति । देवताविकल्पस्तु समानबलत्वाभावान्न युज्यते । अग्न्यादय उत्पत्तिशिष्टत्वात्प्रबला विश्वेदेवा उत्पन्नशिष्टत्वाद् दुर्बलाः तस्माद्वैश्वदेवशब्दः कर्मनामधेयमिति सिद्धान्तः । वस्तुगतिमाश्रित्य तत्प्रख्यशास्त्रादेव वैश्वदेवशब्दस्य कर्मनामधेयत्वमाह- वस्तुतस्त्विति । प्रकृतयाग इति । वैश्वदेवनामकेऽष्टानामग्नेयादीनां सङ्घात्मके प्रकृतयाग इत्यर्थः । विश्वेदेवेति । प्रकृतयागे विश्वेदेवरूपगुणः सम्प्रतिपन्नः सम्प्राप्तो यस्मात्तादृशशास्त्रस्येत्यर्थः । तत्र गुणप्रापकं शास्त्रमुदाहरति । यद्विश्वेदेवा इति । अस्य शास्त्रस्य

पालम्'– इन सातों यागों में 'विश्वेदेव' की विद्यमानता नहीं है, अत: उसका (विश्वेदेव का) विधान आग्नेयादि देवताओं के रहते हुए भी 'विकल्प' से किया जा सकता है। अर्थात् उन सात यागों में इस विश्वदेव का विधान 'वैश्वदेवेन यजेत' इस गुण विधायक वाक्य से किया गया है, ऐसा मान लें। किन्तु इस प्रसंग में एक और शंका उत्पन्न होती है कि– यद्यपि उन अवशिष्ट सातों यागों में **'विश्वदेवा:'** यह देवता विद्यमान नहीं है, तथापि **अग्नि, सोम, सवितृ, सरस्वती, पूषन्, मरुत्** और **द्यावापृथिवी**– ये सात देवता उन सात यागों में क्रमश: कथित हैं। अत: वे सातों देवता अपने-अपने स्थानों पर पहले से ही विद्यमान रहने पर, वहाँ 'विश्वेदेवा:' इस देवता को और क्यों निरूपित किया जाय? इस पर पूर्वपक्षी कहता है कि, पहले से ही देवता विद्यमान रहने पर भी वहाँ 'विश्वेदेवा:' देवता और प्राप्त हो रही है, अत: उसके लिए अन्य कोई गति (मार्ग) न होने से वहाँ पूर्व से विद्यमान देवता का ग्रहण किया जाय या 'विश्वदेवा:' यह नवीन प्राप्त होनेवाली देवता को ग्रहण किया जाय, ऐसा विकल्प मान लेना चाहिए।

पूर्वपक्षी के द्वारा सूचित की हुई व्यवस्था ठीक नहीं है, क्योंकि **'आग्नेयं अष्टाकपालं निर्वपति, सौम्यं चरुम्'** इत्यादि जो आठ वाक्य हैं, वे सभी उत्पत्तिविधि वाक्य हैं और इन उत्पत्तिविधिभूत वाक्यों के द्वारा **अग्नि, सोम, सवितृ, सरस्वती, पूषन्, मरुत्, विश्वदेवाः** और **द्यावापृथिवी**– ये आठ देवता विहित की गई है। अत: ये उत्पत्तिशिष्ट (अर्थात् उत्पत्तिविधिवाक्यविहित) देवता हैं। और देवता याग का गुण होता है। इसलिए ये आग्नेयादिक आठ देवता उत्पत्तिशिष्ट गुण हैं, यह स्पष्ट है। अर्थात् **उत्पत्तिशिष्टगुण = उत्पत्तिविधिवाक्य-विहितअग्न्यादिअष्टदेवता।**

अब यदि 'आग्नेयं अष्टाकपालं निर्वपति' इत्यादि वाक्य आठयागों के उत्पत्तिविधि हैं तथा आठयागों का अनुवाद 'वैश्वदेवेन यजेत' वाक्य के 'यजेत' पद से करके पूर्वपक्षी के अनुसार 'वैश्वदेवेन' पद से उन यागों के शेषभूत 'विश्वेदेवा:' देवता का विधान किया गया है तो यह भी स्पष्ट हो जाता है कि आठ उत्पत्तिविधि वाक्यों का देवतारूपी शेष गुण का

कर्तृरूपेण प्रकृते यागे विश्वेदेवरूपगुणप्रापकत्वमिति भावः। नामधेयस्य प्रयोजनं तु सर्वत्रव्यवहार एव नह्यन्तरेण नामधेयमृत्विग्वरणादिष्वनेनाहं यक्ष्य इत्याख्यानोपायो लघुः कश्चिदस्ति। तस्माद्वैश्वदेवादिशब्दानां कर्मनामधेयत्वमेवेति सिद्धम्।।९२।।

कथन करने हेतु 'वैश्वदेवेन यजेत' गुणविधायकवाक्य 'उत्पन्न' होता है। अत: इस वाक्य से विहित 'विश्वेदेवा:' देवता उत्पन्नशिष्ट गुण हुआ। अर्थात्–

उत्पन्नशिष्टगुण = गुणविधिवाक्यविहितविश्वदेवदेवता

किन्तु पूर्वपक्षी ने पहले यह कहा है कि **'आग्नेयं अष्टाकपालं निर्वपति, सौम्यं चरुम्'**– इत्यादि सात वाक्यों में– अग्नि, सोम, सवितृ, सरस्वती, पूषन्, मरुत् और द्यावापृथिवी, ये सात देवता यद्यपि प्रथमत: विहित हैं, तथापि 'वैश्वदेवेन यजेत' इस गुण-विधायक वाक्य के द्वारा विहित होने से तत्पश्चात् प्राप्त होनेवाली जो **विश्वदेवदेवता** उसका भी स्वीकार करें, एवञ्च उत्पत्तिविधिप्राप्त और उत्पन्नविधिप्राप्त– इन दोनों ही देवताओं को विकल्प से ग्रहण करें। किन्तु विकल्प की संभावना कहाँ होती है? अर्थात् जहाँ दोनों पक्ष तुल्यबल होते हैं। एक पक्ष तुल्यबलत्व होने से दूसरे का बाध नहीं कर सकता। किन्तु यहाँ तो वैसी स्थिति कदापि नहीं है। क्योंकि प्रथमत: जो **अग्न्यादिक** देवता हैं, वे उत्पत्तिवाक्यों के द्वारा विहित (उत्पत्तिशिष्ट) हैं, और वे प्रत्यक्ष श्रुत भी है। और **'विश्वदेवा:'**– यह देवता अनुवाद से उत्पन्न हुए एक वाक्य के द्वारा विहित (उत्पन्नशिष्ट) हैं, और प्रकरणप्राप्त है। इसके अतिरिक्त आग्नेयादिक जो सात याग हैं उनके लिए आग्नेयादिक सात उत्पत्तिशिष्ट देवता पूर्व से ही प्राप्त हैं इसलिए उक्त सात याग गुणान्तरावरूद्ध हैं साथ ही निराकांश भी हैं। इस हेतु **'वैश्वदेवेन यजेत'** इस गुणविधायक वाक्य से विहित विश्वदेवदेवतारूपी जो नवीन गुण है, उसके प्रवेश के लिए वहाँ अवकाश ही कहाँ है? और अनुवाद से पीछे से उत्पन्न हुए एक वाक्य द्वारा विहित उत्पन्नशिष्ट देवता की अपेक्षा उत्पत्तिवाक्यों से विहित जो उत्पत्तिशिष्ट देवता हैं उनका अधिक प्रबल रहना नितान्त स्वाभाविक है।[1] इसलिए उत्पत्तिशिष्ट अग्न्यादि देवता के द्वारा उत्पन्नशिष्ट विश्वदेवदेवता का बाध होता है यह सिद्ध है। यही बात **भाष्य** और **वार्तिक** में निरुपित की गई है।[2]

अत: उत्पत्तिशिष्ट अग्न्यादिक देवता का बलीयस्त्व के कारण 'वैश्वदेव' शब्द विश्वदेव-

---

१. अग्न्यादीनां देवतात्वं प्रत्यक्षश्रुति–बोधितम्। विश्वेषां देवानां तु वाक्येन बोधितमपि न साक्षात्। न हि अग्न्यादियागे विश्वेषां देवानां देवतात्वप्रतिपादकं वाक्यघटकपदमस्ति। वाक्येन विश्वेषां देवानां यागदेवतात्वमात्रं बोध्यते। प्रकरणात्तु आग्नेयादिष्विति प्रतिपाद्यते। एवं च श्रुतिप्राप्तप्रकरणप्राप्तयोरतुल्यशिष्टतया न विकल्पः संभवति।– अर्थदर्शनी टीका।

२. 'प्रत्यक्षश्रुतिविहिता अग्नादयः तेषां यागानाम्। विश्वदेवा वाक्येन, प्रकरणात्तेनैव नान्येन इति गम्यते। न चायं विषमशिष्टो विकल्पो भवितुमर्हति। न हि प्रकरणं श्रुतस्य द्रव्यस्य बाधने समर्थम्। तस्मात्कर्मनामधेयम्।– शाबरभाष्य, १-४-१४

[गुणान्तरावरुद्धत्वान्नावकाश्यो गुणोऽपरः।
विकल्पोऽपि न वैषम्यात्तस्मान्नामैव युज्यते।। तन्त्रवार्तिक– १-४-११]

देवता का वाचक न हो सकने के कारण **'वैश्वदेव'** एक कर्मनामधेय ही है, यह मानना चाहिए।

इस प्रसंग में यह भी ज्ञातव्य है कि **'केचित्'** शब्द का प्रयोग प्रारम्भ में करके उत्पत्तिशिष्टगुणबलीयस्त्व को नामधेयत्व के पाँचवे निमित्त के रूप में यहाँ तक वर्णित किया गया है। किन्तु 'इसे पाँचवा निमित्त कारण मानना आवश्यक है', ऐसी मान्यता प्रस्तुत ग्रन्थकार की परिलक्षित नहीं होती। और इसीलिए **'वैश्वदेवेन यजेत'** वाक्य का तत्प्रख्यशास्त्र में ही अन्तर्भाव **'वस्तुतस्तु'** से आगे दो-तीन वाक्यों में सिद्ध करके दिखाया है। वह इसप्रकार है–

पूर्वपक्षी का कहना है कि **'वैश्वदेव'** शब्द से विश्वेदेव देवतारूप गुण का समर्पण किया जाता है, अतः **'वैश्वदेव'** को नामधेय न मानकर उसे गुणविधि मानना चाहिए। किन्तु इस पर सिद्धान्ती कहता है कि– **'वैश्वदेव'** शब्द से विश्वदेवदेवतारूप गुण प्राप्त किया जाता है, कहना ठीक नहीं है। क्योंकि आप जिन्हें विश्वदेवदेवता कहते हैं, उनका प्रख्यापन (प्रापण) करनेवाला दूसरा ही शास्त्र है। **'यद्विश्वेदेवाः समयजन्त तद्वैश्वदेवस्य वैश्वदेवत्वम्'**– यह वह शास्त्र है। यह अर्थवादात्मक वाक्य ब्राह्मण में पठित है, और उसका अर्थ इस प्रकार है– 'विश्वेदेवों ने एकत्र याग किया, अतः यही वैश्वदेवों का वैश्वदेवत्व है। अतः विश्वदेवदेवतारूप गुण के विषय में संप्रतिपन्न (संप्राप्त, ज्ञान) यह अर्थवादात्मक दूसरा तत्प्रख्यशास्त्र होने से **'वैश्वदेव'** शब्द से देवता का विधान किया जाता है, यह कहना ठीक नहीं है। और इसीलिए 'वैश्वदेव' को कर्मनामधेय ही मानना आवश्यक है।[१]

इसप्रकार उत्पत्तिशिष्टगुणबलीयस्त्व का तत्प्रख्यशास्त्र में ही अन्तर्भाव किया जा सकता है। परन्तु **आपदेवी** में प्रतिपादित सिद्धान्तानुसार मत्वर्थलक्षणादिक चारों निमित्तों में उत्पत्तिशिष्टगुणबलीयस्त्व का अन्तर्भाव न हो सकने के कारण, उसे अलग से पाँचवां निमित्त माना जाना चाहिए।

इस प्रसंग में एक स्वाभाविक शंका उत्पन्न होती है– कि नामधेयत्व के जिन चार-पांच निमित्तों का निरूपण करके जिस नामधेय के विषय में यहाँ विवेचन किया गया है, उस नामधेय का प्रयोजन क्या है? उक्त शंका का निराकरण निम्नोक्त उद्धरण में किया गया है– वह इस प्रकार है– [नामधेयस्य प्रयोजनं तु सर्वत्र व्यवहार एव। न हि अन्तरेण-नामधेयमृत्विग्वरणादिष्वनेनाहं यक्ष्य इत्याख्यानोपायो लघुःकश्चिदस्ति। तस्माद्वैश्वदेवादिशब्दानां कर्मनामधेयत्वमेवेति सिद्धम्] प्रकृत में ध्यात्वय है कि नवीन मीमांसक खण्डेदेव प्रभृति 'तत्प्रख्यन्याय से 'वैश्वदेव'शब्द की कर्मनामधेयता स्वीकार नहीं करते है। अपितु वे उत्पत्तिशिष्ट-गुणबलीयस्त्व को भी सहकारी मानते हैं अर्थात् उत्पत्तिशिष्टगुणबलीयस्त्व सहकृत तत्प्रख्यन्याय से 'वैश्वदेव' शब्द को कर्मनामधेय मानते हैं[२]।।९२।।

---

१. तत्प्रख्यन्यायेन नामधेयं वैश्वदेवशब्दः (शास्त्रदीपिका पृ. ८०)

२. उत्पत्तिशिष्टदेवतावरोधसहकृततत्प्रख्यन्यायात् (भाट्टदीपिका पृ. १४७)

(९३) निषेधमीमांसा

पुरुषस्य निवर्तकं वाक्यं निषेधः। निषेधवाक्यानामनर्थहेतुक्रिया-निवृत्तिजनकत्वेनैवार्थवत्त्वात्। तथा हि-यथा विधिः प्रवर्तनाम्प्रतिपाद-यन्स्वप्रवर्तकत्वनिर्वाहार्थं विधेयस्य यागादेरिष्टसाधनत्वमाक्षिपन् पुरुषं तत्र प्रवर्तयति। तथा 'न कलञ्जं भक्षये'दित्यादिनिषेधोऽपि निवर्तनां प्रतिपादयन्स्वनिवर्तकत्वनिर्वाहार्थं निषेध्यस्य कलञ्जभक्षणस्य परानिष्ट-साधनत्वमाक्षिपन् पुरुषं ततो निवर्तयति ।।९३।।

तदेवं मत्वर्थलक्षणादिनिमितचतुष्टयनिरूपणेन नामधेयस्य विधेयार्थपरिच्छेदक-तयार्थवत्वं निरुपितमधुना निषेधवाक्यानामर्थवत्वनिरूपणाय निषेधवाक्यं लक्षयति। पुरुषनिर्वतकत्वमिति। न कलञ्जं भक्षयेदित्यादिनिषेधकवाक्यानामनर्थहेतुभूतायाः कलञ्जभक्षणादिक्रियायाः सकाशात्पुरुषस्य निवृत्तिजनकत्वैनैवार्थवत्वं न किं-चित्कर्तव्यता प्रतिपादकत्वेनेति भावः। यथा विधिवाक्यानां स्वप्रवर्तकत्वान्यथानुपपत्त्या

---

*अनुवाद– **पुरुषस्येति**। जो वाक्य मनुष्य को किसी क्रिया को करने से निवृत्त कराता है उसे 'निषेध' कहते हैं। अनर्थ जनक क्रियाओं से मनुष्य में निवर्तना उत्पन्न करना ही निषेध-वाक्यों का प्रयोजन है। यथा– विधिवाक्य प्रवर्तना को प्रतिपादित करता हुआ अपनी प्रवृत्तिजनकता को चरितार्थ करने के लिये विधीयमान यागादि में इष्ट-साधनता का निश्चय करता हुआ मनुष्य को उस याग में प्रवृत्त करता है, तथा– **'न कलञ्जं भक्षयेत्'** इत्यादि निषेधवाक्य भी निवृत्ति का प्रतिपादन करता हुआ अपने निवर्तकत्व का निर्वाह करने हेतु निषेध्यभूत कलञ्जभक्षण में अनिष्ट का निश्चय करता हुआ मनुष्य को उससे निवृत्त कराता है।।९३।।*

।। अर्थमीमांसा ।।

पूर्व में वेद के पांच विभागों– विधि, मंत्र, नामधेय, निषेध और अर्थवाद का उल्लेख किया गया है। उन पांच विभागों में से यहाँ तक तीन विभागों– विधि, मंत्र एवं नामधेय– का विवेचन पूर्ण हो चुका है। अधुना ग्रंथकार निषेध रूप वेदभाग के प्रतिपादन का प्रारम्भ कर रहे हैं। जिस प्रकार विधिवाक्य किसी पुरुष को किसी इष्ट क्रिया को करने के लिए प्रवृत्त करता है, उसी प्रकार निषेधात्मक वाक्य किसी पुरुष को अनिष्ट कार्य से निवृत्त करता है। व्यवहार में यह सदा देखा जाता है। इसीलिए निषेध का लक्षण इस प्रकार किया गया है– ['पुरुषस्य निवर्तकं वाक्यं निषेधः'।] वस्तुतः वेद के पांचों भागों में से प्रत्येक का कुछ प्रयोजन (अर्थवत्त्व) अवश्य ही है, क्योंकि वेदका कोई भी भाग निष्प्रयोजन, निरुपयोगी या निरर्थक नहीं हो सकता, अतः प्रत्येक भाग को किसी न किसी प्रकार का कुछ अर्थवत्त्व रहता ही है। प्रत्येक विभाग का अर्थवत्व इस प्रकार है–

विधेः– प्रयोजनवदर्थविधानेनार्थवत्त्वम्।

मंत्रस्य– प्रयोगसमवेतार्थस्मारकत्वेनार्थवत्त्वम्।

नामधेयस्य– विधेयार्थपरिच्छेदकतयार्थवत्त्वम्।

निषेधस्य– अनर्थहेतुक्रियानिवृत्तिजनकत्वेनार्थवत्त्वम्।

विधेयार्थस्य स्वर्गादिरूपेष्टसाधनत्वप्रत्यायनेन तत्र विधेयार्थे पुरुषप्रवृत्तिजनकत्वं तथा निषेधानामपि स्वनिवर्तकत्वान्यथानुपपत्त्या निषेध्यस्य पुरुषानिष्टसाधनत्वप्रत्यायनेन ततः कलञ्जभक्षणादेः पुरुषनिवृत्तिजनकत्वमिति दृष्टान्तदार्ष्टान्तिकाभ्यां निषेधवाक्यानामनर्थहेतुक्रियायाः पुरुषनिवृत्तिजनकत्वैनैवार्थवत्वमुपपादयति-तथाहीत्यादिना । ननु निषेधवाक्यानां निवर्तना प्रतिपादकत्वं संभवति न भक्षयेन्नहन्तव्य इत्येवमादावव्यवधानेन च नञर्थस्याभावस्य धात्वर्थेनान्वये सति धात्वर्थवर्जनकर्तव्यताया एव सर्वत्रवाक्यार्थत्वेन प्रतीयमानत्वात् ।।९३।।

अर्थवादस्य– विधेयार्थस्तावकतयार्थवत्त्वम् ।

प्रकृत प्रसंग में निषेध का अर्थवत्त्व (साफल्य) ग्रन्थकार ने अनर्थहेतुक्रियानिवृत्तिजनकत्वेन कहा है। **अनर्थ** का अर्थ है– कोई अनिष्टफल। इस अनिष्टफल को कारणभूत होनेवाली जो कोई क्रिया, उससे निवृत्त होने की बुद्धि निषेधात्मक वाक्य से उत्पन्न होती है। इसीलिए निषेध को सार्थकत्व प्राप्त हुआ है। इसे 'न कलजं भक्षयेत् न लशुनं न गृञ्जनम्'– इस निषेधात्मक वाक्य द्वारा स्पष्ट किया गया है। 'न कलञ्ज भक्षयेत्' का अर्थ है 'कलञ्ज का भक्षण नहीं करें'। 'कलञ्ज' शब्द का अर्थ निम्नांकित श्लोक से स्पष्ट होता है–

[विषसंपृक्तबाणेन हतौ यौ मृगपक्षिणौ ।
तयोर्मासं कलञ्जं स्याद्भुक्त्वा चान्द्रायणं चरेत् ।।]

उक्त श्लोक में विषदिग्ध बाण द्वारा मारे गये पशुपक्षियों का मांस (कलञ्ज) निषिद्ध होने का उल्लेख किया गया है। कुछ लोग 'कलञ्ज' का अर्थ 'मद्य' (Fermented food) भी करते हैं। उसी प्रकार **लहसून** और **गाजर** का भक्षण भी कलञ्जभक्षण की तरह निषिद्ध माना गया है। **'न कलञ्जं भक्षयेत्'**– वाक्य की अनर्थहेतुकियानिवृत्तिजनकता को स्पष्ट कर रहे हैं, यथा– कलञ्जभक्षण से उत्पन्न होनेवाला पाप अनर्थ होता है। उस अनर्थ की हेतुभूत कलञ्जभक्षण ही वह क्रिया है। अत: **कलञ्जभक्षण नहीं करें**,– इसप्रकार कलञ्जभक्षण करने की क्रिया से निवृत्ति करानेवाला 'निषेध' मन में उस क्रिया से निवृत्ति उत्पन्न करता है। जहाँ तक 'निषेध' के द्वारा कर्ता के मन में निवर्तना 'उत्पत्ति' का प्रश्न है तो विधि कर्ता के मन में जब किसी बात के लिए प्रवर्तना उत्पन्न करता है, तब मन में जिस प्रकार की प्रक्रिया होती है, उसी प्रकार की प्रक्रिया के द्वारा निषेध भी मन में किसी अनिष्ट क्रिया से निवर्तना उत्पन्न करता है। निषेध वाक्य विधिवाक्यों के ठीक विपरीत होते है। विधिवाक्य पुरुष को इष्ट फल की साधनभूत क्रियाओं के अनुष्ठान में प्रवृत्त कराते हैं, यथा– **'अग्निहोत्रं जुहुयात् स्वर्गकामः'** यह विधि स्वर्गफलक अग्निहोत्र याग का विधान करता हुआ पुरुष को उस याग के अनुष्ठान में प्रवृत्त कराता है। इसी प्रकार निषेध वाक्य अनिष्टफल की साधनभूत क्रियाओं से पुरुष को निवृत्त कराते हैं । यथा– **'न कलञ्जं भक्षयेत्'**– यह वाक्य पुरुष को कलञ्जभक्षणरूप क्रिया से निवृत्त कराता है। क्योंकि कलञ्जभक्षण क्रिया घोर अनिष्ट– नरक की जन्मदात्री है। यहां एक प्रश्न सहज ही उत्पन्न होता है कि जब विधि किसी नियोज्य इष्ट क्रिया के अनुष्ठान में प्रवृत्त कराता है तब विधि को किसी पुरुष के मन में कोई प्रवर्तना उत्पन्न करनी चाहिए, इसप्रकार की इच्छा प्रथमत: होती है– (प्रवर्तनां प्रतिपादयन्विधि:)। इसप्रकार किसी पुरुष के मन में प्रवर्तना उत्पन्न करने की इच्छा जब विधि को होती है, तब वह विधि प्रवर्तक होता है।

(९४) लिङ्र्थशब्दभावनाया नञर्थेनान्वयः

ननु निषेधवाक्यस्य कथं निवर्तना प्रतिपादकत्वमिति चेदुच्यते । न तावदत्र धात्वर्थस्य नञर्थेनान्वयः । अव्यवधानेऽपि तस्य प्रत्ययार्थभावनोपसर्जनत्वेनोपस्थितेः । नह्यन्योपसर्ज्जनत्वेनोपस्थितमन्यत्रान्वेति । अन्यथा राजपुरुषमानयेत्यादावपि राज्ञः क्रियान्वयापत्तेः । अतः प्रत्ययार्थस्यैव नञर्थेनान्वयः । तत्रापि नाख्यातत्वांशवाच्यार्थभावनायाः । तस्या लिङंशवाच्यप्रवर्तनोपसर्जनत्वेनोपस्थितेः । किन्तु लिङंशवाच्यशब्दभावनायाः। तस्याः सर्वापेक्षया प्रधानत्वात्।।९४।।

तथा च यथा यजेतेत्यादौ यागकर्तव्यता वाक्यार्थो भवति । तथा न कलञ्जं भक्षयेत् ब्राह्मणो न हन्तव्य इत्यादावपि तत्तद्धात्वर्थवर्जनकर्तव्यतैव वाक्यार्थो न निवर्तने-

---

परिणामत: उसमें प्रवर्तकत्व धर्म उत्पन्न होता है। और वह अपना प्रवर्तकत्व सफल करने के लिए (यजेत स्वर्गकाम:'– इत्यादि प्रकार का) 'अनुष्ठेय याग से स्वर्गादिक इष्ट फल प्राप्त होता है', यह सूचित करता है। और इस प्रकार विधि पुरुष को उस याग की ओर प्रवर्तित करता है। अर्थात् उपर्युक्त प्रकार के क्रमश: एक के पश्चात् एक सोपान से विधि पुरुष के मन में यागादिविषयक प्रवर्तना उत्पन्न करता है। उसी प्रकार की प्रक्रिया से निषेध भी पुरुष के मन में निवृत्ति की कल्पना उत्पन्न करता है। यथा– **'न कलञ्जं भक्षयेत्'** इस निषेधात्मवाक्य को सर्वप्रथम पुरुष के मन में निवर्तना उत्पन्न करने की (निर्वतनां प्रतिपादयन्) इच्छा होती है। अत: उस इच्छा के अनुसार निषेध में निवर्तकत्व धर्म सहज ही उत्पन्न होता है। पश्चात् निवर्तकत्व को उपपन्न और सफल करने के लिए वह निषेध, निषेधार्ह (निषेध्य) जो कलञ्जभक्षण है, उसे करने पर अत्यन्त अनिष्टकारक कोई परिणाम उत्पन्न होगा– सूचित करता है। [अनेक लोग 'परानिष्ट'– का अर्थ 'पारलौकिक नरकादिरूप अनिष्ट करते हैं] और उस प्रकार वह निषेध पुरुष को कलञ्जभक्षण से निवर्तित करता है। उपर्युक्त तुलनात्मक विवेचन से निषेध अपना निवर्तन का कार्य किस प्रक्रिया से घटित करता है, ध्यान में आ जाता है।।९३।।

अनुवाद– नन्विति । *यहाँ शंका होती है कि निषेधवाक्य निवर्तना का प्रतिपादन किस प्रकार करते हैं? तो यहाँ यह कहा जाता है कि 'न कलञ्जं भक्षयेत्' इत्यादि निषेध स्थलों में 'धात्वर्थ' का अन्वय 'नञर्थ' के साथ नहीं होता, (यद्यपि) धात्वर्थ अव्यवहितरूप से नञर्थ के समीप ही है (तथापि) धात्वर्थ की प्रत्ययार्थ भावना में उपस्थिति उपसर्जन अर्थात् विशेषण रूप से होती है। क्योंकि अन्य के प्रति उपसर्जन रूप में विद्यमान 'अर्थ' दूसरे के साथ अन्वित नहीं होता। अन्यथा 'राजपुरुषमानय' (राजपुरुष को ले आओ) ईत्यादि वाक्यों में 'आनयन' क्रिया के साथ 'राजा' का अन्वय होने लगेगा। अत: प्रत्ययार्थ भावना का ही 'नञर्थ' के साथ अन्वय होता है और वहाँ (प्रत्ययार्थ में) भी आख्यातार्थ आर्थीभावना का अन्वय नहीं होगा। क्योंकि आर्थीभावना तो 'लिङ्' अंश के वाच्य शाब्दीभावना के प्रति उपसर्जन रूप में अर्थात् गौण रूप में स्थित होती है। इस हेतु सर्वापेक्षया लिङंशवाच्य शाब्दीभावना का ही 'नञर्थ' से अन्वय होता है।।९४।।*

त्याशयेनाशङ्कते-नन्विति। नञर्थस्याभावस्य धात्वर्थेनाव्यवधानेनान्वयेऽपि धात्वर्थस्य प्रत्ययार्थभावनोपसर्ज्जनत्वेनोपस्थितत्वान्न नञर्थेनान्वयः सम्भवति। अन्यत्रोपसर्जन-त्वेनान्वितस्यान्यत्रोपसर्जनत्वेनान्वयायोगादिति परिहरति-उच्यत इत्यादिना। अत्रेति। न कलञ्जं भक्षयेदित्यादावित्यर्थः। अव्यवधानेऽपीत्यत्र धात्वर्थस्य नञर्थेनेत्यनुषङ्गः। तस्येति। धात्वर्थस्येत्यर्थः। अन्योपसर्ज्जनत्वेनोपस्थितस्याप्यन्यत्रोपसर्ज्जनत्वेनान्वये को दोष इत्यत आह-नहीति। तत्र बाधकं दोषमाह। अन्यथेति। अन्य विशेषणत्वे-नोपस्थितस्याप्यन्यत्र विशेषणत्वेनान्वयस्वीकारे पुरुषोपसर्जनत्वेनोपस्थितस्य राज्ञोऽपि क्रियोपसर्जनत्वेनान्वयापत्तेरित्यर्थः। धात्त्वर्थस्य नञर्थेनान्वयासम्भवात्कलञ्जादिपदार्थ-स्यापि कारकोपसर्जनत्वेनोपस्थितस्य तत्रान्वयासम्भवाच्च परिशेषात्प्रत्ययार्थस्यैव नञ-

।। अर्थमीमांसा ।।

इसके पूर्व यह प्रतिपादित किया जा चुका है कि विधिवाक्य के द्वारा जिस प्रकार प्रवर्तना उत्पन्न होती है, उसी प्रकार निषेधवाक्य के द्वारा निवर्तना उत्पन्न होती है। प्रकृत में पूर्वपक्षी यह कहता है कि, **'न भक्षयेत्'** इस प्रकार के जो निषेधात्मकवाक्य हैं, उनके **नञ्**, अर्थात् **नकार** का स्वाभाविक अर्थ सदा **'अभाव'** का वाचक होता है। अत: **'न भक्षयेत्'** के **'न'** का **'भक्षण'** के साथ **अन्वय** होने पर **भक्षण का अभाव**, अर्थात् भक्षण का वर्जन करना, यह अर्थ निष्पन्न होना चाहिये। तब भक्षण का वर्जन करना (भक्षणवर्जनकर्तव्यता) यह सीधा-सरल अर्थ प्राप्त होने पर, निषेधात्मकवाक्य से निवर्तना प्रतिपादित की जाती है, यह अर्थ कहाँ से प्राप्त होता हैं?

पूर्वपक्षी के द्वारा उपर्युक्त प्रकार की शंका उत्पन्न की जाने पर ['न तावदत्र-धात्वर्थस्य नञर्थेनान्वय:'] इत्यादि वाक्यों से उसकी शंका का समाधान ग्रंथकार प्रस्तुत करते हुए कहते हैं कि **'न भक्षयेत्'** इस विवादात्मक वाक्य को यदि ग्रहण करते हैं, तो, ज्ञात होता है कि इस वाक्य में प्रथमत: दो पद हैं (१) **'न'** और (२) **'भक्षयेत्'**। अब यदि केवल **'भक्षयेत्'** पद को देखते हैं तो ज्ञात होता है कि केवल **'भक्षयेत्'** पद में 'भक्ष' (इस) धातु के **धात्वर्थ**, **आख्यातत्व** और **लिङ्त्व** ये तीन अंश हैं। अब– 'भक्षयेत्' के पूर्व 'न' को और जोड देने पर **'न भक्षयेत्'** इस वाक्य में (१) **'नञ्'**, (२) **'भक्ष्'** का धात्वर्थ, (३) **'आख्यातत्व'** और (४) **लिङ्त्व'**– सब मिलकर चार अंश हो जाते हैं। अब प्रश्न यह उत्पन्न होता है कि (पूर्व के) **'भक्षयेत्'** वाक्य में जो तीन अंश हैं, उनमें से 'नञ्' (नकार) के साथ किसका सम्बन्ध (अन्वय) होता है? इस प्रश्न का उत्तर संभवत: कोई यह देगा कि (१) **'नञ्'** और **'भक्ष्'** के धात्वर्थ– इन दोनों में (न + भक्ष् + आख्यातत्व + लिङ्त्व यहाँ) कोई भी व्यवधान न होने से और वे दोनों एक दूसरे के अत्यन्त निकट (पास-पास) होने से (१) 'नञ्' (नकार) के साथ (२) 'भक्ष्' धातु के 'धात्वर्थ' (भक्षण) का अन्वय होना चाहिए। किन्तु यह उत्तर ठीक नहीं है। कारण यह है कि (३) आख्यातत्व और (४) लिङ्त्व ये दो जिस प्रत्यय के अंश हैं, उस प्रत्यय से जो आर्थीभावना उत्पन्न होती है, (३) उस आर्थीभावना से 'भक्ष्' धातु का धात्वर्थ (२) गौणत्वेन (उपसंर्जनत्वेन) सम्बद्ध है। क्योंकि, **'भक्षयेत्'** केवल इतने का

र्थेनान्वयो भवतीत्याह-अत इति। किञ्च प्रत्ययार्थोऽपि द्विविधो भवतीत्याख्यातत्वांशवाच्यार्थभावना लिङंशवाच्या शब्दभावना चेति। तयोर्मध्येऽपि नाख्यातत्वांशवाच्यभूताया अर्थभावनाया नञर्थेऽन्वयः सम्भवतीत्याह-तत्रापीति। तत्र हेतुमाह-तस्या इति। प्रवर्तनोपसर्जनत्वेनेति शब्दभावनाविशेषणत्वेनेत्यर्थः। लिङंशवाच्येत्यस्य लिङो योऽंशो लिङ्त्वरूपो धर्मस्तद्वाच्येत्यर्थो बोध्यः। एवमग्रेऽपि। ननु न कलञ्जं भक्षयेदित्यादौ कलञ्जादिपदार्थस्य धात्वर्थस्य च नञर्थेनान्वयो भवतैव निरस्तः। प्रत्ययार्थस्याप्यर्थभावनारूपस्य नञर्थेनान्वयानङ्गीकारे प्रत्ययार्थत्वाविशेषाच्छब्दभावनाया अपि तेनान्वयासम्भवेनानन्वितशब्दस्याप्रमाण्यापत्तिरित्याशङ्क्य परिहरति-किन्त्विति। तत्र हेतुमाह तस्या इति। प्रत्ययार्थत्वम्। न नञर्थेनान्वये प्रयोजकं किन्तु सर्वापेक्षया मुख्यत्वेनानुपस्थितत्वं तच्च शब्दभावनायां बाधितमिति भावः।।९४।।

ही यदि अर्थ करते हैं तो **'भक्षणेन इष्टं भावयेत्'** इस प्रकार अर्थ होगा। **भावयेत्'** प्रत्ययगम्य आर्थीभावना से प्राप्त अर्थ है। और **'भक्षणेन'** साधन 'भावयेत्' पर अवलंबित होने से **'भक्षण'** उस प्रत्ययार्थभावना का उपसर्जन (गुणभूत, गौण) हुआ है। अत: **'भक्षण'** धात्वर्थ यदि प्रत्ययार्थ भावना का उपसर्जनीभूत होकर उस भावना से संबद्ध होता है, तो धात्वर्थ का अर्थात् 'भक्षण' का पुन: 'नञ्' से अन्वित होना संभव नहीं है। कारण यह है कि, जो शब्द एक बार दूसरे शब्द का उपसर्जन (विशेषण) होने पर वह शब्द बाद में अपने प्रधान शब्द को छोड़कर तीसरे शब्द से अन्वित होने के लिए स्वतन्त्र नहीं रह सकता। यथा— **'राजपुरुषमानय'** (राजा के पुरुष को लाओ)। यहाँ 'राज्ञ: पुरुष: राजपुरुष:'– इस प्रकार षष्ठी तत्पुरुष समास में 'पुरुष' शब्द प्रधान है और 'राजन्' शब्द 'पुरुष' शब्द से **गौणत्व** से संबद्ध है, अर्थात् 'पुरुष' शब्द प्रधान है, तथा 'राजन्' (अर्थात् राज्ञ:) यह उसका उपसर्जन (विशेषण) है। उसी प्रकार उक्त मूल उदाहरण में 'प्रत्ययार्थभावना' प्रधान है, और 'भक्षण' उसका 'उपसर्जन' (विशेषण) है।

'राजपुरुषमानय' इस उदाहरण में 'राजन्' यह शब्द उपसर्जनत्वेन एकबार 'पुरुष' शब्द से संबद्ध (अन्वित) होने पर वही 'राजन्' शब्द पुन: 'आनय' से अन्वित नहीं हो सकता। क्योंकि 'राजन्' शब्द यदि 'आनय' क्रिया से (कर्मत्व से) 'अन्वित' होता है तो 'राजपुरुषमानय' वाक्य कहने पर राजपुरुष को (भी लाना चाहिए) और राजा को भी लाना चाहिए, ऐसी आपत्ति होने लगेगी। किन्तु 'राजपुरुषमानय' कहने पर राजा को न लाकर केवल राजपुरुष ही लाया जाता है। इससे यह सिद्ध होता है कि जो एकबार दूसरे से उपसर्जनत्व संबन्ध से उपस्थित होता है, उसका बाद में तीसरे से अन्वय नहीं हो सकता। [न ह्यन्योपसर्जनत्वेन उपस्थितं अन्यत्रान्वेति] अत: इस नियम के अनुसार **'न भक्षयेत्'** वाक्य का **'भक्षण'**– एक बार प्रत्ययार्थभावना से उपसर्जनत्वेन संबद्ध होने पर, उसी समय (नञ् और भक्षण इन दोनों में कोई व्यवधान न होने पर भी) वह (भक्षण) 'नञ्' से अन्वित नहीं हो सकेगा।

ऐसी स्थिति में प्रश्न यह उत्पन्न होता है कि जब **'भक्षण'** धात्वर्थ का 'नञ्' से अन्वय

(९५) नञ्स्वभावकथनम्

नञश्चैष स्वभावो यत्स्वसमभिव्याहृतपरार्थविरोधिबोधकत्वम् । यथा घटो नास्तीत्यादौ अस्तीति शब्दसमभिव्याहृतो नञ् घटसत्त्ववि-रोधिघटासत्त्वं गमयति तदिह लिङ्समभिव्याहृतो नञ् लिङर्थ-प्रवर्तनाविरोधिनीं निवर्तनामेव बोधयति । तदिह विधिवाक्यश्रवणेऽयं मां प्रवर्तयतीति प्रतीतेः । तस्मान्निषेधवाक्यस्थले निवर्तनैव वाक्या-र्थः ।।९५।।

एवं शब्दभावनारूपस्य प्रत्ययार्थस्य प्रवर्तनाविशेषस्य नञर्थेनान्वये सिद्धे नञः प्रत्ययार्थभूतप्रवर्तनाविरोधि निवर्तनाबोधकत्वप्रदर्शनाय प्रथमं तत्स्वभावं प्रदर्शयति । *नञश्चैषस्वभाव इति* । अत्र स्वसमभिव्याहृतपदार्थविरोधिबोधकत्वं स्वान्वितपदार्थविरो-

---

नहीं हो सकता तो उस **नञ्** से किसका अन्वय हो सकता है? इसका तात्पर्य यह है कि प्रधानभूत जो प्रत्ययार्थ है, उसका उस 'नञ्' से अन्वय हो सकता है। किन्तु उस प्रत्यय में भी (३) **आख्यातत्व** और (४) **लिङ्त्व** ये दो अंश विद्यमान है हीं, उनमें से 'आख्यातत्व'–(इस) अंश से आर्थीभावना व्यक्त की जाती है और 'लिङ्त्व' अंश से शाब्दीभावना (प्रवर्तना) व्यक्त की जाती है। इतना तो ज्ञात है ही, इसके अतिरिक्त यह भी ज्ञात है कि आर्थीभावना, शाब्दीभावना से साध्यत्वेन अन्वित होती है। अर्थात् इन दो भावनाओं में से शाब्दीभावना ही प्रधान है और आर्थीभावना उसकी उपसर्जन है।

उपर्युक्त नियमानुसार शाब्दीभावना से उपसर्जनत्वेन संबद्ध जो आर्थीभावना है, उसका भी 'नञ्' से अन्वय संभव नहीं। अत: 'भक्षण' और 'आर्थीभावना' ये दोनों ही उपसर्जन होने से 'नञ्' से अन्वित होने में अयोग्य हो जाने पर सभी में प्रधानभूत शेष रहनेवाली जो शाब्दीभावना अर्थात् प्रवर्तना है, केवल उसका ही 'नञ्' से अन्वय हो सकता है। तात्पर्य यह हुआ कि 'न भक्षयेत्' आदि वाक्यों में 'नञ्' का अन्वय धात्वर्थ के साथ नहीं, अपितु 'लिङर्थ' के साथ किया जाना चाहिए।।९४।।

अनुवाद– नञश्चैष इति । *'नञ्' का यह स्वभाव है कि वह अपने साथ उच्चरित पदार्थ के विरोधी अर्थ का बोध कराता है। यथा– 'घटो नास्ति' इस वाक्य में 'अस्ति' शब्द के साथ उच्चरित (समभिव्याहृत) 'नञ्' घट के अस्तित्व के विरोधी घटासत्त्व (घटाभाव) अर्थ का बोध कराता है, इसी प्रकार 'न कलञ्जं भक्षयेत्' इत्यादि स्थलों पर 'लिङ्' के साथ उच्चरित नञ् 'लिङ्' के अर्थ प्रवर्तना के विरोधी 'निर्वतना' का ही बोध कराता है। क्योंकि विधिवाक्य के सुनने पर 'यह मुझे प्रवृत्त करा रहा है' इत्याकारक प्रवर्तना की प्रतीति होती है उसी प्रकार निषेध वाक्य के सुनने के पश्चात् 'यह मुझे निवृत्त कर रहा है' इत्याकारक 'निवृत्ति के अनुकूल व्यापाररूप' निवर्तना की ही प्रतीति होती है। इस हेतु निषेधवाक्य स्थल में 'नञ्' का अर्थ 'निवर्तना' ही होता है।।९५।।*

धिबोधकत्वं बोध्यं तेन कलञ्जादिपदार्थानामपि विरोधिबोधकत्वं नञो दुर्वारं स्यात्तेषामप्येकत्र सहपाठरूपनञसमभिव्याहारस्य सत्वादिति निरस्तं तेषां नञन्वितपदार्थत्वाभावस्य दर्शितत्वेन नञस्तद्विरोधिबोधकत्वासम्भवात् । नञः स्वसमभिव्याहृतपदार्थविरोधिबोधकत्वं दृष्टान्तेन स्पष्टयति । यथेत्यादिना । घटसत्वे विरोधीति । नास्तीत्युक्ते कस्यासत्वमस्तीति । सत्त्वशब्दान्वयिना नञा अत्र बोध्यते इतिसत्त्वनिरूपकाकाङ्क्षायाः सत्त्वाद् घटनिरूपितसत्त्वविरोधीत्यर्थः । इदानीं नञस्वभावप्रदर्शनस्य फलं दर्शयति । तदिति । तन्नञित्यन्वयः । तत्पददर्शितस्वभावं नञित्यर्थः । इहेति । न कलञ्जं भक्षयेत् ब्राह्मणो न हन्तव्य इत्यादौ वाक्य इत्यर्थः । ननु लिङः प्रवर्तना प्रतिपादकत्वे सिद्धे तत्सम्बद्धनञस्तदर्थं प्रवर्तनाविरोधिनिवर्तनाप्रतिपादकत्वं सेत्स्यति तदेव कुत

।। अर्थमीमांसा ।।

इसके पूर्व **'न भक्षयेत्'** वाक्य को उदाहरण के रूप में ग्रहण कर **'नञ्'** का किस के साथ अन्वय होता है, और किसके साथ नहीं हो सकता, इसका निर्णय किया गया और उस निर्णयानुसार **लिङ्त्व अंश** से व्यक्त होने वाली जो शाब्दीभावना अर्थात् प्रवर्तना है, उस प्रवर्तना का 'नञ्' के साथ अन्वय हो सकता है, सिद्ध किया गया है। अब इस अन्वय के कारण अर्थात् 'नञ्' और 'प्रवर्तना' का अन्वय हो जाने से, ये दोनों ही एक दूसरे के पास आते है, और तदनुसार उनका समभिव्याहार (अन्योन्यसम्बन्ध, अन्वय) हो जाता है, अत: अब यह देखना है कि उस समभिव्याहार से कौनसा अर्थ उत्पन्न होता है? 'नञ्' का स्वभाव क्या है? उसका स्वाभाविक अर्थ क्या होता है? यह यहाँ प्रथमत: निरूपित किया जा रहा है।

'नञ्' का यह स्वभाव है कि वह जिसके साथ अन्वित होता है, या जिसके साथ समभिव्याहार से संबद्ध रहता है, उस पदार्थ के विरोधी अर्थ का बोध कराता है। यथा– **'घटो नास्ति**– (घट नहीं है) इत्यादि उदाहरण में **'अस्ति'** शब्द के साथ उच्चरित (समभिव्याहृत) न ('नञ्'), घट के अस्तित्व के विरोधी **घटाभाव** (घटासत्वम्) अर्थ का ज्ञान कराता है। इसके पूर्व उदाहृत उदाहरण **'न भक्षयेत्'** में 'नञ्' का किसके साथ अन्वय किया जाय? यह प्रश्न था। अत: उसका वहाँ निर्णय कर लेना आवश्यक था, परन्तु **'घटो नास्ति'** में वैसा प्रश्न नहीं है। इसलिए यहाँ 'न' और 'अस्ति' इन दोनों के समभिव्याहार से (एकत्र उच्चारण से, अव्यवधान से) इन दोनों का सम्बन्ध प्रस्थापित होता है। परन्तु 'न भक्षयेत्' में 'न' और 'भक्षण' इन दोनों में यद्यपि व्यवधान नहीं था, तथापि उस 'नञ्' का भक्षण के साथ समभिव्याहार नहीं हो सकता था। इसलिए वह 'प्रवर्तता' से होता है। परन्तु 'घटो नास्ति' के साथ वैसी स्थिति नहीं है। यहाँ **'न'** और **'अस्ति'** दोनों का समभिव्याहार है और उन दोनों का अन्वय भी उपपन्न हो रहा है। अत: 'घटो नास्ति' इत्यादि उदाहरण का 'नञ' स्वभावलक्षण **'स्वसमभिव्याहृतपदार्थविरोधिबोधकत्वम्'** के परिप्रेक्ष्य में विचार करने पर प्रतीत होता है कि- **'नास्ति'** में **'स्व'** अर्थात् 'न'। इस 'नञ्' से समभिव्याहृत पद है 'अस्ति'।

इत्याशङ्क्य तत्र हेतुमाह-विधीति । प्रतीतेरिति । प्रवर्तना प्रतीतेरित्यर्थः । यद्वा यजेत स्वर्गकाम इति विधिवाक्यश्रवणेऽयं मां प्रवर्तयतीति प्रवर्तनाप्रतीतिवन्न कलञ्जं भक्षयेदित्यादिनिषेधवाक्यश्रवणेऽप्ययं मां निवर्तयतीति निवर्तनाप्रतीतेरित्यध्याहारेण विधीत्यादिहेतुवाक्यं दृष्टान्तदार्ष्टान्तिकविधया योजनीयम् । एवं सिद्धं निवर्तनारूपं निषेधवाक्यार्थमुपसंहरति-तस्मादिति । न कलञ्जं भक्षयेदित्यत्र कलञ्जकर्मकभक्षणानुकूलपुरुषप्रवृतिजनकप्रवर्तनां प्रति लिङर्थप्रवर्तनाविरोधिनिवर्तनैव वाक्यार्थः । एवमन्यत्रापि निषेधवाक्येषु सर्वत्र निवर्तनया एव वाक्यार्थत्वे विधिनिषेधयोर्भिन्नार्थत्वमप्युपपन्नं भवति हननादिवर्जनकर्तव्यता वाक्यार्थत्वपक्षे तु कर्तव्यताया एवोभयत्र प्रतिपाद्यत्वात्तयोरेकार्थत्वं स्यात्तच्च न युक्तम् । यथाहुः । अन्तरं यादृशं लोके ब्रह्महत्याश्वमेधयोः । दृश्यते तादृगेवेह विधानप्रतिषेधयोरिति ।। तस्मान्निवर्तनैव प्रतिषेधेषु वाक्यार्थ इति सिद्धम् । यदि तु प्रत्ययार्थस्य नञर्थेनान्वये किञ्चिद्बाधकं वर्तते तदा तु धात्वर्थस्यैव नञर्थेनान्वयो भवतीत्याह यदात्वित्यादिना । तत्र बाधकं विभजते । तच्चेति । प्रत्ययार्थस्य नञर्थेनान्वये वर्तमानं चेत्यर्थः ।।९५।।

नञ्समभिव्याहृत अस्ति पद का अर्थ है 'सत्त्व' (अर्थात् घट का अस्तित्व)। 'नञ्' अपने स्वभावानुसार प्रकृत में सत्त्व विरोधि 'घटाभाव' रूप अर्थ को 'घटो नास्ति' इस वाक्य के द्वारा बोधित करता है। उसी प्रकार अब यदि हम **'स्वसमभिव्याहृतपदार्थविरोधिबोधकत्व' 'नञ्'** स्वभाव का लक्षण **'न कलञ्जं भक्षयेत्'** इत्यादि उदाहरण पर घटाते हैं तो **'निवर्तना'** रूप अर्थ ही हमें तत्रस्थ 'नञ्' से बोधित होता है। क्योंकि, इसके पूर्व निर्देशित किया जा चुका है, कि **'न भक्षयेत्'** का **'नञ्'** लिङंशवाच्य शाब्दीभावना से ही अन्वय द्वारा समभिव्याहृत हो सकता है। शाब्दीभावना का अर्थ 'प्रवर्तना' होता है। उस प्रवर्तना का विरोधी अर्थ है– 'निवर्तना'। अत: प्रवर्तना की जो विरोधी निवर्तना है, वही **'न भक्षयेत्'** के **'नञ्'** के द्वारा बोधित की जाती है।[१] लक्षण समन्वय का स्पष्टीकरण निम्नांकित आकृति से तत्काल ध्यान में आ जाता है–

स्व	+	**समभिव्याहृतपद**	+	**अर्थ**	+	**विरोधी**
न		अस्ति		सत्त्व (घटका)		असत्त्व
न		लिङंशवाच्यशब्दभावना,		प्रवर्तना		निवतंना

इस प्रकार यहाँ तक ['लिङर्थप्रवर्तनाविरोधिनी निवर्तनामेवबोधयति'] वाक्य का अर्थ स्पष्ट किया गया। यहाँ यह चिन्तनीय है कि इस वाक्य के प्रारम्भ में **'यथा घटो नास्ति'** इत्यादि शब्दों का उल्लेख है, और घट का उदाहरण समाप्त होने पर **'तदिह लिङ्समभिव्याहृतो नञ्'** इत्यादि वाक्य का आरम्भ होता है। अब प्रश्न यह है कि प्रथम दृष्टान्तवाक्य **'घटो नास्ति'**– इत्यादि के प्रारम्भ में जिस प्रकार **'यथा'** पद प्रयुक्त किया गया है, उसी प्रकार–

---

१. द्रष्टव्य– जै. सू. ६।२।५

दार्ष्टान्तिक वाक्य **'इह लिङ्समभिव्याहृतो नञ्'** आरम्भ में **'तथा'** पद का प्रयोग किया जाना चाहिए था, किन्तु उसके स्थान पर **'तत्'** पद का प्रयोग किया गया है। और उसे 'तथा' के अर्थ में ग्रहण किया गया है। किन्तु इस प्रकार का प्रयोग समीचीन नहीं है। क्योंकि **'तथा'** का अर्थ **'तत्'** द्वारा व्यक्त नहीं हो सकता। अत: 'तत्' से 'तथा' रूप अर्थ को ग्रहण न करके **कौमुदीकार** ने 'तत्' से [**'तन्नञित्यन्वयः'**, तत्प्रदर्शितस्वभावं नञित्यर्थ:'] अर्थ ग्रहण किया है। परन्तु यह अर्थ 'लिङ्समभिव्याहृतो नञ्' मूल वाक्य के पुल्लिंग लेख से साम्यता नहीं रखता, इसके अतिरिक्त **'यथा'** को **'तथा'** की जो आकांक्षा रहती है, वह भी इससे परिपूर्ण नहीं हो पाती। इस स्थान पर **न्यायप्रकाश** में प्रयुक्त वाक्यरचना इस प्रकार है– ['तदिह लिङर्थस्तावत्प्रवर्तना। अतस्तेन संबध्यमानो नञ् प्रवर्तनाप्रतिपक्षां निवर्तनां गमयति।'] इससे ऐसा प्रतीत होता है कि यहाँ का **'तदिह'**– यह पाठ संभवत: प्रमादवश 'अर्थसंग्रह' में आ गया है। परन्तु **श्रीकृष्णनाथ न्यायपञ्चानन** द्वारा सम्पादित अर्थसंग्रह के संस्करण में **'तद्वदिह'**– पाठ है और वह समीचीन भी है।

प्रकृत में एक अन्य पाठ का संशोधन भी आवश्यक– 'तदिह... इत्यादि'– के आगे ग्रन्थ के मूल पाठ में ['विधिवाक्यश्रवणेऽयं मां प्रवर्तयति इति प्रतीते:'] वाक्य उल्लिखित है। इस वाक्य में प्रयुक्त **'प्रतीतेः'** हेतु पद का प्रयोग **आपदेवी** की वाक्यरचना की अपेक्षा समीचीन प्रतीत नहीं होता। न्यायप्रकाश की वाक्य रचना इस प्रकार है– ['विधिवाक्यश्रवणेऽयं मां प्रवर्तयतीति प्रवर्तनाप्रतीतिवन्निषेधवाक्यश्रवणेऽयं मां निवर्तयति इति निवृत्त्यनुकूल-व्यापाररूपनिवर्तनाया: प्रतीते:'] आपदेवी के वाक्य की अर्थसंग्रह के मूल प्रस्तुत वाक्य रचना के साथ तुलना करके देखने पर विदित होता है कि संभवत:– ['प्रवर्तना प्रतीतिवत् निषेधवाक्यश्रवणेऽयं मां निवर्तयति इति निवृत्यनुकूलव्यापाररूपनिवर्तनाया:'] इतना मध्यवर्ती अंश प्रमादवश छूट (त्रुटित हो) गया है। अत: कौमुदीकार को भी प्रस्तुत स्थल पर टीका करते समय कुछ असुविधा का अनुभव हुआ है।[१]

इस प्रकार प्रस्तुतग्रंथ का मूलपाठ कुछ त्रुटित प्रतीत होता है। ऐसी स्थिति में टीकाकार ने आपदेवी के अनुरोध से जो अध्याहार यहाँ कल्पित किया है, उसका सारांश ग्रहण करने पर मूल-पाठ में संगति स्थिर करने पर अर्थ स्पष्ट हो जाता है। पूर्व में ['नञ् लिङर्थप्रवर्तनाविरोधिनीं निवर्तनामेव बोधयति।'] कहा गया है। यह 'नञ्' लिङर्थ प्रवर्तना के विरुद्ध रहनेवाली **निवर्तना को 'न कलञ्जं भक्षयेत्'**– इस वाक्य के द्वारा किस प्रकार बोधित करता है, यह टीकाकार के द्वारा 'यद्वा' इत्यादि वाक्य में एक प्रवर्तकविधिवाक्य का दृष्टान्त देकर निर्देशित किया गया है। **'यजेत स्वर्गकामः'** यह विधिवाक्य श्रवण करने पर– 'यह मुझे प्रवर्तित कर रहा है'– इस प्रकार का प्रवर्तना विषयक ज्ञान उत्पन्न होता है, उसी प्रकार– **'न कलञ्जं**

---

१. ['प्रतीतेरिति। प्रवर्तनाप्रतीतेरित्यर्थः यद्वा 'यजेत स्वर्गकाम:' इति विधिवाक्य श्रवणेऽयं मां प्रवर्तयति इति प्रवर्तनाप्रतीतिवत् न कलञ्जं भक्षयेत् इत्यादि-निषेधवाक्यश्रवणेऽप्ययं मां निवर्तयतीति निवर्तना प्रतीतेः इत्यध्याहारेण विधीत्यादि हेतुवाक्यं दृष्टान्तदार्ष्टान्तिक विधया योजनीयम्।'] (कौमुदी)

(९६) निषेधस्य द्विविधं बाधकम् ।

यदा तु प्रत्ययार्थस्य तत्र अन्वये बाधकं तदा धात्वर्थस्यैव तत्रान्वयः। तच्च बाधकं द्विविधम् । तस्य व्रतमित्युपक्रमो विकल्प प्रसक्तिश्च ।।९६।।

यदि तु प्रत्ययार्थस्य नयर्थेनान्वये किञ्चित्बाधकं वर्तते तदा तु धात्वर्थस्यैव नयर्थेनान्वयो भवतीत्याह-यदातु इत्यादिना। तत्र बाधकं विभजते तच्चेति। प्रत्ययार्थस्य नयर्थेनान्वये वर्तमानं चेत्यर्थः ।।९६।।

भक्षयेत्' इत्यादि निषेधवाक्य का श्रवण करने पर भी 'यह मुझे (कलञ्जभक्षण करने से) निवर्तित कर रहा है'– इसप्रकार का निवर्तना विषयक ज्ञान भी होता है। विधिवाक्य से जिसप्रकार प्रवर्तना का ज्ञान होता है, उसीप्रकार निषेधवाक्य से निवर्तना का ज्ञान होने के कारण निषेध वाक्य का निवर्तना ही वाक्यार्थ है। तात्पर्य यह है कि निषेध वाक्य 'निवर्तना' के प्रतिपादक होते हैं।।९५।।

अनुवाद– यदात्विति । *और जब प्रत्यय (लिङ्) के अर्थ का उस (नञ् के अर्थ) के साथ अन्वय में बाधक (उपस्थित) होता है तब 'धात्वर्थ' का लिङर्थ से अन्वय होता है। 'नञर्थ' अभाव के साथ प्रत्ययार्थ का अन्वय होने में दो बाधक हैं– (१) 'तस्य व्रतम्' (उसका व्रत) यह उपक्रम एवं (२) विकल्प प्रसक्ति।।९६।।*

।। अर्थमीमांसा ।।

पूर्व में 'न कलञ्जं भक्षयेत्' वाक्य के 'न भक्षयेत्' इन पदों को ग्रहण कर यह निरुपित किया गया था कि 'भक्षण' रूप धात्वर्थका, या आख्यातवाच्य आर्थीभावना– इन दोनों का ही 'नञ्' से अन्वय नहीं हो सकता, केवल लिङंशवाच्य जो प्रवर्तना है, उसका ही वाक्य के 'नञ्' से अन्वय हो सकता है, परिणामस्वरूप 'न कलञ्जं भक्षयेत्' का अन्त में निवर्तनारूप निषेधात्मक अर्थ होता है । परन्तु यह तो सामान्य नियम का निरुपण है। किन्तु इसके कुछ अपवाद हैं, उन अपवादों को प्रस्तुत प्रकरण में निरुपित किया जा रहा है। यह सामान्य नियम ठीक है कि प्रत्ययार्थ का, अर्थात् लिङंशवाच्य प्रवर्तना का 'नञ्' से अन्वय होना अवश्यक है, किन्तु इस नियम को जब कुछ बाधक कारण उपस्थित होते हैं, तब लिङंशवाच्य प्रवर्तना का अपने वाक्य के 'नञ्' से अन्वय नहीं हो सकता। प्रत्ययार्थ का 'नञ्' से अन्वय करने में यदि कोई बाधा उपस्थित हो तो इस स्थिति में धात्त्वर्थ का 'नञ्' से अन्वय करना चाहिए। प्रत्ययार्थ का 'नञ्' से अन्वय होने में बाधक कारण दो प्रकार के हैं– (१) **'तस्य व्रतम्'**– इत्यादि जो उपक्रम होता है, वह एक कारण है। और (२) **विकल्पप्रसक्ति–** दूसरा कारण। इन दो में से प्रथम कारण का निरुपण अग्रिम प्रकरण मे किया जा रहा है–।।९६।।

(९७) तस्य व्रतमित्युपक्रमः

तत्राद्यं 'नेक्षेतोद्यन्तमादित्य'मित्यादौ। तस्य व्रतमित्युपक्रम्यैतद्वाक्यपाठात्। तथा चात्र पर्युदासाश्रयणम्। तथाहि व्रतशब्दस्य कर्तव्यार्थे रूढत्वात्तस्य व्रतमित्यत्र स्नातकस्य व्रतानां कर्तव्यत्वेनोपक्रमात्। किन्तत्कर्तव्यमित्याकाङ्क्षायां 'नेक्षेतोद्यन्त'मित्यादिना कर्तव्यार्थ एव प्रतिपादनीयः। अन्यथा पूर्वोत्तरवाक्ययोरेकवाक्यत्वं न स्यात्। तथा च नञर्थेन न प्रत्ययार्थान्वयः। कर्तव्यार्थानवबोधात्। विध्यर्थप्रवर्तनाविरोधिनिवर्तनाया एव तादृशनञा बोधनात्। तस्याश्च कर्तव्यार्थत्वाभावात्। तस्मान्नेक्षेतेत्यत्र नञा धात्वर्थविरोध्यनीक्षणसङ्कल्प एव लक्षणया प्रतिपाद्यते। तस्य कर्तव्यत्वसम्भवात्।।९७।।

तत्राद्यमिति। तयोरुक्तयोर्द्वयोर्मध्य आद्यबाधकमित्यर्थः। तस्य व्रतमितीति। तस्य स्नातकस्य ब्रह्मचारिविशेषस्य व्रतं प्रजापतिदेवताकमात्मानीक्षणसङ्कल्पादिकं किञ्चिदनुष्ठेयमित्यर्थः। एतद्वाक्यपाठादिति। नेक्षेतोद्यन्तमादित्यं नास्तं यंतं कदा च नेत्येतद्वाक्यपाठादित्यर्थः। तथाचेति। तस्य व्रतमिति स्नातकस्यानुष्ठेयमुपक्रम्य

अनुवाद– तत्राद्यमिति। इन दोनों में प्रथम का उदाहरण है– 'नेक्षेतोद्यन्तमादित्यम्' (उदित होते सूर्य को न देखें)। 'तस्य व्रतम्' (स्नातकविशेष ब्रह्मचारी का व्रत) द्वारा प्रकरण प्रारम्भ करके 'नेक्षेत' इत्यादि पाठ है। अतः यहाँ 'पर्युदास' का आश्रय करना होगा। क्योंकि– 'व्रत' शब्द कर्तव्य अर्थ में रूढ है अतः 'तस्य व्रतम्' इस वाक्य में स्नातकों के व्रतों का 'कर्तव्य रूप' में विधान प्रारम्भ किया गया है। 'वह कौन सा कर्तव्य है' ऐसी आकांक्षा होने पर 'नेक्षेतोद्यन्तमादित्यम्' इस वाक्य के द्वारा कर्तव्यार्थ का ही प्रतिपादन होना चाहिये। अन्यथा 'तस्य व्रतम्' एवं 'नेक्षेतोद्यन्तम्' इन दोनों वाक्यों में एकवाक्यता नहीं होगी। कर्तव्यार्थ का बोध् न होने के कारण 'नञर्थ' से प्रत्ययार्थ का अन्वय नहीं होगा। विध्यर्थ प्रवर्तना के विरोधी निवर्तना का ही बोध इस तरह के 'नञर्थ' से होगा और निवर्तना का कर्तव्यरूप अर्थ नहीं होता। अतः 'नेक्षेत' इस स्थल पर 'नञ्' से धात्वर्थ विरोधी अनीक्षण संकल्प का ही 'लक्षणा' द्वारा प्रतिपादन होता है। क्योंकि अनीक्षण संकल्प कर्तव्य कोटि में आता है अर्थात् अनीक्षण संकल्प का तब कर्तव्य अर्थ संभव हो जाता है।।९७।।

।। अर्थमीमांसा ।।

'नञर्थ' का प्रत्ययार्थ के साथ अन्वय होने में प्रथम बाधक कारण **'तस्य व्रतमित्युपक्रमः'** है, जिसका उदाहरण **'नेक्षेतोद्यन्तमादित्यम् नास्तं यन्तं कदाचन। नोपसृष्टं न वारिस्थं न मध्यं नभसो गतम्।'**[1] इत्यादि प्रकार के वाक्यों में परिलक्षित होता है। क्योंकि, **'तस्य**

---

१. द्रष्टव्य– मनुस्मृति– ४।३७

नेक्षेतोद्यन्तमित्यादिवाक्यपाठे चास्मिन्वाक्ये पर्य्युदास एव समाश्रीयत इत्यर्थः । किञ्च नेक्षेतोद्यन्तमादित्यमित्यत्र नञ्पदमभिधावृत्त्या प्रतिषेधं ब्रूते नतु पर्य्युदासं लक्षणापत्तेः प्रतिषेधस्य च प्राप्तिपूर्वकत्वाद्वैदिकस्य प्रतिषेधस्य वैदिका एव प्राप्तिस्तु प्रत्यासन्ना भवेत् । तथा च सति यत्र क्रतावादित्येक्षणं विहितं तत्रायं प्रतिषेध उदयास्तमयोद्देशेन प्रवर्तते एवं च सति नात्र फलं कल्पनीयं स्यात् । पर्य्युदासमाश्रित्य पुरुषार्थ-त्वाङ्गीकारेत्वधिकारसिद्धये फलस्य कल्पनीयत्वमापद्येत तस्मादत्र क्रत्वर्थः प्रतिषेध इत्याशङ्क्य तस्य व्रतमित्युपक्रम्य नेक्षेतोद्यन्तमित्याद्याम्नातत्वात् व्रतशब्दस्य च कर्तव्यरूपार्थे रूढत्वादत्र किञ्चिदनुष्ठेयमेव प्रतिभाति । तच्च पर्य्युदासाश्रयणे सत्येवोपपद्यते । किञ्चोपक्रमवाक्ये प्रतिज्ञातस्यैवार्थस्यात्रापि वक्तव्यत्वात् । उपक्रम-वाक्ये तु स्नातकानुष्ठेयव्रतानामेव प्रतिज्ञातत्वात् । कानि तानि व्रतानीत्यपेक्षायां स्नातकव्रतप्रदर्शनायास्य वाक्यस्यावतारादत्र कर्तव्य एव कश्चिदर्थो वक्तव्यः । स च पर्य्युदासपक्षे लभ्यते निषेधपक्षे तु दुर्लभ एवेत्यभिप्रायेण पर्य्युदासपक्षमुपपादयति । तथाहीत्यादिना। नेक्षेतोद्यन्तमित्यादौ कर्तव्यरूपस्यार्थस्याप्रतिपादनीयत्वे बाधकमाह । अन्यथेति । पूर्वोत्तरेति । तस्य व्रतमिति । पूर्ववाक्यं । नेक्षेतोद्यन्तमित्याद्युत्तरवाक्यं च तयोरेकवाक्यत्वं बाध्येतेत्यर्थः । ननु नेक्षेतोद्यन्तमित्यादौ भवतु कर्तव्यरूपार्थस्यैव प्रतिपादनं ततोऽपि किं स्यादित्यत आह-तथाचेति । तथाच नेक्षेतोद्यन्तमित्यादौ

व्रतम्' (स्नातक विशेष ब्रह्मचारी का व्रत) द्वारा प्रकरण का आरम्भ करके **'नेक्षेतोद्यन्तमादित्यम्'** इत्यादि वाक्यों का पाठ उसके आगे उल्लिखित हुआ है। उससे ऐसा प्रतीत होता है कि **'तस्य व्रतम्'** ये शब्द स्नातक के धर्म-निरूपण करने के उपक्रमावसर पर प्रत्यक्षरूप से कहीं गृह्यसूत्र में या किसी स्मृतिग्रंथ मे प्रयुक्त हुए हैं, और तत्पश्चात् **'नेक्षेतोद्यन्तमादित्यम्'** इत्यादि स्नातक के धर्मों का निरूपण संभवतः आगे किया गया है। यद्यपि **'नेक्षेतोद्यन्तमादित्यम्'** इत्यादि श्लोक स्नातक के इतर धर्मों के साथ पठित है, तथापि मनुस्मृति में इस स्नातक धर्म का उपक्रम **'तस्य व्रतम्'** इन शब्दों में प्रत्यक्षरूप से परिलक्षित नहीं होता है। मनुस्मृति के चतुर्थ अध्याय में स्नातकधर्म के उपक्रम का जो एक श्लोक पठित है, वह इस प्रकार है–

अतोऽन्यतमया वृत्त्या जीवंस्तु स्नातको द्विजः ।
स्वर्गायुष्ययशस्यानि व्रतानीमानि धारयेत् ।। (१३)

अस्तु। इसके पूर्व निरूपित किया गया है कि– नकार से निषेध व्यक्त किया जाता है, और इसे 'न कलञ्जं भक्षयेत्' इस उदाहरण द्वारा निर्देशित किया गया है। अब दूसरे नञ्घटित वाक्य– **'नेक्षेतोद्यन्तमादित्यम्'**– को देखकर पूर्वपक्षी उक्त वाक्य के 'नञ्' का अर्थ 'न कलञ्जं भक्षयेत्'– इस निषेधात्मक वाक्यार्थ की तरह ही करने के लिए कहता है। किन्तु पूर्वपक्षी के उक्त कथन के उत्तर में सिद्धान्ती अपने सिद्धान्त को प्रस्थापित करते हुए **'नेक्षेतोद्यन्तमादित्यम्'** वाक्यगत 'नञ्' का अर्थ **'पर्युदास'** (अन्योन्याभाव, भेद, Exception, Proviso) की तरह करने के लिए कहता है। अपने कथन की पुष्टि में वह यहाँ प्रथमतः **'तथाचात्र पर्युदासाश्रयणम्'** वाक्य के द्वारा कहता है कि प्रकृत में 'नञ्' का अर्थ

कर्तव्यरूपार्थस्य प्रतिपादनीयत्वे च नञर्थेन प्रत्ययार्थान्वयावकाशो भवतीत्यर्थः। ननु नेक्षेतोद्यन्तमादित्यमित्यत्र नञर्थेन प्रत्ययार्थस्यान्वये को दोष इत्याशङ्क्य तत्र हेतुमाह-कर्तव्येति। नञर्थेन प्रत्ययार्थस्य तत्रान्वये ततः कर्तव्यार्थानवबोधापत्तेरित्यर्थः। ननु प्रत्ययान्वितस्य नञः कर्तव्यार्थावबोधकत्वानङ्गीकारे को वार्थस्तेनावबोध्यत इत्यत आह-विध्यर्थेति। तादृशनञेति। प्रत्ययान्वितेन नञेत्यर्थः। तादृशनिवर्तनैव कर्तव्यरूपार्थो भवतु को दोष इति मन्दाभिप्रायमाशङ्क्याह-तस्याश्चेति। निरूक्तनिवर्तनयाश्चेत्यर्थः। किञ्चैवं नञः प्रत्ययेनान्वयासम्भवे प्रत्ययादवतारितो नञ् धातुना सह सम्बध्यते धातुना नञः सम्बन्धे च न तस्य निषेधकत्वं संभवति विधायकसम्बद्धस्यैव नञो निषेधकत्वात्। निषेधकत्वस्य विधायकत्वप्रतिपक्षत्वात्। नामधातुभ्यां योगे तु नञो न निषेधकत्वं युक्तं तयोरविधायकत्वात्। यथाहुः 'नामधात्वर्थयोगे तु नैव नञ् प्रतिषेधकः। वदत्यब्राह्मणा-धर्मावन्यमात्रविरोधिनाविति'।। तस्मान्नेक्षेतेत्यत्र नञो धातुना योगान्नञा धात्वर्थेक्षणवि-रोधी कश्चनार्थः प्रतिपाद्यते। यद्यपि नञोऽभाव एव शक्तिः। तथा चेक्षणस्याभाव एव नञः शक्यार्थो लाघवात् नतु तद्विरोधी तस्मादभावघटितत्वेन गौरवापत्तेः। तदन्यतद्विरु-द्धतदभावेषु नञिति स्मरणं तु प्रतीत्यभिप्रायं न शक्त्यभिप्रायं तथापि नेक्षेतेत्यत्र प्रत्ययस्य

निषेध के रूप में ग्रहण न करके, उसके लिए 'पर्युदास' का ही आश्रयण करना आवश्यक है। अर्थात् यहाँ 'नञर्थ' में धात्वर्थ का ही अन्वय होगा, प्रत्ययार्थ का नहीं, क्योंकि यहाँ स्नातक-धर्म के निरूपण का प्रारम्भ **'तस्य व्रतम्'** इन शब्दों से किया गया है। इन में 'व्रत' शब्द का रूढार्थ किसी कर्तव्य को व्यक्त करता है अत: इससे कर्तव्य-बोध की प्रतीत होती है। और यही अर्थ उसका रूढ हो चुका है। अत: **'तस्यव्रतम्'** इस प्रकार के उपक्रम के साथ जब अनुष्ठेय कर्म का निरूपण किया जा रहा है, तब 'तस्यव्रतम्' के आगे के कर्म कर्तव्यस्वरूप के ही होने चाहिए (अर्थात् निषेध स्वरूप के नहीं) यह नितान्त स्पष्ट है। प्रकृत प्रसंग में भी कर्तव्यस्वरूप कर्मों के निरूपण का उपक्रम करने के साथ-साथ उसी प्रवाह में– **'नेक्षेतोद्यन्तमादित्यम्'** कहा गया है। अत: यह स्पष्ट है कि पूर्वोक्त सन्दर्भानुसार **'नेक्षेत'** का सम्बन्ध किसी कर्तव्यस्वरूप कर्म से होना चाहिए। अन्यथा, पूर्ववाक्य– **'तस्यव्रतम्'** और उत्तरवाक्य– **'नेक्षेतोद्यन्तमादित्यम्'**– में एकवाक्यता (एकतात्पर्यकत्व) प्रस्थापित नहीं हो सकेगी। क्योंकि, स्नातक के कर्तव्यों का निरूपण करने का उपक्रम यदि किया गया है, तो आगे 'नेक्षेत' इत्यादि से उनके कर्तव्यों का निरूपण ही किया जाना चाहिए, परन्तु **'नेक्षेत'** इत्यादि से कर्तव्यस्वरूप कर्मों का निरूपण न किया जाकर यदि दूसरे ही कुछ निषेधात्मक कर्म वर्णित किये गये हों तो **'तस्य व्रतम्'** इस पूर्व के वाक्य के द्वारा उत्पन्न की हुई आकांक्षा आगे के वाक्य में परिपूर्ण न होने से प्रथम वाक्य निराकांक्ष न होकर साकांक्ष ही रहता है, और उसकी आकांक्षा परिपूर्ण न हो सकने के कारण **'गौरश्वः पुरुषः'** इत्यादि शब्दों की तरह **'तस्य व्रतम्'** इन शब्दों को भी निरर्थकत्व और अप्रामाण्य प्राप्त होने लगता है। पुनश्च, पूर्वोत्तर वाक्यों में साकांक्षत्व का संबन्ध न रहने के कारण उन दोनों वाक्यों से एक वाक्यत्व की (एकतात्पर्य बोधन की) जो प्रतीति होनी चाहिए, वह भी नहीं हो सकेगी।

नञा सम्बन्धात् नञ्सम्बन्धशून्येन च तेन तावत्कश्चिदर्थो विधेयः स्वीकर्तव्यः । तत्र न तावद्धात्वर्थो विधातुं शक्यते । नञा तदभावबोधनात् नापि तदभावो विधातुं शक्यते अभावस्याविधेयत्वात् । तस्मात्पर्य्युदासाश्रयणेन धात्वर्थेक्षणविरोधी कश्चनात्र विधान-योग्योऽर्थो नञा लक्षणया प्रतिपाद्यते स च विधानयोग्यः पदार्थोऽनीक्षणसङ्कल्प एव तस्ये-क्षणविरोधित्वात्कर्तव्यत्वसम्भवाच्च स एव सङ्कल्पोऽत्रानुष्ठेयवृत्तत्वेन विधीयत इत्यभि-प्रायेण पर्य्युदासस्यावश्यकत्वात्प्रत्ययादवतारितस्य नञो धातुसम्बन्धेन तदर्थाविरोध्यनी-क्षणसङ्कल्पप्रतिपादकत्वमुपसंहरति-तस्मादिति । लक्षणयेति । स्वसमभिव्याहृतपदा-र्थाभाव एव नञः स्वशक्यार्थो भवति तथा च स्वसम्बन्ध्यमानधात्वर्थाभावं शक्त्या प्रति-पादयन् नञ् तदभावसम्बन्धिनं तदर्थविरोधिनं लक्षणया प्रतिपादयत्येव तदभावतद्वि-रोधिनोः सम्बन्धस्य सम्भवात् दृश्यते हि तेजो भावतमसोः सम्बन्धः तथा चोद्यन्तमस्तं धन्तं चादित्यं नेक्षिष्य इत्येवं रूपः सङ्कल्पोऽत्रानुष्ठेयत्वेन विधीयमानो नञा लक्षणया प्रतिपाद्यत इति भावः । तस्येति । अनीक्षणसङ्कल्पस्येत्यर्थः ।।९७।।

अतः पूर्वोत्तर वाक्यों में एकवाक्यता उत्पन्न होने के लिए और **'नेक्षेत'** का कर्तव्यपरक (कर्तव्यबोधक) अर्थ प्रतिपादित करने के लिए **'नेक्षेतोद्यन्तमादित्यम्'** इस वाक्य में **'न कलञ्जं भक्षयेत्'** की तरह प्रत्ययार्थ का 'नञर्थ' से अन्वय करना ठीक नहीं होगा, क्योंकि, प्रत्ययार्थ अर्थात् लिङंशवाच्यप्रवर्तना का यदि 'नञ्' से अन्वय किया तो, अपेक्षित कर्तव्यपरक अर्थ उत्पन्न नहीं हो सकेगा, परिणामतः कर्तव्यत्व का बोध भी नहीं होगा, क्योंकि, लिङंशवाच्य प्रवर्तना का 'नञ्' से अन्वय करने पर प्रवर्तना की विरुद्ध जो निवर्तना है उसका ही बोध होने लगेगा। निवर्तना का तात्पर्य अर्थात् कर्तव्यार्थ का अभाव ही उसके द्वारा बोधित किया जाता है किन्तु यहाँ तो कर्तव्यपरक अर्थ ही अपेक्षित है। अतः यहाँ **'नेक्षेत'** का धात्वर्थ **'ईक्षण'** का ही 'नञ्' से अन्वय करना आवश्यक है।

एवञ्च ईक्षण का 'नञ्' से अन्वय करने पर 'नञ्' के स्वभावानुसार उसका अर्थ ईक्षण के विरुद्ध अर्थात् ईक्षण का अभाव होगा। **'नेक्षेत'** का मुख्यार्थ है, **ईक्षणाभाव**, यह तो ठीक है, किन्तु यहाँ तो कर्तव्यबोधक अर्थ अपेक्षित है, और यह मुख्यार्थ से नहीं प्राप्त हो सकता। ऐसी स्थिति में **'ईक्षणाभाव'** रूप जो मुख्यार्थ है, वह बाधित होने से यहाँ लक्षणा करना आवश्यक है। अब प्रश्न यह है कि यह लक्षणा किस अर्थ पर की जाय? **'मुख्यार्थ बाधे तद्योगे'** इत्यादि वचनानुसार मुख्यार्थ से संबद्ध अन्य किसी दूसरे अर्थ पर यह लक्षणा की जानी चाहिए। **'ईक्षणाभाव'** रूप मुख्यार्थ से संबद्ध अर्थ 'अनीक्षणसंकल्प'– है जो ईक्षणाभाव से संबद्ध है। और यह अर्थ निषेधात्मक (Negative) स्वरूप का नहीं है अपितु यह अर्थ विधायक (Positive) स्वरूप का है, जो करने लायक कर्तव्य-कर्म का द्योतक है। और इसी प्रकार की कर्तव्यपरक बात **'तस्यव्रतम्'** इस उपक्रम को अनुलक्षित कर यहाँ अपेक्षित थी। और वह इस लक्षणा से प्राप्त है। अतः यहाँ **'नेक्षेत'** का 'अनीक्षणसंकल्प' रूप अर्थ ही ग्रहण करना चाहिए। यद्यपि लक्षणा दोष है, तथापि उस दोष को स्वीकार करने पर ही **'तस्यव्रतम्'** और **'नेक्षेत'** इन दो पूर्वोत्तरवाक्यों में एकवाक्यता प्रस्थापित हो सकती है,

(९८) पर्युदासपक्षे नेक्षतेत्यस्य वाक्यार्थः

आदित्यविषयकानीक्षणसङ्कल्पेन भावयेदिति वाक्यार्थः। तत्र भाव्याकाङ्क्षायाम् 'एतावता हैनसा वियुक्तो भवती'ति वाक्यशेषावगतः पापक्षयो भाव्यतयाऽन्वेति। एवं च पूर्वोत्तरयोरेकवाक्यत्वं निर्वहत्येव। न चात्र धात्वर्थविरोधिनः पदार्थान्तरस्यापि सम्भवात्कथमनीक्षणसङ्कल्पस्यैव भावनान्वय इति वाच्यम्। तस्य कर्तव्यताऽभावेन प्रकृते भावनान्वयायोग्यत्वात्।।९८।।

पर्य्युदासपक्षे नेक्षेतोद्यन्तमादित्यमित्यस्य वाक्यस्यार्थं प्रदर्शयति-आदित्येति। यत्तु पर्य्युदासपक्षे फलस्यात्र कल्पनीयत्वमापादितं तदपि न वाक्यशेषावगतस्य पापक्षयस्यै-

---

अन्यथा नहीं। इसलिए लक्षणा का दोष स्वीकार करके ही **'नेक्षेत'** का कर्तव्यबोधक अर्थ प्राप्त करने के लिए यहाँ 'पर्युदासपक्ष' का आश्रयण करना आवश्यक है।

सारांश यह है कि, **'नेक्षेतोद्यन्तमादित्यम्'**– में निषेध (Negative) और **'पर्युदास'**– **(Exception)**– ये 'नञ्' के दोनों ही अर्थ, उसे प्राप्त हुए से परिलक्षित हो रहे थे। और इसीलिए पूर्वपक्षी निषेधात्मक अर्थ को ग्रहण करने के लिए कह रहा था, परन्तु उसका यह कथन निरस्त किया गया है और **'तस्यव्रतम्'**– इस बाधक वाक्य के प्रकरण में **'पर्युदास'** ही माना जाना चाहिए– इस तथ्य को सिद्धान्ती ने उपर्युक्त विवेचन के आधार पर प्रस्थापित किया है। प्रकृत में ध्यातव्य है कि जहाँ प्रत्ययार्थ 'नञ्' से अन्वित होता है, वहाँ 'निषेध' मानना चाहिए और जहाँ धात्वर्थ का 'नञ्' से अन्वय होता है, वहाँ 'पर्युदास' का स्थान होता है। इसी बात को निम्नांकित वार्तिक में संक्षेप में किन्तु स्पष्टरूप से निरूपित किया गया है–

[पर्युदासः स विज्ञेयो यत्र पूर्वपदेन नञ्।
प्रतिषेधः स विज्ञेयो यत्रोत्तरपदेन नञ्।।]।।९७।।

अनुवाद– आदित्येति। *तब 'नेक्षेतोद्यन्तमादित्यम्' (उदित होते हुए सूर्य को न देखे) वाक्य का अर्थ 'सूर्य को न देखने के संकल्प के द्वारा भावना करे' होगा। यहाँ भाव्य (फल) की आकांक्षा होने पर 'एतावता हैनसा वियुक्तो भवति' (इतने से व्यक्ति पाप मुक्त हो जाता है) इस वाक्यशेष से ज्ञात 'पापक्षय' भाव्य (फल) अर्थात् साध्य रूप से अन्वित होगा। इस प्रकार पूर्व एवं उत्तर वाक्यों में एकवाक्यता का निर्वाह हो जाता है। यहाँ यह भी कथन ठीक नहीं है कि 'धात्वर्थ' का विरोधी कोई और पदार्थ हो सकता है, तब अनीक्षण संकल्प को ही भावना से अन्वित होने योग्य क्यों माना जाय? क्योंकि धात्वर्थ का विरोधी किसी अन्य पदार्थ में कर्तव्य रूप से सम्बन्ध नहीं हो सकता। अत: भावना से उसका अन्वय योग्यताभाव के कारण नहीं होगा।।९८।।*

।। अर्थमीमांसा ।।

इसके पूर्व **'नेक्षेत'** के मुख्यार्थ **'ईक्षणाभाव'** का पर्युदासपक्ष में लक्षणा के द्वारा

वात्र फलत्वसम्भवादित्याशयेनात्र भाव्यान्वयं प्रदर्शयति-तत्रेति। अनीक्षणसङ्कल्पभावनायामित्यर्थः। हैनसा वियुक्तो भवतीति पापेन विरहितो भवतीत्यर्थः। किञ्च नेक्षेतोद्यन्तमादित्यमित्यत्रानीक्षणसङ्कल्परूपस्यानुष्ठेयस्य प्रतिपादने तस्य व्रतमिति स्नातकव्रतोपक्रमवाक्यस्य नेक्षेतेत्यादुद्यत्तरवाक्येनैकवाक्यत्वमुपपन्नं भवति। पूर्वप्रतिज्ञातस्यैवोत्तरप्रतिपादनादित्याह। एवमिति। ननु धात्वर्थेक्षणविरोधिनो बहवः पदार्था अनुष्ठेयाः सन्ति ततश्च कथमत्र वाक्येऽनीक्षणसङ्कल्पस्यैव भावनायां करणत्वेनान्वयः स्वीक्रियत इत्याशङ्क्य परिहरति-नचेत्यादिना। यद्यपि पदार्थान्तराणां पटेन चक्षुषोऽपिधानादिरूपाणां धात्वर्थेक्षणविरोधित्वं सम्भवति। तथापि

'अनीक्षणसंकल्प' रूप अर्थ को ग्रहण किया जाना चाहिए, कहा गया है। तत्पश्चात् अधुना **'नेक्षेतोद्यन्तमादित्यम्'** वाक्य के समग्र शब्दों को मिलाकर वाक्यार्थ किस प्रकार किया जाना चाहिए, यह प्रस्तुत प्रकरण मे निर्देशित किया जा रहा है। जिस प्रकार **'यजेत'** का अर्थ **'यागेन भावयेत्'** किया जाता है, उसी प्रकार 'ईक्षेत' का अर्थ **'ईक्षणेन भावयेत्'** प्रथमतः प्रतीत होता है। किन्तु ईक्षण का यहाँ 'नञ्' से अन्वय होने पर **'न + ईक्षण'** का अर्थ लक्षणा से **'अनीक्षणसंकल्प'** ही ग्रहण करना चाहिए यह पूर्व में निश्चित हो चुका है। अतः **'न + ईक्षेत'** का स्वभावतः ही अर्थ 'अनीक्षणसंकल्पेन भावयेत्' होता है। और संपूर्ण वाक्यार्थ **'आदित्यविषयकानीक्षणसंकल्पेन भावयेत्'** होता है, और वही प्रस्तुत प्रकरण के आरम्भ में उल्लिखित किया गया है। यद्यपि उक्त अर्थ यहाँ निरूपित किया गया है, फिर भी वह अपूर्ण ही है। क्योंकि, **'आदित्यविषयकानीक्षणसंकल्पेन'** इन शब्दों से साधनाकांक्षा यद्यपि निवृत्त हो जाती है, तथापि **'तादृशसंकल्पेन किं भावयेत्'** रूप साध्याकांक्षा रहती ही है, और उसके निवृत्त हुए विना वाक्यार्थ परिपूर्ण नहीं हो सकता। इसलिए साध्याकांक्षा (भाव्याकांक्षा) को परितृप्त करने के लिए **'एतावता ह एनसा वियुक्तो भवति'** (इस पाप से वह मुक्त होता है।) वाक्य में प्रयुक्त 'पापक्षय' का उक्त वाक्य में साध्यत्वेन अन्वय होता है।[१] वस्तुतः 'तस्यव्रतम्'– इत्यादि उपक्रम से स्नातकधर्म का जो प्रकरण प्रारम्भ किया गया है,

---

१. [परन्तु यहाँ एक अनुपपत्ति परिलक्षित होती है, कि– **'एतावता ह एनसा वियुक्तो भवति'**– यह वाक्य स्वरूपतः वैदिक वाक्य प्रतीत होता है। इतना तो निश्चित है कि वह स्मृतिग्रन्थोक्त 'नेक्षेत' की तरह श्लोक का चरण नहीं है। और **'नेक्षेतोद्यन्तमादित्यम्'**– यह जो वाक्य यहाँ प्रस्तुत किया यगा है, वह तो स्मृति प्रोक्त ही है। किन्तु जिस स्मृति में 'नेक्षेते' इत्यादि वाक्य प्राप्त होता है उस स्मृति में स्नातकधर्म प्रकरण के उपक्रम में **'तस्य व्रतम्'** यह वाक्य देखने को नहीं मिलता या उपसंहार में **'एतावता ह एनसा वियुक्तो भवति'**– यह वाक्य भी उपलब्ध नहीं होता। **मनुस्मृति** में उपसंहारात्मक जो श्लोक है, वह इस प्रकार है :– ['अनेन विप्रो वृत्तेन वर्तयन् वेदशास्त्रवित्। व्यपेतकल्मषो नित्यं ब्रह्मलोके महीयते ॥']
उक्त प्रकार की उपक्रमोपसंहार की स्थिति के रहते **'नेक्षेत'** इत्यादि वाक्य का अर्थ करते समय **'एतावता'**– इत्यादि वाक्यशेष से 'पापक्षय' (पाप से मुक्ति) यह उस वाक्य का साध्य है (यह) मानना– किस प्रकार उपपन्न होगा? या संभवतः वह प्रकरण ही अलग से होगा जिसमें उक्त तीनों वाक्य एकत्र निरूपित किये गये हों]

कायिकवाचिकव्यापारविशेषाणामत्राप्रतीयमानत्वान्मानसव्यापारस्य चाप्रतिषेधात्सङ्कल्प एव मानसव्यापारविशेषोऽत्र परिशिष्यत इत्यभिप्रेत्य तत्र हेतुमाह-तस्येति। पटादिना चक्षुषोः पिधानादिरूपस्य पदार्थान्तरस्य कर्तव्यताभावेन कर्तव्यत्वेन विवक्षासम्भवेन सर्वक्रियां विनाभूतस्यैव धात्वर्थेक्षणविरोधिपदार्थान्तरस्य नेक्षेतेत्यादौ प्रकृते भावनान्वययोग्यत्वमुपपद्यते तथा च धात्वर्थेक्षणविरोध्यनीक्षणसङ्कल्पस्यैवात्र भावनान्वययोग्यता सम्भवति। तस्य सर्वक्रियाऽविनाभूतत्वान्नतु तादृशपदार्थन्तरस्य तस्य सर्वक्रियाऽविनाभूतत्वासम्भवादिति भावः ।।९८।।

उसमें 'नेक्षेतोद्यन्तमादित्यम्' इत्यादि व्रतों का निरूपण करने के पश्चात् उस प्रकरण के वाक्यान्त शेष में उक्त पापक्षयविषयक वाक्य निरूपित है। इस प्रकार का उल्लेख यहाँ मूलग्रंथ में किया गया है।

[एवं च पूर्वोत्तरयोरेकवाक्यत्वं निर्वहत्येव] एवञ्च **'नेक्षेत'** इत्यादि वाक्य का उपर्युक्तानुसार– **'आदित्यविषयकानीक्षणसंकल्पेन पापक्षयं भावयेत्'** (अर्थात् आदित्यानीक्षणसंकल्परूप भावना से स्नातक पापमुक्त हो जाता है।) यह अर्थ करने पर, **'तस्य व्रतम्'** इस पूर्ववाक्य को अपेक्षित कर्तव्य की आकांक्षा और **'नेक्षेत'** इस उत्तरवाक्यके द्वारा उस आकांक्षा की हुई परिपूर्णता से उन दो वाक्यों में एकवाक्यता की (एकतात्पर्यकत्व का) सुसंगति उत्पन्न होने में कोई बाधा शेष नहीं रहती।

पूर्वपक्षी प्रकृत में एक और शंका ['अत्र धात्वर्थविरोधिनः पदार्थान्तरस्यापि संभवात्कथमनीक्षणसंकल्पस्यैव भावनान्वयः'] के द्वारा उत्थापित करता है। वह कहता है कि– पर्युदासपक्ष का आश्रयण ग्रहण करके आपने **'नेक्षेत'** में **'ईक्षण'** रूप धात्वर्थ का 'नञ्' से अन्वय किया है, और तदनुसार **'ईक्षणविरोधी'** अर्थ प्राप्त हुआ है, यह ठीक है। उसी प्रकार ईक्षणविरोधी– ईक्षणाभाव अर्थ ग्रहण करने पर वह कर्तव्यस्वरूप नहीं हो पाता, इसलिए आपने उस मुख्यार्थ का बाध करके उसके स्थान पर लक्षणा से ईक्षणविरोधी अन्य कोई पदार्थ ग्रहण करने का निश्चय किया, यह भी ठीक है, किन्तु वह ईक्षणविरोधी पदार्थ ग्रहण करते समय आपने 'अनीक्षणसंकल्प' रूप पदार्थ ही क्यों ग्रहण किया? क्या अनीक्षणसंकल्प ही ईक्षण का विरोधी एक मात्र पदार्थ है? ईक्षणविरोधी अन्य दूसरे पदार्थ सम्भावित होने पर भी उन समस्त पदार्थों का त्याग करके केवल 'अनीक्षणसंकल्प' पदार्थ को ही क्यों ग्रहण किया? और उसी अनीक्षणसंकल्प पदार्थ को इष्ट मानकर **'आदित्यविषयकानीक्षणसंकल्पेन पापक्षयं भावयेत्'**– वाक्य के **'भावयेत्'** से उसी का आपने साधनत्वेन अन्वय क्यों किया?

पूर्वपक्ष का यह कथन कि– ईक्षण ('धात्वर्थ') विरोधी कर्तव्य पदार्थ संसार में अनेक है, यह सत्यांश से रहित नहीं है। यथा– यदि कोई पुरुष अपने नेत्रों को वस्त्र से बन्द कर लेता है तो यह भी ईक्षणविरोधी ही होगा, इसमें कोई सन्देह नहीं है। और इसी प्रकार की अनेक ईक्षणविरोधी क्रियाओं को दिखाया जा सकता है। किन्तु वे सभी अनुष्ठित हों, ऐसी यहाँ विवक्षा नहीं है। और उन सभी को एक पुरुष कर भी नहीं सकता। अतः धात्वर्थ (ईक्षण)

विरोधी अन्य बातें होने पर भी कर्तव्यरूप में **'अनीक्षणसंकल्प'** को ही ग्रहण करने का कारण यह है कि **'नेक्षेत'**– इत्यादि वाक्य का अभिप्राय कपड़े से नेत्रों को बन्द करने का नहीं है। यथा– **'अब्राह्मणमानय'** ऐसा कहा जाने पर यदि कोई पुरुष किसी लोष्ठ को लाकर देता है तो उसने आदेशानुसार कार्य किया, ऐसा कोई भी नहीं कहेगा। अत: ['नामधात्वर्थयोगी तु नैव नञ् प्रतिषेधक:। वदत्य ब्राह्मणाधर्मावन्यमात्रविरोधिनौ।'] इस वार्तिक में निरूपितानुसार 'अब्राह्मणसदृश, क्षत्रियादिक, यही अर्थ ग्राह्य है। [अब्राह्मणमानयेत्युक्ते ब्राह्मणसदृश एवानीयते। नासौ लोष्टमानीय कृती भवति।– महाभाष्य] तदनुसार देखने पर **'तस्य व्रतम्'** से उपक्रम करके आगे स्नातकों के व्रतों का **'नेक्षेत'**– इत्यादि वाक्यों से उल्लेख किया गया है। इस प्रकार के प्रासंगिक **'नेक्षेत'**– इत्यादि वाक्यों में कपडे से नेत्रों को बन्द करने जैसे कायिक या वाचिक कोई भी कृत्य व्रतत्वेन अभिप्रेत नहीं हो सकते। क्योंकि कपडे आदि से नेत्र बंद करना शारीरिक क्रियामात्र है, जबकि **'तस्य व्रतम्'** द्वारा ऐसे कर्तव्यों का बोध होता है जो मानस धर्म हों। अर्थात् **'नेक्षेत'** इस वाक्य का किसी मानसव्यापारविषयक प्रेतिषेधात्मक संकेत नहीं है। और इसीलिए ईक्षणविरोधी अनीक्षणसंकल्प का यहाँ लक्षणा से ग्रहण किया गया है।[१] और कपडे से नेत्र बन्द करने जैसे ईक्षणविरोधी कृत्यों की 'नेक्षेत' इत्यादि श्लोक में किंचित् भी विवक्षा न होने से कपडे से नेत्र बन्द करके 'पापक्षयं भावयेत्' इस प्रकार यदि कोई प्रस्तुत भावना में अन्वय करता है, तो वह नितान्त अयोग्य होगा। अनेक मानस व्यापारों में से **'अनीक्षणसंकल्प'** का ही अन्वय 'भावयेत्' के साथ अर्थात् भावना में अन्वय क्यों करना चाहिए? ऐसी शंका कोई उत्थापित करता है तो जहाँ किसी कर्तव्यस्वरूप पदार्थ का अन्वय होना आवश्यक है, वहाँ समस्त कर्तव्यस्वरूप पदार्थों के मूल में स्थित संकल्प ही अन्वित होने के लिए सुतराम् योग्य है। क्योंकि, **'संकल्पः कर्म मानसम्'** वचनोक्तानुसार संकल्प भी (मानसिक रहने पर भी) एक कर्तव्यस्वरूप कर्म ही है। **'अनीक्षणसंकल्प'** का अर्थ है **'अहं न ईक्षे इति संकल्पः'** और अन्य व्रतों के सम्बन्ध में भी यही अर्थ निरूपित किया जाना चाहिए। **आश्वलायन गृह्यसूत्र** की **नारायणीय** वृत्ति में **'न नक्तं स्नायात्'** इत्यादि एक व्रत का उदाहरण प्रस्तुत कर– **'नक्तं न स्नायाम् इत्येवं संकल्पयेत् इत्येवमर्थम्**[२] इस प्रकार की वृत्ति उल्लिखित है। अत: प्रकृत स्थल पर भी 'अनीक्षणसंकल्प' अर्थ ही ग्रहण करना योग्य है। इसके अतिरिक्त पापक्षय जैसे साध्य को यदि प्राप्त करना है (साधना है) तो उसके लिए कपडे से नेत्र बन्द करने जैसा साधन तो नितान्त अयोग्य ही है। पापक्षय जैसे फल की प्राप्ति के लिए किसी मानसिकसंकल्प की ही आवश्यकता है और वह तदनुरूप होना ही सयुक्तिक है। सिद्धान्ती के कहने का तात्पर्य यह है कि– यद्यपि **'पटादिना चक्षुषः पिधानम्'**– धात्वर्थ विरोधी एवं कर्त्तव्यार्थ है, परन्तु इस व्याख्या को हम इस कारण से स्वीकार नहीं कर सकते, क्योंकि उपक्रम प्रकरण में पठित **'तस्य व्रतम्'** में **'व्रत'** पद को

---

१. तथापि कायिकवाचिक..................परिशिष्यत इति। (कौमुदी)

२. ३।९।५

३. ४।१३

(९९) विकल्पप्रसक्तौ पर्युदासाश्रयणम्

द्वितीयं 'यजतिषु ये यजामहं करोति नानुयाजे'ष्वित्यादौ। अत्र विकल्पप्रसक्तौ च पर्य्युदासाश्रयणात्। तथाहि यद्यत्र वाक्ये नञर्थे प्रत्ययार्थान्वयः स्यात्तदा अनुयाजेषु 'ये यजामह'इति मन्त्रस्य प्रतिषेधः स्यात्। अनुयाजेषु ये यजामहं न कुर्यादिति। स च प्राप्तिपूर्वक एव। प्राप्तस्यैव प्रतिषेधात्। प्राप्तिश्च 'यजतिषु ये यजामहं करोति'इति शास्त्रादेव वाच्या। शास्त्रप्राप्तस्य च प्रतिषेधे विकल्प एव न तु बाधः ।।९९।।

प्रत्ययार्थस्य नञर्थेनान्वये विकल्पप्रसक्तिरूपस्य बाधकस्य प्रतिषेधविघटनेन पर्य्युदासगमकत्वप्रदर्शनाय तद्विषयमुदाहरति-द्वितीयमिति। अत्र पर्य्युदासाश्रयणाय विकल्पप्रसक्तिमेवोपपादयति-तथाहीत्यादिना। सचेति। निषेधश्चेत्यर्थः। तत्र हेतु-

---

'मानससंकल्प' रूप में माना जाता है। मनुसंहिता[१] के मेधातिथिभाष्य में– **'मानसः संकल्पो व्रतमुच्यते'** कहा गया है, वह उक्त कथन की ओर ही संकेत करता है।

इस प्रकार उपर्युक्त समस्त विवेचन का तात्पर्यार्थ यह है कि जहाँ 'नञर्थ' से प्रत्ययार्थ के अन्वय में यदि बाधा उपस्थित होती है तो ऐसे स्थलों पर **'पर्युदास'** के द्वारा अन्वय किया जाता है। पर्युदास का सामान्य लक्षण यह है कि 'जब **नञर्थ** का अन्वय प्रत्ययार्थ से न होकर धात्वर्थ से हो तो उसे **'पर्युदास'** की संज्ञा से अभिहित किया जाता है'। इसके स्वरूप का निरूपण अग्रिम परिच्छेद में किया जायगा–।।९८।।

*अनुवाद– **द्वितीयमिति**। [नञर्थ से प्रत्ययार्थ का अन्वय होने में] दूसरा बाधक विकल्पप्रसक्ति रूप है। इसका उदाहरण 'यजतिषु येयजामहं करोति नानुयाजेषु' (अर्थात्– यागों में 'ये यजामहे' संज्ञक पदपाठ करना चाहिए अनुयाजों में नहीं) आदि उदाहरणों में है। यहाँ विकल्प की प्रसक्ति होने लगेगी अतः पर्युदास का आश्रय लेते है। अर्थात्– यदि इस वाक्य में नञर्थ से प्रत्ययार्थ का अन्वय किया जाता है तो अनुयाज संज्ञक यागों में 'ये यजामहे' मंत्र का प्रतिषेध होने लगेगा। अर्थात् अनुयाजों में 'ये यजामह' पद का पाठ नहीं करना चाहिए। अनुयाजों में उक्त मन्त्र का प्रतिषेध तभी संभव है जब उसकी प्राप्ति पहले से ही हुई हो, क्योंकि प्राप्त पदार्थ का ही प्रतिषेध हो सकता है। इस प्रकार 'यजतिषु ये यजामहं करोति' अर्थात् याग में 'ये यजामह' मन्त्रोच्चारण करना चाहिए इस शास्त्र से ही 'ये यजामह' मन्त्रोच्चारण की प्राप्ति करनी होगी। परन्तु शास्त्र से प्राप्त का प्रतिषेध होने पर विकल्प होता है, बाध नहीं होता।।९९।।*

---

१. ४।१३

माह । प्राप्तस्यैवेति । शास्त्रादेवेति । ब्राह्मणहननादेरिव रागतः प्राप्त्यसम्भवात्तस्य शास्त्रादेव प्राप्तिर्वाच्येत्यर्थः । उपपादितां विकल्पप्रसक्तिमुपसंहरति- शास्त्रप्राप्तस्येति । ननु यथा रागतो हननादौ प्रवृत्तं पुरुषं हननादिप्राप्तिमूलभूतरागस्य बाधेन ततो न हन्तव्य इत्यादिशास्त्रं निवर्तयति । तथा यजतिषु ये यजामहं करोतीति शास्त्रादनुयाजेष्वप्यनुष्ठानकाले यजतित्वाविशेषादेव ये यजामह इति मन्त्रस्य समुच्चारणे प्रवृत्तं पुरुषं तत्प्राप्तिमूलभूतस्य प्रदर्शितशास्त्रस्य यजतिसामान्ये ये यजामह इति मन्त्रप्रापकस्यानुयाजेषु बाधेन ततो नानुयाजेषु ये यजामहं करोतीति शास्त्रं निवर्तयत्येवेति ।।९९।।

।। अर्थमीमांसा ।।

पूर्व में, प्रथम बाधक के प्रतिपादन के प्रारम्भ में– **''आद्यं नेक्षेतोद्यन्तमादित्यमित्यादौ''** इस वाक्य को जिसप्रकार प्रस्तुत किया गया था, उसी प्रकार इस दूसरे बाधक के प्रतिपादनावसर के प्रारम्भ में **''द्वितीयं यजतिषु येयजामहं करोति, नानुयाजेषु इत्यादौ''** वाक्य को प्रस्तुत किया गया है। इन दोनों वाक्यों की तुलना से प्रस्तुत वाक्य का अर्थ ठीक समझ में आ जाता है। प्रथम बाधक का उदाहरण जिसप्रकार **'नेक्षेतोद्यन्तमादित्यम्'** वाक्य में देखने को मिला, उसीप्रकार दूसरे बाधक का उदाहरण **'यजतिषुयेयजामहं करोतिनानुयाजेषु''** वाक्य में देखने को मिलता है। इन दोनों ही स्थानों पर पर्युदास का आश्रयण करना पड़ता है, किन्तु दोनों में जो अन्तर है वह यह है कि– प्रथम वाक्य मे **'तस्यव्रतम्'** इत्यादि उपक्रम के कारण पर्युदास स्वीकार करना पड़ा है, और दूसरे वाक्य में **विकल्पप्रसक्ति** प्राप्त होने के कारण पर्युदास मानना पड़ता है।

प्रथमतः उक्त उदाहरण में विकल्प किस प्रकार प्राप्त होता है, और तत्पश्चात् उस विकल्प के प्रसंग का परिहरण करने के लिए पर्युदास का आश्रयण किस प्रकार किया जाता है, यहाँ निर्देशित करना है। परन्तु उक्त विषय को ठीक तरह से समझने के पूर्व यहाँ **'यजतिषु'**– इत्यादि जिस विषय-वाक्य को ग्रहण किया है, उसका अर्थ ज्ञात करना आवश्यक है। तैत्तिरीय संहिता[१] में आश्रावयादि पाँच मंत्र वर्णित हैं-

['आश्रावयेति चतुरक्षरम्' अस्तु श्रौषडिति चतुरक्षरम्, यजेतिद्वयक्षरम्, ये यजामह इति पञ्चाक्षरम्, द्वयक्षरो वषट्कारः, एष वै सप्तदशः प्रजापतिर्यज्ञमन्वायत्तः'][२] इस वाक्य का

---

१. तै. सं. कां. १, प्रपा. ६, अनु. ११

२. यजतिषु सर्वेष्वपि यागेषु याज्यातः पूर्वं होत्रा 'ये यजामहे' इति पठनीयोऽनूयाजवर्जम् इति वाक्यार्थः। अत्र यजतिशब्दो यागवाचकः। अनूयाजव्यतिरिक्तेषु यजतिचोदनाचोदितेषु यागेषु याज्यातः पूर्वं 'ये यजामहे' इत्ययमंशः पठनीय इति। एवं च याज्यातः पूर्वं ये यजामेह इति पठित्वा ततो देवतावाचकं पदं द्वितीयान्तमुकत्वा ततो याज्यापाठः। तदन्ते च व षट्कारप्रयोगः। यथाऽऽग्नेययागे अध्वर्युणा प्रधानानुष्ठानाय यांज्यापाठार्थं 'अग्निं यज' इति प्रेषे दत्ते अनन्तरं होता 'ये यजामहेऽग्निं भुवो यज्ञस्य रजसश्च + हव्यवाहाँ वौषट्' इति पठेत् । ततो अध्वर्युर्जुह्वादौ स्थितं हविः पुरोडाशमाहवनीये प्रक्षिपेत् इति समुदितार्थः।

तात्पर्य यह है कि यज्ञ में समस्त कर्मों की तैयारी होने पर जब अध्वर्यु देवताओं को हविर्भाग देने के लिए उद्युक्त होता है, तब जिस जुहु में हविर्भाग रक्खा है, उस जुहु को हाथ में लेकर 'आग्नीध्र' संज्ञक ऋत्विज् को अध्वर्यु– **'आश्रावय'** प्रैष (आज्ञा) देता है। तत्पश्चात् प्रैष प्राप्त होने पर वह आग्नीध्र **'अस्तु श्रौषट्'**– इत्याकारक प्रतिवचन देता है। उक्त प्रतिवचन सुनने के पश्चात् जिस देवता को हविर्भाग देना है, उस देवता का नामोच्चारण करके उस नाम के आगे **'यज'** पद को स्थापित करके **'अग्निं यज'**, **'इन्द्रं यज'** इत्याकारक अध्वर्यु होतृनामक ऋत्विज् को कहता है। तत्पश्चात् होता उस देवता से सम्बन्धित याज्या मंत्रों के पूर्व 'ये यजामहे' जोड़कर उन मंत्रों को कहता है। और अंत में वषट्कार का उच्चार करता है। अर्थात् ये वे पांच मंत्र हैं, जिन्हें ऊपर कहा गया है। इनका अर्थ सायणाचार्य ने इसप्रकार निरूपित किया है– ['आश्रावयेति'। हे आग्नीध्र, यक्ष्यमाणदेवतां प्रति 'तुभ्यमिदं दीयत' इत्याभिमुख्येन श्रावयेत्यर्थः। 'अस्तु श्रौषडिति'। एवमध्वर्युणोक्ते स आग्नीध्रः 'अस्तु' इत्यङ्गीकृत्य ''श्रोषट्'' इति शब्देन श्रावयति। हे देवाः, युष्मद्विषयमिदं हविर्दानं शृणुतेत्यर्थः। ''यजेति'' हे होतः, यज याज्यां पठेत्यर्थः। 'ये यजामह इति'। ये वयं होतारोऽध्वर्युणा प्रेषिताः ते वयं यजामहे याज्यां पठामः इत्यर्थः। वषट्कारशब्देन 'वौषट् इति' एवं रूपो मंत्रो विवक्षितः हविर्दीयते इति तस्य शब्दस्यार्थः इति।]

उपर्युक्त मंत्र में निरूपितानुसार (पठितानुसार) **'यज'** इत्याकारक प्रैष प्राप्त होने के पश्चात् होता प्रथमतः **'ये यजामहे'**– इस मंत्र का पाठ करता है और तत्पश्चात् याज्या का पाठ करता है। **'ये यजामहे'** इन दो शब्दों का पाठ कहाँ करना और कहाँ नहीं करना, इस विषय में एक और विचार है। वह इस प्रकार है– **'यज'** इत्याकारक चोदना से जो-जो हविर्भाग देने होते हैं, उन सर्वत्र स्थलों में होता के द्वारा **'ये यजामहे'**– का प्रथमतः पाठ किये जाने के पश्चात् याज्या का पाठ किया जाय, इस प्रकार निश्चित किया गया है। परन्तु साथ में यह भी निर्देशित किया गया है कि अनुयाज के मंत्रों का पाठ जब किया जाना हो, तब उनके पूर्व **'ये यजामहे'** इस पदद्वय का उच्चारण न किया जाय। यही निर्देश 'यजतिषु ये–यजामहं करोति, नानुयाजेषु' इस वाक्य में निरूपित किया गया है। यहाँ मूलपाठ के 'ये यजामहे'– ये दो पद अलग-अलग (एक दूसरे से दूर) होने पर भी उन दोनों को एक ही पद में अंकित कर उनका रूपान्तर 'ये-यजामह'– में किया गया है, यह सहजगत्या ज्ञात होता ही है। 'अनुयाज' का तात्पर्य– अनुयाजाख्य यागविशेष है।

'यजतिषु ये– यजामहं करोति, नानुयाजेषु ये– यजामहं करोति'. इस विषय-वाक्य का विवेचन जै. सू.[१] में किया गया है। इस वाक्य में एक बार–'ये यजामह' करें, कहा गया है, और नहीं करें, यह भी एकबार कहा गया है। इस प्रकार एक ही वाक्य में परस्परविरुद्ध विधि और निषेध का उल्लेख देखकर **पूर्वपक्षी** 'ये– यजामहं' विषयक विकल्प मानने के लिए आग्रह करता है। किन्तु सिद्धान्ती पूर्वपक्षी के विचार से असहमत होकर विकल्प न

१. जै. सू. अ. १०, पा. ८, अधि. १

मानकर पर्युदास मानने के लिए कहता है। और अन्त में उसने अपने विचार को सिद्ध किया है।

अब प्रतिषेध किस प्रकार प्राप्त होता है? यह [**'तथा हि यद्यत्र वाक्ये'**] इत्यादि पदसमूह द्वारा प्रस्तुत प्रकरण में निर्देशित किया गया है। **'यजतिषु'**– इत्यादि समग्र वाक्य में से **'यजतिषु ये– यजामहं करोति'**– प्रथमार्ध में विधि विहित है, (अर्थात् यागों में 'ये यजामह' मंत्र का पाठ करना चाहिये') यह तो स्पष्ट ही है। अब **'नानुयाजेषु'**– 'अनुयाजसंज्ञक यागों में नहीं' यह जो उत्तरार्ध का अपूर्ण वाक्य है, उसे पूर्ण करने पर वह इस प्रकार बनेगा **'न अनुयाजेषु ये– यजामहं करोति'**। इसे पूर्ण होने में प्रथम वाक्य से सहायता लेनी पडती है। इसप्रकार से पूर्ण किये हुए वाक्य से फलित होता है कि अनुयाजों में 'ये–यजामहं' मंत्र का प्रतिषेध करना चाहिए (अर्थात्– अनुयाजसंज्ञक यागों में 'ये यजामह' नामक मंत्र का पाठ नहीं करना चाहिए) क्योंकि, **'न अनुयाजेषु ये– यजामहं करोति'**– इस वाक्य में 'नञर्थ' से प्रत्ययार्थ का अन्वय नहीं किया जा सकता। इस वाक्य के 'करोति' गत प्रत्ययार्थ का 'नञ्' से अन्वय करने पर निवर्तना का बोध होगा। अर्थात् अनुयाजों में– 'ये–यजामह'– इस मंत्र का उपयोग न करें, ऐसा प्रतिषेध ही प्राप्त होता है।

['स च प्राप्तिपूर्वक एव' इत्यादि] इस पर पूर्वपक्षी कहता है कि उक्त वाक्य से प्रतिषेध निष्पन्न होता है, किन्तु प्रतिषेध का नियम तो इस प्रकार है कि– किसी पदार्थ का निषेध सदैव प्राप्तिपूर्वक ही होता है, अर्थात् जिस किसी भी पदार्थ की प्राप्ति पूर्व से रहती है, उसी का निषेध होता है। यथा– **'रात्रि में सूर्य को न देखें'** उक्त वाक्योक्तानुसार जो अप्राप्त है, उसका कोई निषेध करता नहीं बैठता अथवा **'न कलञ्जं भक्षयेत्'** इत्यादि वाक्य कलञ्जभक्षण का निषेध करता है, क्योंकि 'कलञ्जभक्षण' की प्राप्ति राग द्वारा पूर्व से ही हुई रहती है। अत: प्रतिषेध प्राप्तिपूर्वक ही होता है, यह निश्चित है। **'ब्राह्मणेभ्यो दधि दीयतां, तक्रं कौण्डिन्याय'** इस वाक्य के अनुसार जो पदार्थ प्राप्त हैं, उसी का प्रतिषेध करना संभव होता है। प्रकृत में 'यजतिषु ये– यजामहं करोति'– इस दूसरे शास्त्र वचन से तदगत विधि प्राप्त है। एवञ्च 'यजतिषु ये– यजामहं करोति' इस एक विधायकशास्त्र ने **'ये–यजामहं'** करने का विधि कहा है, और 'न अनुयाजेषु ये– यजामहं करोति'– इस प्रतिषेधकशास्त्र ने 'ये यजामहं' न करने के सम्बन्ध में प्रतिषेध कहा है। अत: ये दो परस्परविरुद्ध विधायक और प्रतिषेधकशास्त्र तुल्यबलत्वेन एकत्र होते हैं और ऐसी स्थिति में एक के द्वारा दूसरे का बाध किया जाता है, यह न मानकर– **यह करना चाहिए** अथवा **अन्य करना चाहिए**– इस प्रकार का विकल्प मानना चाहिए । तात्पर्य यह है कि– जब शास्त्र द्वारा विहित पदार्थ का अन्य शास्त्र से निषेध किया जा रहा हो तो उस स्थिति में 'विकल्प' मान्य होता है, निषेध की प्रसक्ति नहीं होती।।९९।।

(१००) विकल्प एव न तु बाधः

प्राप्तिमूलरागस्येव तन्मूलशास्त्रस्य शास्त्रान्तरेण बाधायोगात्। न च 'पदे जुहोति' इति विशेषशास्त्रेण 'आहवनीये जुहोति' इति शास्त्रस्येव 'नानुयाजेषु' इत्यनेन 'यजतिषु ये यजामहं करोति' इत्यस्य बाधः स्यादिति वाच्यम्। परस्परनिरपेक्षयोरेव शास्त्रयोर्बाध्यबाधकभावात्। पदशास्त्रस्य हि स्वार्थविधानार्थमाहवनीयशास्त्रानपेक्षणान्निरपेक्षत्वम्। प्रकृते तु निषेधशास्त्रस्य प्रसक्त्यर्थं 'यजतिषु ये यजामह' मित्यस्यापेक्षणान्न निरपेक्षत्वम्॥१००॥

कथं न शास्त्रप्राप्तस्य बाधः स्यादित्यत आह प्राप्तीति। शास्त्रेण बाध इति शेषः तन्मूलशास्त्रस्येति। ये यजामह इति मन्त्रप्राप्तिमूलशास्त्राद्यजतिषु ये यजामहं करोतीत्येवं रूपाच्छास्त्रान्तरेण नानुयाजेषु यजामहं करोतीत्येवं रूपेण प्रदर्शितमन्त्रप्राप्तिमूलभूतस्य प्रदर्शितशास्त्रस्य बाधायोगादित्यर्थः। दृष्टान्तस्तु अत्र व्यतिरेकी बोध्यः। तथाच यथा हननादिप्राप्तिमूलरागस्य भ्रान्तिनिमित्तकस्य शास्त्रेण बाधो भवति तथा मन्त्रप्राप्तिमूलशा-

---

*अनुवाद– **प्राप्तिमूलेति**। जिसकी प्राप्ति का मूल रागादि (जैसे– कलञ्जभक्षण आदि) है उसका शास्त्र (जैसे– कलञ्जं न भक्षयेत्) द्वारा बाध हो जाता है किन्तु शास्त्र प्राप्त का शास्त्रान्तर से बाध हुआ नहीं माना जा सकता। यह भी नहीं कहा जा सकता कि 'पदे जुहोति' इस विशेष शास्त्र के द्वारा 'आहवनीये जुहोति' इस सामान्यशास्त्र का बाध हो जाता है। उसी प्रकार 'नानुयाजेषु' इस विशेषशास्त्र के द्वारा 'यजतिषु ये यजामहं करोति' इस सामान्यशास्त्र का बाध हो जाता है। क्योंकि परस्पर निरपेक्ष दो शास्त्रों में ही बाध्यबाधकभाव संबन्ध होता है। पदशास्त्र 'पदे जुहोति' को अपने अर्थ विधान हेतु आहवनीयशास्त्र 'आहवनीये जुहोति' की अपेक्षा नहीं रहती है। किन्तु प्रकृतस्थल में निषेधशास्त्र (नानुयाजेषु) को निषेध्य (ये यजामहे) की प्राप्ति के लिये 'यजतिषु ये यजामहं करोति' इस शास्त्र की अपेक्षा रहती है। अतएव 'नानुयाजेषु' यह शास्त्र निरपेक्ष नहीं है, अतः बाध्यबाधकभाव सम्बन्ध उपपन्न होने का प्रश्न ही नहीं है॥१००॥*

॥ अर्थमीमांसा ॥

इसके पूर्व, पूर्वपक्षी ने कहा है कि परस्परविरुद्ध रहनेवाले विधि और निषेध प्राप्त होने पर विकल्प ही मान्य किया जाना चाहिए। किन्तु पूर्वपक्षी की इस मान्यता पर कोई आक्षेपक **'प्राप्तिमूलरागस्येव'** इत्यादि शब्दों द्वारा आक्षेप उत्थापित करते हुए कहता है कि यदि यहाँ परस्परविरुद्ध पदार्थ एकत्र हुए हैं, उनमें से एक का दूसरे द्वारा बाध किया जाता है, बस, इतना ही मान लिया जाय, यह आप क्यों नहीं मानते? सिद्धान्ती एवं पूर्वपक्षी के मध्य प्रवृत्त वाद में आक्षेपक द्वारा उत्थापित व्यवस्था का निरसन करते हुए पूर्वपक्षी कहता है कि प्रकृत प्रसंग में बाध की कल्पना निरर्थक है। इसे हम **'ब्राह्मणो न हन्तव्यः'** इस उदाहृत वाक्य द्वारा समझ सकते हैं। इस वाक्य में 'ब्राह्मण का वध नहीं करें'– यह एक सामान्य उपदेश है। इस

स्वच्छास्त्रान्तरेण मन्त्रप्राप्तिमूलशास्त्रस्य बाधो न युक्तो निषेधशास्त्रस्य निषेध्यप्राप्तिसापेक्षत्वेन तत्प्रापकस्याबाधकत्वादित्यनुपदे स्पष्टीभविष्यति मूल इति भावः । यद्वा तन्मूलशास्त्रादिति पञ्चमी षष्ठ्यर्थे बोध्यते नानुषङ्गविभक्तिविपरिणामयोर्न श्रमः कर्तव्यः स्यात् । केचित्तु तन्मूलशास्त्रादिति बाधमूलशास्त्राद्बाधकरूपात्प्राप्तिमूलरागस्य यथा बाधस्तथा शास्त्रान्तरेण प्राप्तिमूलशास्त्रस्य बाधायोगादिति व्याचक्षते । ननु यथा पदाधिकरणकहोमविधायकविशेषशास्त्रेणाहवनीयाधिकरणकहोमविधायकस्य सामान्यशास्त्रस्य बाधः क्रियते । तथाऽनुयाजेषु ये यजामहमन्त्रप्रतिषेधकरूपविशेषशास्त्रेण यागसामान्ये तन्मन्त्रविधायकस्य सामान्यशास्त्रस्य बाधः कथं न क्रियत इत्याशङ्क्य परिहरति-नचेत्यादिना । नच वाच्यमित्यत्र हेतुमाह-परस्परेति । शास्त्रयोरेकविषये बाध्यबाधकभावे परस्परनिरपेक्षत्वं हेतुः पदशास्त्रस्य पदाधिकरणकहोमरूपस्वार्थविधानार्थमाहवनीयशास्त्रनिरपेक्षत्वादनुयाजेषु ये यजामहमन्त्रप्रतिषेधकशास्त्रस्य तत्र

प्रकार का उपदेश सर्वसामान्य को नहीं दिया जाता, क्योंकि जो ब्राह्मणवध करने की कल्पना भी कभी नहीं करता ऐसे व्यक्ति को इसप्रकार का उपदेश देने की क्या उपयोगिता है? अतः **'ब्राह्मणो न हन्तव्यः'** यह यद्यपि नित्यशास्त्र का उपदेश है, तथापि जहाँ ब्राह्मण-वध की प्रवृत्ति ही नहीं है, वहाँ 'ब्राह्मणो न हन्तव्यः'– इस प्रकार की निषेधात्मक प्रसक्ति प्राप्त नहीं हो सकती। परन्तु इस प्रकार का उपदेश वहाँ योग्य (फलित) हो सकता है, जहाँ भ्रान्तिवश मनोविकार (राग) प्रक्षुब्ध होने से कोई व्यक्ति 'ब्राह्मणवध कर्तव्य है', इत्याकारक भावना से ब्राह्मणवध के लिए प्रवृत्त होता है। ऐसी स्थिति में **'ब्राह्मणो न हन्तव्यः'** निषेध जब प्रवृत्त होता है तब पूर्व से ही **'ब्राह्मणो हन्तव्यः'** इस प्रकार की ब्राह्मण-वध के होने की प्राप्ति रहती ही है। अर्थात् वहाँ **'ब्राह्मणो हन्तव्यः'** एतद्विषयक– प्राप्तिमूलभूत राग (वध की प्रवृत्ति को कारणीभूत मनोविकार) पूर्व से उत्पन्न हुआ होता है। और यह राग, अर्थात् मनोविकार, **'ब्राह्मणो हन्तव्यः'** एतद्विषयक किसी भ्रान्तिवश उत्पन्न हुए कारण से उस प्राप्तिमूल राग का बाध करना संभव है। अर्थात् प्रक्षुब्ध मनोविकार केवल भ्रान्तिवश– (मिथ्या due to Misunderstanding) उत्पन्न है, ऐसी स्थिति में ब्राह्मण वध न करें– यह उसे समझाकर कहने से उस व्यक्ति का ब्राह्मणवधविषयक-प्राप्तिमूलभूतराग– अर्थात् मनोविकार बाधित होकर परिवर्तित हो सकता है।

किन्तु [तन्मूलशास्त्रस्य शास्त्रान्तरेण बाधायोगात्] उस प्रकार की स्थिति प्रकृतस्थल पर संभव ही नहीं? यहाँ **'ये– यजामह'** का निषेध यदि **'न अनुयाजेषु ये– यजामहं करोति'**– इस एक प्रतिषेधक शास्त्र द्वारा प्राप्त हुआ है, तो 'ये– यजामह' इसके विधानविषयक प्राप्ति दूसरे एक विधायक शास्त्र से ही हुई है। और 'यजतिषु ये– यजामहं करोति'– यह उस विधान की प्राप्ति का मूलभूत शास्त्र (तन्मलशास्त्र) है। ऐसी स्थिति में यहाँ एक शास्त्र का दूसरे शास्त्र के द्वारा बाध किस प्रकार हो सकता है?

पूर्वपक्षी कहता है :– ब्राह्मण-वध के प्रसंग में 'ब्राह्मणो हन्तव्यः' यह जो प्राप्ति हो रही थी, उसका मूलकारण भ्रान्तिजनित राग होने से उस भ्रान्तिजनित राग का **'ब्राह्मणो न हन्तव्यः'**

प्रतिषेध्यमन्त्रप्रसक्त्यर्थं यजति सामान्ये तादृशमन्त्रविधायकसामान्यशास्त्रसापेक्षत्वाच्चेति। दृष्टान्तदार्ष्टान्तिकयोर्वैषम्यं प्रदर्शयति-पदशास्त्रस्येत्यादिना। तथा च-प्रतिषेधशास्त्रस्य विशेषविषयत्वेन प्रबलत्ववद्विधिशास्त्रस्याप्युपजीव्यत्वेन प्रबलत्वमस्तीति न प्रतिषेधशास्त्रेण विधिशास्त्रस्यात्यन्तबाधो युक्त इति विहितप्रतिषिद्धत्वाद्विकल्पः स्यात्स च न युक्त इत्युपरिष्टात्स्पष्टीभविष्यतीति भावः ।।१००।।

इस निषेधात्मक वाक्य से बाध करना संभव था। किन्तु **'यजतिषु ये– यजामहं करोति'**– इस विधि की जो प्राप्ति यहाँ हो रही है, उस प्राप्ति का मूलभूत कारण कोई भ्रान्तिजनित राग नहीं है, जिसका कि दूसरे किसी निषेधात्मक वाक्य से बाध करना संभव हो सके। अत: इस प्रकार इन दो अन्योन्यविरुद्ध शास्त्रों में से निषेधक शास्त्र से विधायक शास्त्र का बाध करना या होना संभव न होने से यहाँ विकल्प ही (Option) मान्य करना आवश्यक है।

['न च पदे जुहोति इति विशेषशास्त्रेण'– इत्यादि] **'ब्राह्मणो न हन्तव्यः'**– इस निषेधक वाक्य से इतरत्र जैसा बाध हो सकता है, वैसा प्रकृत में होना संभव नहीं है। अत: पूर्वपक्षी के द्वारा सिद्ध किये हुए उक्त विवेचन को देखकर आक्षेपक दूसरा आक्षेप उत्थापित करते हुए कहता है कि– **'ब्राह्मणो न हन्तव्यः'** के अनुसार यदि यहाँ बाध नहीं होता है तो न होने दो। किन्तु दूसरे प्रकार से यहाँ विधायक शास्त्र का निषेध शास्त्र के द्वारा बाध होना संभव है, जैसे 'आहवनीय बाध'[1] का प्रसंग। यहाँ जैसे सामान्यशास्त्र का विशेषशास्त्र से बाध हुआ है तद्वत् प्रस्तुत प्रसंग में भी करना चाहिए। आहवनीय बाध का प्रसंग निम्नानुसार है–

'ज्योतिष्टोम' याग में सोम का हवन करने के लिए प्रथमत: सोम का क्रयण करना होता है, और उस सोमक्रयण की प्रक्रिया का निर्देश [अरुणया पिंगाक्ष्या एक-हायन्या गवां क्रीणाति'] इस वाक्य में उल्लिखित है। इस वाक्य में किये हुए निर्देशानुसार सोमक्रयण के लिए जिस गाय को देना होता है, उसके चलने पर उसके प्रत्येक पद-चिह्न पर अपना चरण रखते हुए हवन कर्ता छ: पदों तक जाकर गाय के सातवें पद-चिह्न पर हिरण्य रखकर उस स्थान पर हवन करें, यह विधि **'सप्तमे पदे जुहोति'**[2] इस वाक्य के द्वारा विहित है। उसी प्रकार **राजसूययाग में 'वल्मीकवपायामुत्सृज्य जुहोति'** निर्दिष्ट है। और **'गार्हपत्ये पत्नीसंयाजान् जुहोति'**– ऐसा भी विधान है। ये विशेष विधान हैं। **'यदाहवनीये जुहोति'**– इस वाक्य के द्वारा आहवनीय अग्नि में हवन करने के लिए सामान्यत: निर्देश है। यह निर्देश अविशेष अर्थात् सामान्य हवन के लिए है। अब 'यदाहवनीये जुहोति'– यह सामान्य शास्त्र और 'पदे जुहोति' यह विशेष शास्त्र, ये दोनों शास्त्र एकत्र प्राप्त होने पर विशेषशास्त्र सामान्यशास्त्र की अपेक्षा प्रबल होने से सामान्यशास्त्र का विशेषशास्त्र के द्वारा बाध हो जाता है।[3]

१. जै. सू. अ. १०, पा. ८, अधि. ८

२. तै. सं. कां. १, प्रपा. २, अनु. ५

३. 'यदाहवनीये जुह्वति' इति सामान्यशास्त्रेण वैदिकहोमसामान्योद्देशेन विहितस्याऽऽहवनीयस्य 'सप्तमेपदे जुहोति' इति विशेषशास्त्रेण होमविशेषोद्देशेन विहितेन पदेन बाधः। (तं. सि. र. तृतीय परिच्छेद)

अब आक्षेपक कहता है– उक्त आहवनीय बाध के न्याय को प्रकृत स्थल पर निविष्ट (Apply) करना चाहिए। क्योंकि प्रकृतस्थल पर **'यजतिषु ये– यजामहं करोति'** यह सामान्य शास्त्र है; और **'नानुयाजेषु'** यह विशेष शास्त्र है। अत: यहाँ भी **'यजतिषु'** इस सामान्यशास्त्र का **'नानुयाजेषु'**– इस विशेषशास्त्र के द्वारा बाध किया जाना संभव है।

आक्षेपक का उपर्युक्त युक्तिवाद सुनकर पूर्वपक्षी ['परस्परनिरपेक्षयोरेव शास्त्रयोर्बाध्य-बाधकभावात्'] इत्यादि वाक्यों से उक्त आक्षेप का खण्डन करता है। पूर्वपक्षी कहता है कि– यह ठीक है कि सामान्यशास्त्र का विशेष शास्त्र से बाध होता है, किन्तु वह तब होता है जब सामान्यशास्त्र अर्थात् जिसका बाध किया जाता है, (बाध्य) और जिसके द्वारा बाध किया जाता है (बाधक) वह विशेषशास्त्र– ये दोनों एक दूसरे पर अवलम्बित न हों, और एक दूसरे से स्वतंत्र तथा निरपेक्ष रहते हों। तात्पर्य यह है कि बाध्य– अर्थात् सामान्य वाक्य का, बाधक– अर्थात् विशेष वाक्य के द्वारा बाध किया जा सकता है। प्रकृत प्रसंग में **'पदे जुहोति'** तथा **'आहवनीये जुहोति'**– ये दोनों ही शास्त्र निरपेक्ष हैं, अर्थात् **'पदे जुहोति'** यह जो पदशास्त्र है, उसके विधि का अर्थ परिपूर्ण रूप से ज्ञात होने के लिए, उसे आहवनीय शास्त्र पर किसी भी प्रकार से निर्भर रहने की आवश्यकता नहीं होती। इसीलिए स्वत: निरपेक्ष होने के कारण 'पदे जुहोति' यह विशेष शास्त्र 'आहवनीये जुहोति' इस सामान्य शास्त्र की अपेक्षा प्रबल है, और इसीलिए 'पदशास्त्र' आहवनीय शास्त्र का बाध कर सकता है; यह तो ठीक है। परन्तु 'प्रकृते तु निषेधशास्त्रस्य' इत्यादि वाक्य से पूर्वपक्षी कहता है कि– प्रस्तुत 'ये–यजामहं' उदाहरण में उपर्युक्त स्थिति नहीं है। क्योंकि, उपर्युक्त बाधक पदशास्त्र में जैसा निरपेक्षत्व है, वैसा प्रकृतस्थल के बाधकशास्त्र में नहीं है। जैसे– प्रकृत में **'नानुयाजेषु'**– यह विशेषशास्त्र होने से बाधक है, और 'यजतिषु'– यह सामान्यशास्त्र होने से वह बाध्य होता है, यह तो ठीक है, किन्तु उस पदशास्त्र की तरह 'नानुयाजेषु' यह शास्त्र स्वार्थविधान के विषय में निरपेक्ष कहाँ है? क्योंकि, 'नानुयाजेषु' में किस अर्थ का विधान किया गया है, इसे ज्ञात करने के लिए उसे 'यजतिषुये–यजामहं करोति'– इस शास्त्र की अपेक्षा होती ही है। क्योंकि, **'यजतिषु'** इत्यादि वाक्य के **'ये– यजामहं करोति'** इन शब्दों को आगे अध्याहत करने पर **'नानुयाजेषु ये– यजामहं करोति'**– यह वाक्य पूर्ण होता है। अत: अपने में किस अर्थ का विधान किया गया है, इसकी परिपूर्णता के लिए जिसे दूसरे पर अवलम्बित रहना पड़ता है, वह शास्त्र निरपेक्ष कैसे या कहाँ से हो सकता है? अत: वह सापेक्ष ही है। अर्थात् **'नानुयाजेषु'** यह शास्त्र निरपेक्ष नहीं है। वस्तुत: **'नानुयाजेषु'**– यह उपजीवक शास्त्र है, और वह शास्त्र **'यजतिषु'** पर अपनी जीविका प्राप्त करता है। अत: **'यजतिषु'** यह उपजीव्य है और जो उपजीव्य होता है, वह स्वभावत: ही प्रबल रहेगा ही। इसलिए **'नानुयाजेषु'** यह जो 'निषेधकशास्त्र' (बाधक) है, वह विशेषशास्त्र की दृष्टि से यद्यपि प्रबल रहता है, तथापि **'यजतिषु'**– इस निषेध्य (बाध्य) शास्त्र का निषेध करने के लिए **'नानुयाजेषु'** शास्त्र जब प्रवृत्त (प्रसक्त) होने लगता है, तब उसके लिए (निषेध्यप्रसक्त्यर्थम्) उसे **'यजतिषु ये–यजामहं करोति'** इस वाक्य पर अवलम्बित रहना होता है, इस कारण वह दुर्बल ही रहता है, और **'यजतिषु'** वाक्य प्रबल रहता है। ऐसी स्थिति में सापेक्षत्वेन और उपजीवकत्वेन

(१०१) बाधायोगोपसंहारः

तस्माच्छास्त्रविहितस्य शास्त्रान्तरेण प्रतिषेधे विकल्प एव। स च न युक्तः। विकल्पे शास्त्रस्य पाक्षिकाप्रामाण्यसम्पातात्। नह्यनुयाजेषु ये यजामहमित्यस्यानुष्ठानेनानुयाजेष्वित्यस्य प्रामाण्यं सम्भवति। व्रीहि-यागानुष्ठाने यवशास्त्रस्यैव। द्विरदृष्टकल्पना च स्यात्। विधिप्रति-षेधयोरपि पुरुषार्थत्वात्। अतो नात्र प्रतिषेधस्याश्रयणम्। किन्तु नञोऽनुयाजसम्बन्धमाश्रित्य पर्युदासस्यैव ।।१०१।।

बाधायोगमुपसंहरति। तस्मादिति। मन्त्रविधायकशास्त्रस्य तत्प्रतिषेधकशास्त्रेणा-बाधायोगाद्विहितस्यापि तेन प्रतिषेधे विकल्प एव स्यान्न बाध इत्यर्थः। ननु तत्र तु विकल्प

दुर्बल रहनेवाले **'नानुयाजेषु'** वाक्य से निरपेक्षत्वेन और उपजीव्यत्वेन प्रबल रहनेवाले **'यजतिषु'** वाक्य का बाध किस प्रकार हो सकेगा? अत: सामान्य-विशेषशास्त्र से भी यहाँ बाध उपपन्न नहीं होता, उक्त विवेचन द्वारा पूर्वपक्षी ने अपने उपर आरोपित आक्षेपों का खण्डन किया है।

'यजतिषु' और 'नानुयाजेषु'– इन दोनों के उक्त वाद-विवाद में जो विविध-भिन्न-भिन्न प्रकार के अन्योन्य- सम्बन्ध घटित हुए हैं, वे निम्नांकित आकृति से भली-भांति समझ में आ सकते हैं–

	यजतिषु	**नानुयाजेषु**
सामान्य-विशेषभाव की दृष्टि से	निषेध्य	निषेधक
	सामान्य	विशेष
	बाध्य	बाधक
	दुर्बल	प्रबल
निरपेक्षत्व की दृष्टि से	निरपेक्ष	सापेक्ष
	उपजीव्य	उपजीवक
	प्रबल	दुर्बल ।।१००।।

***अनुवाद– तस्मादिति।** अतएव शास्त्र द्वारा विहित का शास्त्रान्तर से प्रतिषेध होने पर विकल्प ही होता है। किन्तु प्रकृत में विकल्प मानना भी समीचीन नहीं है। क्योंकि विकल्प मानने पर शास्त्र में पाक्षिक अप्रामाण्य की आपत्ति होती है [जैसे] अनुयाजों में 'ये यजामहं' मन्त्र का अनुष्ठान (उच्चारण) करने से 'नानुयाजेषु' इस शास्त्र का प्रामाण्य नहीं बन सकता, यथा– 'व्रीहि' से याग करने पर यवशास्त्र में अप्रामाण्य होता है उसी तरह 'नानुयाजेषु' का भी होगा। दो अदृष्टों की कल्पना करनी होगी। विधि और निषेध दोनों से ही अदृष्टोत्पत्ति (पुरुषार्थ) मानी जाती है। अतएव प्रकृत में प्रतिषेध का आश्रय नहीं लिया जा सकता, किन्तु 'नञर्थ' का अनुयाज के साथ सम्बन्ध मानकर 'पर्युदास' का ही आश्रयण उचित है।।१०१।।*

एव तेन किं हीयत इत्यत आह-सचेति । विकल्पस्यायुक्तत्वे हेतुमाह-विकल्प इति । ननु विकल्पस्वीकारे कथं पक्षे शास्त्रस्याप्रामाण्यायत इत्यत आह। नहीति। यथा व्रीहिभिर्यागानुष्ठानसमये यवशास्त्रस्य न प्रामाण्यं भवति । तथा विधायकशास्त्रानुसारेण ये यजामह इति मन्त्रस्यानुयाजेषूच्चाराणानुष्ठानसमये न तत्प्रतिषेधकशास्त्रस्य प्रमाण्यं सम्भवतीत्यर्थः। किञ्च विकल्पपक्षे हि द्विरदृष्टकल्पनाप्रसङ्गोऽपि स्यात्। विधिशास्त्रादेवमवगम्यते यदनुयाजेषु ये यजामह इति मन्त्रस्य करणे कश्चनोपकारो भवतीति । प्रतिषेधशास्त्रादपि तत्र तदकरणात्कश्चनोपकारो भवति । दर्शपूर्णमासयोरनृतवदनाकरणादिजन्योपकारवदित्यवगम्यते । तच्चोपकारद्वयमदृष्टरूपमिति । द्विरदृष्ट-

---

।। अर्थमीमांसा ।।

'यजतिषु' और **'नानुयाजेषु'**– इस प्रकार के परस्परविरुद्ध शास्त्र प्राप्त होने पर, उन दोनों में से एक शास्त्र का दूसरे शास्त्र के द्वारा बाध किया जायगा या नहीं, और अन्त में बाध होना संभव नहीं है, निश्चय किया गया। अर्थात् **'यजतिषु ये यजामहं करोति'** एवं **'नानुयाजेषु** अर्थात् **अनुयाजेषु ये यजामहं न करोति'**– ये दोनों वाक्य परस्पर निरपेक्ष नहीं है। अतएव इन दोनों मे बाध्यबाधकभाव भी नहीं है, अर्थात् **'अनुयाजेषु ये यजामहं न करोति'** इस शास्त्र के द्वारा **'यजतिषु ये यजामहं करोति'**– इस वाक्य का बाध नहीं हो सकता। अतएव पूर्वपक्षी यह कहता है कि [तस्माच्छास्त्रविहितस्य शास्त्रान्तरेण प्रतिषेधे विकल्प एव] प्रकृत 'यजतिषु' इस विधायक शास्त्र का **'नानुयाजेषु'**– इस निषेधक शास्त्र के द्वारा प्रतिषेध किया जाने पर उनमें से यदि एक शास्त्र का दूसरे शास्त्र के द्वारा अत्यंत बाध नहीं किया जा सकता, तो ऐसी स्थिति में पाक्षिक बाध, अर्थात् विकल्प मानने के अतिरिक्त अन्य गति नहीं है। इन दो शास्त्रों में से एक का दूसरे से यदि बाध नहीं हो सकता तो वे दोनों ही शास्त्र प्रमाणभूत ही हैं, यही ज्ञात होता है। और यदि वे दोनों ही प्रमाणभूत हैं तो उनके प्रामाण्य को वैयर्थ्य प्राप्त न हो इस हेतु एकबार एक पक्ष का प्रामाण्य मानना चाहिए और दूसरी बार दूसरे पक्षका प्रामाण्य मान्य करना चाहिए, और ऐसा करने पर कोई बाधा उपस्थित नहीं होगी।[१] इसप्रकार की पाक्षिक व्यवस्था को ही 'विकल्प' की संज्ञा दी जाती है।

उक्त रीत्या **पूर्वपक्ष** के द्वारा विकल्प मान्य कर लिये जाने के पश्चात् सिद्धान्ती **'स च न युक्तः'**– इत्यादि वाक्यों से उत्तर देता है कि– यहाँ 'विकल्प' मान्य करना योग्य नहीं होगा। क्योंकि, विकल्प मानलेने पर इन दोनों मे से प्रत्येक शास्त्र को पाक्षिक अप्रामाण्य प्राप्त होने लगता है। अनुयाज में 'ये यजामहं' मंत्र का उच्चारण (अनुष्ठान) करने से 'नानुयाजेषु' मंत्र का प्रामाण्य संभव नहीं है। और यह स्थिति ठीक वैसी ही है जैसी 'व्रीहि' और 'यव' की[२]। व्रीहि और यव-इन दोनों का ही प्रामाण्य मान्य किया होने से व्रीहिशास्त्र के अनुसार यदि अनुष्ठान

---

१. उभयोश्शास्त्रत्वाविशेषादन्यतरेणाऽन्यतरस्याऽत्यन्तबाधायोगादुभयोः पाक्षिकी प्रवृत्तिमङ्गीकृत्य विकल्पे पर्यवसानं कार्यम्। (तं. सि. र. तृती. परि.)

२. द्रष्टव्य– जै. सू. अ. १२, पा. ३, अधि. ४

कल्पना प्रसङ्ग इत्याह-द्विरदृष्टकल्पना चेति। तत्र हेतुमाह। विधीति। पुरुषार्थत्वादिति। विधानवत्प्रतिषेधस्याप्यदृष्टपुरुषार्थसम्पादकत्वादित्यर्थः। तस्मान्नानुयाजेष्वित्यादौ प्रतिषेधस्वीकारे विकल्पादिदोषापत्तेर्नात्र प्रतिषेधः समाश्रीयते। किन्तु नञो नाम सम्बन्धमाश्रित्य पर्य्युदासस्यैवाश्रयणं क्रियत इत्युपसंहरति। अत इति।।१०१।।

करते हैं तो एक ओर यवशास्त्र को अप्रामाण्य प्राप्त होता है, और यदि यवशास्त्र के अनुसार अनुष्ठान करते हैं तो, दूसरी ओर व्रीहिशास्त्र को अप्रामाण्य प्राप्त होता है। (उसी तरह 'नानुयाजेषु' का भी होगा।) इस प्रकार विकल्प से कुल मिलाकर आठ दोष उत्पन्न होते है। और विकल्प के कारण प्रकृत में भी अष्टदोष उत्पन्न होने लगेंगे। अत: अष्टदोषदुष्टत्व के कारण यहाँ विकल्प को मान्य करना युक्त नहीं है, यही सिद्धान्ती का विचार है।

सिद्धान्ती के अनुसार विकल्प को स्वीकार न करने का एक कारण यह भी है कि– [द्विरदृष्टकल्पना च स्यात्] विकल्प स्वीकार करने पर यहाँ दो अदृष्टों की भी कल्पना करनी होगी। [अनुष्ठान पक्ष में एक अदृष्ट, अननुष्ठान पक्ष में दूसरा] (क्योंकि) विकल्प के 'यजतिषु'– यह विधि और 'नानुयाजेषु'– यह प्रतिषेध, इन दोनों से ही यागोपकार द्वारा पुरुषोपकार होगा ही। अर्थात् विधि एवं प्रतिषेध दोनों से ही अदृष्टोत्पत्ति मानी जाती है।[१] अत: विकल्प के एक पक्ष में विधि का प्रामाण्य स्वीकार करने पर– अर्थात् **'ये– यजामह'** का अनुष्ठान करने से उपकार होगा, यह मान्य करना होगा, और 'नानुयाजेषु'– इस निषेधपक्ष में 'ये यजामह' के अननुष्ठान से भी कोई उपकार होगा ही, यह भी मान्य करना होगा। इसप्रकार दो अदृष्ट कल्पनाओं का गौरव प्राप्त होने लगेगा। अत: इस गौरव के दोष का परिहार करने के लिये विकल्प को स्वीकार न करना ही योग्य है।

(अब प्रश्न यह है कि) विकल्प स्वीकार करने से यदि उक्त प्रकार की असुविधाएँ (दोष) उत्पन्न होती हैं तो जिस कारण से विकल्प स्वीकार करना पड़ा है, उसका ही परिहार कर देने पर उसके कारण मान्य किया जानेवाला विकल्प का भी परिहार हो सकेगा। अत: **'नानुयाजेषु ये– यजामहं करोति'**– वाक्यगत **'करोति'** क्रिया का 'नञ्' से अन्वय करके उस वाक्य का प्रतिषेधात्मक अर्थ पूर्वपक्षी ने उत्पन्न किया है। एवञ्च उस प्रतिषेधात्मक अर्थ को परिवर्तित किये बिना आगत विकल्पप्रसक्ति दोष दूर नहीं किया जा सकता। इस हेतु **'नानुयाजेषु ये– यजामहं करोति'** का [नात्र प्रतिषेधस्याश्रयणम्' किन्तु नञोऽनुयाजसंबंधमाश्रित्य पर्युदासस्यैव आश्रयणम्] अर्थ करते समय 'प्रतिषेध' का जो आश्रयण किया गया है, उसे न करके पर्युदास का आश्रयण करने मात्र से समस्त उत्पन्न दोष नष्ट हो जावेंगे। **'नानुयाजेषु ये– यजामहं करोति'**– इसका प्रतिषेधात्मक अर्थ करते समय आपने पूर्व में 'करोति' का 'नञ्' से अन्वय किया है, उस अन्वय से जो अर्थ उत्पन्न होता है, उससे विकल्प जैसे (दोष) या असुविधा उत्पन्न होती हैं। अत: उनका परिहार करने के लिए 'नञ्' को 'करोति' से अलग

---

१. आपदेवी में 'द्विरदृष्टकल्पना च स्यात्'– केवल इस दूषण का उल्लेख है, किन्तु 'विधि प्रतिषेधयो: पुरुषार्थत्वात्'– इस असम्बद्ध हेतु का उल्लेख नहीं है, इस 'पुरुषार्थत्व' के हेतु का पाठ यहाँ किस प्रकार आया है, यह समझना कठिन है।

(१०२) वाक्यार्थबोधः

इत्थं चानुयाजव्यतिरिक्तेषु यजतिषु ये यजामहमिति मन्त्रं कुर्यादिति वाक्यार्थबोधः। नञोऽनुयाजव्यतिरिक्ते लाक्षणिकत्वात्। एवं च न विकल्पः। अत्र च वाक्ये ये यजामहमिति न विधीयते। यजतिषु ये यजामहमित्यनेनैव च प्राप्तत्वात्। किन्तु सामान्यशास्त्रप्राप्त-ये यजामह इत्यनुवादेन तस्यानुयाजव्यतिरिक्तविषयत्वं विधीयते। यद्यजतिषु ये-यजामहं करोतीति तदनुयाजव्यतिरिक्तेष्विति ।।१०२।।

एवं च नानुयाजेषु ये यजामहं करोतीत्यस्य वाक्यस्यार्थमाह-इत्थञ्चेति। अनेन पूर्वोक्तप्रकारेण चेत्यर्थः। अत्र पर्युदासस्य तात्पर्यविषयत्वेन करोतेरवतारितस्य नञोऽ-नुयाजशब्देन सम्बन्धसिद्धौ चेति यावत्। तत्र हेतुमाह। नञ इति। अनुयाजव्यति-

---

करके उसका 'अनुयाजेषु'- इन शब्दों के साथ अन्वय करने से वहाँ 'प्रतिषेध' (Negation) के स्थान पर पर्युदास (Exception) उत्पन्न होने लगेगा। यही निर्देश निम्नोक्त दो वार्तिकों में उल्लिखित हैं—

> 'पर्युदासः स विज्ञेयो यत्र पूर्वपदेन नञ्।
> 'प्रतिषेधः स विज्ञेयो यत्रोत्तरपदेन नञ्।
> नामधात्वर्थयोगी तु नैव नञ् प्रतिषेधकः।
> वदत्यब्राह्मणाधर्मावन्यमात्रविरोधिनौ।। इति ।।१०१।।

*अनुवाद- **इत्थमिति**। इस प्रकार 'यजतिषु ये यजामहं करोति नानुयाजेषु' का वाक्यार्थ 'अनुयाजव्यतिरिक्तेषु यजतिषु ये यजामहं इति मन्त्रं कुर्यात्' (अनुयाज के व्यतिरिक्त अन्य यागों में 'ये यजामहं' मन्त्र का अनुष्ठान करना चाहिये) होगा। 'नञ्' का 'अनुयाज के अतिरिक्त' यह अर्थ लक्षणा से किया जाता है। ऐसा करने से प्रकृत में विकल्प नहीं होगा। उक्तवाक्य में 'ये यजामह' का विधान नहीं किया जाता क्योंकि 'ये यजामह' मन्त्र की प्राप्ति 'यजतिषु ये यजामहं करोति' द्वारा ही हो जाती है। किन्तु सामान्यशास्त्र (यजतिषु ये यजामहं) से प्राप्त 'ये यजामहं' का अनुवाद करके 'ये यजामह' को अनुयाज से अतिरिक्त विषय के रूप में विहित किया जाता है। अर्थात् यागों में जो 'ये यजामह' मन्त्र का पाठ कर्तव्य है वह अनुयाज के अतिरिक्त यागों में ही कर्तव्य है। (इस प्रकार की व्यवस्था से कोई दोष उपस्थित नहीं होता, अतएव पर्युदास ही प्रकृत में उचित है) ।।१०२।।*

।। अर्थमीमांसा ।।

ग्रंथकार प्रकृत प्रसंग में पर्युदास की आवश्यकता को बता रहे है- **'अनुयाजेषु'**- का 'नञ्' से अन्वय करने पर **'नानुयाजेषु ये- यजामहं करोति'**- वाक्य बनता है। और यह वाक्य बनने पर, उसका 'नानुयाजेषु'- अर्थात् 'अनुयाज व्यतिरिक्तेषु यजतिषु ये- यजामह इति मन्त्रं कुर्यात्'. अर्थ होता है। 'नानुयाजेषु'- पद का 'अनुयाज व्यतिरिक्तेषु' यह अर्थ

रिक्तेऽनुयाजाभावस्य सत्वाच्छक्यसम्बन्धसम्भवेन लक्षणोपपत्तिरिति भावः। अत्र प्रतिषेधपक्षं परित्यज्य पर्युदासपक्षस्वीकारस्य फलमाह एवं चेति। ननु नानुयाजेषु ये यजामहं करोतीत्यत्र ये यजामह इति मन्त्रविधौ तस्यानुयाजव्यतिरिक्तविषयत्वविधौ च वाक्यभेदः स्यादित्यत आह-अत्र चेति। सामान्यशास्त्रेति। यजतिषु ये यजामहं करोतीति यजिसामान्ये तद्विधायकशास्त्रप्राप्तमेव ये यजामहं इति मन्त्रमनूद्य नानुयाजेषु ये यजामहं करोतीत्यत्र तस्यानुयाजव्यतिरिक्तविषयता विधीयत इत्यर्थः। तथा च यजतिष्वित्यादिसामान्यशास्त्रस्य विशेषापेक्षिणो नानुयाजेष्वित्यादिविशेषशास्त्रेणानुयाज-व्यतिरिक्तविषयसमर्पणादनुयाजव्यतिरिक्तयागेषु ये यजामह इति मन्त्रः कर्तव्यतया प्राप्तः। अनुयाजेषु तु तस्य कर्तव्यत्वेनाप्राप्तत्वादप्रतिषिद्धत्त्वाच्च नात्र विकल्पप्रसङ्गोऽपि सम्भवति। लक्षणयानुयाजव्यतिरिक्तविषयसमर्पणाच्च न नानुयाजेष्वित्यादिवाक्यस्या-प्रामाण्यमपि भवति। तस्मात्पर्य्युदासाश्रयणे बाधकाभावात्स एव स्वीकर्तव्य इति भावः।।१०२।।

'नञ्' शब्द की 'अनुयाज व्यतिरिक्त' में लक्षणा करने से प्राप्त हुआ है। क्योंकि, **'न'** का 'अनुयाजेषु' के साथ अन्वय होने पर, अनुयाजत्वाभाव- अर्थ होगा। यह अनुयाजत्वाभाव अनुयाजव्यतिरिक्त समस्त स्थानों पर रहता है। अत: इस प्रकार से शक्यार्थ से संबद्ध रहनेवाला जो 'अनुयाज व्यतिरिक्तत्व' रूप अर्थ है, वह लक्षणा से यहाँ ग्रहण किया गया है। तात्पर्य यह है कि 'नञर्थ' का अनुयाज के साथ सम्बन्ध मानकर 'पर्युदास' का ही आश्रयण उचित है, तब 'यजतिषु ये यजामहं करोति नानुयाजेषु'- का वाक्यार्थ- 'अनुयाजव्यतिरिक्तेषु यजतिषु ये यजामहं इति मन्त्रं कुर्यात्'- (अर्थात् 'अनुयाज के अतिरिक्त समस्त यज्ञों में 'ये यजामह'- मन्त्र का पाठ करना चाहिये' होगा)! इस तरह यहाँ विकल्प नहीं होगा। एवञ्च पर्युदासात्मक अर्थ करने पर विकल्प का संबंध उपपन्न ही नहीं होगा। क्योंकि **'अनुयाजव्यतिरिक्तेषु यजतिषु ये- यजामहं करोति'**- यह है पर्युदासात्मक वाक्य का स्वरूप। अब इसमें विकल्प का संबंध कहीं भी नहीं आ सकता। विकल्प की संभावना तब उत्पन्न होगी जब 'एक विधि कहता हो- 'ये-यजामह का अनुष्ठान करना चाहिये, और दूसरा विधि कहता हो, नहीं करना चाहिये, ऐसी स्थिति में विकल्प उत्पन्न होगा। किन्तु 'अनुयाजव्यतिरिक्तेषु यजतिषु ये-यजामहं करोति'- इत्यादि में उस प्रकार का परस्पर विरोध उत्पन्न ही नहीं होता। अर्थात् पर्युदास का आश्रय ग्रहण करने पर विकल्प की प्रसक्ति भी नहीं होती और परस्पर बाध्यबाधकभाव भी नहीं होता। क्योंकि, अनुयाजों में इस वाक्य के अनुसार **ये- यजामह** का न अनुष्ठान करने के लिए कहा गया है और न उसका प्रतिषेध ही किया गया है। परिणामत: यहाँ विकल्प की किंचित भी संभावना नहीं है।

पूर्वपक्षी कहता है कि पर्युदासात्मक अर्थ करने पर वाक्यभेद का दोष तो आता ही है। क्योंकि **'अनुव्याज व्यतिरिक्तेषु यजतिषु ये- यजामहं करोति'**- आपके इस वाक्यार्थ को व्यक्त करने वाले एक ही वाक्य में आप दो विधानों का अनुष्ठान एक ही समय करना चाहते हैं। वे दो विधान हैं- (१) **'ये- यजामह'**- का अनुष्ठान करने का एक विधि, और वह (२)

(१०३) पर्युदासोपसंहारयोर्भेदवर्णनम्

नन्वेवं सामान्यशास्त्रप्राप्तस्य विशेषे सङ्कोचनरूपादुपसंहारात्पर्युदासस्य भेदो न स्यादिति चेन्न। उपसंहारो हि तन्मात्रसङ्कोचार्थः। यथा 'पुरोडाशं चतुर्धा करोती'ति सामान्यप्राप्तचतुर्धाकरणम्। 'आग्नेयं चतुर्धा करोती'ति विशेषादाग्नेयपुरोडाशमात्रे सङ्कोच्यते। पर्युदासस्तु तदन्यमात्रसङ्कोचार्थ इति ततो भेदात्।।१०३।।

ननु पर्य्युदासाश्रयणपक्षे यजितिषु ये यजामहं करोतीति सामान्यशास्त्रेण यागमात्रे प्राप्तस्य ये यजमाह इति मन्त्रस्य नानुयाजेषु ये यजामहं करोतीति विशेषशास्त्रेणानु-

---

अनुष्ठान अनुयाज व्यतिरिक्त स्थल में करने का दूसरा विधि भी आप उसी के साथ करने के लिए कह रहे हैं। इसप्रकार एक ही वाक्य से दो विधियों के अनुष्ठान को कहना स्पष्टरूप से वाक्यभेद को व्यक्त करता है। किन्तु सिद्धान्ती– **'अत्र च वाक्ये ये– यजामह इति न विधीयते'**– इत्यादि से कहता है कि,– आप जैसा कहते हैं, वैसा हम नहीं करते हैं। हम इस वाक्य से **'ये– यजामह'** का कोई नवीन विधि नहीं कह रहे हैं। क्योंकि, **'यजतिषु ये– यजामहं करोति'**– इस वाक्य से वह विधि पूर्व ही प्राप्त हो चुका है। अत: उस 'यजतिषु' इस सामान्य शास्त्र से प्राप्त हुए **ये– यजामह** के सम्बन्धित विधि का यहाँ केवल अनुवाद मात्र किया गया है। और इसप्रकार से उसका अनुवाद करके **'ये–यजामह'** का अनुष्ठान अनुयाज व्यतिरिक्त स्थान पर ही करें, केवल इतना ही एक नवीन विधि हम यहाँ कह रहे हैं। तात्पर्य यह है कि हम तो मात्र **'ये–यजामह'**– मंत्र का **'यजतिषु'** में जो अनुष्ठान करना है, वह अनुयाज व्यतिरिक्त स्थान पर करना है, कहते हैं, इसप्रकार कहने मात्र से इसमें वाक्यभेद का दोष हम पर नहीं आ सकता। इसप्रकार पर्युदास पक्ष पर कोई भी दोष उत्थापित न हो सकने के कारण जहाँ विकल्पप्रसक्ति प्राप्त होगी, वहाँ 'पर्युदास' का ही आश्रयण करना चाहिये, यह जो पूर्व में कहा गया है, वह योग्य ही है।।१०२।।

अनुवाद– नन्वेवमिति। *प्रकृत में संशय होता है कि सामान्यशास्त्र से प्राप्त पदार्थ का यदि विशेष में संकोच हो तो* ***'पर्युदास'*** *और* ***'उपसंहार'*** *में कोई अन्तर ही नहीं रहेगा, किन्तु यह कहना ठीक नहीं है। क्योंकि सामान्य से प्राप्त का विशेष मात्र में संकोच करना ही* ***'उपसंहार'*** *होता है। यथा–* ***'पुरोडाशं चतुर्धा करोति'*** *(पुरोडाश को चार भागों में विभक्त करना चाहिए) इस सामान्य शास्त्र से प्राप्त* ***'पुरोडाश के चतुर्धाकरण'*** *का विधान* ***'आग्नेयं चतुर्धाकरोति'*** *(आग्नेय पुरोडाश को चार भागों में विभक्त करना चाहिए) इस विशेषशास्त्र मात्र के लिए संकुचित किया जाता है। पर्युदास में सामान्य से प्राप्त का विशेषशास्त्र से विशेष भिन्न में संकोच होता है। यही 'उपसंहार' और 'पर्युदास' में भेद है।।१०३।।*

याजव्यतिरिक्तविषये यागविशेषे सङ्कोचनात्पर्य्युदासस्योपसंहारादभेदापत्तिः स्यात्। सामान्ये प्राप्तस्य विशेषे सङ्कोचस्यैवोपसंहारपदार्थत्वात्। यथा पुरोडाशं चतुर्द्धा करोतीति पुरोडाशसामान्ये प्राप्तस्य चतुर्द्धाकरणस्याऽऽग्नेयं चतुर्द्धा करोतीत्याग्नेये विशेषे सङ्कोच इत्याशङ्कते-नन्वेवमिति। पुरोडाशं चतुर्द्धा करोतीत्यनेन पुरोडाशसामान्ये प्राप्तस्य चतुर्द्धाकरणस्याऽऽग्नेयं चतुर्द्धाकरोतीत्यनेन च पुरोडाशविशेषमात्रे सङ्कोचः क्रियते। प्रकृते तु यजतिष्वित्यादिना यजति सामान्ये प्राप्तस्य ये यजमाह इति मन्त्रस्य

।। अर्थमीमांसा ।।

दो प्रकार से प्राप्त होनेवाले निषेध के बाधक अर्थात् निषेध के अपवाद 'पर्युदास' के स्वरूप का विवेचनात्मक निरूपण यहाँ तक किया गया है। इसके अनन्तर पर्युदास जैसे ही प्रतीत होनेवाले किन्तु पर्युदास से भिन्न 'उपसंहार' संज्ञक दूसरे प्रकार का प्रस्तुत प्रकरण में निरूपण किया जा रहा है। पर्युदास से उसकी भिन्नता ज्ञात करने के लिए प्रथमतः मीमांसासूत्र[1] में वर्णित उक्त विषयक अधिकरण की ओर ध्यान देते हैं। जिससे 'उपसंहार' का अर्थ ज्ञात हो सकेगा।

उक्त अधिकरण में **'आग्नेयं चतुर्धा करोति'** इस विषय वाक्य को ग्रहण किया गया है। दर्शपूर्णमास में **स्विष्टकृत्** याग सम्पन्न होने पर जो पुरोडाश शेष रहेगा, उसे चार भागों में विभक्त कर चार ऋत्विजों को देने का प्रसंग यहाँ प्रस्तुत है। दर्शपूर्णमास के प्रकरण में **आग्नेय, अग्नीषोमीय** और **ऐन्द्राग्न** संज्ञक तीन पुरोडाश होते हैं। और प्रकृत में **'आग्नेयं चतुर्धा करोति'** वचन है, अतः पूर्वपक्षी कहता है कि प्रस्तुत प्रसंग में **अग्नीषोमीय** तथा **ऐन्द्राग्न** इनमें भी 'आग्नेय' के समान 'अग्नि' देवता है। अतः **आग्नेय, अग्नीषोमीय,** और **ऐन्द्राग्न–** इन तीनों ही पुरोडाशों का चतुर्धाकरण करना चाहिए, यह उक्त प्रकरण पर से ज्ञात होता है।

पूर्वपक्षी के कथन के उत्तर में सिद्धान्ती कहता है कि– ऐसा करना योग्य नहीं होगा। क्योंकि, **'आग्नेयं चतुर्धा करोति'** (आग्नेय पुरोडाश को चार भागों में विभक्त करना चाहिए।) में 'आग्नेय' इत्यादि स्थल पर **तद्धित प्रत्यय** किया गया है, वह केवल अग्नि– इस देवता से किया गया है, और अग्नीषोमीय तथा ऐन्द्राग्न– ये पुरोडाश द्विदैवत्य हैं। अतः **'आग्नेयं चतुर्धा करोति'** (आग्नेय पुरोडाश को चार भागों में विभक्त करना चाहिए)– इस वाक्य के अग्निदेवतारूपी लिंग के सामर्थ्य से यही निर्णय निष्पन्न होता है कि, 'अग्नीषोमीय' और 'ऐन्द्राग्न' इन देवताओं के पुरोडाशों का चतुर्धाकरण न करके केवल आग्नेय पुरोडाश का ही चतुर्धाकरण किया जाना चाहिये।[2]

१. द्रष्टव्य- जै.सू.अ. ३, पा. १, अधि. १५

२. 'पुरोडाशं चतुर्धा करोती'ति पुरोडाशसामान्ये विहितस्य चतुर्धाकरणस्यं 'आग्नेयं चतुर्धा करोति' इत्यनेनाऽग्नेयपुरोडाशमात्र एव नियमनं क्रियते। यत्र केवलोऽग्निर्देवता तस्यैव च चतुर्धाकरणम्। नतु यत्राऽन्यसहितस्याऽग्नेर्देवतात्वं तत्राऽग्नीषोमीयैन्द्राग्नादौ। (तं. सि. र. द्विती. परि.)

(ii) सामान्यविधिरस्पष्टस्संहियेत विशेषतः।
स्पष्टस्य तु विधेर्नैवमुपसंहार इष्यते।। (तंत्रवार्तिक - ३.४.१४)

नानुयाजेष्वित्यादिना यजति विशेषादनुयाजरूपादन्यमात्रे यजतिविशेषे सङ्कोच इत्युपसंहारात्पर्युदासस्य भेदः स्पष्ट एवेति परिहरति। नेत्यादिना। तन्मात्रसङ्कोचार्थ इत्यर्थः। सामान्यप्राप्तस्य विशेषमात्रसङ्कोचार्थ इत्यर्थः। तत्रोदाहरणमाह-यथेति। तदन्यमात्रसङ्कोचार्थ इति सामान्यप्राप्तसविशेषादन्यमात्रसङ्कोचार्थ इत्यर्थः। इति ततो भेदादिति। एवमुक्तप्रकारेणोपसंहारात्पर्य्युदासस्य भेदान्नतयोरभेदापत्तिरित्यर्थः। अपरे तूपसंहोरो नाम सामान्यतः प्राप्तस्य विशेषे सङ्कोचनरूपो विधेर्व्यापारविशेषः। पर्य्युदासस्तु 'पर्य्युदासः सविज्ञेयो यत्रोत्तरपदेन नञित्यभियुक्तोक्त्या प्रत्ययातिरिक्ते न नाम्ना धातुना च नञः सम्बन्धरूपः तस्मादनयोस्तावत्स्वरूपतः स्पष्ट एव भेद इति न तयोरभेदापत्तिरित्याहुः।।१०३।।

उपर्युक्त अधिकरण को **भाट्टदीपिका** में **'उपसंहाराधिकरण'** की संज्ञा दी गई है। ['सामान्य प्राप्तस्य विशेषमात्रे संकोच: उपसंहार:'] सामान्य शास्त्र से प्राप्त पदार्थ का विशेष मात्र में जो संकोच होता है, उसे ही उपसंहार कहा जाता है। यहाँ सामान्यत्वेन सभी पुरोडाशों का चतुर्धाकरण प्राप्त होने पर **'आग्नेयं चतुर्धा करोति'** इस वाक्य से उस सामान्यप्राप्ति का आग्नेयपुरोडाश– इस विशेषस्थल में संकोच किया गया है। अत: यहाँ सामान्यत्वेन प्राप्त विधि का विशेष स्थल पर संकोच किया जाता है।

ग्रंथ के मूलपाठ में 'उपसंहार' का लक्षण संक्षेप में इसप्रकार दिया गया है– 'उपसंहारो हि तन्मात्रसंकोचार्थ:'। लक्षण वाक्य में– [सामान्यशास्त्रप्राप्तस्य विशेषे संकोचनरूपादुपसंहारात] 'विशेष'– शब्द को अनुलक्षित कर **'तत्'** सर्वनाम को निविष्ट किया गया है। अत: **'तन्मात्रसंकोचः'** का तात्पर्य है– **'विशेषमात्रसंकोचः'**। एवञ्च उपसंहार का संपूर्ण लक्षण इस प्रकार बनता है– **'सामान्यप्राप्तस्य विशेषमात्रे संकोचः उपसंहारः**। मूल में जिसप्रकार उपसंहार का लक्षण **'तन्मात्रसंकोचः'**– इन शब्दों में दिया गया है, उसीप्रकार पर्युदास का लक्षण– **'तदन्यमात्रसंकोचः'**– इन शब्दों में दिया गया है। अत: पर्युदास लक्षण का भी ['सामान्यप्राप्तस्य विशेषात् अन्यमात्रे संकोच: पर्युदास:'।] उपसंहार के लक्षण के समान विचार करने पर पर्युदास का लक्षण इसप्रकार बनता है–

सामान्यप्राप्तस्य विशेषमात्रे संकोचः– उपसंहारः।
सामान्यप्राप्तस्य विशेषादन्यमात्रे संकोचः– पर्युदासः।

उपर्युक्त लक्षणों की तुलना करने पर दोनों लक्षणों का भेद ज्ञात होता है। 'उपसंहार' में विशेष के स्थान पर संकोच और 'पर्युदास' में विशेष को छोडकर अन्य स्थान पर संकोच प्रधानरूप से परिलक्षित होता है। अर्थात् **उपसंहार** में सामान्य की स्थिति विशेष के क्षेत्र में होती है और **पर्युदास** में सामान्य, विशेष के क्षेत्र का परिहार करके शेष रहे अपने ही क्षेत्र में स्थित रहता है। और यह अन्तर **'उपसंहार'** और **'पर्युदास'** इन शब्दों के अर्थो पर से भी ज्ञात होता है। **उपसंहार** का अर्थ है, अपने पास एकत्र करना और **पर्युदास** (परि + उद् + अस्) का अर्थ है– अपने में से बाहर निकाल देना। एवञ्च 'उपसंहार' सामान्य को विशेष में एकत्र करके लाता है और 'पर्युदास' सामान्य को विशेष में से बाहर निकाल देता है। इसी अर्थ को अन्य लक्षण में– ['स्वमात्रे व्यवस्थापनं उपसंहार:' 'स्वेतरस्मिन् व्यवस्थापनं पर्युदास:']– इन

(१०४) विकल्पप्रसक्तौ अपि प्रतिषेधाश्रयणम्

कुत्रचित् विकल्पप्रसक्तावप्यनन्यगत्या प्रतिषेधाश्रयणम्। यथा 'नातिरात्रे षोडशिनं गृह्णाति' इत्यादौ। अत्र हि'अतिरात्रे षोडशिनं गृह्णाती'ति शास्त्रप्राप्तषोडशिग्रहणस्य निषेधाद्विकल्पप्रसक्तावपि न प्रर्युदासाश्रयणम्। असम्भवात्। तथाहि यद्यत्र षोडशिपदार्थेन नञर्थान्वयस्तदातिरात्रे षोडशिव्यतिरिक्तं गृह्णातीति वाक्यार्थबोधः स्यात्। स च न सम्भवति। अतिरात्रे षोडशिनं गृह्णातीति प्रत्यक्ष-विधिविरोधात्। यदि चातिरात्रेण पदार्थेनान्वयस्तदातिरात्रव्यतिरिक्ते षोडशिनं गृह्णातीति वाक्यार्थबोधः स्यात्। सोऽपि न सम्भवति। तद्विधिविरोधात्। अतोऽत्रानन्यगत्या शास्त्रप्राप्तषोडशिग्रहणस्यैव निषेधः। नच विकल्पप्रसक्तिः। तस्याप्यपेक्षणीयत्वात्।।१०४।।

किञ्च यत्र तु पर्य्युदास आश्रयितुं न शक्यते तत्र विकल्पप्रसक्तावपि निषेध एव आश्रीयत इत्याह-कुत्रचिदिति। अनन्यगत्येति। प्रतिषेधादन्यगतिविशेषस्य पर्य्युदा-

---

शब्दों द्वारा व्यक्त किया गया है। इसके अतिरिक्त यह भेद भी ध्यान में रखने योग्य है कि 'पर्युदास' का वाक्य 'नञ्' घटित होता है, परन्तु उपसंहार 'नञ्' घटित वाक्य के द्वारा व्यक्त नहीं होता है। उपसंहारात्मक अर्थ उसके संकोचक शब्दों के द्वारा प्रकट किया जाता है। उपर्युक्त भिन्न-भिन्न रीति से किये हुए स्पष्टीकरण से 'उपसंहार' और 'पर्युदास' में निहित अन्तर तथा एक दूसरे से एकदम विपरीत रहनेवाली उनकी प्रक्रिया का ज्ञान हो सकता है।।१०३।।

अनुवाद– कुत्रचिदिति *किसी-किसी स्थल पर विकल्पप्रसक्ति होने पर भी 'पर्युदास' मानना असंभव हो जाता है तथा उपायान्तर के अभाव में प्रतिषेध का आश्रय लेना पड जाता है। यथा–**'नातिरात्रे षोडशिनं गृहणाति'** (अतिरात्र संस्थाक सोमयाग में **'षोडशी'** नामक पात्र ग्रहण नहीं करना चाहिए) आदि में। यहाँ **'अतिरात्रे षोडशिनं गृहणाति'** इस शास्त्र से विहित षोडशिपात्र ग्रहण का निषेध **'नातिरात्रे षोडशिनं गृहणाति'** इस शास्त्र से होने लगता है, तथापि यहाँ पर्युदास का आश्रय नहीं लिया जाता है। प्रकृत में पर्युदास का स्वीकरण असम्भव हो जाता है। क्योंकि, यदि प्रकृत स्थल में 'नञर्थ' का अन्वय षोडशी पदार्थ के साथ करते हैं तो **'नातिरात्रे षोडशिनं गृहणाति'** वाक्य का अर्थ होगा **'अतिरात्रे षोडशिव्यतिरिक्तं गृहणाति'** (अतिरात्र में षोडशि भिन्न का ग्रहण करना चाहिए।) किन्तु यह होना भी असंभव हीं है क्योंकि, यह भी प्रत्यक्ष विधि विरुद्ध है। अत: अन्य कोई उपाय न होने के कारण अगत्या शास्त्र प्राप्त षोडशी ग्रहण का ही निषेध स्वीकार किया जाता है। यहाँ यह भी कहना कि **'विकल्प प्रसक्ति'** दोष है, वह भी उचित नहीं है, क्योंकि प्रकृत में विकल्प इष्ट है।।१०४।।*

सस्यासम्भवेनेत्यर्थः । तत्रोदाहरणमाह-यथेति । नातिरात्र इत्यादिवाक्ये प्रतिषेध एवाश्रीयते नतु पर्युदासः । अत्र चातिरात्र इत्यादिशास्त्रेण प्राप्तस्य षोडशिनामकपात्र-विशेषग्रहणस्य प्रतिषेधाद्विकल्पप्रसङ्गेऽपि पर्युदासाश्रयणासम्भवादित्याह-प्रतिषेधाद्विक-ल्पप्रसङ्गेऽपि पर्युदासाश्रयणासम्भवादित्याह-अत्र हीत्यादिना । अत्र पर्य्युदासाश्रयणा-सम्भवमुपपादयति-तथाहीत्यादिना । अत्रेति । नातिरात्रे षोडशिनं गृह्णातीत्यत्रेत्यर्थः । षोडशिपदार्थो नञर्थान्वय इति अतिरात्रे न षोडशिनं गृह्णातीत्यन्वय इत्यर्थः । एतदन्वयपक्षे वाक्यार्थमाह-तदेति । एतादृशवाक्यार्थासम्भवे हेतुमाह-अतिरात्रे षोडशिनमिति । अत्र पर्य्युदासोपपत्तये ऽन्वयान्तरमाह-यदीति । अन्वय इति नञर्थस्येति शेषः । निरुक्तान्वयानुरोधेन वाक्यार्थबोधासम्भवेऽपि हेतुमाह-तद्विधिविरोधादिति ।

।। अर्थमीमांसा ।।

इसके पूर्व के ग्रंथ में दो कारणों से उत्पन्न होनेवाले पर्युदास के निरूपण के पश्चात् 'पर्युदास' और 'उपसंहार' ये दोनों एक दूसरे से नितान्त भिन्न हैं, निर्देशित किया गया। प्रस्तुत प्रकरण में ग्रंथकार प्रतिषेध और पर्युदास विषयक विचार पुनः प्रस्तुत कर रहे हैं–

हम सिंहावलोकन करें तो यह प्रतीत होता है कि- पूर्व प्रकरणों में निषेध का निरूपण किया गया। तत्पश्चात् उस निषेध का बाध करने वाले दो कारणों का उल्लेख करके, वे दो कारण प्राप्त होने पर निषेध के स्थान पर 'पर्युदास' होता है, कहा गया है। निषेध का बाध करनेवाले जिन दो कारणों का निरूपण किया गया है, उनमें से दूसरे कारण के सम्बन्ध में यह कहा गया है कि– विधायक और प्रतिषेधक, ये दो परस्पर विरुद्धशास्त्र एकत्र होने पर, वहाँ अष्टदोषदुष्ट विकल्प मान्य न करके 'पर्युदास' को ही मान्य करना चाहिये। परन्तु निषेध के अपवादस्वरूप जिस पर्युदास का उपर्युक्त उदाहरण में उल्लेख किया गया है, उसका (पर्युदासका) प्रतिप्रसव, अर्थात् उस अपवाद के भी अपवाद का निरूपण प्रस्तुत प्रकरण में किया जा रहा है। प्रतिषेध के कारण यदि विकल्पप्रसक्ति प्राप्त होती है तो, उसका परिहार करने के लिये 'पर्युदास' मानना चाहिए, यह जो पूर्व में कहा गया है, उसके विपरीत प्रकृत में यह प्रतिपादित किया जा रहा है कि, कहीं-कहीं विकल्प प्राप्त होने पर वहाँ पर्युदास न मानने की स्थिति में– प्रतिषेध का ही आश्रय अनन्यगत्या (विवशतावश) ग्रहण करना आवश्यक होता है।

उक्त प्रतिप्रसव के दृष्टान्त के रूप में **'नातिरात्रे षोडशिनं गृह्णाति'**– इस वाक्य को ग्रहण किया गया है। इस वाक्य का अर्थ है– 'अतिरात्र'– संज्ञक सोमयाग में 'षोडशी' नामक पात्र का ग्रहण नहीं करना चाहिए।' तै. सं. में अग्निष्टोम, उक्थ, षोडशि, और अतिरात्र– ये ज्योतिष्टोम की चार संस्था कथित हैं[१]। उनमें से 'अतिरात्र' नामक याग में **'अतिरात्रे षोडशिनं गृह्णाति'**– यह एक विधि वाक्य, और **'नातिरात्रे षोडशिनं गृह्णाति'**– यह दूसरा

---

१. तै.सं.कां. ७, प्रपा. ४, अनु. १०

अतिरात्रे षोडशिनं गृह्णातीत्यतिरात्रयागे षोडशिग्रहणविधायकप्रत्यक्षविधिविरोधादित्यर्थः । उपपादितमुपसंहरति-अत इति । उक्तदोषप्रसङ्गादस्मिन्वाक्ये प्रतिषेधादन्यत्रसम्भवेन प्रतिषेध एव स्वीक्रियत इत्यर्थः । अत्र प्रतिषेधे सिद्धान्तिते विकल्पप्रसङ्गमाशङ्क्येष्टापत्या परिहरति-नचेत्यादिना । अत्रेदं बोध्यम् । यत्र तस्य व्रतमित्याद्युपक्रमो नास्ति विकल्पाप्रसक्तिश्च तत्र प्रतिषेधो भवति । यथा न कलञ्जं भक्षयेदिति । यत्र तु विकल्पप्रसङ्गेऽपि पर्युदासो नाश्रयितुं शक्यते तत्रापि प्रतिषेध एव स्वीक्रियते । यथा नातिरात्रे षोडशिनं गृह्णातीति । ननु नातिरात्रे षोडशिनं गृह्णातीत्यत्र विकल्पप्रसङ्गेऽपि यदि षोडशि ग्रहणस्य प्रतिषेध एव स्वीक्रियते । तदा प्रतिषिध्यमानस्यानर्थहेतुत्वस्वीकारात् ।।१०४।।

निषेधवाक्य, ये दोनों वाक्य उल्लिखित हैं। 'षोडशि' का अर्थ है– 'सोमपात्रविशेष'। अब इन दोनों की व्यवस्था किस प्रकार की जाय। क्योंकि विधायक और प्रतिषेधक– दो परस्पर विरुद्ध शास्त्रों के एकत्र उपस्थित होने पर, केवल दो मार्ग ही शक्य रहते हैं– (१) पर्युदास, का या (२) प्रतिषेध का । उनमें से 'अतिरात्रे' के स्थान पर 'पर्युदास' शक्य न होने से 'प्रतिषेध' मान्य किया जाना चाहिए, यह सिद्धान्तः निश्चित किया गया है।

उसी सिद्धान्त का अनुसरण करके यहाँ पर्युदास शक्य क्यों नहीं है? यह प्रथमतः निर्देशित किया जा रहा है। प्रस्तुत स्थल पर **'अतिरात्रे षोडशिनं गृह्णाति'**– यह विधि वाक्य है, और **'नातिरात्रे षोडशिनं गृह्णाति'**– यह निषेध वाक्य है। एक विधिवाक्य और उसके विपरीत दूसरे निषेधवाक्य के उपस्थित रहने की स्थिति में विकल्प के अतिरिक्त दूसरा क्या निष्पन्न होगा? किन्तु विकल्प तो अष्टदोषदुष्ट होता है। ऐसी स्थिति में उसका परिहार करने के लिए **'नानुयाजेषु'** की तरह वस्तुतः यहाँ 'पर्युदास' ही मान्य होना चाहिए। किन्तु पर्युदास का भी यहाँ मान्य होना शक्य नहीं है। क्योंकि **'नातिरात्रे षोडशिनं गृह्णाति'** इस में से (न + गृह्णाति) 'नञ्' का 'गृह्णाति' के साथ अन्वय करने पर, उससे निषेध उत्पन्न होगा, यह स्पष्ट है। किन्तु यहाँ निषेध ग्राह्य न होकर पर्युदास का ग्रहण आवश्यक है। पर्युदास उत्पन्न होने के लिए 'नञ्' का 'गृह्णाति' क्रिया से अन्वय करना योग्य नहीं होगा। अतः उसके लिए 'नञ्' का 'नाम' से अन्वय करना होगा। **'नातिरात्रे षोडशिनं गृह्णाति'**– इस वाक्य में– **'अतिरात्रे'** और **'षोडशिनं'**– ये जो दो नाम हैं, उनके साथ 'नञ्' का अन्वय संभव है। सर्वप्रथम नञ् का 'गृह्णाति' से हटाकर 'षोडशिनम्' के साथ 'न + षोडशिनम्' अन्वय करने पर उसका अर्थ होगा– **'षोडशिव्यतिरिक्तम्'**। और तदनुसार समस्त वाक्य का अर्थ होगा– **'अतिरात्रे षोडशिव्यतिरिक्तं गृह्णाति'** किन्तु यह वाक्यार्थ तो **'अतिरात्रे षोडशिनं गृह्णाति'**। इस प्रत्यक्षविधि से विरुद्ध है। [अर्थात्– (न + षोडशिनम्) = अतिरात्रे षोडशिव्यतिरिक्तं गृह्णाति = **वाक्यार्थः**, अतिरात्रे षोडशिनं गृह्णाति = **विधिः**।] इससे **'षोडशिव्यतिरिक्तं षोडशिनं गृह्णाति'** यह अर्थशून्य वाक्य प्राप्त

होता है। इसप्रकार उपर्युक्त प्रकार के वाक्यार्थ से विधि से प्रत्यक्ष विरोध आने के कारण निषेधक वाक्य से पर्युदास मान्य करने पर फिर विधिवाक्य को कहीं अवकाश ही शेष नहीं रहता। जबकि 'नानुयाजेषु'- के स्थान पर पर्युदास मान्य करने पर **'यजतिषु'** के स्थान पर **'ये- यजामह'** को अवकाश प्राप्त हो रहा था, किन्तु यहाँ वैसा नहीं होता। अत: यहाँ पर्युदास मानने में कोई अर्थ ही (सार्थकता) नहीं है।

'नञ्' का 'अतिरात्रे' इस शेष रहे 'नाम' के साथ अन्वय करने पर **'न + अतिरात्रे'** का अर्थ **'अतिरात्रव्यतिरिक्ते'** होता है। जिससे **'अतरात्रव्यतिरिक्ते षोडशिनं गृह्णाति'**- यह वाक्यार्थ निष्पन्न होता है। किन्तु यह अर्थ तो- 'अतिरात्रे षोडशिनं गृह्णाति' इस विधि के विरुद्ध है। अर्थात्-(न + अतिरात्रे) = अतिरात्रव्यतिरिक्ते षोडशिनं गृह्णाति'- **वाक्यार्थः**। अतिरात्रे षोडशिनं गृह्णाति- **विधिः**।. इसका तात्पर्य यह हुआ कि उपर्युक्तानुसार ही **'अतिरात्रव्यतिरिक्ते अतिरात्रे'** ऐसा एक अनुपपन्न विधान प्राप्त होने लगता है। अत: उक्त वाक्यार्थ का विधि के साथ प्रत्यक्ष विरोध प्राप्त होने से पूर्वोक्तानुसार ही यहाँ भी पर्युदास शक्य नहीं। इसलिए अन्य कोई मार्ग न होने से **'अतिरात्रे षोडशिनं गृह्णाति'**- इस वाक्य का **'नातिरात्रे षोडशिनं गृह्णाति'**- इस वाक्य के द्वारा प्रकृत में निषेध ही किया जाता है, यही मान्य करना चाहिए। यह निषेध स्वीकार करने पर उससे विकल्प प्राप्त होगा, यह स्पष्ट ही है। और 'विकल्प' आठ दोष होने से दुष्ट है, इसमें भी कोई शंका नहीं है। किन्तु अन्य कोई मार्ग न होने से- व्रीहियवादिक की तरह यहाँ विकल्प मान्य करना चाहिए। यहाँ- मूल पाठ में **'तस्याप्यपेक्षणीयत्वात्'**- ये शब्द प्रयुक्त हैं, किन्तु यहाँ विकल्प की अपेक्षा (आवश्यकता) ही है, ऐसी बात नही है किन्तु कोई उपाय न होने से विकल्प को स्वीकार करना पंड़ता है। अत: इस दृष्टि से ऐसे स्थल पर सायणाचार्य ने 'गत्यन्तराभावात् व्रीहियववत् विकल्पोऽभ्युपेय:'- इन शब्दों का जो प्रयोग किया है, वह योग्य ही है। अत: 'न विकल्पप्रसक्ति: वाच्या। तस्य विकल्पस्य अपि अपेक्षणीयत्वात् (अभ्युपेयत्वात्)।. इस प्रकार मूलपाठ का अर्थ करना चाहिए। **आपदेवी** के 'अतश्चात्र पर्युदासस्यानुपपत्तेर्निषेध एव स्वीक्रीयते। विकल्पोऽपि स्वीक्रियते। अनन्यगते:।' पाठ से भी यही अर्थ व्यक्त होता है।

इसप्रकार उक्त समस्त विवेचन के आधार पर निषेध के सम्बन्ध में अन्ततोगत्वा यही निष्कर्ष प्राप्त होता है कि- (१) जहाँ उपक्रम या विकल्पप्रसक्ति ये 'पर्युदास' उत्पन्न करनेवाले बाधक कारण न रहते हों, वहाँ 'न कलञ्जं भक्षयेत्'- इत्यादि स्थलों की तरह प्रतिषेध उत्पन्न हो सकता है, अथवा (२) विकल्पप्रसक्ति रहने पर भी जहाँ 'पर्युदास' का समाश्रयण करना शक्य नहीं होता, वहाँ 'नातिरात्रे षोडशिनं गृह्णाति'- इस वाक्य की तरह प्रतिषेध उत्पन्न हो सकता है। इसप्रकार कुल मिलाकर प्रतिषेध दो स्थलों पर शक्य होता है।।१०४।।

(१०५) विकल्पे प्रतिषिध्यमानस्यानर्थहेतुत्वाभाववर्णनम्

इयांस्तु विशेषो यद्विकल्पादेकप्रतिषेधेऽपि प्रतिषिध्यमानस्य नानर्थहेतुत्वम्। विधिनिषेधोभयस्यापि क्रत्वर्थत्वात्। यत्र तु न विकल्पः, प्राप्तिश्च रागत एव, प्रतिषेधश्च पुरुषार्थः। तत्र प्रतिषिध्यमानस्यानर्थहेतुत्वम्। यथा न कलञ्जं भक्षयेदित्यादौ कलञ्जभक्षणादेः। तत्र भक्षणनिषेधस्यैव पुरुषार्थत्वात्। न च 'दीक्षितो न ददाति न जुहोती'त्यादौ शास्त्रप्राप्तदानहोमादीनां निषेधाद्विकल्पापत्तिरिति वाच्यम्। स्वतः पुरुषार्थभूतदानहोमादीनां निषेधस्य पुरुषार्थत्वाभावेऽपि निषिध्यमानस्यानर्थहेतुत्वात्। यथा ऋतौ स्वस्त्रीगमनादेः। तन्निषेधस्य क्रत्वर्थत्वेन तस्य क्रतुवैगुण्यसंपादकत्वात्।।१०५।।

षोडशिग्रहणस्यापि कलञ्जभक्षणादिवत्प्रतिषिध्यमानत्वेनानर्थहेतुत्वादर्थत्वबाधापत्तिरित्याशङ्क्याह-इयांस्त्वित्यादिना। प्रतिषिध्यमानयोरनर्थहेतुत्ववदभावरूपो विशेष इत्यर्थः। विकल्पादिति यत्र प्रतिषेधस्य विकल्पापादकत्वं तत्रैकस्य प्रतिषेधेऽपि न

---

*अनुवाद– **इयांस्त्विति**। यहाँ ('न कलञ्जं भक्षयेत्' इस निषेध वाक्य से **'नातिरात्रे'** एवं **'अतिरात्रे'** इस विकल्पात्मक निषेध वाक्य में) इतनी विशेषता रहती है कि प्रकृत में विकल्प प्राप्त होने से एक का (षोडशिग्रहण) निषेध होने पर भी प्रतिषिध्यमान (षोडशिग्रहण) अनर्थ हेतु नहीं हो सकता। क्योंकि विधि (षोडशिग्रहण) एवं निषेध (षोडशि अग्रहण) दोनों ही क्रत्वर्थ है (यज्ञ के उपकारक हैं)। किन्तु जहाँ पर विकल्प नहीं होता और अनुष्ठान राग प्राप्त है तथा निषेध पुरुषार्थ है वहाँ निषिध्य पदार्थ अनर्थ का हेतु होता है। यथा– 'न कलञ्जं भक्षयेत्' इत्यादि उदाहरणों में कलञ्जभक्षण रागतः (स्वभावतः) प्राप्त है तथा भक्षण के निषेध से ही पुरुषार्थ होता है।*

***न चेति**। प्रकृत प्रसङ्ग में यह कहना भी उचित नहीं है कि शास्त्र द्वारा विहित दान, एवं होम का निषेध 'दीक्षितो न ददाति न जुहोति' (दीक्षित व्यक्ति को न दान करना चाहिए और न होम करना चाहिए) इत्यादि वाक्य द्वारा किया जाता है। अतः प्रकृत (षोडशि ग्रहण के समान) में विकल्प प्राप्ति मानना चाहिए। क्योंकि दान, होमादि स्वयं पुरुषार्थ हैं और दान, होमादि का निषेध पुरुषार्थ रहित किन्तु निषिद्ध पदार्थ (जैसे दान, होम) प्रकृत याग स्थल में अनर्थ का कारण होता है। यथा– स्वपत्नीगमन पुरुषार्थरूप है किन्तु याग में स्वस्त्रीगमन भी अनर्थजनक है। इस हेतु पुरुषार्थभूत स्वस्त्रीगमन भी क्रतु में वैगुण्यादि उत्पन्न कर अनर्थ का कारण होता है।।१०५।।*

।। अर्थमीमांसा ।।

शास्त्र में जब किसी पदार्थ का प्रतिषेध किया जाता है, तो निश्चित ही वह पदार्थ अनर्थहेतुक अर्थात् अनर्थजनक होता है, और इसीलिए उस पदार्थ का प्रतिषेध शास्त्र में विहित रहता है। इससे यह स्पष्ट है कि प्रतिषिद्ध पदार्थ में अनर्थहेतुत्व होता है, और इसीलिए

प्रतिषिध्यमानस्यानर्थहेतुत्त्वमित्यर्थः । तत्र हेतुमाह । विधीति । रागत एवेत्येवकारेण षोडशिग्रहणादिवच्छास्त्रेण प्राप्तिः प्रतिषिध्यते । अत्र निषिध्यमानस्यानर्थहेतुत्वे हेतुमाह-तत्रेति । षोडशिग्रहणविधितत्प्रतिषेधयोरुभयोरपि क्रत्वर्थत्वात्तत्र प्रतिषेध्यमानस्य नानर्थ-हेतुत्वम् । अत्र तु कलञ्जभक्षणादिप्रतिषेधस्यैव पुरुषार्थत्वं न तु तदनुष्ठानस्येति प्रतिषि-ध्यमानस्य कलञ्जभक्षणब्राह्मणहननादेरनर्थहेतुत्वमेवेति भावः । ननु यथा शास्त्रप्राप्तस्य षोडशिग्रहणस्य प्रतिषेधे विकल्पः स्वीकृतः । तथा शास्त्रप्राप्तदानादीनामपि प्रतिषेधे विकल्पापत्तिः स्यादिति दृष्टान्ताभिप्रायेणातिप्रसङ्गमाशङ्क्य परिहरति नचेत्यादिना । स्वत इति। स्वतः पुरुषार्थभूतदानहोमादीनां पुरुषार्थत्वेनैव शास्त्रप्राप्तिः । क्रत्वर्थत्वेनैव च प्रतिषेध इति षोडशिग्रहणविधितत्प्रतिषेधयोरुभयोस्तुल्यार्थत्वाभावेन न विकल्पापत्तिः । किञ्च रागतः प्राप्तस्य पुरुषार्थत्वेन प्रतिषेधे प्रतिषिध्यमानस्य कलञ्जभक्षणादिवदनर्थ-

'कलञ्जभक्षण' का प्रतिषेध भी किया गया है। उसीप्रकार पूर्व के परिच्छेद में षोडशिग्रहण का भी प्रतिषेध किया गया है, इससे सहजगत्या ज्ञात होता है कि, इस षोडशिग्रहण में भी अनर्थहेतुत्व होना चाहिए, किन्तु वैसा नहीं है । 'कलञ्जभक्षण' और 'षोडशिग्रहण'– इन दो प्रतिषेधों में जो विशेष (भेद) है, वह यह है कि कलञ्जभक्षण में अनर्थहेतुत्व विद्यमान है, और षोडशिग्रहण में अनर्थहेतुत्व नहीं है। षोडशिग्रहण प्रतिषिद्ध होने पर भी अनर्थहेतुत्व से रहित है। क्योंकि ऐसे स्थलों पर विधि और निषेध– ये दोनों ही 'क्रत्वर्थ' अर्थात् क्रतुपर (यागपर) उपकारार्थ होते हैं। वे पुरुषार्थ अर्थात् पुरुष पर कोई उपकार करने के लिए नहीं होते– **'विधिनिषेधोभयस्यापि क्रत्वर्थत्वात्'**। अनर्थ यदि होना हो तो, निश्चित ही वह पुरुष का होगा। किन्तु ये षोडशिग्रहण से सम्बन्धित विधि और निषेध दोनों ही पुरुष के लिए न होकर केवल क्रत्वर्थ ही हैं, अतः प्रकृत में प्रतिषिध्यमान षोडशिग्रहण में अनर्थहेतुत्व कदापि नहीं हो सकता। अर्थात् षोडशिग्रहण से पातक आदि कोई दोष नहीं लगता। किन्तु कलञ्जभक्षण की बात इसके विपरीत है, क्योंकि उसमें अनर्थहेतुत्व है।[१]

अब यह देखना है कि यह अनर्थहेतुत्व किन कारणों से उत्पन्न होता है। इसके सम्बन्ध में 'यत्र तु न विकल्पः'– इत्यादि वाक्य में तीन कारणों का उल्लेख किया गया है। (१) जहाँ विकल्प नहीं होता, (२) जहाँ रागतः प्राप्ति होती है, और (३) जहाँ प्रतिषेध पुरुषार्थ के लिए होता है, वहाँ अनर्थहेतुत्व विद्यमान रहता है। अधुना उक्त तीन कारणों के आधार पर **कलञ्जभक्षण** के अनर्थहेतुत्व का परीक्षण करने पर प्रतीत होता है कि (१) प्रथम कारण में निरूपितानुसार **कलञ्जभक्षण** के सम्बन्ध में किसी भी प्रकार का 'विकल्प' पूर्व में प्राप्त नहीं हुआ है। जबकि **षोडशिग्रहण** में विकल्प की प्राप्ति हुई है। किन्तु वह शास्त्रप्राप्त विकल्प होने से वहाँ अनर्थहेतुत्व की उत्पत्ति का होना शक्य नहीं है। (२) दूसरा कारण है रागतः प्राप्ति। कलञ्जभक्षण तो रागतः प्राप्त हुआ है, अतः इसमें अनर्थहेतुत्व का होना नितान्त स्वाभाविक ही है। किन्तु षोडषिग्रहण की स्थिति पर ध्यान देने से ज्ञात होता है कि **'अतिरात्रे षोडशिनं गृह्णाति'**– इस शास्त्र से षोडशिग्रहण की प्राप्ति हुई है, रागतः नहीं। अतः यहाँ भी

१. 'षोडशिग्रहणविधितत्प्रतिषेधयोरूभयोरापि............प्रतिषिध्यमानस्येति। (कौमुदी)

हेतुत्वस्वीकारान्न दानहोमादेः प्रतिषिध्यमानस्याप्यनर्थहेतुत्वं सम्भवति तस्य रागतः प्राप्तत्वाभावात्। कलञ्जभक्षणादिप्रतिषेधवत्तत्प्रतिषेधस्य पुरुषार्थत्वाभावाच्चेति भावः। अत्रेदं बोध्यम्। ज्योतिष्टोमे श्रूयते दीक्षितो न ददाति न जुहोति न पचतीति तत्र यद्दानादिकं पुरुषार्थं यच्च क्रत्वर्थं तत्राप्युपदिष्टमतिदिष्टं च तत्सर्वं प्रतिषिध्यते कुतः न ददातीत्यादिवचनस्य सामान्यरूपत्वादित्याग्निहोत्रदानादिष्टस्यापि प्रतिषेधे सत्युपदेशो-व्यर्थः स्यादिति। ततोऽतिदिष्टं पुमर्थं चेत्येतदुभयमेव क्रत्वर्थत्वेनोपदिष्टं दानादिकमनुष्ठे-यमिति मध्यमः पक्षः। नित्याग्निहोत्रदानादिकं पुरुषार्थत्वेन यत्प्रत्यक्षश्रुतावुपदिष्टं ज्योतिष्टोमकालेऽपि प्राप्तं यच्चातिदिष्टं दानादिकं तयोरुभयोर्मध्ये प्रत्यक्षोपदिष्टनिषेध-स्योपदिष्टमेव सन्निहितमिति पुमर्थस्यैवात्र निषेधः नच नित्याग्निहोत्रदानादौ विधिनिषेधयोः

अनर्थहेतुत्व उत्पन्न नहीं हो सकता। (३) और तीसरा कारण इस प्रकार है कि– जो प्रतिषेध विहित है, वह पुरुषार्थ के लिए, अर्थात् पुरुषपर (क्रतु पर नहीं) उपकार करने के लिए होना चाहिए, और कलञ्जभक्षण के सम्बन्ध में जो प्रतिषेध विहित है, निश्चित ही वह पुरुषोपकारक ही है (तत्र भक्षणनिषेधस्य पुरुषार्थत्वात्)। क्योंकि कलञ्जभक्षण न करने से जो उपकार होगा, उससे क्रतु के अपूर्व की वृद्धि नहीं होती, अपितु उसके द्वारा पुरुष का ही कल्याण होता है। परन्तु **षोडशिग्रहण** में इसके विपरीत स्थिति है इसका प्रतिषेध केवल 'क्रत्वर्थ' है। इस तुलनात्मक विवेचन से ऐसा प्रतीत होता है कि, ये जो अनर्थहेतुत्व के तीन कारण उल्लिखित है, वे षोडशिग्रहण में संगत (Apply) न हो सकने से उसमें अनर्थहेतुत्व का रहना शक्य नहीं है, और कलञ्जभक्षण में उक्त तीनों कारण विद्यमान रहने से उसमें अनर्थहेतुत्व की शक्यता रहती है।

अधुना तीसरा उदाहरण **'दीक्षितो न ददाति न जुहोति'**[१] विचारार्थ प्रस्तुत है। ज्योतिष्टोम के प्रकरण में दीक्षा ग्रहण करने के अनन्तर यजमान किस-किस व्रत का आचरण करे– इसका विवरण प्रस्तुत करने के अवसर पर 'दीक्षितो न ददाति, न जुहोति न पचति'– इत्यादि वाक्यों का उल्लेख है। यजमान दीक्षा ग्रहण करने के अनन्तर हवन न करे, इसप्रकार का यह विधान सकृत् दर्शन में चमत्कारिक प्रतीत होता है। इस कल्पना के कारण ही **सायणाचार्य** ने भाष्य में निम्नानुसार लिखा है– ['दीक्षितस्य गृहे यद्यग्निहोत्रं जुहुयात्तर्हि यजमान एव हुतो भवेत्। अहोमे तु नित्याग्निहोत्रस्य परुः प्रतिदिनानुष्ठानरूपं पर्वं विच्छिद्येत। तत्र पूर्वप्रसिद्धेन मंत्रेणाऽऽहवनीयाग्नौ होमः स प्रत्यक्ष इत्युच्यते। अयं तु परोक्षो अग्निहोत्रहोमः। अन्यमंत्रेण प्राणाग्निषु हूयमानत्वात् अतस्तृतीयकोटित्वेन मुख्ययोर्होमाहो-मयोरभावान्नोक्तदोषद्वयम्।]' **'दीक्षितो न ददाति न जुहोति न पचति'**– इस वाक्य का उल्लेख जै.सू. के छटे अध्याय[२] में आया है और तद्विषयक संपूर्ण विचार दशमाध्याय[३] में किया गया है।

---

१. तै.सं. कां. १, प्रपा. २, अनु. ३,

२. जै.सू.अ.६, पा. ५, अधि. ११,

३. जै.सू.अ. १०, पा. ८, अधि. ७

प्रवृत्त्याविकल्पः शङ्क्यः । भिन्नविषयत्वात्क्रत्वर्थो निषेधः क्रतुकाले तदनुष्ठानं वारयति पुरुषार्थस्तु विधिः कालान्तरे तदनुष्ठापयति तस्मात्पुमर्थस्य निषेध इति । ननु यत्र रागतः प्राप्तस्य प्रतिषेधः पुरुषार्थो भवति तत्र प्रतिषिध्यमानस्यानर्थहेतुत्वं यथा कलञ्जभक्षणादेः ऋतौ स्वस्त्रीगमनप्रतिषेधस्य तु पुरुषार्थत्वाभावात्तत्र निषिध्यमानस्य स्वस्त्रीगमनस्य कथमनर्थहेतुत्वमित्यत आह । निषेधस्येति । यद्वा निषेधस्येत्यादिपूर्वमेवान्वेति । तत्र प्रसिद्धच्यर्थं तु यथा क्रतावित्यादिकमेव भवति । तथा च स्वतः पुरुषार्थेत्यादेरयमर्थः । स्वत इति । क्रत्वङ्गत्वोपाधिमन्तरेण केवलस्वरूपत एव पुमर्थभूतानां दानादीनां निषेधस्य पुरुषार्थत्वाभावेऽपि क्रत्वर्थसम्भवान्निषिध्यमानस्य दानादेः क्रतुवैगुण्यसम्पादकत्वेनानर्थहेतुत्वमिति योजना । तथा च तेषामनुष्ठानस्य स्वतः पुरुषार्थत्वेऽपि क्रत्वनुष्ठानकाले

दान, धर्म इत्यादि कार्य मनुष्य को करना चाहिए, यह नित्य शास्त्र है। उसी प्रकार **'अग्निहोत्रं जुहोति'** इत्यादिक होमविषयक शास्त्रवचन भी श्रुत है। अर्थात् शास्त्र में दान-होम आदि का विधान किया गया है। अब एक ओर दान-होमादिक कर्म शास्त्रत: प्राप्त होने पर दूसरी ओर से 'दीक्षितो न ददाति न जुहोति'– इत्यादि शास्त्र द्वारा उन दान-होमादिक का निषेध किया जाता है। ऐसी स्थिति में संभवत: कोई कहेगा कि षोडशिग्रहण की तरह यहाँ भी दो शास्त्र एक दूसरे के विरुद्ध प्राप्त होने पर विकल्प मान्य करना चाहिए। [–तस्माच्छास्त्रविहितस्य शास्त्रान्तरेण प्रतिषेधे विकल्प एव] किन्तु यहाँ विकल्प मानने की आवश्यकता नहीं है। क्योंकि, दान-होमादिकों का विधि पुरुषार्थ के हेतु से विहित है, और **'दीक्षितो न ददाति न जुहोति'**– यह निषेध पुरुषार्थत्वेन विहित न होकर केवल क्रत्वर्थत्वेन विहित है। अब यहाँ यह स्थिति है कि विधायक वाक्य पुरुषार्थत्वेन विहित है और प्रतिषेधक वाक्य क्रत्वर्थत्वेन विहित है। अत: ये दोनों– विधायक और प्रतिषेधक वाक्य तुल्यार्थक नहीं हैं। हाँ, यदि यहाँ विधि और निषेध– ये दोनों ही पुरुषार्थत्व या क्रत्वर्थक– किसी एक हेतु से ही विहित होते तो, तुल्यार्थ के कारण उनमें तुल्यबलत्व उत्पन्न होकर वहाँ विकल्प संभव होता, परन्तु विधायक और प्रतिषेधक वाक्यों के हेतु में भिन्नता होने से यहाँ विकल्प उत्पन्न नहीं हो सकता।

विकल्प उत्पन्न नहीं होता, अत: प्रकृत में अनर्थहेतुत्व होगा, ऐसा किसी को प्रतीत होगा, किन्तु वैसा नहीं है। कारण यह है कि, यहाँ यजमान दान-होमादिक का आचरण दीक्षावधि में नहीं करता, यह कार्य वह स्वरुचि से या रागत: करता है, ऐसा नहीं है, अपितु वह कर्म **'दीक्षितो न ददाति'**– इत्यादि प्रतिषेधक शास्त्र से ही उस यजमान में दीक्षावधि में प्राप्त है, और वह कर्म क्रत्वर्थ है, अत: दीक्षाकालीन दान-होम का निषिध्यमान कर्म शास्त्रप्राप्त होने तथा क्रत्वर्थ होने से उससे पुरुष में अनर्थहेतुत्व उत्पन्न नहीं होगा, यह सिद्ध है।

उक्त विवेचन के पश्चात् उपर्युक्त उदाहरण के समर्थन में प्रकृत में प्रतिषेध होने पर भी अनर्थहेतुत्व न होने का एक और उदाहरण **'यथा ऋतौ स्वस्त्रीगमनादेः** [प्रतिषेधस्य क्रत्वर्थत्वेन नानर्थहेतुत्वम्]'– इत्यादि वाक्य से उपन्यस्त किया जा रहा है। **'ऋतौ भार्यामुपेयात्'**

ऽपुरुषार्थत्वात्तत्र तेषामनुष्ठानस्य भवत्यनर्थहेतुत्वमिति भावः । तस्येति । ऋतौ स्वस्त्रीगमनादेरित्यर्थः । ऋतौ स्त्रीगमनादेः कलञ्जभक्षणादिवदनर्थरूपनरकादिदुःखाहेतुत्वेऽपि क्रतुवैगुण्यसम्पादकत्वेनानर्थहेतुत्वसम्भवाद्भवत्यत्रापि निषिध्यमानस्यानर्थहेतुत्वमितिभावः । तस्मान्निषेधकवाक्यानामनर्थहेतुक्रियानिवृत्तिजनकत्वेनैव पुरुषार्थानुबन्धित्वमिति सिद्धम् ।।१०५।।

यह एक सामान्यशास्त्र है। इसके अतिरिक्त स्त्रीगमन की प्राप्ति भी रागतः है, फिर भी दर्शपूर्णमास प्रकरण में **'न स्त्रियमुपेयात्'**– एक निषेध विहित है। इसमें विकल्प न होने से यह निषेध स्पष्ट है। और स्व स्त्रीगमन भी रागतः प्राप्त है, फिर भी यहाँ का प्रतिषेध क्रत्वर्थक होने से यहाँ उससे पुरुष को अनर्थहेतुत्व उत्पन्न नहीं हो सकता। अतः प्रतिषेध क्रत्वर्थक होने से क्रतु में स्वस्त्रीगमन घटित होने पर उससे क्रतु में वैगुण्य उत्पन्न होगा, यह भी सत्य है, परन्तु यह प्रतिषेध पुरुषार्थक न होने से उससे पुरुष को किसी प्रकार का अनर्थ होने का कारण नहीं है। परन्तु 'न कलञ्जं भक्षयेत्' इत्यादि से बोधित 'कलञ्जभक्षण' का निषेध पुरुषार्थक होने से क्रतु के मध्य में उसके आचरण से क्रतु में वैगुण्य नहीं आता अपितु पुरुष का ही अनर्थ होता है।[१] इस उदाहरण की उपपत्ति भी निम्नांकित रेखांकित वाक्यों से ध्यान में आयगी।।१०५।।

अनुक्रम	प्रतिषेधका उदाहरण	अनर्थहेतुत्वम्, अस्ति या नास्ति	(१) विकल्पाभाव, अर्थात् स्पष्टनिषेध (२) रागतः प्राप्ति और (३) पुरुषार्थ प्रतिषेध, ये अनर्थहेतुत्व के तीन कारण हैं।		
			(१) विकल्प है या नहीं	(२) प्राप्ति रागतः या शास्त्रतः	(३) प्रतिषेधः पुरुषार्थः या क्रत्वर्थः
१	कलञ्जभक्षणे	अनर्थहेतुत्वमस्ति	विकल्प नहीं	प्राप्तिः रागतः	प्रतिषेधः पुरुषार्थः
२	षोडशिग्रहणे	अनर्थहेतुत्वं नास्ति	विकल्प है	प्राप्तिः शास्त्रतः	प्रतिषेधः क्रत्वर्थः
३	दीक्षाकालीन दान-होमादौ	अनर्थहेतुत्वं नास्ति	विकल्प नहीं	प्राप्ति शास्त्रतः	प्रतिषेधः क्रत्वर्थः
४	स्वस्त्रीगमनादौ	अनर्थहेतुत्वं नास्ति	विकल्प नहीं	प्राप्ति रागतः	प्रतिषेधः क्रत्वर्थः

१. (i) एवञ्च क्रतुमध्ये स्वस्त्र्युपगमने कृते क्रतुर्विगुणो भवेत्। पुरुषो न प्रत्यवेयात्। एवं 'न कलञ्जं भक्षयेत्' इति पुरुषार्थनिषेधस्य क्रतुमध्येऽनुष्ठाने पुरुष एव प्रत्यवेयात्, न तु क्रतुर्विगुणो भवेदिति बोध्यम्। (तं. सि. र. तृती. परि.)

(ii) यो नाम क्रतुमध्यस्थः कलञ्जादीनि भक्षयेत्।
न क्रतोस्तस्य वैगुण्यं यथाचोदितसिद्धितः ।। (तंत्रवार्तिक - ३.४.४)

(१०६) अर्थवादमीमांसा

प्राशस्त्यनिन्दान्यतरपरं वाक्यमर्थवादः। तस्य च लक्षणया प्रयोजनवदर्थपर्यवसानम्। तथाहि अर्थवादवाक्यं हि स्वार्थप्रतिपादने प्रयोजनाभावाद्विधेयनिषेध्ययोः प्राशस्त्यनिन्दितत्वे लक्षणया प्रतिपादयति। स्वार्थमात्रपरत्वे आनर्थक्यप्रसङ्गात्। आम्नायस्य हि क्रियार्थत्वात्। न चेष्टापत्तिः। 'स्वाध्यायोऽध्येतव्य' इत्यध्ययन-विधिना सकलवेदाध्ययनं कर्तव्यमिति बोधयता सर्ववेदस्य प्रयोज-नवदर्थपर्यवसायित्वं सूचयतोपात्तत्वेनानर्थक्यानुपपत्तेः।।१०६।।

इदानीं सर्वार्थवादसाधारण्येनार्थवादरूपवेदभागस्य लक्षणमाह-प्राशस्त्येति। ननु वायुर्वै क्षेपिष्ठादेवतेत्यादेरर्थवादवाक्यात्प्राशस्त्यादेरप्रतीयमानत्वान्न तस्य प्राशस्त्यादि-परत्वं ततश्चासम्भविलक्षणमिदमित्यत आह। तस्येति। तस्यार्थवादस्य लक्षणया प्राशस्त्यनिन्दान्यतरप्रतिपादकत्वसम्भवेन नेदं लक्षणमसम्भवीत्यर्थः। अर्थवादस्य तया फलवदर्थपर्यवसानमेवोपपादयति। तथाहीत्यादिना। अर्थवादवाक्यं कर्तृप्राशस्त्य-

---

*अनुवाद– **प्राशस्त्येति**। प्रशंसापरक अथवा निन्दापरक वाक्य को 'अर्थवाद' कहते हैं। अर्थवाद लक्षणा से प्रयोजनवान् अर्थ अर्थात् धर्मका बोधक होता है। तात्पर्य यह है कि अर्थवाद वाक्य का अपने मुख्यार्थ में कोई प्रयोजन नहीं रहता है, अतः यह लक्षणा से विधेय पदार्थ की प्रशंसा एवं निषेध्य पदार्थ की निन्दा का प्रतिपादन करता है। यदि अर्थवाद का आशय अपने मुख्यार्थ में समझा जायगा तो अर्थवाद वाक्य की व्यर्थता सिद्ध होगी। क्योंकि समस्त वेद को क्रिया परक माना गया है। अर्थवाद वाक्यों का व्यर्थ मानना इष्टापत्ति नहीं है। क्योंकि 'स्वाध्यायोऽध्येतव्यः' विधि ने सकलवेदाध्ययन को कर्तव्य रूप में बोध कराते हुए वेद को प्रयोजनवदर्थ रूप माना है। अतः अर्थवाद की व्यर्थता नहीं हो सकती।।१०६।।*

।। अर्थमीमांसा ।।

पूर्व में 'वेदप्रतिपाद्यः प्रयोजनवानर्थो धर्मः' धर्म के लक्षण में उल्लिखित वेद के विधि, मंत्र, नामधेय, निषेध और अर्थवाद इन पांच विभागों का निरूपण किया गया है, उनमें से यहाँ तक प्रथम चार विभागों का विवेचनात्मक निरूपण करने के पश्चात् अन्त में अवशिष्ट प्रस्तुत 'अर्थवाद' का निरूपण किया जा रहा है। तदर्थ सर्वप्रथम **'प्राशस्त्यनिन्दान्यतरपरं वाक्यं अर्थवादः'** अर्थवाद का लक्षण यहाँ दिया गया है। गतपृष्ठों में **'पुरुषस्य निवर्तकं वाक्यं निषेधः'**– जिसप्रकार निषेध का लक्षण निरूपित किया गया है, उसीप्रकार उसी के सादृश्य में **'पुरुषस्य प्रवर्तकं वाक्यं विधिः'** इसप्रकार का विधि का एक सामान्यलक्षण किया जा सकता है। उक्त लक्षण जैसे हैं, वैसा ही **'प्राशस्त्यनिन्दान्यतरपरं वाक्यमर्थवादः'**– यह अर्थवाद का लक्षण है। इन तीनों लक्षणों को एक दूसरे के निकट लिखने पर उनका साम्य और वैषम्य तत्काल दृष्टिगत हो जाता है–

निन्दितत्वे द्वे प्रतिपादयतीत्यन्वयः । नन्वर्थवादस्य स्वार्थमात्रपरत्वे कथमानर्थक्यप्रसङ्गो वायुर्वैक्षेपिष्ठेत्यादेरर्थवादवाक्यात्क्षिप्रगामिवायुदेवातारूपार्थस्य प्रतीयमानत्वादित्यत आह । आम्नायस्येति । समस्तवेदस्य क्रियाप्रतिपादकत्वस्वीकारेण नास्य सिद्धार्थ-प्रतिपादकस्य स्वार्थमात्रपरत्वे सार्थक्यमुपपद्यत इति भावः । अर्थवादवाक्या-नामनर्थकत्वस्येष्टत्वमाशङ्क्य परिहरति-नचेत्यादिना ।।१०६।।

पुरुषस्य–	प्रवर्तकं	वाक्यं	विधि: ।
पुरुषस्य–	निवर्तकं	वाक्यं	निषेध: ।
प्राशस्त्यनिन्दा–	न्यतरपरं	वाक्यं	अर्थवाद: ।

उक्त तीनों लक्षणों को पुन: इसप्रकार लिखने पर इनका एक दूसरे के लिए क्या उपयोग है, यह भी ज्ञात हो सकेगा–

पुरुषस्य प्रवर्तकं वाक्यं विधि:	विधिप्राशस्त्य		परं वाक्यं
पुरुषस्य निवर्तकं वाक्यं निषेध:	निषेधनिन्दा	अन्यतर	अर्थवाद:

अर्थवाद के उक्त लक्षण का तात्पर्य यह है कि, अर्थवादात्मक वाक्य से प्राशस्त्य (अर्थात् स्तुति) या निन्दा का बोध किया जाता है। वेद में ऐसे अनेक वाक्य हैं, जिनसे किसी की स्तुति किंवा निन्दा की जाती है– (१) **'सोऽरोदीत्, यदरोदीत् तद्रुद्रस्य रुद्रत्वम्**; (२) **प्रजापतिः आत्मनो वपामुदखिदत्**; (३) **'देवा वै देवयजनमध्यवसाय दिशो न प्रजानन्**; (४) **'स्तेनं मनः'**; (५) **'अनृतवादिनी वाक्'**; (६) **'तस्मात् धूम एवाग्निर्दिवा ददृशेनार्चिः। तस्मादर्चिरेवाग्नेर्नक्तं ददृशे न धूमः'**; (७) **अस्माल्लोकादुत्क्राम्याग्निरादित्यं गतः, रात्रौ आदित्यस्तम्' 'वायुर्वै क्षेपिष्ठा देवता'** इस प्रकार के अनेक वाक्य वेद में देखने को मिलते हैं। इसप्रकार के वाक्यों में कोई क्रिया विहित हो, ऐसा दिखाई नहीं देता। एकाधिक वाक्यों में कुछ असंभव बातों का उल्लेख है। तो कुछ बातें शास्त्र-विरुद्ध प्राप्त होती हैं, किसी में प्रत्यक्ष दिखाई देनेवाली बातों का विपरीत वर्णन किया रहता है, और कुछ वाक्यों में अनित्य से सम्बन्धित कतिपय बातों का वर्णन किया रहता है। इसप्रकार विविध प्रकार की बातें इन अर्थवादात्मक वाक्यों द्वारा वर्णित की हुई हैं। ऐसे वाक्यों का उपयोग क्या है? अथवा इनमें वर्णित अशक्य बातों पर कौन विश्वास करेगा? इस प्रकार की अनेक शंकाएँ अर्थवादात्मक वाक्यों के सम्बन्ध में उपस्थित होती हैं, अत: वेद का यह अर्थवादात्मक भाग नितान्त निरुपयोगी है, यह किसी को भी सकृद्दर्शन में प्रतीत हुए बिना नहीं रह सकता। परन्तु उन वाक्यों के आनर्थक्य से (निरर्थकत्व से) सम्बन्धित यह शंका एकान्तत: अस्थानी (अयोग्य) है।

'स्वाध्यायोऽध्येतव्यः'– अर्थात् वेद का अध्ययन करना चाहिए, यह वेदप्रोक्त विधि है। विधि के द्वारा कहा गया है कि समग्र वेद का अध्ययन करना चाहिए। इसका निष्कर्ष यह है कि समग्रवेद **'प्रयोजनवदर्थपर्यवसायी'** है। इसका तात्पर्य यह हुआ कि जिनका कुछ उपयोग (प्रयोजन) है, ऐसे अर्थ में ही समग्र वेद का पर्यवसान है। अर्थात् वेद में जो कुछ

कथित है, वह सब उपयोगार्ह है और इस दृष्टि से वेदोक्त प्रत्येक बात में कुछ अर्थवत्त्व (उपयुक्तत्व) है ही। कारण, यदि वेद की कुछ बाते निरर्थक होतीं तो उनका अध्ययन करने का निर्देश न किया गया होता। अत: जब समग्र वेद का अध्ययन करने सम्बन्धी विधि है, तो वेदोक्त प्रत्येक भाग में कुछ अर्थवत्त्व विद्यमान है ही, यह एकान्तरूप से स्पष्ट है। एवञ्च सिद्ध होता है कि अर्थवाद उस वेद का एक भाग ही है इसलिए उस अर्थवादात्मक भाग में आनर्थक्य होने की शंका उपपन्न नहीं हो सकती।

वस्तुत: अर्थवाद वाक्यों का अपने वाच्यार्थ में प्रयोजन नहीं रहा करता है । [स्वार्थप्रतिपादने प्रयोजनाभावात्] क्योंकि यदि उनका (अर्थवादका) तात्पर्य अपने अर्थ (मुख्यार्थ) में समझा जायगा तो अर्थवाद वाक्यों की व्यर्थता सिद्ध होगी। उदाहरणार्थ– **'वायुर्वै क्षेपिष्ठा देवता'**– (वायु सबसे अधिक शीघ्रगामी देवता है) इस अर्थवाद का अभिप्राय 'वायु सबसे अधिक शीघ्रगामी देवता है'– इस अर्थ में नहीं होता। इसका तात्पर्य (अर्थवादवाक्य का) मुख्यार्थ से भिन्न होता है। वस्तुत: अर्थवादवाक्य विधेय (विधिविहित) किंवा निषेध्य पदार्थों की क्रमश: प्रशंसा एवं निन्दा करते हैं। जिससे श्रोता व्यक्ति विहित पदार्थ के सम्पादन से इष्ट की प्राप्ति कर सके एवं निषिद्ध पदार्थ से निवृत्त होकर अनिष्ट से बच सके। उदाहरण के लिए **'वायुर्वै क्षेपिष्ठा देवता'**– इस अर्थवादात्मक वाक्य को ग्रहण करते हैं। इस वाक्य का मुख्यार्थ– वायु सबसे अधिक शीघ्रगामी देवता है, यह है, किन्तु यह मुख्यार्थ इस वाक्य के प्रकरण में, यागादिक किसी भी क्रिया के लिए उपकारक न होने के कारण, उपयुक्त नहीं है, और इसलिए यह वाक्य निरर्थक है, इसप्रकार की आपत्ति उत्थापित होने लगेगी (स्वार्थमात्रपरत्वे आनर्थक्य प्रसंगात्)। अत: वाक्य का मुख्यार्थ निष्प्रयोजक होने से बाधित हो जाता है। और अन्य कोई प्रयोजनयुक्त अर्थ (प्रयोजनवदर्थ) लक्षणा द्वारा उससे ग्रहण करना पडता है। अत: 'वायुर्वै क्षेपिष्ठा देवता' के बाधित मुख्यार्थ का 'वायव्यं श्वेतमालभेत'– विधि की इस प्रयोजनयुक्त स्तुति के अर्थ में लक्षणा से पर्यवसान होता है।

लक्षणा करने के लिए वाक्य का मुख्यार्थ बाधित होता है, यह जो कारण कहा गया है, वह 'वायुर्वै क्षेपिष्ठा देवता' उदाहरण में किस प्रकार उपपन्न होता है? क्योंकि 'वायु सबसे अधिक शीघ्रगामी देवता है'– इस वाक्य के अर्थ को बाधित होने में क्या कारण है? इसका अर्थ तो नितान्त स्पष्ट है। इस शंका का उत्तर है **'आम्नायस्य क्रियार्थत्वात्'**– अर्थात् समग्र वेद का तात्पर्य धर्म में रहता है। इसका तात्पर्य यह है कि– समग्र आम्नाय अर्थात् वेद यागादिक क्रिया के लिए विहित है। अत: वेद में यागादिक क्रियाओ के लिए जो पदार्थ विहित न हो, उन्हें आनर्थक्य प्राप्त होगा, यह स्पष्ट है। अब 'वायुर्वै क्षेपिष्ठा देवता'– यह एक ऐसा विधान है जिसका यागादिक क्रिया से मुख्यार्थ का कोई सम्बन्ध प्राप्त नहीं होता । ऐसी स्थिति में ऐसे वाक्य को उक्त सूत्र के विधानानुसार आनर्थक्य प्राप्त होता है। पूर्वपक्षी यदि कहे कि आनर्थक्य प्राप्त होता है तो ठीक है। परन्तु यह कहना उचित नहीं है। क्योंकि **'स्वाध्यायोऽध्येतव्य:'** इस विधि से पूर्व में निरूपितानुसार समग्र वेद का अध्ययन करने के लिए आदेश होने से सकल वेद का प्रयोजनयुक्त किसी अर्थ में पर्यवसान करना चाहिए, अर्थात् वेद का अध्ययन सप्रयोजन है। वेद धर्म का प्रतिपादन करता है, और धर्मानुष्ठान से इष्ट की प्राप्ति होती है,

(१०७) अर्थवादविभागः

स द्विविधः। विधिशेषो निषेधशेषश्चेति। तत्र 'वायव्यं श्वेतमालभेत भूतिकाम' इत्यादिविधिशेषस्य 'वायुर्वैक्षेपिष्ठा देवते'-त्यादेर्विधेयार्थप्राशस्त्यबोधकतयार्थवत्वम्। 'बर्हिषि रजतं न देय'-मित्यादिनिषेधशेषस्य 'सोऽरोदीद्यदरोदीत्तद्रुस्य रुद्रत्व'मित्यादे-र्निषेधस्य निन्दितत्वबोधकतयार्थवत्वम्। न च प्राशस्त्यादिबोधस्य निष्प्रयोजनत्वेन नार्थवादस्यार्थवत्वमिति वाच्यम्। आलस्या-दिवशादप्रवर्तमानस्य पुंसः प्रवृत्यादिजनकत्वेन तद्बोधस्यो-पयोगात्।।१०७।।

अर्थवादं विभजते स द्विविध इति। विधिशेष इत्यादि। सोऽपि चतुर्विधः प्रशंसा, निन्दा, परकृतिपुराकल्पभेदात्। तत्र प्रशंसार्थवादो हि शोभतेऽस्य सुखं य एवं वेदेत्यादिर्वायुर्वैक्षेपिष्ठेत्यादिर्मूलोदाहृतश्च निन्दार्थवादस्तु असन्नं वा एतद्यदछन्दो-मन्त्र

यही वेद की प्रयोजनवत्ता है। यह सूचित होने से 'वायुर्वै क्षेपिष्ठा देवता' इत्यादि स्थलों पर वाक्य का निरर्थकत्व नहीं माना जा सकता। अत: अर्थवादात्मक वाक्यों का किसी उपयुक्त अर्थ में लक्षणा द्वारा पर्यवसान होना चाहिए। इस हेतु अर्थवादात्मक वाक्यों का विधि की स्तुति में किंवा निषेध की निन्दा में पर्यवसान होता है, यह मान्य करना चाहिए॥१०६॥

अनुवाद– स इति। *अर्थवाद के दो प्रभेद हैं– (१) विधिशेष (२) निषेधशेष, उनमें 'वायव्यं श्वेतमालभेत भूतिकाम:' (ऐश्वर्य प्राप्ति का इच्छुक व्यक्ति वायु देवता के लिए श्वेत पशु का आलम्भन करे) इस विधि का शेष (अर्थवाद) 'वायुर्वै क्षेपिष्ठा देवता' (वायुशीघ्रगामी देवता है) विधि के द्वारा विहित यज्ञादि रूप कर्म की प्रशंसा करके सार्थक होता है। तथैव 'बर्हिषि रजतं न देयम्' (याग में रजत दक्षिणा नहीं देना चाहिए) इस निषेध वाक्य का शेष (अर्थवाद) 'सोऽरोदीद्यदरोदीत्तद्रुद्रस्य रुद्रत्वम्' (वह रोया और जो वह रोया वही रुद्र की रुद्रता है) है। इस निषेध शेष (अर्थवाद) की यही सार्थकता है कि यह उक्त निषेध वाक्य द्वारा निषिद्ध पदार्थ की निन्दा का ज्ञान कराता है। प्रकृत में यह कहना ठीक नहीं है कि प्रशंसादि बोधन का कोई प्रयोजन नहीं है इसलिए अर्थवाद का भी कुछ प्रयोजन नहीं है। क्योंकि आलस्यादि के कारण जो व्यक्ति यागादि में प्रवृत्त नहीं होता, उसमें यागादि के प्रति प्रवृत्ति की उत्पत्ति विधेयार्थ की प्रशंसा के ज्ञान से होती है। अत: अर्थवाद प्रयोजन हीन नहीं होते हैं॥१०७॥*

।। अर्थमीमांसा ।।

गत परिच्छेद में वर्णित अर्थवाद के स्वरूप को ग्रन्थकार ने दो प्रभेदों में विभक्त किया है। ग्रंथकार द्वारा पूर्वप्रकरण में वर्णित वाक्य से इसके दो भेद (१) विधिशेष और (२) निषेधशेष–स्पष्ट होते हैं। अर्थवाद वाक्य लक्षणा द्वारा विधेय पदार्थ की प्रशंसा एवं निषेध्य

असृग्धिरजतं यो बर्हिषि ददातीत्यादिः सोऽरोदीत्यादिर्मूलोदाहृतश्च भवति। परेणेदं महता पुरुषेण कर्मकृतमिति प्रतिपादकोऽर्थवादः परकृतिरित्युच्यते। यथा अग्निर्वा अकामयतेत्यादिः परवक्रकार्य्यादिप्रतिपादकोऽर्थवादः पुराकल्प इत्युच्यते। यथा तमशयद्धियाधियात्वावध्यासुदित्यादिरिति। विधेयार्थप्राशस्त्येति। वायुः क्षिप्रगामित्वा-दतीवप्रशस्ता देवता भवत्यस्तद्दैवत्यं कर्म प्रशस्तमिति विधेयकर्मदेवतागत-प्राशस्त्यप्रतिपादनद्वारा विध्येकवाक्यत्वेनार्थवत्वमित्यर्थः। निषेध्येति। निषेध्ये रजतनिन्दाप्रतिपादनद्वारा रजतनिषेधप्राशस्त्यपरत्वेन निषेधैकवाक्यत्वादर्थवत्त्वमित्यर्थः। एवमग्निर्वा अकामयतेत्यादेरप्यग्निदैवत्यो यागः पूर्वकालेऽग्निना कृतत्वात्प्रशस्तोऽतः आधिक्यादिदानीन्तनैरप्यन्यैर्यजमानैरवश्यं कर्तव्यमिति विधेयकर्मगतप्राशस्त्य-प्रतिपादनद्वारा विध्येकवाक्यत्वेनार्थवत्वं बोध्यम्। एवमन्यत्रापि तत्तद्विधेयकर्म-प्राशस्त्यादिप्रतिपादनद्वारेण तत्तद्विध्याद्येकवाक्यत्वेनार्थवत्वं विभावनीयम्। क्वचिदर्थ-

---

पदार्थ की निन्दा का प्रतिपादन करता है। तदनुसार 'विधि' मुख्य है और उसकी स्तुति, यह उसका 'शेष' (गुण, अंग) तथा 'निषेध' मुख्य है और निन्दा, उसका शेष है। इसे विधिशेष इसलिये कहा जाता है कि यह विधेय की प्रशंसा द्वारा विधि वाक्य का पूरक होता है। अर्थात् विधि और अर्थवाद दोनों मिलकर एक पूर्णवाक्य होते हैं। 'विधिनात्वेकवाक्यत्वात् स्तुत्यर्थेन विधीनांस्युः[१]'– विधि के द्वारा विधेय का विधान किया जाता है, अतः विधि मुख्य होता है। वस्तुतः अर्थवाद वाक्य विधिरूप मुख्य वाक्य का एक अवशिष्ट भाग ही है। इसीलिए अर्थवाद को विधि का अवशिष्ट भाग 'विधिशेष' कहते हैं। इसी प्रकार निषेध वाक्य की पूर्णता के लिये भी अर्थवाद की अपेक्षा होती है। अतः निषेधवाक्य द्वारा निषिद्ध पदार्थ की निन्दा करनेवाले अर्थवाद को 'निषेधशेष' कहते हैं। इस प्रकार अर्थवाद के उक्त विभाग हो जाते हैं। और उन्हीं दो विभागों– 'विधिशेषो निषेधशेषश्च' का उक्त वाक्य में निर्देश किया गया है। स्तुति और निन्दा, इन दोनों की तरह ही अर्थवाद मे 'परकृति' और 'पुराकल्प' का समावेश करके 'प्रशंसा–निन्दा–परकृति–पुराकल्प–भेदात् अर्थवादः चतुर्विधः'[२]– दूसरे दृष्टि-कोण से अर्थवाद के चार विभाग किये जाते है। इन चार भेदों का उल्लेख **आपस्तंब सूत्र** में किया गया है। 'किसी दूसरे महान् पुरुष के द्वारा यह कर्म अनुष्ठित है' इस तरह के अर्थ का प्रतिपादक अर्थवाद 'परकृति' कहलाता है। जैसे– **'अग्निर्वै अकामयत'** इत्यादि। पूर्वघटित घटनाओं का उल्लेख करनेवाले वाक्य 'पुराकल्प' के उदाहरण हैं। यद्यपि एक दृष्टि से परकृति किंवा पुराकल्प– ये भिन्न भेद माने गये हैं, तथापि अन्त में इनका भी पर्यवसान स्तुति या निन्दा में ही हो जाता है। और इसीलिए स्तुति और निन्दा ही– अर्थवाद के मुख्य दो भेद होते हैं। इन दो भेदों में से अर्थवाद का स्तुतिरूप विधिशेष का उदाहरण– **'वायुर्वै क्षेपिष्ठा देवता'**[३]– यहाँ प्रस्तुत किया गया है। 'वायव्यं श्वेतमालभेत'– यह विधिवाक्य काम्य पशुकाण्ड में आया

---

१. जै.सू.अ. १, पा. २, सू. ७
२. मीमांसा परिभाषा
३. जै.सू.अ. १, पा. २, अधि. १

वादस्य सन्दिग्धार्थनिर्णायकत्वेन प्रामाण्यं स्वीकृतं यथा अक्ताः शर्करा उपदध्यादिति विधावक्ता इति पदेन द्रवद्रव्यसामान्यं प्रतीयते तच्च द्रव्यं किमिति सन्देहे तेजो वै घृतमित्यर्थवादरूपाद्वादाशेषात् । घृतमिति निश्रीयत इति । ननु विधेयकर्मप्राशस्त्यादि-बोधस्य सुखदुःख स्वभावान्यतरविलक्षणत्वेन नार्थवादस्य तत्प्रतिपादनेनार्थकत्वमुपपद्यत इत्याशङ्क्य परिहरति । नचेत्यादिना । तद्बोधस्योपयोगादिति । अर्थवादजन्यप्राशस्त्या-दिबोधस्य विधेयकर्मानुष्ठानादावुपयोगादर्थवादस्यार्थवत्वमुपपद्यत इत्यर्थः ।।१०७।।

है और उसी के आगे 'वायुर्वै क्षेपिष्ठा देवता, वायुमेव स्वेन भागधेयेनोपधावति, स एवैनं भूतिं गमयति'– इत्यादि विधिविषयक प्राशस्त्यपरक अर्थवादवाक्य निरूपित हैं। इस वाक्य का वाच्यार्थ यह है कि ऐश्वर्य को चाहनेवाला व्यक्ति वायुदेवता के लिये श्वेत पशु का आलंभन करे' यहाँ **'वायव्यं श्वेतमालभेत'**– यह विधि है, और **'वायुर्वै क्षेपिष्ठा देवता'** इत्यादि वाक्य विधि को अनुलक्षित कर पठित होने से और उस विधि की स्तुति के कारण तथा उसपर अवलंबित होने से उस विधि का शेष भाग है। अर्थात् **'वायुर्वै...'** वाक्य **'वायव्यं श्वेतमालभेत'**– इस विधि का शेष (पूरक) वाक्य माना जाता है। पूर्व में निरूपितानुसार **'वायुर्वै क्षेपिष्ठा देवता'** यह स्वतः किसी भी यागादिक कार्य में उपयोगी न होने से लक्षणा से विधि के प्राशस्त्य का बोध कराता है, ऐसा माना गया है। और इस प्रकार इस अर्थवाद वाक्य को प्रकृत में अर्थवत्त्व प्राप्त होता है। अब यहाँ एक शंका का यह उत्पन्न होती है कि अर्थवाद का अर्थ प्राशस्त्य और निन्दा ग्रहण करने पर ऐसा क्या हो जाता है, जिससे अर्थवाद को अर्थवत्त्व प्राप्त होता है? इस शंका का समाधान यह है कि– संभव है कि विधि को सुननेवाला पुरुष प्रमादवश उक्त विधेय के अनुष्ठान में प्रवृत्त न हो, अतः विधेय में प्रवृत्त कराने के लिये **'वायुर्वै क्षेपिष्ठा देवता'** इस अर्थवाद वाक्य द्वारा विधेय की प्रशंसा की जाती है। वायुदेवता क्षेपिष्ठा है– शीघ्रगामी है, अतएव वह विधेय के अनुष्ठाता पुरुष को भूति– ऐश्वर्य भी शीघ्र प्रदान कराता है, इस प्रकार विधिशेष 'अर्थवाद' से विधेय की प्रशंसा की जाती है। विधेय की प्रशंसा द्वारा पुरुष को विधेयानुष्ठान में प्रवृत्त कराना विधिशेष का प्रयोजन है। इस प्रकार विधिशेषरूप अर्थवाद का प्रयोजन विधेय की प्रशंसा के ज्ञान द्वारा विधेय क्रिया में अधिकारी पुरुष को प्रवृत्त कराना है डविधिशेषस्य विधेयार्थप्राशस्त्य बोधकतयार्थवत्त्वम्. विधेय की प्रशंसा सुनकर प्रमादीपुरुष भी विधेयभूत यागादि के अनुष्ठान में प्रवृत्त हो जाता है। इसीप्रकार यदि उस पुरुष की निषेध्य पदार्थ की ओर प्रवृत्ति हो रही हो तो उस निषेध्य पदार्थ की निन्दा सुनकर उससे उसके निवृत्त होने की भी संभावना होती है। अतएव विधेय के प्राशस्त्य का ज्ञान एवं निषेध्य पदार्थ की निंदा का ज्ञापन व्यर्थ नहीं होता है। और स्तुति तथा निन्दा के द्वारा अर्थवाद को अर्थवत्त्व प्राप्त होता है।

निषेधशेष– नामक दूसरे विभाग का उदाहरण **'बर्हिषि रजतं न देयम्'**[१] है। इसका

---

१. 'बर्हिश्शब्देन तद् विशिष्टो यागो लक्ष्यते बर्हिषि यागे रजतं दक्षिणात्वेन न देयमित्यर्थः' । (सारविवेचिनी पृ. १७७-७८)

अर्थ है कि– 'याग में चाँदी (रजत) की दक्षिणा नहीं देनी चाहिये'। और 'सोऽरोदीद्यदरोदीत्तद्रुद्रस्य रूद्रत्वम्' यह अर्थवाद उसके शेषभूत रूप में निरूपित है। उक्त अर्थवाद के द्वारा प्रकृत में निषेध्य 'रजत' की निन्दा व्यक्त की गई है। 'सोऽरोदीद्यदरोदीत्तद्रुद्रस्य रुद्रत्वम्'। अर्थवाद के द्वारा यह विदित होता है कि रोने से जो आँसू गिरे वही रजत है, अत: यदि रजतदान होगा तो घर में रोने का प्रसंग उत्पन्न होगा।[१] और इसलिए इस अर्थवाद को अर्थवत्त्व प्राप्त हुआ है। क्योंकि निषेधशेष संज्ञक अर्थवाद का प्रयोजन निषेध वाक्य द्वारा निषेध्य पदार्थ की निन्दा का बोध कराना है, यही उसका अर्थवत्त्व है [निषेधशेषस्य निषेध्यस्य निन्दितत्वबोधकतयार्थवत्त्वम्]। इसप्रकार इस अर्थवाद से निषेध्य वाक्य द्वारा निषिद्ध **'रजतदान'** की निन्दा होने से निषेध एवं अर्थवाद वाक्यों में एक वाक्यता स्थापित होती है। **'सोऽरोदीत्'**– इत्यादि अर्थवादात्मक वाक्य के अर्थ को सम्यक् रूप से ज्ञात करने के लिए तैत्तिरीयसंहितागत कथा का अनुसंधान प्रकृत प्रसंग में उपकारी है।[२]

पूर्वपक्षी को यहाँ यह शंका है कि– विधिवाक्य और अर्थवादवाक्य– इन दोनों का परस्पर अन्वय किस प्रकार हो सकेगा? वह कहता है कि,– **'वायव्यं श्वेतमालभेत'**– यह विधि वाक्य है, और यह वाक्य अपने में परिपूर्ण होने से उसे अर्थवाद वाक्य की किंचित् भी अपेक्षा नहीं है। उसी प्रकार **'वायुर्वै क्षेपिष्ठा देवता'**– यह अर्थवादवाक्य भी एक भूतार्थविषयक बात कहकर अपने अर्थ को पूर्ण कर लेता है। अपने अर्थ को परिपूर्ण करने के लिए उसे विधिवाक्य की किसी भी प्रकार की आकांक्षा प्रतीत नहीं होती। ऐसी स्थिति में विधिवाक्य को अर्थवाद वाक्य की, किंवा अर्थवाद वाक्य को विधिवाक्य की आकांक्षा न होने से ये दो वाक्य मिलकर वाक्यैकवाक्यता किस प्रकार प्राप्त करेंगे? पूर्वपक्षी द्वारा इस प्रकार की शंका उत्थापित की जाने पर सिद्धान्ती शंका के समाधान में यह कहता है कि आपका यह कहना कि 'इन दो वाक्यों को एक दूसरे की अपेक्षा नहीं होती'– समुचित नहीं है। क्योंकि उन्हें एक दूसरे की अपेक्षा होती ही है। जैसे– विधिवाक्य पुरुष को किसी यागादिक कर्म करने के लिए प्रेरित करता है। अत: जिस कर्म का अनुष्ठान करने के लिए उसे प्रेरित किया गया है, वह कर्म योग्य है, इसप्रकार की स्तुति करनेवाले अन्य किसी वाक्य की अपेक्षा विधि को होती ही है। उसी प्रकार अर्थवादवाक्य में जो स्तुति निहित रहती है, उसे भी किसी स्तोतव्य पदार्थ की अपेक्षा होती ही है। इस प्रकार दोनों वाक्यों को एक दूसरे की

---

१. ''सोऽरोदीत्' इत्यत्रापि रजतस्य पतिताश्रुरूपत्वाद् रजतदाने गृहेऽपि रोदन प्रसङ्गाद् 'बर्हिषि रजतं न देयम्'– इति तन्निषेधेन विधेयेन अर्थवादस्य एकवाक्यत्वम्''

– ऋग्वेदभाष्यभूमिका पृ. १९

२. 'पुराकदाचित् देवासुराणां युद्धं प्रावर्तत। तत्र युद्धार्थं गच्छन्तौ देवा: स्वीयमनर्घं स्मरणीयं च वस्तुजातमग्निसमीपेऽस्थापयन्। यदि कदाचिदस्मानसुरा: जीयु: तदिदमस्माकं लोकयात्रार्थं भविष्यतीति। दृष्ट्वा च तत् अतिसुन्दरममूल्यं च वस्तुजातं लोभाकृष्टचित्तोऽग्नि: तत् गृहीत्वाऽपलायत। ते च देवा असुरान् जित्वा प्रतिनिवृत्ता: यदा पलायितमग्निमवागच्छन् तदा तमन्विष्य तत् सर्वमपि धनं बलादगृह्णन्। तादृशधनवियोगजं दु:खमसहमानोऽग्निररुदत्। रुदतस्तस्य नेत्राभ्यामपतदश्रु। तदेव च रजतं संजातमिति।'

(१०८) अर्थवादस्यभेदत्रयम्

स पुनस्त्रेधा। तदुक्तम्। 'विरोधे गुणवादः स्यादनुवादोऽवधारिते। भूतार्थवादस्तद्धानादर्थवादस्त्रिधा मत' इति। अस्यार्थः। प्रमाणन्तरविरोधे सत्यर्थवादो गुणवादः। यथा 'आदित्यो यूप' इत्यादि। यूपे आदित्यभेदस्य प्रत्यक्षबाधितत्वादादित्यवदुज्ज्वलत्व-रूपगुणोऽनेन लक्षणया प्रतिपाद्यते। प्रमाणान्तरावगतार्थबोधकोऽर्थ-वादोऽनुवादः। यथा'अग्निर्हिमस्य भेषज'मित्यत्र हिमविरोधित्वस्याग्नौ प्रत्यक्षावगतत्वात्। प्रमाणान्तरविरोधतत्प्राप्तिरहितार्थबोधकोऽर्थवादो भूतार्थवादः। यथेन्द्रोवृत्राय वज्रमुदयच्छदित्यादि।।१०८।।

स पुनरर्थवादो गुणवादोऽनुवादो भूतार्थवादश्चेति त्रिधा भवतीति। पुनरपि तत्त्रेधा विभजते। स पुनस्त्रेधेति। तस्य त्रिविधत्वे वृद्धसम्मतिमुदाहरति-तदुक्तमिति। तद्धा-

---

अपेक्षा होती ही है, यह स्पष्ट है। और इस आकांक्षा के कारण इन दोनों वाक्यों का एक दूसरे के साथ अन्वय होकर उनमें वाक्यैकवाक्यता उत्पन्न हो जाती है[1]।।१०७।।

__अनुवाद– स पुनस्त्रिधेति।__ वह अर्थवाद पुन: तीन प्रकार का होता है– (१) गुणवाद (२) अनुवाद, और (३) भूतार्थवाद। कहा भी गया है–

__विरोधइति।__ प्रमाणान्तर से विरोध होने पर 'गुणवाद', प्रमाणान्तर से अवगत अर्थ का बोधक 'अनुवाद' तथा प्रमाणान्तर विरोध रहित एवं प्रमाणान्तर प्राप्ति रहित अर्थ का बोधक हो उसे 'भूतार्थवाद' कहते हैं। ग्रंथकार उक्त कारिका का अर्थ कर रहे हैं–

__अस्यार्थ इति।__ (१) जिस अर्थवाद का प्रमाणान्तर से विरोध हो वह 'गुणवाद' कहा जाता है, यथा __'आदित्यो यूप:'__ यूप आदित्य है इत्यादि। आदित्य और यूप का एक होना प्रत्यक्ष प्रमाण से बाधित है अतएव प्रकृत में लक्षणा से 'यूप' आदित्य के सदृश उज्ज्वल है इस तरह उज्ज्वलत्व रूप गुण प्रतिपादित होता है। (२) प्रमाणान्तर से अवगत अर्थ के बोधक अर्थवाद को 'अनुवाद' कहा जाता है। यथा- __'अग्निर्हिमस्य भेषजम्'__ अग्नि शैत्य की औषधि है। प्रकृत में प्रत्यक्ष प्रमाण से पूर्व से ही ज्ञात है कि अग्नि हिम विरोधी है। अत: अनुवाद है। (३) जिसका दूसरे किसी प्रमाण से विरोध न हो रहा हो एवं जिसके द्वारा अव-बोधित अर्थ प्रमाणान्तर से सम्भव नहीं हो उसे 'भूतार्थवाद' कहा जाता है। यथा-इन्द्रो वृत्राय वज्रमुदयच्छत्' इन्द्र ने वृत्त का हनन करने के लिए वज्र उठा लिया।।१०८।।

---

१. विधियो हि यं कञ्चनाऽर्थं विदधत: स्वविषये पुरुषं प्रवर्तयितुमीहमाना: तावन्मात्रेणाऽप्रवृत्तस्य पुरुषस्य प्रवृत्तिसम्पादनाय रूचिविशेषमुत्पादयितुं स्वविषयस्य स्तुतिमपेक्षन्ते। अर्थवादा अपि यथाश्रुतार्थमात्रप्रतिपादने प्रयोजनमलभमाना: विधिना सहैकवाक्यतां प्राप्य विधेयमर्थं स्तुवन्त: कृतार्थीभवन्ति। (तं. सि. र. प्रथम परिच्छेद)

नादिति । तयोर्हानं तद्धानं तस्मादिति विग्रहः । प्रमाणान्तरविरोधप्रमाणान्तरावधारणयो-र्हानादित्यर्थः । समुदाहृतवृद्धसम्मतिव्याचष्टे । अस्यार्थ इत्यादिना । इन्द्रोवृत्रायेति अस्य वृत्रम्प्रतीन्द्रवज्रोद्यच्छनाभावावगाहिप्रमाणान्तरस्यादर्शनान्न तद्बोधने प्रमाणान्तरेण विरोधः । नापि प्रमाणान्तरावगतार्थप्रतिपादकत्वं वृत्रं प्रतीन्द्रवज्रोद्यच्छन-प्रतिपादकप्रमाणान्तरस्यादर्शनादिति भावः ।।१०८।।

।। अर्थमीमांसा ।।

पूर्व के प्रकरण में अर्थवाद के दो भेदों– **विधिशेष** और **निषेधशेष** का निरूपण किया गया । जो अर्थवाद, विधिविहित की प्रशंसा करता है, उसे **'विधिशेष'** एवं जो निषिध्य अर्थ की निन्दा करता है, उसे **'निषेधशेष'** कहा जाता है । प्रत्येक अर्थवादवाक्य का पर्यवसान अन्त में स्तुति किंवा निन्दा– इन दोनों में ही होना चाहिए, इस दृष्टिकोण से उक्त दो भेद किये गये हैं । प्रकृत प्रकरण में उसी अर्थवाद को पुन: तीन भेदों में विभक्त किया जा रहा है । ये भेद किस दृष्टिकोण से किये जा रहे हैं, इसका विचार यथास्थान बाद में किया जायगा । किन्तु इसके पूर्व इन तीन भेदों के स्वरूप को प्रथमत: यहाँ देखते हैं । **'विरोधे गुणवादः स्यात्'**– इस कारिका में अर्थवाद के तीन भेदों और उनके लक्षणों को निरूपित किया गया है । उन तीन भेदों के नाम इसप्रकार हैं :– (१) **गुणवाद**, (२) **अनुवाद**, और (३) **भूतार्थवाद** ।

(१) इनमें से **'विरोधे गुणवादः स्यात्'**– यह गुणवाद[१] का लक्षण है, और **'आदित्यो यूपः** (ऐ.ब्रा. ५/२७)– यह उसका उदाहरण । पशुयाग में पशु के बान्धने के लिए जो स्तम्भ रहता है, उसे **'यूप'** कहा जाता है। उस यूप की स्तुति करते समय उसे **'आदित्यो यूपः'** कहा गया है। इस वाक्य में यूप को प्रत्यक्ष आदित्य अर्थात् सूर्य कहा गया है। एवञ्च यूप में आदित्य का अभेद माना गया है, अर्थात् दोनों भिन्न नहीं, एक ही हैं। किन्तु सभी व्यक्ति जानते हैं कि 'यूप' आदित्य नहीं हो सकता। अत: इस विधान का प्रत्यक्ष प्रमाण से विरोध होता है। इसलिए 'आदित्यो यूपः' में **'यूपे आदित्याभेदः'**– यह जो मुख्यार्थ है, वह प्रत्यक्ष प्रमाण से बाधित होता है। अत: **'मुख्यार्थबाधे लक्षणा'**– इस न्याय से यहाँ लक्षणा करना आवश्यक होता है। लक्षणा गुण सादृश्य के आधार पर होती है। सूर्य मे जैसा उज्ज्वलत्व रूप गुण है, वैसा ही उज्ज्वलत्व रूप गुण 'यूप' (यज्ञ स्तम्भ) में विद्यमान है। यही गुण सादृश्य दोनों में है। इसीलिए यहाँ 'यूप' को आदित्य कहा गया है। वस्तुत: इस अर्थ की प्राप्ति लक्षणा से होती है। गौणी (गुणवाचक) लक्षणा से यह अर्थ निष्पन्न होने के कारण इस अर्थवाद को गुणवाद– यह नाम दिया गया है। एवञ्च कारिका के 'विरोधे गुणवादः'– का अर्थ– ['प्रत्यक्षादि– प्रमाणान्तरविरोधे सति यः अर्थवादः स गुणवादः–] यह होता है। 'गुणवाद' का अन्य उदाहरण- ''स आत्मनो वपामुदक्खिदत् तामग्नो प्रागृहणात्'[२] है।

(२) अर्थवाद का दूसरा भेद है **'अनुवाद'**। उसका लक्षण है– **'अनुवादोऽवधारिते'**– और 'अग्निर्हिमस्य भेषजम्'– (तै.सं. ७/४/१८/२) यह उसका उदाहरण है । इस अर्थवाद को 'अनुवाद' इसलिये कहा जाता है, क्योंकि इसका प्रतिपाद्य विषय अन्य प्रमाण से भी

१. प्रमाणान्तरविरुद्धार्थबोधकत्वं यत्र स गुणवादः। (तं. सि. र. प्रथम परि.)

२. तै.ब्रा. २/१/५/२

अवधारित अर्थात् निश्चित (ज्ञात) रहता है। अत: ग्रन्थकार ने 'अनुवाद' का लक्षण प्रस्तुत करते हुए कहा है– **'प्रमाणन्तरावगतार्थबोधकोऽर्थवादोऽनुवादः'**– अर्थात् अन्य प्रमाण या प्रमाणों से ज्ञात अर्थ का ज्ञान करानेवाले अर्थवाद को 'अनुवाद' कहा जाता है। ग्रन्थकार ने यहाँ अनुवाद के उदाहरण के रूप में 'अग्निर्हिमस्य भेषजम्[१]– वाक्य को उपन्यस्त किया है। 'अग्नि शैत्य की दवा है, इस अर्थवाद वाक्य से यहाँ अग्नि की स्तुति की गई है, और इस स्तुति में अग्नि को शैत्य की दवा कहा गया है। और यहाँ कोई विरोध भी उत्पन्न नहीं होता। 'यूप आदित्य है' यह कथन जिस प्रकार प्रत्यक्ष प्रमाण से बाधित होता है, वैसा यहाँ कोई बाध उत्पन्न नहीं होता। साथ ही यह तथ्य कि अग्नि शैत्य का नाशक है प्रत्यक्ष प्रमाण से पूर्व ही अवगत था, उसी ज्ञात विषय का ज्ञापन कराने के कारण 'अग्निर्हिमस्य भेषजम्'– वाक्य को अनुवाद की संज्ञा दी गई है। अर्थात् अग्नि के प्रत्यक्ष दिखाई देनेवाले हिमविरोधित्व-धर्म का 'अग्निर्हिमस्य भेषजम्'– इस वाक्य में अनुवाद होने से इस अर्थवाद को 'अनुवाद'– नाम दिया गया है। इसका अन्य उदारहण 'वायुर्वैक्षेपिष्ठा देवता' है।

(३) **'भूतार्थवाद'**– यह अर्थवाद का तीसरा प्रकार है। **'भूतार्थवाद'** शब्द का अर्थ है– 'यथाभूतवस्तु– अर्थात् यथार्थ का निरूपण करनेवाला वाक्य'। जिस अर्थवाद वाक्य में न तो गुणवाद वाक्य की तरह प्रमाणान्तरविरोध होता है और न ही अनुवाद वाक्य की तरह प्रमाणान्तरावधारण होता है, अर्थात् जहाँ प्रमाणान्तर विरोध एवं प्रमाणान्तरावधारण– इन दोनों का अभाव रहता है, वहाँ **'भूतार्थवाद'** नामक अर्थवाद माना जाता है। ग्रन्थकार ने इसका लक्षण इन शब्दों दिया है–

'प्रमाणान्तरविरोधतत्प्राप्तिरहितार्थबोधकोऽर्थवादो भूतार्थवादः' इसका उदाहरण 'इन्द्रो वृत्राय वज्रमुदयच्छत्[२]– दिया है, इसका अर्थ है– इन्द्र ने वृत्र का हनन करने के लिए वज्र उठा लिया। इस वाक्य में इन्द्र देवता की स्तुति की गई है। परन्तु यह स्तुति ऐसी है कि इसमें कथित वस्तु का प्रत्यक्षादिक प्रमाणान्तर से विरोध नहीं हो सकता किंवा अनुकूलत्व भी प्रदर्शित नहीं किया जा सकता। उक्त प्रकार से यहाँ **'प्रमाणान्तरविरोध'** एवं **'प्रमाणान्तरावधारण'** दोनों का अभाव होने के कारण **'इन्द्रो वृत्राय वज्रमुदयच्छत्'** अर्थवाद का उदाहरण माना जाता है। तात्पर्य यह है कि प्रथम प्रकार का विरोध और दूसरे प्रकार का अवधारण इन दोनों का ही **'हान'** अर्थात् परित्याग यहाँ किया जाता है। इसलिए 'भूतार्थवाद: तद्धानात् '(तयो: विरोधावधारणयो: हानात् परित्यागात्)' इस लक्षण के अनुसार **'इन्द्रो वृत्राय वज्रमुदयच्छत्'** यह भूतार्थवाद है।

पं. चिन्नस्वामी जी ने प्रकृत में ग्रंथकार की आलोचना की है। आचार्य जी का कहना है कि द्वितीय भेद का उदाहरण 'अग्निर्हिभस्य-भेषजम्' नहीं हो सकता। क्योंकि 'अग्निर्हिमस्यभेषजम्' मंत्र है, इस हेतु इसे अर्थवाद नहीं कहा जा सकता है।[३]

---

१. तै.सं. ७/४/१८/२

२. शतपथ ब्राह्मण– १।२।३।३

३. यत्तुकैश्चित् द्वितीयतृतीययो: 'अग्निर्हिमस्य भेषजम्' 'वज्रहस्त:पुरन्दर:' इत्युदाहृतं तदयुक्तम्, अग्निरित्यस्य वज्रहस्त इत्यस्य च मन्त्रत्वेनाऽर्थवादत्वाभावात्। अर्थवादस्यैव ह्यनेन त्रैविध्यमुच्यते, न तु मन्त्रस्य । (तं. सि. र. प्रथमपरिच्छेद)

(१०९) ग्रंथोपसंहार:

एवं च 'यजेत स्वर्गकाम:' इत्यादिनिखिलवेदस्य साक्षात्परम्परया वा यागादिधर्मप्रतिपादकत्वं सिद्धम्। सोऽयं धर्मो यदुद्दिश्य विहितस्तदुद्देशेन क्रियमाणस्तद्धेतुः। ईश्वरार्पणबुद्ध्या क्रियमाणस्तु निःश्रेयसहेतुः। न च तदर्पणबुद्ध्यानुष्ठाने प्रमाणाभावः। 'यत्करोषि यदश्नासि यज्जुहोषि ददासि यत्। यत्तपस्यसि कौन्तेय तत्कुरुष्व-मदर्पणमि'ति भगवद्गीतास्मृतेरेवप्रमाणत्वात्। स्मृतिचरणे तत्प्रामाण्यस्य श्रुतिमूलकत्वेन व्यवस्थापनादिति शिवम्।।१०९।।

एवमुपपादितं विध्यर्थवादादिरूपस्य पञ्चविधवेदस्य साक्षात्परम्परया यागादि-धर्मप्रतिपादकत्वेनार्थवत्वमुपसंहरति-एवञ्चेति। उक्तेन प्रकारेण चेत्यर्थः। योऽयं यागा-

---

अर्थवाद के **विधिशेष** और **निषेधशेष**– ये जो दो भेद किये गये है, वे अर्थवादवाक्य का विधिवाक्यों से किंवा निषेधवाक्यों से संबन्ध किस प्रकार जोड़ना चाहिए, इस दृष्टि से किये गये हैं। परन्तु गुणवाद, अनुवाद और भूतार्थवाद, ये जो अर्थवाद के भेद हैं, वे अन्यनिरपेक्षत्वेन स्वत: उन-उन अर्थवादवाक्यों में क्या वर्णित किया गया है, इस दृष्टि से किये गये हैं। अर्थवादवाक्य में स्तुति की गई है, किंवा निन्दा की गई है– यह एक प्रश्न है, और उसमें स्तुति किंवा निन्दा जो कुछ की गई हो, वह प्रत्यक्षादिक प्रमाणों के आधार पर की गई है किंवा उसके बिना (अभाव से) की गई है, किंवा उनसे किसी प्रकार का सम्बन्ध न रखकर की गई है, यह भिन्न प्रश्न हैं। सकल अर्थवादवाक्यों को एकत्र करके उनके स्वत: के अन्त:स्वरूप के आधारपर यदि वर्गीकरण किया गया तो, वह वर्गीकरण गुणवाद, अनुवाद और भूतार्थवाद के स्वरूप का होगा, और इन तीनों प्रकार के अर्थवादों में यदि स्तुति होगी तो, वे 'विधिशेष' और 'निन्दा' होगी तो, वे **निषेधशेष** कहलावेंगे, यह स्पष्ट है।।१०८।।

अनुवाद– एवमिति। *इस प्रकार यह सिद्ध हो जाता है कि 'यजेत स्वर्गकाम:' इत्यादि समस्त वेद-कलाप साक्षात् अथवा परम्परया यागादिरूप धर्म का प्रतिपादक है।*

स इति। *यागरूप धर्म का विधान जिस उद्देश्य से किया जाता है उसी उद्देश्य से उसका अनुष्ठान करने पर उस अनुष्ठान से उद्दिष्ट फल की प्राप्ति अवश्य होती है। ईश्वर के प्रति अर्पण किये जाने के उद्देश्य से यागादिरूप धर्म मोक्षप्राप्ति का साधक है। इस पर यदि कोई यह शंका करे कि ईश्वरार्पण बुद्धि से यागानुष्ठान करने में कोई प्रमाण नहीं है– तो यह कहना उचित नहीं है। क्योंकि ईश्वरार्पण बुद्धि से अनुष्ठान में प्रमाण का अभाव नहीं है।*

यदिति। *'हे अर्जुन! जो करते हो, जो खाते हो, जो हवन करते हो, जो दान करते हो, जो तप करते हो वह सब मुझे अर्पण कर दो'। आदि* ***भगवद्गीता*** *की स्मृति ही प्रमाण है। जैमिनि ने प्रथमाध्याय के तृतीयपाद (स्मृतिपाद) में स्मृतियों का प्रमाण्य उनके श्रुतिमूलक होने से सिद्ध किया है।* ***इति शिवम्।।*** *१०९।।*

दिरूपो धर्मो यत्स्वर्गादिफलमुद्दिश्य विहितः सोऽयं तादृशफलोद्देशेनानुष्ठीयमान एव तस्य फलस्य हेतुर्भवति । परमेश्वरसमर्पणमनीषयाऽनुष्ठीयमानस्तु चित्तशुद्धितत्त्वज्ञान-प्राप्तिद्वारा परम्परया मोक्षहेतुरिति धर्मानुष्ठानस्य विविदिषा श्रुतिप्रामाण्यात्संयो-गपृथत्क्वान्यायमाश्रित्य परमपुरुषार्थपर्यवसायित्वमुपक्षिपति-सोऽयमित्यादिधर्मस्य परमेश्वरसमर्पणबुद्ध्यानुष्ठानप्रमाणाभावमाशङ्क्य तत्र भगवद्वाक्यं प्रमाणयति-नचेत्यादिना । नच तस्याः स्मृतेरप्रमाण्यमाशङ्क्य तंत्रे स्मृतिपादे स्थितं अष्टकाः कर्तव्या इत्यादिस्मृतिवाक्यं न धर्मे प्रमाणं पौरुषेयवाक्यत्वे सति मूलप्रमाणरहितत्वाद्वि-

।। अर्थमीमांसा ।।

प्रकृत प्रसंग में यह ध्यातव्य है कि– ग्रन्थकार श्रीलौगाक्षि भास्कर ने जैमिनीय दर्शन के सिद्धान्तों के प्रतिपादक अर्थसंग्रह ग्रंथ की रचना की है। तदनुसार ग्रंथकार ने पूर्वमीमांसा के प्रथम सूत्र **'अथातो धर्मजिज्ञासा'** को ग्रन्थ के प्रारम्भ में अवतीर्ण करके सूत्र की विवेचना प्रारम्भ की है। तत्पश्चात् जैमिनि के धर्म का स्वरूप बतलानेवाले सूत्र– **'चोदनालक्षणोऽर्थो धर्मः'**– को ही आधार मानकर **'वेदप्रतिपाद्यः प्रयोजनवान् अर्थः यागादिः धर्मः'** को कहकर धर्म के स्वरूप का वर्णन किया है। पुनः वेद के प्रतिपाद्य विषय को ध्यान में रखकर ग्रन्थकार ने वेद के **विधि, मंत्र, नामधेय, निषेध** और **अर्थवाद**– इन पांच विभागों का उल्लेखकर, प्रत्येक विभाग द्वारा यागादिक धर्म के प्रतिपादन में होनेवाली साहायता का निरूपण किया है। और इस प्रकार यागादिक धर्म का वेदप्रतिपाद्यत्व प्रस्थापित किया गया है। इस प्रकार ग्रन्थकार, ग्रन्थ में उल्लिखित सकल विषय की ओर ध्यान आकर्षित कराते हुए **'एवं च'**– इत्यादि शब्दों से उपसंहार की दृष्टि से उनका निर्देश कराने के लिए प्रवृत्त हो रहे हैं। तदर्थ पूर्वप्रतिपादित सकल पदार्थों का यहाँ संक्षेप में संकलन करना आवश्यक है और वह निम्नोक्त रचना से ध्यान में आ सकेगा–

वेदप्रतिपाद्यः प्रयोजनावदर्थः — यागादिरेव धर्मः
वेदप्रतिपादितः (स्वर्गादिप्रयोजनवान् अर्थः) — यागादिरेव धर्मः
वेदप्रतिपादितः — यागादिरेव धर्मः

विधि
मंत्र
नामधेय } प्रतिपादितः — यागादिरेवे धर्मः
निषेध
अर्थवाद

विधिना विहितः
मंत्रैः स्मारितः
नामधेयेन व्यवहृतः } यागादिरेव धर्मः
निषेधेन निवर्तितः
अर्थवादेन प्रवर्तितः

प्रलम्भकवाक्यवत्। अथ मूलप्रमाणवत्वाय वेदार्थ एव स्मृतिभिरुच्यत इति मन्येथाः तर्हि वेदेनैव तदर्थस्यावगतत्वादियं स्मृतिरनर्थिका स्यात्। तदानीमनुवादकत्वादप्रामाण्यमिति प्राप्ते ब्रूमः विमता स्मृतिर्वेदमूला वैदिकमन्वादिप्रणीतस्मृतित्वात् उपनयनाध्ययनादिस्मृतिवत्। न च वैयर्थ्यं शङ्कनीयम्। अस्मदादीनां प्रत्यक्षेषु परोक्षेषु नाना वेदेषु विप्रकीर्णस्यानुष्ठेयार्थस्यैकत्र सङ्क्षिप्यमाणत्वात्। तस्मादियं स्मृतिधर्मे प्रमाणमिति। बालानां सुखबोधाय भास्करेण सुमेधसा रचितोऽयं समासेन जैमिनीयार्थ संग्रहः ।।१०९।।

उपर्युक्त संक्षिप्त वाक्य रचना से वेद के पांच भागों में से यागादिक धर्म को किसके द्वारा क्या साहायता प्राप्त होती है, ध्यान में आता है, और यही विचार ['यजेत स्वर्गकामः इत्यादिनिखिलवेदस्य साक्षात्परम्परया यागादिधर्मप्रतिपादकत्वम्']- इस वाक्य में निरूपित किया गया है। सकल वेद में यागादिक धर्म का ही प्रतिपादन किया गया है। यह स्पष्ट ही है। और उसका प्रतिपादन वेद के पांच भागों द्वारा किया गया है। विधि और निषेध द्वारा किया हुआ प्रतिपादन साक्षात् है और मंत्र, नामधेय तथा अर्थवाद के द्वारा किया हुआ प्रतिपादन पर्याय से हुआ है। तथापि वेद का कोई भी भाग हो, वह इस यागादिक धर्म के प्रतिपादन में निरत है।

उक्त धर्म के सम्बन्ध में यह ध्यातव्य है कि- **'यदुद्दिश्य विहितः तदुद्देशेन क्रियमाणः अयं धर्मः तद्धेतुः'**- अर्थात् स्वर्गादि फल के उद्देश्य से यह धर्म विहित होने से उस स्वर्गादिक के उद्देश्य से किया जाने पर वह धर्म स्वर्गादिक की उत्पत्ति का कारण बनता है। [स्वर्गफलमुद्दिश्य विहितः स्वर्गफलोद्देशेन क्रियमाणः अयं धर्मः स्वर्गफलजनकत्वे हेतुर्भवति इत्यर्थः] सारांश यह है कि जिस उद्देश से धर्म का आचरण किया जायगा, वह उद्देश धर्म से प्राप्त होगा। इस प्रसंग में यदि कोई यह शंका करते हुए कहे कि- स्वर्गादिक जो कामना-इच्छाएँ हैं, उनकी ही तृप्ति के लिए यह धर्म उपयोगी है, अतः ऐसे धर्म के प्रतिपादन के लिए प्रवृत्त यह मीमांसाशास्त्र नितान्त संकुचित शास्त्र है, किन्तु इस प्रकार की शंका का कोई औचित्य नहीं है। क्योंकि जिस उद्देश को मन में धारण किया जायगा, वह उद्देश धर्म के आचरण से पूर्ण होगा, यही सिद्धान्त है। अतः यागादिक धर्म से उत्पन्न होनेवाला कोई फल मुझे नहीं चाहिए, वह ईश्वरार्पण है, इस बुद्धि से यदि कोई धर्म का अनुष्ठान करता है तो, उसके द्वारा चित्तशुद्धि उत्पन्न होकर तत्त्वज्ञान की प्राप्ति होगी और इस प्रकार यागादिक धर्म का अनुष्ठान निःश्रेयसका अर्थात् मोक्ष का कारण बनेगा। तात्पर्य यह है कि यदि किसी याग का अनुष्ठान ईश्वरार्पण बुद्धि से किया जाता है तो मोक्ष की प्राप्ति होती है।

कोई व्यक्ति यह प्रश्न कर सकता है कि ईश्वरार्पण बुद्धि से यागानुष्ठान करने पर मोक्ष की प्राप्ति होती है इस विषय में क्या प्रमाण है? इसके प्रमाणरूप में गीता का यह श्लोक प्रस्तुत किया गया है-

[यत्करोषि यदश्नासि यज्जुहोषि ददासि यत्।
यत्तपस्यसि कौन्तेय तत्कुरुष्व मदर्पणम्।।

भगवद्गीता अ. ९-२७]

(११०)

बालानां सुख बोधाय-भास्करेण सुमेधसा।
रचितोऽयं समासेन जैमिनीयार्थसंग्रहः।।

।। इति श्रीमहामहोपाध्यायलौगाक्षिभास्करविरचितमीमांसार्थसंग्रहनामकं प्रकरणं समाप्तिमगात्।।

भगवद्गीता एक स्मृति है, और उस स्मृति का उक्त श्लोक प्रमाण है। इससे– समस्त कर्म ईश्वरार्पण बुद्धि से करना चाहिए, यह सिद्ध होता है। और ऐसा करने पर–

[शुभाशुभफलैरेवं मोक्ष्यसे कर्मबन्धनैः।
संन्यासयोगयुक्तात्मा विमुक्तो मामुपैष्यसि।। भगवद्गीता ९।२८]

उक्त श्लोक में वर्णितानुसार निःश्रेयस प्राप्ति होती है, यह भी सिद्ध होता है। फिर प्रश्न यह किया जा सकता है कि गीता भारतांतर्गत होने से उसे स्मृतित्व कैसे प्राप्त हो सकता है? तो यह समुचित नहीं है। क्योंकि, महाभारत के– अर्थात् महाभारतोक्त– जो आख्यानादि हैं, वे सभी अर्थवादात्मक हैं, और उसमें जो विधि भाग है– उनका वार्तिकार ने अपने अर्थवाद के अधिकरण में प्रामाण्य प्रस्थापित किया है। इसके अतिरिक्त गीतोक्त जो कुछ है, वह सब वेद प्रतिपादित विधि स्वरूप ही है। और गीता के वे सब विधि प्रत्यक्ष भगवान्-श्रीकृष्ण के मुखारविन्द से प्रसूत हैं। अतः उनके प्रामाण्य के सम्बन्ध में शंका के लिए कोई अवकाश ही नहीं रहता। फिर भी उक्त विवेचन के आधार पर यह मान लेने पर भगवद्गीता एक स्मृति है, तथापि वह श्रुति नहीं है। ऐसी स्थिति में उसे प्रामाण्य कहाँ से प्राप्त होगा? ऐसी शंका होने पर, उसका समाधान मीमांसासूत्र अ. १ पा. ३ में किया गया है। इस पाद में स्मृति के प्रामाण्य के सम्बन्ध में पर्याप्त ऊहापोह किया गया होने से इसे 'स्मृतिपाद' किंवा 'स्मृतिचरण'– कहा जाता है। इसमें स्मृतियों को श्रुतिमूलकत्वेन अथवा वेद-मूलकत्वेन प्रामाणिक सिद्ध किया गया है।[१] अतः स्मृतिप्रामाण्य के आधार पर भगवद्गीतोक्तानुसार ईश्वरार्पण बुद्धि से किये हुए यागादिकों के अनुष्ठानों से चित्तशुद्धि और तत्त्वज्ञान की प्राप्ति होती हैं और तत् द्वारा अन्त में निःश्रेयस प्राप्त होने की शक्यता है, यह सिद्ध होता है।।१०९।।

यहाँ '**इति**' शब्द ग्रन्थ की समाप्ति का सूचक है और '**शिवम्**' शब्द ग्रन्थ के रचयिता, पाठक आदि सब के लिये शुभेच्छा को व्यक्त करता है। अन्त में ग्रन्थकार ने ग्रन्थ की रचना का प्रयोजन बतलाया है–

अनुवाद– बालानामिति। *- अत्यन्त मेधावी लौगाक्षिभास्कर ने जैमिनीयदर्शन के 'अर्थसंग्रह' नामक ग्रन्थ की रचना जिज्ञासुओं तथा अल्पज्ञ बालकों को भी कर्ममीमांसा दर्शन का ज्ञान सरलता से हो सके, इस इच्छा से संक्षेप में की है।।११०।।*

---

१. एवं मन्वादिस्मृतीनामपि धर्मे प्रामाण्यम्। परन्तु न तासां न वेदवत् स्वातन्त्र्येण प्रामाण्यम्। किन्तु वेदमूलकत्वेन। (तं. सि. र. प्रथमपरिच्छेद)

ननु किमनेन सङ्ग्रहनिरूपणेन विस्तृतभाष्यादिग्रन्थैरेव जैमिनीयमिति । तेषां विस्तृतत्वेन दुःखग्रह्यत्वान तैर्बालशब्दितपूर्वमीमांसासंस्कारशून्यां जैमिनीयन्यायार्थ-बोधः सम्भवति। अनेन तु तत्तद्विस्तृतशास्त्रप्रवेशद्वारा सम्भवत्येव स इति भावः। **टीकाविहीने तु कृता हि टीका, पूर्वे तु तन्त्रे खलु सङ्ग्रहेऽस्मिन्। दुर्बोधशास्त्रे किमु मादृशानां, दृष्ट्वाऽपि दोषं न सहन्ति धीराः।।१।। यदाज्ञया बन्धविमोक्षणं विना, स्वधर्मसेवाफलहेतुतां गता। प्रणौमि सोमं मृडमादिकारणं, किमन्यदेवैर्जन-फल्गुहेतुभिः।।२।। मदीय यत्नः शिवपादसेवया, गुरोः कटाक्षैकलवेन लब्धया। प्रयुज्यमानः शिवपादपङ्कजे, स्वयं तु भूयान्मृडतोषकारणम्।।३।। सुजनपदविनीतो दूर्जनाद्दूरनिष्ठो गुरुतरशिवभक्तस्तेन लब्धागमैक्षः। श्रुतिमणिपदनिष्ठा भिक्षुरामेश्वराख्यः सुजननयतिवेशायत्नबन्धं चकार।।४।। गुणगणमणिसिन्धुः शम्भुपादैकभक्तो, निगमशिरसिनिष्ठो जातवैराग्यचितः। श्रुतिनलिनविकासे भानुभावो य ईशस्तमिहमहिमपूज्यं नौमि गोपं यतीन्द्रम्।।५।। तस्मादेव गुरुतरादभीष्ठलब्धं गोपालाश्रमपदगीयमानदैवात्। येनोमाधवचरणाब्जसेविनात्र तं वन्दे महिमगुरुं विशालबुद्धिम्।।६।। या काशी निखिलगुरोर्महेश्वरस्य, प्राणान्ते सकलशिवप्रदा प्रसिद्धा। यत्राहं सकलसुरेश-लब्धतत्वस्तत्रेयं सुजनहितप्रदा निबद्धा।।७।।११०।।**

इति श्रीमत्परमहंसपरिव्राजकाचार्यगोपालेन्द्रसरस्वती श्रीपूज्यपादशिष्यश्रीसदाशिवेन्द्र-सरस्वती शिष्येण श्रीरामेश्वरेण शिवयोगिभिक्षुणा विरचिता मीमांसार्थसङ्ग्रह-कौमुदी चरमवर्णध्वंसमगात्।।

।। अर्थमीमांसा ।।

उक्त श्लोक से यह विदित होता है कि लौगाक्षिभास्कर के समय में कर्ममीमांसा-दर्शन विषयक शंकात्मक प्रश्नों का संतोषप्रद उत्तर बृहत्काय ग्रंथों से सरलता से प्राप्त करना कठिन हो रहा था, विशेषत: कोमल बुद्धि के बालकों के लिये। अत: इस बात की आवश्यकता थी कि कर्ममीमांसा दर्शन का एक लघुकाय एवं सुबोध ग्रंथ हो, जिससे जिज्ञासु छात्र सहजगत्या ज्ञान प्राप्त कर सके। इस आवश्यकता की पूर्ति अत्यन्त मेधावी लौगाक्षिभास्कर ने 'अर्थसंग्रह' नामक ग्रंथ की रचना करके की है॥११०॥

महामहोपाध्यायानाम्पण्डित श्रीगजाननशास्त्रिचरणानामनुगृहीतान्तेवासिना, पूज्यपाद पण्डित श्रीकेशवशास्त्रिचरणतनूजन्मना मुसलगाँवकरोप-नामकेन श्रीराजेश्वरशास्त्रिणा विरचिता 'अर्थमीमांसा' व्याख्या श्रीमद् गुरुचरणानुग्रहात् पूर्णताम्प्राप्ता।।

।। श्रीहरिःशरणम् ।।

श्रौतयाग-विमर्श

वैदिक वाङ्मय में यज्ञ का अत्यधिक महत्त्वपूर्ण स्थान है। वैदिक संस्कृति यज्ञ प्रधान संस्कृति है।[१] वेदविहित पद्धति से सम्पादित किये जाने वाले समस्त श्रौतयागों को श्रुति में पाँच भागों में वर्गीकृत किया गया है- १. अग्निहोत्रयाग, २. दर्श-पौर्णमासयाग, ३. चातुर्मास्ययाग, ४. पशुयाग एवं ५. सोमयाग । यथा - **'स एष यज्ञः पञ्चविधोऽग्निहोत्रम्, दर्शपूर्णमासौ, चातुर्मास्यानि, पशुः, सोमः।'** (ऐतरेयब्राह्मण) किन्तु मन्वादिस्मृतिग्रन्थों तथा गौतमधर्मसूत्रप्रभृतिकल्पग्रन्थों में स्मार्त एवं श्रौतयागों की सङ्ख्या सम्मिलित रूप से २१ मानी गई हैं । यथा- **'औपासनहोमः, वैश्वदेवम्, पार्वणम्, अष्टका, मासि श्राद्धम्, श्रवणा, शूलगव इति सप्त पाकयज्ञसंस्थाः, अग्निहोत्रम्, दर्शपूर्णमासौ, आग्रयणम्, चातुर्मास्यानि, निरूढपशुबन्धः, सौत्रामणी पिण्डपितृयज्ञादयो दर्विहोमा इति सप्त हविर्यज्ञसंस्थाः, अग्निष्टोमः, अत्यग्निष्टोमः, उक्थ्यः षोडशी, वाजपेयः, अतिरात्रः, अप्तोर्याम इति सप्त सोमसंस्थाः।'** (गौ.ध. ८/१८)

इन यागों में वर्णित पाकयज्ञों को ही गृह्ययाग कहते हैं । गृह्यसूत्रों में निरूपित याग ही गृह्ययाग हैं। इन्हीं यागों को स्मार्तयाग भी कहा जाता हैं। इन यागों का विधान मन्वादिस्मृतिग्रन्थों में वर्णित होने के कारण श्रौतसूत्रों में पृथक्तया इनका विवेचन नहीं किया गया है । इन स्मार्तयागों का अनुष्ठान गृहीतस्मार्ताग्नि व्यक्ति के द्वारा ही किया जाता है। इन यागों के लिए जिस अग्नि का प्रयोग किया जाता है, उस अग्नि को स्मार्ताग्नि या गृह्याग्नि कहते हैं । इसे ही आवसथ्य अग्नि भी कहते हैं। इस अग्नि का आधान मुख्यरूप से विवाह के अवसर पर अथवा पैतृक सम्पत्ति के विभाग के समय में होता है। यथा- **'आवसथ्याधानं दारकाले', 'दायाद्यकाल एकेषाम्'** (पास्करगृह्यसूत्र १/२/१-२)

इसी अग्नि में पाकयज्ञों के साथ समस्त शान्तिक, पौष्टिक आदि कर्मों तथा संस्कारों का अनुष्ठान भी किया जाता है। पाकयज्ञों की सङ्ख्या ७ हैं।[२] ये हैं-

---

१. विशेषविवेचनार्थ दृष्टव्य - वैदिक साहित्य का इतिहास - डॉ. गजाननशास्त्री मुसलगाँवकर एवं डॉ. राजेश्वरशास्त्री मुसलगाँवकर, चौखम्बा संस्कृतसंस्थान, वाराणसी २००९

२. विशेषविवेचनार्थ दृष्टव्य - श्रौतयज्ञ परिचय, पं. वेणीराम शर्मा गौड़, चौखम्बा विद्याभवन, वाराणसी, १९९९

१. औपासनहोम, २.वैश्वदेव ३. पार्वण, ४. अष्टका, ५. मासिश्राद्ध, ६. श्रवणा, ७. शूलगव ।

समस्त पाकयज्ञों में औपासनहोम एवं वैश्वदेवकर्म का महत्त्वपूर्ण स्थान है। अत: यहाँ केवल इन्हीं का निरूपण किया जा रहा है।

औपासनहोम - पाकयज्ञों में सर्वप्रथम होम औपासनहोम ही है। यह होम सत्पनीक यजमान के द्वारा सायङ्काल एवं प्रात:काल दही से, चावलों से अथवा अक्षतों से किया जाता है। यथा- **'दध्ना तण्डुलैरक्षतैर्वा'** (पा.गृ.सू. १/८/३)। इसमें सायङ्काल में अग्नि मुख्य देवता है तथा प्रजापति अङ्गदेवता है। इसी प्रकार प्रात:काल में सूर्य प्रधान देवता एवं प्रजापति ही अङ्गदेवता है। इस होम का प्रारम्भ सदैव सायङ्काल से ही होता है और सायं-प्रात: मिलाकर यह एक औपासनहोम माना जाता है। इसको नित्यकर्म के रूप में प्रतिष्ठित होने का श्रेय प्राप्त है।

वैश्वदेवकर्म - पाकयज्ञों में द्वितीय स्थान वैश्वदेवकर्म का है। सभी देवताओं का यजन इस कर्म में होता है, अत: इस कर्म को वैश्वदेव कहते हैं। 'विश्वे सर्वे देवा अत्रेज्यन्त इति वैश्वदेवम्।' इसी कर्म को पञ्चमहायज्ञों के नाम से भी जाना जाता है। ये हैं - **'१. ब्रह्मयज्ञ, २. देवयज्ञ, ३. पितृयज्ञ, ४. भूतयज्ञ एवं ५. मनुष्ययज्ञ ।** इन पञ्चमहायज्ञों को प्रत्येक गृहस्थ के लिये नित्य कर्म माना गया है। आचार्य मनु ने अध्यापन (स्वाध्याय) को ब्रह्मयज्ञ, पितरों के निमित्त किये जाने वाले तर्पण को पितृयज्ञ, देवताओं के निमित्त किये जाने वाले हवन को देवयज्ञ, पशु-पक्षियों के निमित्त अन्न का दान तथा अग्नि में अन्न के कुछ अंश का होम करना भूतबलि या भूतयज्ञ तथा गृहागत अतिथि के सत्कार को मनुष्य यज्ञ की संज्ञा प्रदान की है। यथा—

वैवाहिकेऽग्नौ कुर्वीत गृह्यं कर्म यथाविधि ।
पञ्चयज्ञविधानञ्च पक्तिं चाऽन्वाहिकीं गृही ।।

(मनु. ६७/३)

अध्यापनं ब्रह्मयज्ञः पितृयज्ञस्तु तर्पणम् ।
होमो दैवो बलिर्भौतो नृयज्ञोऽतिथिपूजनम् ।।

(मनु. ७०/३)

इस प्रकार पञ्चमहायज्ञरूप वैश्वदेवकर्म का भी अनुष्ठान सायं-प्रात: किया जाता है। इस वैश्वदेवकर्म के माध्यम से गृहस्थजीवन के महत्कर्तव्यों का आभास सहज ही हो जाता है।

श्रौतसूत्रों में वर्णित यागों को श्रौतयाग कहा जाता है। इन यागों का अनुष्ठान श्रौत अग्नि में सपत्नीक ग्रहीतश्रौताग्नि यजमान के द्वारा ही होता है। श्रौताग्नि के प्रकार- श्रौताग्नि मुख्यतया तीन प्रकार की है- १. गार्हपत्याग्नि, २. आहवनीयाग्नि तथा ३. दक्षिणाग्नि । इनमें गार्हपत्याग्नि का प्रयोग हवनीय पदार्थों के पाक के लिए होता है। इसकी वेदी मण्डलाकार (Circle) होती है। आहवनीयाग्नि में देवताओं के निमित्त होम किया जाता है। इसकी वेदी चतुर्भुज (Square) होती है। दक्षिणाग्नि को मुख्यरूप से पितृयज्ञ प्रभृति विशिष्ट कर्मों के निमित्त ही प्रयुक्त किया जाता है। इसकी वेदी अर्धवृत्ताकार (Semi-Circle) होती है। इन सभी वेदियों का क्षेत्रफल समान होता है। एक वेदी का क्षेत्रफल १ वर्ग व्याम (अर्थात् ४ हाथ या ६ वर्ग फीट) होना चाहिये।[१] दक्षिणाग्नि को मुख्यरूप से पितृयज्ञ प्रभृति विशिष्ट कर्मों के निमित्त ही प्रयुक्त किया जाता है। इन तीन प्रकार की अग्नियों के अतिरिक्त एक और श्रौताग्नि है, जिसे सभ्याग्नि कहते हैं। इसका प्रयोग विशेष यज्ञों के लिए होता है।

श्रौतयागों का वर्गीकरण

श्रौतयागों को दो भागों में वर्गीकृत किया गया है— **१. हविर्याग एवं २. सोमयाग।**

हविर्याग—इन यागों में देवताओं के निमित्त दुग्ध, दधि, ओदन, घृत, पुरोडाश प्रभृति हवनीयद्रव्यों की आहुतियाँ प्रदान की जाती हैं। हविर्यागों की सङ्ख्या ७ हैं । ये हैं- **१. अग्निहोत्र, २. दर्श-पूर्णमासयाग, ३. आग्रयणेष्टि, ४.चातुर्मास्ययाग, ५. निरूढ़पशुबन्ध[२], ६. सौत्रामणी तथा ७. पिण्डपितृयज्ञ।[३]**

प्रमुख हविर्यागों का ही निरूपण यहाँ किया जा रहा है-

अग्निहोत्रयाग—प्रतिदिन सपत्नीक आहिताग्नि के द्वारा सायं-प्रात: अग्निदेवता के निमित्त दुग्ध, दधि, घृत, तण्डुल, लपसी प्रभृति द्रव्यों के द्वारा किया जाने वाला विशेषहोम अग्निहोत्र कहलाता है। इसमें प्रधान देवता अग्नि होने के कारण यह कर्म अग्निहोत्र नाम से जाना जाता है। इस याग का यथासम्भव अनुष्ठान स्वयं यजमान को

---

१. वैदिक साहित्य एवं संस्कृति - डॉ. कपिलदेव द्विवेदी, पृ. ३११ विश्वविद्यालय प्रकाशन, वाराणसी, २००८ ।

२. विशेषविवेचनार्थ दृष्टव्य - श्रौतयज्ञ परिचय - डॉ. वेणीरामशर्मा गौड़, २००६, चौखम्बा विद्या भवन, वाराणसी, १९९९

३. वही

ही करना चाहिये, परन्तु स्वयं के असक्षम होने पर अध्वर्यु नामक ऋत्विक् के द्वारा भी इसका अनुष्ठान कराया जा सकता है। यह याग केवल यजुर्वेद से साध्य है। इसका विस्तृत विवेचन शुक्लयजुर्वेद के अध्याय ३ में किया गया है। इस याग की महत्ता का अत्यधिक गुणगान वेदों में किया गया है, जो कि इसकी श्रेष्ठता एवम् उपादेयता का परिचायक है।

दर्श-पूर्णमासयाग—ये दर्श (अमावस्या) तथा पूर्णिमा के दिवस किये जाने वाले विशिष्ट याग हैं। इन यागों का सम्पादन सपत्नीक सोमयाजी यजमान ही कर सकता है तथा इस याग में अध्वर्यु, ब्रह्मा, होता एवम् अग्नीध्र ये ४ ऋत्विज होते हैं। दर्श-पूर्णमासयाग में कुल मिलाकर ६ याग होते हैं, जिनमें अमावस्या के दिन अग्नि के निमित्त पुरोडाशयाग, इन्द्र के निमित्त दधियाग तथा दुग्धयाग - ये तीन याग किये जाते हैं। इसी प्रकार पूर्णिमा के दिन अग्नि के निमित्त अष्टकपाल पुरोडाशयाग,अग्नीषोम के निमित्त घृत का उपांशुयाग तथा एकादशकपाल पुरोडाशयाग - ये तीन याग किये जाते हैं। यद्यपि अमावस्या एवं पूर्णिमा ही इन यागों का निर्धारित काल है तथापि परम्परागत रीति से अमावस्या एवं पूर्णिमा को केवल अग्न्यन्वाधान एवं याग से सम्बन्धित नियमों का ही अनुष्ठान किया जाता है, याग तो प्रतिपदा के दिन ही होता है। अत: ये याग दो दिनों में अनुष्ठित होते हैं। पूर्वोक्त इन ६ यागों को पूर्ण करने पर ही दर्श-पूर्णमासयाग नामक एक कर्म पूर्ण होता है तथा उसी से सन्तति प्रभृति सम्पूर्ण फलों की प्राप्ति होती है। अत: इन यागों के लिये 'दर्श-पूर्णमासौ' इस प्रकार के द्विवचन का ही सदैव व्यवहार होता है। ये दर्श-पूर्णमास याग यथाशक्ति आजन्म अनुष्ठेय हैं, किन्तु इनके अनुष्ठानकाल के अवधि के सन्दर्भ में भी विकल्पों की व्यवस्था है। ये याग वैसे तो दर्श-पूर्णमास इस नाम से जाने जाते हैं, किन्तु यागों का प्रारम्भ अग्न्याधान के उपरान्त सर्वप्रथम पूर्णिमा से ही होता है, दर्श से नहीं। इन यागों को सभी इष्टियों का प्रकृतिरूप होने का श्रेय प्राप्त है, क्योंकि इन यागों में इष्टियों के समग्र अङ्गों का उपदेश किया गया है। अत: समस्त हविर्यागों में इनका महत्त्वपूर्ण स्थान है, स्वयम् आचार्य आपस्तम्भ का कथन है- **'दर्श-पूर्णमासाविष्टीनां प्रकृति:।'** (आपस्तम्भश्रौतसूत्र - २४/३/३२)। ये याग ऋग्वेद एवं यजुर्वेद दोनों से साध्य हैं। इन यागों का निरूपण शुक्लयजुर्वेद के अध्याय १ एवं २ में किया गया है।

आग्रयणेष्टि—यह नवान्नेष्टि याग है। इसका अनुष्ठान वर्ष में दो बार शरद् एवं वसन्त ऋतु में नई फसल के उत्पन्न होने पर किया जाता है । आग्रयणशब्द का निर्वचन

है- **'अग्रे नवान्नोत्पत्त्यनन्तरम् अयनमाचरणं यस्य तदाग्रयणम् ।'** अत: इसे आग्रयणेष्टि कहा जाता है । इस याग के हवनीय द्रव्यों में यव एवं व्रीहि (धान) प्रधान हैं। इनके अतिरिक्त पुरोडाश एवं चरु का भी हविर्द्रव्यों के रूप में प्रयोग किया जाता है। इन्द्राग्नि, द्यावापृथिवी एवं विश्वेदेव इस याग के प्रमुख देवता हैं।

चातुर्मास्ययाग—इस याग का अनुष्ठान प्रत्येक चार मास में होता है। अत: यह याग चातुर्मास्य याग कहलाता है। इसमें चार पर्व होते हैं- १. वैश्वदेवपर्व, २. वरुणप्रघासपर्व, ३. साकमेधपर्व, तथा ४. शुनासीरीयपर्व।

१. वैश्वदेवपर्व—यह चातुर्मास्ययाग का प्रथम पर्व है। इसका अनुष्ठान फाल्गुन मास की पूर्णिमा को होता है। इसके देवता विश्वदेव हैं, अत: उन्हीं के नाम से यह पर्व प्रसिद्ध है। इस पर्व में दर्श-पूर्णमास के समान - अध्वर्यु, ब्रह्मा, होता तथा अग्नीध्र - ये ४ ही ऋत्विज होते हैं। इस पर्व में एक ही वेदी (दक्षिण वेदी) होती है तथा उसी में अग्नि, सोम, सविता, सरस्वती, पूषा, स्वतवद्गुणविशिष्टमरुत,विश्वेदेव तथा द्यावापृथिवी इन देवताओं को उद्देश्य करके पुरोडाश, चरु, पयस्या प्रभृति ८ हविद्रव्यों से होम किया जाता है तथा ९ प्रयाज और ९ ही अनुयाज भी सम्पादित किये जाते हैं। इसी वैश्वदेव पर्व के धर्मों की अनुवृत्ति आगामी पर्वों में भी होती है।

२. वरुणप्रघासपर्व— यह चातुर्मास्य याग का द्वितीय पर्व है। इसका अनुष्ठान वैश्वदेवपर्व सम्पन्न करने के उपरान्त आषाढ़मास की पूर्णिमा को होता है। इस पर्व में वरुण के निमित्त हविर्द्रव्यों में भी जो उत्तम भक्ष्य पदार्थ (प्रघास) हैं, वे प्रदान किये जाते हैं। अत: यह पर्व वरुणप्रघास कहलाता है। इस पर्व में वैश्वदेवपर्व के समान अध्वर्यु प्रभृति ४ ऋत्विजों के साथ प्रतिप्रस्थाता नामक १ ऋत्विक् अधिक होता है। इस प्रकार वरुणप्रघास में ५ ऋत्विज होते हैं। इसमें दो वेदियाँ होती हैं- १. दक्षिणवेदी तथा २. उत्तरवेदी। जिनमें वैश्वदेवपर्व में कथित आग्नेय अष्टकपाल पुरोडाश आदि प्रारम्भिक ५ हविर्द्रव्य तथा इन्द्राग्निदैवत्य द्वादशकपाल पुरोडाश, आमिक्षा प्रभृति ४ हविर्द्रव्य अधिक होते हैं। इस प्रकार वरुणप्रघासपर्व में ९ हविर्द्रव्य होते हैं। इस पर्व में उत्तरवेदी में अग्निप्रणयानादि समस्त कर्मों का अनुष्ठान अध्वर्यु द्वारा होता है तथा आग्नेय आदि ८ हविर्द्रव्यों का होम भी इसी वेदी में होता है। दक्षिण वेदी में प्रतिप्रस्थाता भी अध्वर्यु के समान ही समस्त कर्मों का अनुष्ठान करता है तथा इस वेदी में केवल मरुतों के निमित्त आमिक्षा (छेना) का होम होता है। इस पर्व का एक वैशिष्ट्य चतुर्दशी को अध्वर्यु

द्वारा यव के पिष्ट से निर्मित दीपकाकृति के ४ करम्भ पात्र तथा उनका होम है। इस पर्व का समापन तीर्थ में अवभृथ-स्थान के साथ होता है।

३. साकमेधपर्व—यह चातुर्मास्य याग का तृतीय पर्व है। इसका अनुष्ठान कार्तिक मास की पूर्णिमा को होता है। इसमें उन हविर्द्रव्यों का प्रयोग किया जाता है, जिनसे देवता बढ़ते हैं, अर्थात् उनके शक्ति सामर्थ्य में वृद्धि होती है। अत: यह पर्व साकमेध कहलाता है। **(साकमेधन्ते वर्द्धन्ते देवता एभिर्हविर्विशेषैरिति साकमेधा:)** । इस पर्व में चतुर्दशी के दिन प्रात:काल, मध्याह्न तथा सायङ्काल में क्रमश: अनीकवतीष्टि, सान्तपनेष्टि एवं गृहमेधीयेष्टि का अनुष्ठान होता है। तदुपरान्त पूर्णिमा को प्रात:काल उद्धरण से लेकर कर्मसमाप्तिपर्यन्त दर्विहोम अमन्त्रात्मक होता है। इस पर्व में भी वरुणप्रघास के समान दो वेदियाँ होती हैं तथा अग्निप्रणयन होता है। दर्विहोम के अनन्तर क्रीडनीयेष्टि, अदितीष्टि, महाहर्वि नामक इष्टि, पित्र्येष्टि तथा त्र्यम्बकेष्टि का सम्पादन किया जाता है। इस पर्व में देवताओं के निमित्त किये जाने वाले अधिकांश होम उपांशु ही होते हैं तथा इस पर्व में केवल अध्वर्यु ही एकमात्र ऋत्विक् होता है।

४. शुनासीरीयपर्व—यह चातुर्मास्ययाग का चतुर्थ पर्व है। इस पर्व के देवता शुन (वायु) तथा सीर (आदित्य) हैं। अत: यह पर्व शुनासीरीय कहलाता है। इसका अनुष्ठान साकमेधपर्व के चार मास के उपरान्त फाल्गुन शुक्ल प्रतिपदा को होता है। यह पर्व पौर्णमासयाग के धर्मों से समन्वित होता है। अत: पौर्णमासयाग में विहित सभी कर्मों का अनुष्ठान इस पर्व में भी यथावत् किया जाता है। इस पर्व में भी वैश्वदेवपर्व में कथित आग्नेय पुरोडाश प्रभृति ५ हविर्द्रव्यों के अतिरिक्त शुनासीर को उद्देश्य करके द्वादशकपाल पुरोडाश, दुग्ध तथा एककपाल पुरोडाश का भी हविर्द्रव्यों के रूप में प्रयोग किया जाता है। कर्म सम्पूर्णता के लिये दक्षिणा के रूप में वृषभ तथा श्वेत अश्व का भी विधान है।

इस चातुर्मास्ययाग के अनुष्ठान से सम्बन्धित दो पक्ष हैं—**१. उत्सर्गपक्ष तथा २. जीवनपर्यन्तपक्ष** । उत्सर्गपक्ष में एक ही बार चातुर्मास्य याग का अनुष्ठान किया जाता है तथा इस क्रम को पूर्ण के उपरान्त आगामिनी पूर्णिमा को अग्निष्टोम या पशुयाग आदि का अनुष्ठान किया जाता है। जीवन पर्यन्त पक्ष में प्रत्येक चतुर्थ मास में याग का अनुष्ठान किया जाता है तथा यह क्रम जीवन पर्यन्त सतत चलता रहता है। इसी प्रकार चातुर्मास्ययाग भी तीन प्रकार के होते हैं- **१. ऐष्टिक, २. पाशुक तथा ३. सौमिक** । इनमें ऐष्टिक भी तीन प्रकार के होते हैं- १. सांवत्सरिक, २. पञ्चाहिक

एवम् ३. ऐकाहिक । इस याग का विस्तृत विवेचन शुक्लयजुर्वेद के अध्याय ३ में किया गया है।

सौत्रामणी याग - यह याग सुत्रामा (इन्द्र) के निमित्त किया जाने वाला पशु याग है।

'सुत्राम्णः इयं सौत्रामणी' इस व्युत्पत्ति के अनुसार यह इष्टि इन्द्र से सम्बन्धित है, अतः इसे सौत्रामणी कहते हैं। सौत्रामणी याग के इन्द्र, सरस्वती तथा अश्विनीकुमार देवता हैं। जिनके निमित्त चतुर्दिवसात्मक याग का अनुष्ठान राज्याभिषेक के काल में राजा के द्वारा अपनी श्रीवृद्धि के निमित्त किया जाता है। इस याग में अध्वर्यु, ब्रह्मा, होता, अग्नीत्, प्रतिप्रस्थाता तथा मैत्रावरुण नामक ६ ऋत्विज होते हैं। इस याग में तीन पशु होते हैं- अज, मेष तथा वृषभ। इन्हीं पशुओं के समुदाय की सौत्रामणी संज्ञा होती है। इस याग में मुख्य एवम् अङ्गदेवताओं के निमित्त चरुरूप हवनीय द्रव्य का भी विधान है। इस याग में तीन पयोग्रह एवं तीन सुराग्रह भी होते हैं। **'अश्विभ्यां सरस्वत्या इन्द्राय सुत्राम्णे सुरा-सोमान्'** (शु.यजु. २१/५९) यह याग ऋग्वेद एवं यजुर्वेद से साध्य है। इस याग का लक्ष्य मुख्य रूप से राज्य की शक्तियों का केन्द्रीयकरण तथा लोकमङ्गल ही वैदिक वाङ्मय में निरूपित किया गया है। शुक्लयजुर्वेद के अध्याय १९ - २१ में इस याग का विस्तृत विवेचन किया गया है।

सोमयाग— श्रौतयागों में सोमयागों का अत्यधिक महत्त्व है। इनकी सङ्ख्या ७ हैं। ये हैं- **१. अग्निष्टोम, २. अत्यग्निष्टोम, ३. उक्थ्य, ४. षोडशी, ५. वाजपेय, ६. अतिरात्र तथा ७. अप्तोर्याम** । इन यागों में मुख्यहविर्द्रव्य सोम है। यह एक प्रकार की विशेष लता है, जिसका क्रयण करके उसका रस निकालकर, उसी से होम सम्पादित किया जाता है। विकल्प के रूप में पूतीक एवम् अर्जुन नामक औषधियों का भी विधान है। सोमलता के सन्दर्भ में अनेक वैज्ञानिक अनुसन्धान कार्य आज विश्व में हो रहे हैं। सम्प्रति यह लता भारत में अप्राप्य मानी जाती है, इसीलिये वैकल्पिक द्रव्यों से ही ये याग सम्पादित किये जाते हैं।

अनुष्ठानकाल

सोमयाग का अनुष्ठान वसन्त ऋतु में अग्न्याधानपूर्वक होता है। परम्परागतरूप से प्रायः शुक्लपक्ष की एकादशी से लेकर पूर्णिमा पर्यन्त सोमयाग का अनुष्ठान किया जाता है। सोमयाग के प्रकार - सोमयाग का अनुष्ठान एकदिवसात्मक से लेकर

एकसहस्रवर्षात्मक भी होता है। इसी कारण अनुष्ठान काल की दृष्टि से सोमयाग को तीन प्रकार से वर्गीकृत किया गया है-

१. एकाहयाग—यह याग एकदिवसात्मक होता है। कात्यायन श्रौतसूत्र के अनुसार एकाहयागों की सङ्ख्या ४८ हैं। आश्वालायन श्रौतसूत्र के अनुसार एकाहयागों की सङ्ख्या २५ हैं।

२. अहीनयाग—यह याग द्विदिवसात्मक से लेकर एकादशदिवसात्मक होता है। अहीनयागों की सङ्ख्या ३३ हैं।

३. सत्रयाग—यह याग १२ दिन से लेकर एकवर्षात्मक या एकसहस्रवर्षात्मक होता है। द्वादशाहयाग अहीन एवं सत्र दोनो है, अत: यह उभयात्मक माना जाता है। यह अहीन एवं सत्रों का प्रकृति याग है।

ऋत्विजों की सङ्ख्या

सोमयाग का अनुष्ठान वेदत्रयी (ऋग्वेद, यजुर्वेद एवं सामवेद) के द्वारा ही साध्य है। अत: इसमें विभिन्न कर्मों के सम्पादनार्थ वेदत्रयी के ऋत्विजों का वरण किया जाता है । इस याग में ऋत्विज चारगणों में विभक्त होते हैं, वे हैं- १. **अध्वर्युगण** - यह यजुर्वेद से सम्बन्धित गण है । इसमें अध्वर्यु, प्रतिप्रस्थाता, नेष्टा एवम् उन्नेता नामक ऋत्विज होते हैं। **२. होतृगण** - यह ऋग्वेद से सम्बन्धित गण है। इसमें होता, मैत्रावरुण, अच्छावाक तथा ग्रावस्तुत् नामक ऋत्विज होते हैं । **३. उद्गातृगण** - यह सामवेदीय गण है। इसमें उद्गाता, प्रस्तोता, प्रतिहर्ता तथा सुब्रह्मण्य नामक ऋत्विज होते हैं। **४. ब्रह्मगण** - यह गण तीनों गणों द्वारा विधीयमान कर्मों का अवेक्षण करता है। इसमें भी ब्रह्मा, ब्राह्मणाच्छंसी, आग्नीध्र एवं पोता नामक ऋत्विज होते हैं। इस प्रकार प्रत्येक गण में ४ ऋत्विज होते हैं और इस याग में कुल मिलाकर ऋत्विजों की सङ्ख्या १६ होती हैं।

१. अग्निष्टोम—यह याग समस्त सोमयागों का प्रकृति याग है । इस याग का अनुष्ठान स्वर्ग की कामना से किया जाता है। इस याग को अग्निष्टोम संस्था कहा जाता है, क्योंकि इसका समापन (संस्था) **'यज्ञा यज्ञा वो अग्नये'** (ऋग्वेद ६/४८/१ तथा सामवेद ३५) इस ऋचा पर होने वाले सामगान से होता है। इस सामगान में अग्नि की स्तुति (स्तोम) की गई है, अत: यह सामगान ही 'अग्निष्टोम' कहलाता है। इसमें १२ शस्त्रों (ऋचाओं) का घुमा-फिराकर प्रयोग किया जाता है।

अनुष्ठानकाल एवं विधि

इस याग का अनुष्ठान ५ दिवसों में पूर्ण होता है, जिनमें **प्रथमदिवस** आभ्युदायिकश्राद्ध, ऋत्विक्- वरण, मण्डप-प्रवेश, अग्न्याधान, दीक्षणीयेष्टि, औद्ग्रभणहोम, कृष्णाजिनादिदीक्षा आदि कर्म होते हैं। **द्वितीयदिवस** प्रायणीयेष्टि, सोमक्रयण, आतिथ्येष्टि, प्रवर्ग्यकर्म एवम् उपसदेष्टि का अनुष्ठान किया जाता है। **तृतीयदिवस** भी प्रातःकालिक प्रवर्ग्य एवम् उपसद् होम किया जाता है। तदुपरान्त सौमिकमहावेदी का निर्माण किया जाता है। यह सबसे बड़ी वेदी होती है। इसका आकार समद्विबाहुचतुर्भुज (Isosceles Trapezium) होता है। यह सामान्य वेदी से १४ गुना बड़ी होती है।[१] पुनः अपराह्न में प्रवर्ग्य एवम् उपसद् होम होता है, **चतुर्थदिवस** मुख्य रूप से अग्नीषोमीय पशु का अनुष्ठान होता है। तदुपरान्त **पञ्चमदिवस** में सोम का रस निकालना, ग्रह-ग्रहण एवं सोमरस से होम किया जाता है। इसीलिये इसदिन को 'सुत्या-दिन' कहा जाता है और इस याग में यही दिवस प्रधान होता है। यज्ञान्त में अवभृथ-स्नान होता है और उसी के साथ यह याग पूर्ण होता है। शुक्लयजुर्वेद के ४-८ अध्यायों में इस याग का विस्तृत विवेचन किया गया है।

२. उक्थ्य— इस याग का समापन सामवेदीय 'उक्थ्य' सञ्ज्ञक मन्त्र से होता है। अतः यह याग 'उक्थ्य' कहलाता है। इसमें १५ मन्त्रों का प्रयोग किया जाता है एवम् अग्निष्टोम के सभी धर्मों का अनुष्ठान भी यथावत् होता है।

३. षोडशी— इसमें 'षोडशी' नामक एक स्तोत्र और बढ़ जाता है। अतः इसमें १६ स्तोत्र (मन्त्रों) का प्रयोग किया जाता है। इसका समापन 'षोडशी' नामक स्तोत्र से होता है। अतः यह याग षोडशी कहलाता है। इसमें भी प्रकृतियाग के सम्पूर्ण कर्मों का यथाविधि अनुष्ठान होता है।

४. अतिरात्र—इस याग में षोडशी स्तोत्र के उपरान्त 'अतिरात्र' सञ्ज्ञक सामगान किया जाता है और इसीसे इस याग का समापन होता है, अत इसे 'अतिरात्र' कहते हैं। इसमें भी प्रकृति याग का पूर्ण अनुष्ठान होता है।

ज्योतिष्टोमयाग—अग्निष्टोम, उक्थ्य, षोडशी एवम् अतिरात्र इन चार यागों से युक्त याग को 'ज्योतिष्टोम' कहा जाता है। त्रिवृत् (३ बार आवृत्ति), पञ्चदश (१५),

---

१. वैदिकसाहित्य एवं संस्कृति - डॉ. कपिलदेव द्विवेदी, पृ. ३११-१२, विश्वविद्यालय प्रकाशन, २००८

सप्तदश (१७) एवं एकविंश (२१) - इन चारों स्तोमों को 'ज्योति' कहते हैं। वे स्तोम हैं- **''उपास्मै गायता, दविद्युतत्या रुचा, पवमानस्य ते कवे''** (सामवेद - उ.आ. १/१/१-३)। ये ज्योति इसके स्तोम हैं, अतः यह याग ज्योतिष्टोम कहलाता है।

५. अत्यग्निष्टोम - अग्निष्टोमयाग के उपरान्त सीधे षोडशी सामगान से जिस याग का समापन किया जाता है। वह याग अत्यग्निष्टोम कहलाता है।

६. वाजपेय एवं ७. अप्तोर्याम - पूर्वोक्त ज्योतिष्टोम याग में प्रयुक्त साम मन्त्रों के आवाप उद्वाप से ही इन दोनों यागों का अनुष्ठान किया जाता है। इन यागों के अतिरिक्त वाजपेय, राजसूय, अश्वमेध इत्यादि याग प्रमुख हैं।

वाजपेययाग - यह वाजपेययाग सप्तसंस्थान्तर्गत वाजपेय से पृथक् है । इसका अनुष्ठान शरद् ऋतु में होता है। सम्राट् बनने की इच्छा वाला शासक वाजपेययाग करता है, जैसा कि शतपथ ब्राह्मण का कथन है- **'सम्राड् वाजपेयेन ।'** (शतपथ - ५/१/१/१३), शुक्लयजुर्वेद के नवम अध्याय में इस याग का विस्तृत निरूपण किया गया है, इसी प्रकार कात्यायनश्रौतसूत्र प्रभृति ग्रन्थों में भी इसका साङ्गविवेचन किया गया है।

राजसूययाग - यह याग राज्याभिषिक्त राजा के द्वारा अनुष्ठेय है। इस याग में स्वराज्य के लिये सूय (अभिषेक) का विधान है, अतः इसे 'राजसूय' कहते हैं। इसके अनुष्ठान के उपरान्त ही राजा को राजत्व की प्राप्ति होती है। इसका अनुष्ठान आठ दिनों में होता है। याग का प्रारम्भ फाल्गुन शुक्ल प्रतिपदा को होता है एवं समापन इसी मास की शुक्लपक्ष की अष्टमी को होता है। इसमें अनुमत्यादि इष्टियाँ मल्हादिपशुयाग एवं पवित्रादि सोमयाग होते हैं। इसमें 'अभिषेचनीययाग' का भी अनुष्ठान होता है। यज्ञान्त में राजा का १७ पवित्र नदियों के जल से अभिषेक किया जाता है। इस याग का विस्तृत वर्णन शुक्लयजुर्वेद के दशम अध्याय में, शतपथब्राह्मण के पञ्चम काण्ड में तथा श्रौतसूत्रों में प्राप्त होता है।

अश्वमेधयाग - इस याग का अनुष्ठान सार्वभौम राजा के द्वारा ही किया जाता है। इसमें सवनीय पशु 'अश्व' है, अतः यह याग 'अश्वमेध' कहलाता है। 'अश्व' राष्ट्र का भी बोधक है। 'राष्ट्रं वा अश्वमेधः'। (शतपथ-१३/१/६/३)। इस प्रकार राष्ट्र की सर्वाङ्गीण प्रगति करना ही अश्वमेध का अर्थ है। इस याग में राजा अपने सशस्त्र सैनिकों के संरक्षण में दिग्विजय के निमित्त अश्व को भ्रमणार्थ छोड़ता है। यह अश्व अतिविलक्षण होता है। इस अश्व के पूर्वभाग में कृष्ण, अधोभाग में श्वेत, ललाट पर शकट की आकृति

के तीन पुण्ड्रों की रचना तथा शरीर पर नीले वर्ण के चिह्न होते हैं। इसका भ्रमणकाल एकवर्ष होता है और इस अश्व का सकुशल पुनः लौटना ही राजा की दिग्विजय मानी जाती है। इस याग में अनेक इष्टियों का अनुष्ठान होता है। इस याग का विस्तृत विवेचन शुक्लयजुर्वेद के २२-२५ अध्यायों में किया गया है। राष्ट्र की सर्वतोभावेन समृद्धि ही इस याग का उद्देश्य है, जैसा कि शुक्लयुजर्वेद के योगक्षेमसूक्त[१] में कहा गया है- **'आब्रह्मन् ब्राह्मणो ब्रह्मवर्चसी जायतामा राष्ट्रे राजन्यः शूर इषव्योऽतिव्याधी महारथो जायतां दोग्ध्री धेनुर्वोढानड्वानाशुः सप्तिः पुरन्धिर्योषा जिष्णू रथेष्ठाः सभेयो युवास्य यजमानस्य वीरो जायतां निकामे-निकामे नः पर्जन्यो वर्षतु फलवत्यो न ओषधयः पच्यन्तां योगक्षेमो नः कल्पताम् ।'** (२२/२२)

पुरुषमेधयाग - शुक्लयजुर्वेद के ३०वें अध्याय में इस याग का विशद वर्णन प्राप्त होता है। इस याग को 'नरमेध' के नाम से भी जाना जाता है। इसका अनुष्ठान वसन्त ऋतु में होता है। यह याग ४० दिनों में सम्पन्न होता है। चैत्र शुक्ल दशमी को इसका विधिवत् प्रारम्भ होता है। इसमें २३ दीक्षाओं, १९ उपसद् होमों तथा ५ सुत्याओं का अनुष्ठान होता है। मनुष्य की सर्वाङ्गीण प्रगति ही इसका उद्देश्य है।

सर्वमेधयाग - शुक्लयजुर्वेद के ३२-३३ अध्यायों में इस याग का विस्तृत वर्णन किया गया है। इस यज्ञ का अनुष्ठान ४५ दिनों में सम्पन्न होता है। इसका अनुष्ठानकाल वसन्त है। इस याग में १२ दीक्षाओं, १२ उपसद् होमों एवं १२ सुत्याओं का अनुष्ठान होता है। विशेष रूप से इसमें १०० प्रकार की अग्नि का प्रयोग होमार्थ होता है। प्रजामात्र का सर्वाङ्गीण अभ्युदय ही इस याग का उद्देश्य है।

पितृमेधयाग - शुक्लयजुर्वेद के ३५वें अध्याय में इसका वर्णन प्राप्त होता है। इसमें अध्वर्यु नामक एक ही ऋत्विक् होता है। इसमें मृत व्यक्ति की अस्थियों को वन में ले जाकर उन अस्थियों से तत्-तत् अङ्गों की कल्पना कर शरीराकृति निर्मित कर उन्हें कुश आदि से आच्छादित करके स्नान करके पुनः अपने घर आया जाता है। यही विधि पितृमेध है। यह पितृमेध 'अन्त्येष्टि' का भी बोधक है। अपने पितरों के प्रति समर्पणभावना की अभिव्यक्ति ही इस याग का उद्देश्य है।

अग्निचयन - यह सोमयाग का अङ्गभूत कर्म है। 'चयन' एक पारिभाषिक शब्द

---

१. दि न्यू वैदिक सिलेक्शन (भाग.२) - तैलङ्ग एवं चौबे, पृ. ४९२-९४, भारतीय विद्या प्रकाशन, दिल्ली, २००७

है जिसका प्रयोग ईटों से निर्मित एक प्रकार के स्थण्डिल के लिये होता है। सोमयाग में उत्तरवेदी को बढ़ाकर वहीं पर चयन (स्थण्डिल) का निर्माण करके उसी पर आहवनीय अग्नि की स्थापना करके उसी में होम किया जाता है। यह इष्टका - निर्मित चयन अग्नि का आधार होता है, अत: इसे 'अग्निचयन' कहते हैं। इस चयन के निर्माणार्थ - पद्मा, अर्धपद्मा प्रभृति १४ प्रकार की ईटों का निर्माण एवं प्रयोग किया जाता है। इसमें ईटों की सङ्ख्या ११९७० होती हैं। इसका आकार यज्ञानुसार होता है। शुक्लयजुर्वेद के ११-१८ अध्यायों में अग्निचयन के सम्पूर्ण विधानों का विस्तृत वर्णन किया गया है।

---

१. विशेषविवेचनार्थ दृष्टव्य - श्रौतयज्ञ परिचय - डॉ. वेणीरामशर्मा गौड़, चौखम्बा विद्या भवन, वाराणसी, १९९९

परिशिष्ट - २

अर्थसङ्ग्रहस्य प्रतिपाद्यविषयस्य रैखिकनिरूपणम्

वेदः (अपौरुषेयं वाक्यं वेदः)

१. संहिताभागः
२. ब्राह्मणभागः
३. आरण्यकभागः
४. उपनिषद्भागः

(मीमांसादर्शने वेदत्वेन ब्राह्मणभागः स्वीक्रियते)

वेदः (ब्राह्मणभागः पञ्चविधः)

(विधायकं वाक्यं ब्राह्मणम्)

१. विधिः (अज्ञातार्थज्ञापको वेदभागो विधिः)
२. मन्त्रः (प्रयोगसमवेतार्थस्मारकाः मन्त्राः)
३. नामधेयम् (यागाभिधानम्)
४. निषेधः (पुरुषस्य निवर्तकं वचनं निषेधः)
५. अर्थवादः (प्राशस्त्यनिन्दान्यतरपरं वाक्यमर्थवादः)

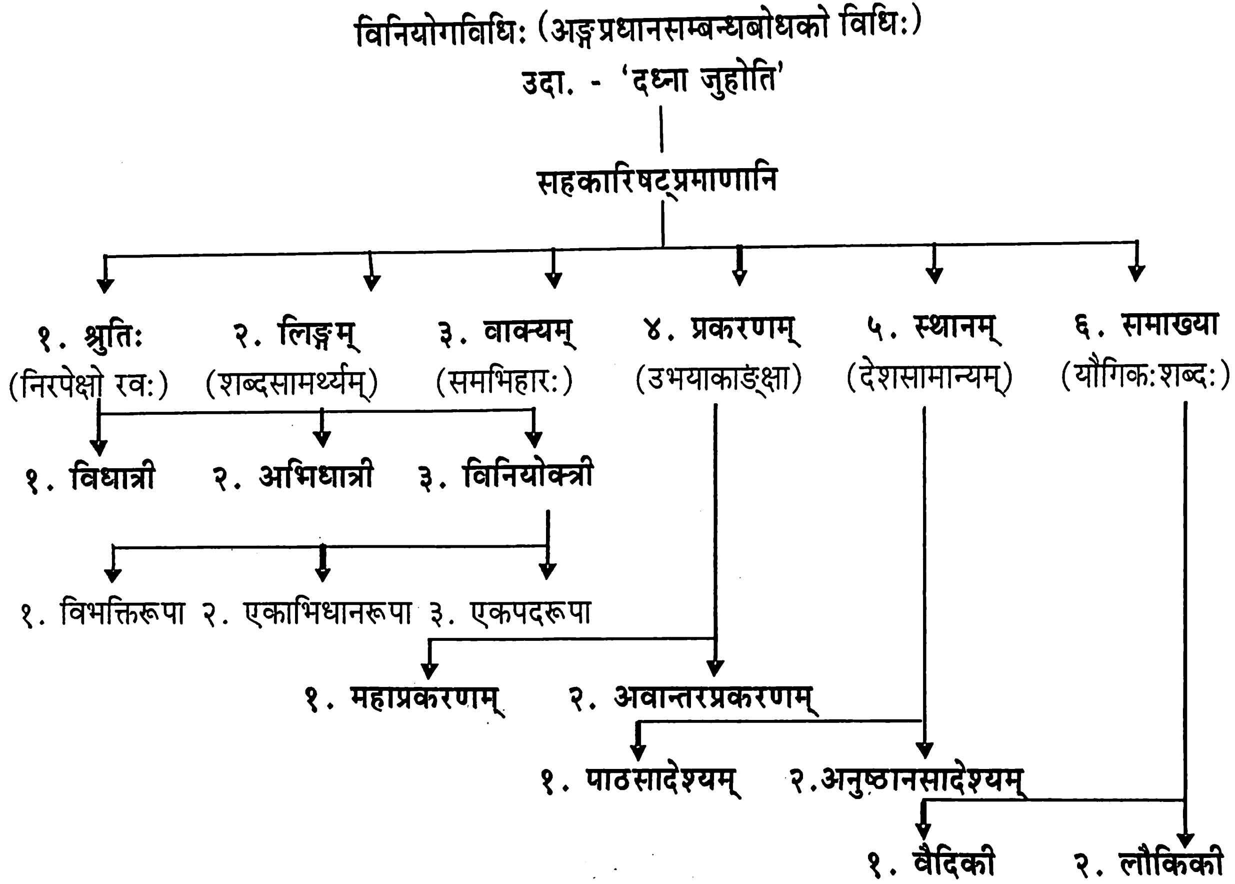
विधिविमर्शः

विधिः

- **१. प्रधानविधिः (विधिः)**
  (अज्ञातार्थज्ञापको वेदभागो विधिः)
- **२. गुणविधिः**
- **३. विशिष्टविधिः**

विधिश्चतुर्विधः

- **१. उत्पत्तिविधिः**
  (कर्मस्वरूपमात्रबोधको विधिः)
  उदा. -'अग्निहोत्रं जुहोति'
- **२. विनियोगविधिः**
  (अङ्गप्रधानसम्बन्धबोधको विधिः)
  उदा. - 'दध्ना जुहोति'
- **३. प्रयोगविधिः**
  (प्रयोगप्राशुभावबोधको विधिः)
  (अङ्गानां क्रमबोधको विधिः)
- **४. अधिकारविधिः**
  (कर्मजन्यफलस्वाम्यबोधको विधिः)


विनियोगविधिः (अङ्गप्रधानसम्बन्धबोधको विधिः)
उदा. - 'दध्ना जुहोति'
सहकारिषट्प्रमाणानि
१. श्रुतिः (निरपेक्षो रवः)
२. लिङ्गम् (शब्दसामर्थ्यम्)
३. वाक्यम् (समभिहारः)
४. प्रकरणम् (उभयाकाङ्क्षा)
५. स्थानम् (देशसामान्यम्)
६. समाख्या (यौगिकःशब्दः)
१. विधात्री
२. अभिधात्री
३. विनियोक्त्री
१. विभक्तिरूपा
२. एकाभिधानरूपा
३. एकपदरूपा
१. महाप्रकरणम्
२. अवान्तरप्रकरणम्
१. पाठसादेश्यम्
२. अनुष्ठानसादेश्यम्
१. वैदिकी
२. लौकिकी

- विनियोगविधिबोधिताङ्गानि
  - १. सिद्धरूपाणि
  - २. क्रियारूपाणि
    - १. गुणकर्माणि (सन्निपत्योपकारकाणि)
      - १. दृष्टार्थम्
      - २. अदृष्टार्थम्
      - ३. दृष्टादृष्टार्थम्
    - २. प्रधानकर्माणि (आरादुपकारकाणि)

प्रयोगविधिः

(प्रयोगप्राशुभावबोधको विधिः)

(अङ्गानां क्रमबोधको विधिः)

|

क्रमः

(विततिविशेषः)

|

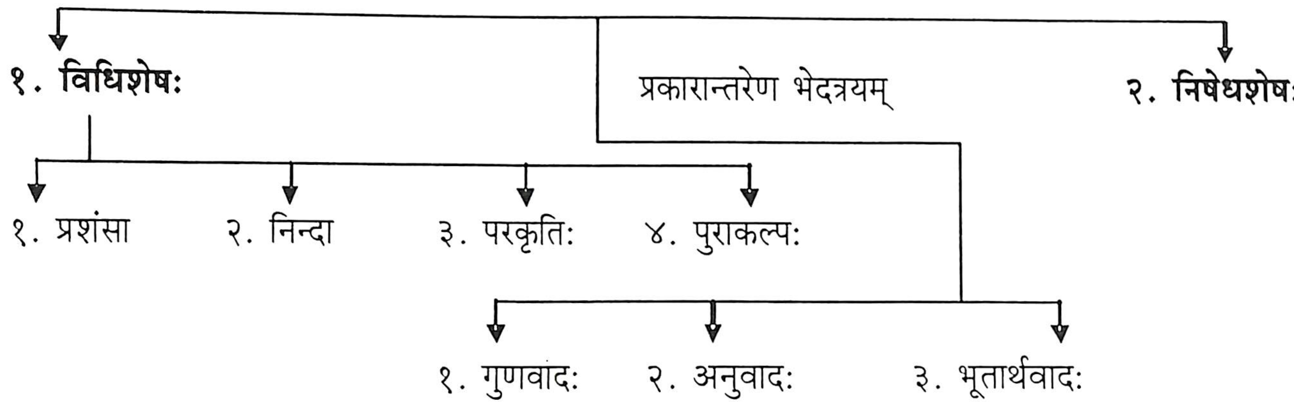
क्रमनियामकश्रुत्यादिषट्प्रमाणानि

- **१. श्रुतिः**
  - १. केवलक्रमपरा
  - २. क्रमविशिष्टपदार्थपरा
- **२. अर्थक्रमः**
- **३. पाठक्रमः**
  - १. मन्त्रपाठः
  - २. ब्राह्मणपाठः
- **४. स्थानम्**
- **५. मुख्यक्रमः**
- **६. प्रवृत्तिक्रमः**

अर्थवादविमर्शः

अर्थवादः

(प्राशस्त्यनिन्दान्यतरपरं वाक्यमर्थवादः)



भावनाविमर्शः

भावना

(भवितुर्भवनानुकूलो भावयितुर्व्यापारविशेषो भावना)

- **१. शाब्दीभावना**
  (पुरुषप्रवृत्त्यनुकूलो भावयितुर्व्यापारविशेषः शाब्दीभावना)
  - **अंशत्रयम्**
    - **१. साध्यम्** (किं भावयेत्)
    - **२. साधनम्** (केन भावयेत्)
    - **३. इतिकर्तव्यता** (कथं भावयेत्)
- **२. आर्थीभावना**
  (प्रयोजनेच्छाजनितक्रियाविषयव्यापार आर्थीभावना)
  - **अंशत्रयम्**
    - **१. साध्यम्** (किं भावयेत्)
    - **२. साधनम्** (केन भावयेत्)
    - **३. इतिकर्तव्यता** (कथं भावयेत्)

प्रमुखमीमांसकास्तत्कृतय:

ग्रन्थकारः	ग्रन्थनाम
महर्षिजैमिनिः (मीमांसादर्शनस्य प्रवर्तकः)	मीमांसासूत्रम् (द्वादशलक्षणी) (१२ अध्यायाः, प्रायः २७४५ सूत्राणि च सन्ति)
उपवर्षः	मीमांसासूत्रवृत्तिः
शबरस्वामी	मीमांसासूत्रभाष्यम् (शाबरभाष्यम्)
कुमारिलभट्टः	श्लोकवार्तिकम् , तन्त्रवार्तिकम् , टुप्टीका
प्रभाकरगुरुः	बृहती (निबन्धनम्) लघ्वी (विवरणम्)
मण्डनमिश्रः (सुरेश्वराचार्यः)	विधिविवेकः, भावनाविवेकः, विभ्रमविवेकः, मीमांसासूत्रानुक्रमणी
पार्थसारथिमिश्रः	न्यायरत्नाकरः, न्यायरत्नमाला, तन्त्ररत्नम् , शास्त्रदीपिका
माधवाचार्यः (विद्यारण्यः)	जैमिनीयन्यायमाला, मीमांसापादुका, ईश्वरमीमांसा
वाचस्पतिमिश्रः (द्वादश-दर्शनकान्तारकेसरी)	न्यायकणिका (विधिविवेकटीका)
अप्पयदीक्षितः	विधिरसायनम्, नक्षत्रमाला, उपक्रमपराक्रमः
खण्डदेवमिश्रः	भाट्टकौस्तुभः, भाट्टदीपिका, भाट्टभाषाप्रकाशः
सोमेश्वरभट्टः	न्यायसुधा, कर्पूरवार्तिकम् (शास्त्रदीपिकाव्याख्या)
नारायणभट्टः	मानमेयोदयः, भाट्टभाषाप्रकाशिका

१. सर्वदर्शनसङ्ग्रह - डॉ. उमाशङ्कर शर्मा 'ऋषि' पृ. ७६१ - ८०१, चौखम्बाविद्याभवन, वाराणसी, २०१०

लौगाक्षिभास्कर:	अर्थसङ्ग्रह:, जैमिनिसूत्रवृत्ति:
शङ्करभट्ट:	मीमांसाबालप्रकाश:, विधिरसायनदूषणम्
शालिकनाथ:	ऋजुविमला (बृहती-व्याख्या) दीपशिखा (लघ्वी व्याख्या) प्रकरणपञ्चिका (पञ्चिका)
भवनाथमिश्र:	मीमांसानयविवेक:, तौतातिकतिलकम्
नन्दीश्वर:	प्रभाकरविजय:
रामानुजाचार्य:	तन्त्ररहस्यम्, राणकरत्नम्
जयन्तभट्ट:	न्यायमञ्जरी
राघवानन्द:	मीमांसासूत्रदीधिति:, भाट्टसङ्ग्रह:
गोपालभट्ट:	विधिरसायनभूषणम्
कृष्णयज्वा	मीमांसापरिभाषा
आपदेव:	मीमांसान्यायप्रकाश: (आपोदेवी)
गागाभट्ट: (विश्वेश्वरभट्ट:)	भाट्टचिन्तामणि:

अर्थसङ्ग्रहं,मीमांसार्थसङ्ग्रहकौमुदीञ्चाश्रिता: (UGC - NET - 25 + 73) इत्यादि -प्रतियोगिपरीक्षासु पृष्टाः सम्भाव्याश्च महत्त्वपूर्णाः वस्तुनिष्ठप्रश्नाः

प्र.१ वैदिकदर्शनमस्ति ?

A. मीमांसादर्शनम् B. जैनदर्शनम्

C. चार्वाकदर्शनम् D. बौद्धदर्शनम्

प्र.२ वैदिकदर्शनानां सङ्ख्यास्ति ?

A. पञ्च B. षट्

C. अष्ट D. सप्त

प्र.३ मीमांसादर्शनस्य प्रवर्तकोऽस्ति ?

A. अक्षपाद: B. कणाद:

C. जैमिनि: D. कपिल:

प्र.४ मीमांसाया: प्रतिपाद्यविषयोऽस्ति ?

A. अर्थ: B. दु:खम्

C. काम: D. धर्म:

प्र.५ वाक्यविचारशास्त्रमित्युच्यते ?

A. मीमांसा B. न्याय:

C. वेदान्त: D. साङ्ख्यम्

प्र.६ द्वादशलक्षणीति रचना वर्तते ?

A. बादरायणस्य B. जैमिने:

C. गौतमस्य D. कपिलस्य

प्र.७ अर्थसङ्ग्रहस्य रचयिताऽस्ति ?

A. शालिकनाथ: B. भवनाथमिश्र:

C. लौगाक्षिभास्कर: D. पार्थसारथिमिश्र:

प्र.८ 'अथतो धर्मजिज्ञासे'त्यत्राथशब्दोऽस्ति ?

A. वेदाध्ययनापूर्णवचन: B. वेदाध्ययनपौर्ववचन:

C. वेदाध्ययनमङ्गलवचन: D. वेदाध्ययनानन्तर्यवचन:

प्र.९ यागादिरेव भवति ?

A. धर्मः B. कामः

C. मोक्षः D. अर्थः

प्र.१० वेदप्रतिपाद्यः प्रयोजनवदर्थो------इति ?

A. मोक्षः B. धर्मः

C. कामः D. अर्थः

प्र.११ चोदनालक्षणोऽर्थो------इति ?

A. अधर्मः B. कामः

C. धर्मः D. अर्थः

प्र.१२ मीमांसासूत्रे चोदनेति शब्दः प्रयुक्तोऽस्ति -

A. विधिमात्रपरः B. अर्थवादमात्रपरः

C. मन्त्रमात्रपरः D. वेदमात्रपरः

प्र.१३ आख्यातत्त्व-लिङ्त्वाभ्यामुच्यते ?

A. भावना B. विभावना

C. प्रभावना D. सम्भावना

प्र.१४ दशलकारसाधारणमस्ति ?

A. नामत्वम् B. आख्याततत्वम्

C. लिङ्त्वम् D. निपातत्वम्

प्र.१५ विधिलिङ्मात्रे विद्यते ?

A. निपातत्वम् B. उपसर्गत्वम्

C. लिङ्त्वम् D. आख्याततत्वम्

प्र.१६ भवितुर्भवनानुकूलो भावयितुर्व्यापारविशेषोऽस्ति ?

A. उत्पत्तिविधिः B. नामधेयम्

C. अर्थवादः D. भावना

प्र.१७ भावना भवति ?

A. द्विविधा B. चतुर्विधा

C. पञ्चधा D. त्रिविधा

प्र.१८ असत्यमस्ति ?

A. धात्वर्थव्यतिरेकेण न लक्ष्यते भावना ।

B. न साध्यरूपिणी भवति भावना ।

C. सर्वधात्वर्थसम्बद्धाकारेणावगम्यते भावना ।

D. भावुकस्यान्योत्पादानुकूलात्मा भवति भावना ।

प्र.१९ असत्यमस्ति ?

A. कर्तृमुख्यविशेष्यक: शाब्दबोध इति नैयायिका:।

B. धात्वर्थमुख्यविशेष्यक: शाब्दबोध इति वैयाकरणा:।

C. धात्वर्थमुख्यविशेष्यक: शाब्दबोध इति मीमांसका:।

D. प्रत्ययार्थमुख्यविशेष्यक: शाब्दबोध इति मीमांसका:।

प्र.२० पुरुषप्रवृत्यनुकूलो भावयितुर्व्यापारविशेषोऽस्ति ?

A. निषेध: B. आर्थीभावना

C. मन्त्र: D. शाब्दीभावना

प्र.२१ शाब्दीभावना अपेक्षते ?

A. अंशत्रयम् B. अंशद्वयम्

C. अंशपञ्चकम् D. अंशाष्टकम्

प्र.२२ शब्दभावनाया अंशत्रये नान्तर्भवति ?

A. साध्यम् B. साधकम्

C. साधनम् D. इतिकर्तव्यता

प्र.२३ प्रयोजनेच्छाजनितक्रियाविषयव्यापारो भवति ?

A. उत्पत्तिविधि: B. गुणविधि:

C. आर्थीभावना D. शाब्दीभावना

प्र.२४ आख्यातत्वांशेनोच्यते ?

A. शाब्दीभावना B. गुणविधि:

C. विशिष्टविधि: D. आर्थीभावना

प्र.२५ फलप्रयोजिका भावना वर्तते ?

A. आर्थी B. मुख्या

C. शाब्दी D. गौणी

प्र.२६ अंशत्रयमपेक्षते ?

A. नियमविधि: B. आर्थीभावना

C. परिसङ्ख्याविधि: D. विशिष्टविधि:

प्र.२७ आर्थीभावनाया आकाङ्क्षानां सन्दर्भेऽसत्यमस्ति ?

A. साध्याकाङ्क्षा = किम्भावयेत्

B. साधनाकाङ्क्षा = केन भावयेत्

C. साधकाकाङ्क्षा = कुत्र न भावयेत्

D. इतिकर्तव्यताङ्क्षा = कथम्भावयेत्

प्र.२८ प्रयाजा: भवन्ति ?

A. त्रय: B. सप्त

C. षट् D. पञ्च

प्र.२९ अपौरुषेयं वाक्यमस्ति ?

A. वेद: B. पुराणम्

C. स्मृति: D. दर्शनम्

प्र.३० मीमांसानुसारं वेदस्य कति भेदा: सन्ति ?

A. षट् B. पञ्च

C. चत्वार: D. अष्ट

प्र.३१ मीमांसानये वेदत्वेन गृह्यत्न्ते ?

A. संहिताग्रन्था: B. आरण्यकग्रन्था:

C. ब्राह्मणग्रन्था: D. उपनिषद्ग्रन्था:

प्र.३२ समीचीनं युग्मं चिनुत -

A. विधि: १. पुरुषस्य निवर्तकं वाक्यम्

B. मन्त्रा: २. यागानां नामानि

C. नामधेयानि ३. प्रयोगसमवेतार्थस्मारका:

D. निषेध: ४. पुरुषस्य प्रवर्तकं वाक्यम्

	A.	B.	C.	D.
A.	२	३	१	४
B.	३	४	१	२

C.	४	२	३	१
D.	४	३	२	१

प्र.३३ अज्ञातार्थज्ञापको वेदभागो भवति ?

A. विधिः B. निषेधः
C. मन्त्रः D. अर्थवादः

प्र.३४ 'अग्निहोत्रं जुहुयात्स्वर्गकाम' इति श्रुतिरस्ति ?

A. निषेधवाक्यम् B. विधिवाक्यम्
C. अर्थवादवाक्यम् D. मन्त्रवाक्यम्

प्र.३५ प्रमाणान्तरेणाप्राप्तमर्थं विधत्ते ?

A. निषेधः B. मन्त्रः
C. विधिः D. नामधेयम्

प्र.३६ 'अग्निहोत्रहोमेन स्वर्गं भावयेदि'ति वाक्यार्थबोधो भवति ?

A. मन्त्रेण B. निषेधेन
C. अर्थवादेन D. विधिना

प्र.३७ यत्र कर्म मानान्तरेण प्राप्तं तत्र तदुद्देशेन गुणमात्रं विधत्ते ?

A. गुणविधिः B. अध्ययनविधिः
C. विशिष्टविधिः D. प्रधानविधिः

प्र.३८ 'दध्ना जुहोती'ति श्रुतिरस्ति ?

A. प्रधानविधिवाक्यम् B. गुणविधिवाक्यम्
C. अर्थवादवाक्यम् D. विशिष्टविधिवाक्यम्

प्र.३९ 'दध्ना जुहोती'त्यत्र दधि वर्तते ?

A. निर्गुणी B. गुणी
C. गुणः D. निर्गुणः

प्र.४० यत्र गुणः कर्म चेत्युभयमेव मानान्तरेणाप्राप्तं तत्र विशिष्टं विधत्ते ?

A. गुणविधिः B. प्रयोगविधिः
C. विनियोगविधिः D. विशिष्टविधिः

प्र.४१ 'सोमेन यजेत' इत्यत्र कर्म वर्तते ?

A. यागः B. यवः
C. सोमः D. दधि

प्र.४२ 'सोमेन यजेत' इत्यत्र गुणोऽस्ति ?

A. होमः B. सोमः

C. यागः D. क्रतुः

प्र.४३ किमसत्यमस्ति ?

A. प्रधानः = गुणी B. प्रधानः = शेषी

C. प्रधानः = गुणः D. प्रधानः = अङ्गी

प्र.४४ किमसत्यमस्ति ?

A. अग्निहोत्रं जुहुयादिति प्रधानविधिः

B. दध्ना जुहोतीति गुणविधिः।

C. सोमेन यजेतेति विशिष्ट विधिः।

D. गुणः शेषोऽङ्गञ्चेत्यसमानार्थकशब्दाः।

प्र.४५ एकेनैव विधिवाक्येन गुण-कर्मविधाने सति भवति ?

A. वाक्यभेदः B. प्रबन्धभेदः

C. पदभेदः D. क्रियाभेदः

प्र.४६ मीमांसानये वाक्यभेदो मन्यते ?

A. प्रकारः B. दोषः

C. निर्विकारः D. गुणः

प्र.४७ वाक्यभेदे सति कति दोषाः सम्भवन्ति ?

A. त्रयोदश B. त्रयः

C. अष्ट D. दश

प्र.४८ सत्यमस्ति ?

A. आवृत्त्यानुभयविधावावृत्तिलक्षणो वाक्यभेदः।

B. आवृत्त्योभयविधावानावृत्तिलक्षणो वाक्यभेदः।

C. अनावृत्त्योभयविधावानावृत्तिलक्षणो वाक्यभेदः।

D. आवृत्त्योभयविधावावृत्तिलक्षणो वाक्यभेदः।

प्र.४९ मीमांसानये विधिः कतिविधो भवति ?

A. चतुर्विधः B. पञ्चविधः

C. षड्विधः D. अष्टविधः

प्र.५० कर्मस्वरूपमात्रबोधको विधिरस्ति ?

A. विनियोगविधि: B. उत्पत्तिविधि:
C. प्रयोगविधि: D. अधिकारविधि:

प्र.५१ उत्पत्तिविधौ उत्पत्तिर्नाम किम् ?

A. साध्यस्वरूपम् B. सिद्धिस्वरूपम्
C. साधनस्वरूपम् D. साधयितृस्वरूपम्

प्र.५२ कर्मस्वरूपमात्रबोधक इत्यत्र कर्म नाम किम् ?

A. प्रयागादि: B. योगादि:
C. भोगादि: D. यागादि:

प्र.५३ उत्पत्तिविधौ कर्मणोऽन्वयो भवति ?

A. करणत्वेन B. कर्मत्वेन
C. कर्तृत्वेन D. अधिकरणत्वेन

प्र.५४ 'अग्निहोत्रं जुहोती'त्युदाहरणमस्ति ?

A. प्रयोगविधे: B. विनियोगविधे:
C. अधिकारविधे: D. उत्पत्तिविधे:

प्र.५५ 'अग्निहोत्रहोमेन इष्टं भावयेदि'ति वाक्यार्थबोधो भवति ?

A. उत्पत्तिविधिना B. अधिकारविधिना
C. प्रयोगविधिना D. विनियोगविधिना

प्र.५६ देवतामुद्दिश्य द्रव्यत्यागोऽभिधीयते ?

A. प्रभाग: B. याग:
C. त्याग: D. विभाग:

प्र.५७ यागस्य द्वे रूपे भवत: ?

A. द्रव्यं यजमानश्च B. यजमानो देवता च
C. द्रव्यं देवता च D. देवता मन्त्रश्च

प्र.५८ अग्निहोत्रशब्दस्य नामधेयत्वं सिद्धयति ?

A. सिंहावलोकनन्यायेन B. सूचीकटहन्यायेन
C. स्थालीपुलाकन्यायेन D. तत्प्रख्यन्यायेन

प्र.५९ सत्यमस्ति ?

A. उत्पत्तिविधिलक्षणे मात्रपदं कर्मण: फलसम्बन्धव्यावर्तकार्थ:।

B. यागस्य त्रीणि रूपाणि - द्रव्यं देवता यजमानश्च ।

C. 'तत्प्रख्यं चान्यशास्त्रमि'ति नहि मीमांसासूत्रम् ।

D. अग्निहोत्रमिति न यागविशेषस्य नामधेयम् ।

प्र.६० अङ्गप्रधानसम्बन्धबोधको विधिर्भवति ?

A. अधिकारविधि: B. विनियोगविधि:

C. उत्पत्तिविधि: D. प्रयोगविधि:

प्र.६१ किमसत्यमस्ति ?

A. अङ्गाङ्गिभावसम्बन्धं बोधयति विनियोगविधि:।

B. गुणविधौ धात्वर्थस्य साध्यत्वेनैवान्वयो भवति ।

C. गुणविधौ धात्वर्थस्य न क्वचिदप्याश्रयत्वेनान्वयो भवति।

D. 'दध्नेन्द्रियकामस्य जुहुयादि'ति गुणविधिवाक्यम् ।

प्र.६२ शेष-शेषिणो: उपकारकोपकार्यरूप: सम्बन्धो ज्ञायते ?

A. गुणविधिना B. प्रयोगविधिना

C. अधिकारविधिना D. विनियोगविधिना

प्र.६३ सकृदुच्चरितस्योभयत्रसम्बन्धो मन्यते ?

A. तन्त्रसम्बन्ध: B. स्वतन्त्रसम्बन्ध:

C. मन्त्रसम्बन्ध: D. यन्त्रसम्बन्ध:

प्र.६४ होमे कति धर्मा: निहिता: भवन्ति ?

A. पञ्च B. सप्त

C. चत्त्वार: D. षट्

प्र.६५ होमस्य धर्मत्रिके न गण्यते ?

A. उपादेयत्वम् B. विधेयत्वम्

C. प्रधानत्वम् D. उपसर्जनत्वम्

प्र.६६ यागस्यानुष्ठीयमानत्वाकारो भवति?

A. विधेयत्वम् B. उद्देश्यत्वम्

C. उपसर्जनत्वम् D. उपादेयत्वम्

प्र.६७ शरीरोपाधिको धर्मोऽस्ति ?

A. यागस्योपादेयत्वम् B. यागस्य विधेयत्वम्

C. यागस्योद्देश्यत्वम् D. यागस्य विधेयत्वम्

प्र.६८ शब्दोपाधिको धर्मो वर्तते ?

A. यागस्योपसर्जनत्वम् B. यागस्य विधेयत्वम्

C. यागस्योद्देश्यत्वम् D. यागस्योपादेयत्वम्

प्र.६९ अज्ञातस्यानुष्ठेयत्वेन प्रतिपाद्यमानत्वमुच्यते ?

A. अनुकथ्यमानत्वम् B. उपादेयत्वम्

C. विधेयत्वम् D. उद्देश्यत्वम्

प्र.७० यागस्य साधनत्वेन बोध्यते ?

A. प्रधानत्वम् B. अनुवाद्यत्वम्

C. उपादेयत्वम् D. उपसर्जनत्वम्

प्र.७१ असत्यमस्ति ?

A. कलञ्जभक्षणादिः धर्मः।

B. फलस्योद्देश्यत्वं मानसधर्मः।

C. अनुवाद्यत्वं शब्दोपाधिकोधर्मः।

D. फलस्य प्राधान्यं साध्यत्वेन बोध्यते ।

प्र.७२ मानान्तरज्ञातस्यानुकथ्यमानत्वं भवति ?

A. उद्देश्यत्वम् B. अनुवाद्यत्वम्

C. प्रधानत्वम् D. उपादेयत्वम्

प्र.७३ होम-फलयोः सम्बन्धोमन्यते ?

A. गम्यगमकभावसम्बन्धः B. भोज्यभोजकभावसम्बन्धः

C. अन्योन्यभावसम्बन्धः D. पोष्यपोषकभावसम्बन्धः

प्र.७४ विनियोगविधेः सहकारिभूतानि प्रमाणानि सन्ति ?

A. पञ्च B. अष्ट

C. त्रीणि D. षट्

प्र.७५ समीचीनं युग्मं चिनुत -

A. श्रुतिः १. उभयाकाङ्क्षा

B. लिङ्गम् २. समभिव्याहारः

C. वाक्यम् ३. शब्दसामर्थ्यम्

D. प्रकरणम् ४. निरपेक्षो रवः

	A.	B.	C.	D.
A.	४	३	२	१
B.	४	३	१	२
C.	२	१	३	४
D.	१	२	३	४

प्र.७६ समीचीनं युग्मं चिनुत -

A.	स्थानम्	१. अङ्गत्वम्
B.	समाख्या	२. पारार्थ्यम्
C.	अङ्गत्वम्	३. यौगिकः शब्दः
D.	परोद्देशप्रवृत्तकृतिसाध्यत्वरूपम्	४. देशसामान्यम्

	A.	B.	C.	D.
A.	४	३	१	२
B.	४	३	२	१
C.	२	३	१	४
D.	३	४	१	२

प्र.७७ अङ्गत्वं ज्ञाप्यते ?

A. श्रुत्यादिप्रमाणषट्कासहकृतेन विनियोगविधिना

B. वाक्यादिप्रमाणचतुष्टयासहकृतेन विनियोगविधिना।

C. श्रुत्यादिप्रमाणषट्कसहकृतेन विनियोगविधिना ।

D. लिङ्गादिप्रमाणपञ्चकासहकृतेन विनियोगविधिना।

प्र.७८ श्रुतिः भवति ?

A. एका B. षड्विधा

C. द्विविधा D. त्रिविधा

प्र.७९ श्रुतीनां मध्ये नान्तर्भवति?

A. संविधात्री B. विधात्री

C. अभिधात्री D. विनियोक्त्री

प्र.८० अशुद्धमस्ति ?

A. विधात्री = लिङाद्यात्मिका B. न स्वतः प्रामाण्यम् = श्रुतेः

C. अभिधात्री = व्रीहयादिश्रुतिः D. विनियोक्त्री = त्रिविधा

प्र.८१ यच्छब्दस्य श्रवणादेव सम्बन्धः प्रतीयते ?

A. अभिधात्री B. विधात्री

C. विनियोक्त्री D. प्रविधात्री

प्र.८२ विनियोक्त्रीश्रुतिः बोधयति ?

A. शेष-शेषिणोरुत्पाद्योत्पादकभावसम्बन्धम् ।

B. शेष-शेषिणोऽनुमाप्यानुमापकभावसम्बन्धम् ।

C. शेष-शेषिणो:गम्यगमकभावसम्बन्धम् ।

D. शेष-शेषिणोः विनियोज्य-विनियोजकभावसम्बन्धम् ।

प्र.८३ विनियोक्त्रीश्रुतिर्भवति ?

A. त्रिविधा B. पञ्चविधा

C. चतुर्विधा D. षड्विधा

प्र.८४ विनियोक्त्रीणां श्रुतीनां मध्ये नान्तर्भवति ?

A. विभक्तिरूपा B. नैकपदरूपा

C. एकाभिधानरूपा D. एकपदरूपा

प्र.८५ अशुद्धमस्ति ?

A. व्रीहिभिर्यजेत = तृतीयाविभक्तिश्रुतिः

B. व्रीहीन् प्रोक्षति = द्वितीयाविभक्तिश्रुतिः

C. मध्यात्पूर्वार्धाच्च हविषोऽवद्यति = षष्ठीविभक्तिश्रुतिः

D. यदाहवनीये जुहोति = सप्तमीविभक्तिश्रुतिः

प्र.८६ असत्यमस्ति ?

A. एकाभिधानश्रुतिरेव समानाभिधानश्रुतिः

B. पशुना यजेतेत्येकाभिधानैकपदरूपयोरुभयो:श्रुत्योरुदाहरणम् ।

C. समानाभिधानश्रुत्या बोध्यते कारकाङ्गत्वम् ।

D. एकपदश्रुत्या नावगम्यते यागाङ्गत्वम् ।

प्र.८७ असत्यमस्ति ?

A. गुणत्वेनामूर्तसङ्ख्याया न यागाङ्गत्वं भावनाङ्गत्वञ्च भवति ।

B. अमूर्तानां गुणानामपि यागाङ्गत्वं भावनाङ्गत्वञ्च भवति ।

C. भावनायां कर्त्तानुमानेनार्थापत्त्या वा लभ्योऽस्ति ।

D. आर्थीभावना कर्तारं विनानुपपन्ना कर्तारमाक्षिपति ।

प्र.८८ सत्यमस्ति ?

A. श्रुतिर्लिङ्गादिभ्योदुर्बला
B. श्रुतिर्लिङ्गादिभ्य:प्रबला
C. श्रुतिर्लिङ्गादिभ्योऽबला
D. श्रुतिर्लिङ्गादयश्चसमबला:

प्र.८९ असत्यमस्ति ?

A. श्रुते: मन्त्रपदाभिधेयप्रतिपादनं विनियोगश्च व्यापारौ भवत:।
B. मन्त्रपदाभिधेयप्रतिपादन-विनियोगयोर्मध्यवर्तिनौ सामर्थ्यनिरूपण-श्रुतिकल्पनव्यापारौ।
C. बाधो न द्विविध: प्राप्तबाधोऽप्राप्तबाधरूपश्च ।
D. प्राबल्यात् श्रुत्या लिङ्गं बाध्यते ।

प्र.९० लिङ्गस्य व्यापारा: भवन्ति ?

A. षट्
B. पञ्च
C. सप्त
D. चत्वार:

प्र.९१ लिङ्गप्रमाणस्य व्यापारा: सन्ति ?

A. स्वाभिधेयप्रतिपादन - सामर्थ्यनिरूपण -श्रुतिकल्पन - विनियोगा:।
B. स्वाभिधेयप्रतिपादन - सामर्थ्यनिरूपण - श्रुतिकल्पनानि ।
C. स्वाभिधेयप्रतिपादन - सामर्थ्यनिरूपणे ।
D. स्वाभिधेयप्रतिपादनमेव ।

प्र.९२ 'ऐन्द्रा गार्हपत्यमि'त्युदाहरणमस्ति ?

A. प्राप्तबाधस्य
B. अप्राप्तबाधस्य
C. सम्प्राप्तबाधस्य
D. सुप्राप्तबाधस्य

प्र.९३ 'सामर्थ्यं सर्वशब्दानां लिङ्गमि'त्यभिधीयते इत्युक्तिरस्ति ?

A. पार्थसारथिमिश्रकृततन्त्ररत्ने
B. अप्पय्यदीक्षितकृतविधिरसायने
C. कुमारिभट्टकृततन्त्रवार्तिके
D. कुमारिलभट्टकृतश्लोकवार्तिके

प्र.९४ शब्दसामर्थ्यरूपलिङ्गमस्ति ?

A. यौगिकशब्द:
B. योगरूढम्
C. यौगिकरूढम्
D. रूढिरेव

प्र.९५ असत्यमस्ति ?

A. समाख्यातो लिङ्गस्याभेद:

B. सामर्थ्यं द्विविधं शब्दगतमर्थगतञ्चेति

C. लिङ्गं वाक्यादिभ्यो बलवत्

D. 'बर्हिर्देवसदनन्दामी'ति लिङ्गस्योदाहरणम्

प्र.९६ अवयवशक्त्याऽर्थप्रत्यायकं भवति ?

A. योगरूढम् B. यौगिकम्

C. यौगिकरूढम् D. रूढम्

प्र.९७ यत्समुदायशक्त्याऽर्थप्रत्यायकं भवति ?

A. यौगिकरूढम् B. योगरूढम्

C. रूढम् D. यौगिकम्

प्र.९८ अवयवशक्त्युपोद्बलितसमुदायशक्त्याऽर्थप्रतीतिजनकं भवति ?

A. यौगिकम् B. रूढम्

C. यौगिकरूढम् D. योगरूढम्

प्र.९९ अवयवशक्तिसमुदायशक्तिभ्यां रूढार्थं यौगिकार्थञ्च स्वातन्त्र्येण बोधयति ?

A. यौगिकरूढम् B. यौगिकम्

C. योगरूढम् D. रूढम्

प्र.१०० समीचीनां तालिकां चिनुत -

A. रूढशब्द: १. उंद्भिद्

B. यौगिकशब्द: २. पङ्कजम्

C. योगरूढशब्द: ३. पाचक:

D. यौगिकरूढशब्द: ४. गौ:

	A.	B.	C.	D.
A.	४	३	१	२
B.	४	३	२	१
C.	३	४	१	२
D.	३	१	२	४

प्र.१०१ साध्यत्वादिवाचकद्वितीयाद्यभावे सति शेषशेषिवाचकपदयो: सहोच्चारणं भवति?

A. श्रुति: B. लिङ्गम्

C. वाक्यम् D. समाख्या

प्र.१०२ 'यस्य पर्णमयीजुहूर्भवति न स पापं श्लोकं शृणोती'त्युदाहरणमस्ति ?

A. प्रकरणस्य B. लिङ्गस्य

C. समाख्याया: D. वाक्यस्य

प्र.१०३ किञ्चित्प्रकरणमारभ्याधीतं वाक्यमुच्यते ?

A. आरभ्यविधि: B. अध्ययनविधि:

C. अनारभ्यविधि: D. अधिकारविधि:

प्र.१०४ प्रकरणसम्बन्धेन विना तथैवाधीतं वाक्यमुच्यते ?

A. अधिकारविधि: B. अनारभ्यविधि:

C. अध्ययनविधि: D. अधिकारविधि:

प्र.१०५ 'प्रकृतिवद् विकृति: कर्तव्ये'ति वाक्यमस्ति ?

A. उपदेशवाक्यम् B. अतिदेशवाक्यम्

C. चोदकवाक्यम् D. सामान्यवाक्यम्

प्र.१०६ समीचीनं युग्मं चिनुत -

A. आरम्भ्यविधि: १. वाक्यम्

B. अनारभ्यविधि: २. प्रेरकवाक्यम्

C. चोदकवाक्यम् ३. सामान्यविधि:

D. एकार्थमनेकं पदम् ४. विशेषविधि:

	A	B.	C.	D.
A.	२	३	१	४
B.	४	३	१	२
C.	१	२	३	४
D.	४	३	२	१

प्र.१०७ यत्रापेक्षितस्यार्थजातस्य प्रतिपादको ग्रन्थसन्दर्भ: पठयते, स------?

A. उपदेश: B. आदेश:

C. अतिदेश: D. सन्देश:

प्र.१०८ अन्यत्रप्रणीतसम्पूर्णधर्मसन्तते: कार्यतोऽन्यत्र प्राप्ति:------?

A. विदेश: B. अतिदेश:

C. उपदेश: D. प्रदेश:

प्र.१०९ मीमांसानये यत्र समग्राङ्गोपदेश: सोच्यते ?

A. विकृति: B. प्रकृतिविकृतय:

C. प्रकृति: D. न प्रकृतिर्नविकृति:

प्र.११० मीमांसाशास्त्रे यत्र न सर्वाङ्गोपदेश: सा कथ्यते ?

A. प्रकृति: B. प्रकृतिविकृतय:

C. न प्रकृतिर्नविकृति: D. विकृति:

प्र.१११ प्रकृतियागोऽस्ति ?

A. दर्शपूर्णमासादि: B. सौर्ययाग:

C. श्येनयाग: D. ऐन्द्राग्नयाग:

प्र.११२ प्रकरणादिभ्यो बलवदस्ति ?

A. स्थानम् B. वाक्यम्

C. प्रकरणम् D. समाख्या

प्र.११३ असम्यगस्ति ?

A. वैकङ्कती ध्रुवा B. पलाशकाष्ठस्य जुहू:

C. प्रस्तरो न दर्भमुष्टि: D. खादिरस्य स्रुव:

प्र.११४ असत्यमस्ति ?

A. औषधद्रव्यं द्वादशविधम् B. यज्ञायुधानि दश

C. पशुप्रभवद्रव्यं दशविधम् D. आश्वत्थी नोपभृत्

प्र.११५अङ्ग-प्रधानोभयगतपरस्पराकाङ्क्षेति कथ्यते ?

A. प्रकरणम् B. लिङ्गम्

C. समाख्या D. वाक्यम्

प्र.११६ प्रयाजादीनां दर्शपूर्णमासाङ्गत्वं सिध्यति ?

A. वाक्येन B. प्रकरणेन

C. लिङ्गेन D. समाख्यया

प्र.११७ प्रकरणमस्ति ?

A. चतुर्विधम्	B. त्रिविधम्
C. द्विविधम्	D. षड्विधम्

प्र.११८ मुख्यभावनासम्बन्धिप्रकरणम् उच्यते ?

A. अवान्तरप्रकरणम्	B. मध्यप्रकरणम्
C. अन्तप्रकरणम्	D. महाप्रकरणम्

प्र.११९ अङ्गभावनासम्बन्धिप्रकरणमुच्यते ?

A. अवान्तरप्रकरणम्	B. महाप्रकरणम्
C. मध्यप्रकरणम्	D. सूक्ष्मप्रकरणम्

प्र.१२० अभिक्रमणादीनां प्रयाजाद्यङ्गत्वं ज्ञायते ?

A. महाप्रकरणेन	B. अवान्तरप्रकरणेन
C. अन्तप्रकरणेन	D. मध्यप्रकरणेन

प्र.१२१ प्रयाजाङ्गमध्येऽभिहितं कर्मोच्यते ?

A. घृतानयनम्	B. मिथुनवेदनम्
C. अभिक्रमणम्	D. परिस्तरणम्

प्र.१२२ अभिक्रमणस्य प्रयाजाद्यङ्गत्वं केन न्यायेन ज्ञायते ?

A. सूचीकटाहन्यायेन	B. स्थालीपुलाकन्यायेन
C. मण्डूकप्लुतिन्यायेन	D. सन्दंशन्यायेन

प्र.१२३ एकाङ्गनुवादेन विधीयमानयोरप्यङ्गयोरन्तराले विहितत्वमुच्यते?

A. सन्दंश:	B. सारांश:
C. अंश:	D. प्रयोगांश:

प्र.१२४ प्रकरणं बलवदस्ति ?

A. श्रुते:	B. स्थानादिभ्य:
C. लिङ्गात्	D. वाक्यात्

प्र.१२५ देशसामान्यमुच्यते ?

A. श्रुति:	B. समाख्या
C. स्थानम्	D. वाक्यम्

प्र.१२६ समीचीनां तालिकां चिनुत -

A. देशसामान्यम् — १. समाख्यात:

B. स्थानं द्विविधम् — २. यथासन्निधिपाठ:यथासङ्ख्यपाठश्च

C. पाठसादेश्यं द्विविधम् — ३. पाठसादेश्यमनुष्ठानसादेश्यञ्च

D. स्थानं प्रमाणं प्रबलम् — ४. सन्निधिविशेषत्वम्

	A.	B.	C.	D.
A.	१	२	३	४
B.	२	३	१	४
C.	४	३	१	२
D.	४	३	२	१

प्र.१२७ पुरोडाशश्रपणसाधनमस्ति ?

A. कपालम् B. सफ्य:

C. शूर्पम् D. शम्या

प्र.१२८ पाकयज्ञसंस्था: भवन्ति ?

A. नव B. सप्त

C. दश D. अष्ट

प्र.१२९ हविर्यज्ञसंस्था: भवन्ति ?

A. दश B. अष्ट

C. सप्त D. नव

प्र.१३० सोमसंस्था: भवन्ति ?

A. नव B. अष्ट

C. दश D. सप्त

प्र.१३१ समीचीनं युग्मं मेलयत -

A. होता — १. अथर्ववेदस्य

B. अध्वर्यु: — २. सामवेदस्य

C. उद्गाता — ३. यजुर्वेदस्य

D. ब्रह्मा — ४. ऋग्वेदस्य

	A.	B.	C.	D.
A.	४	३	२	१
B.	१	२	३	४
C.	४	२	३	१
D.	१	३	४	२

प्र.१३२ सम्यक् युग्मं योजयत -

A. होतृसहायका: — १. ब्राह्मणाच्छंसी, अग्नीद्, पोता च ।

B. अध्वर्युसहायका: — २. प्रस्तोता, प्रतिहर्ता, सुब्रह्मण्य: च ।

C. उद्गातृसहायका: — ३. प्रतिप्रस्थाता, नेष्टा, उन्नेता च ।

D. ब्रह्मसहायका: — ४. मैत्रावरुण:, ऐच्छावाक् , ग्रावस्तुत् च ।

	A.	B.	C.	D.
A.	४	३	१	२
B.	४	३	२	१
C.	२	१	३	४
D.	१	२	३	४

प्र.१३३ अग्निहोत्रमस्ति ?

A. पाकयज्ञ: B. सोमयज्ञ:

C. हविर्यज्ञ: D. स्मार्तयज्ञ:

प्र.१३४ हविर्यागोऽस्ति ?

A. वाजपेय: B. अग्निष्टोम:

C. पार्वणम् D. दर्शपूर्णमासौ

प्र.१३५ समीचीनं युग्मं चिनुत -

A. सौत्रामणी याग: — १. इष्टिपशुसोमयागात्मक:

B. अग्निष्टोमयाग: — २. पाकयज्ञ:

C. वैश्वदेवहोम: — ३. सोमयाग:

D. राजसूययज्ञ: — ४. हविर्यज्ञ:

	A.	B.	C.	D.
A.	४	३	२	१

B.	४	३	१	२
C.	२	४	३	१
D.	१	२	३	४

प्र.१३६ असम्यगस्ति ?

A. औषधद्रव्यं पुरोडाश: B. पशुयागाश्चतुर्विधा:

C. पशुप्रभवद्रव्यमाज्यम् D. यज्ञायुधानि कपालानि

प्र.१३७ असत्यमस्ति

A. एकाहोऽहीन: सत्रञ्चेति त्रिप्रकारक: सोमयाग:

B. प्रातर्माध्यन्दिनं सायञ्चेति त्रिप्रकारकं सवनम् ।

C. न सूर्याचन्द्रमसो: पर:सन्निकर्षोऽभिधीयते दर्श:।

D. अग्नीषोमीय: सवनीयोऽनुबन्ध्यश्चेति त्रिप्रकारक: पशुयाग:।

प्र.१३८ श्रुतद्रव्यदेवताका अप्राणिद्रव्यका: क्रिया: कथ्यन्ते ?

A. व्यष्टय: B. प्रविष्टय:

C. समष्टय: D. इष्टय:

प्र.१३९ सोमयागानां प्रकृतिभूतयागोऽस्ति ?

A. ज्योतिष्टोम: B. अश्वमेध:

C. राजसूय: D. पुरुषमेध:

प्र.१४० समीचीनं युग्मं चिनुत -

A. यौगिक: शब्द: १. आध्वर्यवम्

B. समाख्या द्विविधा २. होतुश्चमस:

C. वैदिकसमाख्यया ३. वैदिकी लौकिकी च

D. लौकिकसमाख्यया ४. समाख्या

	A.	B.	C.	D.
A.	१	२	३	४
B.	४	३	२	१
C.	३	२	१	४
D.	४	३	१	२

प्र.१४१ विनियोगविधिबोधिताङ्गानि सन्ति ?

A. त्रिविधानि B. षड्विधानि

C. द्विविधानि D. पञ्चविधानि

प्र.१४२ समीचीनं युग्मं चिनुत -

A.	विनियोगविधिबोधिताङ्गानि	१. अवघातादीनि, प्रयाजादीनि च
B.	जातिद्रव्यसङ्ख्यादीनि	२. क्रियारूपाणि द्विविधानि
C.	गुणकर्माणि प्रधानकर्माणि च	३. सिद्धानि दृष्टार्थान्येव
D.	सन्निपत्योपकारकाणि आरादुपकारकाणि च	४.सिद्धरूपाणि क्रियारूपाणि चेति

	A.	B.	C.	D.
A.	२	४	१	३
B.	१	२	३	४
C.	४	३	१	२
D.	४	३	२	२

प्र.१४३ सत्यमस्ति ?

A. गुणकर्माणि = सन्निपत्योपकारकाणि

B. प्रधानकर्माणि = सन्निपत्योपकारकाणि

C. अदृष्टार्थानि = जातिद्रव्यसङ्ख्यादीनि

D. गुणकर्माणि = आरादुपकारकाणि

प्र.१४४ सत्यमस्ति ?

A. अदृष्टार्थानि = जातिद्रव्यसङ्ख्यादीनि

B. प्रधानकर्माणि = आरादुपकारकाणि

C. गुणकर्माणि = आरादुपकारकाणि

D. प्रधानकर्माणि = सन्निपत्योपकारकाणि

प्र.१४५ कर्माङ्गद्रव्याद्युद्देशेन विधीयमानं कर्म भवति ?

A. कारकम् B. उपकारकम्

C. सन्निपत्योकारकम् D. आरादुपकारकम्

प्र.१४६ सन्निपत्योपकारकं भवति ?

A. पञ्चविधम् B. चतुर्विधम्
C. षड्विधम् D. त्रिविधम्

प्र.१४७ सन्निपत्योपकारकप्रकारेषु नान्तर्भवति ?

A. विदृष्टार्थम् B. दृष्टार्थम्
C. अदृष्टार्थम् D. दृष्टादृष्टार्थम्

प्र.१४८ द्रव्याद्यनुद्दिश्य केवलं विधीयमानं कर्म भवति ?

A. सन्निपत्योपकारकम् B. आरादुपकारकम्
C. विकारकम् D. प्रकारकम्

प्र.१४९ समीचीनं युग्मं मेलयत -

A. दृष्टार्थम् १. प्रयाजादि
B. अदृष्टार्थम् २. पशुपुरोडाशादि
C. दृष्टादृष्टार्थम् ३. प्रोक्षणादि
D. आरादुपकारकम् ४. अवघातादि

	A.	B.	C.	D.
A.	४	३	१	२
B.	१	२	३	४
C.	४	३	२	१
D.	४	२	३	१

प्र.१५० परमापूर्वात्पत्तावेवोपयुज्यते ?

A. प्रकारकम् B. विकारकम्
C. आकारकम् D. आरादुपकारकम्

प्र.१५१ द्रव्यदेवतासंस्कारद्वारा यागस्वरूपेऽप्युपयुज्यते ?

A. सन्निपत्योपकारकम् B. प्रकारकम्
C. विकारकम् D. आकारकम्

प्र.१५२ किं सत्यमस्ति ?

A. समुदायापूर्वम् = परमापूर्वम् B. फलापूर्वम् = परमापूर्वम्
C. उत्पत्त्यपूर्वम् = परमापूर्वम् D. अङ्गापूर्वम् = परमापूर्वम्

प्र.१५३ आश्रयिकर्मेत्युच्यते ?

A. विकारकम B. आकारकम्

C. सन्निपत्योपकारकम् D. प्रकारकम्

प्र.१५४ प्रयोगप्राशुभावबोधको विधिः ?

A. उत्पत्तिविधिः B. अधिकारविधिः

C. विनियोगविधिः D. प्रयोगविधिः

प्र.१५५ अङ्गक्रमबोधको विधिरुच्यते ?

A. प्रयोगविधिः B. विनियोगविधिः

C. उत्पत्तिविधिः D. अधिकारविधिः

प्र.१५६ प्रयोगविधिलक्षणे प्रयोगो नाम किम् ?

A. स्थानम् B. अनुष्ठानम्

C. प्रस्थानम् D. सौप्रस्थानम्

प्र.१५७ प्रयोगे विततिविशेषः कथ्यते ?

A. पदम् B. ध्वजः

C. क्रमः D. घनः

प्र.१५८ असत्यमस्ति ?

A. पौर्वापर्यरूपः क्रमः

B. वितानो यागः

C. क्रमो नामाऽऽनन्तर्यम्

D. आनन्तर्यमनेकप्रतियोगिकमनेकवृत्ति

प्र.१५९ क्रमनियमे कति प्रमाणानि भवन्ति ?

A. षट् B. सप्त

C. पञ्च D. अष्ट

प्र.१६० समीचीनं युग्मं चिनुत -

A. क्रमपरवचनम् १. वषट्कर्त्तुःप्रथमभक्ष इति

B. श्रुतिर्द्विविधा २. वेदं कृत्वावेदिं करोतीति

C. केवलक्रमपरम् ३. केवलक्रमपरा, क्रमविशिष्टपदार्थपरा चेति

D. क्रमविशिष्टादार्थपरम् ४. श्रुतिः

	A.	B.	C.	D.
A.	४	३	१	२
B.	४	३	२	१
C.	४	२	३	१
D.	१	२	३	४

प्र.१६१ इतरप्रमाणापेक्षया बलवती वर्तते ?

A. व्यावृत्तिः B. संवृत्तिः

C. श्रुतिः D. प्रवृत्तिः

प्र.१६२ यत्र प्रयोजनवशेन क्रमनिर्णयः सः-------?

A. पाठक्रमः B. प्रवृत्तिः

C. स्थानम् D. अर्थक्रमः

प्र.१६३ पाठक्रमाद् बलवान् वर्तते ?

A. अर्थक्रमः B. विक्रमः

C. प्रक्रमः D. पराक्रमः

प्र.१६४ पदार्थबोधकवाक्यानां यः क्रमः स -------?

A. प्रवृत्तिः B. पाठक्रमः

C. अर्थक्रमः D. प्रक्रमः

प्र.१६५ पाठक्रमः कतिविधः?

A. त्रिविधः B. चतुर्विधः

C. द्विविधः D. षड्विधः

प्र.१६६ असत्यमस्ति ?

A. मन्त्रपाठो ब्राह्मणपाठश्चेति द्विविधः पाठक्रमः।

B. मन्त्रपाठो ब्राह्मणपाठाद्बलीयान्।

C. प्रयाजानामनुष्ठानक्रमो ब्राह्मणपाठात् स्वीक्रियते।

D. श्रुत्यर्थपाठादीनां न पूर्वपूर्वबलीयसत्वम्।

प्र.१६७ स्थानं नाम किम् ?

A. उपस्थितिः B. प्रस्थितिः

C. सुस्थितिः D. संस्थितिः

प्र.१६८ प्रधानक्रमेण योऽङ्गानां क्रमः आश्रीयते स-----?

A. गौणक्रमः B. मुख्यक्रमः

C. अङ्गक्रमः D. शेषक्रमः

प्र.१६९ पाठक्रमाद् दुर्बलोऽस्ति ?

A. शेषक्रमः B. गौणक्रमः

C. मुख्यःक्रमः D. अङ्गक्रमः

प्र.१७० प्रवृत्तिक्रमाद् बलवान् वर्तते ?

A. अङ्गक्रमः B. शेषक्रमः

C. गौणक्रमः D. मुख्यःक्रमः

प्र.१७१ क्रमनियमेऽन्तिमप्रमाणत्वेन स्वीक्रियते ?

A. प्रवृत्तिक्रमः B. अङ्गक्रमः

C. शेषक्रमः D. गौणक्रमः

प्र.१७२ प्राजापत्यपश्वङ्गेष्वित्युदाहरणमस्ति ?

A. अङ्गक्रमस्य B. प्रवृत्तिक्रमस्य

C. गौणक्रमस्य D. शेषक्रमस्य

प्र.१७३ श्रुत्यादिभ्यो दुर्बलत्वमस्ति ?

A. शेषक्रमस्य B. अङ्गक्रमस्य

C. प्रवृत्तिक्रमस्य D. गौणक्रमस्य

प्र.१७४ कर्मजन्यफलस्वाम्यबोधको विधिरस्ति ?

A. उत्पत्तिविधिः B. विनियोगविधिः

C. प्रयोगविधिः D. अधिकारविधिः

प्र.१७५ समीचीनं युग्मं चिनुत -

A. अधिकारविधिः १. विधिवाक्येषु पुरुषविशेषणत्वेन श्रूयमाणः ।

B. अर्थकर्म त्रिविधम् २. अधिकारविशिष्टः ।

C. फलस्वाम्यम् ३. नित्यनैमित्तिककाम्यभेदात् ।

D. अधिकारो नाम ४. यजेत स्वर्गकामः इत्यादिरूपः ।

	A	B.	C.	D.
A.	४	३	२	१
B.	४	३	१	२
C.	४	२	३	१
D.	१	२	३	४

प्र.१७६ समीचीनं युग्मं चिनुत -

A. काम्यकर्माणि	१. कलञ्जभक्षणादिः
B. नैमित्तिककर्माणि	२. सन्ध्योपासनादीनि
C. नित्यकर्माणि	३. जातेष्ट्यादीनि
D. अधर्मः	४. ज्योतिष्टोमादीनि

	A	B.	C.	D.
A.	४	३	१	२
B.	४	३	२	१
C.	२	१	३	४
D.	१	२	३	४

प्र.१७७ असत्यमस्ति ?

A. पुरुषविशेषणात्मको भवत्यधिकारः।

B. श्रुताश्रुतभेदाद् द्विविधं पुरुषविशेषणम् ।

C. अश्रुतपुरुषविशेषणं चतुर्विधम् ।

D. श्रुताधिकारस्त्रिविधाः फलकामना, निमित्तनिश्चयः, शुचिविहितकालजीवितत्वञ्चेति।

प्र.१७८ समीचीनं युग्मं चिनुत -

A. काम्ये कर्मणि	१. अविशिष्टा, विशिष्टाचेति द्विविधा
B. नैमित्तिके कर्मणि	२. शुचिविहितकालजीवितत्वम्
C. नित्ये कर्मणि	३. निमित्तनिश्चयः
D. फलकामना	४. फलकामना

	A	B.	C.	D
A.	१	२	३	४

B. २ १ ३ ४

C. ४ ३ १ २

D. ४ ३ २ १

प्र.१७९ अश्रुताधिकारिपुरुषविशेषणं कतिविधम् ?

A. त्रिविधम् B. पञ्चविधम्

C. चतुर्विधम् D. षड्विधम्

प्र.१८० असत्यमस्ति ?

A. अध्ययनविधिसिद्धा विद्या B. स्वर्गकामो यजेतेति विशिष्टफलकामना

C. आधानविधिसिद्धाऽग्निमत्ता D. न्यायसिद्धं सामर्थ्यम्

प्र.१८१ स्वर्गकामो यजेतेति वर्तते ?

A. अग्निमत्ता B. विशिष्टा फलकामना

C. अविशिष्टाफलकामना D. विद्या

प्र.१८२ क्षत्रियत्वे सति स्वाराज्यकामो यजेतेति कल्पते ?

A. विद्या B. अग्निमत्ता

C. अविशिष्टा फलकामना D. विशिष्टा फलकामना

प्र.१८३ प्रयोगसमवेतार्थस्मारका: भवन्ति ?

A. मन्त्रा: B. नामधेयम्

C. निषेध: D. अर्थवाद:

प्र.१८४ अत्यन्तम् अप्राप्तस्य प्रापको विधिर्भवति ?

A. परिसङ्ख्याविधि: B. अपूर्वविधि:

C. नियमविधि: D. गुणविधि:

प्र.१८५ पक्षे अप्राप्तस्य प्रापको विधिरस्ति ?

A. अपूर्वविधि: B. अध्ययनविधि:

C. नियमविधि: D. परिसङ्ख्याविधि:

प्र.१८६ उभयो: पदार्थयो: युगपत्प्राप्ताavitarakhyavrittiparo विधिरस्ति ?

A. नियमविधि: B. गुणविधि:

C. अपूर्वविधि: D. परिसङ्ख्याविधि:

प्र.१८७ असत्यमस्ति ?

A. स्वाध्यायोऽध्येतव्यः = गुणविधिः
B. यजेत स्वर्गकामः = अपूर्वविधिः
C. व्रीहीनवहन्ति = नियमविधिः
D. पञ्च पञ्चनखाः भक्ष्याः = परिसङ्ख्याविधिः

प्र.१८८ समीचीनं युग्मं चिनुत -

A. परिसङ्ख्या द्विविधा	१. परिसङ्ख्या
B. अत्र ह्येवावपन्तीति	२. लाक्षणिकी परिसङ्ख्या
C. पञ्च पञ्च नखा भक्ष्या इति	३. श्रौती परिसङ्ख्या
D. त्रिदोषग्रस्ता	४. श्रौती लाक्षणिकी चेति

	A.	B.	C.	D.
A.	४	३	१	२
B.	४	३	२	१
C.	२	१	४	३
D.	१	२	३	४

प्र.१८९ परिसङ्ख्यायाः दोषत्रये न गण्यते ?

A. श्रुतहानिः
B. अश्रुतकल्पना
C. श्रुतलाभः
D. प्राप्तबाधः

प्र.१९० असत्यमस्ति ?

A. परिसङ्ख्यायाः दोषत्रये दोषद्वयं शब्दनिष्ठमेकश्चार्थनिष्ठः ।
B. श्रुतहानिरश्रुतकल्पना चेति दोषद्वयं शब्दनिष्ठमेव ।
C. प्राप्तबाधस्त्वर्थनिष्ठ एव दोषः ।
D. परिसङ्ख्याविधिर्नियमविधिश्चेति समान एव ।

प्र.१९१ हुम्फडादिमन्त्राणामुच्चारणस्य कल्प्यते ?

A. अदृष्टार्थकत्वम्
B. अनर्थकत्वम्
C. व्यर्थकत्वम्
D. दृष्टार्थकत्वम्

प्र.१९२ विधेयार्थपरिच्छेदकतयाऽर्थवत्त्वं भवति ?

A. विधेः
B. नामधेयानाम्
C. निषेधस्य
D. मन्त्राणाम्

प्र.१९३. नामधेयं नाम किम् ?

A. यागाङ्गम् B. यागदेवता
C. यागनाम D. यागक्रमः

प्र.१९४ नामधेयत्वं भवति ?

A. निमित्ताष्टकात् B. निमित्तदशकात्
C. निमित्तराहित्यात् D. निमित्तचतुष्टयात्

प्र.१९५ समीचीनं युग्मं चिनुत -

A. मत्वर्थलक्षणाभयात् १. श्येनेनाभिचरन् यजेत ।
B. वाक्यभेदात् २. अग्निहोत्रं जुहोति ।
C. तत्प्रख्यशास्त्रात् ३. चित्रया यजेत पशुकामः ।
D. तद्व्यपदेशात् ४. उद्भिदा यजेत पशुकामः ।

	A.	B.	C.	D.
A.	४	३	२	१
B.	४	२	३	१
C.	१	३	४	२
D.	१	२	३	४

प्र.१९६ न्यायसुधाकारसोमेश्वरादीनां मते भवति ?

A. उत्पत्तिशिष्टगुणबलीयस्त्वं प्रथमं नामधेयनिमित्तम् ।
B. उत्पत्तिशिष्टगुणबलीयत्वमपि पञ्चमं नामधेयनिमित्तम् ।
C. निमित्तचतुष्टयादतिरिक्तं न किमपि निमित्तम् ।
D. नामधेयनिमित्तपञ्चकादपि भवत्यन्यं निमित्तम् ।

प्र.१९७ पुरुषस्य निवर्तकं वाक्यं भवति ?

A. विधिः B. मन्त्रः
C. निषेधः D. नामधेयम्

प्र.१९८ निषेधस्योदाहरणमस्ति ?

A. स्वर्गकामो यजेतेति B. अग्निहोत्रं जुहोतीति
C. दध्ना जुहोतीति D. न कलञ्जं भक्षयेदिति

प्र.१९९ स्वसमभिव्याहृतपरार्थविरोधिबोधकत्वं भवति ?

A. नञः स्वभावः B. चञः स्वभावः

C. हशः स्वभावः D. जशः स्वभावः

प्र.२०० निषेधस्य बाधकं भवति ?

A. चतुर्विधम् B. द्विविधम्

C. षड्विधम् D. त्रिविधम्

प्र.२०१ समीचीनं युग्मं चिनुत -

A. तस्य व्रतमित्युपक्रमः १. यत्रोत्तरपदेन नञ् ।

B. विकल्पप्रसक्तिः २. यत्र पूर्वपदेन नञ् ।

C. पर्युदासः स विज्ञेयः ३. यजतिषु ये यजामहं करोति नानुयाजेषु ।

D. प्रतिषेधः स विज्ञेयः ४. नेक्षेतोद्यन्तमादित्यमित्यादौ ।

	A	B	C	D
A.	१	२	३	४
B.	२	१	३	४
C.	४	३	२	१
D.	४	३	१	२

प्र.२०२ सामान्यशास्त्रप्राप्तस्य विशेषेमात्रे सङ्कोचनरूपो भवति ?

A. प्रहारः B. संहारः

C. विहारः D. उपसंहारः

प्र.२०३ सामान्यशास्त्रप्राप्तस्य विशेषादन्यमात्रे सङ्कोचार्थो भवति ?

A. पर्युदासः B. अपकारः

C. विकारः D. उपकारः

प्र.२०४ प्राशस्त्यनिन्दान्यतरपरं वाक्यमस्ति ?

A. नामधेयम् B. अर्थवादः

C. निषेधः D. मन्त्रः

प्र.२०५ लौगाक्षिमतेन अर्थवादः कतिविधो भवति ?

A. षड्विधः B. त्रिविधः

C. द्विविधः D. सप्तविधः

प्र.२०६ विधिशेषो निषेधशेषश्चेति द्विविधो भवति?

A. निषेधः B. मन्त्रः

C. विधिः D. अर्थवादः

प्र.२०७ विधिशेषोऽर्थवादः कतिविधो भवति?

A. चतुर्विधः B. नवविधः

C. षड्विधः D. दशविधः

प्र.२०८ वायुर्वै क्षेपिष्ठा देवतेत्युदाहरणमस्ति ?

A. अशेषस्य B. विधिशेषस्य

C. विशेषस्य D. निषेधशेषस्य

प्र.२०९ सोऽरोदीद्यदरोदीत्तद्रुद्रस्य रुद्रत्वमित्युदाहरणमस्ति ?

A. हुतशेषस्य B. मार्जनशेषस्य

C. निषेधशेषस्य D. विधिशेषस्य

प्र.२१० समीचीनं युग्मं चिनुत -

A. प्रशंसार्थवादः १. तमशयद्धियाधियात्वावध्यासुदित्यात्।

B. निन्दार्थवादः २. अग्निर्वै अकामयत।

C. परकृत्यर्थवादः ३. बर्हिषि रजतं न देयम्।

D. पुराकल्पार्थवादः ४. वायव्यं श्वेतमालभेत।

	A	B	C	D
A.	२	४	३	१
B.	२	३	४	१
C.	१	२	३	४
D.	४	३	२	१

प्र.२११ अर्थवादः मीमांसापरिभाषानुसारम् कतिधा विभज्यते ?

A. त्रेधा B. अष्टधा

C. पञ्चधा D. सप्तधा

प्र.२१२ अर्थवादस्य भेदत्रये न गण्यते ?

A. गुणवादः B. प्रयोगवादः

C. अनुवादः D. भूतार्थवादः

प्र.२१३ प्रमाणान्तरविरोधे सप्यर्थवादो भवति ?

A. प्रत्ययवादः B. ईश्वरवादः

C. गुणवादः D. उत्पत्तिवादः

प्र.२१४ प्रमाणान्तरावगतार्थबोधकोऽर्थवादो भवति ?

A. अस्तित्ववादः B. बुद्धिवादः

C. प्रामाण्यवादः D. अनुवादः

प्र.२१५ प्रमाणान्तरविरोधतत्प्राप्तिरहितार्थबोधकोऽर्थवादो भवति ?

A. भतार्थवादः B. अनीश्वरवादः

C. उपयोगितावादः D. ईश्वरवादः

प्र.२१६ 'आदित्यो यूप' इत्युदाहरणमस्ति ?

A. सङ्घातवादस्य B. गुणवादस्य

C. भुक्तिवादस्य D. अनुमितिवादस्य

प्र.२१७ 'अग्निर्हिमस्य भेषजमि'त्युदाहरणमस्ति ?

A. देहात्मवादस्य B. भौतिकतावादस्य

C. अनुवादस्य D. गुणवादस्य

प्र.२१८ 'इन्द्रो वृत्राय वज्रमुदयच्छदि'त्युदाहरणमस्ति ?

A. अनुवादस्य B. स्याद्वादस्य

C. शून्यवादस्य D. भूतार्थवादस्य

ANSWERKEYS (उत्तरमाला)

1.	A	28.	D	55.	A	82.	D
2.	B	29.	A	56.	B	83.	A
3.	C	30.	B	57.	C	84.	B
4.	D	31.	C	58.	D	85.	C
5.	A	32.	D	59.	A	86.	D
6.	B	33.	A	60.	B	87.	A
7.	C	34.	B	61.	C	88.	B
8.	D	35.	C	62.	D	89.	C
9.	A	36.	D	63.	A	90.	D
10.	B	37.	A	64.	B	91.	A
11.	C	38.	B	65.	C	92.	B
12.	D	39.	C	66.	D	93.	C
13.	A	40.	D	67.	A	94.	D
14.	B	41.	A	68.	B	95.	A
15.	C	42.	B	69.	C	96.	B
16.	D	43.	C	70.	D	97.	C
17.	A	44.	D	71.	A	98.	D
18.	B	45.	A	72.	B	99.	A
19.	C	46.	B	73.	C	100.	B
20.	D	47.	C	74.	D	101.	C
21.	A	48.	D	75.	A	102.	D
22.	B	49.	A	76.	B	103.	A
23.	C	50.	B	77.	C	104.	B
24.	D	51.	C	78.	D	105.	C
25.	A	52.	D	79.	A	106.	D
26.	B	53.	A	80.	B	107.	A
27.	C	54.	D	81.	C	108.	B

109.	C
110.	D
111.	A
112.	B
113.	C
114.	D
115.	A
116.	B
117.	C
118.	D
119.	A
120.	B
121.	C
122.	D
123.	A
124.	B
125.	C
126.	D
127.	A
128.	B
129.	C
130.	D
131.	A
132.	B
133.	C
134.	D
135.	A
136.	B
137.	C
138.	D
139.	A
140.	B
141.	C
142.	D
143.	A
144.	B
145.	C
146.	D
147.	A
148.	B
149.	C
150.	D
151.	A
152.	B
153.	C
154.	D
155.	A
156.	B
157.	C
158.	D
159.	A
160.	B
161.	C
162.	D
163.	A
164.	B
165.	C
166.	D
167.	A
168.	B
169.	C
170.	D
171.	A
172.	B
173.	C
174.	D
175.	A
176.	B
177.	C
178.	D
179.	A
180.	B
181.	C
182.	D
183.	A
184.	B
185.	C
186.	D
187.	A
188.	B
189.	C
190.	D
191.	A
192.	B
193.	C
194.	D
195.	A
196.	B
197.	C
198.	D
199.	A
200.	B
201.	C
202.	D
203.	A
204.	B
205.	C
206.	D
207.	A
208.	B
209.	C
210.	D
211.	A
212.	B
213.	C
214.	D
215.	A
216.	B
217.	C
218.	D

परिशिष्ट - ५

अर्थसङ्ग्रहमाश्रिताः विश्वविद्यालयीय-परीक्षोपयोगिनः महत्त्वपूर्णप्रश्नाः

प्र.१. अर्थसङ्ग्रहकारस्य परिचयं विलिख्य, अर्थसङ्ग्रहस्य महत्त्वमुपपादयत ।

प्र.२ अर्थसङ्ग्रहमनुसृत्य धर्मलक्षणमुपस्थाप्य तद्विवेचनं कार्यम् ।

प्र.३ वेदस्य धर्मप्रतिपादकत्वं लौगाक्षिमतेन निरूप्यताम् ।

प्र.४ अर्थसङ्ग्रहमधिकृत्य भावनालक्षणं सभेदं सोदाहरणं विविच्यताम् ।

प्र.५ शाब्दीभावनाया आर्थीभावनायाश्च विशदविवेचनं विधीयताम् ।

प्र.६ अर्थसङ्ग्रहोक्तदिशा वेदलक्षणं प्रतिपाद्य, तत्स्वरूपं सम्यक् विवेचयत ।

प्र.७ मीमांसादर्शने वेदत्वेन वेदस्य को भागः स्वीक्रियते ? तत्स्वरूपं साधु निरूपयत।

प्र.८ अर्थसङ्ग्रहानुसारं वेदस्य कति भागाः भवन्ति ? तेषां नामोल्लेखो विधीयताम् ।

प्र.९ विधिलक्षणं निरूप्य, तत्स्वरूपं भेदोपन्यासपूर्वकं विवेचयत ।

प्र.१० उत्पत्तिविधेर्लक्षणमुपस्थाप्य, तत्स्वरूपं सोदाहरणं निरूपयत ।

प्र.११ विनियोगविधेर्लक्षणं प्रतिपाद्य, तत्स्वरूपं विविच्य, तत्सहकारिप्रमाणानां नामोल्लेखः करणीयः।

प्र.१२ श्रुत्यादिषट्प्रमाणानां लक्षणानि सभेदं संलक्ष्य, तेषां पूर्वपूर्वबलीयस्त्वञ्च साधयत ।

प्र.१३ विनियोगविधिबोधिताङ्गानि संलक्ष्य, अपूर्वप्रक्रियां विशदतया निरूपयत ।

प्र.१४ प्रयोगविधेर्लक्षणं प्रतिपाद्य, तत्क्रमस्य सहकारिप्रमाणानि विवेचयत ।

प्र.१५ अधिकारविधेर्लक्षणं तत्स्वरूपञ्च विविच्य, फलस्वाम्यं निरूपयत।

प्र.१६ मन्त्रलक्षणमुपस्थाप्य, तत्स्वरूपं साधु विविच्यताम् ।

प्र.१७ नियमविधेः परिसङ्ख्याविधेश्च स्वरूपं निरूप्य, परिसङ्ख्यायाः सभेदं विवेचनं विधाय, तद्दोषाणां चर्चा विधीयतम् ।

प्र.१८ नामधेयस्वरूपं विविच्य, तन्निमित्तचतुष्टयं सम्यक् विवेचयत ।

प्र.१९ निषेधस्य लक्षणं तत्स्वरूपञ्च विस्तरेण निरूपयत ।

प्र.२० अर्थवादस्य लक्षणं तत्स्वरूपञ्च सम्यक् विविच्य, तद्भेदानां चर्चा विधीयताम् ।